श्री वेदान्त प्रश्नोत्तरी

(वेदांत का प्रक्रियात्मक सुन्दर ग्रंथ)

लेखक
संतकवि कविरत्न स्वामी नारायणदास
पुष्कर

प्रकाशक
श्रीदादूदयालू महासभा,
जयपुर

मुद्रक— शर्मा प्रिन्टर्स,
पुरानी मडी, अजमेर

पुस्तक मिलने का पता—श्रीदादुमहाविद्यालय
मोती डूगरी रोड, जयपुर सिटी
(राजस्थान)

प्राक्कथन

शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की अनुपम कृपा से वि० स० २०२८ मे मै 'वृहत प्रश्नोत्तरी' नामक ग्र थ लिख रहा था। यह ग्र थ पूर्व प्रकाशित 'नारायण प्रश्नोत्तरी, (साधक-सुधा के २६ वे विन्दु) के समान ही अरिल छद मे है। एक छद मे प्राय चार प्रश्नोत्तर होते है। किसी छद मे कम होते है किसी मे अधिक भी होते है। इस प्रकार नाना विषय मे १३८२ छदो की रचना हो जाने पर वि० स० २०२८ के ज्येष्ठ शुक्ल मे वेदान्त विपय के प्रश्नोत्तर लिखने लगा, कितु वे पद्य मे सम्यक् प्रकार नही आने लगे। तब भगवत् इच्छा से वेदान्त प्रश्नोत्तर गद्य मे लिखने की भावना मन मे जाग्रत हुई और लिखना प्रारम्भ कर दिया गया। उन प्रश्नोत्तरो का शनै शनै एक अच्छा ग्र थ हो गया। उसका नाम 'वेदात प्रश्नोत्तरी' रख दिया गया।

'वेदात प्रश्नोत्तरी' मे २१ अश है। इसके प्रथम अश मे अनुबध (अधिकारी, सबन्ध, विषय और प्रयोजन) का निरूपण है। शका—समाधान पूर्वक चारो अनुबन्धो को प्रथम अश मे सिद्ध किया है। द्वितीय अश मे गुरु और शिष्य सबन्धी विचारो का निरूपण किया है। तृतीय अश से आठ अश तक प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, शब्द प्रमाण, उपमान प्रमाण, अर्थापत्ति प्रमाण, अनुपलब्धि प्रमाण। इस प्रकार ६ प्रमाणो का वर्णन किया गया है।

अश ९ मे सकारण, सभेद, वृत्ति के स्वरूप का सक्षिप्त निरूपण है। अश दश मे अप्रमावृत्ति भेद अनिर्वचनीय ख्याति का सक्षिप्त निरूपण है। अश ११ मे अप्रमावृत्ति भेद अन्य पचख्याति का सक्षिप्त निरूपण है। अश १२ मे जीवेश्वर स्वरूप निरूपण है। इसमे अवच्छेद-वाद, प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद आदि सिद्धान्तो के द्वारा अनेक विद्वान् ग्र थकारो के मतो से जीव और ईश्वर के स्वरूप सबन्धी विचार विस्तार से हुआ है। अश १३ मे वृत्ति प्रयोजन, कल्पित निवृत्ति स्वरूप निरूपण है। अश १४ मे सृष्टि निरूपण है। इसमे सृष्टि सबधी विचार

अच्छी प्रकार किया गया है। अश १५ मे उपासना निरूपण है। इसमे उपासना सबन्धी अच्छा वर्णन हुआ है। इसके विचार से उपासना सबधी सशय सहज ही नष्ट हो सकता है।

अश १६ मे महावाक्य निरूपण है। इसमे चारो वेदो के चारो महावाक्यो का सम्यक् विचार हुआ है। अश १७ मे विविध प्रश्नोत्तर निरूपण है। इसमे वेदान्त सबन्धो अनेक प्रश्नो के उत्तर दिये गये है। अश १८ मे शास्त्र, शास्त्रकार परिचय निरूपण है। इसमे विद्या के अष्टादश प्रस्थान, प्राचीन वेदान्त के आचार्य और उनके मतभेद, तथा गौड पादाचार्य से लेकर आयन्नदीक्षित तक ४३ आचार्य जो वेदान्त के सस्कृत भाषाग्र थो के रचियता हुये है, उनके ग्र थो का और उनका परिचय दिया गया है। आगे हिन्दी भाषा मे जिनके वेदान्त ग्र थ प्रसिद्ध है, उनका और उनके ग्र थो का परिचय दिया गया है। तथा चार वैष्णव सप्रदायो के चारो प्रधान आचार्यो ने अद्वैत वेदान्त के अधिकारी बनाने मे जो परिश्रम किया है, वह भी उनके मतो का सक्षिप्त परिचय देते हुये दिया है। और नास्तिकवाद सिद्धान्त न होकर पूर्वपक्ष है, यह विचार भी व्यक्त किया है और उससे विद्वानो मे जाग्रनि आना रूप उपकार ही हुआ है, यह बताया गया है। यह अश इतिहास की दृष्टि से तथा विविध ग्र थो के विविध विचारो के परिचय की दृष्टि से अच्छा ही सिद्ध होगा।

अश १९ मे वेदात मे उपयोगी लक्षण, पारिभाषिक और कठिन शब्दो के अर्थ दिये गये है। इस अश मे अति उपयोगी सामग्री का सग्रह हो गया है। इसको एक प्रकार से वेदात ग्र थो को समझने की कु जी ही कहा जा सकता है। अश २० मे ज्ञानी के व्यावहारादिक विषयो पर अच्छा विचार हुआ है। अश २१ मे जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का निरूपण हुआ है। इसमे जीवन्मुक्ति सम्बन्धी विवादरूप शका समाधान पूर्वक मनोनाश वासनाक्षय आदि विषयो का वर्णन करते हुये मनोनाशादि के लिये साधनरूप मे समाधि आदि का भी अच्छा वर्णन हुआ है। अन्त मे विदेहमुक्ति मे ज्ञानी का ब्रह्म मे लय होना बताकर ग्र थ की समाप्ति की गई है।

यह ग्र थ वेदात के उच्च कोटि के 'पचदशी' 'सिद्धान्तलेश' आदि सस्कृत ग्र थो तथा हिन्दी भाषा के उच्च कोटि के ग्र थ 'वृत्तिप्रभाकर' 'तत्त्वानुसधान' 'विचारसागर' आदि ग्र थो के आधार पर ही लिखा गया है। इसमे वेदात शास्त्र की प्रक्रिया अच्छे रूप मे आ गई है। वेदात के जिज्ञासुओ के लिये यह ग्र थ अच्छा ही सिद्ध होगा, ऐसी आशा है। वेदात के जिज्ञासुओ को इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये।

इस ग्र थ का लेखन कार्य प्राय डा० श्रीमान् शोभराज जी के घर पर अजमेर मे ही हुआ था। केवल समाप्ति ही श्रीकृष्ण कृपा कुटीर पुष्कर मे हुई था।

ग्र थ प्रकाशन अर्थ व्यवस्था

हमारे पास ५०) रुपये से अधिक कही से किसी भी प्रकार आते है उनका हिसाब हम जिस पुस्तक मे वे लगाते है उसमे छाप देते है। इस ग्र थ के प्रकाशन को अर्थ व्यवस्था इस प्रकार है -वि० स० २०२६ का चातुर्मास जोधपुर मे श्रीमान् वकील हनुमतदान जी, पोलो न० २, ने कराया था और सत्सग कानराज जी स्याही वालो द्वारा स्थापित 'रामस्नेही सत्सग केन्द्र, नागोरी गेट जोधपुर मे हुआ था। सत्सग की समाप्ति पर प्रात चढावा ८४४) रु० उसमे ७००) रु० श्रीमान् वकील हनुमतदानजी बजरग भवन पोलो न० २ जोधपुर, शेष अन्य सत्सगियो द्वारा भेट।

२७८) रु० सायकाल का चढावा उसमे १०१) रु० कानराजजी स्याही वालो का, शेष अन्य सत्सगियो द्वारा भेट।

पुस्तक प्रकाशनार्थ सहायता

४००) रु० श्रीमान् डा० शोभराजजी, उसरी गेट, अजमेर।

३००) रु० श्रीमान् वकील हनुमतदानजी की धर्मपत्नी श्रीमती रत्न कुमारी, बजरग भवन, पोलो न० २, जोधपुर।

१००) रु० स्वामी सतगुरुदासजी दादू पथी, उत्तर प्रदेश।

१०१) रु० श्रीमान् वकील वृद्धिचन्दजी लखोटिया, नला बाजार, अजमेर।

६१) रु० श्रीमान् बजरग सिह जी की धर्मपत्नी श्रीमती सूर्य कुमारी, बजरग भवन, पोलो न० २, जोधपुर।

१०१) श्रीमान् कुनणमलजी सोनी ओसियाँ वाले वर्तमान जोधपुर, भोजन समय भेंट।

१०१) रु० वि० स० २०२८ की गुरु पूर्णिमा को 'वेदात विचार मडल' अजमेर के भक्तो द्वारा भेंट।

१३४॥।) रु० उक्त चातुर्मास के समय पुस्तक बिक्री से प्राप्त।

१००) रु० श्री दादू महाविद्यालय मोती डूगरी रोड जयपुर से पुस्तक बिक्री।

७५) रु० श्रीमान् जमनालालजी, पट्टी कटला, अजमेर से पुस्तक बिक्री।

शेष सब लेखक को श्रद्धापूर्वक प्राप्त भेंट से इस ग्र थ का प्रकाशन हुआ है। इसकी बिक्री से आने वाला अर्थ इसी के पुनर्प्रकाशन मे वा ऐसे ही किसी अन्य धार्मिक ग्र थ के प्रकाशन मे लगेगा। किसी व्यक्ति विशेष के काम नही आयेगा। यह सबको ज्ञात रहे। ओ३म् शाति शाति शाति।

वि० स० २०२९
माघ शुक्ल
बसत पचमी

स्वामी नारायणदास
श्रीकृष्ण कृपा कुटीर,
पुष्कर (अजमेर)

विषय सूची

वेदान्त प्रश्नोत्तरी शुद्धि-पत्र

पृ० सं०	पंक्ति सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
४	३	लायोगा	लायेगा
८६	१७	व्यापारी	व्यापार
११२	४	मन	मनन
२६६	१२	निष्प्रपचत्व	निष्प्रपचत्व से सप्रपचत्व
४७८	१४	परिणाम	परिमाण
५५६	२	ब्रह्मत्तव	ब्रह्मतत्त्व
५७२	७	आत्मापर्ण	आत्मार्पण
६४५	११	अधिधेय	अविधेय
७१३	२१	शास्त्र	शास्त्र मे
७१६	१७	ऋत	ऋतभरा
७२१	८	अम्यास	अभ्यास
७२२	२१	अम्यास	अभ्यास

ईश्वर पद के प्राप्ति का, हेतु मनुज तन पाय।
सद् शिक्षा गह भजनकर, श्वास न वृथा गमाय॥
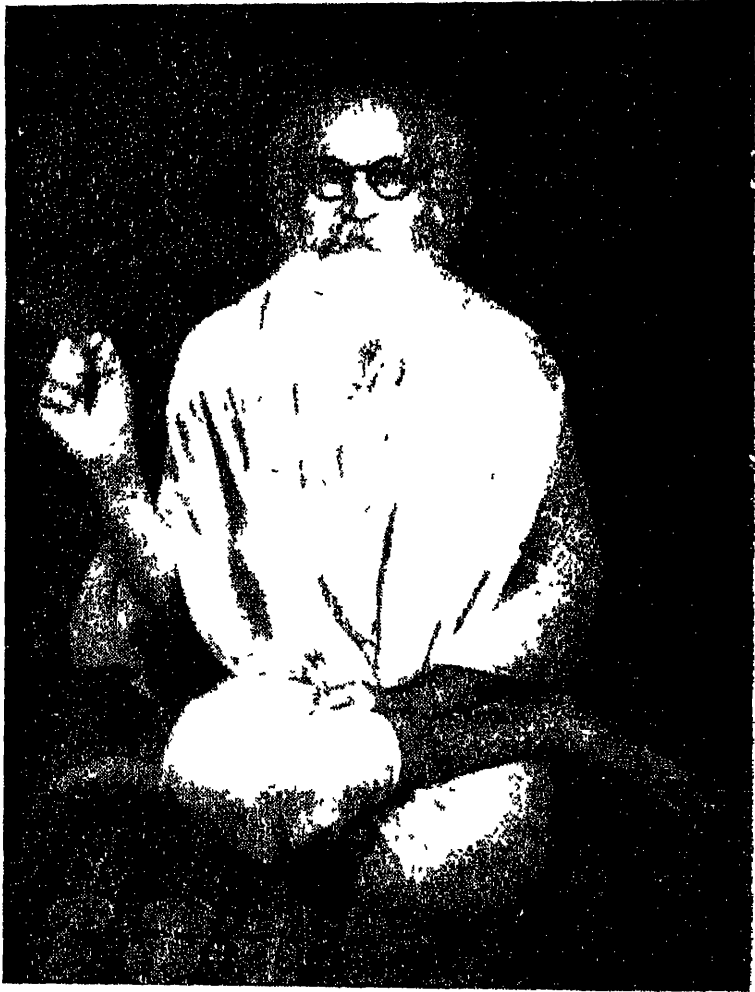
अनेक ग्रंथ निर्माता संतकवि कविरत्न स्वामी नारायणदासजी महाराज
श्रीकृष्णकृपाकुटीर, पुष्कर (अजमेर)

श्री परमात्मने नम

अथ वेदान्त प्रश्नोत्तरी

सच्चिदसुखमय कृष्ण श्री दादूगुरु धन राम।
सुमिर वेदान्त प्रश्नोत्तरी, लिखूं पढ़े विश्राम ।।

अथ अनुबन्ध निरूपण प्रथम अश

सर्व प्रथम क्या था ? एक परब्रह्म परमात्मा। सबसे पहला पुस्तक कौन है ? वेद। वेद किसका प्रतिपादन करता है ? परब्रह्म का। वेद का वह भाग कौन सा है, जिसमे विशेषरूप से परब्रह्म का ही कथन है ? वेदान्त है। वेदान्त किसको कहते है ? वेद के अन्तिम भाग को। वेदान्त का मुख्य विषय क्या है ? जीव-ब्रह्म की एकता। वेदान्त मे प्रवृत्ति कसे हो ? अनुबन्ध विचार से। अनुबन्ध किसको कहते है ? अधिकारी, सबन्ध, विषय, प्रयोजन, इन चार को।

अधिकारी वर्णन

वेदान्त का अधिकारी कौन होता है ? अन्त करण के मल, विक्षेप और आवरण इन तीन दोषो से रहित तथा चार साधनो से युक्त। मल किसको कहते है ? जन्म-जन्मान्तरो के पाप को। विक्षेप किसको कहते है ? चित्त की चचलता को। आवरण किसको कहते है ? आतमस्वरूप के अज्ञान को। मल किससे दूर होता है ? निष्काम शुभ कर्मों से। विक्षेप किससे हटता है ? सगुण व निर्गुण ब्रह्म की उपासना से। चार साधन कौन से है ? विवेक, वैराग्य, शमादिक छ. और मुमुक्षुता, ये चार है।

विवेक किसको कहते है ? आत्मा अविनाशी और क्रियारहित है, जगत नाशवान और क्रियायुक्त है। ऐसे ज्ञान को। विवेक मे क्या विशेषता है ? सब साधनो का कारण है। विवेक नही हो तो ? अगले वैराग्यादिक साधन नही हो सकेंगे। वैराग्य किसको कहते है ? इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के भोगो की इच्छा के त्याग को। वैराग्य का हेतु क्या है ? विषयो मे दोष-दर्शन । वैराग्य का कार्य क्या है ? विषयो के लिये दीन नही होना। शमादिक छ कौन है ? शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपराम और तितिक्षा, ये छ है। शमादिक छ और तीन तो नौ साधन होते है और आपने चार ही बताये थे ? ज्ञानी जन छ का एक ही साधन मानते है।

शम किसको कहते है ? मन को विषयो से रोकने को। दम किसको कहते है ? इन्द्रियो के समुदाय को विषयो मे जाने से रोकने को। श्रद्धा ? गुरु और वेद के वचन सत्य है, ऐसे विश्वास को श्रद्धा कहते है। समाधान ? मन के विक्षेप के नाश को समाधान कहते है। उपराम ? विषयो मे ग्लानि और भोग की अनिच्छा को उपराम कहते है, वा साधन सहित सब कर्मो का त्यागना, विषयो को विष के समान देखकर उनसे दूर भागना, नारी को देखकर ग्लानि करना, ये उपराम का लक्षण है। तितिक्षा ? आतप, शीत, क्षुधा, प्यास आदि के सहन करने के स्वभाव को तितिक्षा कहते है। मुमुक्षता ? ब्रह्म की प्राप्ति और अविद्या सहित जगतरूप अनर्थ की निवृत्ति मोक्ष का स्वरूप है। मोक्ष की इच्छा का नाम मुमुक्षुता है। ज्ञान के अतरग साधन आठ सुनने मे आते है। आपने चार कहे है, अन्य चार कौन से है ? वे भी कहिये। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्पद के और त्वपद के अर्थ का शोधन, ये चार है। वहिरग साधन कौन से है ? यज्ञादिक बहिरग है। अतरग किनको कहा जाता है ? जिनका श्रवण मे अथवा ज्ञान मे प्रत्यक्ष फल हो, वे अतरग कहे जाते है। विवेकादि चार का किसमे उपयोग है ? श्रवण मे। क्यो ? विवेकादि के बिना बहिर्मुख से श्रवण

नही हो सकता। श्रवणादि चार का किसमे उपयोग है ? ज्ञान मे। क्यो ? श्रवणादिक बिना ज्ञान नही होता।

बहिरग किनको कहते है ? जिनका ज्ञान मे व श्रवण मे प्रत्यक्षफल नही हो किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि जिनका फल हो, उनको बहिरग कहते है। यज्ञादिक तो ससार के साधन है, उनमे अन्तःकरण शुद्ध कहाँ होता है ? सकाम को ससार के साधन है और निष्काम को अन्तःकरण की शुद्धि के साधन है। अतरग का अर्थ क्या है ? समीप। बहिरग का अर्थ क्या है ? दूर। विवेकादि अतरग क्यो है ? ज्ञान के अधिकारी मे सभव है। यज्ञादिक बहिरग क्यो है ? ज्ञान के अधिकारी मे सभव नही। क्यो ? यज्ञादिक कर्म और यज्ञादिक कर्म के साधन स्त्री धन पुत्रादिक को त्यागे सो ज्ञान का अधिकारी कहा जाता है। ज्ञान के मुख्य अतरग साधन कौन है ? "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य है। श्रवण किसको कहते है ? युक्ति से वेदान्त वाक्यो के तात्पर्य के निश्चय को। तात्पर्य निश्चय कराने वाली युक्तियाँ कौन है ? तात्पर्य निश्चय कराने वाले षड्- लिग है। वे षड्लिग (हेतु) कौन है ? १-उपक्रम उपसहार २-अभ्यास ३-अपूर्वता ४-फल ५-अर्थवाद ६-उपपत्ति।

१-उपक्रम ? प्रकरण का आरम्भ। उपसहार ? प्रकरण की समाप्ति। यह प्रथमलिग है। २-अभ्यास ? अद्वैतरूप अर्थ के बार-बार पठन को अभ्यास कहते है। ३-अपूर्वता ? श्रुति से भिन्न प्रमाण की अविषयता और स्वप्रकाशतारूप अलौकिकता को अपूर्वता कहते है। ४-फल ? अद्वैत ज्ञान से प्राप्त होने वाला मोक्ष ही मुख्य फल है। ५-अर्थवाद ? भेदज्ञान की निन्दा और अभेद ज्ञान की स्तुति को अर्थवाद कहते है। ६-उपपत्ति ? प्रतिपादनीय वस्तु के अनेक युक्ति दृष्टान्तो मे प्रतिपादन को उपपत्ति कहते है। शब्द तात्पर्य किसको कहते है ? शब्दो के अर्थज्ञान की योग्यता को। वैदिक शब्दो का तात्पर्य कैसे जाना जाता है ? उक्त षड्लिग से। लौकिक शब्दो के तात्पर्य का ज्ञान कैसे होता है ? प्रसग से। किसी दृष्टात से समझाइये ? जैसे सैधव नाम

सिन्ध देश मे उत्पन्न होने वाले नमक और अश्व दोनो का है किन्तु भोजन करने वाला कहे कि सैधव लाओ तब सुनने वाला अश्व नही लाकर नमक ही लायेगा और कटि कसकर मार्ग पर खड हुआ पुरुष कहेगा, सैधव लाओ तब सुनने वाला नमक नही लाकर अश्व ही लायेगा। इस प्रकार लौकिक शब्दो का तात्पर्य प्रसग से ज्ञात होता है। मनन किसको कहते है ? जीव ब्रह्म के अभेद की साधक और भेद की बाधक युक्तियो से अद्वितीय ब्रह्म के चिन्तन को। अभेद की साधक युक्ति कौन है ? जीव ब्रह्म एक है। चेतन होने से, जहाँ-जहाँ चेतनता है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म से अभिन्नता ही है। भेद की बाधक युक्ति कौन है ? जीव ब्रह्म का भेद मिथ्या है, औपाधिक होने से, घटाकाश महाकाश के समान। निदिध्यासन ? अनात्माकार वृत्ति के व्यवधान से रहित ब्रह्माकार वृत्ति की स्थिति को निदिध्यासन कहते है। ज्ञान समाधि किसको कहते है ? निदिध्यासन की परिपाकावस्था को। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ज्ञान के साक्षात साधन है क्या ? नही। तो क्या करते है ? बुद्धि के दोष असभावना और विपरीत भावना को नाश करते है।

असभावना किसको कहते है ? सशय को। सशय किसको कहते है ? उभयकोटि ज्ञान को। विपरीत भावना किसको कहते है ? उल्टे ज्ञान को। असभावना कितने प्रकार की है ? दो प्रकार की। वे दो प्रकार की कौन है ? एक प्रमाण की और दूसरी प्रमेय की। प्रमाण का सशय किससे दूर होता है ? श्रवण से। प्रमेय का सशय किससे दूर होता है ? मनन से। प्रमाण के सशय का स्वरूप क्या है ? वेदान्त वाक्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक है अथवा अन्य अर्थ के प्रतिपादक है। यह प्रमाण (वेदान्त वाक्यो) मे सशय होता है। वह किससे दूर होता है ? वेदान्त वाक्यो के श्रवण से दूर हो जाता है। प्रमेय का सशय कैसा होता है ? जीव ब्रह्म का अभेद सत्य है वा भेद सत्य है। ऐसा प्रमेय मे सशय होता है। वह किससे दूर होता है ? मनन से दूर होता है। विपरीत भावना किसको कहते है ? देहादिक सत्य है, और जीव ब्रह्म का भेद सत्य है, ऐसे ज्ञान को। यह किससे दूर होती है ? निदिध्यासन से।

असभावना और विपरीत भावना क्या करती है ? ज्ञान नही होने देती । ज्ञान के साक्षात् साधन कौन है ? श्रोत्र सम्बन्धी वेदान्त वाक्य । वेदान्त वाक्य कितने प्रकार के है ? दो प्रकार के । वे कौन है ? एक अवातरवाक्य और दूसरा महावाक्य । अवातरवाक्य किसको कहते है ? परमात्मा वा जीव के स्वरूप के बोधक वाक्य को । महावाक्य ? जीव परमात्मा की एकता के बोधक वाक्य को महावाक्य कहते है । अवातर वाक्य से क्या होता है ? परोक्ष ज्ञान । महावाक्य से क्या होता है ? अपरोक्ष ज्ञान । परोक्ष ज्ञान किसको कहते है ? 'ब्रह्म है' इस ज्ञान को । अपरोक्ष ज्ञान ? "ब्रह्म मै हू" इस ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते है । व्यवधान किसको कहते है ? देशकृत व कालकृत अतराय को । व्यवधान वाले को क्या कहते है ? व्यवहित । देशकृत व्यवहित किसको कहते है ? दूर देश मे हो उसे । कालकृत व्यवहित किसको कहते है ? जो भूत व भविष्यत काल मे हो उसको । व्यवहित वस्तु का शब्द से कैसा ज्ञान होता है ? परोक्ष । अव्यवहित वस्तु का शब्द से कैसा ज्ञान होता है ? अपरोक्ष और परोक्ष दोनो ज्ञान होते है । कैसे ? जहाँ शब्द अस्तिरूप से बोधन करे, वहाँ अव्यवहित का भी परोक्ष ज्ञान ही होता है और जहाँ अव्यवहित वस्तु को "यह है" इस प्रकार शब्द बोधन करे वहाँ अपरोक्ष ज्ञान होता है । जैसे आत्मा सबको अपरोक्ष है, किन्तु अवातर वाक्य से आत्मा का परोक्ष ज्ञान ही होता है और महावाक्य श्रोता का आत्म-स्वरूप से बोधन करता है, इससे महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है ।

तत्पद त्वपद शोधन

तत्पद और त्वपद के अर्थ का शोधन का क्या भाव है ? तत्पद और त्वपद के अर्थ का विचार करना । वह विचार किस प्रकार किया जाता है ? जैसे हंस पक्षी जल और दूध को अलग-अलग करके दूध को पान करता है, वैसे ही अधिकारी तत्पद के वाच्य ईश्वर की माया उपाधि को और त्वपद के वाच्य जीव की अविद्या उपाधि को भाग त्याग लक्षणा से अलग करके दोनो का लक्ष्य अर्थ ईश्वर साक्षी और जीव साक्षी एक है और वही मेरा निजरूप है । ऐसे विचार को ही

तत्पद और त्वपद का शोधन कहते है। उक्त सब लक्षणो से युक्त ह वही वेदान्त का अधिकारी होता है।

सम्बन्ध वर्णन

ग्रथ का और विषय का क्या सम्बन्ध है ? प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। प्रतिपादक कौन है ? ग्रथ। प्रतिपाद्य कौन है विषय। प्रतिपादक किसको कहते है ? प्रतिपादन (कथन) करने वाले को। प्रतिपाद्य किसको कहते है ? जिसका प्रतिपादन (कथन) किया जाय

अधिकारी का और फल का क्या सम्बन्ध है ? प्राप्य प्रापक भाव सम्बन्ध है। प्राप्य कौन है ? फल। प्रापक कौन है ? अधिकारी। प्राप्य किसको कहते है ? जो प्राप्त हो उसको। प्रापक किसको कहते है ? जिसको प्राप्त हो उसको। अधिकारी का और विचार का क्या सम्बन्ध है ? कर्तृ कर्तव्यभाव सम्बन्ध है। कर्तृ (कर्त्ता) कौन है ? अधिकारी। कर्त्तव्य क्या है ? विचार। कर्त्ता किसको कहते है ? करने वाले को। कर्त्तव्य किसको कहते है ? करने योग्य को। ग्रथ का और ज्ञान का क्या सम्बन्ध है ? जन्य जनक भाव सम्बन्ध है। ज्ञान का जनक कौन है ? विचार द्वारा ग्रथ। जन्य कौन है ? ज्ञान। जनक किसको कहते है ? उत्पत्ति करने वाले को। जन्य किसको कहते है ? जिसकी उत्पत्ति हो उसको।

श्रवणादि साधनो का और ज्ञान का क्या सम्बन्ध है ? साधन साध्यभाव सम्बन्ध है। साधन कौन है ? श्रवणादिक। साध्य कौन है ? ज्ञान। साधन किसको कहते है ? सिद्ध करने वाली कारण सामिग्री को। साध्य किसको कहते है ? सिद्ध किया जाय उसको।

विषय वर्णन

वेदान्त का विषय क्या है ? जीव-ब्रह्म की एकता। विषय किसको कहते है ? जो कथन किया जाय उसे। वेदान्त मे क्या कथन किया है ? जीव-ब्रह्म की एकता। जीव-ब्रह्म का भेद कथन करते हैं वे कैसे है ? वे वेदान्त के विरोधी है। वे भी तो अपने को वेदान्ती कहते है ?

जीव-ब्रह्म का भेद मानने वाले वेदान्ती कैसे माने जा सकते है ? अर्थात् जीव ब्रह्म का अभेद मानने वाले ही वेदान्ती कहे जाते है ।

प्रयोजन वर्णन

प्रयोजन किसको कहते है ? मूल सहित जगतरूप अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष कहलाता है, मोक्ष ही वेदान्त का परम प्रयोजन (फल) है । अनर्थ किसको कहते है ? प्रपञ्च का कारण अज्ञान और प्रपञ्च जन्ममरणरूप दुःख का हेतु है, इससे अनर्थ कहलाता है । मूल किसको कहते है ? कारण को । प्रयोजन कितने प्रकार का है ? दो प्रकार का । वे दो प्रकार कौन है ? एक परम प्रयोजन और दूसरा अवातर प्रयोजन । परम प्रयोजन किसको कहते है ? पुरुष का जिस की अभिलाषा हो । उसी को पुरुषार्थ भी कहते है । अभिलाषा किसकी होती है ? दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति की सब को होती है । यही मोक्ष का स्वरूप है । अवातर प्रयोजन क्या है ? ज्ञान । अवातर प्रयोजन का लक्षण क्या है ? जिसके द्वारा परम प्रयोजन की प्राप्ति हो उसे ही अवातर प्रयोजन कहते है । ऐसा ज्ञान है । क्यो ? ज्ञान द्वारा मुक्तिरूप परम प्रयोजन की प्राप्ति होती है ।

जीव को तो वेद आनन्दस्वरूप प्रथम ही बताता है । उसे परमानन्द की प्राप्ति कैसे कहते हो ? अज्ञान से अप्राप्त के समान भासता है । ज्ञान द्वारा नित्य प्राप्त की प्राप्ति कही जाती है । कैसे ? जैसे किसी के हाथ का ककन हाथ मे ऊपर चढ जाय तब वह अपने मित्र को कहता है-मेरा ककन खोया गया । फिर नीचे उतरने पर देख लेने के पीछे मित्र पूछता है-ककन मिला या नही ? तब वह कहता है-मिल गया । वह ककन कही गया तो नही था, प्राप्त ही था किन्तु अज्ञान से अप्राप्त सा हो रहा था । वैसे ही परमानन्द अज्ञान से अप्राप्त सा भासता है फिर अज्ञान ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाने पर प्राप्त होना कहा जाता है । इस प्रकार नित्य प्राप्त की भी प्राप्ति कही जाती है ।

कारण सहित जगत की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को

परम प्रयोजन कहा है। इसमे प्राप्ति भावरूप है और निवृत्ति अभाव रूप है। ये दोनो भाव अभाव एक मे कैसे सभव हो सकते है ? कारण सहित जगत की निवृत्ति अधिष्ठानरूप है। अधिष्ठान से अलग नही है कैसे ? जैसे रज्जु सर्प की निवृत्ति रज्जुरूप ही होती है, वैसे ही कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठानरूप ही होती है। अधिष्ठान ब्रह्म है सो भावरूप है। इससे अनर्थ की निवृत्ति भी भावरूप ही होने से परमप्रयोजन ठीक ही है।

मूल अविद्या सहित जगत की निवृत्ति तो कोई नही चाहता है ? तो क्या चाहते है ? तीन प्रकार के दु खो का नाश ही चाहते है। वे दु ख ये है- अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव। रोग क्षुधादिक से होने वाले दु खो को अध्यात्म दु ख कहते है। चौर व्याघ्र सर्पादिक से होने वाले दु खो को अधिभूत दु ख कहते है। यक्ष राक्षस प्रेत ग्रहादिक और शीतवात आतप से होने वाले दु ख अधिदैव दु ख कहलाते है। इनकी निवृत्ति मूल अविद्या सहित जगत की निवृत्ति बिना ही अन्य लौकिक उपायो से हो जाती है। औषधि से रोगजन्य दु ख, भोजन से क्षुधाजन्य दु.ख और अनुष्ठान आदि से यक्षादिजन्य दु.ख निवृत्त हो जाते है ? अन्य उपायो से निवृत्त होने पर दु.ख फिर भी उत्पन्न हो जाते है और किसी-किसी के रोगादिजन्य दु.ख उपायो से नष्ट भी नही होते। मूल अविद्या सहित जगत की निवृत्ति बिना अन्य उपायो से दुखो की अत्यन्त निवृत्ति नही होती। अत्यन्त निवृत्ति किसको कहते है ? जिसकी निवृत्ति हो गई है, उसकी पुन. उत्पत्ति नही हो उसको। इससे सर्व दु.खो की निवृत्ति के निमित्त अज्ञान सहित सर्व प्रपच की निवृत्तिरूप मोक्ष के अश की इच्छा होती है। यह सिद्ध हुआ।

जिसका प्रथम ज्ञान हो, उसी को प्राप्त करने की इच्छा होती है। अधिकारी को तो ब्रह्मज्ञान है नही तब वेदान्त श्रवण से पूर्व उसे परमानन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा कैसे होगी ? सुख का अनुभव सबने किया है। इससे सुख की इच्छा सबको है। "ब्रह्म नित्य

सुखस्वरूप है" ऐसा शास्त्र से सुना है। इससे सर्व विवेकी पुरुष नित्य सुख स्वरूप ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा करते है।

सर्व विषय सुख को चाहते है और कोई सर्व विषयो को त्याग करके तपस्या मे लगा है वह भी परलोक के उत्तम भोगो की इच्छा से ही कष्ट सहन करता है। विषय सुख मोक्ष मे है नही। इससे मोक्ष के साधनो को कोई नही चाहता अत. मुमुक्षु कोई भी नही है।

सब केवल सुख मात्र चाहते है, वह विषय से हो वा विषय बिना हो। विषयजन्य सुख ही चाहते हो तो सुषुप्ति के सुख की इच्छा नही होना चाहिये। कारण सुषुप्ति का सुख तो विषयजन्य नही होता। इससे सर्व आत्मसुख को ही चाहते है। विपयसुख तो न्यूनाधिक सबको प्राप्त है ही फिर भा सबको ऐसी इच्छा रहती है कि हमको न नाश होने वाला सुख मिले। अविनाशी सुख आत्मस्वरूप मोक्ष ही है। इससे सबको मोक्ष सुखकी इच्छा है और सब ही मुमुक्षु है। यह सिद्ध हुआ।

और जो कहते हो कि सबको विषयसुख मे ही अलबुद्धि है। सो नही बनता। पुरुष चार प्रकार के होते है—१-पामर २-विषयी ३-जिज्ञासु ४-मुक्त। १-पामर ? इस लोक के निषिद्ध और विहित भोगो मे आसक्त और शास्त्र सस्कार से रहित को पामर कहते है। २-विषयी ? शास्त्र के अनुसार विषयो को भोगते हुये परलोक के अथवा इस लोक के भोगो के निमित्त कर्म करे। उसको विषयी कहते है। ३-जिज्ञासु ? उत्तम सस्कार से शास्त्र का श्रवण होने पर जिस पुरुष को ऐसा विवेक हो कि विषय सुख अनित्य है और विषय सुख के समय भी कोई दु.ख अवश्य रहता है। विनाशी सुख परिणाम मे दु ख का हेतु होता है। वर्तमान मे भी नाश का भयरूप दु ख बना रहता है। विषयसुख दु खों से ग्रसा हुआ है, इससे दुखरूप ही है। दुख की निवृत्ति लौकिक उपायों से नही होती। जो उपाय करने मे समर्थ है, उनके भी सब दु.ख नष्ट नही होते। जब तक शरीर है तब तक दुखो की निवृत्ति सभव नही है। देव, मनुष्य,

पशु-पक्षी आदि सर्व शरीर पाप-पुण्य से रचित है। इससे सबको हं पाप का फल दु.ख और पुण्य का फल सुख होता ही है। देव शरीर मे पाप न्यून होने से उन्हे दु ख भी न्यून ही होता है। तिर्यको मे पाप अधिक होने से उनको दु ख अधिक होता है। मनुष्य शरीर मे भी पाप पुण्य के अनुसार ही दु ख-सुख होते है। तियक किनको कहते है ? उदर से गमन करे उनको। पशु ? चार पैर से गमन करे उनको पशु कहते है। पक्षी ? पक्ष से गमन करे उनको पक्षी कहते है। कही पशु पक्षियो को भी तिर्यक कहा गया है।

सब शरीर पाप पुण्य से रचित है और दुःख पाप का फल है। इससे जब तक शरीर है, तब तक दु ख को निवृत्ति सभव नही। शरीर धर्म अधर्म का फल है। धर्म अधर्म की निवृति बिना शरीर की निवृत्ति नही हो सकती। वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर पाप पुण्य से अन्य शरीर होगा। इससे पाप पुण्य की निवृत्ति बिना शरीर की निवृत्ति सभव नही है। पाप पुण्य राग द्वेष के नाश विना नष्ट नही होते। वर्तमान पाप पुण्य भोगने से निवृत्त होने पर भी रागद्वेष से पुण्य पाप और होगे। रागद्वेष की निवृत्ति बिना पाप पुण्य की निवृत्ति नही होती। रागद्वेष अनुकूल ज्ञान से और प्रतिकूल ज्ञान से होते है। जिसमे अनुकूल ज्ञान हो उसमे राग और जिसमे प्रतिकूल ज्ञान हो उसमे द्वेष होता है।

इससे अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान की निवृत्ति बिना, राग द्वेष की निवृत्ति नही हो सकती। अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान भेदज्ञान से होते है। कारण ? जो वस्तु अपने स्वरूप से भिन्न जानी जाती है, उसी मे अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान होता है। सुख के साधन का नाम अनुकूलता है और दु ख के साधन का नाम प्रतिकूलता है। अपना स्वरूप दु ख अथवा सुख का साधन नही है। सुख स्वरूप अवश्य है। सुख स्वरूप से भिन्न मे ही अनुकूल प्रतिकूल ज्ञान होता है। इस प्रकार भेदज्ञान, अनुकूलज्ञान और प्रतिकूलज्ञान का जनक है। भेदज्ञान की निवृत्ति बिना, अनुकूल वा प्रतिकूल ज्ञान की निवृत्ति नही

हो सकती । भेदज्ञान अविद्याजन्य है । कारण ? सर्व प्रपच और उसका ज्ञान, स्वरूप के अज्ञानकाल मे है । इससे संपूर्ण दु खो का कारण स्वरूप का अज्ञान है । स्वरूप का अज्ञान स्वरूप ज्ञान से ही दूर होता है । यह नियम है—जिस का अज्ञान होता है वह उसी के ज्ञान से दूर होता है । जैसे रज्जु का अज्ञान रज्जु के ज्ञान से ही दूर होता है, अन्य उपाय से नही । इससे स्वरूप का ज्ञान ही अज्ञान की निवृत्ति द्वारा दु.ख की निवृत्ति का हेतु है । स्वरूप ज्ञान से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है । सो ब्रह्म नित्य और आनन्दस्वरूप है, दुःख सबन्ध से रहित है । इस प्रकार दु ख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति का हेतु स्वरूपज्ञान है । इसलिये स्वरूप जानने योग्य है । ऐसा जिसको विवेक हो वह जिज्ञासु कहलाता है ।

मुक्त ? स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर से भिन्न जो अपना स्वरूप, उसका ब्रह्मरूप करके अपरोक्ष ज्ञान जिसको हो उसको मुक्त कहते है । इस रीति से चार प्रकार के पुरुष है, उनमे मुक्त को तो परमसुख प्राप्त होने से वह तो कृत-कृत्य है हो । पामर और विषयी की विषय-सुख मे अलबुद्धि होती है । किसी विषयी को परमसुख की इच्छा होती है । तो भी उसके जो उपाय नही है, उनमे उपाय बुद्धि करके प्रवृत्त होता है । उपाय का ज्ञान सत्सग और सत्शास्त्र के श्रवण से होता है । मो उसके है नही । जिज्ञासु की विषयसुख मे अलबुद्धि नही होती । उसे परमसुख प्राप्ति की और दु ख की अत्यन्त निवृत्ति की इच्छा होती है । इससे मोक्ष की इच्छा वाला अधिकारी है । अधिकारी नही है यह कहना नही बनता ।

विषय खडन

जीव ब्रह्म की एकता वेदान्त का विषय कहा है, वह नही हो सकता । क्यो नही हो सकता ? ब्रह्म तो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इन पचक्लेशो से रहित और व्यापक है, सजातीय भेदरहित है । कारण ? ब्रह्म के सजातीय और ब्रह्म नही है । और

जीव मे सर्व क्लेश है। परिच्छिन्न है और जीव नाना है। जित
शरीर है उतने ही जीव है। सर्व शरीरो मे जीव एक हो तो ए
शरीर के सुखी दु खी होने से सर्व शरीर सुखी दु खी होने चाहिये
अविद्या किसको कहते है ? विचाररूप विद्या से जिसका नाश हो उ
ही अविद्या कहते है। अविद्या के भेद कितने है ? दो। १-मूला २-तूला
मूला किसको कहते है ? शुद्ध चैतन्य को आच्छादित करे उसे। तूला
घटादि उपाधि वाले चैतन्य को आच्छादित करे उसे तूला अविद्य
कहते है। मूला अविद्या भी कार्य कारण भेद से दो प्रकार की है
१-अन्य मे अन्य की बुद्धिरूप प्रतीति जो है, वह कार्यरूप अविद्य
है। २-आवरण विक्षेप शक्तिवाली अनादिभावरूप जो है
वह कारणरूप अविद्या है। कार्यरूप अविद्या चार प्रकार की है—
१-अनात्मा देहादिक मे आतमबुद्धि। २-अनित्य आकाशादिक मे नित्य
बुद्धि। ३-दु खरूप धनादिक मे सुखबुद्धि। ४-अशुचि शरीरो मे
शुचिबुद्धि। पचक्लेशो मे उक्त चार प्रकार की कार्य अविद्या का ही
ग्रहण है।

अस्मिता किसको कहते है ? बुद्धि और आत्मा की एकतारूप
प्रतीति को। इसी को सामान्य अहकार भी कहते है। राग ?
अनुकूलता के ज्ञान से जन्य बुद्धि वृत्ति को राग कहते है। द्वेष ?
प्रतिकूल वस्तु के ज्ञान से जन्य बुद्धि वृत्ति को द्वेष कहते है। अभिनिवेश ?
मरण के भय से शरीर की रक्षा के आग्रह को अभिनिवेश कहते है।
सर्व शरीरो मे जीव एक हो तो एक सुखी दु.खी होने से सर्व शरीर सुखी
दु.खी होने चाहिये ? सो ठीक नही। कारण ? सुख-दु.खादि अन्त करण
के धर्म है, सो अन्त.करण नाना है। इससे एक के सुखी दु.खी होने से सब
सुखी दु.खी नही होते। साक्षी सुख दु.ख से रहित है। एक है और सर्व क्लेश
से रहित है। उसकी ब्रह्म के साथ एकता बनती है। यह तो नही हो
सकता ? क्यो ? जो कर्त्ता-भोक्ता जीव है, उससे भिन्न साक्षी नही है
और साक्षी मानो तो भी एक तो नही हो सकता। नाना साक्षी
मानने होगे। क्यो ? यह वेदान्त का सिद्धान्त है—"अन्त.करण और

सुख दु खादि अन्त.करण के धर्म ये, इन्द्रिय और अन्त करण के विषय नही, साक्षी के विषय है।" कारण ? इन्द्रिय तो पचीकृत भूतो को विषय करती है।

इसमे इतना भेद है—नेत्र इन्द्रिय तो रूप और रूप के आश्रय वस्तु को विषय करती है। कैसे ? जैसे नीलपीतादिक घट का रूप और रूप के आश्रय घट को नेत्र इन्द्रिय विषय करती है। त्वचा इन्द्रिय भी स्पर्श और स्पर्श के आश्रय को विषय करती है। रसना, घ्राण और श्रवण ये तीन तो केवल रस, गंध और शब्द मात्र को विषय करती है, इनके आश्रय को नही। इससे इन तीन से तो अन्त करण का ज्ञान नही हो सकता। नेत्र तथा त्वचा से भी अन्त.करण का ज्ञान नही हो सकता। कारण ? पचीकृत भूत अथवा पचीकृत भूतो के कार्य रूपवान वा स्पर्शवान होते है, वे नेत्र और त्वचा के विषय होते है। अन्त.करण अपचीकृत भूतो का कार्य है। इससे नेत्र और त्वचा का विषय नही है। अपचीकृत भूतो का कार्य नेत्र इन्द्रिय भी नेत्र का विषय नही है। कारण ? बाह्य वस्तु इन्द्रिय का विषय होती है। अन्त करण इन्द्रियो की अपेक्षा अन्तर है। इससे भी इन्द्रियो का विषय नही है। अन्त करण की वृत्ति का भी अन्त करण विषय नही है। क्यो ? अन्त.करण वृत्ति का आश्रय है। इससे अन्त.करण अपनी वृत्ति का विषय नही होता। कैसे ? जैसे अग्नि दाह का आश्रय है, सो दाह का विषय नही होता है। अग्नि से भिन्न काष्ठादि ही दाह के विषय होते है। वैसे ही अन्त करण से भिन्न जो वस्तु हो, वही अन्त.करणजन्य वृत्ति का विषय होती है, अन्त.करण नही। अन्त.करण के धर्म भी अन्त करण की वृत्ति के विषय नही होते। क्यो ? अन्त करण को विषय करे तो अन्त.करण के धर्म सुखादिक को भी विषय करे। सो अन्त.करण को विषय कर नही सकती। इससे अन्त करण के धर्मो को भी विषय नही कर सकती। कारण ?

यह नियम है—जो वृत्ति के आश्रय से किंचित् दूर हो, वृत्ति का विषय होता है। वृत्ति के आश्रय के अत्यन्त समीप वह वृत्ति का विषय नही होता। कैसे ? जैसे नेत्र की वृत्ति का आश्र नेत्र, उसके अत्यन्त समीप अजन, नेत्र की वृत्ति का विषय न होता। वैसे ही अन्त.करण की वृत्ति का आश्रय अन्तःकरण उसके अत्यन्त समीप सुखादिक धर्म है, वे अन्त करण की वृत्ति विषय नही हो सकते। इस प्रकार धर्म सहित अन्त करण व इन्द्रियो से तथा अपने से ज्ञान नही हो सकता। साक्षी एक मानें त जैसे एक अन्त करण के सुख दु.ख का साक्षी से भान होता है, वै सर्व के सुख दु:ख का भान होना चाहिये और होता है नही। इस साक्षी नाना है। जब नाना साक्षी अगीकार करे तब यह दो नही आता। कारण ? जिस साक्षी की उपाधि जो अन्त करण है, उ साक्षी से अपनी उपाधि के धर्मों का भान होता है, अन्य सबके सुख दु.ख का भान नही होता। इस प्रकार नाना साक्षी है। उनकी एक ब्रह्म के साथ एकता नही हो सकती।

विषय मडन

पूर्व जो कहा "जीव रागादिक क्लेश सहित और ब्रह्म क्लेश रहित है। इससे जीव ब्रह्म की एकता वेदान्त का विषय नही हो सकता"। यह बात यद्यपि सत्य है तथापि राग द्वेष रहित साक्षी की एकता ब्रह्म से होती है। और कहा था "कर्ता भोक्ता से भिन्न साक्षी नही"। सो नही बनता। क्यो ? कर्त्ताभोक्ता जो ससारी है, उसके विशेष भाग का नाम साक्षी है। यदि साक्षी का निषेध करें तो ससारी के विशेष भाग का निषेध होने से कर्त्ताभोक्ता संसारी का ही निषेध होगा।

क्यों ? एक ही चेतन मे साक्षी भाव की तो अतःकरण उपाधि है और कर्त्ताभोक्ता ससारी का विशेषण है। विशेषण सहित को विशिष्ट कहते हैं। उपाधि वाले को उपहित कहते है। उपाधि किसको

कहते है ? जो वस्तु जितने देश मे आप हो, उस देश मे स्थित वस्तु को बतावे और आप अलग रहे, उसे उपाधि कहते है । किसी दृष्टान्त से समझाइये ? जैसे नैयायिक मत मे कर्णगोलक मे स्थित आकाश को श्रोत्र कहते है । वह कर्णगोलक श्रोत्र की उपाधि है । कारण ? कर्णगोलक जितने देश मे आप है, उतने देश मे स्थित आकाश को श्रोत्र रूप करके बताता है । और आप अलग रहता है । इससे कर्णगोलक श्रोत्र की उपाधि है, वैसे ही अन्त करण भी जितने देश मे आप है, उतने देश मे स्थित चेतन को साक्षी सज्ञा करके बताता है । आप पृथक रहता है । इससे अन्त करण साक्षी चेतन की उपाधि है । इससे यह सिद्ध होता है—अन्त.करणमे वर्तने वाला चेतनमात्र साक्षी कहलाता है ।

विशेषण किस को कहते है ? अपने सहित वस्तु को बतावे उसे विशेषण कहते है । दृष्टान्त द्वारा बताइये ? जैसे "कुन्डलवाला पुरुष आया है" । इस स्थान मे पुरुष का कु डल विशेषण है । क्यो ? अपने सहित पुरुष का आगमन कु डल बताता है । इससे विशेषण है । "नील रूपवान घट को मै देखता हूँ" इस स्थान मे भी नीलरूप घट का विशेषण है ।

वैसे ही अन्त करण भी कर्त्ताभोक्ता जीव चेतन का विशेषण है । कारण ? अन्त.करण सहित चेतन को कर्त्ताभोक्ता रूप करके अन्त. करण बताता है । इससे ससारी का अन्त.करण विशेषण है । इससे यह सिद्ध होता है—अन्त.करण मे वर्तने वाला चेतन और अन्त.करण को ससारी कहते है ।

राग द्वेषादिक क्लेश संसारी मे है, साक्षी मे नही । ससारी का भी जो विशेषण अन्त करण है उसमे है । विशेष चेतन मे नही । क्यो ? ससारी मे जो विशेष चेतम भाग है, उसका साक्षी से भेद नही है ।

क्यो ? एक ही चेतन अन्त करण सहित ससारी है और अन्त क॰
रहित साक्षी है। इससे साक्षी का और ससारी के विशेष भाग
भेद नही है। विशेष किसको कहते है ? जिसके आश्रय विशेषण
उसको। विशेष भाग मे क्लेश मानें तो साक्षी मे ही मानने होगे ॰
"साक्षी सर्व क्लेश रहित है" यह वेद का सिद्धान्त है। इससे स
क्लेश अन्त करण मे ही है। चेतन भाग मे नही।

उक्त प्रकार से अन्त करण विशिष्ट की ब्रह्म मे एकता न
होती किन्तु अन्त.करण उपहित साक्षी की ब्रह्म से एक
होती है।

और जो कहा था-"साक्षी नाना है और ब्रह्म एक है। इस
नाना साक्षी की एक ब्रह्म से एकता नही हो सकती। व्यापक ए
ब्रह्म से साक्षी का अभेद मानोगे तो साक्षी भी सर्व शरीरो मे व्याप
एक ही होगा। इससे सर्व शरीरो के सुख दुख भान होने चाहिये

यह शका नही बनती। क्यों ? यद्यपि ईश्वर साक्षी एक है और जी
साक्षी नाना है और परिच्छिन्न है। तो भी व्यापक ब्रह्म से भिन्न नह
है। कैसे ? जैसे घटाकाश नाना है और परिच्छिन्न है। तो भी महाका
से भिन्न नही है, महाकाशरूप ही है, वैसे ही नाना और परिच्छि॰
साक्षी भी ब्रह्म रूप ही है। और जो कहा था—"सुख दु.ख अन्त.करर
की वृत्ति के विषय नही"। सो असगत है। क्यो ? यद्यपि सुखदु.
साक्षी भास्य है, वह साक्षी नाना है। तो भी जब अन्त.करण क
परिणाम सुखरूप वा दु:खरूप होता है, उसी समय अन्त करण कं
ज्ञानरूप वृत्ति सुखदु ख को विषय करने वाली होती है। उस वृत्ति ॰
आरूढ साक्षी उनको प्रकाशता है। इस रीति से विद्वानो ने सुख दु:ख
साक्षी के विषय कहे है। वृत्ति बिना केवल साक्षी के विषय नही।

इस स्थान मे यह रहस्य है—जैसे आकाश मे घटाकाश नाम और
जल का लाना रूप कार्य प्रतीत होता है, वह घटरूप उपाधि की दृष्टि

से प्रतीत होता है। घटरूप उपाधि की दृष्टि बिना दोनो प्रतीत नही होते किन्तु आकाशमात्र ही प्रतीत होता है। इससे घटाकाश महाकाशरूप है, वैसे ही चेतन मे साक्षी नाम और धर्मसहित अन्त करण का प्रकाशरूप कार्य, अन्त.करणरूप उपाधि की दृष्टि से प्रतीत होता है। अन्त.करणरूप उपाधि की दृष्टि बिना साक्षी नाम और धर्मसहित अन्त करण का प्रकाश-रूप कार्य प्रतीत नही होता किन्तु चेतनमात्र ब्रह्म ही प्रतीत होता है। इससे साक्षी ब्रह्मरूप है। इस अभिप्राय से ही साक्षी एक कहा है। कारण ? उपाधि की दृष्टि बिना साक्षी मे नानापना और परिच्छिन्न-भाव प्रतीत नही होता। वह ही जीवपद का लक्ष्य है। इस रीति से जीव-ब्रह्म की एकता वेदान्त का विषय है।

प्रयोजन खडन

प्रयोजन ठीक नही है। क्यो ? अहकार से आदि जो अनात्म वस्तु रूप ससार है, सो बध कहा जाता है। वह बध अध्यासरूप हो तो ज्ञान से निवृत्त हो और अध्यासरूप नही हो तो ज्ञान से निवृत्त नही होता। कारण ? ज्ञान का यह स्वभाव है—जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसमे जो अध्यास और उसके अज्ञान को दूर करता है। कैसे ? जैसे जेवरी का ज्ञान जेवरी मे सर्प अध्यास को और जेवरी के अज्ञान को दूर करता है। अध्यास किसको कहते है ? भ्राति ज्ञान का विषय जो मिथ्या वस्तु और भ्राति ज्ञान को अध्यास कहते है। जिसमे जो वस्तु मिथ्या नही है किन्तु सत्य है, उसकी ज्ञान से निवृत्ति नही होती, वैसे ही आत्मा मे अहकार से आदि बध अध्यास (मिथ्या) हो तो ज्ञान से निवृत्त हो। आत्मा मे मिथ्या बध सामग्री है नही और बध प्रतीत होता है। इससे सत्य है। उस सत्यबध की ज्ञान से निवृत्ति की आशा निष्फल है।

अध्यास की सामग्री

अध्यास की सामग्री क्या है ? सत्य वस्तु के ज्ञानजन्य सस्कार और तीन प्रकार के दोष, प्रमेय के दोष, प्रमाता का दोष, प्रमाण का दोष

और अधिष्ठान के विशेषरूप का अज्ञान तथा सामान्यरूप का ज्ञा
इतनी अध्यास की सामग्री है, इसके बिना अध्यास नही होता,
सीपी मे चाँदी का और जेवरी मे सर्प का अध्यास होता है। f
पुरुष ने सत्य चाँदी और सत्य सर्प देखा है उसी को होता है। जिस
सत्य चाँदी और सत्य सर्प का ज्ञान नही है, उसको नही होता। इ
सत्यवस्तु के ज्ञान के सस्कार अध्यास के हेतु है।

सीपी मे सर्प का और जेवरी मे चाँदी का अध्यास नही होत
इसमे प्रमेय मे सादृश्य दोष अध्यास का हेतु है। प्रमाता मे लोभ भय
आदि और नेत्रादिक प्रमाण मे पित्त का मल से आदि दोष अध्यास
हेतु है। सीपी का "इद" रूप करके सामान्य ज्ञान होता है अ
"यह सीपी है" ऐसा विशेष ज्ञान नही होता, तब अध्यास होता है
"सीपी है" ऐसे विशेषरूप का ज्ञान हो, तब अध्यास नही होता अ
सामान्य रूप का ज्ञान नही हो तो भी अध्यास नही होता। इस
अधिष्ठान के विशेषरूप का अज्ञान और सामान्यरूप का ज्ञान, अध्या
का हेतु है। इतनी अध्यास की सामग्री है। इनमे कोई एक भी न
हो तो अध्यास नही होता। कैसे ? जैसे कुलाल, चक्र, दड और मृत्ति
घट की सामग्री है। इनमे कोई एक भी नही हो तो घट न
बनता। वैसे ही अध्यास भी अध्यास की संपूर्ण सामग्री से होता है औ
बध के अध्यास मे एक भी कारण नही है। बध सत्य हो तो उस
ज्ञानजन्य सस्कार से आत्मा मे मिथ्या बध प्रतीत हो। सिद्धान्त
आत्मा से भिन्न कोई भी सत्य वस्तु नही है। इससे सत्य ब
के ज्ञानजन्य सस्कार का अभाव होने से आत्मा मे बध का अध्या
नही बनता। वैसे ही आत्मा का और बध का सादृश्य भी नही है
उलटा तम प्रकाश के समान विपरीत स्वभाव है। आत्मा प्रत्यक्
और बध पराक है। प्रत्यक् व बाह्य का अर्थ क्या है ? प्रत्यक् अत
को और पराक बाह्य को कहते है। आत्मा विषयी है और बध विष
है। विषयी व विषय का अर्थ क्या है ? प्रकाश करने वाला विषय
और जिसका प्रकाश करे वह विषय कहलाता है। प्रत्यक् मे पराक क

और पराक मे प्रत्यक् का अध्यास नही होता। कैसे ? जैसे पुत्रादिक की अपेक्षा से देह प्रत्यक् है, उसमे पुत्रादिक का और पुत्रादिक मे देह का अध्यास नही होता।

विषय मे विषयी का और विषयी मे विषय का अध्यास नही होता। कैसे ? जैसे विषय घटादिक, उनमे विषयी दीपक का और दीपक मे घटादिक का अध्यास नही होता। वैसे ही सादृश्य का अभाव होने से प्रत्यक् विषयी आत्मा मे पराक विषयरूप बध का अध्यास नही बनता। प्रत्यक् और पराक का विरोध है। विषय और विषयी का विरोध है। सादृश्य नही। इससे बध का अध्यास आत्मा मे नही हो सकता। वैसे ही प्रमाता के दोष का और प्रमाण के दोष का भी अभाव है। क्यो ? "प्रमाता से आदि सर्व प्रपच अध्यासरूप है। सोई बध है।" यह वेदान्त का सिद्धान्त है। इस रीति से बध के अध्यास से पूर्व प्रमाता प्रमाण का स्वरूप असिद्ध है। इसलिये उनका दोष भी असिद्ध है। इससे बध का अध्यास नही बनता।

अधिष्ठान के विशेष रूप का अज्ञान भी नही बन सकता। क्यो ? बध का अधिष्ठान ब्रह्म है। सो स्वय प्रकाश ज्ञानरूप है। स्वय प्रकाश ज्ञानरूप ब्रह्म मे सूर्य मे तम की समान अज्ञान नही बनता। कैसे ? जैसे प्रकाशमान सूर्य से तम का विरोध है, वैसे ही चेतन प्रकाश और तमरूप अज्ञान का परस्पर विरोध है और अधिष्ठान का अज्ञान माने तो भी बध का अध्यास नही बनता। क्यो ? अत्यन्त अज्ञात मे तथा अत्यन्त ज्ञात मे अध्यास नही होता किन्तु विशेषरूप से अज्ञात और सामान्यरूप से ज्ञात मे होता है। ब्रह्म सामान्य/विशेष भाव से रहित निर्विशेष है। यह सिद्धान्त है। इससे विशेषरूप से अज्ञात और सामान्यरूप से ज्ञात ब्रह्म नही बनता और अध्यास के लोभ से ब्रह्म मे सामान्य विशेष भाव मानोगे तो सिद्धान्त का त्याग होगा।

इस रीति से निर्विशेप प्रकाशरूप ब्रह्म का विशेषरूप से अज्ञान और सामान्यरूप से ज्ञान का अभाव होने से ब्रह्म मे अध्यास

नही बनता । इससे ब्रह्म मे बध अध्यासरूप है, यह कहना नही बनत किन्तु बध सत्य है और सत्य बध की ज्ञान से निवृत्ति असंभव है । इसर ज्ञान द्वारा मोक्ष वेदान्त का प्रयोजन नही बनता और ज्ञान से मोक्ष क प्रतिपादक सिद्धान्त भी समीचीन नही है किन्तु कर्म से मोक्ष होता है । यह वार्ता एक-भविकवाद की रीति से प्रतिपादन करते है । एक-भविकवाद किसको कहते है ? एक जन्म का वा मोक्ष के साधन एक ही कर्म क कथन जिसमे हो उसको एक-भविकवाद कहते है ।

केवल कर्म से मोक्ष की सिद्धि (एक-भविकवाद)

सत्य बध की ज्ञान से निवृत्ति माननी युक्तिसहित नही है अर्थात युक्ति से सिद्धि नही होती है । इससे जो पुरुष मुक्त होना चाहे उसको निरन्तर नित्य कर्म करना चाहिये । इसका अभिप्राय यह है—कर्म दो प्रकार का है । एक विहित कर्म और दूसरा निषिद्ध कर्म । विहित कौन है ? पुरुष की प्रवृत्ति के निमित्त जिसका स्वरूप वेद ने कथन किया है, वह विहित कर्म है । निषिद्ध कर्म कौन है ? पुरुष की निवृत्ति जिसमे कथन की है वह निषिद्ध कर्म है । स्वभावसिद्ध क्रिया कर्म नही है । क्यो ? जो वेद ने प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के निमित्त कथन किया है वह कर्म कहलाता है । उदासीन क्रिया कर्म नही । इससे दो प्रकार का ही कर्म है । उदासीन क्रिया कौन है ? जिसका वेद मे विधान तथा निषेध नही किया है । ऐसी राग-द्वेषरहित स्वाभाविक गमन, शौचादि क्रिया ही उदासीन क्रिया है ।

विहित कर्म कितने प्रकार का है ? चार प्रकार का । वे चार प्रकार कौन है ? १—प्रायश्चित्त २—काम्य ३—नैमित्तिक और ४—नित्य है । प्रायश्चित्त ? पापनाश के निमित्त जिसका विधान किया हो वह कर्म प्रायश्चित्त कहलाता है । कैसे ? जैसे प्रमाद से द्रव्य के ग्रहण-जन्य यति को जो पाप होता है, उसके नाश के निमित्त द्रव्य का त्याग और तीन उपवास है । प्रमाद किसको कहते है ? अवश्य करने योग्य कार्य के विस्मरण को प्रमाद कहते है । काम्य ? फल के निमित्त

जिसका विधान किया हो वह कर्म काम्य कहलाता है। कैसे ? जैसे वृष्टि कामना को कारीरीयाग और स्वर्ग कामना को अग्नि-होत्र सोम यागादि। कारीरीयाग किसको कहते है ? अपने देश मे वर्षा की इच्छा मे यज्ञ के लिये, राजा सब प्रजा से उनकी शक्ति के अनुसार लेवा ले फिर उससे यज्ञ किया जाय उसे कारीरीयाग कहते है। नैमित्तिक कर्म ? जिस कर्म के नही करने से पाप हो और करने से पुन्य-पापरूप फल हो नही और सदा जिसका विधान नही किन्तु किसी निमित्त को लेकर विधान किया हो उसको नैमित्तिक कर्म कहते है। कैसे ? जैसे ग्रहण, श्राद्ध और अवस्थावृद्ध, जातिवृद्ध, आश्रमवृद्ध विद्यावृद्ध, धर्मवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुष के आगमन से उत्थानरूप कर्म है। विद्यावृद्ध और ज्ञानवृद्ध मे क्या भेद है ? विद्या शब्द से शास्त्र ज्ञान का ग्रहण और ज्ञान शब्द से अपरोक्ष-विद्या का ग्रहण है। ये पूर्व-पूर्व से उत्तर उत्तर उत्तम है। नित्य कर्म ? जिसके नही करने से पाप हो, करने से फल हो नही और सदा जिसका विधान हो सो नित्य कर्म है जैसे स्नान सध्यादिक है। इस रीति से चार प्रकार का विहित और एक निषिद्ध मिलाने से पाच प्रकार का कर्म है। मोक्ष की इच्छा वाला काम्य और निषिद्ध नही करे। क्यो ? काम्य कर्म से उत्तम लोक और निषिद्ध से नीच लोक प्राप्त होता है। इससे दोनो को त्याग के नित्यकर्म सदा करे और नैमित्तिक का जब निमित्त हो तब नैमित्तिक भी करे। क्यो ? नित्य नैमित्तिक कर्म नही करे तो पाप होगा। उस पाप से नीच योनि को प्राप्त होगा। इससे पाप को रोकने के लिये नित्य नैमित्तिक कर्म करे। नित्य नैमित्तिक कर्म का और फल नही है। यही फल है। उनके नही करने से जो पाप होता है, सो उनके करने से नही होता। इससे मुमुक्ष नित्य नैमित्तिक कर्म अवश्य करे। कभी प्रमाद से निषिद्ध कर्म हो जाय तो उसके दोष को दूर करने के लिये प्रायश्चित्त भी करे। निषिद्ध नही करा हो तो भी जन्मातरों के पापों को दूर करने के लिये प्रायश्चित कर्म करे।

प्रायश्चित दो प्रकार का है—१-असाधारण २-साधारण। असाधारण

कौन है ? जो किसी पाप विशेष के दूर करने के लिये शास्त्र ने विधान किया हो, वह असाधारण प्रायश्चित है। कैसे ? जैसे पूर्व कहा था यति को द्रव्यग्रहणजन्य पाप के लिये द्रव्य का त्याग और उपवास। साधारण प्रायश्चित कौन है ? सर्व पाप को नष्ट करने के लिये शास्त्र ने जिसका विधान किया हो वह साधारण प्रायश्चित है। कैसे ? जैसे गगास्नान और ईश्वर नाम उच्चारण आदि। इस प्रकार प्रायश्चित दो प्रकार का है। ज्ञात पाप को नष्ट करने के लिये असाधारण प्रायश्चित करे और जन्मातरो के अज्ञात पापो को नष्ट करने के लिये साधारण प्रायश्चित करे। क्यो ? असाधारण प्रायश्चित का यह स्वभाव है—जिस पाप को नष्ट करने के लिये शास्त्र ने जो प्रायश्चित विधान किया है वह उसी पाप को नष्ट करेगा, अन्य को नही। जन्मातरो के पापो का ऐसा ज्ञान नही है कि कौन सा पाप है और उसका प्रायश्चित कौन है। साधारण प्रायश्चित से सर्व पाप दूर होते है। यद्यपि गगास्नान से आदि जो साधारण प्रायश्चित कहे है। वे केवल प्रायश्चित रूप ही नही है, काम्य रूप भी है। कारण ? गगास्नान से तथा ईश्वर नाम उच्चारण से उत्तम लोक की प्राप्ति भी शास्त्र मे कथन करी है, इस से काम्य और पाप के नाशक होने से प्रायश्चित दोनो ही हैं। कैसे ? जैसे अश्वमेध ब्रह्म-हत्यादिक पाप का नाशक है और स्वर्ग प्राप्ति रूप फल का हेतु भी है।

मुमुक्षु तो उत्तम लोक चाहता नही है। जो उत्तम लोक चाहे उसको उत्तम लोक के हेतु है। इससे कामना सहित अनुष्ठान करने से काम्यरूप प्रायश्चित है और लोककामनारहित अनुष्ठान करने से केवल प्रायश्चित रूप है। कैसे ? जैसे वेदान्तमत मे सर्व कर्म सकाम पुरुष को ससार के हेतु है और निष्काम को अन्त करण की शुद्धि करके मोक्ष के हेतु है, वैसे एक ही गगास्नान तथा ईश्वर नाम उच्चारण सकाम को तो काम्यरूप प्रायश्चित है और निष्काम को केवल प्रायश्चित रूप है। इससे मुमुक्षु साधारण प्रायश्चित करे। इस रीति से जन्मातरो के सपूर्ण पापो का नाश ज्ञान के बिना ही हो जाता है, वैसे ही मुमुक्षु के जन्मातरो के काम्यकर्म बध्या के समान है, फल

के हेतु नही है। क्यो ? जैसे कर्म के अनुष्ठानकाल मे पुरुष की इच्छा फल का हेतु वेदान्त मे माना है। इच्छासहित अनुष्ठान करने से कर्म स्वर्गादि फल के हेतु है और निष्काम अनुष्ठान करने से स्वर्गादि फल के हेतु नही। यह वेदान्त का सिद्धान्त है, वैसे कर्म की सिद्धि मे अनन्तर भी पुरुष को इच्छा फल का हेतु है। पुरुष की इच्छा जिस काल मे पुरुष मुमुक्षु होता है तब दूर हो जाती है। इससे जन्मातरों के काम्य कर्म भी फल के हेतु नही होते। कैसे ? जैसे किसी पुरुष ने धन प्राप्ति की इच्छा से धनी पुरुष का आराधन किया हो, किन्तु फिर धन की इच्छा दूर हो जाय तो धन की प्राप्ति-रूप फल उसको नही होता, वैसे ही जन्मातरो के काम्यकर्म का भी मुमुक्षु को इच्छा के अभाव से फल नही होता। इम रीति से केवल कम स मोक्ष होता है।

वतमान जन्म मे काम्य और निषिद्ध किये नही, जिससे ऊर्ध्व लोक और अधोलोक को जाय। जन्मातरो के प्रारब्ध रूप जो निषिद्ध और काम्य, उनका भोग से नाश हो जाता है। नित्य और नैमित्तिक के नही करने से जो पाप हो, सो उनके करने से मुमुक्षु को होता नही और जन्मातरो के सचित जो निषिद्ध है, उनका साधारण प्रायश्चित से नाश हो जाता है। जन्मातरो के सचित काम्यकम मुमुक्षु को इच्छा के अभाव से फल देते नही। इससे मुमुक्षु नित्य नैमित्तिक और साधारण प्रायश्चित रूप कर्म करे और वर्तमान जन्म का ज्ञात निषिद्ध कम हो तो असाधारण प्रायश्चित भी करे।

अथवा नित्य और नैमित्तिक ही करे, प्रायश्चित नही करे। क्यो ? जो सचित निषिद्ध कर्म और काम्यकम है, वे मुमुक्षु के नष्ट हो जाते है। कैसे ? जैसे ज्ञानवान के सचित कर्म का नाश वेदान्त मे माना गया है, वैसे ही निषिद्ध काम्य का त्याग करके नित्य नैमित्तिक कर्म में वर्तमान जो मुमुक्षु, उसके सचित कर्म का नाश हो जाता है। अथवा सचित जो काम्य और निषिद्ध सो सब

मिल के एक जन्म का आरभ करते है। इससे मुमुक्षु का एक जन्म और होता है। अथवा योगी के कायव्यूह की समान एक ही काल मे सब सचित अनन्त शरीर का आरभ करते है। कायव्यूह किसको कहते है ? शरीरो के समूह को। उनसे मुमुक्षु उत्तर जन्म मे सब फल भोग लेता है। अथवा नित्य और नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठान से जो क्लेश होता है, सो जन्मातरो के सचित निषिद्ध कर्म का फल है। इससे जन्मातरो का सचित निषिद्ध अन्य जन्म का आरभ नही करता। काम्य जो सचित है, सो एक जन्म अथवा एक काल मे अनन्त शरीरो का आरभ करते है। इससे मुमुक्षु को उत्तर जन्म मे दुःख का लेश भी नही होता, केवल सुख का ही भोग होता है। क्यो ? जन्मातरो के सचित जो विहित कर्म है, उनसे शरीर हुआ है और सचित जो निषिद्ध है, वे नित्य नैमित्तिक के अनुष्ठान के क्लेश से पूर्व जन्म मे भोग लिये गये है।

इस रीति से प्रायश्चित से बिना केवल नित्य और नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष होता है। इससे नैमित्तिक कर्म के समय नैमित्तिक का अनुष्ठान करे और नित्य कर्म का सतत अनुष्ठान करे। इस मत को शास्त्र मे एक-भविकवाद कहते है। इसमे भी बध की निवृत्ति ज्ञान द्वारा वेदान्त का प्रयोजन नही है। क्यो ? जो वस्तु किसी और से नही होती सो मुख्य प्रयोजन होता है। कैसे ? जैसे रूप का ज्ञान नेत्र बिना अन्य से नही होता, सो रूप का ज्ञान नेत्र का प्रयोजन है और बध की निवृत्ति वेदान्त के बिना कर्म से होती है। इससे बध की निवृत्ति वेदान्त का प्रयोजन नही है। इस रीति से वेदान्त के अधिकारी, विषय और प्रयोजन नही बनते। सबन्ध खडन-अधिकारी आदि के अभाव से सबन्ध भी नही बनते। क्यो ? विषय के अभाव से वेदान्त का और विषय का प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सबन्ध नही बनता। अधिकारी और फल के अभाव से उनका प्राप्य प्रापक भाव सबन्ध नही बनता। अधिकारी के अभाव से उसका और विचार का कर्तृ-कर्त्तव्यभाव सबन्ध नही बनता। ज्ञान की

निष्फलता होने से वेदान्त का और ज्ञान का जन्य जनक भाव सबन्ध नही बनता। क्यो ? सफल वस्तु जन्य होती है। पूर्व कथन करी रीति से ज्ञान सफल नही है। और ज्ञान के स्वरूप का भी अभाव है। इससे भी ज्ञान का और वेदान्त का सबन्ध नही बनता। क्यो ? जीव ब्रह्म के अभेद निश्चय का नाम वेदान्त मे ज्ञान है। सो अभेद निश्चय नही बनता । क्यो ? जीव ब्रह्म का अभेद नही है। यह वार्ता विषय के निराकरण मे पहले कथन कर आये है। इससे अभेद निश्चय रूप ज्ञान नही बनता। इस रीति से अधिकारी आदि के अभाव से वेदान्त का अनुबन्ध भी नही बनता ।

प्रयोजन मडन (कार्य अध्यास)

(कार्य अध्यास किसको कहते है ? अज्ञान कृत स्थूल सूक्ष्म प्रपच रूप भ्रम को कार्य अध्यास कहते है।) पहले कहा था "बध सत्य है, उसकी ज्ञान से निवृत्ति नही होती, मिथ्या वस्तु की ज्ञान से निवृत्ति होती है। आत्मा मे मिथ्या बध की सामग्री नही है। इससे बध सत्य है, उसकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती।" सो वार्ता नही बनती। क्यो ? बध मिथ्या है। उसकी ज्ञान से निवृत्ति होती है। पूर्व कहा था "सत्यवस्तु का ज्ञान सस्कार द्वारा अध्यास का हेतु है । जेसे सत्य सर्प का ज्ञान सस्कार द्वारा सर्प अध्यास का हेतु है, वैसे सत्य बध हो तो सत्य बध का ज्ञान हो। सिद्धान्त मे अनात्म वस्तु कोई भी सत्य नही है। इससे सत्य वस्तु का ज्ञान जो सस्कार द्वारा अध्यास की सामग्री, उसका अभाव होने से बध अध्यास नही है किन्तु सत्य है"। सो शका नही बनती। क्यो ? अध्यास मे सस्कार द्वारा सत्य वस्तु का ज्ञान हेतु नही है किंतु वस्तु का ज्ञान हेतु है। सो वस्तु सत्य हो अथवा मिथ्या हो। यदि सत्य वस्तु का ज्ञान ही अध्यास मे हेतु हो तो जिस पुरुष ने सत्य छुहारे का वृक्ष नही देखा हो और बाजीगर का बनाया हुआ मिथ्या छुहारे का वृक्ष बहुत बार देखा हो और बाजीगर से सुना हो "यह छुहारे का वृक्ष है" और खजूर का वृक्ष कभी न देखा हो और न सुना हो। उसको खजूर का वृक्ष देखकर छुहारे का अध्यास होता है, सो नही

होना चाहिये। कारण ? सत्य छुहारे के वृक्ष का तो उसे ज्ञान नही है। मिथ्या छुहारे का ज्ञान है। इससे अध्यास बनता है। इससे सजातीय वस्तु के ज्ञानजन्य सस्कार ही अध्यास के हेतु है। सो सस्कारजनक ज्ञान और उसका विषय मिथ्या हो वा सत्य हो। सस्कार द्वारा ज्ञान हेतु है। "ज्ञानजन्य सस्कार हेतु है" ऐसा कहने से अर्थ का भेद नही होता। एक ही अर्थ है। क्यो ? सस्कार द्वारा ज्ञान हेतु है" इसका अर्थ यह है.—ज्ञान सस्कार का हेतु है और सस्कार अध्यास का हेतु है। इससे सस्कार द्वारा ज्ञान को हेतुता कहने से भी ज्ञानजन्य सस्कार को ही अध्यास मे हेतुता सिद्ध होती है।

(सिद्धाती.—) केवल वस्तु के ज्ञान को ही अध्यास मे हेतु कहै तो नही बनता। क्यो ? यह नियम है.—"जो हेतु होता है सो कार्य से अव्यवहित पूर्वकाल मे होता है" कैसे ? जैसे घट का हेतु दड है, सो घट से अव्यवहित पूर्वकाल मे होता है, वैसे यदि अध्यास का हेतु ज्ञान माने तो वह भी अध्यास से अव्यवहित पूर्व काल मे चाहिये। (पूर्वपक्षी:—) सो नही बनता। क्यो ? जिस पुरुष को सर्प का ज्ञान होता है, उसको ज्ञान से एक मास पीछे भी रज्जु में सर्प का अध्यास होता है। सो नही होना चाहिये। क्यो ? जो रज्जु मे सप अध्यास का हेतु सर्प का ज्ञान है। उसका नाश हो गया है। इससे अव्यवहित पूर्वकाल मे नही है। पूर्वकाल मे तो है। अव्यवहित किसको कहते है ? अतराय रहित को। व्यवहित ? अतराय सहित को। और यदि ऐसा कहै—कार्य से पूर्वकाल मे हेतु चाहिये। व्यवहित पूर्वकाल मे हो वा अव्यवहित पूर्वकाल मे होवे। और "कार्य से अव्यवहित पूर्वकाल मे ही हेतु होता है।" ऐसा नियम मानें तो "विहित कर्म स्वर्ग प्राप्ति के हेतु है और निषिद्ध कर्म नरक प्राप्ति के हेतु है"। यह शास्त्र की वार्ता अप्रमाण हो जायगी। क्यो ? कायिक वाचिक मानस क्रिया का नाम कर्म है। सो क्रिया अनुष्ठानकाल से अनतर ही नाश हो जाती है और स्वर्ग नरक कालातर मे प्राप्त होते है। इससे स्वर्ग नरक प्राप्ति के अव्यवहित

पूर्वकाल में विहित कर्म और निषिद्ध कर्म है नही। जैसे व्यवहित पूर्वकाल के शुभकर्म और अशुभकम स्वर्गप्राप्ति और नरक प्राप्ति के हेतु है, वैसे ही "व्यवहित पूर्वकाल मे जो सर्प का ज्ञान सो भी रज्जु मे सर्पाध्यास का हेतु है।

(सिद्धाती —) सो वार्ता नही बनती। क्यो ? जैसे नष्ट ज्ञान और नष्ट कर्म से अध्यास और स्वर्ग नरक की प्राप्ति मानी है, वैसे मृत कुलाल और नष्ट दड से भी घट बनना चाहिये। क्यो ? जैसे रज्जु मे सर्पाध्यास से व्यवहित पूर्वकाल मे सप का ज्ञान है और स्वग-नरक की प्राप्ति से व्यवहित पूर्वकाल मे शुभ-अशुभ कम है, वैसे घट से व्यवहित पूर्वकाल मे नष्ट दड और मृत कुलाल भी है। उनसे भी घट होना चाहिये और होता नही है। इससे व्यवहित पूर्वकाल मे जो वस्तु होती है, सो हेतु नही होती। अव्यवहित पूर्वकाल मे जो वस्नु होती है, सोई हेतु होती है। शुभ-अशुभ कर्म भी कालातर भावी जो स्वग नरक की प्राप्ति, उसके हेतु नही है किन्तु शुभ कर्म तो अपने से अव्यवहित उत्तर काल मे धर्म की उत्पत्ति करता है और अशुभ कम अधर्म की उत्पत्ति करता है। वे धम अधर्म अन्त -करण मे रहते हैं। उनसे कालातर मे स्वर्ग और नरक की प्राप्ति होती है। उसके अनन्तर धम अधर्म का नाश होता है। इस अभिप्राय से ही शास्त्र मे शुभ कर्म और अशुभ कर्म अपूर्व द्वारा फल के हेतु कहे है। साक्षात् नही कहे। अपूर्व किसको कहते है ? धर्म-अधर्म को अदृष्ट और पुन्य पाप भी धर्म अधम को कहते है। कही धर्म अधर्म की जनक शुभ-अशुभ क्रिया को भी धर्म-अधर्म कहते है। कैसे ? जैसे कोई शुभ क्रिया करता है तो उसे लोक कहते है —"यह धर्म करता है" और अशुभ क्रिया करने वाले को कहते है —"यह अधर्म करता है" वह शुभ-अशुभ क्रिया धम-अधर्म नही है किन्तु धर्म अधर्म की जनक है। इससे क्रिया को धर्म-अधर्म कहते है। कैसे ? जैसे आयु का वर्धक घृत है, उसको शास्त्र मे आयु कहते हैं। इस रीति से अव्यवहित पूर्वकाल मे हेतु होता है और रज्जु में सर्प अध्यास से

अव्यवहित पूर्वकाल मे सर्प का ज्ञान नही है। इससे सर्प का ज्ञान रज्जु मे सर्प अध्यास का हेतु नही है किन्तु सर्प ज्ञान जन्य सस्कार ही रज्जु मे सर्प अध्यास का हेतु है। वैसे ही सीपी मे चाँदी के अध्यास का हेतु चाँदी ज्ञान जन्य सस्कार है।

इस रीति से सब स्थानो मे सस्कार ही अध्यास के हेतु है। वस्तु का ज्ञान सस्कार का हेतु है। कैसे ? जैसे शुभ-अशुभ-कर्म जन्य धर्म-अधर्म अन्त करण मे रहते है, वैसे ही वस्तु के ज्ञानजन्य सस्कार भी अन्त.करण मे रहते है। जिस पुरुष को पहले सर्प का ज्ञान नही है, उसके भी अन्य वस्तु के ज्ञानजन्य सस्कार तो है किन्तु उसे रज्जु मे सर्प का अध्यास नही होता। जिस वस्तु का अध्यास होता है, उसके सजातीय वस्तु के ज्ञान का सस्कार अध्यास का हेतु है। विजातीय के ज्ञान के सस्कार हेतु नही होते। सर्प के सजातीय सर्प होता है, अन्य नही। सर्प का जिसको पहले ज्ञान नही है, अन्य वस्तु का ज्ञान है, उसमे सजातीय वस्तु के ज्ञानजन्य सस्कार नही है। इससे रज्जु मे उसे सर्प का अध्यास नही होता। सस्कार किसको कहते है ? सूक्ष्म अवस्था को कहते है। इस रीति से अध्यास से पूर्व जो सजातीय वस्तु का ज्ञान उसके सस्कार अध्यास के हेतु है। "सत्य वस्तु के ज्ञान के सस्कार ही अध्यास के हेतु हैं, मिथ्या वस्तु के ज्ञान के नही" यह नियम नही है। यह वार्ता छुहारे के दृष्टात से कथन की है। इससे मिथ्या वस्तु का ज्ञानजन्य सस्कार भी अध्यास का हेतु है। सो बध के अध्यास मे भी बनता है। क्यो ? अहंकार से आदि जो अनात्म वस्तु और उनका ज्ञान बध कहलाता है। "सो अनात्म वस्तु रज्जु के सर्प की समान जब प्रतीत हो तब ही है और प्रतीत नही हो तब नही" यह हमारा वेद सम्मत सिद्धान्त है।

इस कारण से ही सुषुप्ति मे सर्व प्रपच का अभाव प्रतिपादन किया है। सुषुप्ति मे कोई भी पदार्थ प्रतीत नही होता। इससे सर्व प्रपच का सुषुप्ति मे लय होता है। इसको शास्त्र मे दृष्टि-सृष्टिवाद कहते है। दृष्टि-सृष्टिवाद का अर्थ ठीक समझाइये ? दृष्टि (अविद्या की वृत्तिरूप ज्ञान)

के समय सृष्टि (पदार्थ की उत्पत्ति) उसका वाद (कथन) जिस पक्ष मे किया हो उस पक्ष को दृष्टि-सृष्टिवाद कहते है। इस रीति से अनन्त अहकारादिक और उनके ज्ञान उत्पन्न होते है और लय होते है। अहकारादिक और उनके ज्ञान के साथ ही उत्पत्ति लय होते है। जब अहकारादिको की प्रतीति की उत्पत्ति होती है तब अहकारादिको की उत्पति होती है और प्रतीति का लय होता है तब अहकारादिकों का लय होता है। अहंकारादिक और उनके ज्ञान का नाम अध्यास है। यद्यपि अहकार साक्षीभास्य है। यह वार्ता विषय प्रतिपादन मे कही है। इससे अहकार की प्रतीति साक्षीरूप है। उसकी उत्पत्ति और लय नही बनता तथापि अहकार का भी वृत्ति से ही साक्षी प्रकाश करता है, साक्षात् नही। उस वृत्ति की उत्पत्ति और लय होते है। इससे ही अहकार की प्रतीति के उत्पति लय कहे गये है। इस रीति से उत्तर उत्तर अहकारादिक और उनके ज्ञान की जो उत्पत्ति, उसके हेतु पूर्व पूर्व मिथ्या अहकारादिको के ज्ञानजन्य सस्कार बनते है। और जो कहै — "उत्तर उत्तर अहकारादिको के अध्यास मे तो यद्यपि पूर्व पूर्व अध्यास के सस्कार हेतु बनते है तथापि प्रथम उत्पन्न जो अहंकार और उसका ज्ञान, उसके हेतु सस्कार नही बनते। क्यो ? उसके पूर्व और अहकार उत्पन्न हुआ हो तो उसके ज्ञान के सस्कार भी हो, सो प्रथम अहकार से पूर्व और अहकार हुआ नही। वैसे ही "सर्व वस्तु के प्रथम अध्यास के हेतु सस्कार नही बनते।

यह शका भी सिद्धान्त के अज्ञान से होती है। क्यो ? यह वेदान्त का सिद्धान्त है :— एक ब्रह्म, ईश्वर, जीव, अविद्या, अविद्या का चेतन से सबन्ध, और अनादि वस्तु का भेद। यह षट्वस्तु स्वरूप से अनादि है। स्वरूप से अनादि का अर्थ क्या है ? जिस वस्तु की उत्पत्ति नही हो वह वस्तु स्वरूप से अनादि कहलाती है। उक्त छ. अनादि कैसे है ? १— ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान है। इससे ब्रह्म की अविद्या (मूल प्रकृति) से उत्पत्ति नही हो सकती और ईश्वर, जीव आदिक की सिद्धि तो ब्रह्म बिना हो नही सकती। इससे उन चार से ब्रह्म की उत्पत्ति सभव नही। इससे ब्रह्म अनादि है। ब्रह्म निर्विकार है। इससे ब्रह्म से

अविद्या की उत्पत्ति नहीं होती और ईश्वर आदि चार की सिद्धि तो अविद्या की सिद्धि के आधीन है। इससे उनसे अविद्या की उत्पत्ति सभव नही। इससे अविद्या अनादि है। केबल ब्रह्म से वा केवल माया से वा परस्पर से वा स्वसिद्धि के आधीन भेद से जीव ईश्वर की उत्पत्ति सभव नही है और अविद्या चेतन के सबन्ध की सिद्धि से ईश्वर जीव की सिद्धि है, वह सबन्ध आप भी अनादि है। उससे उनकी उत्पत्ति नही हो सकती। इससे जीव ईश्वर भी अनादि है। ब्रह्म और अविद्या अनादि है, इससे उनका तादात्म्य सबन्ध भी अनादि है। उनसे उसकी उत्पत्ति नही हो सकती और ईश्वर आदिक तीन की सिद्धि तो सबन्ध की सिद्धि के आधीन है। इससे उनसे उसकी उत्पत्ति नही हो सकती। अत. अविद्या और चेतन का सबन्ध अनादि है।

इन पाचों की आप ही आपसे उत्पत्ति मानें तो आत्माश्रय दोष आयेगा। इससे इन पाच की आप आप से भी उत्पत्ति नही हो सकती। इन पाच की उत्पत्ति नही होती। इससे इन पाच का परस्पर भेद है, उसकी भी उत्पत्ति नही बनती। इससे ये स्वरूप से अनादि है। ब्रह्म त्रिकाल अबाध्य है, इससे अनादि अनन्त है और अविद्यादिक पाच ज्ञान से बाध होते है, इससे अनादि सात है। अहकारादिको की तो श्रुति मे उत्पत्ति कही है। इससे स्वरूप से अनादि यद्यपि अहकारादिक नही है तथापि प्रवाहरूप से सर्ववस्तु अनादि है। सर्व वस्तुओ का प्रवाह दूर नही होता। अनादिकाल मे ऐसा समय पूर्व मे कोई भी नही हुआ है, जिस समय कोई घट नही हो। इससे घट का प्रवाह अनादि है। इस रीति से सर्व वस्तुओ का प्रवाह अनादि है। प्रलयकाल मे भी सुषुप्ति के समान सर्व वस्तु सस्काररूप होकर रहती है। इससे प्रपच का प्रवाह अनादि होने से प्रपच अनादि कहलाता है। ऐसा जिसको ज्ञान नही है, उसको यह शका होती है— "प्रथम अध्यास के हेतु सस्कार नही बनते।" और सिद्धान्त मे किसी अहकारादिक वस्तु का अध्यास सर्व से प्रथम नही है किन्तु अपने से पूर्व अध्यास से सपूर्ण उत्तर है। इससे शका नही बनती। इस रीति से सजातीय

के पूर्व ज्ञानजन्य सस्कार से अहकारादिक बध का अध्यास बनता है।

प्रमेय दोष का खडन

पूर्व कहा था —"तीन प्रकार के दोष अध्यास के हेतु है और बध के अध्यास मे कोई भी दोष नही बनता। इससे बध सत्य है" सो शका नही बनती। क्यो ? यदि दोष से बिना अध्यास नही हो तो अध्यास का हेतु दोष हो, जैसे तुरी ततु वेम पट के हेतु है, तुरी ततु, वेम हो तो पट हो और नही हो तो पट नही होता, वैसे दोष अध्यास के हेतु नही है। क्यो ? सादृश्य दोष बिना भी आत्मा मे जाति का अध्यास होता है। ब्राह्मणत्व से आदि जो जाति है, सो स्थूल शरीर का धर्म है। आत्मा का ओर सूक्ष्म शरीर का धर्म नही है। क्यो ? अन्य शरीर को प्राप्त होता है तब आत्मा और सूक्ष्म शरीर तो जो पूर्व शरोर मे था सोई ही रहता है और जाति अन्य भी होती है। यह नियम नही —"जो पूर्व शरार मे जाति थी वही उत्तर शरीर मे होती है।" आत्मा वा सूक्ष्म शरीर का धर्म जाति हो तो उत्तर शरीर मे अन्य जाति नही होनी चाहिये। इससे आत्मा का और सूक्ष्म शरीर का धर्म जाति नही है किन्तु स्थूल शरीर का ही धर्म है। और "मे द्विजाति हूँ" इस रोति से ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व और वैश्यत्व जाति का आत्मा में भान होता है। इससे आत्मा मे जाति का अध्यास है। कैसे ? जैसे रज्जु मे सप परमार्थ से नही है और भान होता है। इससे रज्जु मे सर्प का अध्यास है, वैसे हो आत्मा मे जाति नही है ओर भान होती है। इससे आत्मा मे जाति का अध्यास है और आत्मा के साथ जाति का सादृश्य नही है। क्यो ? आत्मा व्यापक है और जाति परिच्छिन्न है। आत्मा प्रत्यक् है और जाति पराक् है। आत्मा विषयी है और जाति विषय है। इस रीति से आत्मा मे विरोधी जाति का भी अध्यास होता है। द्विजाति किसको कहते है ? त्रिवर्ण को। त्रिवर्ण कौन ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य। जैसे आत्मा मे सादृश्य से बिना ही जाति का अध्यास होता है, वैसे सादृश्य बिना ही अहकारादिक बध का अध्यास

भी आत्मा मे होता है। इससे सादृश्य दोष अध्यास का हेतु नही है। यदि सादृश्य दोष अध्यास का हेतु हो तो आत्मा मे जाति का अध्यास नही होना चाहिये और शख मे पीतता का अध्यास नही होना चाहिये। मिश्री मे कटुता का अध्यास नही होना चाहिये। क्यो ? श्वेत और पीत का विरोध है, सादृश्य नही। वैसे ही मधुर और कटु का विरोध है, सादृश्य नहीं। इससे अधिष्ठान मे मिथ्या वस्तु का सादृश्य दोष अध्यास का हेतु नही है।

प्रमाता दोष का खडन

वैसे ही प्रमाता के लोभ भयादिक दोष भी अध्यास के हेतु नहीं है। क्यो ? जो लोभ रहित वैराग्यवान पुरुष है, उसको भी सीपी मे चाँदी का अध्यास होता है, सो नही होना चाहिये। इससे प्रमाता के दोष भी अध्यास के हेतु नही है।

प्रमाण दोष का खडन

और प्रमाण का दोष भी अध्यास का हेतु नही है। क्यो ? सर्व पुरुषो को रूप रहित आकाश नील रूप वाला प्रतीत होता है और कटाह के तथा तबू के आकार प्रतीत होता है। इससे सबको आकाश मे नीलरूप का, कटाह का तथा तबू का अध्यास है और सबके नेत्र-रूप प्रमाण मे दोष कहना नही बनता। इससे प्रमाण का दोष अध्यास का हेतु नही है। आकाश मे नीलादिको का जो अध्यास है, उसमे एक प्रमाण दोष का ही अभाव नही है किन्तु सर्व दोषो का अभाव है। सादृश्य भी नही है और प्रमाता दोष भी नही है। कैसे नही है ? आकाश में नीलादिको का जो अध्यास है, उसमे सर्व पुरुषों के नेत्रों में तिमिरादि दोषो के अभाव से प्रमाण दोष का अभाव है। नीलादिकों का और आकाश का सादृश्य नही है, इससे प्रमेय दोष का भी अभाव है और किसी को भी आकाश के नीलरंग का, आकाश जैसे कटाह का और आकाश जैसे तबू का लोभ भी नहीं है। इससे प्रमाता दोष का अभाव है। जैसे सर्व दोषो

के अभाव से भी आकाश मे नीलादिको का अध्यास होता है, वैसे ही आत्मा मे भी बध का अध्यास दोषो के बिना ही होता है । इससे "दोषो के अभाव से बध अध्यास रूप नही" यह शका नही बनती । क्यो ? सर्व दोषो का अभाव है तो भी आकाश मे नीलादिको का अध्यास सर्व पुरुषो को होता है। इससे दोष अध्यास के हेतु नही है। यहाँ प्रमाण किसको कहा है ? ज्ञान के साधन इन्द्रियो को कहा है ।

सक्षेप शारीरक मे बध के अध्यास समय दोष भी कथन करे है । वे इस प्रकार है:—१-अत करण देशगत अज्ञान की विक्षेप हेतु शक्ति मे स्थित जो शुभाशुभ कर्म के सस्कार रूप अदृष्ट, सो प्रमाता का दोष है। २-चेतन मे अन्य प्रमाण के अभाव से अपना स्वरूप ही प्रमाण है, उसमे स्थित जो अविद्या, सो प्रमाण का दोष है। ३-चेतन मे निरपेक्ष आतरता है और प्रपच मे सापेक्ष आतरता है। चेतन मे पारमार्थिक वस्तुता है और प्रपच मे अनिर्वचनीय वस्तुता है। इससे आतरता और वस्तुता का चेतन मे प्रपच का सादृश्य है, सो प्रमेय का दोष है। उक्त प्रकार सक्षेप शारीरक मे दोष कहे है तथापि बिना दोषो के भी अध्यास होता है। यह नियम नही है कि सब दोष हो तब ही अध्यास हो। कोई भी दोष नही हो तो भी अविद्या दोष तो रहता ही है। दोषो के अभाव से भी अध्यास की सिद्धि किसने करी है ? पडित प्रवर निश्चलदासजी ने। किस मे ? विचार सागर मे। सक्षेप शारीरक ग्रथ किसने रचा था ? सर्व-ज्ञात्ममुनिजी ने। ये कौन थे ? शृगेरी मठ की गद्दी पर विराजने वाले आचार्य थे।

अधिष्ठान के विशेषरूप से अज्ञान का खडन (कारणाध्यास)

(कारणाध्यास किसको कहते है ? प्रपच का कारण जो अधिष्ठान के विशेषरूप का अज्ञान है, उसका जो अध्यास है, उसको कारणाध्यास कहते है।) पहले कहा था :—"विशेषरूप से अज्ञात वस्तु मे अध्यास होता है और आत्मा स्वय—प्रकाश है, उसमे अज्ञान नही

बनता। क्यो ? तम का और प्रकाश का परस्पर विरोध है। इससे जैसे अत्यन्त प्रकाश मे स्थित रज्जु मे सर्प का अध्यास नही होता, वैसे ही स्वय प्रकाश आत्मा मे बध का अध्यास नही बनता।" सो शका भी नही बनती। क्यो ? यद्यपि आत्मा प्रकाशरूप है तथापि आत्मा का स्वरूप अज्ञान का विरोधी नही है। यदि आत्मस्वरूप प्रकाश अज्ञान का विरोधी हो तो सुषुप्ति मे प्रकाशरूप आत्मा मे अज्ञान प्रतीत होता है, वह नही होना चाहिये। घोर निद्रा से जगे हुये पुरुष को ऐसा ज्ञान होता है—"मै ऐसा सुख से सोया था कि कुछ भी ज्ञान नही रहा।" इस ज्ञान का सुख और अज्ञान विषय है। सो सुख और अज्ञान का जो जाग्रत मे ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष नही है। क्यो ? जिस ज्ञान का विषय सन्मुख हो वह ज्ञान प्रत्यक्षरूप होता है। जाग्रत काल मे सुख और अज्ञान नही है। इससे जाग्रत मे सुख और अज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप नही है किन्तु स्मृतिरूप है। सो स्मृति अज्ञात वस्तु की नही होती है किन्तु ज्ञात वस्तु की ही होती है। इससे सुषुप्ति मे जो सुख और अज्ञान का ज्ञान है। सो सुषुप्ति का ज्ञान अन्त.करण और इन्द्रियजन्य तो नही है। क्यो ? सुषुप्ति मे अन्त.करण और इन्द्रियो का अभाव है। ज्ञान और प्रकाश का अर्थ एक ही होता है।

इस रीति से सुषुप्ति मे आत्मा प्रकाशरूप है। उस प्रकाशरूप आत्मा से स्वरूप सुख और अज्ञान की प्रतीति होती है। यदि आत्म-स्वरूप प्रकाश अज्ञान का विरोधी हो तो सुषुप्ति मे अज्ञान की प्रतीति नही होनी चाहिये। इससे आत्मा प्रकाश रूप तो है परन्तु आत्मा का स्वरूप प्रकाश अज्ञान का विरोधी नही है। उलटा आत्मा का स्वरूप प्रकाश अज्ञान का साधक है। इस अभिप्राय से ही वेदान्त शास्त्र मे कहा है—"सामान्य चैतन्य अज्ञान का विरोधी नही है।" किन्तु विशेष चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी है। सामान्य चैतन्य किसको कहते है ? व्यापक चैतन्य को। विशेष चैतन्य ? वृत्ति मे स्थित चैतन्य को विशेष चैतन्य कहते है। सामान्य चैतन्य अज्ञान का

विरोधी कैसे नही है ? जैसे काष्ठ मे स्थित सामान्य अग्नि अधकार का विरोधी नही है और मथन से प्रकट किया हुआ अग्नि बत्ती मे स्थित होकर अधकार का विरोधी है, वैसे ही व्यापक चैतन्य अज्ञान का विरोधी नही भी है परन्तु वेदान्त के विचार से अन्त.करण की जो ब्रह्माकार वृत्ति होती है उस वृत्ति मे स्थित चैतन्य अज्ञान का विरोधी है।

इस रीति से केवल चैतन्य अज्ञान का विरोधी नही है किन्तु वृत्ति-सहित चैतन्य अज्ञान का विरोधी है। अथवा चैतन्यसहित वृत्ति अज्ञान का विरोधी है। प्रथम पक्ष मे तो अज्ञान के नाश का हेतु चैतन्य है और वृत्ति सहायक है और दूसरे पक्ष मे अज्ञान के नाश का हेतु वृत्ति है और चैतन्य सहायक है। यह अवच्छेदवाद की रीति है। आभासवाद मे तो सामान्य चैतन्य की समान विशेष चैतन्य भी अज्ञान का विरोधी नही है किन्तु वृत्ति सहित आभास वा आभास सहित वृत्ति अज्ञान का विरोधी है। इस रीति से प्रकाशरूप चैतन्य अज्ञान का विरोधी नही है। इससे चैतन्य के आश्रित अज्ञान है। उस अज्ञान से आवृत जो आत्मा उसमे बध का अध्यास नही बनता। और पूर्व जो कहा था "सामान्य-रूप से ज्ञात और विशेष रूप से अज्ञात वस्तु मे अध्यास होता है। आत्मा मे सामान्य विशेष भाव नही है। इससे निर्विशेष आत्मा ज्ञात और अज्ञात नही बनता, उसमे अध्यास का होना असभव है।"

वह वार्ता भी नही बनती। क्यो ? "आत्मा है" यह प्रतीति सबको होती है। आत्मा नाम अपने स्वरूप का है। "मै नही हूँ" यह प्रतीति किसी को भी नही होती किन्तु "मै हूँ" यह प्रतीति सबको होती है। इससे सत्‌रूप से आत्मा सब को भान होता है और "चैतन्य आनन्द व्यापक नित्यशुद्ध नित्यमुक्त रूप आत्मा है" यह प्रतीति सबको नही होती। इससे चैतन्य आनन्द व्यापक नित्यशुद्ध नित्यमुक्त रूप से आत्मा अज्ञात है और सत्‌रूप से ज्ञात है। यह वार्ता अनुभव सिद्ध है। अनुभव सिद्ध वार्ता युक्ति से दूर नही होती। आत्मा का सामान्यरूप कौन है ? जो सबको प्रतीत होता है वह आत्मा का सत्‌रूप ही सामान्य रूप है।

विशेषरूप ? जो केवल ज्ञानी को प्रतीत होता है, वह चेतन आनन्दादिक आत्मा का विशेष रूप है। सामान्यरूप किसको कहते है ? जो अधिक काल मे, अधिक देश मे हो, वह सामान्य कहलाता है। विशेषरूप ? जो न्यून देश मे, न्यून काल मे हो, वह विशेष रूप कहलाता है।

यद्यपि आत्मा का स्वरूप ही चेतन आनन्दादिक है। इससे सत् के समान चेतन आनन्दादिक भी सर्वत्र व्यापक है। सत् की अपेक्षा से चेतन आनन्दादिक को न्यून देश मे और चेतन आनन्दादिक की अपेक्षा से सत्रूप को अधिक देश मे कहना नही बनता। इससे सत्रूप आत्मा का सामान्य अश है और चेतन आनन्दादिक विशेष अश है। यह कहना भी नही बनता, तथापि सत् की प्रतीति सब को अविद्या काल मे भी होती है और "चेतन आनन्द रूप आत्मा है" यह प्रतीति सबको अविद्याकाल मे नही होती। केवल ज्ञानी को ही होती है। अविद्या काल मे चेतन आनन्द मुक्तता शुद्धता भी है परतु प्रतीति नही होती। इससे न होने के समान ही है। इस अभिप्राय से ही १—चैतन्य आनन्दादिक [illegible] कहते है और सत् रूप को अधिक कालवृत्ति कहते है। इस रीति से सत् रूप का और चेतन आनन्दादिक का सामान्य विशेष भाव नही भी है परन्तु अल्पकाल और अधिककाल मे प्रतीति होने से सामान्य विशेष भाव के समान है। इस कारण से ही आत्मा के सत्रूप को सामान्य अश कहते है। और चेतन आनन्दादिक को विशेष अश कहते है। इससे आत्मा निर्विशेष है, इस सिद्धान्त की भी हानि नही होती। कारण ? आत्मा मे सामान्य विशेष भाव माने तो "निर्विशेष आत्मा है", इस सिद्धान्त की हानि हो, सो सामान्य विशेष भाव मानते ही नही किन्तु अविद्या से सामान्य विशेष के समान प्रतीति होती है। इससे सामान्य विशेष भाव कहे है। इस रीति से सत्यरूप से ज्ञात और चेतन आनन्द नित्यशुद्ध नित्यमुक्त ब्रह्मरूप से अज्ञात आत्मा मे बध का अध्यास बनता है। अध्यास रूप बध की ज्ञान से निवृत्ति भी बनती है। इससे वेदान्त का प्रयोजन सभव है। और (पूर्वपक्षी —) पूर्व जो कहा था—

"निषिद्ध, काम्यकर्म का त्याग करके नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित कर्म करे। इससे निषिद्ध कर्म के अभाव से नीच लोक को प्राप्त नही होगा और काम्यकर्म के अभाव से उत्तम लोक को प्राप्त नही होगा और नित्य नैमित्तिक कर्म के नही करने से जो पाप होता है, सो उनके करने से नही होगा, और इस जन्म मे अथवा अन्य जन्म मे पूर्व करे जो पाप है, उनका साधारण और असाधारण प्रायश्चित से नाश हो जायगा। और पूर्व करे जो काम्यकर्म है, उनके फल की इच्छा के अभाव से मुमुक्षु को उनका फल नही होगा। इससे मुमुक्षु को ज्ञान के बिना ही जन्म का अभावरूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा।"

(सिद्धान्ती -) सो नही बनता। क्यो? नित्य नैमित्तिक कर्म का भी स्वर्गरूप फल है। यह वार्ता भाष्यकार ने युक्ति और प्रमाण से प्रतिपादन करी है। इससे नित्य नैमित्तिक कर्म से उत्तम लोक को प्राप्त होगा, जन्म का अभाव नही बनता। और नित्य नैमित्तिक कर्म का फल नही माने तो नित्य नैमित्तिक कर्म का बोधक वेद निष्फल होगा। क्यो? यदि नित्य नैमित्तिक कर्म के नही करने से पाप होता है तो उस पाप की अनुत्पत्ति उनका फल बनता है। और नित्य नैमित्तिक कर्म के नही करने से पाप होता भी नही। क्यो? नित्य नैमित्तिक कर्म का नही करना अभाव रूप है और पाप भाव रूप है। अभाव से भाव की उत्पति नही होती। इससे "नित्य नैमित्तिक कर्म के नही करने से पाप होता है" यह कहना नही बनता। यदि नित्य नैमित्तिक कर्म के नही करने से पाप की उत्पत्ति मानें तो "अभाव से भाव की उत्पत्ति नही होती" यह श्रीमदभगवद्गीता के दूसरे अध्याय मे श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है। उससे विरोध होगा। इससे नित्य नैमित्तिक कर्म के अभाव से भाव रूप पाप की उत्पत्ति नही बनती। इस रीति से नित्य नैमित्तिक कर्म का पाप की अनुत्पत्ति फल नही है किन्तु नित्य नैमित्तिक कर्म से बिना भी पाप की अनुत्पत्ति सिद्ध है। इससे नित्य नैमित्तिक कर्म का स्वर्गरूप फल नही मानें तो कर्म निष्फल होगे और निष्फल नित्य नैमित्तिक कर्म का बोधक वेद भी निष्फल होगा। इससे नित्य नैमित्तिक कर्म से भी स्वर्ग प्राप्ति रूप फल होता है।

पूर्व कहा था "जन्मातरो के जो काम्यकर्म है, उनका इच्छा के अभाव से फल नही होता"। सो वार्ता भी नही बनती। क्यों ? कर्मरूप बीज से दो अकुर उत्पन्न होते है। एक तो वासना और दूसरा अदृष्ट। अदृष्ट किसको कहते है ? धर्म अधर्म को। शुभकर्म से तो शुभ वासना और धर्मरूप अकुर होता है और अशुभ कर्म से अशुभ वासना और अधर्मरूप अकुर होता है। शुभ वासना से तो आगे शुभकर्म मे प्रवृत्ति होती है और धर्म से सुख का भोग होता है। अशुभ वासना से अशुभकर्म मे प्रवृत्ति होती है और अधर्म से दुःख का भोग होता है। इस रीति से वासना रूप और अदृष्टरूप अकुर कर्मरूप बीज से होते है। उनमे "वासना रूप अकुर का तो उपाय से नाश होता है" और "अदृष्टरूप अकुर का फल की उत्पत्ति से बिना किसी प्रकार से भी नाश नही होता। यह शास्त्र का निर्णय है। अशुभकर्म से उत्पन्न हुआ जो अशुभ वासनारूप अकुर है, उसका तो सत्सग आदिक उपाय से नाश होता है और शुभकर्म मे उत्पन्न जो शुभवासनारूप अकुर है, उसका कुसग आदिक से नाश होता है। शास्त्र मे जितना पुरुषार्थ कहा है, उससे प्रवृत्ति की हेतु वासना का ही नाश होता है। इससे पुरुषार्थ भी सफल है और भोग का हेतु जो अदृष्ट है उसका नाश नही होता। इससे "फल दिये बिना कर्म की निवृत्ति नही होती" यह वार्ता जो शास्त्र मे कही है, उससे भी विरोध नही होता। इस रीति से फल भोग के बिना अज्ञानी के कर्म की निवृत्ति नही बनती। और ज्ञानी के कर्म की निवृत्ति तो भोग से बिना भी बनती है। क्यो ? कर्म और कर्ता तथा फल परमार्थ से तो नही है किन्तु अविद्या से कल्पित है। उस अविद्या का ज्ञान विरोधी है। इससे अविद्या कल्पित कर्मादिक है, उनका ज्ञान से नाश होता है। कैसे ? जैसे स्वप्न मे निद्रा से जो पदार्थ प्रतीत होते है, उनका जाग्रत मे निद्रा की निवृत्ति से अभाव होता है, वैसे ही अविद्यारूप निद्रा से प्रतीत जो होते है—कर्म, कर्ता और फल, उनका भी ज्ञान दशारूप जाग्रत मे अविद्या की निवृत्ति से अभाव होता है और ज्ञान बिना अभाव नही होता।

इच्छा के अभाव से कर्मफल का भोग नही हो तो ईश्वर का सकल्प मिथ्या होगा। क्यो ? "फल भोग बिना अज्ञानी के कर्म की निवृत्ति नही

होती"। यह ईश्वर का सकल्प है। यदि इच्छा के अभाव से किये हुये कर्म का फल नही हो तो ईश्वर का सकल्प मिथ्या ही होगा और "सत्य सकल्प ईश्वर है" यह वार्ता शास्त्र मे प्रसिद्ध है। इमसे "इच्छा के अभाव से पूर्व किये हुये काम्यकर्म का फल नही होगा" यह वार्ता विरुद्ध है। यदि इच्छा के अभाव से ही काम्यकर्म का फल नही हो तो अशुभकर्म का फल किसी को भी नही होना चाहिये। क्यो? अशुभ-कर्म का फल दु.ख है। दु ख की इच्छा किमी को भी नही है। इससे ज्ञान बिना कर्म के फल का अभाव नही होता। और जो पूर्व कहा था "जैसे कर्म के अनुष्ठानकाल मे जो पुरुष इच्छारहित है, उसको कर्म का फल वेदान्तमत मे नही माना है, वैसे कर्म के अनुष्ठान से अनन्तर भी यदि पुरुष की इच्छा दूर हो जाय तो कर्म का फल नही होता"। सो वार्ता भी वेदान्त मत को नही जानने से कही है। क्यो? फल की इच्छा सहित कर्म करे वा फल की इच्छा रहित कर्म करे, उनको कर्म का फल भोग तो निश्चय होता है। परन्तु इच्छारहित कर्म से अत करण शुद्ध होना है और इच्छासहित कर्म करता है उसको केवल भोग तो होता है, परन्तु अत करण शुद्ध नही होता है।

"यदि इच्छारहित कर्म करने से अन्त.करण शुद्ध होकर श्रवण से ज्ञान हो जाय, उसको तो कर्म का फल नही होता।" और "जिसने कर्म तो फल की इच्छारहित किये है, परन्तु श्रवण के अभाव से वा किसी अन्य निमित्त से ज्ञान नही हो उसको तो इच्छारहित कर्म के फल का भोग होगा ही। क्यो? भोग, प्रायश्चित और ज्ञान, इन तीन से कर्म की निवृत्ति होती है। कर्म की निवृत्ति का चतुर्थ कारण नही है। प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति भोग से होती है। क्रियमाण कर्म की निवृत्ति प्रायश्चित और ज्ञान से होती है। सचित कर्म की किचित् निवृत्ति साधारण प्रायश्चित से होती है और सपूर्ण सचित कर्म की निवृत्ति ज्ञान से होती है।

और पूर्व कहा था "प्रायश्चित से सपूर्ण अशुभकर्म का नाश होता है" सो वार्ता भी नही बनती। क्यो? अनन्त कल्प के जो अशुभ कर्म है, उनका एक जन्म मे प्रायश्चित नही बनता और गगास्नान

तथा ईश्वर का नाम उच्चारण से आदि सर्व पाप के नाशक जो साधारण प्रायश्चित कहे है, वे भी ज्ञान के ही साधन हे। इसलिये सर्व पाप के नाशक कहे है। इससे ज्ञान से ही सर्व पाप का नाश होना है। और पूर्व कहा था "नित्य नैमित्तिक कर्म करने से जो क्लेश होता है, सो पूर्व सचित निषिद्ध कर्म का फल है, इससे सचित निषिद्ध कर्म का फल अन्य नही होता"। सो वार्ता भी नही बनती। क्यो ? अनन्त प्रकार के सचित निषिद्ध कर्म है। उनका फल भी अनन्त प्रकार का दु ख है। केवल कर्म के अनुष्ठान का क्लेश ही उनका फल नही बनता। और पूर्व कहा था "सपूर्ण सचित काम्यकर्म से एक ही शरीर होता है।" सो वार्ता नही बनती। क्यो ? सचित काम्यकर्म अनन्त है। उनका एक जन्म मे भोग नही हो सकता। और एक पुरुष को एक काल मे नाना शरीर से जो भोग कहा था, सो भी सिद्ध योगी बिना अन्य को नही बन सकता। "सिद्धयोगी को भी और तो सपूर्ण सामर्थ्य होती है, परन्तु ज्ञान बिना मोक्ष तो नही होती।" यह वेद का सिद्धान्त है।

इस रीति से काम्यकर्म और निषिद्धकर्म को त्याग करके जो केवल नित्य नैमित्तिक कर्म अज्ञानी करे, उसको नित्य नैमित्तिक कर्म का फल भोगने के वास्ते और पूर्व जो शुभ-अशुभ कर्म करे है उनका फल भोगने के लिये अनन्त शरीर होगे। मोक्ष नही होती। इससे ज्ञान द्वारा बध की निवृत्ति वेदान्त का प्रयोजन बनता है। कैसे ? जैसे स्वप्न मे जो मिथ्या पदार्थ प्रतीत होते है, उनकी जाग्रत के बिना निवृत्ति नही होती, वैसे ही बध भी मिथ्या प्रतीत होता है। उसकी भी ज्ञानरूप जाग्रत के बिना निवृत्ति नही हो सकती।

सबन्ध मडन

इस रीति से वेदान्त के अधिकारी, विषय, और प्रयोजन सभव है और अधिकारी आदि के सभव से सबन्ध भी सभव है।

इति श्री अनुबन्ध निरूपण प्रथम अश समाप्त

अथ गुरु शिष्य निरूपण द्वितीय अश

गुरु वर्णन

इस ग्रथ के प्रथम अश मे कथित अनुबन्ध को जानने के पश्चात् मुमुक्षु को क्या करना चाहिये ? ज्ञानी गुरु से वेदान्त पढना या एकाग्र मन से सुनना चाहिये। पढने से तथा सुनने से क्या होगा ? मोक्ष का साधन ज्ञान प्राप्त होगा। गुरु शब्द का अर्थ क्या है ? "गु" का अर्थ— अज्ञानरूप अधकार है। "रु" का अर्थ—अज्ञानरूप अधकार को नाश करना है। गुरु शब्द का अन्य अर्थ भी है। क्या ? अन्य अर्थ महान् भी होता है। गुरु ब्रह्म स्वरूप होने से सबसे महान् भी है। गुरु किसको कहते है ? आचार्य को। आचार्य का लक्षण क्या है ? जो वेद के अर्थ को भली प्रकार जाने। भली प्रकार कैसे ? सशय विपर्यय से रहित वेदों का अर्थ जानते हो और जीव ब्रह्म की एकता का दृढ निश्चिय होने से आत्मज्ञान मे जिनकी निश्चल स्थिति हो उनको आचार्य कहते है। वेद पढे हो और ज्ञान मे निष्ठा नही हो तो ? वे आचार्य नही है। ज्ञान मे निष्ठा हो और वेद नही पढे हो तो ? वे आप तो मुक्त है परन्तु उपदेश करने योग्य आचार्य नही है। क्यो ? उनको जिज्ञासु की शका नष्ट करने की युक्ति नही आती है। जिसके मन मे शका नही हो ऐसे उत्तम सस्कार वाले जिज्ञासु को तो उपदेश करने मे समर्थ है भी परन्तु सबको उपदेश करने योग्य नही है। इससे आचार्य नही है। इसलिये अधीत वेद और ज्ञान मे जिनकी निष्ठा हो उन्ही को आचार्य कहते है।

और शिष्य की बुद्धि मे भान जो होता है पच प्रकार का भेद, उसको नानायुक्तियो से दूर करने मे समर्थ हो। पच प्रकार का भेद कौन है ? १—जीव ईश का भेद २—जीवो का परस्पर भेद ३—जीव जड़ का भेद ४—ईश जड का भेद ५—जड़ जड का भेद। यह पच प्रकार का भेद है। उक्त भेद का खडन करे। क्यो ? भेद भय का हेतु है, इससे भेद का खडन अवश्य कर्तव्य है। पच भेद खडन की युक्तिया कौन सी हैं ? १—जीव-ईश का भेद कल्पित है, अविद्या माया रूप उपाधि कृत होने

से। घटाकाश मठाकाश के भेद के समान। २—जीवो का परस्पर भेद कल्पित है, साभास अन्त करणरूप उपाधिकृत होने से। नाना घटाकाशो के भेद के समान। ३—जीव जड का भेद कल्पित है, साभास अन्त-करण और निराभास नामरूपमय उपाधिकृत होने से। स्वप्न-गत चराचर के समान। ४—ईश, जड का भेद कल्पित है, साभास माया और नामरूपमय उपाधिकृत होने से। साक्षी और स्वप्न प्रपच के भेद के समान। ५—जड जड का भेद कल्पित है, नामरूपमय उपाधिकृत होने से। रज्जु मे कल्पित सर्प दडादिक के भेद के समान। ये पाच प्रकार के अनुमान, पच भेद को खडन करने की युक्तिया है। उक्त युक्तियो से भेद का खडन करके अद्वय अमल अर्थात् अविद्यादि मल रहित जो ब्रह्म है, उसका आत्मरूप करके साक्षात्कार करावे और सर्वप्रपच मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है ऐसा उपदेश करे, उस गुरु को ही अद्भुत उपदेश देने वाला आचार्य कहते है। और केवल शिखाछेदन करने वाला, कषाय वस्त्र देने वाला वा अन्य कोई भी चिन्हमात्र देने वाला आचार्य नही कहलाता है किन्तु जो अपना ज्ञानरूप खड्ग देकर ससाररूप ग्राह से छुडा देता है, उसी को विद्वान् सज्जन गुरु कहते है, अन्य भेषधारी को ही गुरु नही कहते। उक्त गुरु के लक्षण श्रुति तथा मुनियो के वचनो के अनुसार कहे है। अपनी कल्पना से नही कहे है।

शिष्य के लक्षण

शिष्य के लक्षण भी कहिये ? गुरु की शिक्षा को हृदय मे धारण करे। सद्गुरु की सेवा करे। गुणग्राहक हो, भोगो से उपराम हो, कम बोलने वाला हो। ऋद्धि सिद्धि की इच्छा नही करके केवल निजकल्याण ही चाहता हो। सरल चित्त हो, प्रभु का भक्त हो, अन्त.करण के मल, विक्षेप दोषो से रहित हो। विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सपत्ति और मुमुक्षुता से युक्त हो। वही शिष्य कहा जाता है। ऐसे शिष्य को उक्त गुरु के लक्षणो से युक्त गुरु प्राप्त हो जाता है तब अवश्य ही शिष्य ब्रह्म का साक्षात्कार करके मुक्त हो जाता है। इस मे लेशमात्र भी संशय को अवकाश नही है।

गुरु भक्तिफल

उक्त गुरु के लक्षणो से युक्त गुरु की भक्ति शिष्यो को कितनी करनी चाहिये ? ईश्वर की भक्ति से भी अधिक करनी चाहिये। क्यो ? गुरु की भक्ति बिना सर्व शास्त्र मे प्रवीण पुरुष भी आत्मज्ञान को प्राप्त नही होता। वेदादि शास्त्रो मे आत्मज्ञान तो आता ही है, उसके पठन और विचार करने पर भी आत्मज्ञान क्यो नही होता ? बिना गुरु पढने से नही होता। पढते तो सब गुरु से ही है। जीव ब्रह्म का भेद मानने वालो मे गुरु शब्द का अर्थ नही घटता। गुरु शब्द का अर्थ किन मे घटता है ? जीव ब्रह्म को एक मानने वाले आत्मज्ञानियो मे घटता है। आत्मज्ञान रहित विद्वान् से वेद पढने पर ज्ञान नही होता और आत्मज्ञानी से पढने पर होता है। इसको किसी दृष्टान्त से समझाइये ?

जैसे क्षार समुद्र का जल घट आदि पात्रो द्वारा प्राप्त करते है तब तो नमक के समान खारा ही लगता है किन्तु वही क्षार समुद्र का जल बादल द्वारा प्राप्त करते है तब मधुर लगता है, वैसे ही गुरु बिना जो, जीव ब्रह्म का भेद मानने वालो से पढते हैं, उनको भेदरूप अर्थ का ही अनुभव होता है। इससे वे भेद मे आग्रह करके जन्म मरण रूप ससार को प्राप्त होते है, मुक्त नही होते। और जो जीव ब्रह्म की अभेद निष्ठा से युक्त आत्मज्ञानी गुरुओ से वेद पढते है, उन्हें अभेद ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञान के द्वारा वे मुक्तिरूप परम पद को ही प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानी घट आदि पात्रो के समान है। और ज्ञानी मेघ के समान है। इसलिये अज्ञानी को त्यागकर ज्ञानी से ही वेद पढना चाहिये।

आपने कहा —"ज्ञानी से ही वेद पढना चाहिये।" तो क्या वेद की श्रुतियो के द्वारा जीव ब्रह्म के स्वरूप का विचार करने से ही ज्ञान होता है। अन्य सस्कृत ग्रथो से तथा अन्य भाषाओ के ग्रथो के विचार से ज्ञान नही होता क्या ? "ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरूप ही होता है" यह

श्रुति ने कहा है। इससे उसकी वाणी भी वेदरूप ही है। ब्रह्मवेत्ता की वाणी वेदरूप होने से भाषा रूप हो वा सस्कृत रूप हो, भेद भ्राति को सर्वथा नष्ट करती है। और जो कहते है —"वेद के वचन बिना ज्ञान नही होता।" सो नियम नही है। कैसे ? जैसे आयुर्वेद मे जो रोग, उनके निदान और औषध कथन किये है, उन सबका अन्य सस्कृत ग्रथो से और अन्य भाषाओ के ग्रथो से भी ज्ञान हो जाता है, वैसे ही सबका आत्मा जो ब्रह्म है उसका ज्ञान भी सस्कृत आदि सभी भाषाओ के ग्रथो से हो जाता है। इसलिये सर्वज्ञ जो ऋषि मुनि हुये है, उन्होने स्मृति, पुराण और इतिहास ग्रथो मे ब्रह्म विद्या के प्रकरण कथन किये है। यदि वेद से बिना ज्ञान नही हो तो वे सब प्रकरण निष्फल होगे। इससे आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक जो वाक्य है, उनसे ज्ञान होता है। वे वेद के हो वा अन्य ग्रथ के हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि—भाषा ग्रथो से भी ज्ञान होता है।

और यदि कोई ऐसा आग्रह ही करे कि "भाषा ग्रथो से ज्ञान नही होता तो उसको पूछते है ?" १-भाषा ग्रथ वेद के अनुसारी नही है, इससे उनसे ज्ञान नही होता वा २-वे भाषारूप है इससे उनसे ज्ञान नही होता वा ३-अवतार शरीररचित नही है, इससे उनसे ज्ञान नही होता वा ४-अशुद्ध है, इससे उनसे ज्ञान नही होता। ये चार विकल्प है। उनमे १—"वेद के अनुसारी नही है।" यह प्रथम पक्ष कहे तो। १-वेद पाठ के अनुसारी नही है। वा २-वेद के अर्थ के अनुसारी नही है। "पाठ के अनुसारी नही है" ऐसे कहो तब तो अन्य सस्कृत ग्रथ भी वेद पाठ के अनुसारी नही है। इससे उनसे भी ज्ञान नही होना चाहिये। और "यदि वेद के अर्थ के अनुसारी भाषा ग्रथ नही है।" ऐसे कहोगे तो वह नही बनता। क्यो ? जैसे कुछ सस्कृत ग्रंथ वेद के अर्थ के अनुसारी है, वैसे कुछ प्राकृत ग्रथ भी वेद के अर्थ के अनुसारी है। इससे जैसे आयुर्वेद के अनुसारी अन्य सस्कृत और प्राकृत ग्रथो से औषध आदि का ज्ञान होता है, वैसे वेद के अर्थ के अनुसारी सस्कृत और प्राकृत ग्रथो से ज्ञान होता

है। २-और "भाषा ग्रंथ भाषा रूप है। इससे उनसे ज्ञान नही होता।" ऐसे कहोगे तो जैसे संस्कृत ग्रंथ देव भाषा रूप है, वैसे प्राकृत ग्रंथ नर भाषा रूप है। भाषापना दोनो मे समान है। ३-"भाषाग्रंथ अवतार शरीर रचित नही है। इससे उनसे ज्ञान नही होता।" ऐसे कहोगे तो, कुछ संस्कृत ग्रंथ भी अवतार रचित नही है। उनसे भी ज्ञान नही होना चाहिये। ४-यदि कहो "भाषा ग्रंथ अशुद्ध है।" तो जैसे प्राकृत के नियमो से संस्कृत ग्रंथ अशुद्ध है, वैसे संस्कृत के नियमो से प्राकृत ग्रंथ अशुद्ध है। अशुद्धता दोनो मे समान है।

उक्त रीति से भाषा ग्रंथ से ज्ञान नही होता, यह मानना हठमात्र है। इसी अभिप्राय से नानक, दादू, सुन्दरदास, रामदास, एकनाथ, निश्चलदास आदि अनेक महात्माओ ने प्राकृत भाषा मे वाणी रची है, सो सब कल्याण करने वाली है, वैसे आधुनिक ब्रह्मवेत्ता पुरुषो ने जो प्राकृत भाषा मे ग्रंथ रचे है, रचते है और भविष्य मे रचेगे, वे सब संस्कृत ज्ञान रहित अधिकारीजनो को ज्ञान द्वारा कल्याण के हेतु होगे। और पंडित अप्पयदीक्षित ने "सिद्धान्त लेश" नामक ग्रंथ मे अपभ्रंशित शब्द के उच्चारण की निषेधक श्रुति का प्रमाण देकर जो भाषा ग्रंथो का निषेध किया है सो अपने पांडित्य की प्रबलता के लिये किया है। क्यो ? श्री व्यास रचित सूत संहिता मे "संस्कृत, प्राकृत और गद्य, पद्यमय अक्षरो से तथा देश भाषा के अक्षरो से जो बोध (उपदेश) करे वह गुरु कहलाता है।" इस अर्थ वाले वाक्य से सिद्ध होता है कि प्राकृत भाषा से भी बोध होता है। और सर्वथा प्राकृत भाषा अनुच्चारणीय हो तो सर्वलौकिक व्यवहार और शास्त्र व्याख्यान आदिक वैदिक व्यवहार का लोप होगा। तथा अनादिकालीन भाषा व्यवहार का सर्वथा निषेध बनता भी नही। इससे परिशेष से उक्त श्रुति का, यज्ञ संबन्धी व्यवहार मे अपभ्रंशित शब्द के उच्चारण के निषेध मे तात्पर्यार्थ है। यही शिष्टपुरुषो का अभिप्राय है।

ब्रह्मवेत्ता आचार्य की सेवा कर्त्तव्य है

किस गुरु की सेवा करनी चाहिये ? जिस ब्रह्मवेत्ता आचार्य के वचन वेद के समान हो, जिज्ञासु को उसकी सेवा करनी चाहिये। क्यो ? सेवा से जब आचार्य प्रसन्न हो तब ही जिज्ञासु को स्वस्वरूप का बोध कराते है। इससे यह सिद्ध है कि आचार्य की सेवा ईश्वर की सेवा से भी अधिक है। क्यो ? ईश्वर की सेवा तो अदृष्ट फल का हेतु है और आचार्य की सेवा अदृष्ट फल और दृष्टफल दोनो का हेतु है। अदृष्ट फल का हेतु कौन होता है ? जो वस्तु धर्म अधर्म की उत्पत्ति द्वारा फल का हेतु हो, वह अदृष्ट फल का हेतु कहलाता है। दृष्ट फल का हेतु कौन है ? जो वस्तु धर्म अधर्म की उत्पत्ति से बिना साक्षात् फल का हेतु हो, वह दृष्ट फल का हेतु है। ईश्वर की सेवा धर्म की उत्पत्ति द्वारा अन्त.करण की शुद्धि रूप फल का हेतु है। इससे ईश्वर की सेवा अदृष्ट फल का हेतु है। और आचार्य की सेवा धर्म की अपेक्षा बिना आचार्य की प्रसन्नता द्वारा उपदेशरूप फल का हेतु है। इससे दृष्ट फल का हेतु है और धर्म की उत्पत्ति द्वारा अन्त करण की शुद्धिरूप फल का हेतु है। इससे अदृष्ट फल का भी हेतु है। इस रीति से आचार्य की सेवा ईश्वर की सेवा से भी उत्तम है। इससे जिज्ञासु सर्वप्रकार से ब्रह्मवेत्ता आचार्य की सेवा करे।

आचार्य सेवा का प्रकार

आचार्य की सेवा किस प्रकार करनी चाहिये ? जब गुरु प्राप्त हो तब दड के समान पृथ्वी पर साष्टाग प्रणाम करना चाहिये और उनके पवित्र चरण कमलो की धूरि अपने मस्तक पर धारण करना चाहिये। साष्टाग प्रणाम किसको कहते है ? दो पाद, दो जानु, दो हस्त, हृदय और शिर। इन आठ अगो को भूमि मे लगाकर दड के समान दीर्घ नमस्कार करने को कहते है। यदि स्वरूप जानने की अति उत्कट इच्छा हो तो क्या करे ? गुरुदेव के पास ही निवास करे। और यदि अपने हृदय के बन्धन को अतिशीघ्र काटने की

इच्छा हो तो क्या करना चाहिये ? तन, मन, धन और वचन गुरुदेव के समर्पण कर देना चाहिये ।

तन समर्पण कैसे करे ? तन से अधिकतर सेवा करनी चाहिये और गुरुदेव की आज्ञा कभी नही टालनी चाहिये। यदि गुरुदेव अनुचित आज्ञा दे तो ? उक्त लक्षणो से युक्त गुरुदेव अनुचित आज्ञा कभी नही देते और जो अनुचित आज्ञा दें, वे गुरु नही होते। उन्हे त्याग देना चाहिये। कभी २ गुरु लोग कह देते है, हमारी आज्ञा नही मानोगे तो नरक मे जाओगे। अनुचित आज्ञा मनाने के लिये सच्चे गुरु कभी भी ऐसा नही कहते। अच्छे गुरु भी अनुचित आज्ञा दे तो ? कभी नही माननी चाहिये। इतिहास मे प्रसिद्ध है—राजा-बलि ने और भीष्म जी ने नही मानी थी। वे तो नरक मे गये नही, उल्टी उन दोनो की ससार मे प्रसशा ही बढी है। राजाबलि ने गुरु की क्या आज्ञा नही मानी थी ? बलि के गुरु शुक्राचार्य ने कहा था—वामन को भूमि नही दो किन्तु बलि ने दी थी। भीष्म जी ने गुरु की क्या आज्ञा नही मानी थी ? भीष्म जी के गुरु परशुरामजी ने भीष्म जी को कहा था-अम्बा के साथ विवाह करो किन्तु भीष्म जी ने उक्त आज्ञा नही मानी थी। तब परशुराम जी ने उनके साथ युद्ध किया था और उस युद्ध मे परशुराम जी ही हारे थे। यह कथा महाभारत मे प्रसिद्ध है। यदि गुरु की अनुचित आज्ञा नही मानने वाले नरक मे जाते हो तो बलि और भीष्म को जाना चाहिये था। उन दोनो को नरक न मिलकर ससार मे परम यश ही मिला था। अत. अनुचित आज्ञा गुरू की भी नही माननी चाहिये। और उचित आज्ञा कभी नही टालनी चाहिये। मन समर्पण कैसे करे ? मन मे जैसा परमात्मा का प्रेम हो, वैसा प्रेम गुरु मे रखना चाहिये अर्थात गुरु को परमात्मा स्वरूप जान कर गुरु की भक्ति करना चाहिये। ऐसा करने से क्या होता है ? ब्रह्मात्मा की एकता कथन करने वाले वेद वचनो के अर्थो का ज्ञान होता है। इसमे क्या प्रमाण है ? इसमे यह श्रुति प्रमाण है :—"जिसकी परमात्मदेव मे जैसी परमभक्ति है, वैसी ही गुरु मे भी परमभक्ति होती है, तब उस महात्मा के

हृदय मे वेद मे कहे हुये ब्रह्मात्मा की एकता रूप वचनो के अर्थ अपने आप ही प्रकाशित होते है।" और क्या करे ? मन मे ऐसी इच्छा करे, गुरुदेव मुझ पर प्रसन्न हो तथा गुरुदेव के प्रति दोष दृष्टि तो अपने मन मे स्वप्न मे भी नही आने दे। और जो कल्याण चाहे, उसे चाहिये गुरुदेव को विष्णु, महादेव, ब्रह्मा, गगा और सूर्य रूप जान कर अपने हृदय मे गुरु मूर्ति का ध्यान करे।

विष्णुरूप कैसे जाने ? जैसे विष्णु ससार की असुरो से रक्षा करते है, वैसे गुरु भी उपदेश द्वारा आसुर गुणो से शिष्य की रक्षा करते है इस लिये और जैसे विष्णु भक्तवत्सल होते है, वैसे गुरु भी शिष्य-वत्सल होते है। इस लिये भी गुरु को विष्णु रूप जाने। महादेव रूप कैसे जाने ? महादेवजी सृष्टि का सहार करते है, वैसे गुरु भी शिष्य के हृदय के आसुर गुणो का उपदेश द्वारा सहार करते है, इसलिये और कभी शिष्य के हित के लिये गुरु शिष्य पर क्रोध करे तब भी गुरु को महादेव जाने। ब्रह्मा रूप कैसे जाने ? ब्रह्मा जैसे ससार की रचना करते है, वैसे गुरु भी उपदेश द्वारा शिष्य के हृदय मे दैवी सपदा के गुणो की सृष्टि करते है, इसलिये और गुरु जब राजसी व्यवहार करे तब भी गुरु को ब्रह्मा रूप जाने। गगारूप कैसे जाने ? गगा जैसे शीतल और पापनाशक होती है, वैसे गुरु भी दर्शन से वा प्रभु नाम का उपदेश करके शिष्य के हृदय को शुद्ध करते है, इसलिये और जब गुरु शात होते है तब भी गुरु को गंगा रूप जाने। सूर्य रूप कैसे जाने ? सूर्य जैसे अधकार को दूर करते है, वैसे ही गुरु शिष्य के हृदय से भ्रम संदेह सहित अज्ञान दूर करते है। सूर्य जैसे तेजस्वी होते है, वैसे गुरु भी ब्रह्म तेज से युक्त होते है। इस लिये गुरु को सूर्य रूप जाने। इस रीति से ब्रह्मवेत्ता गुरु मे शिष्य सर्वदा ईश्वर भाव रक्खे, अपने मन मे गुरु के प्रति स्वप्न मे भी दोष दृष्टि नही आने दे।

धनसमर्पण कैसे करे ? पत्नी, पुत्र, भूमि, पशु, दासी, दास, द्रव्य और धान्य आदि को धन कहते है। इन सबको त्याग कर, त्यागी गुरु की शरण मे जाय। इसी को धन समर्पण कहते है। क्यो ? गुरु तो

त्यागी है, इससे वे स्वय तो स्वीकार करते नही परन्तु उन गुरु की प्राप्ति के लिये धन का त्याग कहा है । इससे ऐसा त्याग भी गुरु के समर्पण करना ही माना जाता है और यदि गुरु गृहस्थ हो तो सब उनके भेट कर देना चाहिये । यह दूसरे प्रकार का धन समर्पण करना कहा जाता है । इसमे कोई शका करते है —ब्रह्म विद्या के आचार्य गृहस्थ नही होते । सो शका नही बनती । क्यो ? याज्ञवल्क्य और उद्दालक आदि ब्रह्म विद्या के आचार्य गृहस्थ ही वेद मे बहुत सुने जाते है । इससे गृहस्थ भी आचार्य सभव है । वाणी समर्पण कैसे करे ? गुरु की वाणी गुणो का समूह है और शुद्ध है, ऐसा कहे । और गुरु की वाणी के कोई भी दोष न लगावे । ऐसी बुद्धि रखना ही वाणी समर्पण करना है ।

शिष्य का गुरु के सबन्ध मे व्यवहार

जो पुरुष अपना कल्याण चाहे तब क्या करे ? वह पूर्व रीति से तन आदि समर्पण करके आप भी बहुत काल तक जिस स्थान मे गुरु विराजते हो, उसी स्थान मे वा गुरुजी के समीप मे ही निवास करे और भिक्षान्न से प्राण धारण करे । उक्त रीति ब्रह्मचारी वा त्यागी शिष्य की है । गृहस्थ की नही है । ब्रह्मचारी वा त्यागी शिष्य भिक्षान्न लावे सो स्वय ही न खाकर गुरुजी के आगे रख दे और अपने भोजन के लिये गुरुजी से मागे नही तथा एक दिन मे दूसरी बार भिक्षा के लिये ग्राम मे भी नही जाय । गुरुजी कृपा करके दे तो भोजन करे और शिष्य की श्रद्धा की परीक्षा के निमित्त नही दें तो भी दूसरे दिन ही भिक्षा को ग्राम मे जाय । बुद्धिमान् शिष्य यदि अपना कल्याण चाहे तो दूसरे दिन भी भिक्षा लाकर गुरुजी के आगे ही धर दे और मन मे ऐसी ग्लानि नही करे कि गत दिन गुरुजी ने भोजन नही दिया था इससे आज उनके आगे न धर कर स्वय ही जीम लेना चाहिये ।

इस प्रकार व्यवहार करते हुये जब गुरुजी को अवकाश मे देखे और गुरुजी भी प्रसन्न मुख से जब शिष्य की ओर देख तब शिष्य हाथ जोड कर गुरु की स्तुति करे और विनय करे — "हे भगवन् ! मै प्रश्न करना चाहता हूँ" तव गुरु आज्ञा दें तो प्रश्न करे और कदाचित्

जन्मातर के उत्तम कर्म से गुरु कृपा करके शिष्य को तनादि समर्पण सेवा से बिना भी उपदेश कर दे तो विशुद्ध अधिकारी का कल्याण हो जाता है। क्यो ? गुरु सेवा के दो फल है —एक तो गुरु की प्रसन्नता और दूसरा अन्त करण शुद्धि। सो दोनो उसके सिद्ध है। उक्त प्रकार शिष्य का गुरु से व्यवहार कल्याणकारक होता है।

इति श्री गुरु शिष्य निरूपण द्वितीय अश समाप्त

अथ प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण तृतीय अश ३

प्रमाण किसको कहते है ? प्रमा ज्ञान के करण को। प्रमा ज्ञान किसको कहते है ? प्रमाण जन्य यथार्थ ज्ञान को। उससे भिन्न को ? अप्रमा कहते है। भ्रम किसको कहते है ? दोष जन्य को। यथार्थ ? इन्द्रिय अनुमानादि प्रमाण से वा अन्य कारण से हो उसको। करण किसको कहते है ? व्यापार वाले असाधारण कारण को। व्यापार किसको कहते है ? कारण से उत्पन्न होकर कार्य को उत्पन्न करे उसको। साधारण कारण ? सब कार्य के कारण को साधारण कारण कहते है। असाधारण ? किसी एक कार्य के कारण को असाधारण कारण कहते है। प्रमाण के भेद कितने है ? छ। वे कौन है ? १—प्रत्यक्ष २—अनुमान ३—शब्द ४—उपमान ५—अर्थापत्ति और ६—अनुपलब्धि। प्रत्यक्ष प्रमाण किसको कहते है ? प्रत्यक्ष प्रमा के करण को। अनुमान प्रमाण ? अनुमति प्रमा के करण को। शब्द प्रमाण ? शाब्दी प्रमा के करण को। उपमान प्रमाण ? उपमिति प्रमा के करण को। अर्थापत्ति प्रमाण ? अर्थापत्ति प्रमा के करण को। अनुपलब्धि प्रमाण ? अभाव प्रमा के करण को। कौन कितने प्रमाण मानते है ? चार्वाक मत वाले एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते है। कणाद और सुगत मत वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, ये दो प्रमाण मानते है। साख्यशास्त्र के कर्ता कपिल के मत वाले-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, ये तीन प्रमाण मानते है।

न्याय शास्त्र के कर्ता गोतम के मत वाले—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द

और उपमान । ये चार प्रमाण मानते है । पूर्व मीमासा के एक देशी जो भट्ट है उनके शिष्य प्रभाकर के मत मे-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति । ये पाच प्रमाण माने जाते है । भट्ट के मत वाले छओ प्रमाण मानते है और वेदान्त ग्र थो मे भी छ प्रमाण ही लिखे है । यद्यपि सूत्रकार, भाष्यकार ने प्रमाण सख्या नही लिखी है तथापि भट्ट का मत सिद्धान्त का अविरोधी है। उसको अद्वैतवाद में मानते है। इससे वेदात परिभाषा, वृत्तिप्रभाकर, विचारसागर आदि ग्र थो मे षट् प्रमाण ही लिखे है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमा के करण कौन है ? नेत्रादि इन्द्रिय । इसी से नेत्रादि इन्द्रियो को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है । कारण किसको कहते है ? कार्य से नियत अव्यवहित पूर्ववृत्ति हो उसको। उसके भेद कितने है ? साधारण, असाधारण दो । साधरण कौन है ? ईश्वर और उसके ज्ञान, इच्छा, कृति, दिशा, काल, अदृष्ट, प्रागभाव और प्रतिबन्धका-भाव । ये नव साधारण कारण है।

असाधारण कौन है ? उक्त नव से भिन्न जो घटादिक के कपालादिक कारण है, वे सब असाधारण कारण है। उनके भेद किनने है ? उपादान कारण और निमित्त कारण दो भेद है । उपादान कारण कौन होता है ? कार्य के स्वरूप मे जो विद्यमान रहे वह उपादान होता है। कैसे ? जैसे घट के स्वरूप मे दो कपाल रहते है । निमित्त कारण कौन होता है ? कार्य के स्वरूप से भिन्न स्थित हो वह होता है। कैसे ? जैसे दड, चक्र कुलालादि है । असाधारण कारण के और भेद भी है क्या ? दो और है। वे कौन है ? व्यापार वाला और व्यापार रहित । व्यापार वाले का लक्षण ऊपर लिख आये है। व्यापार रहित ? जो कार्य को किसी अन्य द्वारा उत्पन्न नही करे किन्तु आप ही उत्पन्न करे वह व्यापार हीन कारण कहलाता है। जैसे कपाल दो का सयोग घट का कारण है किन्तु व्यापार वाला नही है। और कपाल व्यापार वाला है, कारण कपाल दो का सयोग कपाल से उत्पन्न होकर घट को उत्पन्न करता है।

इससे कपाल घट का व्यापार वाला कारण होने से करण है और कपाल सयोग व्यापार रहित होने से कारण है। करण नही है।

प्रत्यक्ष प्रमा के भेद

प्रत्यक्षप्रमा के करण नेत्रादि इन्द्रिय है। क्यो ? नेत्रादिक इन्द्रियो का अपने-अपने विषय से सबन्ध नही हो तो प्रत्यक्षप्रमा नही होता। इससे इन्द्रिय और विषय का सबन्ध इन्द्रिय से उत्पन्न होकर प्रत्यक्ष-प्रमा को उत्पन्न करता है। सो व्यापार है। सबन्धरूप व्यापार वाले प्रत्यक्ष प्रमा के असाधारण कारण इन्द्रिय है। इससे इन्द्रियो को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। न्यायमत मे इन्द्रियजन्य यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा कहते है। प्रत्यक्ष प्रमा के करण षट् इन्द्रिय है। इससे प्रत्यक्ष प्रमा के षट् भेद है। श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसन, घ्राण, मन ये षट् इन्द्रिय है। इनकी प्रमा भी कहिये ? श्रोत्रजन्य यथार्थ ज्ञान श्रोत्रज प्रमा है। त्वक् इन्द्रिय जन्य यथार्थ ज्ञान त्वाच प्रमा है। नेत्र इन्द्रिय जन्य यथार्थ ज्ञान चाक्षुष प्रमा है। रसन इन्द्रिय जन्य यथार्थ ज्ञान रासन प्रमा है। घ्राण इन्द्रिय जन्य यथार्थ ज्ञान घ्राणज प्रमा है। मन इन्द्रिय जन्य यथार्थ ज्ञान मानस प्रमा है। न्यायमत मे शुक्ति रजतादिक भ्रम भी इन्द्रिय जन्य है किन्तु केवल इन्द्रिय जन्य नही है, दोष सहित इन्द्रिय जन्य है। विसवादी है। विसवादी किसको कहते है ? भ्रम को। संवादी किसको कहते है ? यथार्थ को। यथार्थ किसको कहते है ? दोष जन्य न हो किन्तु इन्द्रिय अनुमानादि प्रमाण से वा और किसी कारण से हो उसको यथार्थ कहते है अथवा जिस ज्ञान के विषय का ससारदशा मे बाध न हो उसको यथार्थ कहते है। इससे शुक्ति मे रजत का ज्ञान चाक्षुष ज्ञान तो है, चाक्षुष प्रमा नही है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो से भी जो भ्रम होता है सो भी प्रमा नही है। भ्रम प्रमा है।

प्रत्यक्ष प्रमा का भेद श्रोत्रज प्रमा

श्रोत्रज प्रमा का सम्यक् वर्णन कीजिये ? श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है और शब्द मे जो शब्दत्व जाति है उसका भी ज्ञान

होता है। वैसे ही शब्दत्व के व्याप्य कत्वादिको का और तारत्वादिको का ज्ञान होता है और शब्दाभाव का तथा शब्द मे कत्वादिक, तारत्वादिक के अभाव का ज्ञान होता है। जिस विषय का श्रोत्र इन्द्रिय से ज्ञान होता है, उससे श्रोत्र इन्द्रिय का सबन्ध कहना चाहिये। इससे सबन्ध कहते है। न्यायमत मे चार इन्द्रिय तो—वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से क्रम से उत्पन्न होती है और श्रोत्र तथा मन दोनो नित्य है। श्रोत्र किसे कहते है ? कर्णगोलक मे स्थित आकाश को। जैसे वायु आदि से त्वक् आदि इन्द्रिय उत्पन्न होती है, वैसे ही आकाश से श्रोत्र उत्पन्न होता है। यह नैयायिक नही मानते है किन्तु कर्ण मे जो आकाश है उसी को श्रोत्र कहते है और गुण का गुणी से समवाय सबन्ध कहते है। शब्द आकाश का गुण है, और आकाश गुणी है। इससे आकाश रूप श्रोत्र से शब्द का समवाय सबन्ध है। यद्यपि भेरी आदिक देश मे जो आकाश है उसमे शब्द उत्पन्न होता है और कर्ण उपहित आकाश को श्रोत्र कहते है। इससे भेरी आदिक उपहित आकाश मे शब्द का सबन्ध है, कर्ण उपहित आकाश मे नही है। तथापि भेरी दड के सयोग से भेरी उपहित आकाश मे शब्द उत्पन्न होता है। उसका कर्ण उपहित आकाश से सबन्ध नही है। इससे प्रत्यक्ष नही होता। परतु उस शब्द से और शब्द, दश दिशा उपहित आकाश मे उत्पन्न होते है। उनसे और तृतीयक्षण वृत्तिध्वस प्रतियोगी शब्द उत्पन्न होते है। किंतु कर्ण उपहित आकाश मे जो शब्द उत्पन्न होता है, उसी का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और का नही होता। इससे श्रोत्रजन्य शब्द को प्रत्यक्षप्रमाफल है। श्रोत्र इन्द्रिय-करण है।

और त्वाच आदिक प्रत्यक्ष ज्ञान मे तो सर्वत्र विषयो का इन्द्रियो से सबन्ध व्यापार है और श्रोत्रज प्रमा मे विषय से इन्द्रिय का सबन्ध व्यापार नही बनता। क्यो ? अन्य स्थानो मे विषयो का इन्द्रियो से सयोग सबन्ध है और शब्द का श्रोत्र से समवाय सबन्ध है। न्यायमत मे सयोग जन्य है, समवाय नित्य है। त्वक् आदि इन्द्रियो का घटादि से सयोग सबन्ध त्वक् आदि इन्द्रियो से उत्पन्न होता है और प्रमा को

उत्पन्न करता है। इससे व्यापार है। वैसे शब्द का श्रोत्र से समवाय सबन्ध श्रोत्र जन्य नही है। इससे व्यापार नही बन सकता। श्रोत्र मन का सयोग व्यापार है। सयोग दो के आश्रित होता है। जिनके आश्रित सयोग होता है, वे दोनो सयोग के उपादान कारण होते है। श्रोत्र मन के सयोग के उपादान कारण श्रोत्र मन दोनो है। इससे श्रोत्र मन का सयोग श्रोत्र जन्य है, और श्रोत्र जन्य ज्ञान का जनक है। इससे व्यापार है।

इसमे ऐसी शका होती है—श्रोत्र मन का सयोग श्रोत्र जन्य तो है परन्तु श्रोत्र जन्य प्रमा का जनक किस प्रकार है ? समाधान — आत्म मन का सयोग तो सर्व ज्ञान का साधारण कारण है। इससे ज्ञान की सामान्य सामग्री आत्म मन का सयोग है और प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान की विशेष सामग्री इन्द्रियादिक है। इससे श्रोत्र जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान के पूर्व भी आत्म मन का सयोग होता है, वैसे ही मन का और श्रोत्र का सयोग होता है। मन का और श्रोत्र का सयोग हुये बिना श्रोत्रजन्य ज्ञान होता नही। क्यो ? अनेक इन्द्रियो का अपने अपने विषयो से एक काल मे सबन्ध होने पर भी एक काल मे उन सब विषयो के ज्ञान इन्द्रियो से नही होते। क्यो नही होते ? मन के सयोग वाले इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध हो तब ज्ञान होता है। मन से असयुक्त इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सबन्ध होने पर भी ज्ञान नही होता। न्यायमत मे मन परम अणु माना है। इससे एक काल मे अनेक इन्द्रियो से मन का सयोग सभव नही होता। इससे अनेक विषयो का अनेक इन्द्रियो से एक काल मे ज्ञान नही होता। यदि इन्द्रिय मन का सयोग ज्ञान का हेतु नही हो तो एक काल मे अनेक इन्द्रियो का विषयो से सबन्ध होने से एक काल मे अनेक ज्ञान होने चाहिये। इस रीति से चक्षु आदि इन्द्रियो का मन से सयोग चाक्षुषादि ज्ञान का असाधारण कारण है। त्वाच ज्ञान मे त्वक् मन का सयोग कारण है और रासन ज्ञान मे रसना मन का सयोग कारण है। चाक्षुष ज्ञान मे नेत्र मन का सयोग कारण है। घ्राणज ज्ञान मे घ्राण मन का सयोग कारण है। श्रोत्रज ज्ञान मे श्रोत्र मन का सयोग

कारण है। इस रीति से श्रोत्र मन का सयोग श्रोत्र से उत्पन्न होकर श्रोत्रज ज्ञान का जनक है। इससे व्यापार है। आत्म मन का सयोग सभी ज्ञान मे हेतु है। इमसे पहले आत्म मन का सयोग होता है, उससे पीछे जो इन्द्रिय जन्य ज्ञान उत्पन्न होगा उस इन्द्रिय से आत्म सयुक्त मन का सयोग होता है, फिर मन सयुक्त इन्द्रिय का विषय से सबन्ध होता है, तब बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन्द्रिय और विषय के सबन्ध बिना बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता।

विषय का इन्द्रिय से सबन्ध अनेक प्रकार का होता है। जहाँ शब्द का श्रोत्र से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वहाँ केवल शब्द ही श्रोत्र जन्य ज्ञान का विषय नही है किन्तु शब्द के धर्म शब्दत्वादिक भी उस ज्ञान के विषय है। शब्द का तो श्रोत्र से समवाय सम्बन्ध है। और शब्द के धर्म जो शब्दत्वादिक उनसे श्रोत्र का समेत समवाय सबन्ध है। क्यो ? गुण गुणी के समान जाति का अपने आश्रय मे समवाय सबन्ध होता है। इससे शब्दत्व जाति का शब्द मे समवाय सबन्ध है। समवाय सबन्ध से जो रहे उसको समेत कहते है। श्रोत्र मे समवाय से जो शब्द रहता है वह श्रोत्र समेत है। उस श्रोत्र समेत शब्द मे शब्दत्व का समवाय होने से श्रोत्र का शब्दत्व से समेत-समवाय सबन्ध है। जब श्रोत्र मे शब्द की प्रतीति नही हो तब शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है, वहा शब्दाभाव का श्रोत्र से विशेषणता सबन्ध होता है। जिस अधिकरण मे जिस पदार्थ का अभाव हो उस अधिकरण मे उस पदार्थ के अभाव का विशेषणता सबन्ध कहा जाता है। कैसे ? जैसे वायु मे रूप नही है। इससे वायु मे रूपाभाव का विशेषणता सबन्ध है। जहा पृथ्वी मे घट नही है वहा पृथ्वी मे घटाभाव का विशेषणता सबन्ध है। इस रीति से शब्द शून्य श्रोत्र मे शब्दाभाव का विशेषणता सबन्ध है। इससे श्रोत्र से शब्दाभाव का विशेषणता सबन्ध शब्दाभाव के प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। श्रोत्र से ककारादिक शब्दो का प्रत्यक्ष समवाय सबन्ध से होता है। ककारादिक मे जो कत्वादिक जाति है उनका प्रत्यक्ष समवेत समवाय सबन्ध से होता है। श्रोत्र मे शब्दाभाव का प्रत्यक्ष विशेषणता सबन्ध से होता

है। श्रोत्र समवेत ककार मे खत्वाभाव का प्रत्यक्ष होता है, वहा श्रोत्र का खत्वाभाव से समवेत विशेषणता सबन्ध है। क्यो ? श्रोत्र मे समवेत अर्थात् समवाय सबन्ध से ककार रहता है उसमे खत्वाभाव का विशेषणता सबन्ध है। इससे आदि अभाव के प्रत्यक्ष मे श्रोत्र से अनेक सबन्ध है परन्तु विशेषणतापना सभी अभावो के सबन्ध मे है इसमे अभाव के प्रत्यक्ष मे श्रोत्र का एक विशेषणता सबन्ध ही है।

इस रीति से श्रोत्र जन्य प्रमा के हेतु तीन सबन्ध है। शब्द के ज्ञान का हेतु समवाय सबन्ध है। शब्द के धर्म शब्दत्व, कत्वादिको के ज्ञान का हेतु समवेत समवाय सबन्ध है और अभाव के श्रोत्र जन्य ज्ञान मे विशेषणता सबन्ध है। वह विशेषणता नाना प्रकार की है। शब्दाभाव के प्रत्यक्ष मे शुद्ध विशेषणता सबन्ध है। ककार मे खत्वाभाव के प्रत्यक्ष मे समवेत विशेषणता है। ककार वृत्ति खत्वाभाव मे गत्वाभाव का श्रोत्रज प्रत्यक्ष होता है वहा समवेत विशेषण विशेषणता सबन्ध है। क्यो ? श्रोत्र समवेत ककार रूप शब्द है, उसमे खत्वाभाव विशेषणता सबन्ध से रहता है इससे विशेषण कहते है। उस खत्वाभाव मे गत्वाभाव का विशेषणता सबध है। इस रीति से विशेषणता सबन्ध के अनन्त भेद है तो भी विशेषणतापना सर्वत्र है। इससे विशेषणता एक ही कहा जाता है। शब्द के कितने भेद है ? दो है। एक तो भेरी आदिक देश मे ध्वनिरूप शब्द होता है। दूसरा कठादिक देश मे वायु के सयोग से वर्णरूप शब्द होता है। श्रोत्र इन्द्रिय से दोनो प्रकार के शब्द का प्रत्यक्ष होता है। वर्णरूप शब्द मे जो कत्वादिक जाति हैं, उनका जैसे समवेत समवाय सबन्ध से प्रत्यक्ष होता है, वैसे ध्वनि रूप शब्द मे जो तारत्व मदत्वादिक धर्म है, उनका भी श्रोत्र से प्रत्यक्ष होता है किन्तु कत्वादिक वर्णो के धर्म जाति रूप हैं इससे कत्वादिको का ककारादिरूप शब्द से समवाय सबन्ध है और ध्वनि रूप शब्द के तारत्वादिक धर्म जाति रूप नही है, न्यायमत मे उपाधि रूप है इससे तारत्वादिको का ध्वनि रूप शब्द मे समवाय सबन्ध नही है, स्वरूप सम्बध है। क्यो ? न्यायमत मे जाति रूप धर्म का, गुण का, और क्रिया का अपने आश्रय मे समवाय सम्बध कहते है।

जाति, गुण, क्रिया से भिन्न धर्म को उपाधि कहते है। उपाधि और अभाव का अपने आश्रय मे जो सम्बध होता है, उसको स्वरूप सम्बध कहते है। स्वरूप को ही विशेषणता कहते है।

इससे जाति से भिन्न जो तारत्वादिक धर्म, उनका ध्वनि रूप शब्द से सम्बध है। श्रोत्र मे समवेत जो ध्वनि, उसमे तारत्व मदत्व का विशेषणता होने से श्रोत्र का और तारत्व मदत्व का श्रोत्र समवेत विशेषणता सम्बध है। इस रीति से श्रोत्र इन्द्रिय श्रोत्र प्रत्यक्ष प्रमा का करण है। श्रोत्र मन का सयोग व्यापार है। शब्दादिको का प्रत्यक्ष प्रमा रूप ज्ञान फल है।

प्रत्यक्ष प्रमा का भेद त्वाच प्रमा

त्वाच प्रमा भी कहिये ? त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है और स्पर्श के आश्रय का ज्ञान होता है। स्पर्श के आश्रित जो स्पर्शत्व जाति उसका और स्पर्शाभाव का भी त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। क्यो ? जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ज्ञान होता है, उस पदार्थ के अभाव का और उस पदार्थ की जाति का भी उसी इन्द्रिय से ज्ञान होता है। पृथ्वी, जल, तेज इन तीन द्रव्यो का त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वायु का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता। क्यो ? प्रत्यक्ष योग्य रूप और प्रत्यक्ष योग्य स्पर्श दोनो जिस द्रव्य मे होते है उस द्रव्य का त्वाच प्रत्यक्ष होता है। वायु मे स्पर्श तो है रूप नही है। इससे वायु का त्वाच प्रत्यक्ष नही होता। वायु के स्पर्श का त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। स्पर्श के प्रत्यक्ष से वायु का अनुमिति ज्ञान होता है।

मीमासा के मत मे वायु का त्वाच प्रत्यक्ष होता है। उसका यह अभिप्राय है —प्रत्यक्ष योग्य स्पर्श जिस द्रव्य मे हो उस द्रव्य का त्वाच प्रत्यक्ष होता है। त्वक् इन्द्रिय जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मे रूप की अपेक्षा नही, केवल स्पर्श की अपेक्षा है। जैसे द्रव्य के चाक्षुष

प्रत्यक्ष मे उदभूत रूप की अपेक्षा है स्पर्श की नही । क्यो ? यदि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे उद्‌भूत स्पर्श की अपेक्षा हो तो दीप की तथा चद्र की प्रभा मे उदभूत स्पर्श नही है । इससे उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होना चाहिये और होता है । और त्रणुक मे स्पर्श तो है उद्‌भूत स्पर्श नही है । इससे त्वाच प्रत्यक्ष नही होता, केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । इससे केवल उद्‌भूत रूप वाले द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही केवल उद्‌भूत स्पर्श वाले द्रव्य का त्वाच प्रत्यक्ष होता है । वायु मे रूप तो नही है, उद्‌भूत स्पर्श है । इससे वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो नही होता है, त्वाच प्रत्यक्ष होता है और सब को ऐसा अनुभव होता है —वायु का मेरे को त्वचा से प्रत्यक्ष होता है । इससे वायु का भी त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ।

परन्तु न्याय सिद्धान्त मे वायु प्रत्यक्ष नही है । पृथ्वी, जल और तेज मे भी जहा उद्‌भूत रूप और उद्‌भूत स्पर्श है, उसका त्वाच प्रत्यक्ष होता है अन्य का नही । उद्‌भूत किसको कहते हैं :—प्रत्यक्ष योग्य जो रूप और स्पर्श उसको उद्‌भूत कहते हैं । कैसे ? जैसे घ्राण, रसन, नेत्र मे रूप और स्पर्श दोनो है, परन्तु उद्‌भूत नही । इससे पृथ्वी, जल, तेज रूप होने पर भी उन इन्द्रियो का त्वाच प्रत्यक्ष और चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता । और झरोखे मे जो परम सूक्ष्म रज प्रतीत होती है, सो त्रणुक रूप पृथ्वी है, उसमे उद्‌भूत रूप है । इससे त्रणुक का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता है किन्तु उद्‌भूत स्पर्श के अभाव से त्वाच प्रत्यक्ष नही होता । त्रणुक मे स्पर्श भी है परन्तु वह स्पर्श उद्‌भूत नहीं है । वायु मे उद्‌भूत स्पर्श तो है रूप नही है । इससे वायु का त्वाच प्रत्यक्ष तथा चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता । इससे यह सिद्ध हुआ —द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे उद्‌भूत रूप हेतु है और द्रव्य के त्वाच प्रत्यक्ष में उद्‌भूत रूप और स्पर्श दोनो हेतु है । जिस द्रव्य में उदभूत रूप और उद्‌भूत स्पर्श हो उसका ही त्वाच प्रत्यक्ष होता है । जिस द्रव्य का त्वाच प्रत्यक्ष होता है, उस द्रव्य की प्रत्यक्ष योग्य जाति का भी त्वाच प्रत्यक्ष होता है ।

कैसे ? जैसे घट का त्वाच प्रत्यक्ष होता है। वहा घट मे प्रत्यक्ष योग्य जाति घटत्व है, उसका भी त्वाच प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही द्रव्य मे जो स्पर्श, सख्या, परिमाण, सयोग, विभागादिक योग्य गुण हो उनका और स्पर्शादिको मे स्पर्शत्वादिक जाति उनका भी त्वाच् प्रत्यक्ष होता है। कोमल द्रव्य मे कठिन स्पर्श का अभाव है, शीतल जल मे उष्ण स्पर्श का अभाव है, उसका भी त्वाच प्रत्यक्ष होता है, वहाँ घट आदिक द्रव्य से इन्द्रिय का सयोग सबन्ध है। सयोग क्रिया-जन्य होता है और दो द्रव्य का होता है। त्वक् इन्द्रिय वायु के परमाणु जन्य है, इससे वायु रूप द्रव्य है। घट भी पृथ्वी रूप द्रव्य है। कही तो त्वक् इन्द्रिय का गोलक जो शरीर उसकी क्रिया से त्वक् घट का सयोग होता है और कही घट की क्रिया से त्वक् घट का सयोग होता है। कही दोनो की क्रिया से सयोग होता है। नेत्र मे तो गोलक को छोड के केवल इन्द्रिय मे क्रिया होती है। त्वक् इन्द्रिय मे गोलक को छोड कर स्वतत्र मे क्रिया कभी नही होती। इससे त्वक् इन्द्रिय का गोलक शरीर उसकी क्रिया से वा घटादिक विषय को क्रिया से त्वक् का घटादिक द्रव्य से सयोग हो तब त्वाच ज्ञान होता है। वहा त्वाच प्रत्यक्ष प्रमाफल है। त्वक् इन्द्रिय करण है। त्वक् इन्द्रिय का घट से सयोग व्यापार है। क्यो ? त्वक् और घट के सयोग के उपादान कारण घट, त्वक् दोनो है। इससे त्वक् इन्द्रिय जन्य वह सयोग है और त्वक् इन्द्रिय का कार्य त्वाच प्रमा उसका जनक है। इस कारण से त्वक का घट से सयोग व्यापार है। जहा त्वक् से घट की घटत्व जाति का और स्पर्शादिक गुणो का त्वाच प्रत्यक्ष हो वहा त्वक् इन्द्रिय करण है और त्वाच प्रत्यक्ष प्रमा फल है और सयुक्त समवाय सबन्ध व्यापार है। क्यों ? त्वक् इन्द्रिय से सयुक्त अर्थात् सयोगवाला जो घट है उसमे घटत्व जाति का और स्पर्शादिक गुणो का समवाय है। घटादिको के स्पर्शादिक गुणो मे जो स्पर्शत्वादिक जाति है, उनकी त्वाच प्रत्यक्ष प्रमा हो, वहा त्वक् इन्द्रिय करण है, स्पर्शत्वादिको की प्रत्यक्ष प्रमा फल है। सयुक्त समवेत समवाय सबन्ध है, सो व्यापार है ।

क्यो ? त्वक् इन्द्रिय से सयुक्त जो घट, उसमे समवेत अर्थात् समवाय सबन्ध से रहने वाले स्पर्शादिक, उनमे स्पर्शत्वादिक जाति का समवाय है। सयुक्त समवाय और सयुक्त-समवेत-समवाय इन दोनो सबन्धो मे समवाय भाग तो यद्यपि नित्य है, इन्द्रिय जन्य नही है। तथापि सयोग वाले को सयुक्त कहते है। सो सयोग जन्य है। इससे त्वक् इन्द्रिय का सयोग त्वक् जन्य होने से त्वक् सयुक्त समवाय और त्वक् सयुक्त-समवेत-समवाय त्वक् इन्द्रिय जन्य है और त्वक् इन्द्रिय जन्य त्वाच प्रमा का जनक है। इससे व्यापार है। जहा पुष्पादिक कोमल द्रव्य मे कठिन स्पर्श के अभाव का और शीतल जल मे उष्ण स्पर्श के अभाव का त्वाच प्रत्यक्ष हो वहा त्वक् इन्द्रिय करण है। अभाव की त्वाच प्रमा फल है और इद्रिन्य से अभाव का त्वक् सयुक्त विशेषणता सबन्ध है, सो व्यापार है। क्यो ? त्वक् इन्द्रिय का पुष्पादिक द्रव्य से सयोग है, इससे त्वक् सयुक्त कोमल द्रव्य मे कठिन स्पर्शाभाव का विशेषणता सबन्ध है। वैसे ही त्वक् सयुक्त शीतल जल मे उष्ण स्पर्शाभाव का विशेषणता सबन्ध है। जहा घट स्पर्श मे रूपत्व के अभाव का त्वाच प्रत्यक्ष हो, वहा सयुक्त घट मे समवेत जो स्पर्श उसमे रूपत्वाभाव का विशेषणता सबन्ध होने से त्वक् सयुक्त समवेत विशेषणता सबन्ध है। इस रीति से त्वाच प्रत्यक्ष मे चार सबन्ध हेतु है। त्वक् सयोग, त्वक् सयुक्त समवाय, त्वक् सयुक्त समवेत समवाय, और त्वक् सबद्ध विशेषणता। त्वक् सबद्ध किसको कहते है ? त्वक् से सबन्ध वाले को। जहा कोमल द्रव्य मे कठिन स्पर्शाभाव है वहा त्वक् के सयोग सबन्ध वाला कोमल द्रव्य है, उस त्वक् सबन्ध कोमल द्रव्य मे कठिन स्पर्शाभाव का विशेषणता सबन्ध स्पष्ट ही है। जहा घट स्पर्श मे रूपत्त्राभाव का प्रत्यक्ष हो, वहा त्वक् का स्पर्श से सयुक्त समवाय सबन्व है। त्वक् से सयुक्त समवाय सबन्ध वाला होने से त्वक् सबद्ध स्पर्श है, उसमे रूपत्वाभाव का विशेषणता सबन्ध है। इस रीति से त्वाच प्रमा के हेतु सयोगादिक चार सबध है।

प्रत्यक्ष प्रमा का भेद चाक्षुष प्रमा

चाक्षुष प्रमा का सम्यक् वर्णन करिये ? चाक्षुष प्रमा के हेतु भी नेत्र सयोग, नेत्र सयुक्त समवाय, नेत्र सयुक्त समवेत समवाय, नेत्र सबद्ध विशेषणता, ये चार सम्बन्ध है, सोई व्यापार है। जहा नेत्र से घटादि द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो, वहा नेत्र की क्रिया से द्रव्य के साथ सयोग सबध है, सो सयोग नेत्र जन्य है और नेत्र जन्य चाक्षुप प्रमा का जनक है। इससे व्यापार है। जहा नेत्र द्रव्य की घटत्वादिक जाति का और रूप सख्यादिक गुणो का प्रत्यक्ष हो, वहा नेत्र सयुक्त द्रव्य मे घटत्वादिक जाति का और रूपादिक गुणो का समवाय सबध है। इससे द्रव्य की जाति और गुणो के चाक्षुप प्रत्यक्ष मे नेत्र सयुक्त समवाय सबध है। जहा गुण मे रहने वाली जाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो, वहा रूपत्वादिक जाति से नेत्र का सयुक्त समवेत समवाय सबध है। क्यो ? नेत्र से सयुक्त घटादिको मे समवेत जो रूपादिक उनमे रूपत्वादिको का समवाय है। यद्यपि नेत्र से सयोग सभी द्रव्यो का सभव है तथापि उद्भूत रूपवाले द्रव्य से नेत्र का सयोग चाक्षुष प्रत्यक्ष का हेतु है, अन्य द्रव्य से नेत्र का सयोग चाक्षुप प्रत्यक्ष का हेतु नही है। पृथ्वी, जल, तेज, ये तीन द्रव्य रूपवाले है। और नही। इससे पृथ्वी, जल, तेज का ही चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है। इनमे भी जहाँ उद्भूत रूप हो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। जिसमे अनुद्भूत रूप हो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता।

कैसे ? जैसे घ्राण, रसन, नेत्र, ये तीन इन्द्रिय क्रम से पृथ्वी, जल तेज रूप है। और तीनो मे रूप है किन्तु इनका रूप अनुद्भूत है, उद्भूत नही है। इससे उनका चाक्षुप प्रत्यक्ष नही होता। इससे यह सिद्ध हुआ —उद्भूत रूप वाले पृथ्वी, जल, तेज ही चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय है। उनमे कोई गुण चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य है और कोई चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य नही है। जैसे पृथ्वी मे, रूप रस, गध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, सस्कार, ये चतुर्दश गुण है। इनमे गध को छोडकर

स्नेह को मिलावें तो चतुर्दश जल के है। इनमे रस, गध, गुरुत्व, स्नेह को छोड़कर एकादश तेज के है। इनमे रूप, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रव्यत्व, इतने गुण चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य है, और नही। इससे नेत्र सयुक्त समवाय रूप सबन्ध तो सब गुणो से है किन्तु नेत्र के प्रत्यक्ष योग्य सब नही है। जितने नेत्र के प्रत्यक्ष योग्य है, उतने गुणो का ही नेत्र सयुक्त समवाय सबन्ध से प्रत्यक्ष होता है। स्पर्श मे त्वक् इन्द्रिय की योग्यता है, नेत्र की नही। रूप मे नेत्र की योग्यता है त्वक् की नही। सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रव्यत्व, मे त्वक् और नेत्र दोनो की योग्यता है। इसमे त्वक् सयुक्त समवाय और नेत्र सयुक्त समवाय दोनो सबन्ध सख्यादिको के त्वाच प्रत्यक्ष और चाक्षुष प्रत्यक्ष के हेतु है। रस मे केवल रसन की योग्यता है, अन्य इन्द्रिय की नही। गध मे घ्राण की योग्यता है, अन्य की नही। जिस इन्द्रिय की योग्यता जिस गुण मे है, उस इन्द्रिय से उस गुण का प्रत्यक्ष होता है। अन्य के साथ इन्द्रिय का सबन्ध होने पर भी प्रत्यक्ष नही होता। वैसे घटादिको मे जो रूपादिक चाक्षुष ज्ञान के विषय है, उनकी रूपत्वादिक जाति का नेत्र सयुक्त समवेत समवाय से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और जो रसादिक चाक्षुष ज्ञान के विषय नही है, उनमे रसत्वादिक जाति से नेत्र का सयुक्त समवेत समवाय सबन्ध है तो भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता।

इससे यह सिद्ध हुआ कि उद्भूत रूप वाले द्रव्य का नेत्र के सयोग से चाक्षुष ज्ञान होता है। उद्भूत रूप वाले द्रव्य की नेत्र प्रत्यक्ष योग्य जाति का और नेत्र प्रत्यक्ष योग्य गुण का सयुक्त समवाय सबन्ध से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही नेत्र प्रत्यक्ष योग्य गुण की रूपत्वादिक जाति का नेत्र सयुक्त समवेत समवाय सबन्ध से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही अभाव का नेत्र सबन्ध से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। जहा भूतल मे घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो, वहा भूतल मे नेत्र का सयोग सबन्ध है। इससे नेत्र सबद्ध भूतल मे घटाभाव का विशेषणता सबन्ध है। वैसे ही नील घट मे पीत रूप के अभाव का

चाक्षुष प्रत्यक्ष हो, वहा नेत्र से सयोग होने से नेत्र सबद्ध नीलघट मे पीत रूपाभाव का विशेषणता सबन्ध है। घट के नीलरूप मे पीतत्व जाति के अभाव का चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है, वहा नेत्र से सयुक्त समवाय सबन्ध वाला नीलरूप है। इससे नेत्र सबद्ध जो नीलरूप उसमे पीतत्वाभाव का विशेषणता सबन्ध होने से नेत्र सबद्ध विशेषणता सबन्ध है। इस रीति से नेत्र सयोग, नेत्र सयुक्त समवाय, नेत्र सयुक्त समवेत समवाय, नेत्र सबद्ध विशेषणता, ये चार सबन्ध चाक्षुष प्रमा के हेतु है, सो तो व्यापार है और नेत्र करण है, चाक्षुप प्रमा फल है।

प्रत्यक्ष प्रमा का भेद रासन प्रमा

रासन प्रमा भी बताइये ? जैसे त्वक् और नेत्र से द्रव्य का प्रत्यक्ष होना है, वैसे रसन इन्द्रिय से द्रव्य का तो प्रत्यक्ष नही होता किन्तु रस का और रसत्व मधुरत्वादिक रस की जाति तथा रसाभाव का, मधुरादि रस मे अम्लत्वादिक जाति के अभाव का रासन प्रत्यक्ष होता है। इससे रासन प्रत्यक्ष के हेतु रसन इन्द्रिय से विषयो के तीन सबन्ध है। रसन सयुक्त समवाय, रसन सयुक्त समवेत समवाय, रसन सबन्ध विशेषणता। जहा फल के मधुर रस का रसन इन्द्रिय से रासन प्रत्यक्ष हो, वहा फल और रसन का सयोग सबन्ध है। इससे रसन सयुक्त फल है उसमे रस गुण का समवाय होने से रस के रासन प्रत्यक्ष मे सयुक्त समवाय सबन्ध है, सो व्यापार है। क्यों ? सयुक्त समवाय सबन्ध मे जो समवाय अश है, सो नित्य है। रसन जन्य नही है, परन्तु सयोग अश रसन जन्य है और रसन इन्द्रिय जन्य जो रस का रासन साक्षात्कार, उसका जनक है, इससे व्यापार है। उस व्यापार वाले रासन प्रत्यक्ष का असाधारण कारण रसन इन्द्रिय है। अत करण होने से प्रमाण है और रासन प्रमा फल है।

रस मे रसत्व जाति का और मधुरत्व, अम्लत्व, लवणत्व, कटुत्व, कषायत्व, तिक्तत्व रूप षट् धर्मो का रसन इन्द्रिय से रासन साक्षात्कार होता है, वहा रसन से फलादिक द्रव्य का सयोग है। उस द्रव्य मे रस

समवेत होता है। इससे रसन सयुक्त जो द्रव्य उसमे समवेत अर्थात् समवाय सबध से रहने वाला रस है, उसमे रसत्व का और रसत्व के व्याप्य जो मधुरादिक उनका समवाय होने से रसन सयुक्त समवेत समवाय सबन्ध है। फल के मधुर रस मे अम्लत्वाभाव का रसन प्रत्यक्ष होता है, वहा रसन इन्द्रिय का अम्लत्वाभाव से स्वसबद्ध विशेषणता सबन्ध है। क्यो ? सयुक्त समवाय सबन्ध से रसन सबद्ध मधुर रस है, उसमे अम्लत्वाभाव का विशेषणता सबन्ध है इससे रसन इन्द्रिय का अम्लत्वाभाव से सयुक्त समवेत विशेषणता सबन्ध है। इस रीति से रसना इन्द्रिय जन्य रासन प्रत्यक्ष के हेतु तीन सबध है।

प्रत्यक्ष प्रमा का भेद घ्राणज प्रमा

घ्राणज प्रमा का भी निरूपण करिये ? घ्राणज प्रत्यक्ष प्रमा हो, वहा भी घ्राण के विषयो से तीन सबन्ध हेतु है। घ्राण सयुक्त समवाय, घ्राण सयुक्त समवेत समवाय, घ्राण सबद्ध विशेषणता। घ्राण इन्द्रिय से द्रव्य का तो प्रत्यक्ष नही होता किन्तु गधगुण का प्रत्यक्ष होता है। यदि द्रव्य का प्रत्यक्ष होता तो घ्राण का सयोग सबन्ध प्रत्यक्ष मे कारण होता। द्रव्य का प्रत्यक्ष घ्राण से नही होता। इससे घ्राण सयोग प्रत्यक्ष का हेतु नही है और गध का घ्राण से साक्षात्सबन्ध है नही। किन्तु पुष्पादिको मे गध का समवाय सबन्ध है और घ्राण के साथ पुष्पादिको का सयोग सबन्ध है। इससे घ्राण सयुक्त समवाय सबन्ध से गध का घ्राणज प्रत्यक्ष होता है। अन्य गुण घ्राण से प्रत्यक्ष नही होता।

गध मे गधत्व जाति का और गधत्व के व्याप्य, सुगधत्व, दुर्गंधत्व उनका भी घ्राणज प्रत्यक्ष होता है और गधाभाव का भी घ्राणज प्रत्यक्ष होता है। क्यो ? जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ज्ञान होता है, उसकी जाति का और उसके अभाव का भी उसी इन्द्रिय से ज्ञान होता है। जहा गधत्व का और सुगधत्व, दुर्गंधत्व का प्रत्यक्ष हो, वहा घ्राण सयुक्त समवेत समवाय सबन्ध घ्राणज प्रत्यक्ष का हेतु है। क्यो ? घ्राण सयुक्त जो पुष्पादिक, उनमे समवेत गध है, उसमे समवाय गधत्वादिको

का है। पुष्प के सुगध मे दुर्ग धत्व के अभाव का घ्राणज प्रत्यक्ष होता है, वहा घ्राण का दुर्ग धत्वाभाव से स्वसबद्ध विशेषणता सबन्ध है। क्यो ? सयुक्त समवाय सबन्ध से घ्राण सबद्ध सुगध है, उसमे दुर्ग धाभाव का विशेषणता सबन्ध है। जहा पुष्पादि दूर हो और गध का प्रत्यक्ष हो, वहा यद्यपि पुष्प मे क्रिया नही दीखती है, इससे पुष्पादिको का घ्राण से सयोग के अभाव से घ्राण सयुक्त समवाय सबन्ध सभव नही है, तथापि गध तो गुण है। इससे केवल गध मे क्रिया नही होती किन्तु गंध के आश्रय पुष्पादिको के सूक्ष्म अवयव होते है, उनमे क्रिया होकर घ्राण से सयोग होता है। इससे घ्राण सयुक्त जो पुष्पादिको के अवयव उनमे गध का समवाय होने से, संयुक्त समवाय सबन्ध ही गध के घ्राणज प्रत्यक्ष का हेतु है। इस रीति से घ्राणज प्रत्यक्ष प्रमा के हेतु तीन सबन्ध है, सो व्यापार है। घ्राण इन्द्रिय करण है, घ्राणज प्रत्यक्ष प्रमा फल है। इस प्रकार से श्रोत्रादिक पच इन्द्रियो से बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है।

मानस प्रत्यक्ष प्रमा

मानस प्रत्यक्ष की रीति भी सुनाइये ? आत्मा और आत्मा के सुखादि धर्म तथा आत्मत्व जाति और सुखत्वादिक जाति इनका प्रत्यक्ष श्रोत्रादिको से नही होता किन्तु आत्मादिक जो आतर पदार्थ, उनके प्रत्यक्ष का हेतु मन इन्द्रिय है। आत्मा और उसके सुखादिक धर्मो से भिन्न को बाह्य कहते है। आत्मा और उसके धर्मों को आतर कहते है। जैसे बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा के करण श्रोत्रादिक इन्द्रिय है, वैसे आतर आत्मादिक की प्रत्यक्ष प्रमा का करण मन है। इससे मन भी प्रत्यक्ष प्रमाण है और इन्द्रिय है। मन मे क्रिया होकर आत्मा से सयोग होता है तब आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। वहा आत्मा का मानस प्रत्यक्ष रूप प्रमा तो फल है और आत्म मन का सयोग व्यापार है। क्यो ? आत्म मन का सयोग मन जन्य है और मन जन्य आत्मा की प्रत्यक्ष प्रमा का जनक है। इससे व्यापार है। उस सयोग रूप व्यापार वाला मन आत्मा की प्रत्यक्ष प्रमा का

असाधारण कारण है, सो प्रमाण है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष, ये आत्मा के गुण है। इनके साक्षात्कार का हेतु भी मन प्रमाण है। वहा मन के साथ ज्ञानादिको का साक्षात् सबन्ध तो नही है किन्तु परपरा सबन्ध है। परपरा सबन्ध किसको कहते है ? अपने सबन्धी के सबन्ध को परपरा सबन्ध कहते है। ज्ञानादिको का आत्मा मे समवाय सबन्ध है। इससे ज्ञानादिको का सबन्धी आत्मा है, उससे मन का सयोग होने से परपरा सबन्ध मन से ज्ञानादिको का है। सो ज्ञानादिको का मन से स्वसमवायि सयोग सबन्ध है। स्व अर्थात् ज्ञानादिक उनका समवायि अर्थात् समवाय वाला जो आत्मा उसका मन से सयोग है, वैसे ही मन का ज्ञानादिको से भी परपरा सबन्ध है, सो मन सयुक्त समवाय है। मन से सयुक्त अर्थात् सयोग वाला आत्मा उसमे ज्ञानादिको का समवाय सबन्ध है। और ज्ञानत्व, इच्छात्व, प्रयत्नत्व, सुखत्व, दुःखत्व, द्वेषत्व का मन से प्रत्यक्ष होता है। वहा मन से ज्ञानत्वादिको का स्वाश्रय समवायि सयोग सबन्ध है। स्व अर्थात् ज्ञानत्वादिक उनके आश्रय ज्ञानादिक उनका समवायी आत्मा उसका मन से सयोग है। मन का ज्ञानत्वादिको से मन सयुक्त समवेत समवाय सबन्ध है। क्यो ? मन सयुक्त आत्मा मे समवेत ज्ञानादिक, उनमे ज्ञानत्वादिको का समवाय सम्बन्ध है। जहा आत्मा मे सुखाभाव और दुःखाभाव का प्रत्यक्ष हो, वहा मन: सम्बद्ध विशेषणता सम्बन्ध है। क्यो ? मन से सम्बद्ध अर्थात् सयोग सम्बन्ध वाला आत्मा, उसमे सुखाभाव और दुःखाभाव का विशेषणता सम्बन्ध है। सुख मे दुःखत्वाभाव का प्रत्यक्ष होता है, वहा मन:सयुक्त समवाय सम्बन्ध से मन: सबद्ध अर्थात् सम्बन्ध वाला सुख उसमे दुःखत्वाभाव का विशेषणता सम्बन्ध है।

क्यो ? मन से सयुक्त अर्थात् सयोग वाला आत्मा उसमे सुखादिक गुणो का समवाय सम्बन्ध है। और अभाव का विशेषणता सबन्ध ही होता है। इस रीति से अभाव के मानस प्रत्यक्ष का हेतु मन: सबद्ध विशेषणता सबन्ध एक ही है। जहा आत्मा मे सुखाभावादिको का प्रत्यक्ष हो, वहा सयोग सम्बन्ध से मन: सबद्ध आत्मा उसमे

सुखाभावादिको का विशेषणता सबन्ध है और सुखादिको मे दु खत्वाभावादिको का प्रत्यक्ष हो, वहा सयुक्त समवाय सबन्ध से मन' सबद्ध अर्थात् मन के सम्बन्ध वाले सुखादिक है। कही साक्षात् सबन्ध से मन सबद्ध मे, कही परपरा सम्बन्ध से मन' सबद्ध मे अभाव का विशेषणता सबन्ध है। इस रीति से मानस प्रत्यक्ष के हेतु चार सबन्ध है। मन सयोग, मन सयुक्त समवाय, मन सयुक्त समवेत समवाय; मन' सबद्ध विशेषणता। मानस प्रत्यक्ष के हेतु चारो स बन्ध व्यापार हैं। सबन्ध रूप व्यापार वाला असाधारण कारण मन करण है। इससे प्रमाण है। आत्म सुखादिको का मानस साक्षात्कार रूप प्रमा फल है। जैसे आत्म गुण सुखादिको के प्रत्यक्ष का हेतु सयुक्त समवाय संबन्ध है, वैसे धर्म, अधर्म, सस्कारादिक भी आत्मा के गुण है। इससे उनसे मन का सयुक्त समवाय सबन्ध तो है, परन्तु धर्मादिक गुण प्रत्यक्ष योग्य नही है। इससे धर्मादिकों का मानस प्रत्यक्ष नही होता। प्रत्यक्ष योग्यता जिसमे नही उसका प्रत्यक्ष नही होता। जहा आश्रय का प्रत्यक्ष हो, वहा सयोग का प्रत्यक्ष होता है। कैसे ? जंसे दो अगुली सयोग के आश्रय है। दो अगुली का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो, तब सयोग का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और अगुली का त्वाच प्रत्यक्ष होता है, तब अगुली के सयोग के सयोग का त्वाच प्रत्यक्ष होता है।

वैसे ही आत्म मन के सयोग से आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है वहा सयोग का आश्रय आत्मा है। इससे सयोग का भी मानस प्रत्यक्ष होना चाहिये। तथापि सयोग के आश्रय दो होते है। जहा दोनो का प्रत्यक्ष हो, वहा सयोग का प्रत्यक्ष होता है। जहा एक का प्रत्यक्ष हो, एक का नही हो वहा सयोग का प्रत्यक्ष नही होता। कैसे ? जैसे दो घट का प्रत्यक्ष होता है। इससे उनके सयोग का भी प्रत्यक्ष होता है। और घट की क्रिया से घट और आकाश का संयोग होता है, वहां सयोग के आश्रय घट और आकाश है, उनमे घट तो प्रत्यक्ष है, आकाश प्रत्यक्ष नही है। इससे उनका संयोग भी प्रत्यक्ष नही है। इस रीति से

आत्म मन के सयोग के आश्रय आत्मा और मन है । उनमे आत्म का तो मानस प्रत्यक्ष होता है । मन का नही होता । इमसे ग्रात्म मन के सयोग का मानस प्रत्यक्ष नही होता । आत्मा और ज्ञान सुखादिको का मानस प्रत्यक्ष होता है। वहा ज्ञान सुखादिको को छोडकर केवल आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता और आत्मा को छोडकर केवल ज्ञान सुखादिको का भी प्रत्यक्ष नही होता । किन्तु ज्ञान, इच्छा, कृति, सुख दु:ख, द्वेष इन गुणो मे किसी एक गुण का और आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है । मै जानता हूँ, इच्छावाला हूँ, प्रयत्नवाला हूँ, सुखी हूँ, दु खी हूँ, द्वेषवाला हूँ । इस रीति से किसी गुण को विषय करता हुआ आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है । इस रीति से इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष प्रमा के हेतु इन्द्रिय के सबन्ध है, सो व्यापार है । इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है । इन्द्रिय जन्य साक्षात्कार प्रत्यक्ष प्रमा फल है । यह न्यायशास्त्र का सिद्धान्त है ।

प्रत्यक्ष प्रमा के करण का विचार

और गौरीकात भट्टाचार्य ने यह लिखा है । प्रत्यक्षप्रमा का इन्द्रिय करण नही है । किन्तु जो इन्द्रिय के सबध कहे है, सो करण है और इन्द्रिय कारण है, करण नही है । उसका यह अभिप्राय है —व्यापार वाले कारण को करण नही कहते है । किन्तु जिसके होने से कार्य मे विलब नही हो, अव्यवहित उत्तरक्षण मे कार्य हो, ऐसे कारण को करण कहते है । इन्द्रिय का सबध होने पर प्रत्यक्ष प्रमा रूप कार्य मे विलब नही होता है । किन्तु इन्द्रिय सबध से अव्यवहित उत्तर क्षण मे प्रत्यक्ष प्रमारूप कार्य अवश्य होता है इससे इन्द्रिय का सबध ही करण होने से प्रत्यक्ष प्रमाण है, इन्द्रिय नही है । इस मत मे घट का करण कपाल नही है, किन्तु कपाल का सयोग करण है । और कपाल कारण तो घट का है, करण नही है । वैसे पट के करण तन्तु नही है, किन्तु तन्तु सयोग है । पट के कारण तो तन्तु है, करण नही है । इस रीति से प्रथम पक्ष मे जो व्यापाररूप कारण माने है, सो इस पक्ष मे करण है ग्रौर जो करण माने है, सो केवल कारण है ।

ज्ञान के आश्रय का कथन

प्रत्यक्ष ज्ञान का आश्रय आत्मा है, सो कर्ता है। उसी को प्रमाता और ज्ञाता कहते है। प्रमा ज्ञान के कर्ता को प्रमाता कहते है। ज्ञान के कर्ता को ज्ञाता कहते है। सो ज्ञान भ्रम हो वा प्रमा हो, न्याय सिद्धान्त मे जैसे प्रमाज्ञान इन्द्रिय जन्य है, वैसे भ्रम ज्ञान भी इन्द्रिय जन्य है। परंतु भ्रम ज्ञान का कारण जो इन्द्रिय, उसे भ्रमज्ञान का कारण तो कहते है, प्रमाण नही कहते। क्यो ? प्रमा के असाधारण कारण को प्रमाण कहते है।

न्यायमत के अनुसार भ्रमज्ञान की रीति

भ्रम ज्ञान का विचार भी प्रकट करके समझाने की कृपा करें ? जहा भ्रम हो, वहा न्यायमत मे यह रीति है, दोष सहित नेत्र का सयोग रज्जु से जब होता है तब रज्जुत्व धर्म से नेत्र का सयुक्त समवाय सबध तो है, परन्तु दोष के बल से रज्जुत्व नही भासता, किन्तु रज्जु मे सर्पत्व भासता है। यद्यपि सर्पत्व से नेत्र का सयुक्त समवाय सबन्ध नही है। तथापि इन्द्रिय के सबन्ध बिना ही दोष के बल से सर्पत्व का सबध रज्जु मे नेत्र से प्रतीत होता है। परन्तु जिसको दडत्व की स्मृति पूर्व हो, उसको रज्जु मे दडत्व भासता है और जिसको सर्पत्व की पूर्व स्मृति हो, उसको रज्जु मे सर्पत्व भासता है।

वस्तु के ज्ञान मे विशेषण के ज्ञान को हेतुता

जहा दोष रहित इन्द्रिय से यथार्थ ज्ञान हो, वहा भी विशेषण का ज्ञान हेतु है। इससे रज्जु ज्ञान से पूर्व रज्जुत्व का ज्ञान होता है। क्यो ? श्वेत उष्णीष (पगडी) श्वेत कचुकवान् यष्टिधर ब्राह्मण से नेत्र का सयोग हो, वहा कदाचित् मनुष्य है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् ब्राह्मण है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् यष्टिधर ब्राह्मण है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् कचुक वाला ब्राह्मण है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् श्वेत कचुकवाला ब्राह्मण है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् उष्णीष वाला ब्राह्मण है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् श्वेत उष्णीष

वाला ब्राह्मण है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् उष्णीषवाला कचुक वाला यष्टिधर ब्राह्मण है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् श्वेत उष्णीषवाला श्वेत कचुकवाला यष्टिधर ब्राह्मण है, ऐसा ज्ञान होता है। वहा नेत्र सयोग तो सर्व ज्ञानो का साधारण कारण है। ज्ञानो की विलक्षणता मे यह हेतु है — जहा मनुष्यस्वरूप विशेषण का ज्ञान और नेत्र का सयोग हो, वहा मनुष्य है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है। जहा ब्राह्मणत्व का ज्ञान और नेत्र सयोग हो, वहा ब्राह्मण है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है। जहा यष्टि और ब्राह्मणत्व का ज्ञान और नेत्र का सयोग हो, वहा यष्टिधर ब्राह्मण है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है। जहा कचुक और ब्राह्मणत्व रूप दो विशेषण का ज्ञान और नेत्र का सयोग हो, वहा कचुकवाला ब्राह्मण है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है। जहा श्वेतताविशिष्ट कचुकरूप और ब्राह्मणत्वरूप विशेषण का ज्ञान और नेत्र का सयोग हो, वहा श्वेत कचुकवाला ब्राह्मण है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है। जहा उष्णीष और ब्राह्मणत्वरूप दो विशेषण का ज्ञान और नेत्र का सयोग हो, वहा उष्णीषवाला ब्राह्मण है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है। जहा श्वेतता विशिष्ट उष्णीष रूप विशेष का और ब्राह्मणत्वरूप विशेषण का ज्ञान और नेत्र का सयोग हो, वहा श्वेत उष्णीषवाला ब्राह्मण है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है। जहा उष्णीष, कचुक, यष्टि, ब्राह्मणत्व इन चार विशेषणो का ज्ञान और नेत्र का सयोग हो, वहा उष्णीष वाला, कचुकवाला यष्टिधर ब्राह्मण है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है। जहा श्वेतता विशिष्ट उष्णीष विशेषण का और श्वेतता विशिष्ट कचुक विशेषण का वसे यष्टि और ब्राह्मणत्वरूप विशेषण का ज्ञान और नेत्र का सयोग हो, वहा श्वेत उष्णीष, श्वेत कचुक यष्टिधर ब्राह्मण है, ऐसा चाक्षुष ज्ञान होता है।

इस रीति से जिस विशेषण का पूर्व ज्ञान हो, उस विशेषण विशिष्ट का इन्द्रिय से ज्ञान होता है। वहा इन्द्रिय सबन्ध तो सर्वत्र तुल्य है। विशिष्ट प्रत्यक्ष की विलक्षणता का हेतु विलक्षण विशेषण ज्ञान है। यदि विलक्षण विशेषण ज्ञान को कारण नही माने तो नेत्र सयोग से ब्राह्मण के सब ज्ञान तुल्य होने चाहिये। जहा घट से नेत्र

तथा त्वक् का सयोग हो, वहा कदाचित् घट है, ऐसा प्रत्यक्ष होता है। कदाचित् पृथ्वी है, ऐसा ज्ञान होता है। कदाचित् घट पृथ्वी है, ऐसा ज्ञान होता है। जहा घटत्व रूप विशेषण ज्ञान और इन्द्रिय का घट से सयोग हो, वहा घट है, ऐसा प्रत्यक्ष होता है। जहा पृथ्वीत्वरूप विशेषण का ज्ञान और इन्द्रिय का घट से सयोग हो, वहा घट पृथ्वी है। ऐसा प्रत्यक्ष होता है। जहा घटत्व पृथ्वीत्व इन दोनो विशेषणो का ज्ञान और इन्द्रिय का घट से सयोग हो, वहा घट पृथ्वी है, ऐसा प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से घट से इन्द्रिय का सयोग रूप कारण एक है, और विषय घट भी एक है। और घटत्व, द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व जाति घट मे सदा रहती है। तो भी कदाचित् घटत्व सबन्ध सहित घट मात्र को ज्ञान विषय करता है। द्रव्यत्व पृथ्वीत्वादिक जाति और रूपादिक गुणो को घट है, यह ज्ञान विषय नही करता है। कदाचित् पृथ्वी है, ऐसा घट का ज्ञान घट मे घटत्व को भी विषय नही करता है। किन्तु पृथ्वीत्व और घट तथा पृथ्वीत्व के सम्बन्ध को विषय करता है। कदाचित घट पृथ्वी है, ऐसा घट का ज्ञान पृथ्वीत्व घटत्व जाति और उनका घट मे सबन्ध तथा घट इनको विषय करता है।

इस रीति से ज्ञान का भेद सामग्री भेद बिना सभव नही है। वहा विशेषण ज्ञानरूप सामग्री का भेद ही ज्ञान की विलक्षणता का हेतु है। जहा घट है, ऐसा ज्ञान हो, वहा घट और घटत्व और घट मे घटत्व का समवाय सबन्ध भासता है। जहा पृथ्वी है, ऐसा घट का ज्ञान हो, वहा घट और पृथ्वीत्व और घट मे पृथ्वीत्व का समवाय सबन्ध भासता है।

विशेषण और विशेष्य का स्वरूप

जहा घट पृथ्वी है, ऐसा घट का ज्ञान हो, वहा घट और पृथ्वीत्व घटत्व और घट मे पृथ्वीत्व घटत्व का समवाय सबन्ध भासता है। वहा घटत्व पृथ्वीत्व विशेषण है, घट विशेष्य है। क्यो ? सम्बन्ध के प्रतियोगी को विशेषण कहते है। सबन्ध के अनुयोगी को विशेष्य

कहते है। जिसका सबन्ध हो वह सबन्ध का प्रतियोगी होता है। और जिसमे सबन्ध हो उसको अनुयोगी कहते है। घटत्व का, पृथ्वीत्व का समवाय सबन्ध घट मे भासता है। इससे घटत्व पृथ्वीत्व समवाय सबन्ध के प्रतियोगी होने से विशेषण है, सबन्ध का अनुयोगी घट है, इससे विशेष्य है। जहा दडी पुरुष है, ऐसा ज्ञान हो, वहा दडत्व विशिष्ट दड सयोग सबन्ध से पुरुषत्व विशिष्ट पुरुष मे भासता है। उसका ही काष्ठवाला मनुष्य है, ऐसा ज्ञान होता है। वहा काष्ठत्व विशिष्ट दड मनुष्यत्व विशिष्ट पुरुष मे सयोग सबन्ध से भासता है। प्रथम ज्ञान मे दडत्व विशिष्ट दड सयोग का प्रतियोगी होने से विशेषण है। पुरुषत्व विशिष्ट पुरुष सयोग का अनुयोगी होने से विशेष्य है। द्वितीय ज्ञान मे काष्ठत्व विशिष्ट दड प्रतियोगी है। मनुष्यत्व विशिष्ट पुरुष अनुयोगी है। दोनो ज्ञानो मे यद्यपि दड विशेषण है, पुरुष विशेष्य है। तथापि प्रथम ज्ञान मे तो दड मे दडत्व भासता है, काष्ठत्व नही भासता। पुरुष मे पुरुषत्व भासता है, मनुष्यत्व नही भासता। वैसे द्वितीय ज्ञान मे दड मे काष्ठत्व भासता है, दडत्व नही भासता। और पुरुष मे मनुष्यत्व भासता है, पुरुषत्व नही भासता। दडत्व और काष्ठत्व दड के विशेषण है। क्यो ? दडत्वादिको का दड मे जो सबन्ध उसके प्रतियोगी दडत्वादिक है। और दडत्वादिको का दड मे सबन्ध है। इससे सबन्ध का अनुयोगी होने से दड विशेष्य है। इस रीति से दडत्व का दड विशेष्य है और पुरुष का दड विशेषण है।

क्यो ? दड का पुरुष मे जो सयोग संबन्ध, उसका प्रतियोगी दड है। इससे पुरुष का विशेषण है, उस सयोग का पुरुष अनुयोगी है, इससे विशेष्य है। जैसे पुरुष का दड विशेषण है, वैसे पुरुषत्व मनुष्यत्व भी पुरुष के विशेषण है। क्यो ? जैसे दड का पुरुष मे संयोग सबन्ध भासता है, वैसे पुरुषत्वादिक जाति का समवाय सबन्ध भासता है। उस सबन्ध के पुरुषत्वादिक प्रतियोगी होने से विशेषण हैं। और अनुयोगी होने से पुरुष विशेष्य है। परन्तु इतना भेद है। पुरुष के धर्म जो पुरुषत्व, मनुष्यत्वादिक, वे तो केवल पुरुष व्यक्ति

के विशेषण है । और पुरुषत्वादिक धर्म विशिष्ट पुरुषव्यक्ति मे दडादिक विशेषण है । दडादिक भी दडत्वादिक धर्मो के विशेष्य है । और पुरुषादिको के विशेषण हे । परन्तु दडत्वादिक विशेषण के सबन्ध को धारण करके पुरुषादिक विशेष्य के सबन्धी उत्तर काल मे दडादिक होते है । इस रीति से केवल व्यक्ति मे पुरुषत्व, मनुष्यत्व विशेषण है । और पुरुषत्व वा मनुष्यत्व विशिष्ट पुरुष व्यक्ति मे दडत्व वा काष्ठत्व विशेषण है । इस रीति से ज्ञान के विषय मे विषयता का विचार करें तो बहुत सूक्ष्म है । चक्रवर्त्तिगदाधर भट्टाचार्य ने 'सगति' ग्रथ मे लिखा है । और जयराम पचानन भट्टाचार्य ने तथा रघुनाथ भट्टाचार्य ने 'विषयता विचार' ग्र थ रचे है, उन्होने भी लिखा है। वे सूक्ष्म और दुर्बोध है। यहा अति स्थूल रीति मात्र बताई गई है ।

विशेषण और विशेष्य के ज्ञान के भेद पूर्वक न्यायमत के भ्रम ज्ञान की समाप्ति

इस रीति से विशिष्ट ज्ञान का हेतु विशेषण ज्ञान है। वह विशेषण का ज्ञान कही स्मृति रूप होता है ।कही निर्विकल्पक होता है। कही विशिष्ट ज्ञान ही विशेषण विशेष्य से प्रथम विशेषण मात्र से इन्द्रिय का सबन्ध होता है । वहा विशेष मात्र से इन्द्रिय सबन्ध जन्य होता है । सो भी विशिष्ट प्रत्यक्ष ही होता है । जहा पुरुष से बिना केवल दड से इन्द्रिय का सबन्ध हो, उत्तर क्षण मे पुरुष से सबन्ध हो, वहा दड रूप विशेपण का ज्ञान विशेषण मात्र के सबन्ध से उत्पन्न होता है । उससे उत्तर क्षण मे "दडी पुरुष है" यह विशिष्ट का ज्ञान उत्पन्न होता है । घट है यह प्रथम जो विशिष्ट ज्ञान, उससे पूर्व घटत्व रूप विशेषण का इन्द्रिय सबन्ध से निर्विकल्पक ज्ञान होता है । उत्तर क्षण मे "घट है" यह घटत्व विशिष्ट घट का सविकल्पक ज्ञान होता है। जिस इन्द्रिय सबन्ध से घटत्व का निर्विकल्पक ज्ञान होता है, उस इन्द्रिय सबन्ध से ही घटत्व विशिष्ट घट का सविकल्पक ज्ञान होता है। घटत्व के निर्विकल्पक ज्ञान मे इन्द्रिय करण है,

इन्द्रिय का सयुक्त समवाय सबन्ध व्यापार है और घटत्व विशिष्ट घट के सविकल्पक ज्ञान मे इन्द्रिय का सयुक्त समवाय सबन्ध करण है। निर्विकल्पक ज्ञान व्यापार है। इस रीति से किसी आधुनिक नैयायिक ने निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान मे करण का भेद कहा है।

सो सप्रदाय से विरुद्ध है। क्यो ? व्यापारवाले असाधारण कारण को करण कहते है। इस मत मे प्रत्यक्ष ज्ञान का करण होने से इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। और आधुनिक रीति से सविकल्पक ज्ञान का करण होने से इन्द्रिय के सबन्ध को भी प्रमाण कहना चाहिये। और सप्रदाय वाले सबन्ध को प्रमाण नही कहते है। इससे दोनो प्रत्यक्ष ज्ञान के इन्द्रिय ही करण है, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण है। परन्तु निर्विकल्पक ज्ञान मे इन्द्रिय का सबन्ध मात्र व्यापार है और सबिकल्पक ज्ञान मे इन्द्रिय का सबन्ध और निर्विकल्पक ज्ञान दो व्यापार है। और दोनो प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के करण होने से इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है। धर्म धर्मी के सबन्ध को विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते है। घट है इस ज्ञान से घट मे घटत्व का समवाय भासता है। इससे सविकल्पक ज्ञान के धर्म, धर्मी, समवाय, तीनो विषय है। इसलिये घट है यह विशिष्ट ज्ञान सबन्ध को विषय करने से सविकल्पक कहा जाता है। उससे भिन्न को निर्विकल्पक ज्ञान कहते है।

सविकल्पक, निर्विकल्पक ज्ञान के लक्षण विस्तार से 'शितिकठी' मे लिखे है। अर्थ सूक्ष्म है, इससे यहा विशेष विस्तार नही लिखा है। इस रीति से प्रथम विशिष्ट ज्ञान का जनक विशेषणज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है और एक बार घट है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान होकर फिर घट का विशिष्ट ज्ञान हो, वहा घट से इन्द्रिय का सबन्ध होते ही पूर्व अनुभव करे घटत्व की स्मृति होती है। उससे उत्तर क्षण मे घट है, यह विशिष्ट ज्ञान होता है। इस रीति से द्वितीयादिक विशिष्ट ज्ञान का हेतु विशेषण ज्ञान स्मृतिरूप है। जहा दोष सहित नैत्र का रज्जु से अथवा शुक्ति से संबन्ध होता है, वहा दोष के बल से सर्पत्व की और रजतत्व की स्मृति होती है, रज्जुत्व और शुक्तित्व की नही होती। विशिष्ट ज्ञान का हेतु

विशेषणज्ञान जिस धर्म को विषय करता है, सोई धर्म विशिष्ट ज्ञान से भासता है। सर्पत्व और रजतत्व का स्मृति ज्ञान रज्जुत्व और शुक्तित्व को विषय नही करता, किन्तु सर्पत्व और रजतत्व को विषय करता है। इससे सर्प है इस रज्जु के विशिष्ट ज्ञान से रज्जु मे सर्पत्व भासता है और रजत है, इस शुक्ति के विशिष्ट ज्ञान से शुक्ति मे रजतत्व भासता है। सर्प है इस विशिष्ट भ्रम मे विशेष्य रज्जु है, सर्पत्व विशेषण है। क्यो ? सर्पत्व का समवाय सबन्ध रज्जु मे भासता है। उस समवाय का सर्पत्व प्रतियोगी है, और रज्जु अनुयोगी है। वैसे रूपा है इस भ्रम से शुक्ति मे रजतत्व का समवाय भासता है। उस समवाय का प्रतियोगी रजतत्व है, इससे विशेषण है और शुक्ति अनुयोगी है, इससे विशेष्य है।

इस रीति से सर्व भ्रम ज्ञानो से विशेषण के अभाव वाले मे विशेषण भासता है। इस न्यायमत मे विशेषण के अभाव वाले मे विशेषण प्रतीति को भ्रम कहते है। उसी को अयथार्थ ज्ञान कहते है। अन्यथा ख्याति कहते है। भ्रम ज्ञान मे सूक्ष्म विचार 'अन्यथा ख्यातिवाद' नाम ग्रंथ मे चक्रवर्तिगदाधर भट्टाचार्य ने लिखा है, सो दुर्बोध है। इससे लिखा नही है। इस रीति से न्यायमत मे सर्पादि भ्रम के विषय रज्जु आदिक है, सर्पादिक नही है और प्रत्यक्ष रूप भ्रम ज्ञान भी इन्द्रिय जन्य है।

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रिय अजन्य भ्रम ज्ञान की रीति

और वेदात सिद्धान्त मे सर्प भ्रम का विषय रज्जु नही है, किन्तु अनिर्वचनीय सर्प ही है और भ्रम ज्ञान इन्द्रिय जन्य नही है। और न्यायमत मे सर्व ज्ञान का आश्रय आत्मा है। वेदान्त मत मे ज्ञान का उपादान कारण अन्त करण है। इससे अन्त करण ही ज्ञान का आश्रय है। और जो न्यायमत मे सुखादिक आत्मा के गुण कहे है सो वेदात मत मे सर्व अन्त करण के परिणाम इससे अन्त.करण के धर्म है, आत्मा के नही है। परन्तु भ्रम ज्ञान अन्त.करण का परिणाम नही है, किन्तु अविद्या का परिणाम है। यह विचार सागर मे लिखा है। भ्रम ज्ञान का सक्षेप से यह प्रकार

है —सर्प सस्कार सहित पुरुष के दोष सहित नेत्र का रज्जु से सबन्ध होता है तब रज्जु का विशेष धर्म रज्जुत्व नही भासता है । और रज्जु मे जो मु जरूप अवयव है सो भी नही भासते है । किन्तु रज्जु मे सामान्य धर्म इदता भासती है । वैसे शुक्ति मे शुक्तित्व और नील पृष्ठता, त्रिकोणता नही भासती है । किन्तु सामान्य धर्म इदता भासती है । इससे नेत्र द्वारा अन्त.करण रज्जु को प्राप्त होकर इदमाकार परिणाम को प्राप्त होता है । उस इदमाकार वृत्ति उपहित चेतननिष्ठ अविद्या के सर्पाकार और ज्ञानाकार दो परिणाम होते है। वैसे दडसस्कार सहित पुरुष के दोष सहित नेत्र का रज्जु के सबन्ध से जहा वृत्ति होती है, वहा द ड और उसका ज्ञान अविद्या के परिणाम होते है । माला सस्कार सहित पुरुष के सदोष नेत्र का रज्जु से सबन्ध होकर जिसके इदमाकार वृत्ति होती है, उसकी वृत्ति उपहित चेतन मे स्थित अविद्या का माला और उसके ज्ञान का परिणाम होता है ।

जहा एक रज्जु से तीन पुरुषो के सदोष नेत्रो का सबन्ध होकर सर्प, दड, माला एक एक का उनको भ्रम हो, वहा जिसकी वृत्ति उपहित चेतन मे जो विषय उत्पन्न हुआ है, सो ही उसको प्रतीत होता है, अन्य को नही होता है । इस रीति से भ्रम ज्ञान इन्द्रिय जन्य नही है । किन्तु अविद्या की वृत्ति-रूप है । परन्तु जिस वृत्ति उपहित चेतन मे स्थित अविद्या का परिणाम भ्रम है, सो इदमाकार वृत्ति नेत्र से रज्जु आदिक विषय के सबन्ध से होती है । इससे भ्रम ज्ञान मे इन्द्रिय जन्यता की प्रतीति होती है । अनिर्वचनीय ख्याति का निरूपण और अन्यथा ख्याति आदिको का खडन गौड ब्रह्मानन्द कृत ख्याति विचार मे लिखा है । सो अति कठिन है, इससे नही लिखा । इस रीति से वेदात सिद्धान्त मे भ्रम ज्ञान इन्द्रिय जन्य नही है । न्याय और वेदान्त की अन्य विलक्षणता भी बताने की कृपा करिये ?

न्याय और वेदान्त की अन्य विलक्षणता

और वेदात सिद्धान्त मे अभाव का ज्ञान भी इन्द्रिय जन्य नही

है, किन्तु अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण से अभाव का ज्ञान होता है। इससे अभाव के प्रत्यक्ष का हेतु विशेषणता सबन्ध का अगीकार निष्फल है। और जाति व्यक्ति का समवाय सबन्ध नही है। किन्तु तादात्म्य सबन्ध है। वैसे गुण गुणी का क्रिया क्रियावान का, कार्य उपादान कारण का भी तादात्म्य सबन्ध है। इससे समवाय के स्थान मे तादात्म्य कहते है। और जैसे त्वक् आदिक इन्द्रिय भूत जन्य है, वैसे श्रोत्र इन्द्रिय भी आकाश जन्य है, आकाश रूप नही है। और मीमासा के मत मे तो शब्द द्रव्य है। वेदात मत मे गुण है। परन्तु न्याय मत मे तो शब्द आकाश का ही गुण है। वेदान्त मत मे विद्यारण्य स्वामी ने पाच भूतो का गुण कहा है। और वेदान्त मत मे वाचस्पति मिश्र ने तो मन इन्द्रिय माना है। अन्य ग्रंथकारो ने मन इन्द्रिय नही माना है। जिनके मत मे मन इन्द्रिय नही है, उनके मत मे सुख दु.ख का ज्ञान प्रमाण जन्य नही है। इससे प्रमा नही है। किन्तु सुख दु.ख साक्षी भास्य है। और वाचस्पति के मत मे सुखादिको का ज्ञान मनरूप प्रमाण जन्य है, इससे प्रमा है। और ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान तो दोनो मतो मे प्रमा है। वाचस्पति के मत मे मनरूप प्रमाण जन्य है। अन्यो के मत मे शब्द रूप प्रमाण जन्य है।

वाचस्पति के मत का (मन की इन्द्रियता का) सार ग्राही दृष्टि मे अगीकार

जिनके मत मे मन इन्द्रिय नही है, उनके मत मे इन्द्रिय जन्यता प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण नही है। किन्तु विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद ही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है। वाचस्पति का मत भी समीचीन नही है। क्यो ? वाचस्पति के मत मे ये दोष कहते है — एक तो मन का असाधारण विषय नही है, इससे मन इन्द्रिय नही है। और गीता वचन का विरोध है। गीता के तीसरे अध्याय के बयालीसवे श्लोक मे इन्द्रियो से मन पर है, यह कहा है। यदि मन भी इन्द्रिय हो तो इन्द्रियो से मन पर है, यह कहना सभव नही है। और मानस ज्ञान का विषय ब्रह्म नही है। यह श्रुति स्मृति मे लिखा है। वाचस्पति ने मन को इन्द्रिय मानकर ब्रह्म साक्षात्कार भी मन रूप इन्द्रिय जन्य

इमसे मानस है। यह कहा है, सो विरुद्ध है। और अन्त करण की अवस्था को मन कहते है। सो अन्त करण प्रत्यक्ष ज्ञान का आश्रय होने से कर्ता है। जो कर्ता होता है, सो करण नही होता है। इससे मन इन्द्रिय नही है। ये दोष मन के इन्द्रियपने मे कहे है, मो विचार करके देखे तो दोष नही है। क्यो ? मन का असाधारण विषय सुख दु ख इच्छादिक हैं। और अन करण विशिष्ट जीव है, सो कर्ता है। और गीता मे इन्द्रियो से पर मन है यह कहा है। वहा इन्द्रिय शब्द से बाह्य इन्द्रियो का ग्रहण हैं। इससे बाह्य इन्द्रियो से मन इन्द्रिय पर है। यह गीता वचन का अर्थ है, विरोध नही है।

और मानस ज्ञान का विषय ब्रह्म नहीं है। इस कथन का यह अभिप्राय हैं — शमदमादि सस्कार रहित विक्षिप्त मन से उत्पन्न ज्ञान का विषय ब्रह्म नही है। और मानस ज्ञान की फल व्याप्यता (विषयता) ब्रह्म मे नही हैं। वृत्ति मे चिदाभास को फल कहते है। उसका विषय ब्रह्म नही है। घटादिक अनात्म पदार्थो को वृत्ति प्राप्त होती है, वहा वृत्ति और चिदाभास दोनो के व्याप्य अर्थात् विषय पदार्थ होने है। और ब्रह्माकार वृत्ति मे जो चिदाभास, उसका व्याप्य अर्थात् विषय ब्रह्म नही है। वृत्तिमात्र का विषय ब्रह्म है जैसे मन की विषयता ब्रह्म मे निषेध करी है, वैसे शब्द की विषयता भी निषेध करी है। "यतो वाचो निवर्तते अप्राप्य मनसा सह" यह निषेध वचन है। वहा शब्द जन्य ज्ञान का विषय ब्रह्म नही है। ऐसा अर्थ अगीकार हो, तो महावाक्य भी शब्दरूप ही है। उनसे उत्पन्न ज्ञान का भी विषय ब्रह्म नही होगा। इससे सिद्धान्त का ही भग होगा। इससे निषेध वचन का यह अर्थ है – शब्द की शक्ति वृत्ति जन्य ज्ञान का विषय ब्रह्म नही है। किन्तु शब्द की लक्षणा वृत्ति जन्य ज्ञान का विषय ब्रह्म है। वैसे लक्षणा वृत्ति जन्य ज्ञान मे भी चिदाभास रूप फल का विषय ब्रह्म नही है। किन्तु आवरण भगरूप वृत्ति मात्र की विषयता ब्रह्म मे है। जैसे शब्दजन्य ज्ञान की विषयता का सर्वथा निषेध नही है, वैसे मानस ज्ञान की विषयता का भी मर्वथा निषेध नही है। किन्तु सस्कार रहित मन की ब्रह्म ज्ञान मे हेतुता नही है और मानस ज्ञान मे जो चिदाभास

अश है, उसकी विषयता ब्रह्म मे नही है। और यदि ऐसा कहै ब्रह्मज्ञान मे मन को करणता कहै तो, दो प्रमाण जन्य ब्रह्म ज्ञान कहना होगा। क्यो ? महावाक्यो मे ब्रह्मज्ञान की करणता तो भाष्य कारादिको ने सर्वत्र प्रतिपादन करी है। उसका निषेध तो बनता नही है। मन को भी करणता कहै तो, प्रमा के करण को प्रमाण कहते है। इससे ब्रह्म प्रमा के शब्द और मन दो प्रमाण सिद्ध होगे। सो दृष्ट विरुद्ध है। क्यो ? चाक्षुषादिक प्रमा के नेत्रादिक एक एक ही प्रमाण है। किसी भी प्रमा के हेतु दो प्रमाण देखने वा सुनने मे नही आते है। नैयायिक भी चाक्षुषादिक प्रमा मे मन की सहकारिता मानते है। प्रमाणता नेत्रादिको को ही मानते है, मन को नही मानते है।

सुखादिको के ज्ञान मे केवल मन को प्रमाणता मानते है, अन्य को नही मानते। इससे एक प्रमा की दोनो को प्रमाणता कहना दृष्ट विरुद्ध है। जहा एक पदार्थ मे दो इन्द्रियो की योग्यता हो, जैसे घट मे नेत्रत्वक् की योग्यता है, वहा भी दो प्रमाण से एक प्रमा नही होती है। किन्तु नेत्र प्रमाण से घट की चाक्षुष प्रमा होती है। और त्वक् प्रमाण से त्वाच प्रमा होती है। दो प्रमाण से एक प्रमा की उत्पत्ति दृष्ट नही है। सो शका नही बनती है। क्यो ? प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष हो, वहा पूर्व अनुभव और इन्द्रिय दो प्रमाण से एक प्रमा होती है। इससे दृष्ट विरुद्ध नही है। जहा प्रत्यभिज्ञा हो, वहा पूर्व अनुभव सस्कार द्वारा हेतु है और सयोगादिक सबन्ध द्वारा इन्द्रिय हेतु है। इससे सस्कार रूप व्यापार वाला कारण पूर्व अनुभव है और सबन्धरूप व्यापारवाला कारण इन्द्रिय है। इससे प्रमा के करण होने से दोनो प्रमाण है।

वैसे ब्रह्म साक्षात्कार रूप प्रमा के शब्द (महावाक्य) और मन दो प्रमाण है। इस कथन मे दृष्ट विरोध नही है, उलटा ब्रह्म साक्षात्कार मनरूप इन्द्रिय जन्यता मानने से निर्विवाद प्रत्यक्षता सिद्ध होती है। और ब्रह्मज्ञान को केवल शब्द जन्यता मानने से तो प्रत्यक्षता विवाद से सिद्ध करते है। दशम दृष्टात मे भी इन्द्रिय जन्यता और शब्द जन्यता का विवाद है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता मे विवाद नही

है। और जो ऐसे कहै प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष मे पूर्व अनुभव जन्य सस्कार महकारी है, केवल इन्द्रिय प्रमाण है। उसका यह समाधान है — ब्रह्म साक्षात्कार रूप प्रमा मे भी शब्द सहकारी है, केवल मन प्रमाण है। और वेदात परिभाषादिक ग्र थो मे जो इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्षता कहने मे दोष कहे है, उनके सम्यक् समाधान 'न्यायकौस्तुभ' आदि ग्र थो मे लिखे हैं। जिसको जिज्ञासा हो, सो उनमे देख सकते है। और जो मन को इन्द्रियता मे दोष कहा-ज्ञान का आश्रय होनेसे अन्त करण कर्ता है। इससे ज्ञान का करण नही बन सकता। यह दोष भी नहीं है। क्यो ? धर्मी अत करण तो ज्ञान का आश्रय होने से कर्ता है, और अन्त करण का परिणामरूप मन ज्ञान का करण है। इस रीति से मन भी प्रमा ज्ञान का करण है। इससे प्रमाण है।

प्रत्यक्ष विचार मे न्याय और वेदान्त का भेद

प्रत्यक्ष प्रमाण के विचार में न्याय और वेदान्त का क्या भेद है, वह भी बताने की कृपा करिये ? जहा इन्द्रिय से द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, वहा तो न्याय वेदान्त मत मे विलक्षणता नही है। द्रव्य का इन्द्रिय से सयोग सबन्ध ही है। इन्द्रिय से द्रव्य की जाति का अथवा गुण का प्रत्यक्ष हो, वहा न्यायमत मे तो संयुक्त समवाय सबन्ध है और वेदान्त मत मे सयुक्त तादात्म्य सबन्ध है। क्यो ? न्यायमत मे जिनका समवाय सबन्ध है, उनका वेदात मत मे तादात्म्य सबन्ध है। और गुण की जाति के प्रत्यक्ष मे न्याय रीति से सयुक्त समवेत समवाय सबन्ध है। वेदान्त मत मे सयुक्त तादात्म्यवत् तादात्म्य सबन्ध है। इसी को सयुक्त भिन्न तादात्म्य कहते है।

इन्द्रिय से सयुक्त घटादिक उनमे तादात्म्यवत् अर्थात् तादात्म्य सबन्ध वाले रूपादिक है, उनमे तादात्म्य सबन्ध रूपत्वादिक जाति का है। जैसे घटादिको मे रूपादिक तादात्म्यवत् है, वैसे घटादिकों से अभिन्न है, अभिन्न का ही तादात्म्य सबन्ध होता है। जहा श्रोत्र से शब्द का साक्षात्कार हो, वहा न्यायमत मे तो समवाय सबन्ध है और वेदान्त मत मे श्रोत्र इन्द्रिय आकाश का कार्य है। इससे जैसे

चक्षु आदिको मे क्रिया होती है, वैसे श्रोत्र मे क्रिया होकर शब्द वाले द्रव्य से श्रोत्र सयोग होता है। उस श्रोत्र सयुक्त द्रव्य मे शब्द का तादात्म्य सबन्ध है। क्यो ? वेदान्त मत मे पचभूतो का गुण शब्द होने से भेर्यादिको मे भी शब्द है। इससे श्रोत्र के सयुक्त तादात्म्य सबन्ध से शब्द का प्रत्यक्ष होता है। शब्दत्व का प्रत्यक्ष हो, वहा श्रोत्र का सयुक्त तादात्म्यवत् तादात्म्य सबन्ध है। वेदान्त मत मे जैसे शब्दत्व जाति है, वैसे तारत्व मदत्व भी जाति ही है। न्यायमत के समान जाति से भिन्न उपाधि नही है। इससे शब्दत्व जाति का श्रोत्र से जो सबन्ध है, सोई सबन्ध तारत्व मदत्व का है, विशेषणता सबन्ध नही है, और अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। किसी भी इन्द्रिय से अभाव का ज्ञान नही होता। इससे अभाव का इन्द्रिय से सबन्ध अपेक्षित नही है। यह न्यायमत और वेदान्त का प्रत्यक्ष विचार मे भेद है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का उपसहार

इस रीति से प्रत्यक्ष प्रमा के षट् भेद है, उसके करण षट् है। इससे नेत्रादिक षट् इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। न्याय मत मे ओर वाचस्पति के मत मे छठा प्रत्यक्ष प्रमाण मन है। पचपादिका के कर्ता पद्मपादाचार्य के मत के अनुसारी मन को प्रमाण नही मानते, सुख दु ख तो साक्षीभास्य है। इससे सुख दु.ख का ज्ञान प्रमा नही है और विशिष्ट जीव मे अन्त.करण भाग साक्षीभास्य है, चेतन भाग स्वय प्रकाश है। इससे जीव का ज्ञान भी मानस नही है। ब्रह्म-विद्या रूप अपरोक्ष ज्ञान यद्यपि प्रमा रूप है, तथापि उसका करण शब्द है। इससे मन प्रमाण नही है, परन्तु पचपादिका अनुसारी सिद्धान्त मे भी प्रत्यक्ष प्रमा के षट् भेद है। शब्द जन्य ब्रह्म की प्रत्यक्ष प्रमा छठी है और अभाव का ज्ञान यद्यपि अनुपलब्धि प्रमाण जन्य है, तथापि प्रत्यक्ष है। यह वार्ता अनुपलब्धि प्रमाण निरूपण प्रकरण मे 'वृत्तिप्रभाकर' ग्र थ मे कथन की है। इससे प्रत्यक्ष प्रमा के सप्त भेद सभव है। तथापि "वृत्तिप्रभाकर" ग्र थ की रीति से

अभाव ज्ञान मे प्रत्यक्षता नही है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा के षट् भेद ही है सप्त नही है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण सबन्धी सक्षिप्त विचार कहा गया है।

इति श्री प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण अश ३ समाप्त

अथ अनुमान प्रमाण निरूपण अश ४

अनुमिति की सामग्री का लक्षण और स्वरूप

अब द्वितीय अनुमान प्रमाण का भी सम्यक् परिचय दीजिये ? अनुमिति प्रमा के कारण को अनुमान प्रमाण कहते है। लिग ज्ञान जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते है। कैसे ? जैसे पर्वत मे धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान होकर अग्नि का ज्ञान होता है, वहा धूम के प्रत्यक्ष ज्ञान को लिग ज्ञान कहते है । उसमे अग्नि का ज्ञान होता है। इसमे पर्वत मे अग्नि का ज्ञान अनुमिति है। जिसके ज्ञान से साध्य का ज्ञान हो, उसको लिग कहते है । अनुमिति ज्ञान के विषय को साध्य कहते है । अनुमिति ज्ञान का विषय अग्नि है, इससे अग्नि साध्य है। धूम ज्ञान से अग्नि रूप साध्य का ज्ञान होता है, इससे धूम लिग है। व्याप्य के ज्ञान से व्यापक का ज्ञान होता है। इससे व्याप्य को लिग कहते है। व्यापक को साध्य कहते है। व्याप्तिवाले को व्याप्य कहते है । व्याप्ति निरूपक को व्यापक कहते है। अविनाभावरूप संबन्ध को व्याप्ति कहते है। कैसे ? जैसे धूम मे अग्नि का अविनाभावरूप सबन्ध है, सोई धूम मे अग्नि की व्याप्ति है, इससे धूम अग्नि का व्याप्य है। उस व्याप्ति रूप सबन्ध का निरूपक अग्नि है, इससे धूम का व्यापक अग्नि है। जिसके बिना जो नही हो, उसका अविनाभावरूप सबन्ध उसमे होता है। अग्नि बिना धूम नही होता, इससे अग्नि का अविनाभावरूप सबन्ध धूम मे है । अग्नि मे धूम का अविनाभाव नही है। क्यो ? तप्त लोह पिंड मे धूम बिना ही अग्नि है, इससे धूम का व्याप्य अग्नि नही है, अग्नि का व्याप्य धूम है, वैसे ही रूप का व्याप्य रस है, पृथ्वी, जल, तेज मे रूप रहता है। पृथ्वी, जल मे रस रहता है, इससे रूप का अविनाभाव रूप सबन्ध

रस मे होने से रूप का व्याप्य रस है और रूप मे रस का विनाभाव है, तेज मे रस का विनाभाव अर्थात् सत्ता रूप की है। इससे रस का व्याप्य रूप नही है। जो जिससे व्यभिचारी होता है, वह उसका व्याप्य नही होता। अधिक देश मे जो रहता है उसको व्यभिचारी कहते है। धूम से अधिक देश मे अग्नि रहता है, इससे वह धूम का व्यभिचारी है। रस से अधिक देश मे रूप रहता है, इससे रस का व्यभिचारी रूप है। जो न्यून देश मे रहता है उसमे अविनाभाव रूप सबन्ध होता है, वही व्याप्य होता है। अग्नि से न्यून देश मे धूम है, इससे अग्नि की धूम मे अविनाभाव सबन्ध रूप व्याप्ति है, धूम व्याप्य है। रूप से न्यून देश मे रस है, इससे रस मे रूप की व्याप्ति है, उस व्याप्ति वाला रस व्याप्य है। जैसे न्यून देश मे रहने वालो मे अधिक देश वाले की व्याप्ति है, वैसे दो पदार्थ समान देश मे रहने वाले हो, उनकी भी परस्पर व्याप्ति होती है। कैसे ? जैसे गंध गुण और पृथ्वीत्व जाति केवल पृथ्वी मे रहने वाले है, वहा गध की व्याप्ति पृथ्वीत्व मे है और पृथ्वीत्व की व्याप्ति गध मे है। और स्नेह गुण तथा जलत्व जाति जल मे है, जल बिना स्नेह ओर जलत्व नही रहते, इससे समदेश वृत्ति होने से दोनो परस्पर व्याप्ति वाले होने से व्याप्य है।

क्यो ? जैसे न्यून देश वृत्ति मे अविनाभावरूप सबन्ध है, वैसे समान देश वृत्ति (वर्तने वाले) पदार्थो का भी परस्पर अविनाभाव होता है। यद्यपि पृथ्वीत्व से न्यून देश वृत्ति गध है, और जलत्व से न्यून देश वृत्ति स्नेह है। क्यो ? प्रथम क्षण मे निर्गुण द्रव्य उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण मे गुण उत्पन्न होता है, और जाति प्रथम क्षण मे भी द्रव्य मे रहती है इससे घट के प्रथम क्षण मे गध का व्यभिचारी पृथ्वीत्व होने से उसमे गध का अविनाभाव सबन्ध रूप व्याप्ति का अभाव है। और उत्पत्ति क्षण वर्त्ति जल में स्नेह का व्यभिचारी जलत्व होने से उसमे स्नेह का अविनाभाव रूप सबन्ध नही है। इससे स्नेह की व्याप्ति का जलत्व मे अभाव होने से स्नेह का व्याप्य जलत्व नही है। इस रीति से पृथ्वीत्व का व्याप्य गध है। गध का व्याप्य पृथ्वीत्व नही

है। वैसे जलत्व का व्याप्य स्नेह है, स्नेह का व्याप्य जलत्व नही है। तथापि गधत्व और पृथ्वीत्व परस्पर व्याप्ति वाले है। इससे दोनो परस्पर व्याप्य है। वैसे ही स्नेहवत्त्व और जलत्व दोनो परस्पर व्याप्य है। क्यो ? गध की अधिकरणता को गधत्व कहते है और स्नेह की अधिकरणता को स्नेहवत्त्व कहते है। जिसमे जो पदार्थ कदाचित् हो, उसमे उस पदार्थ की अधिकरणता सदा रहती है। यह व्याप्ति निरूपण मे जगदीशभट्टाचार्य आदिको ने लिखा है। वहा यह प्रसग है — अव्याप्य वृत्ति पदार्थ की अधिकरणता व्याप्य वृत्ति होती है। अधिकरणता अव्याप्य वृत्ति नही होती है। अव्याप्य वृत्ति दो प्रकार की होती है। एक देशकृत अव्याप्य वृत्ति और दूसरी कालकृत अव्याप्य वृत्ति होती है। जो पदार्थ के एक देश मे हो और एक देश मे नही हो, उसे देशकृत अव्याप्यवृत्ति कहते है। कैसे ? जैसे पदार्थ के एक देश मे सयोग होता है, सो देश कृत अव्याप्यवृत्ति है, किन्तु सयोग की अधिकरणता सब पदार्थ मे होती है, एक देश मे नही। इससे अव्याप्य वृत्ति सयोग की अधिकरणता व्याप्य वृत्ति होती है, अव्याप्य वृत्ति नही। यह सिद्धात है।

और किसी काल मे हो, किसी काल मे नही हो उसको कालकृत अव्याप्य वृत्ति कहते है। पूर्व कही रीति से गधादिक गुण की कालिक अव्याप्य वृत्ति है। उनकी अधिकरणता द्रव्य की उत्पत्ति क्षण मे भी रहती है। इससे गधवत्त्व, स्नेहवत्त्व, पृथ्वीत्व, जलत्व के समदेश समकाल वृत्ति है। यह न्याय रीति से समाधान है। और वेदान्त मत मे तो निर्गुण द्रव्य उत्पन्न नही होता, प्रथम ही सगुण होता है। इससे गध, स्नेह के भी पृथ्वीत्व जलत्व व्याप्य है।

अनुमिति ज्ञान मे व्याप्ति के ज्ञान की अपेक्षा की रीति

इस रीति से अविनाभाव रूप सबन्ध व्याप्ति है, उस व्याप्ति वाला व्याप्य धूम का पर्वतादिकों मे जिसको प्रत्यक्ष ज्ञान हो अथवा शब्द ज्ञान हो उसको पर्वतादिकों मे अग्नि का अनुमिति ज्ञान होता है। वैसे ही रसके ज्ञान से रूप का ज्ञान होता है। किन्तु जिस पुरुष को धूम अग्नि का व्याप्य है, ऐसा ज्ञान पूर्व हुआ हो, उसको धूम ज्ञान से

व्याप्यत्व का स्मरण होकर अग्नि की अनुमिति होती है। व्याप्ति को ही व्याप्यत्व कहते है। रूप का व्याप्य रस है, ऐसा जिसको ज्ञान हुआ हो, उसको रस के ज्ञान से रूप की रस मे व्याप्ति का स्मरण होकर रूप की अनुमिति होती है। जिसको व्याप्यत्व का ज्ञान पूर्व नही हुआ हो, उसको धूमादिको के ज्ञान से अग्नि आदिको की अनुमिति नही होती। इससे व्याप्ति का ज्ञान अनुमिति का करण है। व्याप्तिवाले को व्याप्य कहते है और व्याप्ति को व्यापता कहते है। वह व्याप्ति का ज्ञान भी सदेह रूप हो तो कारण नही है। क्यो ? "धूम अग्नि की व्याप्ति वाला है वा नही है" ऐसा सदेह रूप ज्ञान जिसको पूर्व हुआ है, उसको धूम ज्ञान से अग्नि का ज्ञान नही होता। किन्तु "धूम अग्नि की व्याप्ति वाला है" ऐसा निश्चय रूप ज्ञान जिसको हुआ है, उसको धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमिति रूप ज्ञान होता है।

इससे व्याप्ति का निश्चयरूप ज्ञान अनुमिति का हेतु है। सो व्याप्ति निश्चय सहचार ज्ञान से होता है। महानसादिको मे बारबार धूम और अग्नि का सहचार देखकर "अग्नि का व्याप्य धूम है" ऐसा ज्ञान होता है और "धूम का व्याप्य अग्नि है" ऐसा ज्ञान नही होता। क्यो ? महानसादिको मे जैसा अग्नि का सहचार धूम मे देखते है, वैसा धूम का सहचार यद्यपि अग्नि मे देखते है, तथापि धूम का व्यभिचार भी अग्नि मे देखते है। इससे यह सिद्ध हुआ —जिस पदार्थ का जिसमे व्यभिचार नही प्रतीत होता और सहचार प्रतीत होता है, उस पदार्थ की व्याप्ति का उसमे निश्चय होता है। अग्नि का धूम मे व्यभिचार नही प्रतीत होता है और सहचार प्रतीत होता है। इससे अग्नि की व्याप्ति का धूम मे निश्चय होता है। अग्नि मे धूम का सहचार प्रतीत होता है और व्यभिचार भी प्रतीत होता है। इससे "धूम का व्याप्य अग्नि है" यह निश्चय नही होता। सहचार साथ रहने को कहते है। व्यभिचार अलग रहने को कहते है। यद्यपि जल के धूम मे अग्नि का व्यभिचार है और अग्निशात होने पर महानस मे धूम रहता है उसमे अग्नि का व्यभिचार है तथापि जिसके मूल का उच्छेद नही हुआ है, ऐसी ऊची धूमरेखा मे अग्नि का व्यभिचार नही है। इससे विलक्षण धूम रेखा मे अग्नि को व्याप्ति का प्रत्यक्ष रूप निश्चय होता है। वैसी

विलक्षण धूमरेखा का पर्वतादिको मे प्रत्यक्ष होने पर "धूम अग्नि का व्याप्य है" इस अनुभव के मस्कार का उद्भव होता है। उसके अनन्तर "अग्नि वाला पर्वत है" ऐसी अनुमिति होती है।

सर्व नैयायिको के मत मे अनुमिति का क्रम

यद्यपि न्याय मत मे अनुमान प्रसग मे अनेक पक्ष है, वे उनके ग्र थो मे स्पष्ट है किन्तु सर्व नैयायिको के मत मे अनुमिति का यह क्रम है—प्रथम तो महानसादिको मे हेतु माध्य का सहचार दर्शन होता है। उसके अनन्तर हेतु मे साध्य की व्याप्ति का निश्चय होता है। उसके अनन्तर पर्वतादिको मे हेतु का प्रत्यक्ष होता है। उसके अनन्तर सस्कार का उद्भव होकर व्याप्ति की स्मृति होती है। उसके अनन्तर साध्य की व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पक्ष मे प्रत्यक्ष होता है। उसको परामर्श कहते है। "वह्नि व्याप्य धूमवान् पर्वत." यह प्रसिद्ध अनुमान मे परामर्श का आकार है। "साध्य व्याप्य हेतु मान् पक्ष" यह परामर्श का सामान्य रूप है। उससे अनन्तर "वह्निमान् पर्वत" ऐसा अनुमिति ज्ञान होता है। इम क्रम से अनुमिति होती है। परन्तु प्राचीन मत मे अनुमिति का करण परामर्श है, और सब ज्ञान अन्यथा सिद्ध है। उसके मत मे परामर्श ही अनुमान है। यद्यपि परामर्श का व्यापारी नही मिलता तथापि उसके मत मे व्यापार हीन असाधारण कारण को करण कहते है। इससे परामर्श ही अनुमिति का करण होने स अनुमान है। और कोई नैयायिक ज्ञात हेतु को अनुमान कहते है और कोई पक्ष मे हेतु के ज्ञान को अनुमान कहते है। व्याप्ति की स्मृति और परामर्श को व्यापार कहते है। और कोई व्याप्ति के स्मृति ज्ञान को अनुमान कहते है, परामर्श को व्यापार कहते है। ऐसे नैयायिको के अनेक मत है, परन्तु सर्व के मत मे परामर्श का अगीकार है। कोई परामर्श को करण कहते है, कोई व्यापार कहते है। परामर्श विना अनुमिति नही होती। यह सब नैयायिको का मत है।

अनुमिति मे मीमासा का मत

मीमासा का यह मत है—जहा पर्वत मे धूम के प्रत्यक्ष से व्याप्ति की स्मृति होकर अग्नि की अनुमिति हो जाती है, वहा परामर्श से बिना

भी अनुमिति अनुभव सिद्ध है। इससे जहा परामर्श होकर अनुमिति होती है, वहा भी परामर्श अनुमिति का कारण नही है, किन्तु परामर्श को अन्यथा सिद्ध कहते है। कैसे ? जैसे दैवयोग से आया हुआ रासभ वा कुलाल-पत्नी घट मे अन्यथा सिद्ध है। अन्यथा सिद्ध किसको कहते है ? कारण सामग्री से बाह्य हो उसको कहते है। इस रीति से मीमासा के मत मे परामर्श कारण नही है, उसके अनुसारी भी एक परामर्श को छोड कर नैयायिको की समान अनेक पदार्थों को अनुमान कहते है। कोई व्याप्ति की स्मृति को, कोई महानसादिको मे व्याप्ति के अनुभव को और कोई पक्ष मे हेतु के ज्ञान को अनुमान कहते है।

अद्वैतमतानुसार अनुमिति की रीति

अद्वैत ग्रंथ भी जहा विरोध न हो वहा मीमासा की प्रक्रिया के अनुसार है। इससे अद्वैत मत मे भी परामर्श कारण नही है, किन्तु महानसादिको मे जो व्याप्ति का प्रत्यक्ष रूप अनुभव होता है वह अनुमिति का करण है। व्याप्ति के अनुभव के उद्बुद्ध सस्कार व्यापार हैं, और पर्वत मे जो धूम का प्रत्यक्ष है, सो सस्कार का उद्बोधक है। जहा व्याप्ति की स्मृति हो जाती है, वहा भी स्मृति की उत्पत्ति से सस्कारो का नाश तो नही होता है। इससे स्मृति और सस्कार दोनो है, वहा भी अनुमिति के व्यापार रूप कारण सस्कार है। व्याप्ति की स्मृति कारण नही है। क्यो ? अनुमिति मे व्याप्ति स्मृति को व्यापार रूप कारण मानें तो भी स्मृति के कारण सस्कार मानने और स्मृति मे अनुमिति की कारणता माननी, इससे दोनो मे कारणता कल्पना गौरव होगा, और स्मृति के कारण माने जो सस्कार उनको अनुमिति की कारणता माने तो स्मृति की कारणता का त्याग लाघव है। इस रीति से व्याप्ति का अनुभव करण है और सस्कार व्यापार है, अनुमिति फल है। यह वेदान्त परिभाषादिक अद्वैत ग्रथो की रीति है। नैयायिको के समान परामर्श अनुमिति का करण नही है।

व्याप्ति की स्मृति की व्यापारता और सस्कार की अव्यापारता

यदि सस्कार को अनुमिति का व्यापार नही मानें, स्मृति को

व्यापार माने, तो भी सिद्धान्त की हानि नही होती, यद्यपि वेदान्त परि-भाषादिक ग्र थो मे विरोध है तथापि युक्ति से अर्थ निर्णय करने से आधुनिक ग्र थ के विरोध से हानि नही, किन्तु श्र ुति स्मृति के विरोध से अथवा सिद्धान्त विरोध से हानि होती है। अनुमिति का व्यापार रूप कारण स्मृति है वा सस्कार है, इस अर्थ मे श्र ुति स्मृति उदासीन है और सिद्धान्त भी उदासीन है। इससे व्याप्ति स्मृति को व्यापारता कहने मे विरोध नही है, उलटी साधक युक्ति है। क्यो ? व्याप्ति सस्कार को अनुमिति का कारण कहे तो अनुद्बुद्ध सस्कार से अनुमिति हो तो पर्वत मे धूम के प्रत्यक्ष बिना भी सदा ही अनुमिति होनी चाहिये। इससे उदबुद्ध सस्कार अनुमिति के हेतु मानने होगे और उद्बुद्ध सस्कारो से ही स्मृति होती है। इससे जहा अनुमिति की सामग्री है, वहा नियम से स्मृति को सामग्री है। दोनो की सामग्री होने से कौन सा ज्ञान होता है। यह धर्मराज को पूछना चाहिये। परस्पर प्रति-बध्यता और प्रतिबन्धकता मानें तो गौरव दोष होगा। विनगमना विरह (एक पक्षपातनी युक्ति का अभाव) होगा। और अनुभव का विरोध होगा। क्यो ? पर्वत मे धूम दर्शन से धूम मे अग्नि की व्याप्ति के स्मरण से उत्तर काल मे अनुमिति होती है। यह बुद्धिमानो के अनुभव से सिद्ध है। अनुमिति सामग्री से व्याप्ति स्मृति का प्रतिबध अनुभव विरुद्ध है, और जहा दो ज्ञानो की सामग्री दो हो वहा एक सामग्री का दूसरी सामग्री प्रतिबधक होती है। यहा अनुमिति की सामग्री और स्मृति की सामग्री एक सस्कार है। उस एक सामग्री का प्रतिबध्य प्रतिबधक भाव नही बनता और अनुमिति से स्मृति का प्रतिबध कहे तो अनुमिति भविष्यत् है, वह उत्पन्न ही नही हुई। उसको प्रतिबधकता सभव नही और वेदान्त परिभाषा मे तथा उसकी टीका मे अनुमिति से स्मृति का प्रति-बध लिखा भी नही है। क्यो ? टीका सहित वेदान्त परिभाषा मे यह लिखा है — धूम दर्शन से सस्कार उद्बुद्ध होते है। उनसे कही स्मृति होती है, कही नही होती है। सस्कार से जहा स्मृति होती है, वहा भी सस्कारो का नाश तो होता नही। सस्कार और स्मृति दोनो है परन्तु

स्मृति शून्य स्थल मे जैसे सस्कार व्यापार है, वैसे स्मृति सद्भाव स्थल मे भी सस्कार ही व्यापार है, स्मृति नही। यह धर्मराज का ग्र थ है। उसमे बुद्धिमान् को यह आश्चर्य होता है, उद्बुद्ध सस्कार होते हुये स्मृति शून्य स्थल कैसे होता है, और स्मृति की उत्पत्ति से सस्कार का नाश होता है, स्मृति से अन्य सस्कार होते है। यह पक्ष सयुक्तिक है। उसका उपपादन ग्र थातर मे प्रसिद्ध है। इस (पिता पुत्र के) पक्ष मे स्मृति सस्कार दोनो की उक्ति सर्वथा विरुद्ध है।

स्वार्थानुमिति और अनुमान का स्वरूप

इससे व्याप्ति का अनुभव करण है। व्याप्ति की स्मृति व्यापार है। यह पक्ष निर्दोष है। इस रीति से जहा हो उसको स्वार्थानुमिति कहते है, परन्तु न्याय मत मे धूम का प्रत्यक्ष और व्याप्ति का स्मरण होने पर भी अग्नि की अनुमिति नही होती। दोनो ज्ञानों से अनन्तर परामर्श नाम तीसरा ज्ञान होता है, उससे अनुमिति होती है। "अग्नि व्याप्य जो धूम उस वाला पर्वत है" ऐसे ज्ञान को परामर्श कहते है। उसको वेदान्त मे अनुमिति का कारण नही मानते है। इस रीति से वाक्य प्रयोग बिना व्याप्ति ज्ञानादिको से जो अनुमिति होती है, उसको स्वार्थानुमिति कहते है। उसके कारण व्याप्ति ज्ञानादिको को स्वार्थानुमान कहते है।

परार्थानुमान अनुमिति और तर्क का स्वरूप

जहा दो का विवाद हो एक पुरुष कहै पर्वत मे अग्नि अनुमान प्रमाण से निर्णीत है, एक कहै नही है। वहा अग्नि निश्चयवाला पुरुष अपने प्रतिवादी की निवृत्ति के लिये वाक्य प्रयोग करता है, उसको परार्थानुमान कहते है। वह वाक्य वेदान्त मत मे तीन अवयव का होता है। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण, ये वाक्य के अवयवो के नाम है। "पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, योयो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानस" इतना महावाक्य है। इसमे तीन आवातर वाक्य

है । उनके प्रतिज्ञादिक क्रम से नाम है । साध्य विशिष्ट पक्ष के बोधक वाक्य को प्रतिज्ञा वाक्य कहते है । ऐसा "पर्वतो वह्निमान्" यह वाक्य है। "वह्नि विशिष्ट पर्वत है" ऐसा बोध इस वाक्य से होता है । वहा वह्नि (अग्नि) साध्य है, पर्वत पक्ष है । क्यो ? अनुमिति के विषय को साध्य कहते है । अनुमिति का विषय वह्नि है, इससे साध्य है। यद्यपि "पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति होती है, उसका विषय पर्वत भी है, उसको भी साध्य कहना चाहिये । तथापि वेदान मत मे "पर्वतो वह्निमान्" यह ज्ञान तो एक ही है' परन्तु पर्वत अश मे इन्द्रिय जन्य है और वह्नि अश मे धूम ज्ञान रूप अनुमान जन्य है। इससे एक ज्ञान मे चाक्षुषता और अनुमितिता दो धर्म है। चाक्षुषता अश की विषयता पर्वत मे है, और अनुमितिता अश की विषयता वह्नि मे है। इससे अनुमिति का विषय पर्वत नही है, केवल वह्नि ही है। जिस अधिकरण मे साध्य की जिज्ञासा होकर साध्य का अनुमिति रूप निश्चय हो उसको पक्ष कहते है । ऐसा पर्वत है। प्रतिज्ञा वाक्य से उत्तर लिग के बोधक वचन को हेतु वाक्य कहते है। ऐसा वाक्य "धूमात्" यह है । यद्यपि "धूमात धूमेन" इन दोनो का एक ही अर्थ है, तथापि "धूमेन" ऐसा वाक्य सप्रदाय सिद्ध नही है। यह अवयव ग्र थ मे भट्टाचार्य ने लिखा है। इससे "धूमात्" इस रीति के वाक्य को ही हेतु वाक्य कहते है। हेतु साध्य के सहचार बोधक दृष्टात प्रतिपादक वचन को उदाहरण वाक्य कहते है। वादी प्रतिवादी का विवाद जिसमे नही हो, किन्तु दोनो का निर्णीत अर्थ जिसमे हो उसको दृष्टात कहते है । ऐसा महानस है।

इस रीति से प्रतिज्ञादिक तीन के समुदाय रूप महावाक्य से विवाद की निवृत्ति होती है। यदि महावाक्य सुनकर भी आग्रह करे कि महानसादिको मे तो अग्नि का सहचारी धूम है और पर्वत मे अग्नि का व्यभिचारी धूम है। इससे पर्वत मे धूम है अग्नि नही है। ऐसा प्रतिवादी आग्रह करे, वा व्यभिचार की शका हो, तो तर्क से आग्रह और शका की निवृत्ति होती है। अनिष्ट आपादन को तर्क कहते हैं। पर्वत मे अग्नि बिना धूम हो तो अग्नि का कार्य धूम नही

होना चाहिये, यह तर्क है। इससे धूम मे अग्नि का व्यभिचार सदेह निवृत्त होता है। अग्नि धूम का कारण कार्यभाव इष्ट है, उसका अभाव अनिष्ट है। इससे कारण कार्य भाव का भग आपादन करता है, वह कारण कार्यभाव का भग अनिष्ट है। इससे अनिष्ट का आपादन तर्क है। इस तर्क से प्रतिवादी के आग्रह और शका की निवृत्ति होती है। क्यो ? अग्नि धूम का कारण कार्य भाव दोनो को इष्ट है। उसका भग दोनो को अनिष्ट है। अग्नि का व्यभिचारी धूम है यह वार्ता प्रतिवादी नही कह सकता। इस रीति से तीन अवयव का समुदायरूप जो महावाक्य उसको परार्थानुमान कहते है। उससे उत्तर जो अनुमिति हो उसको परार्थानुमिति कहते है। अनुमान प्रमाण से निर्णय करने पर भी व्यभिचार की शका हो तो तर्क से निवृत्त होनी है। इससे प्रमाण का सहकारी तर्क है।

वेदान्त मत मे तर्क सहित परार्थानुमान का स्वरूप

वेदात वाक्यो से जीव मे ब्रह्म का अभेद निर्णीत है, वह अनुमान से भी इस प्रकार से सिद्ध होता है —"जीवो ब्रह्माभिन्न चेतनत्वात्, यत्र यत्र चेतनत्व तत्र तत्र ब्रह्माभेद, यथा ब्रह्मणि।" यह तीन अवयव का समुदाय रूप महावाक्य है, इससे इसको परार्थानुमान कहते है। यहा जीव पक्ष है, ब्रह्माभेद साध्य है, चेतनत्व हेतु है, ब्रह्म दृष्टात है। यहा प्रतिवादी यदि ऐसे कहै —जीव में चेतनत्व हेतु तो है किन्तु ब्रह्माभेद रूप साध्य नही है। इस रीति से पक्ष मे चेतनत्व हेतु का ब्रह्माभेद रूप साध्य से व्यभिचार शका करे, तो तर्क से शका की निवृत्ति करनी चाहिये। यहा तर्क का स्वरूप यह है —जीव मे चेतनत्व हेतु मानकर ब्रह्माभेद रूप साध्य नही माने तो चेतन को अद्वितीयता प्रतिपादक श्रुति का विरोध होगा। अनिष्ट का आपादन तर्क अर्थात श्रुति का विरोध सर्व आस्तिको को अनिष्ट है। "व्यावहारिक प्रपचो मिथ्या, ज्ञान निवर्त्यत्वात्, यत्र यत्र ज्ञान निवर्त्यत्व तत्र तत्र मिथ्यात्वम्, यथा शुक्ति रजतादौ"। यहा व्यावहारिक प्रपंच पक्ष है, मिथ्यात्व साध्य है, ज्ञाननिवर्त्यता हेतु है, शुक्ति

रजतादिक दृष्टात है। "व्यावहारिक प्रपचो मिथ्या" यह प्रतिज्ञा वाक्य है। "ज्ञान निवर्त्यत्वात्" यह हेतु वाक्य है। "यत्र यत्र ज्ञान निवर्त्यत्व तत्र तत्र मिथ्यात्वम् यथा शुक्ति रजतादौ" यह उदाहरण वाक्य है। यहा भी प्रपच को ज्ञान निवर्त्यता मानकर मिथ्यात्व नही माने तो सत् की ज्ञान से निवृत्ति नही बन सकती। इससे ज्ञान से सकल प्रपच की निवृत्ति प्रतिपादक श्रुति स्मृति का विरोध होगा। इस तर्क से व्यभिचार शका की निवृत्ति होती है।

वेदान्त मे अनुमान का प्रयोजन

इस रीति से वेदान्त अर्थ के अनुसारी अनेक अनुमान है, परन्तु वेदान्त वाक्यो से अद्वितीय ब्रह्म का जो निश्चय सिद्ध हुआ है, उसकी सभावनामात्र का हेतु अनुमान प्रमाण है, स्वतत्र अनुमान ब्रह्म निश्चय का हेतु नही है। क्यो ? वेदान्त वाक्य बिना अन्य प्रमाण की ब्रह्म मे प्रवृत्ति नही है। यह सिद्धात है। यह सक्षेप से अनुमान प्रमाण का वर्णन है।

इति श्री अनुमान प्रमाण निरूपण अश ४ समाप्त

अथ शब्द प्रमाण निरूपण अश ५

शाब्दी प्रमा का भेद

अब शब्द प्रमाण भी भली प्रकार समझाने की कृपा कीजिये ? शाब्दी प्रमा के करण को शब्द प्रमाण कहते है। शाब्दी प्रमा दो प्रकार की है। एक व्यावहारिक, दूसरी पारमार्थिक है। व्यावहारिक शाब्दी प्रमा भी दो प्रकार की है। एक लौकिक वाक्य जन्य है, दूसरी वैदिक वाक्य जन्य है। "नीलो घट" इत्यादिक लौकिक वाक्य है। "वज्रहस्त पुरदर" इत्यादिक वैदिक वाक्य है। पदो के समुदाय को वाक्य कहते है। अर्थवाले वर्ण को वा वर्ण के समुदाय को पद कहते है। अकारादिक वर्ण भी विष्णु आदिक अर्थ वाले है। नारायण आदिक पदो मे वर्ण का समुदाय अर्थवाला है। व्याकरण की रीति से "नीलो घट." इस वाक्य मे दो पद है और न्याय की रीति से चार पद है। व्याकरण के मत मे भी अर्थ बोधकता चार समुदायो मे है, पद चार नही है।

शाब्दी प्रमा का प्रकार

शाब्दी प्रमा का प्रकार यह है —"नीलो घट" इस वाक्य को सुने तब श्रोता को सकल पदो का श्रावण साक्षात्कार होता है। पदो के साक्षात्कार से पदार्थो की स्मृति होती है। शका —पदो का अनुभव पदो की स्मृति का हेतु है और पदार्थो का अनुभव पदार्थो की स्मृति का हेतु है। पदो का साक्षात्कार पदार्थो की स्मृति का हेतु नही बन सकता। क्यो ? जिस वस्तु का पूर्व अनुभव हो उसकी ही स्मृति होती है। अन्य के अनुभव से अन्य की स्मृति नही होती। इससे पद के ज्ञान से पदार्थ की स्मृति नही बनती। समाधान — यद्यपि सस्कार द्वारा पदार्थों का अनुभव ही पदार्थो की स्मृति का हेतु है तथापि उदभूत सस्कारो से स्मृति होती है। अनुद्भूत सस्कारो से स्मृति नही होती। यदि अनुद्भूत सस्कारो से भी स्मृति हो तो अनुभूत पदार्थ की स्मृति सदा होनी चाहिये, होती है नही। इससे उदभूत सस्कारो से ही स्मृति होती है। यह सिद्ध हुआ। जहा उद्भूत सस्कारो से स्मृति होती है, वहा पदार्थों के सस्कारो के उद्भव का हेतु पद ज्ञान है। क्यो ? सबन्धी के ज्ञान से तथा सदृश पदार्थो के ज्ञान से वा चित्न से सस्कार उद्भूत होते है। उनसे स्मृति होती है। कैसे ? जैसे पुत्र को देख कर पिता की और पिता को देख कर पुत्र की स्मृति होती है। वहा सबन्धी का ज्ञान सस्कारो के उदभव का हेतु है। वैसे ही एक तपस्वी को देख कर पूर्व देखे हुये अन्य तपस्वी की स्मृति होती है। वहा सस्कार का उदबोधक सदृशदर्शन है। जहा एकान्त मे बैठ कर अनुभूत पदार्थ का चिन्तन करे, उससे अनुभूत अर्थ की स्मृति होती है। वहा सस्कार का उद्बोधक चिन्तन है।

इस रीति से सबन्धी ज्ञानादिक सस्कार के उद्बोध द्वारा स्मृति के हैतु है, और सस्कार की उत्पत्ति द्वारा समान विषयक पूर्व अनुभव स्मृति का हेतु है। इससे पदार्थों का पूर्व अनुभव तो पदार्थ विषयक सस्कार की उत्पत्ति द्वारा हेतु है, और पदार्थों के सबन्धी पद है। इससे पदार्थों के सबन्धी जो पद उनका ज्ञान सस्कार के उद्बोध द्वारा

पदार्थ की स्मृति का हेतु है। इसमे पदो के ज्ञान से पदार्थो की स्मृति सभव है। जहा एक सबन्धी के ज्ञान से अन्य सबन्धी की स्मृति हो वहा दोनो पदार्थों के सबन्ध का जिसको ज्ञान हो उसको एक के ज्ञान से दूसरे की स्मृति होती है। जिसको सबन्ध का ज्ञान नही हो, उसको एक के ज्ञान से दूसरे की स्मृति नही होती। कैसे ? जैसे पिता पुत्र का जन्य जनक भाव सबन्ध है। जिसको जन्य जनक भाव सबन्ध का ज्ञान हो, उसको एक के ज्ञान से दूसरे की स्मृति होती है। जिसको जन्य जनक भाव सबन्ध का ज्ञान नही हो, उसको एक के ज्ञान से दूसरे की स्मृति नही होती। वैसे ही पद और अर्थ का जो आपस मे सबन्ध है उसको वृत्ति कहते है। वृत्ति रूप पद अर्थ के सबन्ध का जिसको ज्ञान हो, उसको पद के ज्ञान से अर्थ की स्मृति होती है। पद और अर्थ के वृत्ति रूप सबध के ज्ञान से रहित को पद के ज्ञान से अर्थ की स्मृति नही होती। इससे वृत्ति सहित पद का ज्ञान पदार्थ की स्मृति का हेतु है।

शब्द की शक्ति वृत्ति का कथन

शब्द की वृत्ति दो प्रकार की है—एक शक्ति रूप है और दूसरी लक्षणा रूप वृत्ति है। न्याय मत मे ईश्वर की इच्छा रूप शक्ति है। मीमासा के मत मे शक्ति नाम कोई भिन्न पदार्थ है। व्याकरण के मत मे और पातजल के मत मे वाच्य वाचक भाव का मूल जो पद अर्थ का तादात्म्य सबन्ध सोई शक्ति है। "विचार सागर" ग्र थ मे व्याकरण के मत की योग्यता रूप शक्ति लिखी है, सो भूषण कार का मत बताया है। व्याकरण के मजूषा ग्र थ मे योग भाष्य की रीति से वाच्य वाचक भाव का मूल तादात्म्य सबन्ध ही शक्ति कही है। अद्वैत सिद्धान्त मे सर्वत्र अपना कार्य करने की सामर्थ्य ही शक्ति है। कैसे ? जैसे तन्तु मे पट करने की सामर्थ्य रूप शक्ति है। अग्नि मे दाह करने की जो सामर्थ्य सो शक्ति है। वैसे ही पदो मे अपने अर्थ के ज्ञान की सामर्थ्य ही शक्ति है, परन्तु इतना भेद है — अग्नि आदिक पदार्थों मे जो सामर्थ्य रूप शक्ति है, उसके ज्ञान की अपेक्षा नही है। शक्ति ज्ञात हो वा अज्ञात हो दोनो स्थानो मे अग्नि आदिको से दाहादिक कार्य होते है और पद

की शक्ति का ज्ञान हो तब तो अर्थ की स्मृति रूप कार्य होता है, शक्ति का ज्ञान नही हो, तब अर्थ की स्मृति रूप कार्य नही होता। इससे पद की सामर्थ्य रूप शक्ति ज्ञात होती है तब ही पदार्थ की स्मृति रूप कार्य होता है। शका —जहा अतीत पद की स्मृति हो, वहा पद के स्मरण रूप ज्ञान से अर्थ की स्मृति होती है, सो नही होनी चाहिये। क्यो ? सामर्थ्य रूप शक्ति वाले पद का ध्वस हो गया है, इससे अर्थ की स्मृति का हेतु जो पद उसका अभाव है। समाधान —मीमासा के मत मे सब पद नित्य है, उनकी उत्पत्ति वा नाश नही होता। इससे पद का ध्वस नही बनता। और यदि पदो को अनित्य माने तो यह समाधान है.— पदार्थ स्मृति की सामर्थ्य पद मे नही है, किन्तु पद ज्ञान मे पदार्थ की स्मृति की शक्ति है। जहा पद का ध्वस हुआ है, वहा भी पद का स्मरण रूप ज्ञान है। जहा वर्तमान पद है, वहा पद का श्रावण साक्षात्कार रूप ज्ञान है। उस ज्ञान मे पदार्थ की स्मृति की सामर्थ्य है सोई शक्ति है। इस पक्ष मे शक्ति वाला पद नही है किन्तु पद का ज्ञान है। यह पक्ष गदाधर भट्टाचार्य ने शक्ति वाद ग्रथ मे ज्ञान शक्ति वाद करके लिखा है। इस रीति से पद की सामर्थ्य वा पद के ज्ञान की सामर्थ्य को शक्ति कहते है। दूसरे पक्ष मे भी पद शक्ति वाला है। इस व्यवहार की सिद्धि के लिये पद का धर्म शक्ति अपेक्षित हो तो जिस पद का ज्ञान जिस अर्थ की स्मृति मे समर्थ हो, उस पद की उस अर्थ मे शक्ति कही जाती है।

शाब्दी प्रमा की रीति पूर्वक शक्ति मे विवाद

इस रीति से शक्ति सहित पद ज्ञान से पदार्थ की स्मृति होती है। जितने पदार्थों की स्मृति होती है उतने पदार्थों के सबन्ध का ज्ञान वा सबन्ध सहित सब पदार्थों के ज्ञान को वाक्यार्थ ज्ञान कहते है। उसी को शाब्दी प्रमा कहते है। कैसे ? जैसे 'नीलो घट'' यह वाक्य है, इसमे चार पद है, १—नील पद है २—ओकार पद है ३—घट पद है ४—विसर्ग पद है। नील रूप विशिष्ट मे नील पद को शक्ति है। ओकार पद निरर्थक है, यह वार्ता व्युत्पत्ति वादादिक ग्रथो मे स्पष्ट है अथवा ओकार पद का अभेद अर्थ है। घट पद की घटत्व विशिष्ट मे शक्ति है। विसर्ग की एकत्व सख्या मे शक्ति है। शक्ति का ज्ञान कोश व्याकरण-

दिको से होता है। नील पीतादिक पदो की वर्ण मे और वर्णवाले मे शक्ति है। यह कोश मे लिखा है और विसर्ग की एकत्व सख्या मे शक्ति है। यह वार्ता व्याकरण से जानी जाती है। घट पद को घटत्व विशिष्ट मे शक्ति है। यह व्याकरण ग्र थो मे और शक्ति वादादिक तर्क ग्र थो मे लिखा है। और न्याय सूत्र मे गौतम ने यह कहा है —जाति, आकृति और व्यक्ति मे सकल पदो की शक्ति है। अवयव के सयोग को आकृति कहते है। अनेक पदार्थों मे रहै जो नित्य एक धर्म उसको जाति कहते है। कैसे ? जैसे अनेक घटो मे नित्य और एक घटत्व है सो हो जाति है। जाति के आश्रय को व्यक्ति कहते है। इस मत मे घट पद की शक्ति कपाल सयोग सहित घटत्व विशिष्ट घट मे है।

और दीधितिकार शिरोमणि भट्टाचार्य के मत मे सर्व पदो की शक्ति व्यक्ति मात्र मे है। जाति और आकृति मे नही है। इस मत मे घट पद का वाच्य केवल घट व्यक्ति है। घटत्व और कपाल सयोग घट पद के वाच्य नही है। क्यो ? जिस पद की जिस अर्थ मे शक्ति हो, उस पद के उस अर्थ को ही वाच्य कहते है और शक्य कहते है। केवल व्यक्ति मे शक्ति है, इससे केवल व्यक्ति ही वाच्य है। शका —घट पद के उच्चारण से घटत्व की, गो पद के उच्चारण से गोत्व की, ब्राह्मण पद के उच्चारण से ब्राह्मणत्व की प्रतीति होती है, सो इस मत मे नही होनी चाहिये। क्यो ? अवाच्य अर्थ की लक्षणा बिना पद से प्रतीति नही होती है। यदि अवाच्य अर्थ की लक्षणा बिना पद से प्रतीति माने तो घट पद के अवाच्य घटत्व की जैसे घट पद से प्रतीति मानी, वैसे घट पद के अवाच्य पटादिको की भी घट पद से प्रतीति होनी चाहिये ? समाधान — वाच्य की प्रतीति पद से होती है और वाच्य वृत्ति जाति की भी प्रतीति होती है। इससे यह नियम है --जाति भिन्न अवाच्य की प्रतीति नही होती। और वाच्य वृत्ति जाति तो अवाच्य होने पर भी प्रतीत होती है। इससे घटत्वादिक तो अवाच्य भी घटादिक पदो से प्रतीत होते है। पटादिक अवाच्य प्रतीत नही होते। पुन शंका —वाच्य वृत्ति अवाच्य जाति की पद से प्रतीति मानें तो घट पद से पृथ्वीत्व जाति की प्रतीति होनी चाहिये। क्यो ? घट पद के वाच्य मे जैसे घटत्व जाति रहती है,

वैसे पृथ्वीत्व भी रहती है। इससे दोनो वाच्य वृत्ति है और अवाच्य है। घटत्व के समान पृथ्वीत्व की भी प्रतीति होनी चाहिये। गो पद का वाच्य गो उसमे गोत्व के समान पशुत्व रहता है और दोनो अवाच्य है। ब्राह्मण पद से ब्राह्मणत्व के समान मनुष्यत्व की प्रतीति होनी चाहिये ? समाधान —

वाच्यतावच्छेदक अवाच्य जाति की और वाच्य की पद से प्रतीति होती है। अन्य की प्रतीति नही होती। कैसे ? जैसे घट पद का वाच्य घट व्यक्ति की और वाच्यतावच्छेदक घटत्व की प्रतीति घट पद से होती है। पृथ्वीत्व वाच्य नही है। और वाच्यतावच्छेदक नही है। इससे घट पद से पृथ्वीत्व की प्रतीति नही होती। वाच्यता से न्यून वृत्ति और अधिक वृत्ति नही हो, किन्तु जितने देश मे वाच्यता हो, उतने देश में रहे, उसको वाच्यतावच्छेदक कहते है। घट पद की वाच्यता सकल घट व्यक्ति मे है और घटत्व भी सकल घट व्यक्ति मे रहता है। इससे घट पद की वाच्यता से न्यून वृत्ति और अधिक वृत्ति घटत्व नही है किन्तु समान देशवृत्ति होने से घट पद का वाच्यतावच्छेदक घटत्व है। घट पद की वाच्यता पट मे नही है और पृथ्वीत्व पट मे है। इससे अधिक देशवृत्ति होने से घट पद का वाच्यतावच्छेदक पृथ्वीत्व नही है। गो पद की वाच्यता सकल गो व्यक्ति मे है और गोत्व भी सकल गो व्यक्ति मे है। इससे गो पद का वाच्यतावच्छेदक गोत्व है, और अश्व मे गो पद की वाच्यता नही है, उसमे पशुत्व रहता है। इससे गो पद की वाच्यता से अधिक देश वृत्ति होने से गो पद का वाच्यतावच्छेदक पशुत्व नही है। वैसे ही ब्राह्मण पद की वाच्यता सकल ब्राह्मण व्यक्ति मे है। और ब्राह्मणत्व भी सकल ब्राह्मण व्यक्ति मे है। इससे ब्राह्मण पद का वाच्यतावच्छेदक ब्राह्मणत्व है। क्षत्रियादिको मे ब्राह्मण पद की वाच्यता नही है, वहा मनुष्यत्व रहता है। इससे अधिक देश वृत्ति होने से ब्राह्मण पद का वाच्यतावच्छेदक मनुष्यत्व नही है।

इस रीति से घटादिक पदो से घटत्वादिको की भी प्रतीति होती है और शक्ति नही होने से घटत्वादि घटादिक पदो के वाच्य नही है किन्तु वाच्यतावच्छेदक है। यह शिरोमणि भट्टाचार्य का मत है, और

घटादि पदों की जाति मात्र मे शक्ति है व्यक्ति मे नही है। यह मीमासा का मत है। शका .—जिस अर्थ मे जिस पद की शक्ति का ज्ञान हो उस अर्थ की उस पद से स्मृति होकर शाब्दी प्रमा होती है। पद की शक्ति बिना व्यक्ति की पद से स्मृति और शाब्दी प्रमा नही होनी चाहिये ? समाधान —शब्द प्रमाण से तो जाति का ही ज्ञान होता है, तथापि अर्थापत्ति प्रमाण से व्यक्ति का ज्ञान होता है। कैसे ? जैसे दिन मे अभोजी पुरुष को रात्रि भोजन बिना स्थूलता सभव नही है, वैसे ही व्यक्ति बिना केवल जाति मे कोई क्रिया सभव नही होती। इससे अर्थापत्ति प्रमाण से व्यक्ति का बोध होता है। "गामानय" इस वाक्य से गोत्व के आनयन का बोध होता है। सो गो व्यक्ति के आनयन बिना नही बनता। गो व्यक्ति का आनयन सपादक है, गोत्व का आनयन सपाद्य है, सपादक ज्ञान के हेतु सपाद्य ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। सपादक ज्ञान प्रमा है, इस स्थान मे जाति का ज्ञान प्रमाण है और व्यक्ति का ज्ञान प्रमा है। यह मीमासक भट्ट का मत है। और कोई जाति शक्तिवादी अनुमान से व्यक्ति का बोध मानते है। सो ग्र थातर मे स्पष्ट है। प्रसग कठिन होने से यहा नही लिखा है। केवल जाति मे शक्ति मानें, उसके मत मे व्यक्ति का बोध शब्द प्रमाण से नही होता किन्तु अर्थापत्ति वा अनुमान से व्यक्ति का बोध होता है, परन्तु कोई ग्र थकार जाति मे कुब्ज शक्ति मानते है। उनके मत मे व्यक्ति का बोध भी शब्द प्रमाण से ही होता है। उसका यह अभिप्राय है :—सकल पदो की शक्ति तो जाति विशिष्ट व्यक्ति मे है, परन्तु जाति मे शक्ति का ज्ञान जिसको हो, उसको पद से अर्थ की स्मृति और शब्द बोध होता है, अन्य को नही। वहा घट पद की घटत्व मे शक्ति है।

इस रीति से जाति मे शक्ति का ज्ञान पदार्थ की स्मृति का और शाब्द बोध का हेतु है। व्यक्ति मे शक्ति के ज्ञान का उपयोग नही है। क्यो ? व्यक्ति अनन्त है। इससे सकल व्यक्तियो का ज्ञान सभव नही है। इस कारण से व्यक्ति की शक्ति, स्वरूप से पदार्थ की स्मृति और शाब्द बोध का हेतु है, उसका ज्ञान हेतु नही है। इस रीति से घट

पद की घटत्व विशिष्ट मे शक्ति होने से घट पद के वाच्य तो घटत्व और घट दोनो है, इससे घट पद का वाच्य घटत्व और घट उनके शाब्द बोध का हेतु घटत्व मे शक्ति का ज्ञान है। इसको कुब्ज शक्ति-वाद कहते है। अन्य प्रकार से भी कुब्ज शक्तिवाद गदाधर भट्टाचार्य ने शक्तिवाद के अन्त मे लिखा है, वह कठिन है। इससे यहा नही लिखा। घटादिक पदो से जैसे जाति विशिष्ट व्यक्ति का बोध होता है, वैसे जाति के व्यक्ति मे समवायादिक सबन्ध है, उनका भी बोध होता है। इससे जाति, व्यक्ति और सबन्ध, इन तीनो मे घटादि पदो की शक्ति है। यह गदाधर भट्टाचार्य का मत है। सर्व मतो मे जाति विशिष्ट व्यक्ति मे घटादिक पदो की शक्ति है, यह मत बहुत ग्रथकारो ने लिखा है। इससे घट पद की घटत्व विशिष्ट मे शक्ति कही है।

वाक्यो का भेद

नील के अभेद वाला एक घट है, यह "नीलो घट" इस वाक्य का अर्थ है। वैसे "वज्रहस्त पुरदर" यह वैदिक वाक्य है। जैसे "नीला घट" इस वाक्य मे विशेषण बोधक नीलपद है और घट पद विशेष्य बोधक है। वैसे वज्रहस्त पद विशेषण बोधक है और पुरदर पद विशेष्य बोधक है। विशेषण पद के आगे विसर्ग निरर्थक है वा अभेदार्थक है। विशेष्य बोधक पद के आगे विसर्ग का एकत्व अर्थ है। "वज्रहस्त के अभेदवाला एक पुरदर है" यह वाक्य का अर्थ है। इस रीति से लौकिक वेदिक वाक्यो की समान रीति है, परन्तु वैदिक वाक्य दो प्रकार के है —एक व्यावहारिक अर्थ के बोधक है, दूसरे परमार्थ तत्त्व के बोधक है। ब्रह्म से भिन्न सबको व्यावहारिक अर्थ कहते है। ब्रह्म को परमार्थ तत्त्व कहते है। ब्रह्म बोधक वाक्य भी दो प्रकार के है —तत्पदार्थ वा त्वपदार्थ के स्वरूप के बोधक वाक्यो को अवातर वाक्य कहते है। जैसे "सत्यज्ञान-मनत ब्रह्म" यह वाक्य तत्पदार्थ का बोधक है। "य एषहृद्य तज्योति. पुरुष:" यह वाक्य त्व पदार्थ के स्वरूप का बोधक है। तत्पदार्थ

त्वपदार्थ के अभेदके बोधक "तत्त्वमसि" आदिक वाक्यों को महा-वाक्य कहते है ।

शब्द की शक्ति और लक्षणा वृत्ति का सक्षेप से कथन

जिस अर्थ मे जिस पद की वृत्ति हो उस अर्थ की उस पद से प्रतीति होती है । सो वृत्ति शक्ति और लक्षणा भेद से दो प्रकार की है। ईश्वर की इच्छा वा वाच्य वाचक भाव सबन्ध का मूल तादात्म्य सबन्ध वा पदार्थ बोध हेतु सामर्थ्य को शक्ति कहते है । जिस अर्थ मे पद की शक्ति हो उस अर्थ को पद का शक्य कहते है । शक्य सबन्ध को लक्षणा कहते है । कैसे ? जैसे 'गगा मे ग्राम' यहाँ गगापद की शक्ति प्रवाह मे है, इससे गगापद का शक्य प्रवाह है । उससे सयोग सबन्ध तीर का है । इस रीति से पद का जो अर्थ से परपरा सबन्ध सो लक्षणा है । जैसे गगापद का तीर से परपरा सबन्ध है उसी को तीर मे गगापद की लक्षणा कहते है । क्यो ? साक्षात्सबन्ध वाले से जो सबन्ध है उसी को परपरा सबन्ध कहते है । गगापद का शक्तिरूप सबन्ध प्रवाह से है, उससे सयोग तीर का है । इससे स्वशक्य सयोगरूप गगापद का तीर से परपरा सबन्ध है । उसी को लक्षणा कहते है । इससे यह सिद्ध हुआ —जिस अर्थ से जिस पद का शक्ति रूप साक्षात्सबन्ध हो, उस अर्थ को उस पद का शक्य कहते है । जिस अर्थ से जिस पद के शक्य का परपरा सबन्ध हो उस अर्थ को उस पद का लक्ष्य कहते है । कैसे ? जैसे गगापद का शक्य प्रवाह है, उसका तीररूप अर्थ से सयोग सबन्ध है, इससे गगा पद का शक्य प्रवाह है और तीर लक्ष्य है । इस रीति से पद का साक्षात्सबन्ध और परपरा सबन्धरूप वृत्ति शक्ति और लक्षणा भेद से दो प्रकार की है । जिस पद की वृत्ति जिस पुरुष को अज्ञात हो उस पद का उस पुरुष को साक्षात्कार होने पर भी पदार्थ की स्मृति और शाब्द बोध नही होता । इससे शक्ति और लक्षणा रूप वृत्ति का ज्ञान पदार्थ की स्मृति और शाब्द बोध का हेतु है ।

वाक्यार्थ ज्ञान का क्रम

शाब्द बोध का यह क्रम है —जिस पुरुष को पद की वृत्ति ज्ञात हो, उस पुरुष को वाक्य के सब पदो का साक्षात्कार होता है,

फिर जिस पद की जिस अर्थ मे वृत्ति पूर्व जानी हुई हो उस पद से उस अर्थ की स्मृति होती है। उससे अनन्तर परस्पर संबन्ध वाले सब पदार्थों का ज्ञान वा सब पदार्थों का परस्पर सबन्ध ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान होता है। कैसे ? जैसे "गामानयत्वम्" इस वाक्य मे गो आदिक पद है, उनकी अपने २ अर्थ मे वृत्ति का प्रथम ऐसा ज्ञान पुरुष को होना चाहिये—गोपद की गोत्व विशिष्ट पशु विशेष मे शक्ति है। द्वितीया विभक्ति की कर्मता मे शक्ति है। आनयन मे आपूर्व नीपद की शक्ति है। यकारोत्तर अकार की कृति और प्रेरणा मे शक्ति है। सबोधन योग्य चेतन मे त्वपद की शक्ति है। इस रीति से शक्ति ज्ञान वाले को "गामानयत्वम्" इस वाक्य का श्रोत्र से संबन्ध होते ही गो आदिक सब पदो का साक्षात्कार होकर उन पदो के शक्य अर्थ की स्मृति होती है। कैसे ? जैसे हस्तिपालक के ज्ञान से उसके सबन्धी हस्ती की स्मृति होती है, वैसे पदो के ज्ञान से उनके सबन्धी शक्य अर्थो की स्मृति होती है। "यह हस्तिपालक है" ऐसा हस्ति और महावत के सबन्ध का जिसको ज्ञान नही हो, किन्तु "मनुष्य है" ऐसा ज्ञान हो उसको हस्तिपालक को देखने पर भी हस्ति की स्मृति नही होती। वैसे ही इस पद का यह शक्य है वा लक्ष्य है। ऐसा शक्ति वा लक्षणारूप सबन्ध जिसको पूर्व ज्ञान नही हो, किन्तु अज्ञातार्थ पद का श्रावण साक्षात्कार हो, उसको पदो के श्रवण से भी अर्थों की स्मृति नही होती। इससे वृत्ति सहित पद का ज्ञान पदार्थ स्मृति का हेतु है, केवल पद का ज्ञान हेतु नही है। पदो के ज्ञान से सब पदार्थों की स्मृति होकर सब पदार्थो के परस्पर संबन्ध का ज्ञान होता है वा पदो के ज्ञान से परस्पर सबन्ध सहित जिन पदार्थों का स्मरण हुआ है, उन पदार्थो का परस्पर सबन्ध सहित ज्ञान होता है, सो पदार्थों के सबन्ध के ज्ञान को वा सबन्ध सहित पदार्थो के ज्ञान को वाक्यार्थ ज्ञान कहते है और शाब्दी प्रमा कहते है। "गामानयत्वम्" इस वाक्य मे गो पदार्थ का द्वितीयार्थ कर्मता मे आधेयता सबन्ध है। आधेयता को ही वृत्तित्व कहते है। "आपूर्व नीके" अर्थ आनयन मे कर्मता का निरूपकता सबन्ध है। यकारोत्तर अकार के कृति और

प्रेरणा दो अर्थ है। वहा कृति मे और प्रेरणा मे आनयन का अनुकूलता सबन्ध है इससे "गो वृत्ति कर्मता निरूपकता आनयनानुकूल कृत्याश्रय प्रेरणा विषयस्त्व पदार्थ" यह ज्ञान वाक्य के श्रोता को होता है। वहा वृत्ति विशिष्ट सकल पदो का ज्ञान शब्द प्रमाण है। पदो के ज्ञान से उनके अर्थ की स्मृति व्यापार है। वाक्यार्थ ज्ञान फल है।

इस रीति से लौकिक, वैदिक वाक्यो से बहुत स्थानो मे पदार्थो के सबन्ध का वा सबन्ध सहित पदार्थो का बोध ही फल होता है, तथापि त्वपदार्थ के सबन्धी तत्पदार्थ का वैसे तत्पदार्थ के सबन्धी त्वपदार्थ का महावाक्यो मे बोध माने तो "असगो ह्यय पुरुष" इत्यादिक श्रुति वचनो ने वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म को असग कहा है, उसका बोध होगा। इससे महावाक्यो का प्रतिपाद्य ब्रह्म अखड है। वाक्यो को अखड अर्थ की बोधकता मे दृष्टात सक्षेपशारीरक आदिक ग्र थो मे स्पष्ट है। विस्तार भय से यहा नही लिखा है।

लक्षणा का प्रकार

पद के शक्य से सबन्ध को लक्षणा कहते है। इससे पद का परपरा सबन्ध रूप लक्षणा है। क्यो ? पद का साक्षात्सबन्ध शक्य से होता है। उस शक्य का सबन्ध लक्ष्य से होता है। इससे शक्य द्वारा पद का सबन्ध होने से परपरा सबन्ध रूप लक्षणा वृत्ति है। इसी कारण से ग्र थकारो ने लक्षणा वृत्ति को जघन्य कहा है। जहा पद का साक्षात्सबन्ध रूप शक्ति वृत्ति संभव नही होती, वहा ही परपरा सबन्धरूप लक्षणा वृत्ति अगीकार की जाती है। इसी कारण से ग्र थकारो ने लिखा है—जहा शक्य अर्थ मे वक्ता का तात्पर्य सभव नही हो, वहां लक्षणा वृत्ति मान कर पद का लक्ष्य अर्थ मानना योग्य है। जहा शक्य अर्थ मे वक्ता का तात्पर्य सभव हो, वहा लक्ष्य अर्थ मानना योग्य नही है। केवल लक्षणा और लक्षितलक्षणा के भेद से लक्षणा दो प्रकार की है.—पद के शक्य का साक्षात्संबन्ध हो, उसको केवल लक्षणा कहते है। कैसे ? जैसे गगा पद की तीर मे लक्षणा होती है, वहा गगा पद का शक्य

प्रवाह है, उसका तीर से साक्षात् सयोग संबन्ध है। वहा गगा पद की तीर मे केवल लक्षणा है। और पद के शक्य का परपरा सबन्ध हो, उसको लक्षितलक्षणा कहते है। लक्षितलक्षणा का उदाहरण यह है —"द्विरेफोरौति" इस वाक्य का "दो रेफ ध्वनि करते है" यह अर्थ पदो की शक्ति से प्रतीत होता है। सो वर्ण रूप रेफ मे ध्वनि करना सभव नही होता। इससे शक्य अर्थ मे वक्ता का तात्पर्य नही है, किन्तु दो रेफ वाला जो भ्रमर पद उसके शक्य मे ही द्विरेफ पद की लक्षणा है। सो केवल लक्षणा नही है। क्यो ? जिस अर्थ में पद के शक्य का साक्षात्सबन्ध हो उसमे केवल लक्षणा होती है। द्विरेफ पद का शक्य दो रेफ है, उनका अवयविता सबन्ध भ्रमर पद मे है। उस पद का शक्ति रूप सबन्ध अपने वाच्य मधुप मे है। इससे शक्य सबन्धी जो भ्रमर पद, उसका सबन्ध होने से शक्य का परपरा सबन्ध है। इससे लक्षित लक्षणा है। यद्यपि दो रेफो को द्विरेफ नही कहते है, किन्तु दो रेफ वाले को द्विरेफ कहते है। दो रेफ वाला भ्रमर पद है। इससे द्विरेफ पद का शक्य जो भ्रमर पद उसका मधुप से साक्षात्सबन्ध होने से केवल लक्षणा सभव है। तथापि व्याकरण के मत मे सो समास की शक्ति है। इससे द्विरेफ पद का शक्य दो रेफ वाला भ्रमर पद है। न्याय वैशेषिकादिको के मत मे समाम समुदाय की शक्ति नही मानते है किन्तु समास समुदाय के जो अवयव है, उनकी लक्षणा वृत्ति से अधिक अर्थ समास मे प्रतीत होता है। कैसे ? जैसे "द्विरेफ" इतना समास समुदाय है। उसकी किसी अर्थ मे शक्ति नही है। वहा द्वित्व सख्या विशिष्ट द्विपद का अर्थ है, रेफत्व जाति विशिष्ट अक्षर रेफ पद का अर्थ है, द्विपद मे शक्य का और रेफ पद के शक्य का अभेद सबन्ध वाक्यार्थ हो तो द्वित्व सख्या वाले रेफ है यही अर्थ शक्य है। और दो रेफ वाले पद को द्विरेफ कहते हैं। सो लक्षणा वृत्ति मानकर कहते है। परन्तु इतना भेद है :- न्याय वैशेषिक मत मे वाक्य की लक्षणा नही मानते है।

क्यो ? शक्य सबन्ध को लक्षणा कहते है। पद समुदाय रूप वाक्य की किसी अर्थ मे शक्ति नही है। इससे वाक्य के शक्य का अभाव होने से शक्य सबन्ध रूप लक्षणा वाक्य की नही बनती किन्तु पद की

लक्षणा होती है। इस मत मे रेफ पद की रेफ वाले मे लक्षणा और मीमासा मत मे तथा वेदान्त मत मे वाक्य की भी लक्षणा मानते है और वाक्य की लक्षणा मे जो दोष कहा है, उसका यह समाधान है.— पद समुदाय को वाक्य कहते है। सो समुदाय प्रत्येक पद से भिन्न नही है। इससे पदो का शक्य ही वाक्य का शक्य है, वा शक्य सबन्ध रूप लक्षणा नही है किन्तु बोध्य सबन्ध को लक्षणा कहते है। कैसे ? जैसे पद का शक्य शक्ति वृत्ति से बोध्य है, वैसे परस्पर सबन्ध सहित पदार्थ रूप वा पदार्थों का सबन्ध वाक्यार्थ भी वाक्य बोध्य है। इससे पद बोध्य सबन्ध रूप लक्षणा जैसे पद की होती है, वैसे वाक्य बोध्य सबन्ध रूप लक्षणा वाक्य की भी होती है। इस मत मे द्विरेफ समुदाय की दो रेफ वाले पद मे लक्षणा है। इस रीति से द्विरेफ पद से लक्षित भ्रमर पद की मधुप मे लक्षणा होने से लक्षित लक्षणा कहलाती है। सो भी लक्षणा के अतर्भूत ही है। क्यो ? द्विरेफ पद का शक्य जो दो रेफ उसका भ्रमर पद से साक्षात्सबन्ध है, और भ्रमर से भ्रमर पद द्वारा परपरा सबन्ध है। इसलिये शक्य सबन्ध रूप लक्षणा से लक्षितलक्षणा पृथक् नही है।

व्याकरण मत मे द्विरेफ पद का शक्य दो रेफवाला भ्रमर पद है, उसका भ्रमर से साक्षात्सबन्ध है। इससे यह उदाहरण लक्षितलक्षणा का नही है, केवल लक्षणा का है। उस मत मे लक्षितलक्षणा के उदाहरण "सिहो देवदत्त." इत्यादिक है। इस स्थान मे "सिह से अभिन्न देवदत्त है" यह वाक्य का अर्थ पदो की शक्ति वृत्ति से प्रतीत होता है, सो सभव नही है। क्यो ? पशुत्व जाति और मनुष्यत्व जाति परस्पर विरुद्ध हैं, एक मे सभव नही है। इसलिये सिह शब्द की शूरता क्रूरता धर्म वाले पुरुष मे लक्षणा है। उस पुरुष से सिह शब्द के शक्य का साक्षात्सबन्ध नही होने से केवल लक्षणा तो है नही किन्तु शूरतादिकों से सिह शब्द के शक्य का आधेयता सबन्ध है और शक्य सबन्धी शूरतादिको का पुरुष मे आश्रयता सबन्ध है, परन्तु सिंह की शूरता और पुरुष की शूरता का अभेद माने तब तो सिह की शूरता का देवदत्त मे अधिकरणता सबन्ध है और दोनो शूरता का परस्पर

भेद माने तो सिंह की शूरता का पुरुष मे स्वसजातीय शूरताधि-करणता सबन्ध है। सिंह की शूरता स्वशब्द का अर्थ है। इस रीति से शक्य का परपरा सबन्ध होने से सिंह शब्द की शूरतादि गुण विशिष्ट मे लक्षित लक्षणा है। शक्य के परपरा सबन्ध को लक्षितलक्षणा कहते है। यद्यपि लक्षितलक्षणा शब्द से उक्त अर्थ की सिद्धि क्लिष्ट है। क्यो ? लक्षितलक्षणा शब्द की रूढि तो शक्य के परपरा सबन्ध से कोशादिको मे कही नही है और योग वृत्ति लक्षितलक्षणा शब्द का उक्त अर्थ प्रतीत होता नही है। क्यो ? "लक्षितस्य लक्षणा लक्षित लक्षणा" इस रीति से षष्ठी समास करें तो लक्षित अर्थात् लक्षणा वृत्ति से जो प्रतीत हुआ है उसकी लक्षणा, यह लक्षित लक्षणा शब्द का अर्थ सिद्ध होता है। "द्विरेफो रौति, सिंहो देवदत्त" इत्यादिक जो लक्षित लक्षणा के उदाहरण कहे है, वहा उक्त स्वरूप लक्षितलक्षणा सभव नही है। क्यो ? "द्विरेफो रौति" इस वाक्य मे द्विरेफ पद से भ्रमर पद लक्षित हो और उसकी मधुप मे लक्षणा हो तो उक्त अर्थ का सभव हो, सो दोनो वार्ता है नही। क्यो ? द्विरेफ पद का भ्रमर पद लक्षित नही है और भ्रमर पद की लक्षणा नही है। यद्यपि द्विरेफ पद के शक्य का सबन्ध भ्रमर पद से है, तथापि द्विरेफ पद से लक्षित भ्रमर पद नही है। क्यो ? वक्ता के तात्पर्य का विषय शक्य सबन्धी लक्षित होता है, केवल शक्य सबन्धी लक्षित नही होता है। यदि केवल शक्य सबन्धी लक्षित हो तो गगा पद के शक्य के सबन्धी मीनादिक अनेक है, वे सब ही गगा पद से लक्षित होने चाहिये।

इससे वक्ता के तात्पर्य का विषय शक्य सबन्धी लक्षित होता है। गगापद के शक्य सबन्धी तो अनेक है तथापि "गगाया ग्राम." इस वाक्य मे श्रोता को गगापद से तीर का बोध हो ऐसे तात्पर्य का विषय शक्य सबन्धी केवल तीर है। इससे गगा पद से तीर ही लक्षित है। मीनादिक भी शक्य सबन्धी तो है परन्तु उक्त तात्पर्य के विषय नही है। इसलिये गगापद से लक्षित नही है। इस रीति से द्विरेफ पद

के शक्य का सबन्धी तो भ्रमर पद है, परन्तु द्विरेफ पद से भ्रमर पद का बोध श्रोता को हो, ऐसा वक्ता का तात्पर्य नही है किन्तु द्विरेफ पद से भ्रमर पद के शक्य मधुप का बोध श्रोता को हो ऐसा वक्ता का तात्पर्य होता है। इससे द्विरेफ पद के शक्य का सबन्धी भी भ्रमर पद है किन्तु वक्ता के उक्त तात्पर्य का विषय नही होने से द्विरेफ पद से लक्षित भ्रमर पद नही है। और किसी रीति से द्विरेफ पद से लक्षित भ्रमर पद है, इस वार्ता को मानले तो भी भ्रमर पद की मधुप मे शक्ति है, इससे उसकी लक्षणा कथन असगत है। इस रीति से "लक्षितस्य भ्रमर पदस्य लक्षणा लक्षित लक्षणा" इस षष्ठी समास का अर्थ उक्त उदाहरण मे सभव नही है। वैसे "सिहो देवदत्त" इस उदाहरण मे भी उक्त अर्थ सभव नही है। क्यो ? सिह वृत्ति शूरतादिक सिह शब्द के शक्य सबन्धी तो है, परन्तु सिह शब्द से शूरतादिको का बोध श्रोता को हो, ऐसा वक्ता का तात्पर्य नही है किन्तु सिह शब्द से सिह सदृश पुरुष का बोध श्रोता को हो, ऐसा वक्ता का तात्पर्य होता है। इसलिये शक्य सबन्धी भी शूरतादिक गुण उक्त तात्पर्य के विषय नही होने से सिह शब्द से लक्षित नही है।

और किसी रीति से सिह शब्द से लक्षित शूरतादिक है, यह मानले तो भी उनकी लक्षणा कहना विरुद्ध है। क्यो ? शक्ति और लक्षणा वर्णात्मक शब्द की होती है। शूरतादिक गुण शब्द रूप नही है। इससे उनकी शक्ति वा लक्षणा सभव नही है। इस रीति से "लक्षितस्य भ्रमरपदस्य लक्षणा लक्षित लक्षणा" और "लक्षितस्य शूरतादिक गुण समुदायस्य लक्षणा लक्षित लक्षणा" इस प्रकार का अर्थ षष्ठी समास मानने से होता है। इस अर्थ मे शक्य के परपरा सबन्ध का लक्षित लक्षणा शब्द से बोध नही होता। पूर्व उक्त दोनो उदाहरणो में शक्य का परपरा सबन्ध तो मधुप और पुरुष मे है। पूर्वोक्त रीति से लक्षित लक्षणा शब्द का योग अर्थ सभव नही है तथापि इस वक्ष्यमाण रीति से लक्षित लक्षणा शब्द का योग अर्थ षष्ठी समास मानकर शक्य का परपरा सबन्ध ही सभव है। यद्यपि

वक्ता के तात्पर्य का विषय शक्य सबन्धी लक्षित शब्द का अर्थ है तथापि भाग-त्याग-लक्षणा से वक्तृ तात्पर्य विषय इतना भाग त्याग कर यहा शक्य सबन्धी लक्षित शब्द का अर्थ है, वैसे लक्षणा शब्द का अर्थ भी शक्य सबन्ध है। उसमे शक्य भाग त्याग कर भाग-त्याग-लक्षणा से सबन्ध मात्र लक्षणा शब्द का अर्थ है। इससे लक्षित अर्थात् शक्य सबन्धी की लक्षणा अर्थात् सबन्ध लक्षित लक्षणा शब्द का अर्थ होता है। इस रीति से शक्य सबन्धी का सबन्ध लक्षित लक्षणा शब्द से योग वृत्ति से ही सिद्ध होता है, अथवा लक्षित शब्द की तो शक्य सबन्धी मे भाग-त्याग-लक्षणा है और लक्षणा शब्द का शक्य सबन्धी ही अर्थ है। उसकी सबन्ध मात्र मे लक्षणा नही है। और "लक्षितेन लक्षणा लक्षित लक्षणा" इस रीति से तृतीया समास माने इष्ट अर्थ की सिद्धि होती है। लक्षितेन अर्थात् शक्य सबन्धी द्वारा लक्षणा अर्थात् शक्य का सबन्ध यह लक्षित लक्षणा शब्द का अर्थ है। शक्य का सबन्ध कही साक्षात् होता है, कही शक्य सबन्धी द्वारा शक्य का सबन्ध होता है। "द्विरेफो रौति" इत्यादि स्थान मे द्विरेफ पद का शक्य जो दो रेफ उनका मधुप मे साक्षात् सबन्ध नही है किन्तु शक्य सबन्धी भ्रमर पद है, उसका सबन्धी मधुप है। इससे द्विरेफ पद का शक्य जो दो रेफ उनका भ्रमर पद द्वारा मधुप मे सबन्ध है।

वैसे सिह शब्द के शक्य सबन्धी जो शूरतादिक गुण उन्हो द्वारा सिह शब्द के शक्य का सबन्ध शूरतादिक गुण विशिष्ट मे है। इससे सिह शब्द के लक्षित अर्थात् शक्य सबन्धी जो शूरतादिक गुण उन्हो द्वारा लक्षणा अर्थात् सिह शब्द के शक्य का सबन्ध पुरुष मे है। षष्ठी समास माने तो लक्षित शब्द और लक्षणा शब्द मे भाग त्याग लक्षणा माननी पडती है और तृतीया समास मानें तो लक्षणा शब्द का मुख्य अर्थ रहता है। एक लक्षित शब्द मे भाग त्याग लक्षणा माननी हो और लक्षितलक्षणा शब्द मे कर्मधारय समास मानें, तो लक्षित शब्द और लक्षणा शब्द इन दोनो का मुख्य यौगिक अर्थ रहता है। भाग-त्याग-लक्षणा नही माननी पडती। अवयव की शक्ति से जो शब्द अपने अर्थ को बतावे उसको यौगिक शब्द कहते है।

कैसे ? जैसे "पाचक" शब्द है, यहा "पाच" अवयव का पाक अर्थ है, "अक" अवयव का कर्ता अर्थ है। इस रीति से अवयव शक्ति से पाक कर्ता पाचक शब्द का अर्थ होने से पाचक शब्द यौगिक है। अवयव शक्ति को योग कहते है। शास्त्र के असाधारण सकेत को परिभाषा कहते है। परिभाषा से अर्थ के बोधक शब्द को पारिभाषिक शब्द कहते है। लक्षित शब्द के लक्ष और इत दो अवयव है, उनमे लक्ष शब्द का अर्थ लक्षण है। इत शब्द का अर्थ सबन्धी है। इससे लक्षण सबन्धी अर्थ का बोधक लक्षित शब्द यौगिक है। इसलिये लक्षण वाला लक्षित शब्द का अर्थ है। वैसे शक्य सबन्ध का नाम लक्षणा है। यह शास्त्र का सकेत है। इससे लक्षणा शब्द परिभाषा से शक्य सबन्धरूप अर्थ का बोधक होने से पारिभाषिक है। "लक्षिता चासौ लक्षणा लक्षित लक्षणा" यह कर्मधारय समास है। लक्षणवाली लक्षणा यह अर्थ कर्मधारय समास से सिद्ध होता है। असाधारण धर्म को लक्षण कहते है। शक्य सबन्ध को लक्षणा कहते है।

इससे लक्षणा का असाधारण धर्म शक्य सबन्धत्व है। सोई उसका लक्षण है। यद्यपि शक्य का सबन्ध साक्षात् और परपरा भेद से दो प्रकार का है। बहुत स्थानो मे शक्य का साक्षात्सबन्ध रूप लक्षणा है। "द्विरेफोरौति, सिहो देवदत्त" इत्यादिको मे शक्य का साक्षात्सबन्ध नही है, तथापि लक्षणा का असाधारण धर्म शक्य सबन्धत्व है। सबन्ध मे साक्षातपना लक्षणा के लक्षण मे प्रविष्ट नही है। जहा शक्य का परपरा सबन्ध है, वहा भी शक्य सबन्धत्व रूप स्वलक्षवाली लक्षणा है। "गगाया ग्राम." इत्यादिक उदाहरण मे यद्यपि शक्य का साक्षात्सबन्ध रूप लक्षणा है, तथापि सबन्ध का साक्षात्पना लक्षणा के लक्षण मे प्रविष्ट नही है किन्तु साक्षात् परपरा साधारणसबन्धत्व रूप से लक्षणा के लक्षण मे सबन्ध मात्र प्रविष्ट है। इसीलिये "शक्य सबन्धो लक्षणा" ऐसा कहते है। "शक्य साक्षात्सबन्धो लक्षणा" ऐसा नही कहते है। इस रीति से लक्षिता अर्थात् शक्य सबन्धत्व रूप स्वलक्षणवाली लक्षणा लक्षितलक्षणा शब्द का अर्थ है सो परपरा सबन्ध स्थल मे

संभव है। यद्यपि लक्षितलक्षणा शब्द का उक्त अर्थ साक्षात्सबन्ध स्थल मे सभव भी है, वहा भी लक्षितलक्षणा कहना चाहिये । तथापि "लक्षिता चासौ लक्षणा लक्षित लक्षणा" इस कथन का यह अभिप्राय है :—शक्य साक्षात्त्त्व विशिष्ट सबन्धत्व रहिता केवल शक्य सबन्धत्व-रूप लक्षणावती लक्षणा लक्षितलक्षणा, इससे केवल लक्षणा का सग्रह नही होता। इस रीति से कर्मधारय समास है।

शब्द की तृतीय गौणी वृत्ति का कथन

और कितने ही ग्र थो मे लिखा है :—"सिहो देवदत्त" इत्यादि वाक्यो मे सिहादि शब्द गौणी वृत्ति से पुरुषादिको के बोधक है, जैसे शक्ति और लक्षणा पद की वृत्ति है, वैसे तीसरी गौणी वृत्ति है। पद के शक्य अर्थ मे जो गुण हो, उस वाले अशक्य अर्थ मे पद की गौणी वृत्ति कही जाती है। कैसे ? जैसे सिह पद के शक्य मे शूरतादिक गुण है, उन वाला जो सिह पद का अशक्य पुरुष, उसमे सिह शब्द की गौणी वृत्ति है। सो पूर्व प्रकार से लक्षणा के अतर्भू त ही है।

चतुर्थी व्यजना वृत्ति का कथन

और चौथी व्यजना वृत्ति अलकार ग्र थो मे लिखी है, उसका उदाहरण यह है —शत्रु-गृह मे भोजन निमित्त प्रवृत्त पुरुष को दूसरा प्रिय पुरुष कहता है "विष भुक्ष्व" वहा 'विष का भोजन कर' यह शक्ति वृत्ति से वाक्य का अर्थ है, और भोजन के अभाव मे वक्ता का तात्पर्य है। सो भोजन मे शक्ति वाले पद की भोजन के अभाव मे शक्य के सबन्ध के अभाव से लक्षणा भी नही बनती। इससे शत्रुगृह से भोजन निवृत्ति वाक्य का व्यग्य अर्थ है। व्यजना वृत्ति से जो अर्थ प्रतीत हो उसे व्यग्य अर्थ कहते है। अन्य उदाहरण —सध्या काल मे अनेक पुरुषो को नाना कार्य मे प्रवृत्ति निमित्त किसी ने "सूर्योऽस्तगत" यह वाक्य उच्चारण किया, उसको सुनकर नाना पुरुष उस काल मे अपने २ कर्त्तव्य को जानकर प्रवृत्त होते है। वहा अनेक पुरुषो को नाना कर्त्तव्य का बोध व्यजना वृत्ति से होता है। इस रीति से

व्यजना वृत्ति के अनेक उदाहरण काव्य प्रकाश, काव्य प्रदीप आदिक ग्र थो मे मम्मट भट्ट, गोविन्द भट्ट आदिको ने लिखे है, वे बहुत उदाहरण शृ गार रस के है इससे यहा नही लिखे है। न्याय ग्र थो मे व्यजना वृत्ति का भी लक्षणा वृत्ति मे अतर्भाव कहा है और जो अलकारिक कहते है —शक्य सबन्धी अर्थ का बोध तो लक्षणा वृत्ति से सभव है किन्तु शक्य अर्थ के असबन्धी अशक्य अर्थ मे लक्षणा सभव नही है। उसकी शब्द से प्रतीति के अर्थ व्यजना वृत्ति माननी चाहिये। उसका यह समाधान है —साक्षात् और परपरा भेद से सबन्ध दो प्रकार का होता है। उनमे साक्षात्सबन्ध तो परस्पर कुछ का ही होता है, सब का नही होता और परपरा सबन्ध तो सब पदो का परस्पर सभव है। बहुत क्या कहे —गोत्व अश्वत्व का भी परस्पर व्यधि (भिन्न) करणता संबन्ध है। घटाभाव और घट परस्पर विरोधी है, तो भी घटाभाव का घट मे प्रतियोगिता सबन्ध और घट का अपने अभाव स्ववृत्ति प्रतियोगिता निरूपकता सबन्ध है।

इस रीति से सब पदो का आपस मे परपरा सबन्ध सभव है। इससे व्यग्य अर्थ भी शक्य सबन्धी होने से लक्ष्य के अतर्भूत है। व्यजना वृत्ति का प्रतिपादन काव्यप्रकाश मे और उसकी टीका मे जयराम भट्टाचार्यादिको ने लिखा है, वैसे ही काव्यप्रदीप मे और उसकी टीका उद्योतन मे नागोजी भट्ट ने लिखा है। उसका खडन भी न्याय ग्र थो मे लिखा है और व्याकरण ग्र थो मे कही खडन लिखा है, कही प्रतिपादन लिखा है। अद्वैत सिद्धान्त मे खडन का वा प्रतिपादन का आग्रह नही है। इससे खडन और प्रतिपादन की रीति मात्र बताई है।

लक्षणा के भेद कथन

शक्ति और लक्षणा दो वृत्ति सर्व के मत मे है और महावाक्य के अर्थ निरूपण मे भी दो का ही उपयोग है। उनमे शक्ति का निरूपण किया तथा शक्य के साक्षात्सबन्ध और परपरा सबन्ध भेद से केवल लक्षणा और लक्षितलक्षणा रूप दो भेद लक्षणा के भी

कहे, अब जहत्-लक्षणा, अजहत्-लक्षणा, भाग-त्याग-लक्षणा, इन भेदो से फिर तीन प्रकार की लक्षणा कहते है। जहा शक्य की प्रतीति नही हो, केवल शक्य सबन्धी की प्रतीति हो, वहा जहल्लक्षणा होती है। कैसे ? जैसे "विष भुङ्क्ष्व" इस स्थान मे शक्य जो विष भोजन उसको त्यागकर शक्य सबन्धी भोजन निवृत्ति की प्रतीति होने से जहल्लक्षणा है। यद्यपि जहा शक्य अर्थो का सबन्ध नही सभव हो, वहा जहल्लक्षणा का अगीकार होता है। कैसे ? जैसे "गगाया ग्राम" इस स्थान मे पदो के शक्य अर्थो का परस्पर सबन्ध सभव नही है। मरण का हेतु भी विष है तो भी भोजन मे विष का अन्वय सभव है, तथापि अन्वयानुपपत्ति (अन्वय का सबन्ध नही होना) लक्षणा मे बीज (हेतु) नही है। किन्तु तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा मे बीज है। यह ग्र थो मे लिखा है। उसका यह भाव है—अन्वय अर्थात् शक्य अर्थ का सबन्ध, उसकी अनुपपत्ति अर्थात् असभव जहा हो, वहा लक्षणा होती है, यह नियम नही है, यदि यही नियम हो तो "यष्टी प्रवेशय" इस वाक्य मे यष्टि पद की यष्टिधरो मे लक्षणा नही होगी। क्यो ? यष्टि पद के शक्य का प्रवेश मे अन्वय सभव है, इससे तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा मे बीज है। अन्वयानुपपत्ति नही। तात्पर्य अर्थात् वाक्य कर्ता की इच्छा, उसकी अनुपपत्ति अर्थात् शक्य अर्थ मे असभव लक्षणा मानने का बीज अर्थात् हेतु है। "यष्टी प्रवेशय" इस वाक्य मे तात्पर्यानुपपत्ति है। क्यो ? यष्टि का प्रवेश जो शक्य अर्थ उसमे वक्ता का तात्पर्य भोजन के समय सभव नही है। इससे यष्टि पद की यष्टिधर पुरुषो मे लक्षणा है, वैसे ही मरण हेतु विष भोजन मे पिता का तात्पर्य सभव नही है। इससे भोजन निवृत्ति मे जहल्लक्षणा है। "गगाया ग्राम" इस स्थान मे तात्पर्यानुपपत्ति भी सभव है। इसलिये जहा तात्पर्यानुपपत्ति हो, वहा लक्षणा मानते है, यह नियम है। "गगाया ग्राम" इस स्थान मे भी गगापद का शक्य जो देव नदी का प्रवाह, उसको त्यागकर शक्य सबन्धी तीर की प्रतीति होती है। इससे जहल्लक्षणा है। जहा सामान्य तीर बोध मे वक्ता का तात्पर्य नही है किन्तु गगातीर के बोध मे वक्ता का तात्पर्य है, वहा गगापद

की गगातीर मे अजहल्लक्षरणा है और अजहल्लक्षरणा के असाधारण उदाहरण तो "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" इत्यादिक है। शक्य सहित शक्य सबन्धी की जहा प्रतीति हो, वहा अजहल्लक्षरणा होती है। भोजन के लिये दधि रक्षा मे वक्ता का तात्पर्य है। सो बिडालादिको से दधि रक्षरण बिना सभव नही है। इससे काकपद की दधि उपघातक मे अजहल्लक्षरणा है।

इस रीति से "छत्रिरणो याति" इस स्थान मे छत्रि पद की छत्रि सयुक्त एक सार्थ मे अजहल्लक्षरणा है। न्याय मत मे नीलादिक पदो की गुरण मात्र मे शक्ति है। "नीलोघट" इत्यादिक वाक्यो मे नील-रूप वाले के बोधक नीलादिक पद लक्षरणा से है। वहा शक्य सहित शक्य सबन्धी की प्रतीति होती है। इससे अजहल्लक्षरणा है। कोश-कारो के मत मे नीलादिक पद लक्षरणा से है, वहा शक्य सहित सबन्धी की प्रतीति होती है। इससे अजहल्लक्षरणा है। और किसी कोशकार के मत मे नीलादिक पदो की गुरण और गुरणी मे शक्ति है, लक्षरणा नही है। वेदात परिभाषा ग्र थ मे नीलादिक पदो की गुरणी मे अजहत् लक्षरणा कही है सो न्याय का मत है। शक्य अर्थ के एक देश को त्याग कर एक देश के बोध मे वक्ता का तात्पर्य हो, वहा भाग-त्याग-लक्षरणा होती है। कैसे ? जैसे "सोय देवदत्त." इस स्थान मे भाग-त्याग-लक्षरणा है। यहा परोक्ष वस्तु तत्पद का अर्थ है और अपरोक्ष वस्तु इद पद का अर्थ है। दकारादि वर्ण विशिष्ट नाम वाला पुरुष शरीर देवदत्त पद का अर्थ है। तत्पदार्थ का इद पदार्थ से अभेद तत्पदोत्तर विभक्ति का अर्थ है। इद पदार्थ का देवदत्त पदार्थ से अभेद इदपदोत्तर विभक्ति का अर्थ है, वा तत्पद और इद पद से उत्तर विभक्ति निरर्थक है। समान विभक्ति वाले पदो के सन्निधान से पदार्थो का अभेद प्रतीत होता है। इससे परोक्ष वस्तु से अभिन्न अपरोक्ष वस्तु स्वरूप देवदत्त नाम वाला शरीर है। यह वाक्य के पदों का शक्य अर्थ है, सो उष्ण शीतल है, इसके समान बाधित है। बाधित अर्थ मे वक्ता का तात्पर्य सभव नही है। इससे तत्पद इद पद के शक्य मे परोक्षता, अपरोक्षता भाग को त्याग कर

वस्तु भाग मे लक्षरणा होने से भाग-त्याग-लक्षरणा है। इस रीति से तीन भाति की लक्षरणा है। प्रयोजनवती और निरूढ लक्षरणा भेद से दो प्रकार की है.—जहा शक्ति वाले पद को त्यागकर लाक्षरिणक शब्द प्रयोग मे प्रयोजन अर्थात् फल हो उसको प्रयोजनवती लक्षरणा कहते है। कैसे ? जैसे गगापद की तीर मे प्रयोजनवती लक्षरणा है। "तीरे ग्राम." ऐसा कहे तो तीर मे शीत, पावनतादिको की प्रतीति नही होती। गगापद से तीर का बोधन करे तब गगा के धर्म शीत पावनतादिक तीर मे प्रतीत होते है। इसीलिये आलकारिक लक्षरणा पक्ष मे व्यजना वृत्ति को मानते है। न्यायमत मे शीत, पावनतादिक शाब्द बोध के विषय नही है किन्तु अनुमिति के विषय है। तथाहि - "गगा तीर शीत पावनत्वादिमत्, गगापद बोध्यत्वात् गगावत्" यह अनुमान है। अत सर्वथा प्रयोजनवती लक्षरणा है।

पद की जिस अर्थ मे शक्ति वृत्ति नही हो और शक्य के समान जिस अर्थ की प्रतीति जिस पद से सबको प्रसिद्ध रूप से होती हो, उस अर्थ मे उस पद की प्रयोजन शून्य लक्षरणा को निरूढलक्षरणा कहते है। कैसे ? जैसे नीलादिक पदो की कोश की रीति से गुरण गुरणी मे शक्ति मानें तो गौरव दोष होता है और शक्यतावच्छेदक एक धर्म का लाभ नही होता। इससे गुरण मात्र मे शक्ति है। और "नीलोघट" इत्यादिक वाक्यो को सुनते ही सर्व पुरुषो को गुरणी की प्रतीति होती है, यह अति प्रसिद्ध है। इसलिये नीलादिक पदो की गुरणी मे प्रयोजन शून्य लक्षरणा होने से निरूढलक्षरणा है। निरूढलक्षरणा शक्ति के सदृश होती है। कोई विलक्षरण अनादि तात्पर्य हो, वहा निरूढलक्षरणा होती है।

जहा प्रयोजन और अनादि तात्पर्य दोनो नही हो किन्तु ग्र थकार अपनी इच्छा से लाक्षरिणक शब्द का प्रयोग, बिना प्रयोजन ही करता है, वहा तीसरी ऐच्छिकलक्षरणा होती है, परन्तु अनादि तात्पर्य और प्रयोजन बिना लाक्षरिणक शब्द के प्रयोग को विद्वान् समीचीन नही

कहते है। इसी कारण से काव्य प्रकाशादिक साहित्य ग्र थो मे निरूढ-लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा के भेद उदाहरण सहित लिखे है, ऐच्छिक-लक्षणा नही लिखो । गदाधर भट्टाचार्यादिको ने ऐच्छिक लक्षणा लिखी है। उनका तात्पर्य ऐच्छिक-लक्षणा की सभावना मे है और "ऐच्छिक-लक्षणा वाले पद का प्रयोग साधु है" इस अर्थ मे तात्पर्य नही है। लक्षणा के अवातर भेद मम्मट्ट आदिको ने और बहुत लिखे है, तथापि वेदात ग्र थो मे कही नही लिखे। इससे जिज्ञासु को उनके लिखने का उपयोग नही है।

शाब्द बोध की हेतुता का विचार

जैसे शक्यतावच्छेदक मे शक्ति है, वैसे लक्ष्यतावच्छेदक तीरत्वादिको मे गगादिक पदो की लक्षणा नही है, किन्तु व्यक्ति मात्र मे लक्षणा वृत्ति होती है और पद की वृत्ति बिना लक्ष्यतावच्छेदक की स्मृति और शाब्द बोध होता है। यह वार्ता शब्दार्थ निर्णय के ग्र थो मे प्रतिपादन करी है। और मीमांसा के मत मे लाक्षणिक शब्द से लक्ष्य अर्थ की स्मृति तो होती है किन्तु लक्ष्य अर्थ के शाब्द बोध का हेतु लाक्षणिक पद नही है। लाक्षणिक पद के समीप जो पदोत्तर सो अपने शक्य अर्थ के शाब्द बोध का और लक्ष्य अर्थ के शाब्द बोध का हेतु होता है। कैसे ? जैसे "गगाया ग्राम" इस वाक्य मे गगापद तीर मे लाक्षणिक है, सो तीर की स्मृति का हेतु है और तीर में शाब्द बोध का हेतु नही है। तीर मे शाब्द बोध का हेतु और अपने शक्य मे शाब्द बोध का हेतु "ग्राम" पद है। इस मत की साधक यह युक्ति है —लाक्षणिक शब्द को शाब्द बोध की जनकता माने तो सकल शाब्द बोध की जनकता का अवच्छेदक धर्म का लाभ नही होगा। क्यो ? मीमासा के मत्त मे तो शाब्द बोध की जनकता लाक्षणिक पद मे नही है, शक्त पद मे है। इससे शाब्द बोध की जनकता का अवच्छेदक शक्ति है। और लाक्षणिक पद को भी शाब्द बोध की जनकता मानें तो उस जनकता से शक्ति न्यून वृत्ति होने से उसका अवच्छेदक नही होगा। जो न्यून देश वृत्ति और अधिक देश

वृत्ति नही होता किन्तु जिसके समान देश वृत्ति जो होता है उसका अवच्छेदक वह होता है। शाब्द बोध की जनकता सकल शक्त पद मे रहती है। उसके समान देश मे शक्ति रहती है। इससे शाब्द बोध की जनकता का अवच्छेदक शक्ति सभव है। लाक्षणिक पद मे भी शाब्द बोध की जनकता मानें तो लाक्षणिक पद मे शक्ति है नही, शाब्द बोध की जनकता है। इससे न्यून देशवृत्ति होने से शाब्द बोध की जनकता का अवच्छेदक शक्ति तो सभव नही है और शक्त लाक्षिणक सब पदो मे रहने वाला एक धर्म नही है। इससे शाब्द बोध की जनकता निरवच्छेदक होगी। सो निरवच्छेदक जनकता अलीक है। दड कुलालादिकों मे घटादिकों की जनकता के अवच्छेदक दडत्व कुलालत्वादिक है, इससे निरवच्छेदक जनकता अप्रसिद्ध है। इस रीति से लाक्षणिक पद को शाब्द बोध की जनकता नही है। यह मीमांसा का मत है। सो अद्वैतवाद का अति विरोधी है।

क्यों ? महावाक्यो मे सकल पद लाक्षणिक है। उनसे शाब्द बोध की अनुपपत्ति होगी। इससे इस मत का खडन अवश्य कर्त्तव्य है। इसमे यह दोष है —"गगाया ग्राम" इस वाक्य मे ग्राम पद से तीर मे शाब्द बोध मानें तो ग्रामपद की तीर मे भी शक्ति होनी चाहिये। क्यो ? जो पद लक्षणा बिना जिस अर्थ मे शाब्द बोध का जनक हो उस पद की उस अर्थ मे शक्ति होती है, यह नियम है। मीमासक मत मे ग्रामपद लक्षणा बिना तीर मे शाब्द बोध का जनक होने से तीर मे शक्त होना चाहिये। क्यो ? यह नियम है —जिसपद मे जिस अर्थ की वृत्ति हो उस पद से उस अर्थ की स्मृति होती है और उस अर्थ मे ही उस पद से शाब्द बोध होता है। मीमासक मत मे इस नियम का भंग होगा। क्यों ? मीमासक मत मे लक्षणा वृत्ति तो तीर मे गगापद की है और तीर की स्मृति भी गंगापद से है किन्तु तीर मे शाब्द बोध गगापद से नही होता, शाब्द बोध तीर का ग्राम पद से होता है। उस ग्राम पद की तीर मे शक्ति वा लक्षणा वृत्ति नही और ग्रामपद से तीर की स्मृति भी नही।

इससे यह मत बुद्धिमानो के लिये हसने योग्य है। और ग्रामपद से तीर का शाब्द बोध मानें तो ग्राम मे शाब्द बोध नही होगा। क्यो ? जहा हरि आदिक एक पद की अनेक अर्थो मे शक्ति है, वहा भी एक काल मे एक पुरुष को हरिपद से एक ही अर्थ का बोध होता है। यदि अनेक पदार्थो का एक पद से बोध हो तो हरि इस कथन से वानर के ऊपर सूर्य है । इस रीति से शाब्द बोध होना चाहिये । जैसे एक ग्रामपद से परस्पर सबन्धी ग्राम, तीर का शाब्द बोध होता है, वैसे एक हरिपद से परस्पर सबन्धी वानर, सूर्य का शाब्द बोध होना चाहिये। और यदि ऐसे कहै :—एक पद से दो शक्य का शाब्द बोध नही होता, तब उस एक पद से अपने शक्य के साथ अपने अशक्य, अलक्ष्य के सबन्ध का शाब्द बोध तो अत्यन्त दूर है। इससे "लाक्षणिक नानुभावक" (लाक्षणिक पद शाब्द बोध का जनक नही होता) यह मीमासा का वचन असगत है। और जो लाक्षणिक शब्द को शाब्दानुभव की जनकता मे दोष कहा :—शाब्द बोध की जनकता का अवच्छेदक नही मिलेगा । उसका यह समाधान है :—शब्द मे शक्ति और लक्षणा के भेद से दो प्रकार की वृत्ति है। कही अर्थ की शक्ति वृत्ति है, कही अर्थ की लक्षणा वृत्ति है। शाब्द बोध की जनकता शब्द मात्र मे और वृत्ति भी शब्द मात्र मे है। इससे उस जनकता के समान देश में रहने से उसका अवच्छेदक वृत्ति है, वा शाब्द बोध की जनकता का अवच्छेदक योग्य शब्दत्व है। इस रीति से लाक्षणिक पद से भी बोध होता है।

महावाक्यो मे लक्षणा का उपयोग और उसमे शका समाधान

महावाक्यो मे जहत्-लक्षणा और अजहत्-लक्षणा नही है, किन्तु भाग-त्याग-लक्षणा है। वह भाग-त्याग-लक्षणा महावाक्यो मे लक्षित-लक्षणा नही है, किन्तु केवल लक्षणा है। क्यो ? लक्ष्य चेतन से वाच्य का साक्षात्सबन्ध है, परपरा नही। जहा भाग-त्याग-लक्षणा होती है, वहा वाच्य का एक देश लक्ष्य होता है। उस वाच्य के एक देश लक्ष्य से वाच्य का साक्षात्सबन्ध होता है। इससे केवल लक्षणा होती है।

और महावाक्य से जिज्ञासु को अखड ब्रह्म का बोध हो, ऐसा ईश्वर का अनादि तात्पर्य है। इससे निरूढलक्षणा है, प्रयोजनवती नही। यहा ऐसी शका होती है —वाक्य के वाच्य अर्थ का लक्ष्य चेतन से सबन्ध मानें तो लक्ष्य अर्थ मे असगता की हानि होगी और सबन्ध नही मानें तो लक्षणा नही बनती। क्यो? शक्य सबन्ध वा बोध्य सबन्ध को लक्षणा कहते है, सो असग मे सभव नही है ?

उसका यह समाधान है —वाच्य अर्थ मे चेतन और जड दो भाग है, उसके चेतन भाग का लक्ष्य अर्थ मे तादात्म्य सबन्ध है। सकल पदार्थो का स्वरूप मे तादात्म्य सबन्ध होता है। वाच्य भाग चेतन का स्वरूप ही लक्ष्य चेतन है। इससे वाच्य मे चेतन भाग के लक्ष्य चेतन मे तादात्म्य सबन्ध है। और वाच्य मे जड भाग का लक्ष्य चेतन से अधिष्ठान सबन्ध है। कल्पित के सबन्ध से अधिष्ठान का स्वभाव बिगडता नही है और अपने तादात्म्य सबन्ध से भी स्वभाव की हानि नही होती है। इससे लक्ष्य अर्थ की असगता बिगडती नही है।

अन्य शका —तत्पद की अखड चेतन मे लक्षणा मानें और त्वपद की भी अखड चेतन मे लक्षणा मानें तो पुनरुक्ति दोष होने से "घटो घट." इस वाक्य के समान अप्रमाण वाक्य होगा। दोनो पदो का लक्ष्य अर्थ भिन्न मानें तो अभेद बोधकता नही होगी। इसका यह समाधान है .—माया-विशिष्ट और अन्त करण विशिष्ट तो तत्पद और त्वपद का शक्य है, उपहित लक्ष्य है। यदि ब्रह्म चेतन दोनो पदो का लक्ष्य हो तो पुनरुक्ति दोष हो, सो ब्रह्म चेतन लक्ष्य नही है किन्तु माया उपहित और अन्त करण उपहित लक्ष्य है, सो उपाधि के भेद से भिन्न है, इससे पुनरुक्ति नही और उपहित दोनो परमार्थ से अभिन्न है। इससे अभेद बोधकता वाक्यो को सभव है। इस रीति से तत्पदार्थ और त्वपदार्थ का उद्देश विधेय (विधान) भाव मानकर अभेद बोधकता निर्दोष है। तत्पदार्थ मे परोक्षता भ्रम निवृत्ति के अर्थं तत्पदार्थ को उद्देश करके त्वपदार्थता विधेय है। त्वपदार्थ मे परिछिन्नता

भ्रम निवृत्ति के अर्थ त्वपदार्थ को उद्देश करके तत्पदार्थ विधेय है। और पुनरुक्ति के परिहार के लिये कोई ग्र थकार का यह तात्पर्य है —यदि दो पदो को भिन्न भिन्न लक्षता मानें तो पुनरुक्ति की शका हो सो भिन्न लक्षता नही है किन्तु मीमासक रीति से दोनो पद मिल-कर अखड ब्रह्म के लक्षक है।

इसीलिये प्राचीन आचार्यो ने महावाक्यो को प्रातिपदिकार्थ मात्र (विभक्ति अर्थ न होने पर भी व्यक्ति मात्र अर्थ) की बोधता कही है। यद्यपि उद्देश विधेय भाव शून्य अर्थ का बोधक वाक्य लोक मे अप्रसिद्ध है। तथापि महावाक्यो का अर्थ अलौकिक है। इससे अप्रसिद्ध दोष नही है किन्तु भूषण है। यदि अप्रसिद्ध दोष हो तो असगी अर्थ की बोधकता भी वाक्य को लोक मे अप्रसिद्ध है इससे असगी ब्रह्म की बोधकता भी महावाक्यो को नही होगी। जैसे लोक मे अप्रसिद्ध असगी ब्रह्म की बोधकता महावाक्यो मे मानते है, वैसे उद्देश्य विधेय भाव शून्य अखड अर्थ की बोधकता सभव है। इस रीति से लक्षणा के प्रसग मे बहुत विचार प्राचीन आचार्यो ने लिखा है।

लक्षणा बिना शक्ति वृत्ति से महावाक्यो को अद्वैत ब्रह्म की बोधकता

कोई आधुनिक ग्र थकार लक्षणा बिना शक्ति वृत्ति से ही महावाक्यो को अद्वितीय ब्रह्म की बोधकता मानते है। उन्होने यह प्रकार लिखा है -विशिष्ट वाचक पद के अर्थ का अन्य पद के विशिष्ट अर्थ से जहा सबन्ध नही सभव हो, वहा पद की शक्ति से ही विशेषण को त्याग कर विशेष्य की प्रतीति होती है। कैसे ? जैसे "अनित्यो घट." इस वाक्य मे घटत्व विशिष्ट व्यक्ति का वाचक घट पद है, उसका अनित्यत्व विशिष्ट अनित्य पदार्थ से अभेद सबन्ध बोधन करते है, और घटत्व जाति नित्य है। इससे घटत्व विशिष्ट का अनित्य पदार्थ से अभेद बाधित होने से उसका अनित्य पदार्थ से अभेद सबन्ध सभव नही है। वहा घटत्वरूप विशेषण को त्याग कर व्यक्ति मात्र की घट पद से स्मृति और अनित्य पदार्थ से सबन्ध बोध रूप शाब्द बोध होता है। वैसे "गेहे घट." इस वाक्य मे घटत्व रूप विशेषण को त्याग कर विशेष्य व्यक्ति मात्र की

घट पद से स्मृति और शाब्द बोध होता है। वैसे ही "घटे रूपम्" इस वाक्य मे भी घटत्व को त्याग कर व्यक्ति मात्र की प्रतीति होती है। क्यो ? "गेहे घट." इस वाक्य से गेह की आधेयता घट पदार्थ मे प्रतीत होती है और घटत्व जाति मे अपना आश्रय व्यक्ति की आधेयता प्रतीत होती है। गेह की आधेयता घटत्व मे बाधित है, इससे घटत्व को त्याग कर व्यक्ति मात्र मे गेह की आधेयता का सबन्ध बोधन करते है। वैसे गेह पदार्थ मे गेहत्व का त्याग होता है। "घटे रूपम्" इस वाक्य मे भी घटत्व को त्यागकर द्रव्य रूप व्यक्ति मात्र मे अधिकरणता और रूपत्व को त्यागकर गुण मात्र मे आधेयता प्रतीत होती है। क्यो ? घट पदार्थ की आधेयता वाला रूप पदार्थ है। यह वाक्य का अर्थ है, वहा घटत्व की आधेयता किसी मे भी नही है। इससे घटत्व को त्यागकर व्यक्ति मात्र घट पद का अर्थ है, उसकी आधेयता रूपत्व जाति मे नही है किन्तु रूप व्यक्ति की आधेयता रूपत्व मे है। इससे रूप पदार्थ मे रूपत्व का त्याग है। वैसे ही "उत्पन्नो घट नष्टो घट" इत्यादिक वाक्यो मे जातिरूप विशेषण को त्याग कर व्यक्ति मात्र घटादिक पदो का अर्थ है। क्यो ? जाति नित्य है, उसके उत्पत्ति, नाश नही होते। जैसे पूर्व वाक्यो मे विशिष्ट वाचक पदो मे शक्ति बल से ही विशेष्य मात्र का बोध होता है, वैसे महावाक्यो मे भी विशिष्ट वाचक पदो की शक्ति बल से ही माया, अन्त.-करणरूप विशेषण को त्यागकर चेतनरूप विशेष्य मात्र की प्रतीति सभव है, लक्षणा का अगीकार निष्फल है। परन्तु इतना भेद है —विशिष्ट वाचक पद के वाच्य का एक देश विशेष्य होता है और एक देश विशेषण होता है। जाति विशेषण होती है और व्यक्ति विशेष्य होता है। उनमे वाच्य के विशेष्य भाग का बोध तो शक्ति से होता है। और केवल विशेषण का बोध नही होता। यदि वाच्य के विशेषण मात्र का भी विशिष्ट वाचक शब्द की शक्ति से बोध हो तो "अनित्यो घट." इस वाक्य के समान "नित्यो घट." यह वाक्य भी घट पद से जाति मात्र का बोध करके साधु होना चाहिये। इससे विशिष्ट वाचक पद की शक्ति से विशेष्य मात्र की प्रतीति होती है।

"सोऽय देवदत्त" इस वाक्य मे भी परोक्षत्व, अपरोक्षत्व विशेषण

को त्याग कर विशेष्य मात्र की प्रतीति शक्ति वृत्ति से होती है, भाग-त्याग लक्षणा का कोई उदाहरण नही है। इससे जहत्-लक्षणा, अजहत्-लक्षणा के भेद से दो प्रकार की लक्षणा माननी चाहिये। भाग-त्याग-लक्षणा अलीक है। और वेदान्त परिभाषा मे धर्मराज ने पूर्व प्रकार से महावाक्यो मे लक्षणा का खडन करके भाग-त्याग-लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण इस रीति से कहे है - साप्रदायिक रीति से वाच्य के एक देश मे वृत्ति भाग-त्याग-लक्षणा का रूप है। इस मत मे वाच्य के एक देश मे वृत्ति शक्ति का ही स्वरूप है। वह भाग-त्याग-लक्षणा का स्वरूप नही है किन्तु शक्य और अशक्य मे जो वृत्ति उसको भाग-त्याग-लक्षणा कहते है। यद्यपि अजहल्लक्षणा भी शक्य, अशक्य मे वृत्ति है, तथापि जहा शक्य अर्थ का विशेषणता से बोध और अशक्य का विशेष्यता से बोध हो, वहा अजहल्लक्षणा होती है। कैसे ? जैसे "नीलो घट" इस वाक्य मे नीलपद का शक्यरूप है, उसका विशेषणता से बोध होता है और नीलरूप का आश्रय द्रव्य अशक्य है, उसका विशेष्यता से बोध होता है। इससे नील पद की नीलरूप के आश्रय मे अजहत् लक्षणा है। ऐसे ही "मचा क्रोशति" इस वाक्य मे मचपद का शक्य मच विशेषण है, अशक्य पुरुष विशेष्य है। इससे अजहत्-लक्षणा है। जहा शक्य, अशक्य दोनो विशेष्य हो और शक्यतावच्छेदक से व्यापक लक्ष्यतावच्छेदक धर्म विशेषण हो, वहा भाग-त्याग-लक्षणा होती है। कैसे ? जैसे "काकेभ्योदधि रक्ष्यताम्" इस वाक्य मे काक पद का शक्य वायस और अशक्य बिडालादिक विशेष्य है। शक्यतावच्छेदक काकत्व का व्यापक दध्युपघातकत्व लक्ष्यतावच्छेदक विशेषण है। क्यो ? दधि के उपघातक काक बिडालादिको से दधि की रक्षा कर यह वाक्य का अर्थ है। यहा काकत्व विशिष्ट व्यक्ति काक पद का शक्य है। उसमे काकत्व का त्याग करके दध्युपघातकत्व विशिष्ट काक बिडालादिको का लक्षणा से बोध होने से काकपद के वाच्य के एक भाग काकत्व का त्याग होता है और व्यक्ति भाग का बोध होता है, वैसे बिडालत्वादिको का त्याग और व्यक्ति का बोध होता है। इसमे भाग-त्याग-लक्षणा है।

"छत्रिणो याति" इस वाक्य मे भी भाग-त्याग-लक्षणा है। क्यो ?

छत्रसहित और छत्ररहित एक साथ वाले पुरुष जाते है। यह वाक्य का अर्थ है। वहा छत्रिपद का शक्य छत्रसहित है और अशक्य छत्ररहित दोनो विशेष्य है और शक्यतावच्छेदक छत्रि उसका व्यापक एक सार्थ-वाहिता लक्ष्यतावच्छेदक विशेषण है। इस स्थान मे भी छत्र के सबन्ध विशिष्ट जो छत्रीपद का शक्य उसमे छत्र सबन्धरूप शक्यता-वच्छेदक को त्यागकर एक सार्थवाहित्व विशिष्ट छत्री तदन्य का लक्षणा से बोध होने से वाच्य के एक भाग छत्र सबन्ध को त्याग करके एक भाग पुरुष का बोध होता है। इससे भागत्याग लक्षणा है। इस रीति से वेदान्त परिभाषा मे भागत्याग लक्षणा के उदाहरण कहे है सो वेदान्त साप्रदायिक मत मे सब अजहत्लक्षणा के उदाहरण है। कही अजहत्लक्षणा के उदाहरण मे शक्य अर्थ विशेषण है, कही विशेष्य है। शक्यसहित अशक्य की प्रतीति समान है। किंचित् भेद को देखकर लक्षणा का भेद मानना निष्फल है। सर्व आचार्यों ने अजहत् लक्षणा के जो उदाहरण कहे है, उनको भागत्याग लक्षणा के उदाहरण कहने का फल आचार्यों के वचनो से विरोध ही है। शक्य अर्थ की विशेषणता और विशेष्यता से अजहत् लक्षणा और भागत्याग लक्षणा का भेद माने तो विनगमना विरह दोष होगा। क्यो ? जहा शक्य अर्थ की विशेषणता वहा भागत्याग लक्षणा और जहा शक्य, अशक्य दोनो की विशेष्यता वहा अजहत् लक्षणा इस रीति से विपरीत माने तो कोई बाधक नही। इससे महावाक्यो मे और "सोऽयं देवदत्त." इस वाक्य मे लक्षणा का निषेध करके भागत्याग लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण कथन धर्मराज का निष्फल है।

और महावाक्यो मे लक्षणा बिना जो निर्वाह कहा है, सो भी असगत है। क्यो ? घटादिक पदो की जाति विशिष्ट मे शक्ति मानकर लक्षणा बिना केवल व्यक्ति का पद से बोध कथन निर्युक्तिक है। केवल व्यक्ति मे शक्ति मानें और जाति विशिष्ट व्यक्ति मे नही मानें तो केवल व्यक्ति का बोध घटादिक पदो से सभव है, सो माना नही है किन्तु विशिष्ट वाचक पद की शक्ति से विशेष्य मात्र का बोध होता है।

यह धर्मराज ने लिखा है। सो शक्ति वादादिक ग्रथो मे निपुणमति पडित को आश्चर्य का जनक है। शक्तिवाद मे यह प्रसग स्पष्ट है —कोई शब्द एक धर्म विशिष्ट धर्मी का वाचक है, कोई शब्द अनेक धर्म विशिष्ट धर्मी का वाचक, कोई शब्द अनेक धर्म विशिष्ट अनेक धर्मी का वाचक है। जिस पद की जिस अर्थ मे शक्ति है, सो पद उस अर्थ का वाचक कहा जाता है। कैसे ? जैसे घटपद की घटत्व-रूप एक धर्म विशिष्ट धर्मी मे और धेनुपद की प्रसव और गोत्व रूप अनेक धर्म विशिष्ट एक धर्मी मे शक्ति है, सो उसका वाचक है। पुष्पवतपद की चन्द्रत्व सूर्यत्व रूप अनेक धर्म विशिष्ट अनेक धर्मी चन्द्र सूर्य मे शक्ति है, सो पुष्पवतपद चन्द्र सूर्य दोनो का वाचक है। जिस धर्म विशिष्ट मे शक्ति है, उस धर्म को त्यागकर केवल आश्रय का बोध लक्षणा से होता है, लक्षणा बिना नही होता। इससे घटादिक पदो से केवल व्यक्ति का बोध लक्षणा से होता है और अनेक धर्म विशिष्ट धर्मी का वाचक जो धेनुपद है, उससे एक धर्म को त्यागकर एक धर्म विशिष्ट धर्मी का बोध लक्षणा बिना नही होता। इसलिये धेनुपद से अप्रसूत गो का वा प्रसूत महिषी का शक्ति से बोध नही होता। और कही गो मात्र का बोध धेनुपद से होता है, सो भाग-त्याग लक्षणा से होता है, शक्ति से नही।

वैसे पुष्पवतपद से चन्द्र को त्याग कर सूर्य का और सूर्य को त्याग कर चन्द्र का बोध शक्ति से नही होता। इस रीति से शक्तिवाद मे लिखा है, सो सभव है। शक्ति तो विशिष्ट मे और शक्ति से बोध विशेष्य का यह कथन सर्वथा निर्युक्तिक है। जिस धर्म वाले अर्थ मे पद की शक्ति हो, उससे न्यून वा अधिक अर्थ लक्षणा से प्रतीत होता है। शक्ति से उस धर्मवाले अर्थ की प्रतीति होती है, यह नियम है। यदि ऐसे कहे व्यक्ति मात्र मे शक्ति है विशिष्ट मे नही है। यह धर्मराज का अभिप्राय है, सो नही बनता। क्यो ? विशिष्ट वाचक पद की शक्ति से विशेष्य का बोध होता है, यह धर्मराज ने कहा है। यदि व्यक्ति मात्र मे शक्ति वाछित होती तो व्यक्ति मात्र मे पद की शक्ति से उसका बोध होता है, ऐसा कहते, विशिष्ट वाचक पद नही कहते।

और व्यक्ति मात्र मे शक्ति किसी के मत मे नही है, इससे यह सवमत से विरुद्ध है। यद्यपि शिरोमणि भट्टाचार्य ने व्यक्ति मात्र मे शक्ति मानी है तथापि पद से अर्थ की स्मृति और शाब्द बोध जाति विशिष्ट का उसके मत मे होता है। व्यक्ति मात्र का शाब्द बोध शक्ति से किसी के भी मत मे नही होता। और यदि ऐसे कहै —घटादिक पदो की जाति विशिष्ट मे शक्ति है और केवल व्यक्ति मे भी शक्ति है। कही जाति विशिष्ट का बोध होता है, कहीं केवल व्यक्ति का बोध होता है। जैसे हरि पद नानार्थक है, वैसे सकल पद नानार्थक है। यह अर्थ अत्यन्त अशुद्ध है। और उसके ग्र थो मे यह अर्थ है भी नही। अशुद्धता मे यह हेतु है —लक्षणा से जहा निर्वाह हो, वहा नानाअर्थ मे शक्ति को त्यागते है। एक अर्थ मे शक्ति और दूसरे मे लक्षणा मानते है। धर्मराज ने ही लिखा है —नीलादिक शब्दो की गुण मे शक्ति है और गुणी मे लक्षणा है। दोनो मे शक्ति नही कही है। इससे लक्षणा के भय से नानार्थता का अगीकार नहीं किन्तु नानार्थता के भय से लक्षणा का अगीकार है। इससे विशिष्ट मे शक्ति है और व्यक्ति मात्र मे शक्ति है, इस अशुद्ध अर्थ मे धर्मराज का तात्पर्य नही है। किन्तु विशिष्ट मे सकल पदो की शक्ति है। उस विशिष्ट मे शक्ति के माहात्म्य से कही विशिष्ट का अन्य पदार्थ से अन्वय होता है। कही विशेष्य का अन्य पदार्थ से अन्वय होता है। जहा विशिष्ट मे अन्वय की योग्यता हो, वहा विशिष्ट का और जहा विशिष्ट मे अन्वय नही हो, वहा विशेष्य मात्र का शक्ति से अन्वय बोध होता है। यह धर्मराज का मत है। सो असगत है।

क्यो ? शक्ति तो विशिष्ट मे और लक्षणा बिना, अन्वय बोध व्यक्ति मात्र का माने तो धेनुपद से भी अप्रसूत गो की वा प्रसूत महिषी की लक्षणा बिना प्रतीति होनी चाहिये। और पुष्पवतपद से लक्षणा बिना एक सूर्य वा एक चन्द्र का बोध होना चाहिये और होता नही है। इससे "अनित्यो घट" इत्यादिक वाक्यो मे घटादि पदो की व्यक्ति मात्र मे भाग-त्याग लक्षणा है। और यदि ऐसे कहै — बहुत प्रयोगो मे व्यक्ति मात्र का बोध होने से शक्ति से ही बोध होता

है । उसका यह समाधान है —प्रयोग बाहुल्य से अर्थ मे शक्यता माने तो नीलादि पदो का प्रयोग बाहुल्य गुणी मे है, सो भी शक्य होना चाहिये । नीलादि पदो का गुणी शक्य नही किन्तु लक्ष्य है । यह धर्मराज ने और वेदान्त चूडामणि टीका मे उसके पुत्र ने लिखा है । इससे जहा विशिष्ट वाचक पद से विशेष्य मात्र का बोध हो, वहा सर्वत्र भाग-त्याग-लक्षणा है । परन्तु वह निरूढलक्षणा है । निरूढ-लक्षणा का शक्ति से किंचित् ही भेद होता है । उसका प्रयोग बाहुल्य होता है । जिस अर्थ मे शब्द प्रयोग का बाहुल्य हो उस अर्थ मे सर्वत्र शक्ति माने तो जाति शक्तिवाद मे व्यक्ति का बोध सर्वत्र लक्षणा से होता है, सो असगत होगा । और न्याय मत मे राज पुरुष इत्यादिक वाक्यो मे राजपद की राज सबन्धी मे सर्वत्र लक्षणा है, सो असगत होगी । इस रीति से विशिष्ट वाचक पद से विशेष्य मात्र का बोध लक्षणा बिना नही होता । इससे महावाक्यो मे लक्षणा है । यह साप्र-दायिक (वेदात) मत ही जिज्ञासु को उपादेय है । वेदान्त वाक्यो से असग ब्रह्म का आत्मरूप करके साक्षात्कार होता है । उससे प्रवृत्ति, निवृत्ति शून्य ब्रह्म रूप से स्थिति फल होता है । यह अद्वैतवाद का सिद्धान्त है ।

मीमासा का मत

उस अद्वैतवाद के सिद्धान्त मे, मीमासा के अनुसारी की यह शंका है —सकलवेद प्रवृत्ति वा निवृत्ति का बोधक है । प्रवृत्ति, निवृत्ति रहित अर्थ को वेद बोधन नही करता है । और यदि बोधन करे तो निष्फल अर्थ का बोधक वेद अप्रमाण होगा । इससे विधि निषेध शून्य अर्थ वेदान्त वाक्य का विधि वाक्यो से सबन्ध होने से विधि वाक्यो के शेष वेदात वाक्य है । कोई वाक्य कर्मकर्ता के स्वरूप के बोधक है । जैसे त्वपदार्थ के बोधक पचकोश वाक्य है, कोई वाक्य कर्मशेष देवता के स्वरूप के बोधक है, सो तत्पदार्थ बोधक वाक्य है । जीव ब्रह्म के अभेद बोधक वाक्यो का यह अर्थ है :—कर्म कर्ता जीव देवभाव को प्राप्त होता है । इससे कर्म अवश्य कर्त्तव्य है । इस रीति से कर्म के फल की स्तुति करने से अभेद बोधक वाक्य अर्थवाद रूप है ।

यद्यपि मीमासा मत मे मत्रमयी देवता है, विग्रहवान् ऐश्वर्यवाला कोई देव नही है। इससे देव भाव की प्राप्ति 'कहना सभव नही है, तथापि सभावना मात्र से कर्म फल की स्तुति है। कैसे ? जैसे कृष्ण प्रभा की उपमा कोटि सूर्य प्रभा कही है। वहा कोटि सूर्य प्रभा अलीक पदार्थ है, तो भी सभावना से उपमा कही है। यदि कोटि सूर्य की प्रभा एकत्र हो तो कृष्ण प्रभा की उपमा सभव हो। इस रीति से सर्वज्ञतादिक गुण विशिष्ट परम ऐश्वर्य वाला कोई अद्भुत देव हो तो ऐसा स्वरूप कर्म कर्ता का हो सकता है। इस रीति से सभावना से देवभाव की प्राप्ति कही है। उक्त प्रकार से साक्षात् वा परपरा से प्रवृत्ति, निवृत्ति के बोधक सकल वेद है। प्रवृत्ति, निवृत्ति मे अनुपयोगी ब्रह्म बोध वेद वाक्यो से सभव नही है।

प्राचीन वृत्तिकार बोधायन का मत

और प्राचीन वृत्तिकार वेदान्ती कहलाते है, उनका यह मत है —कर्म विधि के प्रकरण मे वेदान्त वाक्य नही है। इससे भिन्न-प्रकरण मे पठित वेदान्त वाक्य कर्म विधि के शेष (अग) नही है किन्तु उपासना विधि वेदात प्रकरण मे है। इससे सकल वेदान्त वाक्य उपासना विधि के शेष है। त्वपदार्थ के बोधक वाक्य उपासक के स्वरूप को बोधन करते है। तत्पदार्थ के बोधक वाक्य उपास्य के स्वरूप को बोधन करते है। त्वपदार्थ और तत्पदार्थ के अभेद बोधक वाक्यो का यह अर्थ है —ससार दशा मे जीव ब्रह्म का भेद है और उपासना के बल से मोक्ष दशा मे अभेद होता है। अद्वैतवाद मे तो सदा ही अभेद रहता है। भेद प्रतीति ससार दशा मे भी भ्रमरूप है और इस मत मे ससार दशा मे भेद और मोक्ष दशा मे अभेद होता है। मोक्ष दशा मे भी जीव ब्रह्म का भेद मानने वाले नैयायकादि, इस मत मे दोष कहते है। जीव मे ब्रह्म का भेद स्वरूप से है वा उपाधिकृत है ? यदि स्वरूप से भेद मानें तो जितने काल स्वरूप रहता है उतने काल भेद की निवृत्ति नही होगी। यदि मोक्ष दशा मे भेद की निवृत्ति के लिये

जीव के स्वरूप की निवृत्ति मानें तो सिद्धान्त का त्याग और मोक्ष को अपुरुषार्थता होगी । क्यो ? मोक्ष दशा मे स्वरूप की निवृत्ति वृत्तिकार ने नही मानी है । और भी किसी के सिद्धात मे स्वरूप की निवृत्ति मोक्ष मे नही होती है । यदि कोई स्वरूप की निवृत्ति मोक्ष दशा मे माने तो स्वरूप की निवृत्ति मे किसी भी पुरुष की अभिलाषा नही होती । इससे मोक्ष मे पुरुषार्थता का अभाव होगा । पुरुष की अभिलाषा के विषय को पुरुषार्थ कहते है । इससे जीव मे ब्रह्म का भेद स्वरूप से माने तो मोक्षदशा मे अभेद सभव नही है । जीव मे ब्रह्म के भेद को उपाधिकृत कहै तो उपाधि की निवृत्ति से मोक्ष दशा मे अभेद तो सभव है, परन्तु अद्वैत मत से इस मत का भेद सिद्ध नही होगा । क्यो ? अद्वैतवाद मे भी उपाधिकृत भेद का अगीकार है । और उपाधिकृत भेद मिथ्या होगा । उसकी निवृत्ति भी अद्वैतवाद के समान केवल ज्ञान से माननी योग्य है । मोक्ष निमित्त उपासना क्रिया निष्फल होगी । वृत्तिकार के मत मे नैयायिकादिक यह कुतर्क करते है, सो सभव नही है । क्यो ? जीव मे ब्रह्म का भेद स्वरूप से नही है, उपाधिकृत है । उपाधि मिथ्या हो तो उपाधिकृत भेद भी मिथ्या हो और उसकी निवृत्ति भी केवल ज्ञान से हो किन्तु वृत्तिकार के मत मे प्रलयपर्यन्त स्थायी आकाशादिक पदार्थ है, सो मिथ्या नही है । वैसे ही जीव की उपाधि अन्त करणादिक सत्य है, ज्ञान मात्र से उनकी निवृत्ति नही होती ।

यद्यपि मोक्ष दशा मे अन्त करणादिको का नाश होता है । इससे ध्वस शून्यता रूप नित्यता वृत्तिकार के मत मे भी नही बनती, तथापि ज्ञान से अबाध्यतारूप नित्यता वृत्तिकार के मत मे सकल पदार्थों मे सभव है । इस रीति से उपाधि सत्य है । उस सत्य उपाधिकृत भेद भी सत्य है । कैसे ? जैसे जल सयोग रूप सत्य उपाधिकृत शीतलता पृथ्वी मे सत्य है, वैसे सत्य उपाधिकृत भेद भी सत्य है । उस सत्य भेद की और उपाधि की ज्ञान मात्र से निवृत्ति नही होती किन्तु नित्यकर्म और उपासना सहित ज्ञान से उपाधि निवृत्ति से मोक्षदशा मे भेद की निवृत्ति होती है । और अद्वैत मत मे सकल उपाधि और भेद मिथ्या है, उनकी

ज्ञान मात्र से निवृत्ति होती है। और ससार दशा मे भी मिथ्या उपाधि से पारमार्थिक अद्वैतता नही बिगडती। इससे अद्वैत मत से वृत्तिकार के मत का यह भेद है। इस रीति से वृत्तिकार के मत मे भेद बोधक और अभेद बोधक वाक्यो की गति सभव है। जीव मे ब्रह्म का भेद बोधक वाक्य तो सासारिक जीव का स्वरूप बोधन करता है और अभेद बोधक वाक्य मुक्त जीव का स्वरूप बोधन करता है। मुक्त दशा मे भी जो भेद अगीकार करते है, उनके मत मे अभेद बोधक वाक्यो का बाध होता है। अद्वैतवाद मे सदा अभेद का अगीकार है। उस मत मे जीव ब्रह्म के भेद बोधक वाक्यो का बाध होता है। इससे ससार दशा मे भेद और मुक्ति दशा मे अभेद मानना योग्य है।

यह मत भी समीचीन नही है। क्यो ? सकल वेदान्त वाक्य अहेय, अनुपादेय ब्रह्म के बोधक है, विधिशेष अर्थ के बोधक नही है। यह अर्थ प्रथमाध्याय के चतुर्थ सूत्र के व्याख्यान मे भाष्यकार ने विस्तार से लिखा है। किसी मद मति पुरुष की मीमासा वृत्तिकारादिको के मत मे अधिक श्रद्धा हो और शास्त्र मे प्रवेश हो तो भामती निबन्ध और ब्रह्म-विद्याभरण से आदि व्याख्यान सहित भाष्य विचार से बुद्धि दोष की निवृत्ति करे। सूत्र भाष्य विचार मे जिसकी बुद्धि समर्थ नही हो सो भाष्यकार के व्याख्यान सहित उपनिषद् ग्रथो को विचारे, उनका तात्पर्य अहेय अनुपादेय ब्रह्म बोध मे है। उपासना विधि मे तात्पर्य नही है। क्यो ? लौकिक वाक्य का तात्पर्य तो प्रकरणादिको से जाना जाता है, सो प्रकरणादिक काव्य प्रकाश, काव्यप्रदीप मे लिखे है।

षट् वैदिक वाक्यो के तात्पर्य के लिग

और वैदिक वाक्यो के तात्पर्य ज्ञान के हेतु उपक्रमोपसहारादिक षट् है। उपक्रम उपसहार की एकरूपता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति ये षट् वैदिक वाक्यो के तात्पर्य के लिग (हेतु) है। इनसे वैदिक वाक्यो का तात्पर्य जाना जाता है। इससे इनको तात्पर्य के लिग कहते है। जैसे धूम से अग्नि जाना जाता है, इससे अग्नि का लिग धूम कहा जाता है, वैसे उपनिषदो से भिन्न कर्मकाड बोधक वेद का

तात्पर्य कर्म विधि मे है। जैसे उपक्रमोपसहारादिक पूर्व वेद की कर्म विधि मे है, वैसे जैमिनि कृत द्वादशाध्यायी मे स्पष्ट है। और उपनिषद्‌रूप वेद के उपक्रमोप सहारादिक अद्वितीय ब्रह्म मे है, इससे अद्वितीय ब्रह्म मे उनका तात्पर्य है। जैसे छादोग्य के षष्ठाध्याय का उपक्रम अर्थात् आरभ मे अद्वितीय ब्रह्म है और उपसहार अर्थात् समाप्ति मे अद्वितीय ब्रह्म है। जो अर्थ आरभ मे हो सोई समाप्ति मे हो उसको उपक्रमोपसहार की एकता कहते है। पुन पुन कथन का नाम अभ्यास है। छादोग्य के षष्ठाध्याय मे नव बार तत्त्वमसि वाक्य है। इससे अद्वितीय ब्रह्म मे अभ्यास है।

प्रमाणातर से अज्ञात को अपूर्वता कहते है। उपनिषद्‌रूप शब्द प्रमाण से अन्य प्रमाण का विषय अद्वितीय ब्रह्म नही है, इससे अद्वितीय ब्रह्म मे अज्ञातता रूप अपूर्वता है। अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान से मूल सहित शोक मोह की निवृत्ति फल कहा है। स्तुति वा निन्दा के बोधक वचन को अर्थवाद कहते है। अद्वितीय ब्रह्म बोध की स्तुति उपनिषदो मे स्पष्ट है। कथन करे अर्थ के अनुकूल युक्ति को उपपत्ति कहते है। छादोग्य मे सकल पदार्थों का ब्रह्म से अभेद कथन के अर्थ कार्य का कारण से अभेद प्रतिपादन अनेक दृष्टातो मे कहा है। इस रीति से षट्‌लिगो से सकल उपनिषदो का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म मे है। सो उपनिषदो के व्याख्यान मे भाष्यकार ने षट् लिग स्पष्ट लिखे है। उनसे वेदान्त वाक्यो का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म मे है ऐसा निश्चय होता है। जिस अर्थ मे वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान हो उस अर्थ का श्रोता को शब्द से बोध होता है। क्यो ? शब्द की शक्ति वृत्ति वा लक्षणा वृत्ति का ज्ञान शाब्द बोध का हेतु है।

आकाक्षा आदिक चार शाब्द बोध के सहकारी

और आकाक्षाज्ञान, योग्यताज्ञान, तात्पर्यज्ञान आसत्ति (समीपता) ये चार सहकारी है। एक पदार्थ का पदार्थातर से अन्वय बोध के अभाव को आकाक्षा (इच्छा) कहते है। "अयमेति पुत्रो राज्ञ. पुरुषोऽपसार्यताम्" (यह राजा का पुत्र आता है, पुरुष को निकालो) इस वाक्य मे राज

पदार्थ का पुत्र पदार्थ से अन्वयबोध होने के पीछे पुरुष पदार्थ से आकाक्षा के अभाव से शाब्द बोध नही होता। क्यो ? एक पदार्थ से अन्वय होने के पीछे अन्वय बोधाभावरूप आकाक्षा नही है। स्थूल रीति यह है.— आकाक्षा नाम इच्छा का है, सो यद्यपि चेतन मे होती है तथापि पद के अर्थ का जितने काल पदार्था तर से अन्वय का ज्ञान नही हो, उतने काल अपने अर्थ के अन्वय के लिये पदार्थातर की इच्छा सदृश प्रतीत होती है। अन्वय बोध होने के पीछे नही प्रतीत होती, उसको आकाक्षा कहते है। आकाक्षा का स्वरूप सूक्ष्म रीति से मीमासक ग्र थो मे लिखा है, सो कठिन है, इससे रीति मात्र बताई है। यह राजा का पुत्र आता है, इस रीति से राज पदार्थ का पुत्र पदार्थ से अन्वय बोध होने के पीछे, पुरुष पदार्थ से अन्वय बोध की हेतु आकाक्षा राजपदार्थ मे नही है, इससे राजा के पुरुष को निकालो ऐसा बोध नही होता किन्तु पुरुष को निकालो ऐसा बोध होता है। यदि आकाक्षा ज्ञान शाब्द बोध का हेतु नही हो तो राजा का पुत्र आता है, राजा के पुरुष को निकालो ऐसा बोध होना चाहिये। इससे आकाक्षा ज्ञान शाब्द बोध का हेतु है।

एक पदार्थ का पदार्थातर मे सबन्ध को योग्यता कहते है। जहा योग्यता नही हो वहा शाब्द बोध नही होता। कैसे ? जसे "वह्निना सिचति" इस वाक्य मे वह्नि (अग्नि) वृत्ति करणतारूप तृतीया पदार्थ का सेचन पदार्थ मे निरूपकता (साधकता) सबन्ध रूप योग्यता नही है। इससे शाब्द बोध नही होता। यदि शाब्द बोध मे योग्यता हेतु नही हो तो "वह्निना सिचति" इस वाक्य से शाब्द बोध होना चाहिये। वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते है। जिस अर्थ मे तात्पर्य ज्ञान नही हो, उसका शाब्द बोध नही होता। कैसे ? जैसे "सैधवमानय" इस वाक्य से भोजन के समय मे अश्व मे वक्ता की इच्छारूप तात्पर्य सभव नही है, इससे अश्व का शाब्द बोध नही होता, वैसे गमन समय मे लवण का शाब्द बोध नही होता। यदि तात्पर्य ज्ञान शाब्द बोध का हेतु नही हो तो "सैधवमानय" इस वाक्य से भोजन समय मे अश्व का बोध और गमन समय मे लवण का बोध होना चाहिये। इससे शाब्द बोध मे तात्पर्य

ज्ञान हेतु है। यहा ऐसी शका होती है — वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते है। शुक वाक्य मे वक्ता की इच्छा नही है और शुक वाक्य से शाब्द बोध होता है। इससे तात्पर्य ज्ञान शाब्द बोध का हेतु सभव नही है। और मीमासक वेद को नित्य मानते है। ईश्वर का उनके मत मे अगीकार नही है और कोई जीव भी वेद का कर्त्ता नही है किन्तु वेद नित्य है। उनको वक्ता की इच्छारूप तात्पर्य ज्ञान वैदिक वाक्यो मे सभव नही है।

इस शका का समाधान मजूषा ग्र थ मे नागोजी भट्ट ने यह लिखा है – सकल शाब्दबोध का हेतु तात्पर्य ज्ञान हो तो यह दोष हो, सकल शाब्द बोध का हेतु तात्पर्य ज्ञान नही किन्तु नानार्थक पद (अश्व लवरणादि) सहित वाक्य जन्य शाब्द बोध का हेतु तात्पर्य ज्ञान है। इससे दोष नही है। और पचपादिका की टीकारूप विवरण ग्र थ मे प्रकाशात्म श्रीचरण ने तात्पर्य ज्ञान को शाब्द-बोध की कारणता सर्वथा निषेध करी है सो दोनो की उक्ति समीचन नहीं है। क्यो ? इन दोनो के मत मे वेद वाक्यो का तात्पर्य निर्णय के हेतु पूर्व मीमासा, उत्तर मीमासा व्यर्थ होगे। इससे तात्पर्य निश्चय ही सकल शाब्द बोध का हेतु है। शुक वाक्य मे और मीमासक को तात्पर्य ज्ञान सभव नही है। उसका यह समाधान है —मीमासक को वेदकर्ता के तात्पर्य का ज्ञान तो सभव नही है, परन्तु वेद वक्ता जो पाठक उसके तात्पर्य का ज्ञान सभव है। शुक वाक्य मे यद्यपि तात्पर्य ज्ञान सभव नही है तथापि श्रोता को बोध की इच्छा करके जो वाक्य उच्चारण किया जाता है, उसको बुबोधयिषाधीन वाक्य कहते है। शुक वाक्य बुबोधयिषाधीन नही है और वेद-वाक्य पाठक की बुबोधयिषाधीन है। बुबोधयिषाधीन वाक्य जन्य ज्ञान मे तात्पर्य ज्ञान कारण हैं। बोध की इच्छा को बुबोधयिषा कहते है। शुक को बोध की इच्छा नही है। इससे शुकवाक्यजन्य ज्ञान मे तात्पर्य ज्ञान कारण नही है। और वेदान्त-परिभाषा मे शुक वाक्य मे भी तात्पर्य माना है, सो वक्ता की इच्छा रूप तात्पर्य नही है किन्तु इष्ट अर्थ का बोध जनन मे योग्यता को तात्पर्य कहा है। इसमे शका समाधान और भी लिखा है, सो सब निष्फल है, तात्पर्य का अर्थ वक्ता की इच्छा

प्रसिद्ध है। उसको त्यागकर पारिभाषिक अर्थ तात्पर्य पद का मानकर शुक वाक्य मे तात्पर्य प्रतिपादन का फल लोक प्रसिद्धि के विरोध बिना और नही है। केवल लोक प्रसिद्धि का विरोध ही फल है। क्यो ? "शुक वाक्य न तात्पर्यवत्" यह सब लोक मे अनुभव प्रसिद्धि है। और "शुक वाक्य तात्पर्यवत्" ऐसा कोई नही कहता। इससे बुबोधयिषाधीन वाक्य जन्य शाब्द बोध मे तात्पर्य ज्ञान हेतु है। और बोध रहित पुरुष के उच्चारण करे वाक्य से शाब्द बोध होता है, परन्तु सो वाक्य बुबोधयिषाधीन नही है। इससे उसके अर्थ के बोध मे तात्पर्य ज्ञान हेतु नही है। और मौनिरचित श्लोक मे वक्ता की इच्छा तात्पर्य सभव नही है। क्यो ? उच्चारण का कर्ता वक्ता कहलाता है। मौनी उच्चारण नही करता। इससे मौनी की इच्छा वक्ता की इच्छा नही है। यह वेदान्त परिभाषा की टीका मे धर्मराज के पुत्र ने लिखा है। सो शब्द रत्न व्याकरण के ग्र थ से खडित है।

वहा यह प्रसग है —उच्चारण करे शब्द से बोध होता है, उच्चारण बिना शाब्द बोध नही होता। इस अर्थ का बोधक पतजली कृत महाभाष्य का वचन लिख करके यह शका लिखी है —उच्चारण से बिना शाब्द बोध नही हो तो एकान्त मे उच्चारण बिना पुस्तक देखने वाले को शाब्द बोध नही होना चाहिये। उसका यह समाधान लिखा है :—वहा भी पुस्तक देखने वाला सूक्ष्म उच्चारण करता है। इस रीति से मौनि लिखित श्लोक का उच्चारण कर्ता मौनी है।

और अभेदरत्नकार का यह मत है :—जहा तात्पर्य का सदेह हो वहा शाब्द बोध नही होता और जहा तात्पर्य के अभाव का निश्चय हो वहा भी शाब्द बोध नही होता। जहाँ प्रथम तात्पर्य का सदेह हो वा तात्पर्याभाव का निश्चय हो और उत्तर काल मे तात्पर्य का निश्चय हो जाय, वहा शाब्द बोध होता है। इससे तात्पर्य के सदेह से उत्तर काल भावी शाब्द बोध मे और तात्पर्याभाव निश्चय से उत्तर काल भावी शाब्द बोध मे तात्पर्य ज्ञान हेतु है। सर्वत्र शाब्द बोध मे हेतु नहीं है। इस अभेदरत्नकार के मत मे दोष वेदात शिखामणि मे

लिखा है । खडन मे हमारा आग्रह नही है, इससे हमने दोष नही लिखा । विवरणाकार और मजूषाकार के मत में जैसे पूर्व उत्तर मीमासा निष्फल होता है, वैसे इस मत मे मीमासा निष्फल नही है । क्यो ? इस मत मे तात्पर्य सदेहोत्तर शाब्द बोध का तात्पर्य ज्ञान हेतु है । वेद वाक्यो में तात्पर्य का सदेह होता है, उसकी निवृत्ति मीमासा से होती है । जैसे वेद वाक्यो में सदेह, और उसकी निवृत्ति होती है सो पूर्वोत्तर मीमासा में स्पष्ट है ।

इस रीति से आकाक्षा, योग्यता, तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध के हेतु है, परन्तु आकाक्षादिक का ज्ञान हेतु है, स्वरूप से आकाक्षादिक हेतु नही है । क्यो ? जहा आकाक्षादिक शून्य वाक्य में आकाक्षादिको का भ्रम हो, वहा शाब्द बोध होता है । स्वरूप से आकाक्षादिको को हेतुता मानें तो आकाक्षादिक भ्रमस्थल मे शाब्द बोध नही होना चाहिये और आकाक्षादिको के ज्ञान को हेतुता मानें तो शाब्द बोध का कारण भ्रम रूप ज्ञान होने से शाब्द बोध सभव है । और स्वरूप से आकाक्षादिको को हेतुता माने तो जहा आकाक्षादिक है और श्रोता को ऐसा भ्रम हो यह वाक्य आकाक्षादिक से शून्य है, वहा शाब्द बोध होना चाहिये और होता नही है । इससे आकाक्षादिको का ज्ञान हेतु है, सो ज्ञान भ्रम हो वा प्रमा हो, शाब्द बोध का हेतु भ्रमप्रमा साधारण आकांक्षादिको का ज्ञान है । भ्रम सामग्री से शाब्द बोध भ्रम नही होता है किन्तु विषय के अभाव से शाब्द बोध भ्रम होता है । कैसे ? जैसे वह्नि के व्यभिचारी पृथ्वीत्व में वह्नि व्याप्यता का भ्रम होकर पृथ्वीत्व हेतु से वह्निवाले पर्वत में वह्नि का अनुमिति ज्ञान होता है, सो विषय के सद्भाव से प्रमा होता है, विषय शून्य देश मे व्यभिचारी हेतु से अनुमिति भ्रम होता है । इससे विषय के सदभाव से जैसे भ्रम सामग्री से अनुमिति प्रमा होता है, वैसे आकाक्षादिक ज्ञान रूप शाब्द बोध की सामग्री भ्रम हो वा प्रमा हो, जहा विषय का सद्भाव हो, वहा शाब्द बोध प्रमा होता है । जहा विषय का अभाव हो, वहा शाब्द बोध भ्रम होता है, परन्तु जहा योग्यता ज्ञान भ्रम हो, वहा नियम से शाब्द बोध भ्रम होता है, प्रमा नही होता । क्यो ? जहा शाब्द बोध का

विषय हो, वहा नियम से योग्यता ज्ञान प्रमा होता है। जहा योग्यता ज्ञान भ्रम हो, वहा नियम से शाब्द बोध का विषय नही होता। इससे यह नियम है—विषय के सद्भाव से शाब्द बोध प्रमा और विषय के अभाव से भ्रम होता है। जैसे आकाक्षादिको के ज्ञान शाब्द बोध के हेतु है, वैसे आसत्ति भी शाब्द बोध की हेतु है। न्याय के ग्र थो में पदो की समीपता को आसत्ति कहते है। व्यवहित पदो के अर्थो का अन्वय बोध नही होता। कैसे ? जैसे "गिरिर्भुक्त वह्निमान् देवदत्तेन" इस वाक्य से अन्वय बोध नही होता। किन्तु "गिरिर्वह्निमान् भुक्त देवदत्तेन" ऐसा कहै तो शाब्द बोध होता है।

इससे पदो की समीपतारूप आसत्ति शाब्द बोध की हेतु है। जहा समीपता न हो और समीपता का भ्रम हो, वहा शाब्द बोध होता है। इससे भ्रम प्रमा का हेतु साधारण आसत्ति का ज्ञान है। स्वरूप से आसत्ति हेतु नही है। और ग्र थो मे यह लिखा है—जहा व्यवहित पद है, वहा श्लोकादिको मे शाब्द बोध होता है, इससे उक्त आसत्ति शाब्द बोध की हेतु नही है किन्तु शक्ति वा लक्षणा रूप पद के सबन्ध से जो पदार्थो की व्यवधान रहित स्मृति सो आसत्ति शाब्द बोध की हेतु है। पदो का व्यवधान हो वा अव्यवधान हो, जिस पदार्थ का जिस पदार्थ से अन्वय बोध हो, उन पदार्थों की स्मृति व्यवधान रहित चाहिये। पदार्थो की स्मृति मात्र से शाब्द बोध हो तो किसी भी रीति से जिस पदार्थ की स्मृति हो उसका शाब्द बोध होना चाहिये। पद के सबन्ध से पदार्थ की स्मृति को शाब्द बोध का हेतु कहै तो सकल पदो का आकाश से समवाय सबन्ध है, और आत्मा मे सकल पदो का स्वानुकूल कृतिमत् सबन्ध है। इससे घटादि पदो के समवाय सबन्ध से आकाश की जहा स्मृति हो और स्वानुकूल कृति सबन्ध से आत्मा की जहा स्मृति हो, उनका भी "घटमानय" इत्यादि वाक्यो से शाब्द बोध होना चाहिये। इससे शक्ति वा लक्षणा वृत्तिरूप पद के सबन्ध से पदार्थ की स्मृति शाब्द बोध का हेतु है। घटादि पदो का समवाय सबन्ध आकाश मे है और स्वानुकूल कृति सबन्ध आत्मा मे है। शक्ति वा लक्षणा वृत्ति रूप सबन्ध घटादि पदो का आकाश मे वा आत्मा मे नही है।

आकाश गगनादि पदो का शक्ति रूप सबन्ध आकाश मे है। स्वपद और आत्मपद का शक्ति रूप मबन्ध आत्मा मे है। इससे आकाश पद सहित वाक्य से आकाश का शाब्द बोध होता है। आत्मपद सहित वाक्य से आत्मा का शाब्द बोध होता है।

इस रीति से जिस पद के वृत्ति रूप सबन्ध से जिस पदार्थ की स्मृति हो उसका शाब्द बोध होता है। ऐसा कहै तो भी "घटमानय" इस वाक्य से जो बोध होता है, उस बोध की उत्पत्ति "घट कर्मता, आनयन कृति" इतने पदो से होनी चाहिये। क्यो ? दोनो वाक्यो के पदो की शक्ति समान है, और प्रथम वाक्य से शाब्द बोध होता है, दूसरे से नही होता। इसमे यह हेतु है —योग्य पदो की वृत्ति से जिस पदार्थ की स्मृति होती है, उसका शाब्द बोध होता है। प्रथम वाक्य के पद योग्य है, दूसरे के योग्य नही है। योग्यता अयोग्यता अनुभव के अनुसार अनुमेय है। जिन पदो का शाब्द बोध अनुभव सिद्ध है, उनमे योग्यता है, जिन पदो से शाब्द बोध का अभाव अनुभवसिद्ध है, उनमे योग्यता नही है। इस रीति से योग्य पद के वृत्ति रूप सबन्ध से व्यवधानरहित पदार्थो की स्मृति को आसत्ति कहते है। इस रीति की आसत्ति स्वरूप से शाब्द बोध का हेतु है, उसका ज्ञान हेतु नही है। इस प्रकार से आकाक्षा ज्ञान, योग्यता ज्ञान, तात्पर्य ज्ञान और आसत्ति शाब्द बोध के हेतु है, इन चार को शाब्द बोध की सामग्री कहते है।

उत्कट जिज्ञासा को बोध की हेतुता

अनुमिति की सामग्री व्याप्ति ज्ञानादिक है। प्रत्यक्ष की सामग्री इन्द्रिय सयोगादिक है। जहा दो सामग्री हो वहा दोनो का फल नही होता। क्यो ? एक क्षण मे दो ज्ञान की उत्पत्ति नही होती। यद्यपि ज्ञान द्वय का आधार तो एक क्षण होता है, तथापि ज्ञान द्वय की उत्पत्ति का आधार एक क्षण नही होता। सो उत्पत्ति भी व्यधिकरण दो ज्ञान की तो एक क्षण मे होती है। कैसे ? जैसे देवदत्त का ज्ञान और यज्ञदत्त का ज्ञान व्यधिकरण है, उनकी उत्पत्ति एक क्षण मे होती है। तथापि समानाधिकरण दो ज्ञानो की उत्पत्ति एक क्षण मे नही होती

यह सिद्धान्त है, दोनो सामग्री का फल एक काल मे नही होता। इससे प्रबल सामग्री का फल होता है, दुर्बल का बोध होता है। प्रबलता, दुर्बलता अनुभव के अनुसार अनुमेय है। कैसे ? जैसे भूतल और घट के साथ नेत्र का सयोग हो, उस काल मे "घटवद् भूतलम्" इस वाक्य का श्रवण हो, वहा घट वाला भूतल है। ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान की और शाब्द ज्ञान की सामग्री है, तथापि प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, शाब्द ज्ञान नही होता। इससे समान विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान की और शाब्द ज्ञान की दो सामग्री हो, वहा प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री प्रबल है और शाब्द ज्ञान की सामग्री दुर्बल है। और जहा भूतल सयुक्त घट से नेत्र का सयोग हो और उस काल मे "पुत्रस्ते जात" इस वाक्य का श्रवण हो, वहा भूतल मे घट का प्रत्यक्ष नही होता, किन्तु पुत्र जन्म का शाब्द बोध होता है। इससे भिन्न विषयक ज्ञान की प्रत्यक्ष सामग्री और शाब्द सामग्री हो, वहा शाब्द सामग्री प्रबल है, प्रत्यक्ष सामग्री दुर्बल है। इस रीति से बाध्य बाधक भाव विचार करके सूक्ष्मदर्शी पुरुष प्रबलता, दुर्बलता को जान लेते है। परन्तु जिज्ञासाशून्य स्थल मे पूर्व उक्त बाध्य-बाधक भाव है। जहा एक वस्तु की जिज्ञासा हो और अपर की जिज्ञासा नही हो तथा दोनो के बोध की सामग्री हो, वहा जिज्ञासित का बोध होता है, अजिज्ञासित का बोध नही होता। इससे जिज्ञासित के बोध की सामग्री प्रबल है, अजिज्ञासित के बोध की सामग्री दुर्बल है। ज्ञान की इच्छा को जिज्ञासा कहते है। उसके विषय को जिज्ञासित कहते है। जिज्ञासा सहित सामग्री सर्वत्र प्रबल है। जहा उभय की जिज्ञासा हो, वहा उत्कट जिज्ञासा बाधक है।

इसी कारण से अध्यात्म ग्रंथो मे लिखा है, उत्कट जिज्ञासा वाले को ब्रह्म बोध होता है। उत्कट जिज्ञासा रहित को ब्रह्म बोध नही होता। क्यो ? जिस पदार्थ की जिज्ञासा सहित बोध सामग्री हो उसका उत्कट जिज्ञासा सहित बोध सामग्री मे बाध होता है। अन्यथा जिज्ञासा सहित सामग्री से अन्य सामग्री का बाध होता है। लौकिक पदार्थों की जिज्ञासा और उनके प्रत्यक्षादिक बोध की सामग्री का सर्वदा जाग्रत काल मे संभव है, उससे जिज्ञासा रहित ब्रह्म बोध की

सामग्री का बाध होगा। इससे लौकिक पदार्थो की जिज्ञासा सहित प्रत्यक्षादिक बोध की सामग्री के बाध के लिये ब्रह्म की उत्कट जिज्ञासा चाहिये। उत्कट जिज्ञासा सहित ब्रह्म बोध की सामग्री से लौकिक पदार्थो के बोध की सामग्री का बाध होता है। "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" इस सूत्र का भी इसी अर्थ मे तात्पर्य हैं। यद्यपि व्याख्यानकारो ने विचार मे जिज्ञासा पद की लक्षणा कही है और कर्त्तव्य पद का अध्याहार कहा है। इससे ब्रह्म ज्ञान के अर्थ वेदात वाक्य का विचार कर्त्तव्य है, यह सूत्र का अर्थ है। तथापि विचार वाचक पद को त्यागकर लाक्षणिक जिज्ञासा पद के प्रयोग से सूत्रकार का वाच्य और लक्ष्य दोनो अर्थो मे तात्पर्य है। ब्रह्म जिज्ञासा ब्रह्म बोध का हेतु है, यह वाच्य अर्थ है और एक शब्द से लक्षणावृत्ति और शक्ति वृत्ति से दो अर्थ का बोध नही होता, इस प्राचीन न्याय की उक्ति का "गगाया मीनघोषौ" इस वाक्य मे व्यभिचार होने से श्रद्धा योग्य नही है। "गगायाँ मीनघोषौ" इस वाक्य मे गगा पद के वाच्य अर्थ का मीन से सबन्ध और लक्ष्य अर्थ का घोष से सबन्ध होता है। इससे गगा के प्रवाह मे मीन है और तीर मे घोष है, यह वाक्य का अर्थ है। यद्यपि ग्र थकारो ने सूत्र के अनेक अर्थ लिखे है, तथापि अनेक अर्थ सूत्र के भूषण है। विचार के समान जिज्ञासा मे विधि का सभव है वा नही इस अर्थ के लिखने मे ग्र थ की वृद्धि होती है। इससे नही लिखा।

वेदान्त के तात्पर्य, वेद और शब्द विषयक विचार

आकाक्षा ज्ञानादिक शाब्द बोध के हेतु है, उनमे तात्पर्य ज्ञान है। वेदान्त वाक्यो के तात्पर्य ज्ञान के हेतु उपक्रमादिक है। उन उपक्रमादिको से वेदान्त वाक्यो का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म मे है, उपासना विधि मे तात्पर्य नही है। यह अर्थ भाष्यकार ने समन्वयसूत्र मे विस्तार से लिखा है। इससे मीमासक और वृत्तिकार का मत समीचीन नही है। उनके मत खडन के अनुकूल तर्क भाषा के श्रोता को दुर्विज्ञेय है, इससे नही लिखे। इस वाक्य से श्रोता को इस अर्थ का बोध हो, ऐसी वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते है। मीमासक मत मे वेद नित्य है, वहा कर्ता की इच्छा तो सभव नही है। अध्यापक की इच्छा सभव है।

नैयायिक मत मे शब्द का तीसरे क्षण मे नाश होता है। वेद भी शब्द रूप है, इससे क्षणिक है। तीसरे क्षण मे जिसका नाश हो उसको क्षणिक कहते है। नैयायिक मत मे उच्चारण के भेद मे वेद का भेद है। एक बार उच्चारण करके फिर जो उच्चारण करते है, वह वाक्य पूर्व वाक्य से भिन्न होता है। परन्तु पूर्व वाक्य के सजातीय उत्तर वाक्य है। इससे अभेद भ्रम होता है। नैयायिक मत मे भारतादिको के समान वेद पौरुषेय है और क्षणिक है। क्यो ? वर्ण समुदाय से भिन्न तो वेद है नही। वर्ण समुदाय को ही वेद कहते है, वह समुदाय प्रत्येक वर्ण से भिन्न नही है। इससे वेद वर्ण रूप है, सो वर्ण समुदाय शब्द रूप है, आकाश का गुण शब्द है। नाना शब्दो की उत्पत्ति एक काल मे नही होती। क्यो ? जैसे आत्मा के विशेष गुण ज्ञानादिक है, वैसे आकाश का विशेष गुण शब्द है। और विभु के जो विशेष गुण सो एक काल में दो उत्पन्न नही होते। यद्यपि देवदत्त का शब्द और यज्ञदत्त का शब्द एक काल मे होता है। और भेरी का शब्द वैसे ही ताल का शब्द एक काल मे होता है और यदि ऐसे कहैं, समानाधिकरण दो शब्दो की एक काल मे उत्पत्ति नही होती। तो भी सब शब्दों का समवाय एक आकाश मे है। सब शब्द समवाय सबन्ध से आकाश वृत्ति होने से समानाधिकरण है, कोई भी शब्द व्यधिकरण नही है, तथापि जैसे आकाश मे शब्द का समवाय सबन्ध है, वैसे कठ, तालु, दन्त, नासिका, ओष्ठ, जिह्वा मूल, उरस् (छाती), शिरस्, इन अष्ट अगो मे वर्णरूप शब्द का अवच्छेदकता सबन्ध है। और ध्वनि रूप शब्द का भेरी, तालादिको मे अवच्छेदकता सबन्ध है। एक अधिकरण मे वृत्ति (वर्तने) को समानाधिकरण कहते है। समवाय सबन्ध से सब शब्द आकाश वृत्ति होने से समानाधिकरण है भी परन्तु अवच्छेदकता सबन्ध से देवदत्त शब्द और यज्ञदत्त शब्द व्यधिकरण है। वैसे ही भेरी शब्द, ताल शब्द भी अवच्छेदकता संबन्ध से व्यधिकरण है। और यह नियम है —अवच्छेदकता संबन्ध से एक अधिकरण मे दो शब्दो की उत्पत्ति एक काल मे नही होती अर्थात् एक अवच्छेदक मे दो शब्दो की उत्पत्ति एक काल मे नही होती।

इससे वाक्य पद के अवयव रूप वर्णों की एक काल मे उत्पत्ति नही होती, किन्तु सब क्रम से उत्पन्न होते है। क्रम से उत्पन्न हुये वर्णों का निमित्त बिना नाश माने तो सकल वर्णों की प्रथम क्षण मे उत्पत्ति और द्वितीय क्षण मे नाश होगा। इससे उत्पत्ति नाश बिना शब्द मे और कोई प्रत्यक्षतादिक व्यापार सिद्ध नही होगा। इसलिये शब्द के नाश का कोई निमित्त मानना चाहिये। जिस निमित्त बिना द्वितीय क्षण मे शब्द का नाश हो नही, सो और तो कोई शब्द के नाश का निमित्त सभव नही है। परन्तु पूर्व शब्द के नाश का हेतु स्वोत्तरवर्ति शब्द है। "गौ." इस वाक्य मे पुरुष की कृति से नाभि देश से वायु मे क्रिया हो कर गकार का जनक जिह्वामूल मे वायु का सयोग होकर औकार का जनक कठ ओष्ठ से वायु का सजोग होता है। उससे अनन्तर विसर्ग का जनक कठ से वायु का सयोग होता है। जिस क्रम से तीन सयोग होते हैं, उसी क्रम से गकार, औकार, विसर्गरूप तीन वर्ण होते है। यद्यपि कौमुदी आदिक ग्र थो मे कवर्ग का कठ स्थान लिखा है तथापि पाणिनि कृत शिक्षा मे कवर्ग का जिह्वा मूल स्थान लिखा है। उस शिक्षा वचन के अनुसार जिह्वा मूल मे वायु के सयोग से गकार की उत्पत्ति कही है। व्याकरण मत मे यद्यपि "गौ" इतने वर्ण वाक्य रूप नही है तथापि न्याय मत मे वाक्य कहा है। प्रथम क्षण मे गकार की, द्वितीय क्षण मे औकार की और तृतीय क्षण मे विसर्ग की उत्पत्ति होती है।

वहा गकार के नाश मे औकार हेतु है, औकार के नाश मे विसर्ग हेतु है। तृतीय क्षण मे शब्द का नाश होता है, द्वितीय मे नही। क्यो ? नास-का हेतु स्वोत्तर शब्द है, सो द्वितीय क्षण मे उत्पन्न होता है। कारण की सिद्धि बिना कार्य नही होता। प्रथम क्षण मे द्वितीय शब्द असिद्ध है। इससे द्वितीय क्षण मे सिद्ध, द्वितीय शब्द से तृतीय क्षण मे प्रथम शब्द का नाश होता है। ऐसे ही तृतीय शब्द से द्वितीय का नाश होता है। इस रीति से उपात्य शब्दपर्य त स्वोत्तर वर्त्ति शब्द से शब्द का नाश होता है। और अत्यशब्द का उपात्य शब्द से सु दोप सु द-न्याय से नाश होता है। सु द और उपसु द दो भ्राता हुये है, उनका परस्पर नाश महा भारत मे प्रसिद्ध है। परन्तु इसमे यह दोष है —

यदि उपान्त्य शब्द से अन्त्यशब्द का नाश मानें तो द्वितीय क्षण मे ही अन्त्य शब्द का नाश होगा। इससे उत्पत्ति नाश से अन्य व्यापार रहित अन्त्य शब्द अप्रत्यक्ष होना चाहिये। और यदि ऐसे कहै, जगदीश भट्टाचार्य ने अन्त्य शब्द अप्रत्यक्ष कहा है। इससे अप्रत्यक्ष का आपादन (कथन) इष्ट है, दोष नही। तो भी तृतीय क्षण मे शब्द का नाश होता है, इस नियम का भग होगा। इससे अन्त्य शब्द के नाश मे उपान्त्य शब्द का नाश हेतु है, उपान्त्य शब्द हेतु नही है। इस पक्ष मे अन्त्य शब्द के नाश मे नाश की द्वितीय क्षण मे आपत्ति नही है। क्यो ? उपान्त्य शब्द का नाश अन्त्य शब्द से होता है। इससे अन्त्य शब्द के द्वितीय क्षण मे उपान्त्य का नाश, उससे उत्तर क्षण मे अन्त्य का नाश होता है। इस रीति से सकल शब्द का नाश तृतीय क्षण मे होता है। इसमे यह शका होती है :—जहा एक ही वर्णरूप शब्द हो, वहा शब्द के नाश का हेतु कोई शब्द नही है ? उसका यह समाधान है:—जैसे कठादिको से वायु का सयोग वर्ण रूप शब्द का हेतु है और भेरी आदिको से दडादिको का सयोग ध्वनि रूप शब्द का हेतु है, और वश के दल द्वय का विभाग ध्वनि रूप शब्द का हेतु है, वैसे शब्द भी शब्द का हेतु है। भेरी दड के सयोग से जो भेरी देश मे शब्द होता है, उससे उत्पन्न हुआ जो शब्द उसका श्रवण से साक्षात्कार होता है। वैसे कठादिक देश मे वायु के सयोग से जो वर्णरूप शब्द उत्पन्न होता है, उसका श्रोत्र से साक्षात्कार नही होता किन्तु वर्ण रूप शब्द से अन्य शब्द उत्पन्न होता है। उसका साक्षात्कार होता है। इस रीति से अन्य शब्द रहित एक शब्द अलीक (मिथ्या) है। परन्तु इस मत मे वर्णो का समुदाय रूप पद का एक काल मे ज्ञान सभव नही है। इससे पद का साक्षात्काररूप ज्ञान तो सभव नही, तथापि प्रत्येक वर्ण के साक्षात्कारो से सकल वर्णो को विषय करने वाली एक स्मृति होती है, स्मृत पद से पदार्थ की स्मृति होती है। उससे शाब्द बोध होता है वा पूर्व पूर्व वर्ण के अनुभव से सस्कार होता है। सस्कार सहित अन्त्य वर्ण का अनुभव ही पद का अनुभव कहा जाता है, उससे पदार्थ की स्मृति होती है। उससे शाब्द बोध होता है। यह न्याय का मत है।

और मीमासा के मत मे वर्ण नित्य है, इससे वर्ण का समुदाय रूप वेद भी नित्य है और सब वर्ण विभु है। जहा कठादि देश मे अध्यात्म (शरीर सचारी) वायु का सयोग हो, वहा वर्ण की अभिव्यक्ति होती है। नैयायिक मत मे जो वर्ण की उत्पत्ति के हेतु है, सोई मीमासक मत मे वर्ण की अभिव्यक्ति के हेतु है। इस रीति से वर्ण समुदायरूप वेद नित्य है, इससे अपौरुषेय है और वेदान्त मत मे वर्ण और उनका समुदाय रूप वेद नित्य नही है। क्यो? वेद की उत्पत्ति श्रुति ने कही है, और चेतन से भिन्न सब अनित्य है। इससे वेद नित्य नही है और क्षणिक भी नही है किन्तु सृष्टि के आदि काल मे सर्वज्ञ ईश्वर के सकल्प मात्र से वेद की उत्पत्ति होती है, इससे श्वास के समान अनायास से ईश्वर वेद को रचते है। नैयायिक मत मे भारतादिको के समान वेद पौरुषेय है। वेदान्त मत मे भारतादिको के समान ईश्वर रूप पुरुष से रचित होने से पौरुषेय तो है, परन्तु सर्वज्ञ व्यासादिक सकल सर्ग मे भारतादिको को रचते है। वहा यह नियम नही है कि जैसी पूर्व सर्ग मे आनुपूर्वी हो वैसे ही भारतादिक उत्तर सर्ग (सृष्टि) में हो, किन्तु अपनी इच्छा के अनुसार भारतादिको की आनपूर्वी रचते है। और वेद की आनपूर्वी विलक्षण नही होती है किन्तु पूर्व सर्ग की आनुपूर्वी को स्मरण करके उत्तर-सर्ग मे पूर्व कल्प के समान आनुपूर्वी वाले वेद को ईश्वर रचते है। पुरुष रचिततारूप पौरुषेयता वेद मे भारतादिको के समान है। अन्य सर्ग की आनुपूर्वी के स्मरण बिना पुरुष रचितत्वरूप पौरुषेयत्व भारतादिको मे है, वेद में नही। वेद में पूर्व सर्ग की आनुपूर्वी को स्मरण करके पुरुष रचितत्व है। इससे वेद की आनुपूर्वी अनादि है और ईश्वर रूप पुरुष से है, विरोध नही है।

इति श्री शब्द प्रमाण निरूपण अश ५ समाप्त।

अथ उपमान प्रमाण निरूपण अश ६

उपमान प्रमाण का भी कथन करने की कृपा करिये? उपमिति प्रमा के करण को उपमान प्रमाण कहते है। न्याय की रीति से उपमिति

और उपमान का स्वरूप यह है —सज्ञी (व्यक्ति) मे सज्ञा (नाम) की वाच्यता के ज्ञान को उपमिति कहते है, उसका करण अर्थात् व्यापार वाला असाधारण कारण जो हो उसको उपमान कहते है। कोई नगर निवासी पुरुष गवय शब्द के वाच्य को नही जानने से वन मे रहने वाले पुरुष से ऐसा प्रश्न करे "गवय कैसा होता है ?" तब बनवासी पुरुष का "गो के सदृश गवय होता है" ऐसा वचन सुन कर तथा वाक्यार्थ अनुभव करके वन मे गो सदृश गवय को देखकर "गो के सदृश गवय होता है" इस रीति से वाक्यार्थ का स्मरण करता है। उसके अनन्तर दृष्ट पशु मे गवय पद वाच्यता जानता है। वहा पशु विशेष मे गवय पद की वाच्यता का ज्ञान उपमिति है। वनवासी पुरुष बोधित वाक्य के अर्थ का शब्दानुभव करण है, गो सदृश पिड को देख कर वाक्यार्थ की स्मृति होती है, सो व्यापार है और गो सदृश पिड का प्रत्यक्ष सस्कार का उद्बोधक होने से सहकारी है। इससे वाक्यार्थ का अनुभव उपमान है, वाक्यार्थ स्मृति व्यापार है। जैसे आकाक्षादिक शाब्द ज्ञान के सहकारी है, वैसे गो सदृश पिड का प्रत्यक्ष सहकारी है, उपमिति फल है। यह साप्रदायिक नैयायिको का मत है।

और नवीन नैयायिक यह कहते है —गो सदृश पिड का प्रत्यक्ष सहकारी माना है सो उपमान है, और वाक्यार्थ स्मृति व्यापार है। गवय पद की वाच्यता का ज्ञान उपमिति रूप फल है। इस मत मे वाक्यार्थ का अनुभव कारण का कारण होने से कुलाल पिता के समान अन्यथा सिद्ध है, अर्थात् जैसे कुलाल का पिता घट की सामग्री से बाह्य है, वैसे उपमिति सामग्री से वाक्यार्थानुभव बाह्य है। यह दो मत नैयायिको के है। इनमे अनेक शका, समाधान रूप विचार न्यायकौस्तुभादिको मे लिखा है। सिद्धान्त मे उपयोगी नही है, इससे हमने यहा नहीं लिखा है।

जैसे सदृश ज्ञान से उपमिति होती है, वैसे विधर्म ज्ञान से भी होती है। जहा खड्गमृग पद के वाच्य को नही जानकर वनवासी पुरुष से उष्ट्र विधर्मा शृंग सहित नासिका वाला खड्गमृग पद का वाच्य है।

इस वावय को सुन कर वाक्यार्थानुभव से उत्तर वन मे जाकर उष्ट्र विधर्म खड्ग मृग के प्रत्यक्ष से उत्तर वाक्यार्थ स्मृति से गैडे मे खड्ग मृग पद की वाच्यता जानता है। और पृथ्वी पद के वाच्य को न जानने वाला "जलादि वैधर्म्यवती पृथ्वी" ऐसा गुरु वाक्य सुनकर उसके अर्थ को अनुभव करके जलादि-वैधर्म्यवान् पदार्थ को देखकर बाक्यार्थ को स्मरण करके उस पदार्थ मे पृथ्वी पद की वाच्यता निश्चय करता है। विरुद्ध धर्म वाले को विधर्म कहते है। विरुद्ध धर्म को वैधर्म्य कहते है। खड्गमृग मे उष्ट्र से विरुद्ध धर्म ह्रस्वग्रीवादिक है। पृथ्वी मे जलादिको से विरुद्ध धर्म गध है। दोनो उदाहरणो मे साप्रदायिक (प्राचीनो की) रीति से वाक्यार्थानुभव करण है, वाक्यार्थ स्मृति व्यापार है, विरुद्ध धर्मवत्पदार्थ दर्शन सहकारी है। नवीन रीति से विरुद्ध धर्म विशिष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष करण है, वाक्यार्थ स्मृति व्यापार है, वाक्यार्थानुभव मामग्री बाह्य है। खड्ग मृग पद की वाच्यता का ज्ञान और पृथ्वीपद की वाच्यता का ज्ञान उपमिति रूप फल है। इस रीति से न्याय मत मे सज्ञी मे सज्ञा का वाच्यता ज्ञान उपमान प्रमाण का फल है और प्राचीन मत मे वाक्यार्थानुभव को उपमान प्रमाण कहते हैं। नवीन मत मे सादृश्य विशिष्ट पिडदर्शन वा वैधर्म्य विशिष्ट पिडदर्शन को उपमान प्रमाण कहते हैं।

वेदात रीति से उपमान और उपमिति का स्वरूप

वेदान्त मत मे उपमिति, उपमान का अन्य स्वरूप है —ग्राम मे गो व्यक्ति को देखने वाला वन मे जाकर गवय को देखे तब "यह पशु गो के सदृश है" ऐसा प्रत्यक्ष होता है। उसके अनन्तर "मेरी गो इस पशु के सदृश है" ऐसा ज्ञान होता है। वहा गवय मे गो सदृश ज्ञान को उपमान प्रमाण कहते हैं और गो मे गवय के सादृश्य ज्ञान को उपमिति कहते है। इस मत मे भी उपमिति के करण को ही उपमान कहते है। परन्तु उपमिति का स्वरूप और लक्षण भिन्न है। इससे उपमान के लक्षण भेद बिना भी स्वरूप का भेद सिद्ध होता है। न्याय मत मे तो सज्ञा का संज्ञी मे वाच्यता के ज्ञान को उपमिति कहते हैं

और वेदात मत मे सादृश्य ज्ञान से जन्य ज्ञान को उपमिति कहते है। गवय मे गो के सादृश्य ज्ञान से गो मे गवय का सादृश्य ज्ञानजन्य है। इस रीति से उपमिति का लक्षण न्याय मत से भिन्न है। उसका जो करण हो उसको उपमान कहते है । सादृश्य ज्ञानजन्य ज्ञानरूप उपमिति गो मे गवय का सादृश्य ज्ञान है। उसका करण गवय मे गो का सादृश्य ज्ञान है सोई उपमान है। इस मत मे उपमान प्रमाण व्यापारहीन है । उपमान से अनन्तर उपमिति की उत्पत्ति मे कोई व्यापार नही मिलता । इस मत मे वैधर्म्य विशिष्ट ज्ञान से उपमिति का अगीकार नही है। क्यो ? सादृश्य जन्य ज्ञान को ही उपमिति कहते है, अन्य को नही ।

विचार सागर मे न्याय रीति से उपमिति के कथन का अभिप्राय

विचार सागर मे न्याय की रीति से उपमिति का स्वरूप कहा है, उसका अभिप्राय यह है —न्याय की रीति से उपमिति उपमान का स्वरूप माने तो भी अद्वैत सिद्धान्त मे हानि नही है, उलटा न्याय की रीति से सिद्धात के अनुकूल उदाहरण मिलता है। क्यो ? वैधर्म्य ज्ञान से उपमिति न्याय मत मे मानी है। उसका सिद्धात के अनुकूल उदाहरण यह है—"आत्मपद का अर्थ कैसा है ?" इस प्रश्न का "देहादि वैधर्म्यवान् आत्मा" ऐसे गुरु के उत्तर से अनित्य, अशुचि, दु.ख स्वरूप देहादिको से विधर्मा नित्य, शुद्ध, आनन्दरूप आत्मपद का वाच्य है। ऐसा ऐकान्त देश मे विवेचन काल मे मन का आत्मा से सयोग होकर उपमिति ज्ञान होता है। और सादृश्य ज्ञान जन्य ज्ञान को ही उपमिति मानें तो आत्मा मे किसी का भी सादृश्य नही है। इससे जिज्ञासु के अनुकूल उदाहरण नही मिलता। यद्यपि असगतादिक धर्मों से आकाश के सदृश आत्मा है, इससे आकाश मे आत्मा का सादृश्य ज्ञान उपमान है, आत्मा मे आकाश का सादृश्य ज्ञान उपमिति है। यह जिज्ञासु के अनुकूल उदाहरण सिद्धान्त की उपमिति का सभव है, तथापि जिस अधिकरण मे जिस पदार्थ के अभाव का ज्ञान हो, वहा अभाव ज्ञान मे भ्रम बुद्धि हुये बिना उस अधिकरण मे उस पदार्थ का ज्ञान नही होता। कैसे ? जैसे आत्मा मे कर्तृत्वादिको का अभाव ज्ञान जिसको

हुआ है, वह फिर न्यायादिक शास्त्र सुने तो भी प्रथम ज्ञान मे भ्रम बुद्धि हुये बिना कर्ता भोक्ता आत्मा है, ऐसा ज्ञान नही होता। जिसको वेदात अर्थ का निश्चय होने पर भी नैयायिकादिको के कुसग से आत्मा कर्ता भोक्ता है, ऐसा ज्ञान होता है, वहा प्रथम ज्ञान मे भ्रम बुद्धि होकर के ही होता है। प्रथम ज्ञान मे भ्रम बुद्धि हुये बिना विरोधी ज्ञान नही होता। वह भ्रम बुद्धि भ्रम रूप हो वा यथार्थ हो, इसमे आग्रह नही है, परन्तु भ्रम बुद्धि मे भ्रमत्व निश्चय नही होना चाहिये। यह आग्रह है। इस रीति से जिस काल मे गुरु वाक्यो से जिज्ञासु को ऐसा दृढ निश्चय हुआ है —आकाशादिक सकल प्रपच गधर्व नगर के समान दृष्ट नष्ट स्वभाव है, उससे विलक्षण स्वभाव आत्मा है। आकाशादिको मे आत्मा का किचित् भी सादृश्य नही है। उस काल मे आकाश और आत्मा का सादृश्य ज्ञान सभव नही है। इससे उत्तम जिज्ञासु के अनुकूल सिद्धान्त मे उपमिति का उदाहरण नही मिलता।

पूर्व उक्त वेदात रीति और न्याय रीति से विलक्षण उपमिति और उपमान का लक्षण

और सर्वथा नैयायिक रीति की उपमिति मे विद्वेष हो तो उपमिति का यह लक्षण करना चाहिये —सादृश्यज्ञानजन्य ज्ञान वा वैधर्म्य ज्ञानजन्य ज्ञान इन दोनो मे कोई एक हो उसको उपमिति कहते है। खड्गमृग मे उष्ट्र के वैधर्म्य ज्ञान से उष्ट्र मे खड्गमृग का वैधर्म्य होता है। पृथ्वी मे जल के वैधर्म्य (गध) ज्ञान से, जल मे पृथ्वी का वैधर्म्य (शीत स्पर्श) ज्ञान होता है। इससे उष्ट्र (ऊट) मे खड्गमृग (गेडे) का वैधर्म्य ज्ञान और जल मे पृथ्वी का वैधर्म्य ज्ञान उपमिति है, उसका करण उपमान है। यहा खड्गमृग मे उष्ट्र का वैधर्म्य ज्ञान और पृथ्वी मे जल का वैधर्म्य ज्ञान करण होने से उपमान है। और विपरीत भी उपमान, उपमिति भाव सभव है। इन्द्रिय सबद्ध मे सादृश्य ज्ञान उपमान है और इन्द्रिय से व्यवहित मे सादृश्य ज्ञान उपमिति है, वैसे प्रपच मे आत्मा के वैधर्म्य ज्ञान से आत्मा मे प्रपच का वैधर्म्य ज्ञान

उपमिति होता है। इस रीति से साहश्य ज्ञान जन्य ज्ञान और वैधर्म्य ज्ञान जन्य ज्ञान दोनो को उपमिति कहै तो जिज्ञासु के अनुकूल उदाहरण सभव है।

वेदात परिभाषा और उसकी टीका की उक्ति का खडन

और वेदात परिभाषा मे एक साहश्य ज्ञान जन्य ज्ञान ही उपमिति का लक्षण कहा है। और उसके व्याख्यान मे ग्र थकर्ता के पुत्र ने दूसरी उपमिति के खडन के लिये यह कहा है.—"कमलेन लोचनमुपमिनोमि" इस रीति से उपमान उपमेय भाव हो, उसी स्थान मे उपमान प्रमाण होता है। वैधर्म्य ज्ञान होता है वहा उपमान उपमेय भाव नही होता। इससे उपमान प्रमाण सभव नही है। उसको यह पूछना चाहिये :—वैधर्म्य ज्ञान जन्य उपमिति के जो उदाहरण कहे है, उनमें उपमिति के विषय का ज्ञान उपमान प्रमाण से नही होता तो किस प्रमाण से उनका ज्ञान होता है ? जिस प्रमाण से उनका ज्ञान कहै, उसी प्रमाण से साहश्य ज्ञान जन्य उपमिति के विषय का भी ज्ञान हो जायेगा। उपमान प्रमाण का प्रयोजन के अभाव से अन अगीकार चाहिये। जो ऐसे कहै गवय के प्रत्यक्ष समय मे गो साहश्य तो प्रत्यक्ष है, परन्तु गो मे गवय का साहश्य प्रत्यक्ष नही है। क्यो ? धर्मी के साथ इन्द्रिय का सयोग हो तो इन्द्रिय सयुक्त तादात्म्य सबन्ध से साहश्य धर्म का प्रत्यक्ष हो। गो रूप धर्मी के साथ इन्द्रिय सयोग के अभाव से गो मे गवय का साहश्य प्रत्यक्ष का विषय नही है। इससे गो मे गवय के साहश्य ज्ञान का हेतु गवय मे गो का साहश्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण चाहिये, तो वैसे ही खड्गमृग मे उष्ट्र के वैधर्म्य का तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। उष्ट्र के साथ इन्द्रिय सयोग के अभाव से उष्ट्र मे खड्गमृग के वैधर्म्य का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप सभव नही है, उसका हेतु खड्गमृग मे उष्ट्र का वैधर्म्य ज्ञान रूप उपमान ही प्रमाण मानना योग्य है। और जो वेदान्त परिभाषा की टीका मे लिखा है —

जिस ज्ञान से उत्तर "उपमिनोमि" ऐसी प्रतीति ज्ञाता को हो, सो ज्ञान उपमिति है। वैधर्म्य ज्ञान जन्य वैधर्म्य ज्ञान से उत्तर

"उपमिनोमि" ऐसी प्रतीति नही होती, इससे उपमिति नही है। सो भी अशुद्ध है। क्यो ? मुख मे चन्द्र के साद्दश्य प्रत्यक्ष से उत्तर "मुख चन्द्रेण उपमिनोमि" ऐसी प्रतीति होती है और मुख मे चन्द्र के साद्दश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है, उपमिति नही है। इससे "उपमिनोमि" इस व्यवहार का विषय उपमालकार है। जहा उपमान उपमेय की समान शोभा हो, वहा उपमालकार कहा जाता है। अलकार का सामान्य लक्षण और उपमादिको के विशेष लक्षण अलकार चन्द्रिकादिको मे प्रसिद्ध है। कठिन और अनुपयोगी जानकर यहा नही लिखे। इससे जहा "उपमिनोमि" ऐसी प्रतीति हो उसका विषय उपमिति ज्ञान नही है, किन्तु साद्दश्य ज्ञान जन्य ज्ञान और वैधर्म्य ज्ञान जन्य ज्ञान मे उपमिति शब्द पारिभाषिक है। शास्त्र के सकेत को परिभाषा कहते है। परिभाषा से बोधक शब्द को पारिभाषिक कहते है। कैसे ? जैसे छदो ग्र थो मे पच, षट्, सप्त, मे बाण, रस, मुनि शब्द पारिभाषिक है, वैसे ही उपमिति शब्द भी न्याय शास्त्र और अद्वैतशास्त्र मे भिन्न भिन्न अर्थ मे पारिभाषिक है, इससे अद्वैतशास्त्र मे साद्दश्य ज्ञान जन्य ज्ञान के समान वैधर्म्य ज्ञान जन्य ज्ञान भी उपमिति शब्द का अर्थ है। भेद सहित समान धर्म को साद्दश्य कहते है। कैसे ? जैसे गवय मे गो के भेद सहित समान अवयव है, सोई गो का साद्दश्य है। गो के समान धर्म गो मे है, भेद नही। गो का भेद अश्व मे है समान धर्म नही है। इससे साद्दश्य नही है, चन्द्र के भेद सहित आह्लाद जनकतारूप समान धर्म मुख मे है, सोई मुख मे चन्द्र का साद्दश्य है।

इस रीति से उपमान उपमेय का भेद सहित समान धर्म ही साद्दश्य पद का अर्थ है। और कोई ऐसे कहते है —साद्दश्य नाम कोई भिन्न पदार्थ है, उपमान उपमेय वृत्ति है, उपमान उपमेय के निर्णीत धर्मो से भिन्न है। सो समीचीन नही है। क्यो ? जहा दो पदार्थो मे अल्प समान धर्म हो, वहा अपकृष्ट साद्दश्य कहा जाता है। समान धर्म अधिक हो वहा उत्कृष्ट साद्दश्य कहा जाता है। इस रीति से समान धर्म की न्यूनता अधिकता से साद्दश्य मे अपकर्ष उत्कर्ष होता है। निर्णीत धर्मों से अतिरिक्त साद्दश्य हो तो ब्राह्मणत्वादिक जाति के

समान अखड होगा, उसमे अपकर्ष उत्कर्ष नही बनते। इससे समान धर्म रूप सादृश्य है। यह उदयनाचार्य का मत ही सिद्धान्त में अगीकारणीय है।

करण के लक्षण का निर्णय

परन्तु उपमिति शब्द की परिभाषा का न्यायमत मे और अद्वैत मत मे भेद है। उपमान शब्द का अर्थ दोनो मतो मे भिन्न नही है। क्यो ? उपमिति के करण को उपमान कहते है। सो न्याय मत मे गवय पद की वाच्यता का ज्ञान उपमिति पद का पारिभाषिक अर्थ है, उसका करण वा वाक्यार्थानुभव वा सादृश्य-विशिष्ट पिड प्रत्यक्ष है। और अद्वैत मत मे सादृश्य ज्ञानजन्य ज्ञान और वैधर्म्य ज्ञान जन्य ज्ञान उपमिति पद का पारिभाषिक अर्थ है। उसका करण सादृश्य ज्ञान और वैधर्म्य ज्ञान है। इस रीति से उपमिति शब्द का परिभाषा मे भेद है। उसके भेद से उपमान का भेद सिद्ध होता है। उपमान पद पारिभाषिक नही है, यौगिक है। व्याकरण की रीति से जो पद अवयव अर्थ को नही त्यागता, उसको यौगिक पद कहते है। यहा व्याकरण की रीति से उपमिति का करण उपमान पद के अवयवो का अर्थ है। उपमान से उपमिति की उत्पत्ति मे व्यापार नही है। इससे व्यापारवत् कारण ही करण होता है, यह नियम नही है, किन्तु निर्व्यापार कारण भी करण होता है। यद्यपि न्यायमत निरूपण के प्रसग मे व्यापार वाले असाधारण कारण को ही करणता कही है। इससे निर्व्यापार कारण मे करणता सभव नही है।

तथापि सिद्धान्त मत मे व्यापार से भिन्न असाधारण कारण को करणता कहना चाहिये। व्यापार वाले असाधारण कारण को ही करणता नही। कैसे ? व्यापारवत् कहने से व्यापार मे करण-लक्षण नही जाता है, वैसे व्यापार भिन्न कहने से भी व्यापार मे करण लक्षण नही जाता है। क्यो ? जैसे व्यापार मे व्यापारवत्ता नही है, वैसे व्यापार से भिन्नता भी व्यापार मे नही है। इस रीति से व्यापार भिन्न असाधारण कारण को करण कहते है। सो निर्व्यापार हो वा सव्यापार

हो । प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, ये तीन तो प्रत्यक्षप्रमा, अनुमिति प्रमा, शाब्दी प्रमा के व्यापार वाले कारण है और उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि ये तीन उपमिति आदिक प्रमा के निर्व्यापार कारण है । इससे सिद्धान्त की रीति से करण लक्षण मे व्यापारवत् पद के स्थान मे व्यापार भिन्न कहना चाहिये । और न्याय मत मे तो करण लक्षण की व्यापार मे अति व्याप्ति के परिहार के अर्थ व्यापारवत् पद का निवेश हो वा व्यापार भिन्न पद का निवेश हो दोनो प्रकार से करण का लक्षण सभव । क्यो ? न्याय मत मे उपमिति प्रमा के करण उपमान प्रमाण मे वाक्यार्थ स्मृति व्यापार है । यह न्यायानुसारी उपमान के निरूपण मे पूर्व कहा है । इससे उपमिति के करण उपमान मे व्यापारवत् कहने से भी करण लक्षण की अव्याप्ति नही है । और अर्थापत्ति का अनुमान में अतर्भाव नैयायिक मानते है । इससे अर्थापत्ति मे प्रमा करणतारूप प्रमाणता के अनगीकार से उसमे करणता व्यवहार की अपेक्षा नही है । वैसे अभाव की प्रमा मे अनुपलब्धि को सहकारी कारण ही मानते है और प्रमा करणता रूप प्रमाणता अनुपलब्धि को नैयायिक नही मानते, किन्तु अभाव प्रमा मे अनुपलब्धि सहकृत इन्द्रियादिको को प्रमाणता मानते है । इससे अनुपलब्धि मे भी प्रमा करणता रूप प्रमाणता के अनगीकार से करणता व्यवहार की अपेक्षा नही है । इस स्थान मे यह निष्कर्ष है .—अर्थापत्ति और अनुपलब्धि मे करणता व्यवहार इष्ट हो और करण का लक्षण नही हो तो करण लक्षण मे अव्याप्ति दोष हो । अर्थापत्ति और अनुपलब्धि मे प्रमाणता हो तो करणता की अवश्य अपेक्षा हो । क्यो ? प्रमा के करण को प्रमाण कहते है । इससे प्रमाणता मे करणता का प्रवेश होने से करणता बिना प्रमाणता सभव नही है । उस प्रमाणता का न्याय मत मे अर्थापत्ति, अनुपलब्धि मे अनगीकार होने से दोनो मे करणता व्यवहार अपेक्षित् नही है । इस रीति से करणता रहित अर्थापत्ति, अनुपलब्धि मे करण लक्षण के नही होने से अति व्याप्ति दोष नही होता है। इस रीति से न्याय मत मे व्यापारवत् असाधारण कारण को करणता कहे तो भी अति व्याप्ति दोष नही आता है। और सिद्धान्त मे तो व्यापारवत् कहनेसे उपमानादिक

तीन प्रमाणो मे करण लक्षण की अव्याप्ति होती है। क्यो ? सिद्धान्त मत मे इन्द्रिय सबन्धी गवय मे गो का प्रत्यक्ष रूप सादृश्य ज्ञान उपमान प्रमाण है और व्यवहित गो मे गवय का सादृश्य ज्ञान उपमिति प्रमा है, वैसे इन्द्रिय सबन्धी पशु मे व्यवहित पशु का वैधर्म्यज्ञान तो उपमान प्रमाण है और व्यवहित पशु मे इन्द्रिय सबन्धी पशु का वैधर्म्य ज्ञान उपमिति प्रमा है। इस प्रकार से उपमान से उपमिति की उत्पत्ति मे कोई व्यापार सभव नही है और उपमिति प्रमा के करण को उपमान प्रमाण कहते है, इससे उपमान प्रमाण मे करणता व्यवहार इष्ट है वैसे अर्थापत्ति और अनुपलब्धि मे भी प्रमाणता कहेगे, इससे करणता व्यवहार इष्ट है और व्यापार का सभव नही है। इसलिये उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि मे करण लक्षण की अव्याप्ति होगी। इससे करण के लक्षण मे सिद्धान्त रीति से व्यापारवत् पद को त्याग कर व्यापार भिन्न कहा चाहिये।

वेदान्त परिभाषा ग्रथ मे धर्मराज ने "व्यापारवत् असाधारण कारण करण" यह करण का लक्षण कहा है। और "प्रमा करण प्रमाणम्" यह प्रमाण का लक्षण कहा है। और धर्मराज के पुत्र ने वेदान्त परिभाषा की टीका मे यह कहा है —उपमिति का असाधारण कारण उपमान है, सो व्यापार हीन है, वैसे अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी व्यापार हीन कारण है। इससे उपमानादिक तीन के लक्षण मे व्यापार का प्रवेश नही है। उपमिति प्रमा का व्यापारवत् असाधारण कारण उपमान है। उपपादक की प्रमा का व्यापारवत् असाधारण कारण अर्थापत्ति प्रमाण है। अभाव प्रमा का व्यापारवत् असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण है। इस रीति से उपमानादिक तीन के व्यापारवत् पद-घटित लक्षण करे तो तीन को व्यापारवत्त्व के अभाव से उपमानादिको के विशेष लक्षणो का असभव होगा। इससे व्यापारवत् पद रहित विशेष लक्षण है, उपमिति प्रमा के असाधारण कारण को उपमान प्रमाण कहते है। इस रीति से अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के लक्षण मे भी व्यापारवत् नही कहना असभव नही है। इस प्रकार धर्मराज के पुत्र ने उपमान प्रमाणादिको के विशेष लक्षण तो यथा सभव

कहे है और करण का लक्षण तथा प्रमाण का सामान्य लक्षण जो मूलकार का पूर्व कहा हुआ है, उसमे कुछ विलक्षणता नही कही । इससे उसके पुत्र की उक्ति मे न्यूनता है । क्यो ? करण के लक्षण मे विशेष कहे बिना व्यापारवत्ता के अभाव से उपमिति प्रमा का करण उपमान है, और अर्थापत्ति प्रमा का करण अर्थापत्ति है, अभाव प्रमा का करण अनुपलब्धि है, ऐसा व्यवहार नही होना चाहिये । वैसे करणता के अभाव से उपमानादिको मे प्रमाणता व्यवहार भी होना चाहिये । इस लिये मूलकार के करण लक्षण मे व्यापारवत् पद का व्यापार भिन्न व्याख्यान करने मे सर्व इष्ट की सिद्धि होती है । इसलिये मूलकार के करण लक्षण मे व्यापारवत् पद का विलक्षण अर्थ नही करने से पुत्र की उक्ति मे न्यूनता है और हमारी रीति से तो व्यापार रहित उपमानादिको मे भी उपमिति आदिक प्रमा की करणता सभव है । इस रीति से प्रपच मे ब्रह्म की विधर्मता का ज्ञान उपमान है और प्रपच से विधर्म ब्रह्म है, यह उपमान प्रमाण का फल उपमिति ज्ञान है ।

इति श्री उपमान प्रमाण निरूपण अ श ६ समाप्त

अथ अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण अश ७

न्याय मत मे अर्थापत्ति का अनगीकार, त्रिधा अनुमान का वर्णन

अर्थापत्ति प्रमाण भी भली भाति समझा कर कहने की कृपा करिये ? आप की कृपा से प्रत्यक्षादि चार तो समझ मे आ गये है । नैयायिक मत मे पूर्व उक्त चार ही प्रमाण हैं, व्यतिरेकि अनुमान मे अर्थापत्ति प्रमाण का अतर्भाव है । और सिद्धान्त मे केवल व्यतिरेकि अनुमान का अगीकार नही है । इससे अर्थापत्ति भिन्न प्रमाण है, केवल व्यतिरेकि अनुमान का प्रयोजन अर्थापत्ति से सिद्ध होता है । जहा अन्वय व्याप्ति का उदाहरण नही मिले और साध्याभाव मे हेतु के अभाव की व्याप्ति का उदाहरण मिले, उसको केवलव्यतिरेकि अनुमान कहते है । कैसे ? जैसे "पृथ्वी इतरभेदवती गधवत्त्वात्" इस स्थान मे "यत्र गधवत्त्वंतत्रेतर भेदः" इस अन्वय व्याप्ति का उदाहरण नही मिलता । क्यो ? पक्ष से भिन्न दृष्टात होता है । यहा सकल पृथ्वी

पक्ष है, उससे भिन्न जलादिको मे इतर भेद और गध रहते नही है। इससे यह केवल व्यतिरेकि अनुमान है। "यत्र इतरभेदाभावस्तत्र गधाभाव , यथा जले" इस रीति से साध्याभाव मे हेतु के अभाव की व्याप्ति ज्ञान का हेतु जो सहचार ज्ञान सो जलादिको मे होता है। इससे जलादिक उदाहरण है। व्याप्ति ज्ञान का हेतु सहचार ज्ञान जहा हो उसको उदाहरण कहते है। अन्वयि अनुमान मे जैसा व्याप्य व्यापक भाव होता है, उससे विपरीत व्यतिरेकि मे होता है। अन्वयि मे हेतु व्याप्य होता है और साध्य व्यापक होता है। व्यतिरेकि मे साध्याभाव व्याप्य होता है और हेतु अभाव व्यापक होता है, परन्तु इस स्थान मे नैयायिको के दो मत है।

साध्याभाव मे हेतु के अभाव का सहचार दर्शन होता है, इससे हेतु के अभाव की व्याप्ति का ज्ञान भी साध्याभाव मे होता है। इस पक्ष मे कोई नैयायिक यह दोष कहते है —जिस पदार्थ मे जिसकी व्याप्ति का ज्ञान हो, उस हेतु से उस साध्य की अनुमिति होती है। जिन पदार्थो का परस्पर व्याप्य व्यापक भाव नही जाना हो, उनका परस्पर हेतु साध्यभाव नही बनता। व्याप्य व्यापक भाव तो इतर भेदाभाव गधाभाव का और गध इतर भेद का हेतु साध्य भाव कहना आश्चर्य जनक है। इससे साध्याभाव हेत्वभाव के सहचार दर्शन से भी हेतु मे साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है। अन्वयि व्यतिरेकि अनुमान का इतना ही भेद है :—जहा हेतु साध्य के सहचार ज्ञान से हेतु मे साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है, उसको अन्वयि अनुमान कहते है। जहा साध्याभाव मे हेत्वभाव के सहचार दर्शन से हेतु मे साध्य की व्याप्ति का ज्ञान हो उसे व्यतिरेकि अनुमान कहते है। साध्याभाव मे हेत्वभाव की व्याप्ति का ज्ञान कही भी नही हो और जहा साध्याभाव मे हेतु के अभाव की व्याप्ति का ज्ञान हो जाय वहा साध्याभाव से हेत्वभाव की अनुमिति ही होती है। हेतु से साध्य की अनुमिति नही होती। क्यो ? व्याप्य ज्ञान से व्यापक की अनुमिति होती है, यह नियम है। आदि पक्ष प्राचीन का है, द्वितीय पक्ष नवीन का है। अनुमान प्रकरण मे न्याय ग्र थो के अध्ययन बिना बुद्धि का प्रवेश नही होता, इससे कोई अर्थ अनुमान

का हमने विस्तार से नही लिखा है। इस रीति से केवल व्यतिरेकि अनुमान के उदाहरण है। और जहा साध्याभाव हेत्वभाव के सहचार का उदाहरण नही मिले उसको केवलान्वयि अनुमान कहते है। कैसे ? जैसे "घट पद शक्तिमान् ज्ञेयत्वात् पटवत्" यहा साध्याभाव हेत्वभाव का सहचार कही नही मिलता। न्याय मत मे ज्ञेयता और पद शक्ति सर्व मे है। इससे अभावो के सहचार का उदाहरण नही मिलता। जहा दोनो के उदाहरण मिलें उसको अन्वय व्यतिरेकि अनुमान कहते है। ऐसा प्रसिद्ध अनुमान है। "पर्वतो वह्निमान्" इसको प्रसिद्धानुमान कहते है। यहा अन्वय के सहचार का उदाहरण महानस है ओर व्यतिरेक के सहचार का उदाहरण महाह्लद है। इस रीति से तीन प्रकार का अनुमान नैयायिक कहते है।

वेदान्त रीति से एक अन्वयि (अन्वय व्यतिरेकि) अनुमान और अर्थापत्ति का स्वीकार

वेदान्त मत मे केवल व्यतिरेकि का प्रयोजन अर्थापत्ति से होता है, इतर भेद बिना गधवत्ता सभव नही है। इससे गधवत्ता की अनुपपत्ति इतर भेद की कल्पना करती है। इस रीति से अर्थापत्ति प्रमाण से केवल व्यतिरेकि गतार्थ (चरितार्थ) है, और केवलान्वयि अनुमान कोई नही है। क्यो ? सर्वपदार्थों का ब्रह्म मे अभाव है, इससे व्यतिरेक सहचार का उदाहरण ब्रह्म मिलता है। यद्यपि वृत्ति ज्ञान की विषयता रूप ज्ञेयता ब्रह्म मे है, उसका अभाव ब्रह्म मे नही बनता, तथापि ज्ञेयतादिक मिथ्या है। मिथ्या पदार्थ और उसका अभाव एक अधिष्ठान मे रहते है। इससे जिमको नैयायिक अन्वयव्यतिरेकि कहते है, सोई अन्वयि नाम एक प्रकार का अनुमान है, यह वेदात का मत है। इस मत मे केवल व्यतिरेकि अनुमान का अगीकार नही है। अर्थापत्ति प्रमाण का अगीकार है। और विचार दृष्टि से देखें तो दोनो को दोनो मानने चाहिये। क्यो ? जहा एक पदार्थ के ज्ञान के अनुव्यवसाय भिन्न हो, वहा उस पदार्थ के ज्ञानो के जनक प्रमाण भिन्न होते है। व्यवसाय ज्ञान के जनक प्रमाण भेद बिना अनव्यवसाय का भेद नही होता। एक वह्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान हो

तब "वह्नि साक्षात्करोमि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। अनुमानजन्य ज्ञान हो तब "वह्नि मनुमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। जहा शब्द से वह्नि का ज्ञान हो, वहा "वह्नि शाब्दयामि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। और जहा सूर्य मे वह्नि के सादृश्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण से सूर्य सदृश वह्नि का ज्ञान हो, वहा "सूर्येण वह्निमुपमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। ज्ञान के ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते है। अनुव्यवसाय का विषय जो ज्ञान हो, उसको व्यवसाय कहते है।

इस रीति से व्यवसाय ज्ञान के जनक प्रमाण के भेद से अनुव्यवसाय का भेद होता है। कदाचित् "गधेन इतर भेद पृथिव्यामनुमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है और "गधानुपपत्त्या इतर भेद पृथिव्या कल्पयामि" कदाचित् ऐसा अनुव्यवसाय होता है। जहा अनुव्यवसाय का विषय व्यवसाय अनुमान प्रमाण जन्य है, वहा प्रथम अनुव्यवसाय होता है। जहा अनुव्यवसाय का विषय व्यवसाय अर्थापत्ति प्रमाण जन्य है, वहा द्वितीय अनुव्यवसाय होता है। इस रीति से अनुव्यवसाय के भेद से व्यवसाय ज्ञान के जनक अनुमान, अर्थापत्ति दोनो है। एक को मान कर दूसरे का निषेध नही बनता। और शब्द-शक्ति प्रकाशिकादि ग्र थो मे अनुमान प्रमाण से शब्द प्रमाण का भेद अनुव्यवसाय के भेद से ही सिद्ध किया है। इससे प्रमाण के भेद की सिद्धि मे अनुव्यवसाय का भेद प्रबल हेतु है। इस रीति से अर्थापत्ति और केवल व्यतिरेकि अनुमान दोनो मानने चाहिये। जहा विषय का प्रकाश एक प्रमाण से सिद्ध हो, वहा अपर प्रमाण का निषेध नही होता। यह केवल व्यतिरेकि का स्वरूप सक्षेप से दिखाया है।

अर्थापत्ति प्रमाण प्रमा का स्वरूप भेद तथा उदाहरण

अर्थापत्ति का स्वरूप यह है :—जैसे प्रमाण और प्रमा का बोधक प्रत्यक्ष, शब्द है, वैसे अर्थापत्ति शब्द भी प्रमाण और प्रमा दोनो का बोधक है। उपपादक कल्पना के हेतु उपपाद्य ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। उपपादक ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमा कहते है। उपपादक, सपादक पर्याय शब्द है। उपपाद्य, सपाद्य पर्याय है। इससे विचार-

सागर मे सपादक ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमा कहा है उससे विरोध नही है। जिस बिना जो सभव नही उसका उसको उपपाद्य कहते है। कैसे ? जैसे रात्रि भोजन बिना दिवा अभोजी पुरुष मे स्थूलता सभव नही होती। इससे रात्रि भोजन का स्थूलता उपपाद्य है। जिसके अभाव से जिसका अभाव हो, उसको उसका उपपादक कहते है। कैसे ? जैसे रात्रि भोजन के अभाव से स्थूलता का दिवा अभोजी को अभाव होता है। इससे रात्रि भोजन स्थूलता का उपपादक है। शका :—इस रीति से व्यापक को उपपादकता और व्याप्य को उपपाद्यता सिद्ध होती है। उपपादक ज्ञान का हेतु उपपाद्य ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है। इस कथन से व्यापक ज्ञान का हेतु व्याप्य ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है, यह सिद्ध होता है। ऐमा अनुमान प्रमाण है। अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान प्रमाण से भेद प्रतीत नही होता ? उत्तर—स्थूलता रात्रि भोजन का व्याप्य है और स्थूलतावाला देवदत्त है, ऐसे दो ज्ञान होकर जहा रात्रि भोजन का ज्ञान हो, वहा अनुमिति ज्ञान है और दिवा अभोजी पुरुष मे रात्रि भोजन बिना स्थूलता की अनुपपत्ति है, ऐसे ज्ञान से उत्तर रात्रि भोजन का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा है। इसी कारण से प्रथम रीति से रात्रि भोजन के ज्ञान से उत्तर "स्थौल्येन रात्रि भोजन मनुमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। द्वितीय रीति से रात्रि भोजन के ज्ञान से उत्तर "स्थूलता नुपपत्त्या रात्रि भोजन कल्पयामि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। इस रीति से उपपाद्य अनुपपत्ति ज्ञान से उपपादक कल्पना को अर्थापत्ति प्रमा कहते है। उपपादक कल्पना के हेतु उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। अर्थ अर्थात् उपपादक वस्तु उसकी आपत्ति अर्थात् कल्पना, इस अर्थ से अर्थापत्ति शब्द प्रमा का बोधक है, वहा "अर्थस्य आपत्ति" ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष समास है। और "अर्थस्य आपत्तिर्यस्मात्" इस बहुव्रीहि समास से अर्थ की कल्पना जिससे हो, सो उपपाद्य की अनुपपत्ति का ज्ञान रूप प्रमाण अर्थापत्ति शब्द का अर्थ है। अर्थापत्ति दो प्रकार की है, एक दृष्टार्थापत्ति है, दूसरी श्रुतार्थापत्ति है। जहा दृष्ट उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना हो, वहा दृष्टार्थापत्ति होती है। कैसे ? जैसे दिवा अभोजी

स्थूल मे रात्रि भोजन का ज्ञान दृष्टार्थापत्ति है। क्यो ? उपपाद्य स्थूलता दृष्ट है और जहा श्रुत उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना हो, वहा श्रुतार्थापत्ति होती है। कैसे ? जैसे "गृहेऽसन् देवदत्तो जीवति" इस वाक्य को सुन कर गृह से बाह्य देश मे देवदत्त की सत्ता बिना गृह मे असत् देवदत्त का जीवन नही बनता। इससे गृह मे असत् देवदत्त के जीवन की अनुपपत्ति से देवदत्त की गृह से बाह्य सत्ता कल्पना करते है, वहा गृह मे असत् देवदत्त का जीवन दृष्ट नही है किन्तु श्रुत है।

श्रुत अर्थ की अनुपपत्ति से उपपादक की कल्पना को श्रुतार्थापत्ति कहते है। उसके हेतु श्रुत अर्थ की अनुपपत्ति के ज्ञान को श्रुतार्थापत्ति प्रमाण कहते है। इस स्थान मे गृह मे असत् देवदत्त का जीवन उपपाद्य है, गृह से बाह्यसत्ता उपपादक है अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति भेद से श्रुतार्थापत्ति दो प्रकार की है। "द्वारम्" अथवा "पिधेहि" इत्यादि स्थान से जहा वाक्य का एक देश उच्चारित हो, एक देश उच्चारित नही हो, वहा श्रुतपद के अर्थ के अन्वययोग्य अर्थ का अध्याहार होता है। अथवा अन्वययोग्य अर्थ का बोधक जो पद उसका अध्याहार होता है। इनही को क्रम से अर्थाध्याहारवाद और शब्दाध्याहारवाद, ग्रथो मे कहते है। परन्तु अर्थ के अध्याहार का ज्ञान वा पद के अध्याहार का ज्ञान अन्य प्रमाण से सभव नही है। अर्थापत्ति प्रमाण से होता है।

यहा अभिधानानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति है। क्यो ? अन्वय बोध फल वाले शब्द प्रयोग को अभिधान कहते है। "द्वारम्" इत्यादिक शब्द प्रयोग रूप अभिधान की पिधान रूप अर्थ के वा "पिधेहि" पद के अध्याहार बिना अनुपपत्ति है। अथवा इस स्थान मे एक पदार्थ का दृष्ट पदार्थांतर मे अन्वय बोध मे वक्ता का तात्पर्य अभिधान शब्द का अर्थ है। "द्वारम्" इतना कहै, वहा द्वार कर्मता का निरूपकता सबन्ध से पिधानान्वयि बोध श्रोता को हो, ऐसा वक्ता का तात्पर्यरूप अभि-धान है। और "पिधेहि" इतना कहै, वहा भी पूर्वोक्त वक्ता का

तात्पर्यरूप अभिधान है। वक्ता के तात्पर्य रूप अभिधान के अध्याहार बिना अनुपपत्ति है। इससे इसे अभिधानानुपपत्ति कहते है। यहा अर्थ का अध्याहार वा शब्द का अध्याहार उपपादक है, अन्वय बोध फलक शब्द प्रयोग उपपाद्य है, वा पूर्व उक्त तात्पर्य उपपाद्य है, अन्वय बोध फलक शब्द प्रयोग रूप उपपाद्य की अनुपपत्ति से अथवा तात्पर्यरूप उपपाद्य की अनुपपत्ति अर्थ वा शब्द रूप उपपादक की कल्पना है, इससे अध्याहृत अर्थ का वा शब्द का अभिधानानुपपत्ति रूप अर्थापिति प्रमाण से बोध होता है। जहा सब वाक्य का अर्थ अन्य अर्थ कल्पना बिना अनुपपन्न हो, वहा अभिहितानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति है। कैसे ? जैसे "स्वर्ग कामोयजेत" इस वाक्य का अर्थ अपूर्व कल्पना बिना अनुपपन्न है, इससे अभिहितानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति है। यहाँ याग को स्वर्ग साधनता उपपाद्य है, उसकी अनुपपत्ति से उपपादक अपूर्व की कल्पना है और स्वर्ग साधनता दृष्ट नही है किन्तु श्रुत है। इससे श्रुतार्थापत्ति है।

अर्थापत्ति का जिज्ञासु के अनुकूल उदाहरण

श्रुतार्थापत्ति का जिज्ञासु के अनुकूल उदाहरण "तरति शोकमात्मवित्" यह है। यहा ज्ञान से शोक की निवृत्ति श्रुत है। उसकी शोक मिथ्यात्व बिना अनुपपत्ति है, इससे ज्ञान से शोक की निवृत्ति की अनुपपत्ति से बध मिथ्यात्व की कल्पना होती है। बध मिथ्यात्व उपपादक है, ज्ञान से शोक निवृत्ति उपपाद्य है, सो दृष्ट नही है किन्तु श्रुत है, इससे श्रुतार्थापत्ति है। वैसे महावाक्यो मे जीव ब्रह्म का अभेद श्रवण होता है सो औपाधिक भेद हो तो सभव है, स्वरूप से जीव ब्रह्म का भेद हो तो सभव नही है। इसलिये जीव ब्रह्म के अभेद की अनुपपत्ति से भेद का औपाधिकत्व ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण जन्य है। यहा जीव ब्रह्म का अभेद उपपाद्य है, भेद मे औपाधिकता उपपादक है, सर्वत्र उपपाद्य ज्ञान प्रमाण है, उपपादक ज्ञान प्रमा है। यहां जीव ब्रह्म का अभेद विद्वान को दृष्ट है। अन्य के श्रुत है। इससे दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति दोनो का उदाहरण है। जहा वाक्य

मे पद का वा अर्थ का अध्याहार नही हो और अन्य अर्थ की कल्पना बिना वाक्यार्थ की अनुपपत्ति हो, वहा अभिहितानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति होता है। इससे "द्वारम्" इस एक उदाहरण बिना अभिहितानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति के उदाहरण है। वैसे रजत के अधिकरण शुक्ति मे रजत का निषेध दृष्ट है, सो रजत के मिथ्यात्व बिना सभव नही है, इससे निषेध की अनुपपत्ति से रजत मिथ्यात्व की कल्पना होती है, यह दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण है।

यहा रजत निषेध उपपाद्य है और मिथ्यात्व उपपादक है। और मन के विलय से अनन्तर निर्विकल्पसमाधि काल मे अद्वितीय ब्रह्म मात्र शेष रहता है, सकल अनात्म वस्तु का अभाव होता है, सो अनात्म वस्तु मानस हो तो मन के विलय से उसका अभाव सभव है। यदि मानस नही हो तो मन के विलय से अभाव नही होता। क्यो ? अन्य विलय से अन्य का अभाव नही होता। इससे मन के विलय से सकल द्वैताभाव की अनुपपत्ति से सकल द्वैत मनोमात्र है, यह कल्पना होती है। इस स्थान मे मन के विलय से सकल द्वैत का विलय उपपाद्य है, उसका ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है। सकल द्वैत को मानसता उपपादक है, उसका ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा है। इस स्थान मे उपपादक प्रमा का असाधारण कारण अर्थापत्ति प्रमाण है, सो निर्व्यापार है, तो भी उसमे उपपादक प्रमा की करणता सभव है। यह उपमान निरूपण मे कहा है।

इति श्री अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण अंश ७ समाप्त.

अथ अनुपलब्धि प्रमाण निरूपण अंश ८

अब अनुपलब्धि प्रमाण का भी कुछ परिचय दीजिये ? अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव की प्रमा होती है। इसलिये अभाव की प्रमा के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते है। न्याय, वेदात के सस्कार से रहित अभाव के स्वरूप को नही जानते है। इसलिये प्रथम अभाव का स्वरूप कहते है। निषेधमुख प्रतीति का विषय हो वा प्रतियोगी

सापेक्ष प्रतीति का विपय हो, उसको अभाव कहते है । प्राचीन मत का प्रथम लक्षण है । नवीन मत मे घ्वस और प्रागभाव न शब्दजन्य प्रतीति के विषय नही है । इससे दूसरा लक्षण कहा है । प्रतियोगी को त्यागकर अभाव की प्रतीति नही होती है, इसलिये प्रतियोगि सापेक्ष प्रतीति के विषय सब अभाव है । यद्यपि अभाव के सबन्ध और सादृश्य भी प्रतियोगि निरपेक्ष प्रतीति के विषय नही है किन्तु प्रतियोगि सापेक्ष प्रतीति के विषय है । उनमे अभाव का लक्षण जाता है, तथापि सबन्ध और सादृश्य की प्रतियोगिता से अभाव की प्रतियोगिता विलक्षण है । सो न्याय ग्र थो मे अभावाभावरूपता अभाव की प्रतियोगिता का स्वरूप उदयनाचार्य ने लिखा है । ऐसी प्रतियोगिता सबन्ध और सादृश्य की नही है । इससे सबन्ध की और सादृश्य की प्रतियोगिता से विलक्षण प्रतियोगिता वाला जिसका प्रतियोगी हो, उसको अभाव कहते है। स्थूल रीति यह है —सबन्ध सादृश्य से भिन्न हो और प्रतियोगि सापेक्ष प्रतीति का विषय हो, उसको अभाव कहते है । वह अभाव दो प्रकार का है । एक ससर्गाभाव है, दूसरा अन्योन्याभाव है । उनमे अन्योन्याभाव तो एक प्रकार का ही है। ससर्गाभाव के चार भेद है । प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, सामयिकाभाव और अत्यताभाव । इस रीति से चार प्रकार का ससर्गाभाव और अन्योन्याभाव मिलकर पाच प्रकार का अभाव है । कपाल मे घट की उत्पत्ति से पूर्व घट का अभाव है, और कच्चे कपाल मे रक्तरूप की उत्पत्ति से पूर्व रक्तरूप का अभाव है, सो प्रागभाव है । घट की उत्पत्ति से उत्तर मुद्गरादिक प्रहार से कपाल मे घट का अभाव है, वह प्रध्वसाभाव होता है । और पक्व कपाल मे श्यामरूप का अभाव होता है, सो श्याम रूप का प्रध्वसाभाव है । नैयायिक मत मे प्रध्वसाभाव सादि है और अनन्त है । क्यो ? घट के ध्वस की उत्पति तो मुद्गरादिको से होती है, यह अनुभव सिद्ध । और ध्वस का ध्वस सभव नही है । क्यो ? प्रागभाव, प्रतियोगि और ध्वस, इन तीन मे एक का अधिकरण काल अवश्य होता है । प्रागभाव ध्वस का अनाधार काल प्रतियोगि का आधार होता है, यह नियम है ।

कैसे ? जैसे घट की उत्पत्ति होने पर नाश से पूर्व घट के प्रागभाव ध्वस का अनाधार काल है। क्यो ? प्रागभाव का नाश हो गया और घट का ध्वस हुआ नही। इससे घट प्रागभाव और ध्वस का अनाधार काल है सो घट का आधार काल है। यदि घट के ध्वस का ध्वस माने तो घट ध्वस के ध्वस का अधिकरण काल घट प्रागभाव का और घट ध्वस का अनाधार होने से घट का आधार होना चाहिये। इस रीति से ध्वस का ध्वस माने तो प्रतियोगी का उन्मज्जन (जन्म) होना चाहिये। इसीलिये प्रागभाव को अनादि मानते है। यदि सादि माने तो प्रागभाव की उत्पत्ति से प्रथम काल प्रागभाव और ध्वस का अनाधार होने से प्रतियोगि का आधार होना चाहिये। इससे प्रागभाव अनादि सात है। प्रध्वसाभाव अनन्त सादि है। भूतलादिको मे जहा कदाचित् घट हो, वहा घटशून्य काल मे घट का सामयिकाभाव है। किसी समय मे हो, उसको सामयिकाभाव कहते है। वायु मे रूप कदाचित् नही होता, इससे वायु मे रूप का अत्यताभाव है। घट से इतर पदार्थो मे जो घट का भेद है, सो घट का अन्योन्याभाव है। सामयिकाभाव तो सादि सात है। अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव दोनो अनादि अनत है। इस रीति से पाच प्रकार का अभाव है।

अभेद के निषेधक अभाव को अन्योन्याभाव कहते है। वा अत्यता-भाव से भिन्न उत्पत्ति और नाश से शून्य अभाव को अन्योन्याभाव कहते है। उसी को भेद और भिन्नता तथा अतिरिक्तता और जुदापना भी कहते है। उत्पत्तिशून्य तो प्रागभाव भी है, सो नाश-शून्य नही है। नाशशून्य तो प्रध्वसाभाव भी है, सो उत्पत्तिशून्य नही है। उत्पत्ति नाश शून्य तो आत्मा भी है, सो अभावरूप नही है, किन्तु भाव रूप है। उत्पत्ति नाश शून्य अभाव रूप तो अत्यताभाव भी है, सो अन्योन्याभाव रूप नही है, किन्तु उससे भिन्न है। "घट पटोन" ऐसा कहने से घट मे पट के अभेद का निषेध होता है। इससे घट मे पट के अभेद का निषेधक, घट मे पट का अन्योन्याभाव है।

उससे भिन्न अभाव को ससर्गाभाव कहते है। १ अनादि सात जो

अभाव, उसको प्रागभाव कहते है। अपने प्रतियोगी के उपादान कारण मे प्रागभाव रहता है। कैसे ? जैसे घट के प्रागभाव का प्रतियोगी घट है। उसके उपादान कारण कपाल मे घट का प्रागभाव रहता है। सो अनादि अर्थात् उत्पत्ति रहित है और सात अर्थात् अतवाला है। अनादि अभाव तो अत्यताभाव भी है, सो सात नही है। सात अभाव तो सामयिका भाव भी है, सो अनादि नही है। वेदात सिद्धान्त मे अनादि और सात तो माया भी है, सो अभाव नही है। किन्तु जगत का उपादान कारण होने से सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय भावरूपमाया है।

२—सादि अनन्त जो अभाव, उसको प्रध्वसाभाव कहते है। जैसे मुद्गरादिको से घटादिको का ध्वस होता है। अनत अभाव तो अत्यताभाव भी है, मो सादि नही है। सादि अभाव तो सामयिका भाव भी है, सो अनन्त नही है। सादि अनन्त तो मोक्ष भी है, क्यो ? ज्ञान से मोक्ष होता है, इससे सादि है और मुक्त को पुन ससार नही होता, इससे अनत है। परन्तु मोक्ष अभावरूप नही है, किन्तु भावरूप है। यद्यपि अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति को मोक्ष कहते है। निवृत्ति नाम ध्वस का है। इमसे मोक्ष भी अभावरूप है। तथापि कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान रूप होती है। अज्ञान और उसका कार्य कल्पित है। इससे उनकी निवृत्ति अधिष्ठान रूप है। इसलिये मोक्ष अभाव रूप नही है। किन्तु ब्रह्मरूप होने से भावरूप है। ३—उत्पत्ति और नाश वाला जो अभाव, उसको सामयिका भाव कहते है। जहा किसी काल मे पदार्थ हो और किसी काल मे न हो, वहा पदार्थ शून्य काल मे उस पदार्थ का सामयिकाभाव होता है। जैसे भूतलादिको मे घटादिक किसी काल मे होते है और किसी काल मे नही होते। वहा घट शून्य काल सबधी भूतकालादिको मे घटादिको का सामयिकाभाव होता है।

समय विशेष मे उत्पन्न हो और समय विशेष मे नष्ट हो, उसको सामयिकाभाव कहते है। भूतल से घट को अन्यदेश मे ले जायें तब घट

का अभाव भूतल मे उत्पन्न होता है और उसी भूतल मे घट को ले आयें तब घट का अभाव भूतल मे नष्ट होता है। इस रीति से सामयिकाभाव उत्पत्ति नाशवाला है। उत्पत्तिवाला तो प्रध्वसाभाव भी है, सो नाशवाला नही है। नाश वाला तो प्रागभाव भी है, सो उत्पत्ति वाला नही है। उत्पत्ति नाशवाले तो घटादिक भूत भौतिक अनेक पदार्थ है, सो अभाव रूप नही है। किन्तु विधिमुख प्रतीति अर्थात् अस्ति प्रतीति के विषय होने से भावरूप है। ४—अन्योन्याभाव से भिन्न जो उत्पत्तिशून्य और नाशशून्य अभाव, उसको अत्यताभाव कहते है। जहा किसी काल मे भी जो पदार्थ न हो, वहा उस पदार्थ का अत्यताभाव कहा जाता है। जैसे वायु मे रूप और गध किसी काल मे भी नही होते है। वहा रूप और गध का अत्यताभाव है। आत्मा मे रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द कभी भी नही रहते है। इससे रूपादिको के अत्यताभाव आत्मा मे रहते है। उत्पत्ति शून्य तो प्रागभाव भी है, सो नाश शून्य नही है। नाश शून्य तो प्रध्वसाभाव भी है, सो उत्पत्ति शून्य नही है। उत्पत्ति नाश शून्य तो ब्रह्म भी है, सो अभाव रूप नही है। किन्तु भावरूप है। उत्पत्ति नाश शून्य अभावरूप तो अन्योन्याभाव भी है, सो अन्योन्याभाव से भिन्न नही है।

उक्त अभाव के स्वरूप मे वेदात विरुद्ध अश का प्रदर्शन

इस रीति से अभाव का कथन न्यायशास्त्र करता है। इसमे जितना अश वेदान्त से विरुद्ध है, सो सक्षेप से दिखाते है —कपाल मे घट के प्रागभाव को अनादि कहते है। सो प्रमाण विरुद्ध है। इससे वेदान्त के अनुसार नही है। क्यो ? घट प्रागभाव का अधिकरण सादि है और प्रतियोगी घट भी सादि है। तब प्रागभाव को अनादिता किस रीति से होगी ? और माया मे सकल कार्य के प्रागभाव को अनादिता कहे तो सभव है। क्यो ? माया अनादि है। परन्तु माया मे कार्य का प्रागभाव मानना व्यर्थ है और सिद्धात मे इष्ट भी नही है। इससे प्रागभाव सादि सांत है। वैसे नैयायिक मत में प्रध्वसाभाव भी

अपने प्रतियोगी के उपादान मे ही रहता है। इससे घट का ध्वस कपाल मात्र वृत्ति है सो अनत है। यह कथन असगत है। घट ध्वस का अधिकरण जो कपाल, उसके नाश से घट ध्वस का नाश होने से प्रध्वंसाभाव भी सादि सात है। वैसे अन्योन्याभाव भी सादि सात अधिकरण मे सादि सात है। जैसे घट मे पट का अन्योन्याभाव है। उसका अधिकरण घट है, सो सादि है और सात है। इससे घटवृत्ति पट अन्योन्याभाव भी सादि सात है। अनादि अधिकरण मे अन्योन्यभाव अनादि है। परन्तु अनादि भी सात हैं, अनन्त नही है। जैसे ब्रह्म में जीव का भेद है, सो जीव का अन्योन्याभाव है। उसका अधिकरण ब्रह्म है, सो अनादि है। इससे ब्रह्म मे जीव का भेद रूप अन्योन्याभाव अनादि है और ब्रह्मज्ञान से अज्ञान निवृत्ति द्वारा भेद का अत होता है, इससे सात है। अनादि पदार्थ की भी ज्ञान से निवृत्ति अद्वैतवाद मे इष्ट है। इसीलिये शुद्ध चेतन, ईश्वर, जीव, अविद्या, अविद्या चेतन का सबन्ध और अनादि का परस्पर भेद। ये षट् पदार्थ अद्वैत मत मे स्वरूप से अनादि कहे है और शुद्धचेतन बिना पाच की ज्ञान से निवृत्ति मानते है। इसमे यह शका होती है —

जीव, ईश्वर को अद्वैतवाद मे मायिक कहते है। माया के कार्य को मायिक कहा जाता है। जीव, ईश माया के कार्य है और अनादि है, यह कहना विरुद्ध है। इस शका का यह समाधान है —जीव, ईश माया के कार्य है, यह मायिक पद का अर्थ नही है, किन्तु माया की स्थिति के अधीन जीव, ईश की स्थिति है। माया की स्थिति बिना जीव ईश की स्थिति नही होती, इससे मायिक है और माया के समान अनादि है। इस रीति से अनादि अन्योन्याभाव भी सात है, अन्योन्याभाव अनत नही है। ४—वैसे अत्यंताभाव भी आकाशादिको के समान अविद्या का कार्य है और विनाशी है। इस रीति से अद्वैतवाद मे सर्व अभाव विनाशी है, कोई भी अभाव नित्य नही है। और अद्वैतवाद मे अनात्मपदार्थ सर्व माया के कार्य है। इससे आत्मभिन्न को नित्यता संभव नही है। जैसे घटादिक भाव पदार्थ माया के कार्य हैं, वैसे अभाव भी माया के कार्य है, इससे मिथ्या है। और कोई अद्वैतवादी ग्र थकार

एक अत्यताभाव को ही मानते है और अभावो को मिथ्या कहते है। कैसे ? जैसे घट का प्रागभाव कपाल मे कहते है, सो मिथ्या है। क्यो ? घट की उत्पति से पूर्व काल सबन्धी कपाल ही "घटो भविष्यति" इस प्रतीति का विषय है। घट का प्रागभाव अप्रसिद्ध है। वैसे मुद्गरादिकों से चूर्णीकृत कपाल अथवा विभक्त कपाल से पृथक् घट ध्वस भी अप्रसिद्ध है। वैसे घट सबन्धी भूतल ही घट का सामयिकाभाव है। घट हो तब घट का सबन्धी भूतल है। इससे घट सबन्धी भूतल नही है। इस रीति से सामयिकाभाव अधिकरण से पृथक नही है। वैसे घट मे पट के भेद को घटवृत्ति पटान्योन्याभाव कहते है। सो दोनो के अभेद का अत्यंताभाव रूप है। दो पदार्थो के अभेदात्यताभाव से पृथक् अन्योन्याभाव अप्रसिद्ध है। इस रीति से एक अत्यताभाव है अन्य कोई अभाव नही है। इस प्रकार अभाव के निरूपण मे बहुत विचार है। ग्रथ वृद्धि के भय से रीति मात्र बताई है।

न्याय मत मे सामग्री सहित अभाव प्रमा का कथन

अभाव प्रमा का भी परिचय दीजिये ? जैसे घटादिको के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे आलोक (सूर्यादि की प्रभा) सयोग सहकारी कारण है। और नेत्र इन्द्रिय करण है, वैसे अभाव के प्रत्यक्ष मे भी योग्यानुपलभ सहकारी है। (ज्ञान को उपलभ कहते है। प्रत्यक्ष योग्य की अप्रतीति को योग्यानुपलभ कहते है) और अभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे कभी भी आलोक सयोग सहकारी नही है। यद्यपि अधकार मे घटाभाव का त्वाच प्रत्यक्ष होता हैं, चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता, आलोक मे ही घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। इससे अभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष में अन्वयव्यतिरेक से आलोक सयोग सहकारी कहना चाहिये। तथापि घट मे कुलाल पिता के समान अभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे आलोक संयोग अन्यथा सिद्ध है। कैसे ? जैसें घट के कारण कुलाल की सिद्धि होने पर कुलाल का पिता कारण सामग्री से बाह्य रहता है, उसको घट का कारण नही कहते, किन्तु वह घट के कारण का कारण है, वैसे अभाव के प्रत्यक्ष का सहकारी कारण योग्यानुपलभ है, उसकी

सिद्धि होने पर अभाव प्रत्यक्ष की कारण सामग्री से आलोक सयोग बाह्य रहता है। क्यो ? अनुपलभ का प्रतियोगी जो उपलभ, उसका जहा आरोप सभव हो, वह अनुपलभ योग्य कहलाता है। घट के चाक्षुष उपलभ का आरोप आलोक मे होता है, अधकार मे चाक्षुष उपलभ का आरोप नही होता। इससे घटाभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष का सहकारी कारण जो योग्यानुपलभ उसका साधक आलोक है। घटाभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष का साक्षात्कारण नही होने से कारण सामग्री से बाह्य है। इससे कुलाल पिता के समान अन्यथासिद्ध है। जैसे कुलाल पिता घट का कारण नही है, वैसे आलोक सयोग भी अभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण नही है किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण जो योग्यानुपलभ उसका उक्त रीति से साधक है।

और प्राचीन ग्रथो मे तो योग्यानुपलभ इस रीति से कहा है —जहा प्रतियोगी बिना प्रतियोगी के उपलभ की सकल सामग्री हो और उपलभ हो नही, वहा योग्यानुपलभ होता है। कैसे ? जैसे आलोक मे घट नही है, वहा योग्यानुपलभ है। क्यो ? घटाभाव का प्रतियोगी घट नही है। (अभाव के अभाव को प्रतियोगी कहते है)। उसके बिना आलोक सयोग द्रष्टा के नैत्ररूप घट के चाक्षुष उपलभ की सामग्री होने से योग्यानुपलभ है। और अधकार मे जहा घट नही है, वहा योग्यानुपलभ नही है।

क्यो ? प्रतियोगी के चाक्षुष उपलभ की सामग्री मे आलोक सयोग है, उसका अभाव है, वैसे स्तभ मे तादात्म्य सबन्ध से जो रहे, उसके उपलभ की सामग्री स्तभ वृत्ति उद्भूत रूप और महत्त्व है, (परिमाण के भेद को महत्त्व कहते है)। इससे स्तभ मे तादात्म्य सबन्ध से पिशाच का अनुपलभ योग्य है। और सयोग से स्तभ वृत्ति हो, उसके उपलभ की सामग्री स्तभ के उद्भूत रूप और महत्त्व नही है, किन्तु सयोग सबन्ध से रहने वाले मे उद्भूत रूप, महत्त्व चाहिये। सो पिशाच मे नही है। इससे सयोग संबन्धावच्छिन्न पिशाचात्यताभाव का प्रतियोगी जो पिशाच, उसके उपलभ की

सामग्री पिशाचवृत्ति उद्भूत रूप के अभाव से संयोग सबन्ध से पिशाच का अनुपलभ योग्य नही है। इस रीति से प्रतियोगी बिना प्रतियोगी के उपलभ की सकल सामग्री होने पर भी उपलभ नही हो, सो योग्यानुपलभ अभाव के प्रत्यक्ष का सहकारी कारण है। इस रीति से जहाँ योग्यानुपलभ हो और इन्द्रिय का अभाव से सबन्ध हो, वहा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष प्रमा अभाव की होती है। जहा योग्यानुपलभ नही हो, वहा अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता किन्तु अनुमानादिको से परोक्ष ज्ञान होता है। नैयायिक रीति से अभाव प्रत्यक्ष मे योग्यानुपलभ सहकारी है, इन्द्रिय करण है।

भट्ट और वेदात मत मे न्याय मत से अभाव प्रमा की सामग्री मे विलक्षणता

और भट्ट मत मे तथा अद्वैत मत मे योग्यानुपलभ ही करण है। अभाव ज्ञान मे इन्द्रिय करणता नही है। इसलिये अनुपलब्धि नाम भिन्न प्रमाण भट्ट ने माना है। उसके अनुसार ही अद्वैत ग्र थो मे भी अभाव प्रत्यक्ष का हेतु अनुपलब्धि नाम भिन्न प्रमाण ही लिखा है। अनुपलभ को ही अनुपलब्धि कहते है। जैसा योग्यानुपलभ नैयायिको ने सहकारी माना है, वैसा ही योग्यानुपलभ भट्ट मत और अद्वैत मत मे प्रमाण है। नैयायिक मत मे अभाव प्रत्यक्ष के कारण इन्द्रिय और योग्यानुपलभ दोनो है। उनमे इन्द्रिय करण है, इससे अभाव प्रमा मे प्रमाण है और अनुपलभ को अभाव प्रमा की सहकारी कारणता मानते है, करणता नही मानते है। इससे अनुपलभ प्रमाण नही है और भट्टादिक मत मे अनुपलब्धि प्रमाण है। यद्यपि अभाव प्रमा की उत्पत्ति मे अनुपलब्धि का व्यापार कोई भी नही है, और व्यापार वाला जो प्रमा का कारण उसको प्रमाण कहते है। इससे अनुपलब्धि को प्रमाणता सभव नही है। तथापि व्यापार वाले प्रमा के कारण को ही प्रमाणता होती है, यह नियम भी नैयायिक मत मे है। भट्टादिको के मत मे तो सब प्रमाणो के लक्षण भिन्न भिन्न है। किसी प्रमाण के लक्षण मे व्यापार का प्रवेश है और किसी प्रमाण के लक्षण मे व्यापार का प्रवेश नही है जैसे प्रत्यक्ष

प्रमा के व्यापार वाले असाधारण कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है अनुमिति प्रमा के व्यापार वाले असाधारण कारण को अनुमान प्रमाण कहते है । शाब्द प्रमा के व्यापार वाले असाधारण कारण को शब्द को प्रमाण कहते है । इस रीति से तीन प्रमाणो के लक्षण मे तो व्यापार का प्रवेश है और उन प्रमाणो के निरूपण मे तीनो स्थान मे व्यापार का सभव कथन कर आये है । और उपमान, अर्थापत्ति अनुपलब्धि, इन तीन के लक्षण मे व्यापार का प्रवेश नही है। उपमिति के असाधारण कारण को उपमान प्रमाण कहते है । उपपादक कल्पना के असाधारण हेतु उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है । अभाव की प्रमा के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते है । यद्यपि अभाव का परोक्ष ज्ञान भी अनुमानादिको से होता है, यह पूर्व कहा है। इससे अनुपलब्धि के लक्षण की अभाव ज्ञान के जनक अनुमानादिको मे अति व्याप्ति होती है, तथापि अनुमानादिक प्रमाण भाव की प्रमा के और अभाव की प्रमा के साधारण कारण है। अभाव की प्रमा के असाधारण कारण नही है और अनुपलब्धि से केवल अभाव का ही ज्ञान होता है । इससे अभाव प्रमा का असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण है, अन्य नही है ।

इस रीति से तीन प्रमाणो के लक्षणो मे व्यापार का प्रवेश नही है । इससे व्यापार की अपेक्षा तीन प्रमाणो मे नहीं है । अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का ज्ञान होता है सो तो प्रत्यक्ष होता है और अनुमान से तथा शब्द से जो अभाव का ज्ञान होता है सो परोक्ष होता है । जितने स्थानो मे नैयायिक इन्द्रिय-जन्य अभाव का ज्ञान कहते हैं, उतने ज्ञान ही अनुपलब्धि प्रमाण जन्य हैं । क्यो ? नैयायिक मत में भी अभाव ज्ञान का सहकारी कारण अनुपलब्धि है। कैसे ? जैसे योग्यानुपलब्धि को नैयायिक इन्द्रिय का सहकारी मानते है, सोई योग्यानुपलब्धि भट्टादिमत मे स्वतत्र प्रमाण है, इतना ही भेद है। नैयायिक मत में तो अभाव प्रमा का प्रमाण इन्द्रिय है । वेदात मत में प्रमाण अनुपलब्धि है और वेदात मत मे अनुपलब्धि प्रमाण जन्य अभाव को

ज्ञान भी नैयायिक मत के समान प्रत्यक्ष है परोक्ष नही है ।

वेदात रीति से इन्द्रिय अजन्य प्रत्यक्ष के लक्षण का निर्णय

यहा ऐसी शका होती है —इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, अभाव ज्ञान को इन्द्रियजन्यता का निषेध करके प्रत्यक्षता कहना नही बनता ? उसका यह समाधान है .—इन्द्रियजन्य ज्ञान का ही प्रत्यक्ष हो तो ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष नही होना चाहिये। क्यो न्यायमत मे तो ईश्वर का ज्ञान नित्य है, इससे इन्द्रियजन्य नही और वेदात मत मे ईश्वर का ज्ञान यद्यपि जन्य है, तथापि माया की वृत्ति रूप है, इन्द्रियजन्य नही है और वेदान्त ग्रथो मे इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षता कहने मे अनेक दूषण लिखे है। इससे इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष हो, यह नियम नही है किन्तु प्रमाण चेतन से विषय चेतन का अभेद हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। जहा विषय सन्मुख हो, वहा कही तो इन्द्रिय विषय के सबन्ध से इन्द्रिय द्वारा अत करण की वृत्ति घटदेश मे जाती है और घट के समानाकार होकर घट से वृत्ति मिलती है, वहा वृत्यवच्छिन्न चेतन को प्रमाण चेतन कहते है। विषय मे स्थित चेतन को विषय चेतन कहते है। प्रमाण चेतन और विषय चेतन स्वरूप से तो सदा एक ही है। उपाधि भेद से चेतन का भेद होता है। उपाधि भी भिन्न देश मे हो तो उपहित का भेद होता है। एक देश मे हो तो उपहित का भेद नही होता।

कैसे ? जैसे घट का रूप और घट एक देश मे होते हैं, वहा घट रूपोपहित आकाश और घटोपहित आकाश एक ही है और मठ के अंतर घट हो वहां घटोपहित आकाश मठाकाश से भिन्न नहीं है, यद्यपि मठाकाश तो घटाकाश से भिन्न भी है। क्यों ? घटशून्य देश में भी मठ है, तथापि मठशून्य देश में घट नही है, इससे मठाकाश से घटाकाश भिन्न नही है। इस रीति से वृत्ति और विषय भिन्न देश मे रहे इतने तो वृत्त्युपहित चेतन और विषयोपहित चेतन भिन्न होते है। और वृत्ति विषय देश मे हो, तब विषय चेतन भी वृत्ति चेतन हो जाता है। इससे विषय चेतन का वृत्ति चेतन से भेद नही रहता,

किन्तु अभेद होता है। यद्यपि विषय देश मे वृत्ति जावे तब द्रष्टा के शरीर के अतर अत करण से लेकर विषय पर्यन्त वृत्ति का आकार होता है । इससे विषय देश से बाह्य भी वृत्ति का स्वरूप होने से विषय चेतन से भिन्न भी वृत्ति चेतन है, तथापि उस काल मे वृत्ति से भिन्न देश मे विषय नही है। इससे विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद कहते है। और यदि दोनो का परस्पर अभेद कही लिखा हो तो उसका अभिप्राय यह है —जितना वृत्तिभाग घट देश मे है उतने वृत्तिभाग से उपहित चेतन घट चेतन से पृथक नही है। इस रीति से जहा विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद हो सो ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

प्रतिभिज्ञा और अभिज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति आदिक परोक्ष ज्ञानो का सामग्री सहित निर्णय

जहा विषय चेतन का वृत्तिचेतन से अभेद नही हो उस ज्ञान को परोक्ष कहते है । सस्कारजन्य स्मरण रूप अत करण की वृत्ति शरीर के अतर ही होती है। उसका विषय देशातर मे होता है वा नष्ट हो जाता है। इससे विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद नही होने से स्मृति ज्ञान परोक्ष है। और जिस पदार्थ के पूर्व अनुभव के सस्कार हो और इन्द्रिय का सयोग हो वहा "सोयम्" ऐसा ज्ञान होता है। उसको प्रतिभिज्ञा ज्ञान कहते है। वहा भी इन्द्रियजन्य वृत्ति विषय देश मे जाती है। इससे विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद होने से प्रतिभिज्ञा ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है । केवल इन्द्रियजन्य वृत्ति हो, वहा "अयम्" ऐसा प्रत्यक्ष होता है। उसको अभिज्ञा प्रत्यक्ष कहते हैं। और मुख्य सिद्धान्त मे तो पूर्व अनुभूत का "सोयम्" यह ज्ञान भी "तत्ता" अश मे स्मृति रूप होने से परोक्ष है, "अयम्" अश मे प्रत्यक्ष है। इससे "सोयम्" इस ज्ञान मे केवल प्रत्यक्षत्व ही नही है किन्तु अश भेद से परोक्षत्व और प्रत्यक्षत्व दो धर्म है।

केवल सस्कार जन्य वृत्ति हो, उसका "स" ऐसा आकार होता है, उसको स्मृति कहते है । जिस पदार्थ का पूर्व इन्द्रिय से वा

अनुमानादिको से ज्ञान हुआ हो, उसकी स्मृति होती है। इससे स्मृति ज्ञान मे पूर्व अनुभव करण है और अनुभवजन्य सस्कार व्यापार है। क्यो ? जिस पदार्थ का पूर्व ज्ञान हो उसकी वर्ष के अतराय से भी स्मृति होती है। वहा स्मृति के अव्यवहित पूर्व काल मे अनुभव तो है नही और अव्यवहित पूर्वकाल मे हो सो हेतु होता है। इससे पूर्व अनुभव स्मृति का साक्षात् कारण सभव नही है। किसी के द्वारा कारण कहना चाहिये। इससे ऐसा मानना योग्य है। जिस पदार्थ का पूर्व अनुभव नही हुआ उसकी तो स्मृति नही होती। यदि पूर्व अनुभव स्मृति का कारण नही हो तो जिसका अनुभव नही हुआ उसकी भी स्मृति होनी चाहिये और होती नही है। इस रीति से पूर्व अनुभव से स्मृति का अन्वय व्यतिरेक है। पूर्व अनुभव होने पर ही स्मृति होती है, यह अन्वय है, पूर्व अनुभव नही हो तो स्मृति नही होती, यह व्यतिरेक है। एक के होने से अपर के होने को अन्वय कहते है। एक के नही होने से अपर के नही होने को व्यतिरेक कहते है। अन्वयव्यतिरेक से कारण कार्यभाव जाना जाता है। पूर्व अनुभव स्मृति के अन्वय व्यतिरेक देखने से उनका कारण कार्यभाव तो अवश्य है। परन्तु अव्यवहित पूर्वकाल मे पूर्व अनुभव नही मिलता। इससे स्मृति की उत्पत्ति से पूर्व अनुभव का कोई व्यापार मानना चाहिये।

जहा प्रमाण बल से कारणता का निश्चय हो और अव्यवहित पूर्वकाल मे कारण की सत्ता सभव नही हो, वहा व्यापार की कल्पना होती है। कैसे ? जैसे शास्त्र रूप प्रमाण मे स्वग की साधनता का याग मे निश्चय होता है, और अन्त्य आहुति को याग कहते है। उस याग के नाश होने पर बहुत काल के अतराय से स्वर्ग प्राप्त होता है। सुख विशेष को स्वर्ग कहते है। स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व-काल मे याग के अभाव से याग को कारणता सभव नही है। इससे शास्त्र से निर्णीत कारणता के निर्वाह के लिये याग का व्यापार अपूर्व मानते है। जब अपूर्व अगीकार कर लिया तब दोष नही है।

क्यो ? कार्य के अव्यवहित पूर्वकाल मे कारण वा व्यापार एक होना चाहिये । कही दोनो भी होते है, परन्तु एक तो अवश्य चाहिये । जिसको धर्म कहते है वही यागजन्य अपूर्व है । याग से अपूर्व उत्पन्न होता है और यागजन्य जो स्वर्ग उसका जनक है, इससे व्यापार है। जैसे याग को स्वर्ग साधनता के निर्वाह के लिये अपूर्व व्यापार मानते है, सो अपूर्व सदा परोक्ष है, वैसे अन्वय व्यतिरेक के बल से सिद्ध जो पूर्व अनुभव को स्मृति की कारणता, उसके निर्वाह के लिये सस्कार मानते है, सो सस्कार सदा परोक्ष है । जिस अत करण मे पूर्व अनुभव होता है, उससे स्मृति होती है, उस अत करण का धर्म सस्कार है । नैयायिक मत मे अनुभव, सस्कार, स्मृति आत्मा के धर्म है । अनुभवजन्य सस्कार को नैयायिक भावना कहते है । सो सस्कार पूर्व अनुभवजन्य है और पूर्व अनुभवजन्य जो स्मृति उसका जनक है । इससे व्यापार कहा जाता है ।

इस रीति से पूर्व अनुभव स्मृति का करण है, सस्कार व्यापार है । स्मृति की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्वकाल मे पूर्व अनुभव का तो नाश होने से अभाव है, तथापि उसका व्यापार सस्कार है । इससे पूर्व अनुभव के नाश होने पर भी स्मृति उत्पन्न होती है । सो सस्कार प्रत्यक्ष तो नही है । अनुमान वा अर्थापत्ति से सस्कार की सिद्धि होती है । इससे जब तक पूर्व अनुभूत की स्मृति हो उस काल तक सस्कार रहता है । जिस स्मृति से उत्तर स्मृति नही हो उसको चरमस्मृति कहते है । चरमस्मृति से सस्कार का नाश होता है । इससे फिर उस पदार्थ की स्मृति नही होती । इस रीति से पूर्व अनुभवजन्य सस्कार से अनेक स्मृति होती है । जब तक चरमस्मृति हो तब तक एक ही सस्कार रहता है । स्मृति मे चरमता कार्य से जानी जाती है । जिस स्मृति के होने पर फिर सजातीय स्मृति न हो, उस स्मृति मे चरमता का अनुमान से ज्ञान होता है । अत्य को चरम कहते है । और कोई ऐसे कहते है :—पूर्व अनुभव जन्य सस्कार से प्रथम स्मृति होती है । प्रथम स्मृति की उत्पत्ति से पहले सस्कार का नाश होता है, स्मृति से अन्य सस्कार उत्पन्न होता है । उससे फिर सजातीय स्मृति उत्पन्न होती है ।

उस स्मृति से स्वजनक सस्कार का नाश होता है, अन्य सस्कार उत्पन्न होता है, उससे तृतीय स्मृति होती है।

इस रीति से स्मृति से भी सस्कार की उत्पत्ति होती है। जिस स्मृति से उत्तर सजातीय स्मृति नही हो सो स्मृति सस्कार की हेतु नहीं होती। इस मत मे सस्कार द्वारा स्मृति ज्ञान भी उत्तर स्मृति का करण है और प्रथम स्मृति का करण अनुभव है। दोनो स्थानो मे सस्कार व्यापार है। पहले मत मे स्मृति का करण स्मृति नही है किन्तु पूर्वानुभव से सस्कार होता है, सो एक ही सस्कार चरम स्मृति पर्यन्त रहता है। इससे पूर्वानुभव ही स्मृति का करण है और पूर्वानुभवजन्य सस्कार ही सकल सजातीय स्मृति मे व्यापार है। दोनो पक्षो में स्मृति ज्ञान प्रमा नही है। क्यो ? प्रथम पक्ष मे तो स्मृति ज्ञान का करण पूर्वानुभव है, सो षट् प्रमाण से भिन्न है। प्रमाणजन्य ज्ञान को प्रमा कहते है। पूर्वानुभव प्रमाण नही है। द्वितीय पक्ष मे प्रथम स्मृति का करण तो पूर्वानुभव है और द्वितीयादि स्मृति का करण स्मृति है। सो स्मृति भी षट् प्रमाण मे नही है, इससे स्मृति को प्रमा नही कहते है। तथापि यथार्थ अयथार्थ भेद से स्मृति दो प्रकार की है। भ्रम रूप अनुभव के सस्कारो से उत्पन्न हो वह अयथार्थ है। प्रमारूप अनुभव के सस्कारों से उत्पन्न हो, वह यथार्थ है। इस रीति से दो पक्ष ग्रथो मे लिखे है, उनमे दूषण भूषण अनेक है। ग्र थ वृद्धि के भय से वे प्रसग यहा नहीं लिखे है। जैसे पूर्व अनुभवजन्य स्मृति ज्ञान परोक्ष है, वैसे अनुमानादि प्रमाणजन्य ज्ञान भी परोक्ष है। क्यो ? जैसे स्मृति का विषय वृत्ति से व्यवहित होता है, वैसे अनुमानादिजन्य ज्ञान का विषय भी वृत्ति देश मे नही होता किन्तु व्यवहित पर्वतादि देश मे होता है और अतीत अनागत पदार्थ का भी अनुमानादिको से अनुमिति से आदि वर्तमान ज्ञान होता है। इससे अनुमानादिजन्य ज्ञान के देश मे और काल मे विषय नही होते किन्तु अनुमिति आदि ज्ञानो के देश और काल से भिन्न देश और भिन्न काल मे उनके विषय होते है।

इन्द्रियजन्यता के नियम से रहित प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुसधान

इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय ज्ञान के देशकाल से भिन्न देश भिन्न

काल मे नही होते, किन्तु ज्ञान के देश काल मे ही होते है, इससे इन्द्रिय जन्य ज्ञान सर्वत्र प्रत्यक्ष ही होता है। अद्वैत मत मे अत करण का परिणाम जो वृत्ति उसको ज्ञान कहते है। इससे ज्ञान विषय एक देश मे हो वा वृत्ति विषय एक देश मे हो, इस कथन का अर्थ एक ही है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, यह नियम नही है। जहा अन्य प्रमाणजन्य वृत्तिदेश मे भी विषय हो, वहा प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है। कैसे ? जैसे "दशमस्त्वमसि" इस शब्द मे उत्पन्न हुई वृत्ति के देश मे विषय है, इससे शब्द प्रमाण जन्य ज्ञान भी कही प्रत्यक्ष होता है। महावाक्यजन्य ब्रह्माकार वृत्ति और ब्रह्मात्मा दोनो एक देश मे होते है, इससे महावाक्यजन्य ब्रह्मात्मज्ञान प्रत्यक्ष है। वैसे ईश्वर ज्ञान का उपादान कारण माया के देश मे सर्व पदार्थ है, इससे इन्द्रियजन्य नही तो भी ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष है, वैसे अनुपलब्धि प्रमाणजन्य अभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। क्यो ? जहा भूतल मे घटाभाव का ज्ञान हो, वहा भूतल से नेत्र का सबन्ध होकर भूतल देश मे अत करण की वृत्ति जाती है। "भूतले घटो नास्ति" ऐसा वृत्ति का आकार है, वहा भूतल अश मे तो वृत्ति नेत्रजन्य है और घटाभाव अश मे अनुपलब्धिजन्य है। कैसे ? जैसे "पर्वतो वह्निमान्" यह वृत्ति पर्वत अश मे नेत्रजन्य है, वह्नि अश मे अनुमानजन्य है, वैसे एक ही वृत्ति अश भेद से इन्द्रिय और अनुपलब्धि दो प्रमाण से उत्पन्न होती है, वहा भूतलावच्छिन्न चेतन का वृत्त्यवच्छिन्न चेतन से अभेद होता है और भूतलावच्छिन्न चेतन ही घटाभावावच्छिन्न चेतन है। इससे घटाभावावच्छिन्न चेतन का भी वृत्त्यवच्छिन्न चेतन से अभेद होता है। इसलिये अनुपलब्धि प्रमाणजन्य भी घटाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष है। परन्तु जहा अभाव का अधिकरण प्रत्यक्ष योग्य है और अधिकरण के प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय का व्यापार होता है, वहा उक्त रीति का सभव है। जहा अधिकरण के प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय का व्यापार नही हो, वहा अनुपलब्धि प्रमाणजन्य अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता किन्तु परोक्ष होता है। कैसे ? जैसे वायु मे रूपाभाव का योग्यानुपलब्धि से निमीलित (बन्द) नयन को भी ज्ञान होता है और परमाणु मे योग्यानुपलब्धि से नेत्र का उन्मीलन व्यापार (खोले)

बिना ही महत्त्वाभाव का ज्ञान होता है, वहा विषय देश मे वृत्ति नही जाती। इससे अनुपलब्धि प्रमाणजन्य वायु मे रूपाभाव का ज्ञान, वैसे परमाणु मे महत्त्वाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता, परोक्ष ही होता है। इस रीति से अनुपलब्धि प्रमाण जन्य अभाव का ज्ञान कही प्रत्यक्ष होता है और कही परोक्ष होता है। और वेदान्त परिभाषादिक ग्र थो मे अनुपलब्धि प्रमाणजन्य अभाव के प्रत्यक्ष ज्ञान का उदाहरण लिखा है, अनुपलब्धिजन्य परोक्ष ज्ञान का उदाहरण नही लिखा, सो उनमे न्यूनता है, लिखना चाहिये था। क्यो ? परोक्ष ज्ञान का उदाहरण लिखे बिना अनुपलब्धिजन्य ज्ञान परोक्ष नही होता, ऐसा भ्रम होता है।

अभाव के ज्ञान की सर्वत्र परोक्षता का निर्णय

और सूक्ष्म दृष्टि से विचार करे तो अनुपलब्धि प्रमाणजन्य अभाव का ज्ञान सर्वत्र परोक्ष है, कही भी प्रत्यक्ष नही है। क्यो ? प्रमाण चेतन से विषय चेतन का अभेद होने पर भी जो विषय प्रत्यक्ष योग्य नही होता, उसका परोक्ष ज्ञान ही होता है। कैसे ? जैसे शब्दादिक प्रमाण से धर्माधर्म का ज्ञान होता है तब प्रमाण चेतन से विषय चेतन का भेद नही है। क्यो ? अत करण देश मे धर्माधर्म रहते है, इससे अन्त.करण की वृत्ति और धर्माधर्मरूप उपाधि भिन्न देश मे नही होने से धर्माधर्मावच्छिन्न चेतन प्रमाण चेतन से भिन्न नही है, तथापि धर्माधर्म प्रत्यक्ष योग्य नही है। इससे शब्दादिजन्य धर्माधर्म का ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नही होता। अनुभव के अनुसार विषय मे योग्यता अयोग्यता जाननी चाहिये। कैसे ? जैसे धर्माधर्म प्रत्यक्ष योग्य नही है, वैसे अभाव पदार्थ प्रत्यक्ष योग्य नही है। यदि अभाव पदार्थ प्रत्यक्ष हो तो वादियो का विवाद नही होना चाहिये। मीमासक अभाव को अधिकरणरूप मानते है। नैयायिकादिक अधिकरण से भिन्न मानते है, वैसे नास्तिक बौध अभाव को तुच्छ और अलीक मानते है, आस्तिक वेदान्ती अभाव को पदार्थ मानते है, इस रीति से अभाव स्वरूप में विवाद है। और प्रत्यक्ष योग्य जो घटादिक है उनके स्वरूप मे अधिकरण से भिन्न है वा नही है इत्यादिक विवाद नही होता। इससे अभाव पदार्थ प्रत्यक्ष

योग्य नही है। इस कारण से जहा भूतल मे घटाभाव का ज्ञान हो, वहा प्रमाण चेतन से घटाभावावच्छिन्न चेतन का अभेद है तो भी अभावाश मे यह ज्ञान परोक्ष है, भूतलाश मे अपरोक्ष है। कैसे ? जैसे "पर्वतो वह्निमान्" यह ज्ञान पर्वत अश मे अपरोक्ष है और वह्नि अश मे परोक्ष है।

इस रीति से अनुपलब्धि प्रमाणजन्य अभाव के ज्ञान को सर्वत्र परोक्ष मानें तो भट्ट से विरोध नही है। भट्ट मत मे अनुपलब्धिजन्य अभाव का ज्ञान परोक्ष है। और अभाव के ज्ञान को जो नैयायिक इन्द्रियजन्य मानकर प्रत्यक्ष कहते है, सो सर्वथा असगत है। क्यो ? वायु मे रूपाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और परमाणु मे महत्त्वाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, यह नैयायिको का सिद्धान्त है, सो नही बनता। क्यो ? वायु मे रूपाभाव के ज्ञान के लिये कोई भी नेत्र का उन्मीलनव्यापार (खोले) नही, किन्तु निमीलित (बन्द) नेत्र को भी वायु मे रूपाभाव का योग्यानुपलब्धि से ज्ञान होता है, वैसे परमाणु मे महत्त्वाभाव का ज्ञान भी उन्मीलित नेत्र के समान निमीलित नेत्र को भी होता है और निमीलित नेत्र को घटादिको का चाक्षुष ज्ञान कभी भी नही होता। इससे वायु मे रूपाभाव का और परमाणु मे महत्त्वाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही बनता, किन्तु योग्यानुपलब्धि से उनका परोक्ष ज्ञान होता है।

और जो नैयायिक कहते है, अभाव ज्ञान मे इन्द्रिय के अन्वय व्यतिरेक देखने से अभाव ज्ञान मे इन्द्रिय हेतु है। इसका जो भेद धिक्कारादिक ग्रथो मे यह समाधान लिखा है —इन्द्रिय का अन्वय व्यतिरेक अधिकरण के ज्ञान मे चरितार्थ है। कैसे ? जैसे भूतल मे घटाभाव का ज्ञान हो, वहा नेत्र इन्द्रिय से अभाव के अधिकरण भूतल का ज्ञान होता है, उस नेत्र से ज्ञात भूतल मे घटाभाव का योग्यानुपलब्धि से ज्ञान होता है। इस रीति से घटाभाव का अधिकरण जो भूतल उसके ज्ञान मे इन्द्रिय चरितार्थ अर्थात् सफल है। सो शका और समाधान दोनो असगत है। क्यो ? वायु मे रूपाभाव का और परमाणु

मे महत्त्वाभाव का नेत्र व्यापार से बिना भी ज्ञान होता है। इससे किसी एक अभाव के ज्ञान मे इन्द्रिय के अन्वय व्यतिरेक होने पर भी इन्द्रिय को कारणता सिद्ध नही होती। सकल अभाव के ज्ञान मे इन्द्रिय का अन्वय व्यतिरेक असिद्ध है। इस रीति से शिथिल मूल शका का समाधान कथन भी असगत है।

और यदि नैयायिक इस रीति से शका करै —"घटानुपलब्ध्या इन्द्रियेणाभाव निश्चनोमि" ऐसी प्रतीति होती है, इससे अनुपलब्धि और इन्द्रिय दोनो घटादिको के अभाव ज्ञान के हेतु है। इस शका का उक्त समाधान करै "घटाभाव के अधिकरण का ज्ञान इन्द्रिय से होता है और घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है" सो समाधान भी सभव नही है। क्यो ? जहा इन्द्रिय योग्य अधिकरण है, वहा तो उक्त समाधान सभव है और जहा अधिकरण इन्द्रिय योग्य नही, वहा उक्त समाधान सभव नही है। कैसे ? जैसे "वायौ रूपानुपलब्ध्या नेत्रेण रूपाभाव निश्चनोमि" इस रीति से वायु मे रूपाभाव की अनुपलब्धिजन्य और नेत्रजन्य प्रतीति भासती है, वहा वायु की प्रतीति नेत्रजन्य है, ओर रूपाभाव की प्रतीति अनुपलब्धिजन्य है, यह कहना सभव नही। क्यो ? वायु मे रूप के अभाव से नेत्र की योग्यता नही है।

इससे अभाव ज्ञान को केवल अनुपलब्धिजन्य मानें तो उभय जन्यता की प्रतीति से विरोध का, अद्वैतवादी का यह समाधान है :—"भूतले अनुपलब्ध्या नेत्रेण घटाभाव निश्चिनोमि" इस कथन का अनुपलब्धि सहित नेत्र से भूतल मे घटाभाव के निश्चयवाला मै हूँ, यह अभिप्राय नही है, किन्तु भूतल मे इन्द्रियजन्य घट की उपलब्धि के अभाव से घटाभाव के निश्चयवाला मै हूँ, यह तात्पर्य है। अभाव के निश्चय का हेतु अनुपलब्धि है और अनुपलब्धि का प्रतियोगी जो उपलब्धि उसमे इन्द्रियजन्यता भासती है। इससे निषेधनीय उपलब्धि मे इन्द्रियजन्यता प्रतीत होने से इन्द्रियजन्य उपलब्धि के अभाव से घटाभाव का निश्चय उत्पन्न होता है, यह सिद्ध हुआ। वैसे "वायौ रूपानुपलब्ध्या नेत्रेण रूपाभाव निश्चनोमि"

इस कथन का भी रूप की अनुपलब्धि सहित नेत्र से रूपाभाव के निश्चयवाला मै हूँ, यह तात्पर्य नही है। क्यो ? नेत्र के व्यापार बिना भी रूपाभाव का निश्चय होता है किन्तु नेत्रजन्य रूप की उपलब्धि के अभाव से वायु मे रूपाभाव के निश्चयवाला मै हूँ, यह तात्पर्य है। इससे जिस उपलब्धि का अभाव रूपाभाव के निश्चय का हेतु है, उस उपलब्धि मे नेत्रजन्यता प्रतीत होती है। इस रीति से सर्वत्र अभाव निश्चय का हेतु जो अनुपलब्धि उसके प्रतियोगी उपलब्धि मे इन्द्रिय जन्यता कहते है और विवेक बिना अभाव निश्चय मे इन्द्रियजन्यता प्रतीत होती है। नैयायिक की शका का यह समाधान सर्वत्र व्यापक है। और अधिकरण ज्ञान की इन्द्रियजन्यता अभाव ज्ञान मे भासती है, यह भेदधिक्कार, वेदात परिभाषादिको का समाधान सर्वत्र व्यापक नही है किन्तु जहा प्रत्यक्ष योग्य भूतलादिक अभाव के अधिकरण है, वहा तो यह समाधान सभव है, और जहा प्रत्यक्ष अयोग्य वायु आदिक अभाव के अधिकरण है, वहा उक्त समाधान सभव नही है। और "अनुपलब्ध्या रसनेन्द्रियणाम्ल रसाभावमाम्रे जानामि" इस स्थान मे भी अधिकरण का ज्ञान रसनेन्द्रियजन्य संभव नही है। क्यो ? अम्ल रस के अभाव का अधिकरण आम्रफल है, उसके ज्ञान की सामर्थ्य रसनेन्द्रिय मे नही है। रसनेन्द्रिय मे केवल रसज्ञान की सामर्थ्य है, द्रव्य ज्ञान की सामर्थ्य नही है। इसमे रसनेन्द्रिय जन्याम्ल रसोपलब्धि के अभाव से आम्रफल मे रस के अभाव का निश्चयवाला मै हूँ, इस तात्पर्य से उक्त व्यवहार होता है। यद्यपि उक्त वाक्य के अक्षर मर्यादा से उक्त अर्थ क्लिष्ट है, तथापि अन्य गति के असभव से उक्त अर्थ ही मानना चाहिये। इससे नैयायिक की शका का अस्मदुक्त ही समाधान है। इस रीति से अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का निश्चय होता है, यह पक्ष निर्दोष है। और यदि नैयायिक शका करें —अभाव प्रमा का पृथक् प्रमाण मानने में गौरव है और घटादिको की प्रत्यक्ष प्रमा मे इन्द्रिय की प्रमाणता निर्णीत है। उस निर्णीत प्रमाण से अभाव प्रमा की उत्पत्ति मानें तो लाघव है।

अनुपलब्धि प्रमाण के अगीकार से नैयायिक की शका और सिद्धान्ती का समाधान

उस शका का यह समाधान है —इन्द्रिय को प्रमाणता कहने वाले नैयायिक भी अनुपलब्धि को कारणता तो मानते है, अनुपलब्धि को करणता नही कहते है। अद्वैतवादी इन्द्रिय को अभाव प्रमा की करणता नही मानते। इससे इन्द्रिय का अभाव से स्वसबद्ध विशेषणता और शुद्ध विशेषणता सबद्ध नही माना जाता है। नैयायिक को अप्रसिद्ध सबन्ध कल्पना गौरव है और अनुपलब्धि मे सहकारी कारणता तो नैयायिक भी मानते है, उसको अद्वैतवादी करणता नाम धर के प्रमाणता कहते है। इससे नैयायिक मत मे ही गौरव है, अद्वैत मत मे नही है।

और वेदात परिभाषा का टीकाकार मूलकार का पुत्र ही था, उसमे अद्वैतशास्त्र के सस्कार न्यून थे और न्यायशास्त्र के सस्कार अधिक थे। इससे मूल का व्याख्यान करके नैयायिक मत का उसने इस रीति से उज्जीवन (मडन) लिखा है —अनुपलब्धि पृथक् प्रमाण नही है, अभाव का ज्ञान इन्द्रिय से ही होता है और यदि कहै अभाव के साथ इन्द्रिय का सबन्ध नही है, विषय से सबन्ध बिना इन्द्रियजन्य ज्ञान नही होता, विशेषणता और स्वसबद्ध विशेषणता जो नैयायिक सबन्ध मानते है, सो अप्रसिद्ध है। क्यो ? प्रमाण का अभाव होने से। इससे अप्रसिद्ध की कल्पना गौरव है, सो असगत है। क्यो ? "घटाभाववद् भूतलम्" यह प्रतीति सर्व को समत है। इस प्रतीति से घटाभाव मे आधेयता भासती है और भूतल मे अधिकरणता भासती है। परस्पर सबन्ध बिना आधाराधेयभाव नही होता। इससे भूतलादिक अधिकरण मे अभाव का सबन्ध सर्व को इष्ट है। जो अभाव को प्रत्यक्ष नही मानते उनको भी अभाव का तो अगीकार है और भूतलादिको मे अभाव की अधिकरणता का भी अगीकार है। इससे अधिकरण से अभाव का सबन्ध सर्व को इष्ट है। उस सबन्ध

के व्यवहार के लिये कोई नाम कहना चाहिये। इससे अधिकरण मे अभाव के सबन्ध को विशेषणता कहते है। इस रीति से विशेषणता सबन्ध अप्रसिद्ध नही है। इसमे अप्रसिद्ध कल्पनारूप गौरव नैयायिक मत में नही है। अभाव का अधिकरण से सबन्ध सर्व मत सिद्ध है और इन्द्रिय अधिकरण का सयोगादि सबन्ध भी सर्व मत सिद्ध होने सें स्वसंबद्ध विशेषणता और शुद्ध विशेषणता दोनों सबन्ध अप्रसिद्ध नहीं हैं और "निर्घट भूतल पश्यामि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। इससें भूतलादिकों मे अभाव का ज्ञान नेत्रादिजन्य है। जहा नेत्र जन्य ज्ञान हो, वहा ही "पश्यामि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। और अद्वैतमत मे भूतल का ज्ञान नेत्रजन्य है, घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धिजन्य है, नेत्रजन्य नही। इससे अनुव्यवसाय ज्ञान मे अपने विषय व्यवसाय की विलक्षणता भासनी चाहिये। जैसे "पर्वतो वह्निमान्" यह ज्ञान पर्वत अश मे प्रत्यक्ष है, वह्नि अश मे अनुमिति है। उसका "पर्वत पश्यामि वह्निमनुमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। उसमें व्यवसाय की विलक्षणता भासती है, सो विलक्षणता यहा नेत्रजन्यत्व और अनुमानजन्यत्व है। वैसे अभाव ज्ञान मे नेत्रजन्यत्व ओर अनुपलब्धिजन्यत्व रूप विलक्षणता हो तो अनुव्यवसाय मे भासनी चाहिये। और केवल नेत्रजन्यत्व ही अनुव्यवसाय मे भासता है। इससे अभाव का ज्ञान भी इन्द्रियजन्य है, पृथक् प्रमाणजन्य नही। और अभाव ज्ञान को इन्द्रियजन्य मानते तो भी अद्वैतवादी अनुपलब्धिजन्य मानकर प्रत्यक्ष रूप कहते हैं, सो भी असगत है। क्यो? जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह इन्द्रियजन्य ही होता है, इस नियम का बाध होगा। इससे अभाव का ज्ञान इन्द्रियजन्य है।

इस रीति से वेदांत परिभाषा की टीका मे नैयायिक मत का उज्जीवन (मंडन) सकल अद्वैतग्रथो से विरुद्ध लिखा है। सो युक्ति से विरुद्ध है। क्यो? प्रथम जो कहा अभाव का अधिकरण से सबन्ध सर्व इष्ट है, इससे अप्रसिद्ध कल्पना नहीं है, सो असंगत है। क्यो? अभाव और अधिकरण का संबन्ध तो इष्ट है परन्तु विशेषणता सबन्ध

मे प्रत्यक्ष ज्ञान की कारणता अप्रसिद्ध है। क्यो ? जो अभाव ज्ञान को इन्द्रियजन्यता माने उसी के मत मे विशेषणता सबन्ध इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का कारण माना जाता है। अन्य (वेदात) मत मे विशेषणता सबन्ध मे इन्द्रियजन्य ज्ञान की कारणता नही मानी जाती है। इससे अप्रसिद्ध कल्पना का परिहार नैयायिक मत मे नही होता। और जो अभाव ज्ञान को पृथक् प्रमाणजन्यता मानने मे दोष कहा "निर्घट भूतल पश्यामि" ऐसा अनुव्यवसाय नही होना चाहिये, सो भी सभव नही है। क्यो ? घटाभाव विशिष्ट भूतल के चाक्षुष ज्ञान वाला मै हूँ ऐसा अनुव्यवसाय होता है। उक्त वाक्य का भी यही अर्थ है। इस अनुव्यवसाय मे घटाभाव विशेषण है, भूतल विशेष्य है, उस विशेष्य भूतल मे चाक्षुष ज्ञान की विषयता है। घटाभाव विशेषण मे नही है। तो भी घटाभाव विशिष्ट भूतल मे प्रतीत होती है। कही विशेषण मात्र का धर्म, कही विशेष्य मात्र का धर्म, कही विशेषण विशेष्य दोनो का धर्म, विशिष्ट मे प्रतीत होता है। कैसे ? जैसे "दडी पुरुष" इस ज्ञान मे दड विशेषण है और पुरुष विशेष्य है, जहा दड नही है पुरुष है वहा "दडी पुरुषो नास्ति" ऐसी प्रतीति होती है। इससे दड रूप विशेषण का अभाव है, पुरुष रूप विशेष्य का अभाव नही। तथापि विशेषण मात्र वृत्ति अभाव दड विशिष्ट पुरुष मे प्रतीत होता है। जहा दड है पुरुष नही है, वहा विशेष्य मात्र का अभाव है, और "दडी पुरुषो नास्ति"।

इस रीति से दड विशिष्ट पुरुष मे प्रतीत होता है। जहा दड नही और पुरुष भी नही है, वहा विशेषण विशेष्य दोनो का अभाव विशिष्ट मे प्रतीत होता है, वैसे विशेष्य भूतल मे चाक्षुष ज्ञान की विषयता है और विशेषण जो घटाभाव उसमे नही है तो भी घटा-भाव विशिष्ट भूतल मे प्रतीत होता है। कैसे ? जैसे "वह्निमन्तं पर्वत पश्यामि" इस रीति से पर्वत के प्रत्यक्ष का अनुव्यवसाय होता है, वहा चाक्षुष ज्ञान की विषयता विशेष्य पर्वत में है और विशेषण जो वह्नि उसमे नहीं है, तथापि वह्नि विशिष्ट पर्वत मे चाक्षुष ज्ञान

की विषयता प्रतीत होती है और जो दोष कहा है घटाभाव और भूतल विजातीय ज्ञान के विषय हो तो "पर्वतपश्यामि वह्निमनु-मिनोमि" इस रीति से विलक्षण व्यवसाय ज्ञान को विषय करने वाला अनुव्यवसाय होना चाहिये। यह कथन भी अद्वैत ग्रथो के शिथिल सस्कार वाले का है। क्यो ? अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण जन्य है, इस अर्थ को जो माने उसको "घटानुपलब्ध्या घटाभाव निश्चनोमि, नेत्रेण भूतल पश्यामि" ऐसा अनुव्यवसाय अबाधित होता है। उसमे व्यवसाय ज्ञान की विषयता घटाभाव मे और भूतल मे विलक्षण मानते है। और जो दोष कहा है :—अनुपलब्धिजन्यता मानकर अद्वैतवादी अभाव ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है और जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, सो इन्द्रियजन्य ही होता है, इससे उक्त नियम का अनुपलब्धिवादी के मत मे बाध होगा, सो भी सिद्धान्त के अज्ञान से कहा है। इससे असगत है।

क्यो ? अनुपलब्धि प्रमाणजन्य अभाव ज्ञान सर्वत्र प्रत्यक्ष नही है किन्तु कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है। और वायु मे रूपाभाव का ज्ञान, परमाणु मे महत्त्वाभाव का ज्ञान इत्यादि अनुपलब्धिजन्य है, तथापि परोक्ष है, अथवा अनुपलब्धि प्रमाणजन्य भी अभाव का ज्ञान सर्वत्र परोक्ष है। यह पूर्व प्रतिपादन कर आये है। इससे अनुपलब्धिवादी अभाव ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते है, यह धर्मराज के पुत्र का कथन सिद्धान्त के अज्ञान से है।

और वेदात परिभाषादिक ग्रथो मे जो कही अभाव ज्ञान को प्रत्यक्षता कही है, सो प्रौढिवाद से कही है। यदि अनुपलब्धि प्रमाण जन्य अभाव ज्ञान को प्रत्यक्ष मान लें तो भी वक्ष्यमाण रीति से अभाव ज्ञान मे इन्द्रियजन्यता सिद्ध नही होती। यह ग्रथकारो का प्रौढिवाद है। प्रतिवादी की उक्ति मान कर भी स्वमत मे दोष का परिहार करे उसको प्रौढिवाद कहते है। और अभाव ज्ञान को प्रत्यक्षता मानकर इन्द्रियजन्यता नही माने तो प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है, इस नियम का बाध होगा, यह कथन भी असगत है। क्यो ?

उसको यह पूछते है —जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है सो इन्द्रियजन्य ही होता है, इन्द्रियजन्य से भिन्न प्रत्यक्ष नही होता, ऐसा नियम है वा जो इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है सो प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष से भिन्न इन्द्रियजन्य नही होता यह नियम है । उनमे प्रथम पक्ष कहै तो असगत है, ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष है, इन्द्रियजन्य नही है, न्यायमत मे नित्य है और अद्वैत सिद्धान्त मत मे मायाजन्य है। ईश्वर के इन्द्रियो का अभाव है, इससे ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है। और "दशमस्त्वमसि" इस वाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है, इन्द्रियजन्य नही है। यदि ऐसे कहै दशम पुरुष को अपने शरीर मे दशमता का ज्ञान होता है, सो शरीर नेत्र के योग्य है, इससे दशम का ज्ञान भी नेत्र इन्द्रियजन्य है, सो सभव नही है। क्यो ? निमीलित नयन को भी वाक्य सुनकर दशम का ज्ञान होता है। यदि नेत्रजन्य हो तो नेत्र व्यापार बिना नही होना चाहिये। इससे दशम का ज्ञान नेत्रजन्य नही है। और यदि ऐसे कहै दशम का ज्ञान मनोजन्य है, इससे इन्द्रियजन्य है, सो भी सभव नही है। क्यो ? देवदत्त यज्ञदत्तादिक नाम आत्मा के नही है, किन्तु न्याय मत मे स्थूल शरीर विशिष्ट आत्मा के और वेदात मत मे सूक्ष्म शरीर विशिष्ट स्थूल शरीर के है, वैसे त्वम् अहम् यह व्यवहार भी सूक्ष्म शरीर विशिष्ट स्थूल शरीर मे होता है, उस स्थूल शरीर का ज्ञान मन से सभव नही है। बाह्य पदार्थ के ज्ञान का मन मे सामर्थ्य नही है।

यदि ऐसे कहै —मन का अवधान (एकाग्रता) हो तो वाक्य से दशम का ज्ञान होता है, विक्षिप्त मन वाले को नही होता। इससे अन्वय व्यतिरेक से दशम ज्ञान का हेतु मन होने से दशम का ज्ञान मानस है। इससे इन्द्रियजन्य है। सो भी सभव नही है। क्यो ? इस रीति के अन्वयव्यतिरेक से सकल ज्ञानो का हेतु मन है। विक्षिप्त मन वाले को किसी भी प्रमाण से ज्ञान नही होता। सावधान मन वाले को सकल ज्ञान होते है। इससे सब ज्ञान मानस कहने चाहिये। इसलिये सर्व ज्ञान का साधारण कारण मन है, इन्द्रिय अनुमानादिक सकल प्रमाण का सहकारी है। मन सहित नेत्र से जो ज्ञान होता है उसको चाक्षुष

ज्ञान कहते है। मन सहित अनुमान प्रमाण से ज्ञान हो उसको अनुमिति ज्ञान कहते है। मन सहित शब्द प्रमाण से हो उसको शाब्द ज्ञान कहते हैं। अन्य प्रमाण बिना केवल मन से जो ज्ञान हो उसको मानस ज्ञान कहते है। सो केवल मन से आतर पदार्थ सुखादिको का ज्ञान होता है, इसलिये आतर पदार्थ का ज्ञान ही मानस होता है। ब्राह्य पदार्थ का इन्द्रियानुमानादिक बिना केवल मन से ज्ञान नही होता। इससे दशम का ज्ञान मानस है, यह कहना सभव नही है। आतर पदार्थ का ज्ञान मानस होता है, यह भी नैयायिक रीति से कहा है, सिद्धान्त मे तो कोई भी ज्ञान मानस नही है। क्यो ? शुद्धात्मा तो स्वय प्रकाश है, उसके प्रकाश मे किसी भी प्रमाण की अपेक्षा नही है, इससे आत्मा का ज्ञान मानस नही है और सुखादिक साक्षीभास्य है। जिस काल मे इष्ट पदार्थ के सबन्ध से सुखाकार अन्त करण का परिणाम हो, अनिष्ट पदार्थ के सबन्ध से दु.खाकार अन्त करण का परिणाम हो, उसी समय सुख दु:ख को विषय करने वाला अन्त करण के सत्त्व गुण का परिणाम वृत्ति होती है। उस वृत्ति मे आरूढ साक्षी सुख दु:ख को प्रकाशता है।

सुख दु ख की उत्पत्ति मे इष्ट सबन्ध और अनिष्ट सबन्ध निमित्त है, उसी निमित्त से सुख और दुख को विषय करने वाली अन्त करण की वृत्ति होती है। उसकी उत्पत्ति मे किसी भी प्रमाण की अपेक्षा नही है। इससे सुख दु.ख साक्षीभास्य है, यद्यपि घटादिको का प्रकाश भी केवल वृत्ति से नही होता किन्तु वृत्ति मे आरूढ चेतन से ही सर्व का प्रकाश होता है। इससे सर्व पदार्थ साक्षीभास्य कहने चाहिये, तथापि घटादिको का ज्ञान रूप अंत करण की वृत्ति उत्पन्न हो, उसमे इन्द्रिय अनुमानादिक प्रमाण की अपेक्षा है और सुखादिको के ज्ञान रूप वृत्ति की उत्पत्ति मे किसी भी प्रमाण की अपेक्षा नही है, इतना भेद है। जिस वृत्ति मे आरूढ साक्षी विषय को प्रकाशता है, सो वृत्ति जहा इन्द्रिय अनुमानादिक प्रमाण से हो, वहा विषय को साक्षीभास्य नही कहते है, किन्तु प्रमाणजन्य ज्ञान का विषय कहते हैं। जहां प्रमाण के व्यापार बिना वृत्ति की उत्पत्ति हो, उस वृत्ति मे आरूढ साक्षी जिसको प्रकाशता है, उसको साक्षीभास्य कहते हैं। घटादि गोचर

अंत करण की वृत्ति इन्द्रिय अनुमानादिक प्रमाण से होती है, उस वृत्ति मे आरूढ साक्षी प्रकाशता है, तथापि घटादिक को प्रमाण गोचर कहते हैं, साक्षीभास्य नही । सुखादि गोचर वृत्ति प्रमाणजन्य नही है, किन्तु सुखादि के जनक धर्मादि से जन्य है, इससे सुखादिक साक्षीभास्य है ।

इस रीति से सुखादिक और उनके ज्ञान समान सामग्री से होते है, इससे सुखादिक अज्ञात नही होते, किन्तु ज्ञात ही होते है । और सुखादिको के प्रत्यक्ष के हेतु सुखादिक नही है, यदि पूर्वकाल में सुखादिक हों, तो स्वज्ञान के हेतु हो । सुखादिक और उनका ज्ञान समान काल मे समान सामग्री से होते है, इससे परस्पर कार्य कारण भाव तो नही है । और घटादिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान मे घटादिक हेतु है । क्यो ? प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रथम घटादिक उत्पन्न होते है, इससे स्वगोचर प्रत्यक्ष के घटादिक हेतु है । घटादिकों के जहा अनुमिति आदि ज्ञान हों, उनके हेतु घटादिक नही है । अनुमिति ज्ञान मे तथा वैसे ही शाब्द ज्ञान मे जो विषय भी कारण हो तो अतीत अनागत पदार्थ के अनुमिति आदिक ज्ञान नही होने चाहिये । इससे अनुमिति ज्ञान, शाब्द ज्ञानादिको मे विषय कारण नही होते । वैसे सुखादिक भी स्वगोचर ज्ञान के कारण नही है । पूर्व प्रसग यह है —सुखादिको का ज्ञान मानस नही है किन्तु सुखादिक साक्षी भास्य है । इससे मन का असाधारण विषय नही मिलता । इस कारण से सर्व ज्ञानो मे उपादान कारण रूप कारण तो अन्त करण है तथापि स्वतत्र करण नही है । और ज्ञान का स्वतत्र करणरूप इन्द्रिय जो मन को नैयायिक कहते है, सो असगत है । इससे दशम का ज्ञान मानस नही है किन्तु वाक्यजन्य है और प्रत्यक्ष है । इस रीति से जो प्रत्यक्ष ज्ञान हो सो इन्द्रियजन्य हो, यह नियम सभव नही है । और यदि ऐसे कहे '—जो इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है, सो प्रत्यक्ष होता है । इन्द्रियजन्य ज्ञान कोई भी अप्रत्यक्ष नही होता है । इस नियम से सिद्धान्त की हानि नही है । क्यों ? इन्द्रियजन्य ज्ञान को अप्रत्यक्षता हम भी नही कह सकते हैं, इन्द्रियजन्य ज्ञान तो सर्वत्र प्रत्यक्ष है, कहीं शब्दादिकों से भी प्रत्यक्ष होता है, यह सिद्धान्त है । इससे उक्त नियम का विरोध नही है ।

इस रीति से नैयायिकानुसारी धर्मराज के पुत्र की उक्ति असगत है। इससे अभाव ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है, किन्तु योग्यानुपलब्धि नाम पृथक् प्रमाणजन्य है। जहा "प्रतियोगी होता है तो उसका उपलभ होता है", इस रीति से प्रतियोगी के आरोप से उपलभ का आरोप हो, वहा तो अभाव का ज्ञान योग्यानुपलब्धि प्रमाणजन्य है और अधकार मे घटाभाव का ज्ञान अनुमानादिजन्य है। क्यो ? "अधकार मे घट होता तो उसका उपलभ होता" इस रीति से घट रूप प्रतियोगी के आरोप से घट के उपलभ का आरोप सभव नही है। इस प्रकार अन्य (न्याय) मत मे जितने अभावो के ज्ञान इन्द्रियजन्य है, उतने ही ज्ञान वेदान्त मत मे केवल अनुपलब्धिजन्य है। नैयायिक मत मे इन्द्रिय करण है, अनुपलब्धि सहकारी कारण है, इससे इन्द्रिय मे प्रमाणता है, अनुपलब्धि मे प्रमाणता नही है। वेदान्त मत मे अनुपलब्धि मे प्रमाणता अधिक मानी जाती है। स्वरूप से अनुपलब्धि दोनो मतो मे सिद्ध है, वैसे न्यायमत मे विशेषणता सबन्ध को ज्ञान की करणता अधिक माननी पडती है। और विशेषणता सबन्ध स्वरूप से अधिकरण और अभाव का दोनो मतो मे सिद्ध है। इस रीति से वेदाती ने अनुपलब्धि मे प्रमाणता अधिक मानी है और नैयायिक ने विशेषणता सबन्ध मे ज्ञान की कारणता अधिक मानी है। इससे लाघव, गौरव किसी को भी नही है, दोनो की समान कल्पना है, तथापि अभाव ज्ञान की करणता इन्द्रिय मे नैयायिक अधिक कहते है। यह उनके मत मे गौरव है। और वायु मे रूपाभाव का ज्ञान नेत्र व्यापार से बिना ही होता है। उसको नैयायिक चाक्षुष ज्ञान कहते है। वैसे परमाणु मे महत्त्वाभाव का ज्ञान भी नेत्र-व्यापार से बिना ही होता है, उसको भी नैयायिक चाक्षुष ज्ञान कहते है। इस रीति से अनेक स्थानो मे जिस इन्द्रिय के व्यापार बिना जो अभाव का ज्ञान हो, उसको उस इन्द्रियजन्य कहते है, सो अनुभव विरुद्ध है। जिस इन्द्रिय के व्यापार से जो ज्ञान हो, उस इन्द्रियजन्य वह ज्ञान होता है। जिस इन्द्रिय के व्यापार बिना जो ज्ञान हो, उस इन्द्रियजन्यता उस ज्ञान को माने तो सकल ज्ञान सकल इन्द्रियजन्य होने चाहिये। इससे अभाव का ज्ञान इन्द्रियजन्य है, यह नैयायिक मत समीचीन नही है।

इस रीति से अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाणजन्य है, परतु अभाव ज्ञान की उत्पत्ति मे व्यापार हीन असाधारण कारण अनुपलब्धि है। इससे अभाव ज्ञान की असाधारण कारणता अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण है।

अनुपलब्धि प्रमाण के निरूपण का जिज्ञासु को उपयोग

अनुपलब्धि निरूपण का जिज्ञासु को क्या उपयोग है ? यह उपयोग है —"नेह नानास्ति किचन" इत्यादिक श्रुति प्रपच का त्रैकालिक अभाव कहती है। अनुभवसिद्ध प्रपच का त्रैकालिक निषेध नही बनता। इससे प्रपच का स्वरूप से निषेध नही कहते है किन्तु प्रपच पारमार्थिक नही है, इससे पारमार्थिकत्व विशिष्ट प्रपच का त्रैकालिक अभाव श्रुति कहती है। इस रीति से पारमार्थिकत्व विशिष्ट प्रपच का अभाव श्रुति सिद्ध है और अनुपलब्धि प्रमाण से भी सिद्ध है। यदि पारमार्थिकत्व विशिष्ट प्रपच होता तो जैसे प्रपच की स्वरूप से उपलब्धि होती है, वैसे पारमार्थिकत्व विशिष्ट प्रपच की भी उपलब्धि होती और स्वरूप से तो प्रपच की उपलब्धि होती है, पारमार्थिकत्व विशिष्ट रूप से प्रपच की उपलब्धि नही होती। इससे पारमार्थिकत्व विशिष्ट प्रपच का अभाव है। इस रीति से प्रपचाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है, और बधाभाव, कर्तृत्वाभाव इत्यादि अनेक अभावो का ज्ञान जिज्ञासु को इष्ट है उनका हेतु अनुपलब्धि प्रमाण है।

इति श्री अनुपलब्धि प्रमाण निरूपण अश ८ समाप्त ।

अथ सकारण, सभेद वृत्तिस्वरूप निरूपण अ श ९

"अह ब्रह्मास्मि" इस वृत्ति से कार्य सहित अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है। सो कृपा करके बताइये वृत्ति किसको कहते है ? अन्त करण के और अज्ञान के परिणाम को वृत्ति कहते है। यद्यपि क्रोध सुखादिक भी अन्त.करण के परिणाम है और आकाशादिक अज्ञान के परिणाम है किन्तु उनको वृत्ति नही कहते है। विषय का प्रकाशक जो अन्त.करण और अज्ञान

का परिणाम, उसको वृत्ति कहते है। क्रोध सुखादिक रूप जो अन्त -करण के परिणाम है, उनसे किसी भी पदार्थ का प्रकाश नही होता। वैसे अज्ञान के परिणाम आकाशादिको से विषय का प्रकाश नही होता। इससे सो वृत्ति नही है। किन्तु ज्ञान रूप परिणाम से विषय का प्रकाश होता है, इसलिये उसी को वृत्ति कहते है। यद्यपि सुख, दु ख, काम, तृप्ति, क्रोध, क्षमा, धृति, अधृति, लज्जा, भयादिक जितने अन्त करण के परिणाम है, उन सबका अनेक स्थानो मे वृत्ति शब्द से व्यवहार लिखा है। तथापि तत्त्वानुसधान, अद्वैत कौस्तुभादिक ग्र थो मे प्रकाशक परिणाम को ही वृत्ति कहा है। और कितने ही ग्र थो मे अज्ञान नाशक परिणाम को भी वृत्ति कहा है। और परोक्ष ज्ञान से भी असत्त्वापादक अज्ञानाश का नाश होता है। अथवा विषय चेतनस्थ अज्ञान का नाश तो अपरोक्ष ज्ञान बिना नही होता। प्रमातृ चेतनस्थ अज्ञान का नाश परोक्ष ज्ञान से भी होता है। इससे परोक्ष ज्ञान मे उक्त लक्षण की अव्याप्ति नही है। तथापि सुख दु ख के ज्ञानरूप वृत्ति मे और मायावृत्ति रूप ईश्वर के ज्ञान मे, शुक्ति रजतादिगोचर भ्रमरूप अविद्या वृत्ति मे, स्वप्नगोचर और सुषुप्तिगत सुख और अज्ञानगोचर विद्यावृत्ति मे तथा प्रत्यभिज्ञा ज्ञानरूप वृत्ति मे उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है। क्यो ? प्रथम अज्ञात सुखादिक उत्पन्न होते है, पीछे उनका ज्ञान होता है। तो सुखादि ज्ञान से चेतन के अज्ञान का नाश सभव है। सो अज्ञात सुखादिक नही है किन्तु सुखादिक और उनका ज्ञान एक काल मे उत्पन्न होते है। इससे अज्ञात सुखादिको के अभाव से सुखादिगोचर वृत्ति से अज्ञान का नाश सभव नही है।

वैसे ईश्वर को असाधारण रूप से सकल पदार्थ सदा प्रत्यक्ष प्रतीत होते है। इससे अज्ञान के अभाव से माया की वृत्तिरूप ज्ञान से भी अज्ञान का नाश सभव नही है। शुक्ति रजतादिक और स्वप्नगत मिथ्या पदार्थो की और उनके ज्ञान की भी एक काल मे उत्पत्ति होती है। इससे भ्रम वृत्ति से भी अज्ञान का नाश नही होता। वैसे सुषुप्ति मे वृत्ति है, तो भी अपने विषयभूत स्वउपादान और स्वरूप सुख के

आवरण अज्ञान का नाश उससे नही होता और ज्ञानगोचर प्रतिभिज्ञा ज्ञान होता है। वहा भी आवरण के अभाव से उससे उसका नाश नहीं होता। जैसे "अह ब्रह्मास्मि" इस एक बार उदय हुये ज्ञान से स्वरूप के आवरण का नाश हो जाता है। पीछे अनेक बार विचार से विद्वान् के अन्त करण मे "अह ब्रह्मास्मि" ऐसी वृत्ति उदय होती है। उससे प्रथम ही निरावृत्त ज्ञानी के स्वरूप का आवरण भग नही होता। वैसे धारा-वाहिक वृत्ति हो वहा भी उक्त फल की द्वितीयादिक वृत्ति मे अव्याप्ति है। क्यो ? ज्ञान धारा होती है, वहा प्रथम ज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर द्वितीयादिक ज्ञान को अज्ञान की नाशकता सभव नही है। इससे प्रकाशक परिणाम को वृत्ति कहते है। इसका यह भाव है — "अस्ति" व्यवहार का हेतु जो अविद्या और अन्त करण का परिणाम उसको वृत्ति कहते है। प्रकाशक परिणाम को वृत्ति कहने से भी अज्ञात पदार्थगोचर वृत्ति मे ही अज्ञान नाशकता रूप प्रकाशकता है और अनावृत्त पदार्थगोचर वृत्ति मे प्रकाशकता नही है। क्यो ? अनावृत चेतन के सबन्ध से ही विषय प्रकाश के सभव से वृत्ति मे प्रकाशकता का कल्पन अयोग्य है। इससे वृत्ति मे अज्ञान नाशकता से बिना अन्य विध प्रकाशकता के असभव से द्वितीय लक्षण की भी प्रथम लक्षण के समान सुखादिगोचर वृत्ति मे अव्याप्ति होगी। इससे अस्तिव्यवहार के हेतु अविद्या और अत करण के परिणाम को वृत्ति कहते है।

वृत्ति के भेद का निरूपण

वृत्ति ज्ञान कितने प्रकार का है ? दो प्रकार का है। एक प्रमारूप है, दूसरा अप्रमारूप है। प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते है। वा अबाधित अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान को प्रमा कहते है। वा अबाधित अर्थ को विषय करने वाले स्मृति से भिन्न ज्ञान को प्रमा कहते है। वा यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते है, प्रथम लक्षण के अनुसार तो प्रत्यक्षादि भेद से प्रमाज्ञान षट् प्रकार का है और उससे भिन्न ईश्वर ज्ञान, सुखादिगोचर ज्ञान, स्मृति ज्ञान और भ्रम ज्ञान अप्रमारूप है। उनमे ईश्वर ज्ञानादिक यथार्थ अप्रमा है और भ्रमज्ञान अयथार्थ अप्रमा है। और किसी ग्र थकार के मत मे तो यथार्थ ज्ञान प्रमा है और

अयथार्थ ज्ञान अप्रमा है। उसकी रीति से द्वितीय लक्षण है। उसके अनुसार तो ईश्वर ज्ञान, सुख-दुखादिगोचर ज्ञान और स्मृति ज्ञान भी प्रमा है। और भ्रमज्ञान अप्रमा है, शुक्ति रजतादिज्ञान स्मृति से भिन्न है, अबाधित अर्थ को विषय नही करते किन्तु बाधित अर्थ को विषय करते है, इससे प्रमा नही है। अबाधित अर्थ को विषय करने वाला स्मृति ज्ञान भी है किन्तु स्मृति ज्ञान मे प्रमा व्यवहार नही है। इससे बहुत ग्रथो मे स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थगोचर ज्ञान को प्रमा कहते है। द्वितीय लक्षण की पद कृति यह है —यथार्थ तो स्मृति भी है, सो अनुभव रूप नही है। अनुभव तो भ्रमज्ञान भी है, सो यथार्थ नही है। इससे यथार्थ अनुभव प्रमा है। उससे भिन्न अप्रमा है। यह प्रमा का लक्षण भी स्मृति से व्यावृत है। ईश्वर ज्ञान और सुखादि गोचर ज्ञान भी यथार्थ अनुभव रूप है। इससे वे भी प्रत्यक्षादि षट् अनुभव के समान प्रमा है। उनसे भिन्न स्मृति ज्ञान और भ्रमज्ञान अप्रमा है।

प्रमा अप्रमा की सख्या और कारण

प्रमा, अप्रमा की सख्या और कारण का परिचय दीजिये? प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्दी, उपमिति, अर्थापत्ति, अभाव, ये षट् प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान, ईश्वर ज्ञान और सुखादिगोचर ज्ञान। इस प्रकार अष्टविध प्रमाज्ञान है। प्रत्यक्षादि षट् ज्ञान और प्रत्यक्ष के भेद सुखादिको को जीवाश्रित प्रमा कहते है। भूत, भावि, वर्त्तमान सकल पदार्थगोचर माया की वृत्तिरूप ज्ञान को ईश्वराश्रित प्रमा कहते है। उनमे प्रत्यक्ष प्रमा, और माया की वृत्तिरूप ईश्वर का ज्ञान और प्रत्यक्ष प्रमा के अतर्गत सुखादिगोचर ज्ञान, प्रत्यक्षरूप है। शाब्दी प्रमा, प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद से दो प्रकार की है। अभाव प्रमा भी प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद से दो प्रकार की है। अथवा अभाव विवाद का विषय होने से अभाव प्रमा परोक्ष ही है। अनुमिति, उपमिति और अर्थापत्ति प्रमा परोक्ष ही है। प्राणियो के कर्मों के अनुसार सृष्टि के आदिकाल मे सर्व पदार्थो को विषय करने वाला ईश्वर का ज्ञान उत्पन्न होता है। सो भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान सकल

पदार्थो के सामान्य विशेष्य को विषय करता है और प्रलय पर्यंत स्थायी है। इससे उसे एक और नित्य कहते है। उसका उपादान कारण माया है। और निमित्त कारण सर्व प्राणियो के अदृष्टादिक है।

धर्मादिक निमित्त से अनुकूल प्रतिकूल पदार्थ के सबन्ध होने से अन्तःकरण के सत्वगुण का और रजोगुण का परिणाम रूप सुख दु ख होता है। जो सुख दु ख का निमित्त है, उसी निमित्त से सुख-दु ख को विषय करने वाली अन्त करण की वृत्ति होती है। उस वृत्ति मे आरूढ साक्षी सुख दु ख को प्रकाशता है। उसका अन्त करण उपादान है और धर्मादिक निमित्त है। और प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान षड् विध है, उसका उपादन कारण अत करण है और निमित्त कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा इन्द्रिय सयोगादिक है। अविद्या के परिणाम भ्रम ज्ञान का उपादान कारण अविद्या है और निमित्त कारण सजातीय वस्तु के ज्ञानजन्य सस्कार, प्रमातृ दोष, प्रमाण दोष, प्रमेय दोष, अधिष्ठान के सामान्य अश का ज्ञान और तिमिरादिक है।

इति श्री सकारण, सभेद वृत्ति स्वरूप निरूपण अश ९ समाप्त

अथ अप्रमा वृत्ति भेद अनिर्वचनीय ख्याति निरूपण अश १०

अप्रमा के भेद का परिचय दीजिये ? अप्रमा वृत्ति दो प्रकार की है, एक यथार्थ, दूसरी अयथार्थ। स्मृति रूप अन्त करण की वृत्ति को यथार्थ अप्रमा कहते है। वह स्मृति भी यथार्थ, अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। यथार्थ स्मृति भी दो प्रकार की है। एक आत्म स्मृति है और दूसरी अनात्म स्मृति है। तत्त्वमस्यादि वाक्य जन्य अनुभव से आत्मतत्त्व की स्मृति यथार्थ आत्म स्मृति है। व्यावहारिक प्रपच का मिथ्यात्व अनुभव होने पर, उसके सस्कार से मिथ्यात्व रूप से प्रपच की स्मृति यथार्थ अनात्म स्मृति है। वैसे ही अयथार्थ स्मृति भी दो प्रकार की है। एक आत्मगोचर, दूसरी अनात्म गोचर। अहकारादिकों में आत्मत्व भ्रमरूप अनुभव के सस्कार से अहकारादिको मे आत्मत्व की स्मृति, और आत्मा मे कर्तृत्व अनुभव के सस्कार से

"आत्मा कर्ता है" यह स्मृति। दोनो आत्मगोचर अयथार्थ स्मृति है। प्रपच मे सत्यत्व भ्रम के सस्कार से "प्रपच सत्य है" यह स्मृति अनात्म गोचर अयथार्थ स्मृति है। यद्यपि ससार दशा मे जिस ज्ञान के विषय का बाध न हो वा प्रमाता के होते जिस ज्ञान के विषय का बाध नही हो, उसको यथार्थ ज्ञान कहते है। इससे उक्त स्मृति अप्रमा है, तो भी यथार्थ ही कही गई है, फिर उसी को अयथार्थ कहना असभव है। तथापि यहा उक्त स्मृति को परमार्थ दृष्टि से तो अयथार्थता है और उक्त लक्षण के अनुसार ससार दृष्टि से यथार्थता होने से आपेक्षिक यथार्थता भी है। इससे उक्त स्मृति को यथार्थ अप्रमा कहने मे असभव दोष नही है। इस रीति से यथार्थ अप्रमा कही गई है।

अयथार्थ अप्रमा के भेद, सशय और भ्रम का निर्धार

अयथार्थ प्रमा भी दो प्रकार की है। एक स्मृति रूप अविद्या की वृत्ति है और दूसरी अनुभव रूप है। उद्भूत सस्कार मात्र जन्य ज्ञान को स्मृति कहते है। ज्ञान तो अन्य भी है, वह सस्कारजन्य नही है। सस्कारजन्य तो प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष भी है। वह सस्कार मात्र जन्य नही है। अनुभव के बाध होने पर उत्पन्न जो स्मृति का हेतु भावना नाम सस्कार, वह तो निरतर रहता है। इससे सदा स्मृति होनी चाहिये। परन्तु वह सस्कार उद्भूत नही है किन्तु अनुद्भूत है। इससे कही भी अतिव्याप्ति नही है। वह स्मृति यथार्थ, अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। यथार्थ अनुभव जन्य स्मृति यथार्थ है। सो पूर्व ही कही गई है। अयथार्थ अनुभव जन्य स्मृति अयथार्थ है। सो अयथार्थ अप्रमा के अतर्भूत है। अनुभव मे यथार्थता अबाधित अर्थ-कृत है। अबाधित अर्थ विषयक अनुभव को यथार्थ कहते है, प्रमा कहते है। इससे अबाधित अर्थ के अधीन अनुभव मे यथार्थता है और स्मृति मे यथार्थता और अयथार्थता अनुभव के अधीन है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते है। वह भी यथार्थ, अयथार्थ भेद से दो प्रकार का है। यथार्थानुभव पूर्व कहा गया है।

अयथार्थ अनुभव भी सशय, निश्चय और तर्क भेद से तीन प्रकार

का है। अयथार्थ को ही भ्रम, भ्राति और अध्यास कहते है। सशय और निश्चयरूप भ्रम अनर्थ का हेतु है। इससे निवर्तनीय है। जिज्ञासु को निर्वतनीय जो भ्रम, उसको भेद कहते है -एक धर्मी मे विरुद्ध नाना धर्म के ज्ञान को सशय कहते है। वह सशय दो प्रकार का है। एक प्रमाण सशय है और दूसरा प्रमेय सशय है। प्रमाणगोचर सदेह को प्रमाण सशय कहते है और प्रमाणगत असभावना भी कहते है। "वेदान्त वाक्य अद्वितीय ब्रह्म मे प्रमाण है वा नहीं" यह प्रमाण सशय है। इसकी निवृत्ति शारीरक के प्रथमाध्याय के पठन से वा श्रवण से होती है। प्रमेय सशय भी आत्म सशय और अनात्म सशय भेद से दो प्रकार का है। अनात्म सशय अनन्त प्रकार का होता है। उसके कथन से उपयोग नही है। आत्म सशय भी अनेक प्रकार का होता है। १—आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है वा भिन्न है। २—अभिन्न है तो भी सर्वदा अभिन्न है वा मोक्ष काल मे ही अभिन्न होता है, सर्वदा अभिन्न नही है? ३—सर्वदा अभिन्न हो तो भी आनन्दादिक ऐश्वर्यवान् है वा आनन्दादिक रहित है? ४—आनन्दादिक ऐश्वर्यवान् है तो भी आनन्दादिक गुण है वा ब्रह्मात्मा का स्वरूप है?। इससे आदि "तत्" पदार्थाभिन्न "त्व" पदार्थ मे अनेक प्रकार का संशय है। वैसे केवल "त्व" पदार्थगोचर सशय भी आत्मगोचर सशय है।

१—आत्मा देहादिको से भिन्न है वा नही? २—भिन्न कहै तो भी अणुरूप है वा मध्यमपरिणाम है वा विभुपरिणाम है? ३—यदि विभु कहै तो भी कर्ता है वा अकर्ता है? ४-अकर्ता कहै तो भी परस्पर भिन्न अनेक है वा एक है? इस रीति से अनेक सशय केवल "त्व" पदार्थ गोचर है। वैसे केवल "तत्" पदार्थ गोचर भी अनेक प्रकार के सशय है। १-वैकुंठादि लोक विशेष निवासी ईश्वर परिच्छिन्न हस्त पादादिक अवयव सहित शरीरी है वा शरीर रहित विभु है? २-यदि शरीर रहित विभु कहै तो भी परमाणु आदिक सापेक्ष जगत् का कर्ता है वा निरपेक्ष कर्ता है?। ३—परमाणु आदिक का निरपेक्ष कर्ता कहै तो भी केवल कर्ता है वा अभिन्न निमित्तोपादान रूप कर्ता है? ४—यदि अभिन्न निमित्त उपादान कहै तो भी प्राणिकर्म निरपेक्ष

कर्ता होने से विषम कारितादिक दोषवाला है वा प्राणि कर्म सापेक्ष कर्ता होने से विषम कारितादिक दोष रहित है ? इससे आदि अनेक प्रकार के "तत्" पदार्थ गोचर सशय है, उन सबको प्रमेय सशय कहते है। उनकी निवृत्ति मन से होती है। शारीरक के द्वितीयाध्याय के अध्ययन से वा श्रवण से मनन सिद्ध होता है। उससे प्रमेय सशय की निवृत्ति होती है। ज्ञान साधन का सशय और मोक्ष साधन का सशय भी प्रमेय सशय को कहते है। क्यो ? प्रमा के विषय को प्रमेय कहते है। ज्ञान साधन, मोक्ष साधन भी प्रमा के विषय होने से प्रमेय है। इससे ज्ञान साधन का सशय और मोक्ष साधन का सशय भी प्रमेय सशय है। उसकी निवृत्ति शारीरक के तृतीय अध्याय से होती है। वैसे मोक्ष के स्वरूप का सशय भी प्रमेय सशय है। उसकी निवृत्ति शारीरक के चतुर्थ अध्याय से होती है।

यद्यपि शारीरक के चतुर्थ अध्याय मे प्रथम साधन विचार ही है। उत्तर फलविचार है। मोक्ष को फल कहते है। तथापि जितने चतुर्थाध्याय मे साधन विचार है, उतने चतुर्थाध्याय सहित तृतीयाध्याय से साधन सशय की निवृत्ति होती है। शिष्ट चतुर्थाध्याय से फल सशय की निवृत्ति होती है। इस रीति से यह सशय रूप भ्रम का निरूपण हुआ।

अयथार्थ अप्रमा के भेद निश्चय रूप भ्रम का निर्धार

निश्चय रूप भ्रम भी कहिये ? सशय भिन्न ज्ञान को निश्चय कहते है। शुक्ति का शुक्तित्वरूप स यथार्थ ज्ञान और शुक्ति का रजतत्व रूप से भ्रमज्ञान, दोनो सशय से भिन्न ज्ञान होने से निश्चय रूप है। स्वभावाधिकरणावभास को भ्रम कहते है। कैसे ? जैसे शुक्ति मे रजत भ्रम हो, वहा स्व अर्थात् रजत और उसका ज्ञान, उसका पारमार्थिक और व्यावहारिक जो अभाव, उसका अधिकरण अर्थात् अधिष्ठान जो रज्जु वा रज्जु विशिष्ट चेतन वा रज्जु उपहित चेतन वा इदमाकार वृत्ति उपहित चेतन। उसमे अवभास जो रजत और उसका ज्ञान, उसको भ्रम कहते है। अथवा अधिष्ठान से विषम सत्तावाले अवभास को भ्रम और अध्यास कहते है। व्याकरण की रीति से अध्यास

पद के और अवभास पद के विषय और ज्ञान, दोनो वाच्य है। इससे अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास भेद से अध्यास दो प्रकार का है। अर्थाध्यास अनेक प्रकार का है। कही केवल सबन्ध मात्र का अध्यास है। कही सबन्ध विशिष्ट सबन्धी का अध्यास है। कही केवल धर्म का अध्यास है। कही धर्म विशिष्ट धर्मी का अध्यास है। कही अन्योन्याध्यास है। कही अन्यतराध्यास है। अन्यतराध्यास भी दो प्रकार का है। एक आत्मा मे अनात्म अध्यास, दूसरा अनात्मा मे आत्माध्यास है। इस रीति से अर्थाध्यास अनेक प्रकार का है। उक्त लक्षण का सर्वत्र समन्वय है। तथाहि मुख्य सिद्धान्त मे तो सकल अध्यास का अधिष्ठान चेतन है। रज्जु मे सर्प प्रतीत हो वहा भी इदमाकार वृत्यवच्छिन्न चेतन से अभिन्न रज्जु अवच्छिन्न चेतन ही सर्प का अधिष्ठान है। रज्जु अधिष्ठान नही। यह विचारसागर मे स्पष्ट है।

वहा चेतन की परमार्थ सत्ता है अथवा उसकी उपाधि रज्जु व्यावहारिक होने से रज्जु अवच्छिन्न चेतन की व्यावहारिक सत्ता है। दोनो प्रकार से सर्प और उसके ज्ञान की प्रातिभासिक सत्ता होने से अधिष्ठान की सत्ता से विषम सत्तावाला अवभास सर्प और उसका ज्ञान है। इससे दोनो को अध्यास और अवभास कहते है। सत्ता के तीन भेद है —एक प्रातिभासिक, दूसरी व्यावहारिक, तीसरी पारमार्थिक। जिसका ब्रह्मज्ञान बिना रज्जु आदि अवच्छिन्न चेतन के ज्ञान से बाध हो, उसकी प्रातिभासिक सत्ता होती है। ऐसे रज्जुसर्पादिक है। और ब्रह्मज्ञान बिना जिसका बाध नही हो और ब्रह्मज्ञान होने पर जिसकी अधिष्ठान से भिन्न सत्ता स्फूर्ति नही रहे, उसकी व्यावहारिक सत्ता होती है। ऐसे अविद्या और आकाशादिक है। और जिसका बाध तीन काल मे नही हो, उसकी पारमार्थिकसत्ता होती है। ऐसा चेतन है। इस रीति से सर्व अध्यासो मे आरोपित से अधिष्ठान की विषम सत्ता है।

जिस पदार्थ मे आधारता प्रतीत हो उसको अधिष्ठान कहते है।

वह आधारता परमार्थ से हो वा आरोपित हो, उसका परमार्थ मे आग्रह इस प्रसग मे नही है। क्यो ? जैसे आत्मा मे अनात्मा का अध्यास है, वैसे अनात्मा मे आत्मा का अध्यास है। और अनात्मा मे परमार्थ से आत्मा की आधारता नही है किन्तु आरोपित आधारता है। इससे आधार को ही इस प्रसग मे अधिष्ठान कहते है। यद्यपि आत्मा का अधिष्ठान अनात्मा है। इस कथन से आत्मा भी आरोपित होने से कल्पित होगा। तथापि भाष्यकार ने शारीरक के आरभ मे आत्मा-अनात्मा का अन्योन्याध्यास कहा है। इससे अनात्मा मे आत्मा के अध्यास का निषेध तो नही बनता। परस्पर अध्यास को अन्योन्याध्यास कहते है। इससे अनात्मा मे आत्मा का अध्यास मानकर उक्त शका का समाधान करना चाहिये। सो समाधान इस प्रकार है —अध्यास दो प्रकार का होता है। एक तो स्वरूपाध्यास होता है। दूसरा ससर्गाध्यास होता है। जिस पदार्थ का स्वरूप अनिर्वचनीय उत्पन्न हो, उसको स्वरूपाध्यास कहते है। कैसे ? जैसे शुक्ति मे रजत का स्वरूपाध्यास है। आत्मा मे अहकारादिक अनात्मा का स्वरूपाध्यास है। वैसे जिस पदार्थ का स्वरूप तो व्यावहारिक वा पारमार्थिक प्रथम सिद्ध हो और अनिर्वचनीय सबन्ध उत्पन्न हो उसको ससर्गाध्यास कहते है। कैसे ? जैसे मुख मे दर्पण का कोई सबन्ध नहीं है और दोनों पदार्थ व्यावहारिक है। वहा दर्पण में मुख का सबन्ध प्रतीत होता है। इससे अनिर्वचनीय सबन्ध उत्पन्न होता है। इस रीति से अनेक स्थानो मे सबन्धी तो व्यावहारिक है, उनके संबन्ध और सबन्धी के ज्ञान अनिर्वचनीय उत्पन्न होते है। उनको संसर्गाध्यास कहते हैं।

वैसे चेतन का अहंकार मे अध्यास नही है। कारण ? चेतन तो पारमार्थिक है किन्तु उसके सबन्ध का अहकार मे अध्यास है। आत्मता चेतन में है और अहकार मे प्रतीत होती है। इससे आत्मा का तादात्म्य चेतन में है और अहकार मे प्रतीत होता है। इससे आत्म-चेतन का तादात्म्य सबन्ध अहकार मे अनिर्वचनीय है। अथवा आत्मवृत्ति तादात्म्य का अहकार मे अनिर्वचनीय सबन्ध है। इससे चेतन कल्पित नही है किन्तु चेतन का अहकार मे तादात्म्य सबन्ध अथवा

आत्मचेतन के तादात्म्य का सबन्ध कल्पित है। इस रीति से जहा पारमार्थिक पदार्थ का अभाव होने पर भी उसकी जहा प्रतीति हो, वहा पारमार्थिक पदार्थ का व्यावहारिक पदार्थ मे अनिर्वचनीय सबन्ध उत्पन्न होता है और उसका ज्ञान भी अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। और व्यावहारिक पदार्थ का अभाव होने पर भी जहा प्रतीति हो, वहां अनिर्वचनीय ही सबन्धी उत्पन्न होता है और सबन्धी का ज्ञान भी अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। और कही सबन्धमात्र और सबन्ध का अनिर्वचनीय ज्ञान उत्पन्न होता है। सर्वत्र अधिष्ठान से अध्यस्त की विषम सत्ता ही अनिर्वचनीय सत्ता है। जहा आत्मा का अनात्मा में अध्यास होता है, वहाँ भी अधिष्ठान अनात्मा व्यावहारिक हैं और आत्मा अध्यस्त नही है किन्तु आत्मा का सबन्ध अनात्मा मे अध्यस्त है। इससे अनिर्वचनीय है। सत् असत् से विलक्षण को अनिर्वचनीय कहते है। इस प्रसग मे चार शका है। प्रसग प्राप्त शका समाधान आदिक अर्थ का कथन —प्रथम शंका यह है —"स्वप्न प्रपच का अधिष्ठान साक्षी है"। यह कहा है, सो सभव नही हैं। क्यो ? जिस अधिष्ठान मे जो आरोपित हो, उस अधिष्ठान से सो सबद्ध प्रतीत होता है। कैसे ? जैसे शुक्ति मे आरोपित रजत है सो "इद रजत" इस रीति से शुक्ति की इदता से सबद्ध प्रतीत होता है। आत्मा मे कर्तृत्वादिक आरोपित हैं। सो "अह-कर्त्ता" इस रीति से सबद्ध प्रतीत होता है। वैसे स्वप्न के गजादिक साक्षी मे आरोपित हो तो "अहगज" "मयिगज" इस रीति से साक्षी से सबद्ध गजादिक प्रतीत होने चाहिये। दूसरी शका यह है :—"शुक्ति मे रजता-भाव व्यावहारिक है और पारमार्थिक है।" यह पूर्व कहा है। सो सभव नही है। क्यो ? अद्वैतवाद मे एक चेतन ही पारमार्थिक है। उससे भिन्न को पारमार्थिक माने तो अद्वैतवाद की हानि होगी। रजत पारमार्थिक नही है। इससे पारमार्थिक रजत का अभाव है, यह कहना तो सभव है। और पारमार्थिक अभाव है, यह कहना सभव नही है।

तृतीय शका यह है :—"शुक्ति मे अनिर्वचनीय रजत के उत्पत्ति नाश होते है।" यह पूर्व कहा है। सो सभव नही है। क्यो ? यदि रजत के उत्पत्ति नाश हो, तो घट के उत्पत्ति नाश के समान रजत के उत्पत्ति

नाश प्रतीत होने चाहिये। जैसे घट की उत्पत्ति होती है तब "घट उत्पन्न होता है।" इस रीति से घट की उत्पत्ति प्रतीत होती है। और घट का नाश होता है, तब "घट का नाश हुआ" इस रीति से घट का नाश प्रतीत होता है। वैसे शुक्ति मे रजत की उत्पत्ति हो तब "रजत की उत्पत्ति हुई है"। इस रीति से उत्पत्ति प्रतीत होनी चाहिये। और रजत का ज्ञान से नाश होता है तब "रजत का शुक्ति देश मे नाश हुआ"। इस रीति से नाश प्रतीत होना चाहिये। और शुक्ति मे केवल रजत प्रतीत होती है। उसके उत्पत्ति नाश प्रतीत नही होते। इससे शास्त्रातर की रीति से अन्यथाख्याति ही समीचीन है। अनिर्वचनीय ख्याति सभव नही है।

चतुर्थ शंका यह है —"सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय रजतादिक उत्पन्न होते है।" यह पूर्व कहा है। सो सर्वथा असगत है। सत् से विलक्षण असत् होता है। और असत् से विलक्षण सत् होता है। "सत् से विलक्षण तो है और असत् नही है।" यह कथन विरुद्ध है। वैसे "असत् से विलक्षण है और सत् नही है।" यह कथन भी विरुद्ध है।

चार शका के क्रम से ये समाधान है —प्रथम शका का समाधान —"साक्षी मे स्वप्न अध्यास हो तो "अहगज" "मयिगज" ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। इस शका का यह समाधान है ।—पूर्व अनुभव जनित सस्कार से अध्यास होता है। जैसा पूर्व अनुभव होता है, वैसा ही सस्कार होता है और सस्कार के समान अध्यास होता है। सर्व अध्यासो का उपादान कारण अविद्या तो समान है, परन्तु निमित्त कारण पूर्वानुभवजन्य सस्कार है, सो विलक्षण है। जैसा अनुभवजन्य सस्कार हो वैसा ही अविद्या का परिणाम होता है। जिस पदार्थ की अहमाकार ज्ञानजन्य सस्कार सहित अविद्या हो, उस पदार्थ का अहमाकार अविद्या का परिणामरूप अध्यास होता है। जिसकी ममताकार अनुभवजन्य संस्कार सहित अविद्या हो, उस पदार्थ का ममताकार अविद्या का परिणाम रूप अध्यास होता है। जिस पदार्थ की इदमाकार

अनुभवजन्य सस्कार सहित अविद्या हो, उस पदार्थ का इदमाकार अविद्या का परिणाम रूप अध्यास होता है ।

स्वप्न के गजादिको का पूर्व अनुभव इदमाकार ही हुआ है। अहमाकारादिक अनुभव नही हुआ है। इससे अनुभवजन्य सस्कार भी गजादिगोचर इदमाकार ही होता है। इससे "अय गज" ऐसी प्रतीति होती है। "मयिगज" "अह गज" ऐसी प्रतीति नही होती। सस्कार अनुमेय है। कार्य के अनुकूल सस्कार की अनुमिति होती है। सस्कार जनक पूर्व अनुभव भी अध्यासरूप है। उसका जनक सस्कार भी इदमाकार ही होता है। अध्यास प्रवाह अनादि है। इससे प्रथम अनुभव की इदमाकारता मे कोई हेतु नही है। इससे यह शका सभव नही है। क्यो ? अनादि पक्ष मे कोई भी अनुभव प्रथम नही है। पूर्व पूर्व से उत्तर सब अनुभव है। द्वितीय शका का समाधान :—"अभाव को पारमार्थिक माने तो अद्वैत की हानि होगी" इस द्वितीय शका का यह समाधान है —सकल पदार्थ सिद्धान्त मे कल्पित है। उनका अभाव पारमार्थिक है, सो ब्रह्मरूप है। यह भाष्यकार को समत है। क्यो ? कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान रूप होती है। इससे अद्वैत की हानि नही होती है।

तृतीय शका का समाधान —"शुक्ति रजत की उत्पत्ति माने तो उत्पत्ति की प्रतीति होनी चाहिये" इस शका का यह समाधान है —शुक्ति मे तादात्म्य सबन्ध से रजत अध्यस्त है और शुक्ति की इदता का सबन्ध रजत मे अध्यस्त है। इससे "इद रजत" इस रीति से रजत प्रतीत होती है। जैसे शुक्ति के इदता का सबन्ध रजत मे अध्यस्त है, वैसे शुक्ति मे प्राक् सिद्धत्व धर्म है। रजत प्रतीति काल से प्रथम सिद्ध को प्राक् सिद्ध कहते है। रजत प्रतीति काल से प्रथम सिद्ध शुक्ति है। इस रीति से शुक्ति मे प्राक् सिद्धत्व धर्म है। उसके सबन्ध का अध्यास भी रजत मे होता है। इसीलिये "इदानी रजत" यह प्रतीति नही होती है। "प्राग्जातं रजत पश्यामि" यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति का विषय प्राग्जातत्व है। सो रजत मे नही है किन्तु रजत में "इदानी जातत्व" है। और "प्राग्जातत्व" रजत मे प्रतीत होता

है। वहा रजत मे अनिर्वचनीय प्राग्ज्ञातत्व की उत्पत्ति मानें तो गौरव होता है। शुक्ति के प्राग्जातत्व की रजत मे प्रतीति मानें तो अन्यथा ख्याति माननी होती है। और ऐसे स्थान मे अन्यथा ख्याति को मानते भी है। तथापि शुक्ति के प्राक् सिद्धत्व धर्म का अनिर्वचनीय सबन्ध रजत मे उत्पन्न होता है। यह पक्ष समीचीन है। इस रीति से शुक्ति के प्राक् सिद्धत्व के सबन्ध की प्रतीति से उत्पत्ति प्रतीति का प्रतिबन्ध होता है। क्यो ? प्राक् सिद्धता और वर्त्तमान उत्पत्ति, दोनो परस्पर विरोधी है। जहा प्राक् सिद्धता हो, वहा अतीत उत्पत्ति होती है। जहा वर्त्तमान उत्पत्ति हो, वहा प्राक् सिद्धता नही होती। इस रीति से शुक्ति वृत्ति प्राक् सिद्धत्व के सबन्ध की प्रतीति से उत्पत्ति प्रतीति का प्रतिबन्ध होने से रजत की उत्पत्ति होने पर भी उत्पत्ति की प्रतीति नही होती है। और जो कहा। "रजत का नाश हो तो उसकी प्रतीति होनी चाहिये" उसका यह समाधान है :—अधिष्ठान का ज्ञान हो तब रजत का नाश होता है और अधिष्ठान ज्ञान से अनन्तर रजत का बाध निश्चय होता है। शुक्ति मे कालत्रय मे रजत नही है। इस निश्चय को बाध कहते है। ऐसा निश्चय नाश प्रतीति का विरोधी है। क्यो ? नाश मे प्रतियोगी कारण होता है और बाध से प्रतियोगी का सर्वदा अभाव भासता है। जिसका "सर्वदा अभाव है" ऐसा ज्ञान हो, उसकी नाश बुद्धि सभव नही होती। किवा जैसा घटादिकों का मुद्गरादिको से चूर्णीभावरूप नाश होता है, वैसा कल्पित का नाश नही होता है। किन्तु अधिष्ठान के ज्ञान से अज्ञान रूप उपादान सहित कल्पित की निवृत्ति होती है। अधिष्ठानमात्र का अवशेष ही अज्ञान सहित कल्पित की निवृत्ति होती है। सो अधिष्ठान शुक्ति है। उसका अवशेष रूप रजत का नाश अनुभव सिद्ध है। इससे रजत के नाश की प्रतीति नही होती है, यह कथन साहस से ही है। चतुर्थ शका का समाधान :—"सत् असत् से विलक्षण कथन विरुद्ध है।" इस चतुर्थ शंका का समाधान यह है :—

जो स्वरूप रहित को सद्विलक्षण कहै और विद्यमान स्वरूप को

असद्विलक्षण कहै तो विरोध होता है। क्यो ? एक ही पदार्थ मे स्वरूपराहित्य और स्वरूपसाहित्य नही होता। इससे सदसद्विलक्षण का उक्त अर्थ नही है किन्तु कालत्रय मे जिसका बाध नही हो उसको सत् कहते है। जिसका बाध हो, उसको सद्विलक्षण कहते है। शशशृंग वध्यापुत्र के समान स्वरूप हीन को असत् कहते है। उससे विलक्षण स्वरूपवान् होता है। इस रीति से बाध योग्य स्वरूपवाला सदसद्विलक्षण शब्द का अर्थ है। सद्विलक्षण शब्द का अर्थ बाध योग्य होता है। स्वरूपवाला इतना असद्विलक्षण शब्द का अर्थ है।

इस रीति से जहा भ्रमज्ञान है वहां सर्वत्र अनिर्वचनीय पदार्थ की उत्पत्ति होती है। कही सबन्धी की उत्पत्ति होती है। कैसे ? जैसे शुक्ति मे रजत की उत्पत्ति होती है और रजत मे शुक्ति वृत्ति तादात्म्य के सबन्ध की उत्पत्ति होती है। शुक्ति वृत्ति तादात्म्य की रजत मे अन्यथा ख्याति नही है। वैसे शुक्ति मे प्राक् सिद्धत्व धर्म है। उसके अनिर्वचनीय सबन्धी की रजत मे उत्पत्ति होती है। उसकी भी अन्यथा ख्याति नही है। इस रीति से अन्योन्याध्यास का भी यह उदाहरण है। और संबन्धाध्यास का यह उदाहरण है ही। सबन्धी अध्यास का भी यही उदाहरण है। अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति को ज्ञानाध्यास कहते है और ज्ञान के अनिर्वचनीय विषय को अर्थाध्यास कहते है। ज्ञानाध्यास, अर्थाध्यास का भी यह उदाहरण है। रजतत्व धर्म विशिष्ट रजत का शुक्ति मे अध्यास है। इससे धर्मी अध्यास का भी यह उदाहरण है। जहा अन्योन्याध्यास हो, वहा दोनो का परस्पर स्वरूप से अध्यास नही होता है, किन्तु आरोपित का स्वरूप से अध्यास होता है और सत्य वस्तु का धर्म अथवा संबन्ध अध्यस्त होता है। सबन्धाध्यास भी दो प्रकार का होता है। कहीं धर्म के सबन्ध का अध्यास होता है। कैसे ? जैसे उक्त उदाहरण मे शुक्ति वृत्ति इदता रूप धर्म के सबन्ध का रजत मे अध्यास है। और "रक्तः पटः" इस स्थान मे कुसुंभवृत्ति रक्त रूप धर्म के सबन्ध का पट में अध्यास है। और दर्पण मे मुख के सबन्ध का अध्यास होता है। अन्तःकरण का आत्मा मे स्वरूप से अध्यास है। और अन्तःकरण मे आत्मा का स्वरूप से

अध्यास नही है किन्तु आत्मसबन्ध का अध्यास होने से आत्मा का ससर्गाध्यास है। ज्ञान स्वरूप आत्मा है, अन्त करण नही है। ज्ञान का सबन्ध अन्त करण मे प्रतीत होता है। इससे आत्मा के सबन्ध का अन्त.करण मे अध्यास है। वैसे "घट स्फुरति" "पट स्फुरति" इस रीति से स्फुरण सबन्ध सर्व पदार्थों मे प्रतीत होता है। इस आत्म सबन्ध का निखिल पदार्थो मे अध्यास है। आत्मा मे काणत्वादिक इन्द्रिय धर्म प्रतीत होते है। इससे काणत्वादिक धर्मो का आत्मा मे अध्यास होता है। इन्द्रियो का आत्मा मे तादात्म्य अध्यास नही है। क्यो ? "अहकाण." ऐसी प्रतीति होती है और "अहनेत्र" ऐसी प्रतीति नही होती। इससे नेत्रधर्म काणत्व का आत्मा मे अध्यास है, नेत्र का अध्यास नही है। यद्यपि नेत्रादि निखिल प्रपच अध्यास आत्मा मे प्रतीत होता है। तथापि ब्रह्म चेतन मे समग्र प्रपच का अध्यास है। "त्व" पदार्थ में निखिल प्रपच का अध्यास नही है। अविद्या की ऐसी अद्भुत महिमा है। एक पदार्थ की एक धर्म विशिष्टता का अध्यास होता है। अपर धर्म विशिष्टता का अध्यास नही होता। कैसे ? जैसे ब्राह्मणत्वादि धर्म विशिष्ट शरीर का आत्मा मे तादात्म्याध्यास होता है। शरीरत्व विशिष्ट शरीर का अध्यास नही होता। इसी लिये विवेकी भी "ब्राह्मणो ऽह" "मनुष्यो ऽह" ऐसा व्यवहार करता है। "शरीरमह" ऐसा व्यवहार विवेकी का नही होता। इससे अविद्या की अद्भुत महिमा होने से इन्द्रिय के अध्यास बिना भी आत्मा मे काणत्वादिक धर्मो का अध्यास सभव है। यह धर्माध्यास का उदाहरण है।

उक्त रीति से सकल भ्रम मे पूर्व उक्त दोनो लक्षण सभव है, परन्तु परोक्ष अपरोक्ष, भेद से भ्रम दो प्रकार का है। उनमे अपरोक्ष भ्रम के उदाहरण तो कथन कर दिये, अब परोक्ष भ्रम के कहते है। जहा वह्निशून्य देश मे महानसत्वरूप हेतु से वह्नि का अनुमिति ज्ञान होता है वा विप्रलंभक के वाक्य से वह्नि का शब्द भ्रम होता है, वे दोनो परोक्ष भ्रम है। जहा परोक्ष भ्रम हो, वहा नैयायिकादिक अन्यथा ख्याति आदिको से निर्वाह करते है। उससे विलक्षण कथन मे अद्वैत-

वादी का आग्रह नही है । अपरोक्ष अध्यास मे ही पारिभाषिक अध्यास विलक्षण मानते है । क्यो ? कर्तृत्वादिक अनर्थ भ्रम अपरोक्ष है । उसके स्वरूप मे ज्ञान निवर्त्यता के अर्थ अध्यास का निरूपण है । इससे अपरोक्ष भ्रम को ही दृष्टातता के अर्थ अध्यासता प्रतिपादन मे आग्रह है । परोक्ष भ्रम मे शास्त्रातर से विलक्षणता कथन मे प्रयोजन नही है । अपरोक्ष भ्रम मे उक्त रीति से लक्षण का समन्वय होता है ।

सिद्धात मे स्वीकृत अनिर्वचनीय ख्याति का निर्धार

सिद्धान्त मे अनिर्वचनीय ख्याति है । उसकी रीति यह है —जहा रज्जु आदिको मे सर्पादिक भ्रम हो, वहा प्रथम क्षण मे तो सर्पादिक सस्कार सहित पुरुष के तिमिरादि दोष सहित नेत्र का रज्जु आदिक से सबध होता है । तब रज्जु का विशेषधर्म रज्जुत्व नही भासता और रज्जु मे जो मु जरूप अवयव है वे भी नही भासते । तब द्वितीय क्षण मे रज्जु मे सामान्य धर्म इदता भासती है । वर्त्तमान काल और पुरोदेश के सबन्ध को इदता कहते है ।उसीको सामान्य अश और आधार भी कहते है । और मु जरूप त्रिवल्याकार रज्जुत्वधर्म विशिष्ट रज्जु को विशेष अश कहते है । उसी को अधिष्ठान भी कहते है । सो अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान भी अध्यास का हेतु है । वह सामान्य ज्ञान दोष सहित नेत्र रूप प्रमाण से उत्पन्न होता है । इससे प्रमा है । इससे नेत्र द्वारा अत -करण रज्जु को प्राप्त होकर इदमाकार परिणाम को प्राप्त होता है । तदनन्तर तृतीयक्षण मे उस दोषजन्य इदमाकार वृत्ति उपहित चेतनस्थ अविद्या मे क्षोभ होता है । उपादान की कार्याभिमुखता को क्षोभ कहते है । चतुर्थक्षण मे उस अविद्या का तमोगुण का अश और सत्वगुण का अश दोनो सर्पादि विषयाकार और ज्ञानाकार परिणाम को प्राप्त होते है । वे सर्पादि और उनका ज्ञान अविद्या के परिणाम और चेतन के विवर्त्त है । इससे एक सर्पादिक और ज्ञान रूप, धर्म मे दो धर्मी रहते है । कैसे ? जैसे एक ही पुरुष रूप धर्मी मे स्वपिता की अपेक्षा से पुत्रत्व और पितामह की अपेक्षा से पौत्रत्व ये दो धर्म रहते है । वैसे यहा सर्प

से आदिक आकाशादिक सकल प्रपच मे विकारी अविद्या की अपेक्षा से परिणामत्व और रज्जु आदि उपहित वा माया उपहित चेतन रूप अधिष्ठान की अपेक्षा से विवर्त्तत्व ये दो धर्म रहते है। उपादान के समान सत्ता वाले और अन्यथा स्वरूप को परिणाम कहते है। कैसे ? जैसे अपने उपादान दुग्ध के समान सत्ता वाला अर्थात् व्यावहारिक सत्ता वाला और मिष्ठत्व दुग्धता से आम्ल होने से अन्यथा अर्थात् और स्वरूप दधि है। इससे दुग्ध का परिणाम है। वैसे उक्त प्रपच भी अविद्या के समान प्रातिभासिक वा व्यावहारिक सत्ता वाला और अरूप अविद्या से रूपवाला होने से अन्यथा अर्थात् और स्वरूप है। इससे अविद्या का परिणाम है। अधिष्ठान से विषम सत्ता वाले अन्यथा स्वरूप को विवर्त्त कहते है। कैसे ? जैसे व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता वाला रज्जु उपहित और माया उपहित चेतन है। उससे विषम अर्थात् विलक्षण जो प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्तावाला और ससारदशा मे अबाधित उभय चेतन से बाधित होने से अन्यथा अर्थात् और स्वरूप होने से सर्पादिक प्रपच चेतन का विवर्त्त है।

इस रीति से सर्प, दंड, माला, जलधारा और पृथ्वी की दरार इत्यादिक दशपदार्थों मे से जिस-जिस सस्कार सहित पुरुष के दोष सहित नेत्र का रज्जु से संबन्ध होकर जिसके इदमाकार वृत्ति हो, उसकी वृत्ति उपहित चेतन मे स्थित अविद्या का सो सो पदार्थ और उस उस का ज्ञान रूप परिणाम साथ होता है। और जहा एक रज्जु में सर्पादिक में से एक ही पदार्थ के सस्कार सहित दश पुरुषो के सदोष नेत्र का रज्जु से सबन्ध होकर जिसके इदमाकार वृत्ति हो, उसकी वृत्ति उपहित चेतन मे स्थित अविद्या का वह वह पदार्थ और उस उसका ज्ञान रूप परिणाम साथ ही होता है। और जहा एक रज्जु मे दश पुरुषों के सदोष नेत्र का रज्जु से सबन्ध होकर सर्प, दड, माला आदिक एक एक का उनको भ्रम हो, वहा जिसकी वृत्ति उपहित में जो विषय उत्पन्न हुआ हैं सो उसी को प्रतीत होता है, अन्य को नही। इस रीति से उक्त जो भ्रम ज्ञान सो इन्द्रियजन्य नही है किन्तु अविद्या की वृत्ति रूप है। परन्तु जिस वृत्ति उपहित चेतन मे

स्थित अविद्या का परिणाम भ्रम है, सो इदमाकार वृत्ति नेत्र से रज्जु आदिक विषय के सबन्ध से होती है। इससे भ्रम ज्ञान मे इन्द्रियजन्यता की प्रतीति होने से नैयायिको को इन्द्रियजन्यता की भ्राति होती है और कोई वेदाती भी ऐसे अगीकार करता है। परन्तु उसकी उक्ति, युक्ति और अनुभव से विरुद्ध है। इससे समीचीन नही है। इस रीति से सिद्धान्त मे अगीकारणीय अनिर्वचनीय ख्याति की रीति सक्षेप से कथन की है।

इति श्री अप्रमा वृत्तिभेद अनिर्वचनीय ख्याति निरूपण अश १० समाप्त ।

अथ अप्रमा वृत्तिभेद अन्य पच ख्याति निरूपण अश ११

सिद्धान्त से भिन्न अन्य पचख्याति के नाम सहित सत्ख्यातिवाद के कथन पूर्वक उसके निराकरण की योग्यता

अन्य पच ख्याति भी समझाने की कृपा करिये ? शुक्ति आदि मे रजतादि भ्रम होता है, वहा सिद्धान्त पक्ष से अन्य ये पाच मत और है —सत्ख्याति, असत्-ख्याति, आत्मख्याति, अन्यथाख्याति और अख्याति। ये भ्रम के नाम कहे गये है। सर्व के मत मे अन्यतम भ्रम का नाम प्रसिद्ध है। उससे भिन्न हो उसको अन्यतम कहते है। उनमे सत्ख्यातिवादी का यह सिद्धान्त है —शुक्ति के अवयवो के साथ रजत के अवयव सदा रहते है। जैसे शुक्ति के अवयव सत्य है, वैसे रजत के अवयव भी सत्य है, मिथ्या नही है। जैसे दोष सहित नेत्र सबन्ध से सिद्धान्त मे अविद्या का परिणाम अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है, वैसे दोष सहित नेत्र सबन्ध से रजतावयवो से सत्यरजत उत्पन्न होता है। अधिष्ठानज्ञान से जैसे अनिर्वचनीय रजत की निवृत्ति सिद्धान्त मे होती है, वैसे शुक्ति ज्ञान से सत्यरजत का अपने अवयवो मे ध्वस होता है। यह सत्य ख्यातिवादी का मत है। सो सत् ख्यातिवादी का मत निराकरणीय है। क्यो ? शुक्ति रजत दृष्टात से प्रपच के मिथ्यात्व की अनुमिति होती है। सत्ख्यातिवाद मे शुक्ति मे रजत सत्य है। उसके दृष्टात से प्रपंच मे मिथ्यात्व की सिद्धि नही होती। इससे यह पक्ष निराकरणीय है।

सत्ख्यातिवाद का खडन

इस पक्ष मे यह दोष है —शुक्ति ज्ञान से अनन्तर तीन काल मे भी रजत नही है। इस रीति से शुक्ति मे त्रैकालिक रजताभाव प्रतीत होता है। सिद्धान्त मे तो अनिर्वचनीय रजत मध्यकाल मे होता है। और व्यावहारिक रजताभाव त्रैकालिक है। सत्ख्यातिवादी के मत मे व्यावहारिक रजत होती है, उस काल मे व्यावहारिक रजताभाव सभव नही है। इससे त्रैकालिक रजताभाव की प्रतीति से व्यावहारिक रजत का कथन विरुद्ध है। और अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मे तो प्रसिद्ध रजत की सामग्री नही चाहिये। दोष सहित अविद्या से उसकी उत्पत्ति सभव है। और व्यावहारिक रजत तो रजत की प्रसिद्ध सामग्री बिना सभव नही है। शुक्ति देश मे रजत की प्रसिद्ध सामग्री नही है। इससे सत्यरजत की उत्पत्ति शुक्ति देश मे सभव नही है। और यदि ऐसे कहै शुक्ति देश मे रजत के अवयव है, सोई सत्यरजत की सामग्री है। उसको यह पूछते है —रजतावयवो का उद्भूत रूप है वा अनुद्भूत रूप है? उद्भूत कहै तो रजतावयवो का भी रजत की उत्पत्ति से प्रथम प्रत्यक्ष होना चाहिये। और अनुद्भूत कहै तो अनुद्भूतरूप वाले अवयवो से रजत भी अनुद्भूत रूप वाला होगा। इससे रजत का प्रत्यक्ष नही होगा। और जहा एक रज्जु मे दशपुरुषो को भिन्न-भिन्न पदार्थो का भ्रम हो। किसी को दड का, किसी को माला का, किसी को सर्प का तथा जलधारा का इत्यादिक पदार्थो के अवयव स्वल्प रज्जु देश मे सभव नही है। क्यो? मूर्तद्रव्य स्थान का निरोध करते है। और सिद्धान्त मे तो अनिर्वचनीय दडादिक है। वे व्यावहारिक देश का निरोध नही करते। और उन दडादिको मे स्थान निरोधादिक फल नही माने तो दडादिको को सत् कहना विरुद्ध है और निष्फल है। दडादिको की प्रतीतिमात्र होती है, अन्य कार्य उनसे नही होता। ऐसा कहै तो अनिर्वचनीयवाद सिद्ध होता है। भ्रमस्थल मे सतपदार्थ की उत्पत्ति माने तो अगार सहित ऊषर भूमि मे जल भ्रम हो, वहा जल से अगार शात होना चाहिये। और तूल के ऊपर धरे गुंजा पुंज मे अग्निभ्रम हो, वहा तूल का दाह होना चाहिये। इससे अवयव तो स्थान निरोधा-

दिक के हेतु नही है। और अवयवी से कोई कार्य होता नही है। ऐसे पदार्थ को सत् कहना सुनकर बुद्धिमानो को हास्य ही होता है। इससे सर्वथा निर्युक्तिक होने से यह पक्ष असभावित है।

असत्ख्याति का प्रदर्शन पूर्वक खडन

द्विविध असत्ख्यातिवाद के कथन पूर्वक असत्ख्यातिवादी से प्रश्न। असत् ख्याति दो प्रकार की मानते है। एक तो शुक्ति अधिष्ठान मे असत् रजत की प्रतीति रूप है। और दूसरी असत् रजतत्व समवाय की प्रतीति रूप है। दोनो असगत है। क्यो ? जो असत् माने उसको यह पूछते है —असत्ख्याति, इस वाक्य मे नि स्वरूप असत् शब्द का अर्थ है ? अथवा असत् शब्द का अर्थ अबाध्य विलक्षण है ? यदि वह कहै—असत् शब्द का अर्थ नि स्वरूप है। तब तो "मुखे मे जिह्वा नास्ति" इस वाक्य के समान असत् ख्यातिवाद का अगीकार निर्लज्जता है। क्यो ? सत्ता स्फूर्ति रहित को नि स्वरूप कहते है। इससे "सत्ता स्फूर्तिशून्य भी प्रतीत होता है।" यह असत्ख्यातिवादी कहता है, वैसे ही सिद्ध होता है। सत्ता स्फूर्तिशून्य की प्रतीति कहना विरुद्ध है। इससे अबाध्य विलक्षण असत् शब्द का अर्थ कहै तो अबाध्य विलक्षण बाध्य होता है। बाध के योग्य को बाध्य कहते है। इस रीति से बाध के योग्य की प्रतीति को असत्ख्याति कहते है। यह सिद्ध हुआ। सोई सिद्धान्ती का मत है। क्यो ? अनिर्वचनीय ख्याति सिद्धान्त मे है और बाध्य योग्य ही अनिर्वचनीय होती है। इस रीति से सिद्धान्त से विलक्षण असत् ख्यातिवाद है। यह कहना सभव नही है।

आत्मख्यातिवाद का अनुवाद पूर्वक खडन

आत्मख्यातिवाद भी असगत है। क्यो ? विज्ञानवादी के मत मे आत्मख्याति है। क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि को विज्ञानवादी आत्मा कहते है। उनके मत मे बाह्य रजत नही है किन्तु आतर विज्ञानरूप आत्मा का धर्म रजत सत्य है। उसकी दोष के बल से बाह्य देश मे प्रतीति भ्रम है। इससे रजत ज्ञान मे रजतगोचरत्व अश भ्रम नही है किन्तु रजत का बाह्य देशस्थत्व प्रतीत अश मे भ्रम है। यदि रजत की

बाह्य देश मे उत्पत्ति माने तो बाह्य देश मे सत्यरजत तो सभव नही है। अनिर्वचनीय ही मानना होगा। सो अनिर्वचनीय वस्तु लोक मे अप्रसिद्ध है। इससे अप्रसिद्ध कल्पना दोष होगा। इससे आतर रजत उत्पन्न होता हैं। ऐसे मानने से कोई दोष नही है। यह विज्ञानवादी का अभिप्राय हैं। यह मत भी समीचीन नही है। रजत आतर है, ऐसा अनुभव किसी को भी नही है। भ्रमस्थल मे वा यथार्थस्थल मे रजतादिको की आतरता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होती है। सुखादिक आतर है और रजतादिक बाह्य है। यह अनुभव सर्व को होता है। रजत को आतर मानने से अनुभव से विरोध होगा। और आतरता के साधक प्रमाण, युक्ति भी नही है। इससे रजतादिक पदार्थ स्वप्न बिना जागरण मे आतर अप्रसिद्ध है। बाह्य स्वभाव को भ्रमस्थल मे आतर कल्पना अप्रसिद्ध कल्पना है। और आतर हो तो "मयि रजत"। "अह रजत" ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। "इद रजत" इस रीति से रजत की बाह्य प्रतीति नही होनी चाहिये। इससे आतर रजत का असभव है। उसकी बाह्य देश मे प्रतीति नही बनती। किन्तु बाह्य देश मे अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है। यह सिद्धान्त की रीति ही समीचीन है। और अनिर्वचनीय वस्तु की अप्रसिद्ध कल्पना दोष कहा है, सो भी अज्ञान से कहा है। क्यो ? अद्वैतवाद का मुख्य सिद्धान्त यह है '—चेतन सत्य है। उससे भिन्न सब मिथ्या है। अनिवर्चनीय को मिथ्या कहते है। इससे चेतन से भिन्न पदार्थ को सत्य कथन मे ही अप्रसिद्ध कल्पना है। चेतन से भिन्न पदार्थो मे अनिर्वचनीयता तो अतिप्रसिद्ध है। युक्ति से विचार करें तब किसी भी अनात्म पदार्थ का स्वरूप सिद्ध नही होता और प्रतीति होती है। इससे सकल अनात्म पदार्थ अनिर्वचनीय है। सिद्धान्त मे अनिर्वचनीय पदार्थ कोई भी सत्य नही है। गधर्वनगर के समान सर्व प्रपच दृष्ट नष्ट स्वभाव है।

अनिर्वचनीय ख्याति की रीति पूर्वक अद्वैतवादी को अनिर्वचनीय पदार्थ की प्रसिद्धि

स्वप्न से जाग्रत पदार्थ मे किचिद्विलक्षणता नही है। और शुक्ति

रजत प्रातिभासिक है कातांकरादिको मे रजत व्यावहारिक है। इस रीति से अनात्म पदार्थो मे मिथ्यात्व, सत्यत्व विलक्षणता परस्पर कही है। सो स्थूल बुद्धि वाले के अद्वैत बोध मे प्रवेश के लिये अरुधती न्याय से कही है। स्थूल बुद्धि पुरुष को प्रथम ही मुख्य सिद्धान्त की रीति कहने से अद्भुत अर्थ को सुनकर अनात्म सत्यत्व भावना वाला पुरुष शास्त्र से विमुख होकर पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जायगा। इसीलिये अनात्म पदार्थो की व्यावहारिक, प्रातिभासिक भेद से द्विविध सत्ता कही है। और चेतन की पारमार्थिक सत्ता कही है। चेतन से प्रपच की न्यून सत्ता बुद्धि मे आरूढ होने पर सकल अनात्म पदार्थो को स्वप्नादि दृष्टात से प्रातिभासिक जानकर निषेध वाक्यो से सर्व अनात्म को सत्ता स्फूर्ति शून्य जान ले, इसीलिये सत्ता भेद कहा है। और अनात्म पदार्थो का परस्पर सत्ता भेद मे अद्वैत शास्त्र का तात्पर्य नही है। इससे अद्वैतवादी को अनिर्वचनीय पदार्थ अप्रसिद्ध है। यह कथन विरुद्ध है। इस रीति से आत्मख्यातिवादी का मत असगत है।

अन्यथा ख्यातिवाद का कथन पूर्वक खडन

नैयायिक अन्यथाख्याति मानते है। उसकी यह रीति है —दोष सहित नेत्र का संयोग रज्जु से जब हो, तब रज्जुत्व धर्म से नेत्र का सयुक्त समवाय संबन्ध तो है। परन्तु दोष के बल से रज्जुत्व नही भासता किन्तु रज्जु मे सर्पत्व भासता है। सो सर्पत्व का ज्ञान नेत्रजन्य है। उसमे पूर्व दृष्ट सर्प का उद्बुद्ध सस्कार भी सहकारी है। इस मत में धर्मी जो सर्प, उसका अध्यास नही है। किन्तु सर्पत्व रूप धर्ममात्र का अध्यास है। यह नवीन नैयायिको का मत है। सो समीचीन नही है। क्यो ? नेत्र से अतराय सहित सर्प का रज्जु मे ज्ञान सभव नही है। यदि रज्जु के समीप सर्प हो तो दोनो से नेत्र का सयोग होकर सर्पवृत्ति सर्पत्व की रज्जु में नेत्रजन्य भ्रम प्रतीति सभव है। और जहा रज्जु के समीप सर्प नही है, वहा रज्जु मे सर्पत्व भ्रम नेत्रजन्य संभव नही है। यहां सर्प व्यक्ति से नेत्र सयोग के अभाव से सर्पत्व से नेत्र संयुक्त समवाय का अभाव है। इससे सर्पत्व विशिष्ट रज्जु का ज्ञान सभव नही है।

इस रीति से अन्यथाख्याति असगत है।

अख्यातिवाद का अनुवाद पूर्वक खडन

साख्य प्रभाकर मत मे अख्याति मानते है। उसकी रीति यह है — जहा शुक्ति तथा रज्जु मे दोष सहित नेत्र का सबन्ध होता है, वहा शुक्ति का तथा रज्जु का विशेषरूप नही भासता किन्तु सामान्यरूप इदता भासता है। और शुक्ति से नेत्र के सबन्धजन्य ज्ञान होने पर रजत के सस्कार उद्‌बुद्ध होकर शुक्ति के सामान्य ज्ञान के उत्तरक्षण मे रजत की स्मृति होती है। वैसे रज्जु के सामान्य ज्ञान के उत्तर क्षण मे सर्प की स्मृति होती है। यद्यपि सकल स्मृति ज्ञान मे पदार्थ की सत्ता भी भासती है। तथापि दोष सहित नेत्र के सबन्ध से सस्कार उद्‌बुद्ध होता है, वहा दोष के माहात्म्य से तत्ता अश का प्रमोष होता है। इससे प्रमुष्ट तत्ताक स्मृति होती है। प्रमुष्ट अर्थात् लुप्त हो गई है तत्ता जिसकी सो प्रमुष्ट तत्ताक शब्द का अर्थ है। इस रीति से "इद रजत" "अय सर्प" इत्यादिक स्थल मे दो ज्ञान है। वहा शुक्ति का और रज्जु का सामान्य इद रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ है। और रजत का तथा सर्प का स्मृति ज्ञान भी यथार्थ है। इस रीति से भ्रम ज्ञान अप्रसिद्ध है। यद्यपि जिस पदार्थ मे इष्ट साधनता का ज्ञान हो उसमे प्रवृत्ति होती है और जिसमे अनिष्ट साधनता का ज्ञान हो उससे निवृत्ति होती है। इस मत मे शुक्ति मे इष्ट साधनता ज्ञान और रज्जु मे अनिष्ट साधनता कहै तो भ्रम का अगीकार होता है। इससे इष्ट साधनता ज्ञान के और अनिष्ट साधनता ज्ञान के अभाव से शुक्ति मे रजतार्थी की प्रवृत्ति और रज्जु मे निवृत्ति नही होनी चाहिये और होती है, इससे भ्रम ज्ञान आवश्यक है। तथापि जिस पदार्थ मे पुरुष की प्रवृत्ति हो, उस पदार्थ का सामान्य रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान और इष्ट पदार्थ की स्मृति तथा स्मृति के विषय से पुरोवर्ति पदार्थ का भेद ज्ञानाभाव, वैसे स्मृति ज्ञान का पुरोवर्ति के ज्ञान से भेद ज्ञानाभाव। इतनी सामग्री प्रवृत्ति की है। रज्जु मे सर्पज्ञान से जो निवृत्ति होती है, सो भी विमुख प्रवृत्ति ही है। इससे भ्रम ज्ञान बिना प्रवृत्ति सभव है। यह अख्यातिवादी का अभिप्राय है।

ज्ञान द्वय का विवेकाभाव और उभय विषय का विवेकाभाव अख्याति पद का पारिभाषिक अर्थ है। यह अख्यातिवादी का मत भी समीचीन नही है।

क्यो ? शुक्ति मे रजत भ्रम से प्रवृत्त हुये पुरुष को रजत का लाभ नही हो, तब पुरुष यह कहता है :—"रजतशून्य देश मे रजत ज्ञान से मेरी निष्फल ही प्रवृत्ति हुई है।" इस रीति से भ्रम ज्ञान अनुभव सिद्ध है। उसका लोप सभव नही है। और मरुभूमि मे जल का बाध होता है। तब यह कहता है —"मरुभूमि मे मिथ्या जल की प्रतीति मेरे को हुई।" इस बाध से भी मिथ्या जल और उसकी प्रतीति होती है। अख्यातिवादी की रीति से तो "रजत की स्मृति और शुक्ति ज्ञान के भेद के अग्रहण से मेरी शुक्ति मे प्रवृत्ति हुई है।" ऐसा बाध होना चाहिये। और "मरुभूमि के प्रत्यक्ष से और जल की स्मृति से मेरी प्रवृत्ति हुई है।" ऐसा बाध होना चाहिये। और विषय तथा भ्रमज्ञान दोनो को त्याग कर अनेक प्रकार की विरुद्ध कल्पना अख्यातिवाद मे है। तथाहि नेत्र सयोग होने पर दोष के माहात्म्य से शुक्ति का विशेषरूप से ज्ञान नही होता। यह कल्पना, वैसे तत्ताश के प्रमोष से स्मृति कल्पना और विषयो का भेद है और भासता नही है। वैसे ज्ञानो का भेद है और कभी भी भासता नही है। इत्यादिक सर्व कल्पना विरुद्ध है। और रजत की प्रतीति काल मे अभिमुख देश मे रजत प्रतीत होता है। इससे अख्यातिवाद भी अनुभव विरुद्ध है। इस रीति से यह पच ख्यातियो का सक्षिप्त निरूपण किया गया है।

तर्क भ्रम के निर्णय पूर्वक ख्याति निरूपण और खडन के उपसहार सहित चतुर्दश ज्ञानो का कथन

यद्यपि अनिर्वचनीय ख्याति का मडन और अन्य ख्यातियो का प्रतिपादन और खडन अन्य ग्रथो मे विस्तार से लिखा है तथापि कठिन प्रसग होने से स्वल्पमतिमान् आस्तिक अधिकारी को अनुपयोगी जान कर यहा सक्षेप से रीति मात्र बताई गई है। इस प्रकार सशय और

निश्चय रूप भ्रम कहा गया है। वैसे तीसरा तर्क भी भ्रम ही है। क्यो ? व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोप को तर्क कहते है। कैसे ? जैसे "यदि वह्निर्न स्याद्यदा धूमोऽपिनस्यात्" ऐसा ज्ञान धूम वह्नि सहित देश मे होता है, सो तर्क है। वहा वह्नि का अभाव व्याप्य है। धूम का अभाव व्यापक है। वह्नि के अभाव के आरोप से धूमाभाव का आरोप होता है। वह्नि धूम के होने पर भी वह्नि अभाव का और धूमाभाव का ज्ञान है, इससे भ्रम है। बाध होने पर भी भ्रम हो, उसको आरोप कहते है। इस रीति से तीसरा तर्क भी भ्रम है।

यद्यपि तर्क ज्ञान भी भ्रम निश्चय के अतर्भूत है, तथापि यहा धूम वह्नि का सद्भाव है। इससे उनके अभाव का बाध है। उसके होने पर भी पुरुष की इच्छा से वह्नि के अभाव का और धूमाभाव का भ्रम ज्ञान होता है। इसलिये आरोपरूप विलक्षणता होने से पृथक् कहा है। इस प्रकार प्रमा अप्रमा भेद से वृत्ति ज्ञान त्रयोदश है। यद्यपि वृत्ति ज्ञान के प्रसिद्ध भेद त्रयोदश ही है और अवातर भेद अनन्त है। तथापि स्वप्न के प्रातिभासिक, रज्जु आदि अवच्छिन्न चेतन मे अध्यस्त सर्पादिको का ज्ञान मिलकर चतुर्थदश ज्ञान है। इस रीति से चतुर्दश वृत्ति ज्ञान का स्वरूप और कारण तथा लक्षण पूर्वक सक्षेप से निरूपण किया है।

इति श्री अप्रमा वृत्ति भेद अन्य पंच ख्याति निरूपण अश ११ समाप्त।

अथ जीवेश्वर स्वरूप निरूपण अश १२

अज्ञान सबन्धी विचार और वृत्ति के प्रयोजन का वर्णन करिये ? अज्ञान की निवृत्ति वृत्ति का मुख्य प्रयोजन है। घटादिक अनात्माकार वृत्ति से घटादिक अवच्छिन्न चेतनस्थ तूला अज्ञान की निवृत्ति होती है, अखड ब्रह्माकार वृत्ति से निरवच्छिन्न चेतनस्थ मूला अज्ञान की निवृत्ति होती है।

अज्ञान का आश्रय और विषय

भामतीकार वाचस्पति के मत में वृत्ति से नाश्य अज्ञान का आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म है। प्रकाशात्म श्रीचरण विवरणकार आदिको

के मत मे अज्ञान का आश्रय और विषय शुद्ध चेतन है। जैसे ज्ञानकृत घटादिको का प्रकाश ज्ञान की विषयता है, वैसे अज्ञानकृत स्वरूप का आच्छादन ही अज्ञान की विषयता है। जीवभाव, ईशभाव अज्ञानाधीन है। इससे अज्ञानकृत जीव अज्ञान का आश्रय सभव नही है। इस अर्थ के ज्ञान मे उपयोगी जीव, ईश्वर का स्वरूप निरूपण करेगे। जीव ईश्वर के निरूपण मे उपयोगी अज्ञान का निरूपण प्रथम करते है।

अज्ञान का निरूपण

अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, माया, शक्ति ये नाम एक पदार्थ के है। माया अविद्या का भेदवाद एक देशी का है। नैयायिकादिक ज्ञानाभाव को ही अज्ञान कहते है। सिद्धात मत में आवरण विक्षेप शक्तिवाला अनादि भाव रूप अज्ञान पदार्थ है। विद्या से नाश्य होने से अविद्या कहते है। प्रपच का उपादान होने से प्रकृति कहते है। दुर्घट को भी सपादन करता है, इससे माया कहते है। स्वतत्रता के अभाव से शक्ति कहते है।

अज्ञान की अनादि भावरूपता मे शका

अज्ञान को अनादि भावरूपता कथन सभव नही है। क्यो ? ये अद्वैत ग्र थो का लेख है :—चेतन से भिन्न वा अभिन्न अज्ञान है, ये दोनो पक्ष सभव नही है। क्यो ? ब्रह्म से भिन्न सर्व मिथ्यात्व प्रतिपादक "नेह नानास्तिकिंचन" इत्यादिक श्रुति वचन से चेतन से भिन्न का निषेध है। और जड चेतन का अभेद भी सभव नही है। तथा भिन्नत्व अभिन्नत्व का परस्पर विरोध होने से चेतन से भिन्नाभिन्न अज्ञान है, यह कथन भी सभव नही है। वैसे अद्वैत प्रतिपादक श्रुति विरोध से अज्ञान को सत्स्वरूपता सभव नही है। परस्पर विरोधी धर्म एक मे सभव नही है। इससे सत् असत् उभय रूप कहना सभव नही है। वैसे अज्ञान को सावयव मानें तो न्याय मत मे तो द्रव्य आरभक उपादान को अवयव कहते है।

साख्यादिक मत मे द्रव्यरूप परिणाम वाले उपादान को अवयव

कहते है। उपादान को ही अवयव कहै तो शब्द का उपादान आकाश भी शब्द का अवयव होगा। वैसे अपने गुण, क्रिया के उपादान कारण घटादिक भी रूपादि गुणो के और चलन रूप क्रिया के अवयव होगे। इससे द्रव्य के उपादान कारण को अवयव कहते है, अन्य के उपादान को अवयव नही कहते है। अवयवजन्य को सावयव कहते है। यदि अविद्याजन्य द्रव्य हो तो सावयवता सभव है, अविद्या मे द्रव्यत्व सभव नही है। क्यो ? नित्य अनित्य भेद से द्रव्य दो प्रकार का होता है। यदि अविद्या को नित्य द्रव्य रूप मानें तो सावयवत्व कथन असगत है। वैसे ज्ञान से अविद्या का नाश नही होना चाहिये। अनित्य द्रव्य रूप मानें तो उसके अवयवी आत्मा से भिन्न होने से अनित्य ही होगे। और अवयव के अवयव भी अनित्य होने से अनवस्था होगी। और अत्य अवयव को परमाणु के और प्रधान के समान नित्य मानें तो अद्वैत प्रतिपादक श्रुति वचन का विरोध होगा। न्याय मत मे नित्य परमाणु का और साख्य मत मे नित्य प्रधान का अगीकार श्रुति विरुद्ध है। इस रीति से द्रव्यत्व के अभाव से अज्ञान मे सावयवत्व सभव नही है। वैसे उपादानता के असभव से निरवयव अज्ञान है, यह कथन भी सभव नही है, सावयव ही उपादान कारण होता है। और न्याय मत मे शब्द का उपादान कारण आकाश निरवयव माना है, सो भी "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सभूत" इस श्रुति से विरुद्ध है। वैसे द्वचणुक का उपादान कारण परमाणु निरवयव माना है, सो भी निरवयव परमाणु के सयोग असभवादि दोष से सूत्रकार ने शारीरक शास्त्र के द्वितीयाध्यायस्थ द्वितीयपाद मे निषेध करा है। इससे प्रपंच के उपादान अज्ञान को निरवयवता सभव नही है। और अज्ञान को प्रपच की उपादानता "मायातु प्रकृतिं विद्यात्" इस श्रुति मे प्रसिद्ध है। माया और अज्ञान का भेद नही है।

इस रीति से अज्ञान मे सावयवता अथवा निरवयवता सभव नही है। वैसे परस्पर विरुद्ध उभयरूपता भी सभव नही है। इस रीति से किसी भी धर्म से अज्ञान का निरूपण अशक्य होने से उसको अनिर्वच-

नीय कहते है । इस प्रकार का लेख बहुत ग्र थो मे है । इसलिये अनिर्वचनीय अज्ञान को अनादिभावरूपता कथन सभव नही है । भावरूपता कहने से सत्‌रूपता सिद्ध होती है और सत्‌रूपता का निषेध किया है । उक्त शका का समाधान यह है '—जैसे सत् विलक्षण अज्ञान है, वैसे असत्‌विलक्षण भी है । इससे अबाध्यत्व रूप सत्त्व तो अज्ञान मे नही है, परन्तु तुच्छरूप असत् से विलक्षणता रूप सत्त्व का अज्ञान मे अगीकार है। इसीलिये सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अज्ञान है । सर्वथा वचन के अगोचर को अनिर्वचनीय नही कहते है, किन्तु पारमार्थिक सत्‌स्वरूप ब्रह्म से विलक्षण और सर्वथा सत्ता स्फूर्तिशून्य शशशृ गादिक असत् से विलक्षण ही अनिर्वचनीय शब्द का पारिभाषिक अर्थ है । इससे अनादिभावरूपता कथन सभव है और नैयायिकादिको के मत मे जैसे निषेध मुख प्रतीति का विषय ज्ञानाभावरूप अज्ञान है, वैसा अद्वैत ग्र थो मे अज्ञान शब्द का अर्थ नही है, किन्तु ज्ञान बाध्य रज्जु सर्पादिक जैसे विधि-मुख प्रतीति के विषय है, वैसे ज्ञान से निवर्तनीय विधि मुख प्रतीति का गोचर अज्ञान है । अज्ञान शब्द मे अकार का विरोधी अर्थ है । इससे अज्ञान मे भावरूपता कथन सभव है । और प्राचीन आचार्य विवरण कारादिको ने अत्यन्त उद्‌घोष से प्रकाश विरोधी अधकार को भावरूपता प्रतिपादन करके ज्ञान विरोधी अज्ञान को भावरूपता ही प्रतिपादन करी है । इससे अज्ञान को भावरूपता श्रवण करके जो उत्कर्ण होते है वे अल्पश्रुत है । इस रीति से भाव रूप अज्ञान है, उत्पत्ति रहित होने से अनादि है और घट के समान अवयव समवेत रूप सावयव तो नही है, तथापि अधकार के समान साश है ।

जीव और ईश्वर सबन्धी विचार

जीव और ईश्वर रूप सबन्धी विचार भी समझाने की कृपा करिये ? माया, अविद्या पूर्वक जीव, ईश्वर के रूप मे चार पक्ष है :— शुद्ध चेतन के आश्रित मूल प्रकृति मे चेतन का प्रतिबिब ईश्वर है । आवरण शक्ति विशिष्ट मूल प्रकृति के अशो को अविद्या कहते हैं । अविद्यारूप अनन्त अशो मे चेतन के अनन्त प्रतिबिबो को जीव

कहते है। और तत्त्व विवेक ग्र थ मे नृसिहाचार्य ने इस रीति से जीव, ईश्वर का निरूपण किया है। जगत् के मूलभूत प्रकृति के दो कल्पित रूप है। इसीलिये मूल प्रकृति के प्रसग मे "माया चा विद्या च स्वयमेव भवति" यह श्रुति है। स्वयमेव अर्थात् जगत् का मूल प्रकृति आप ही माया रूप और अविद्यारूप होती है। शुद्ध सत्त्व प्रधान माया है। मलिन सत्त्व वाली अविद्या है। रजोगुण तमोगुण से अभिभूत सत्त्व को मलिन सत्त्व कहते है। जिससे रजोगुण तमोगुण अभिभूत हो उसको शुद्ध सत्व कहते है। तिरस्कृत को अभिभूत कहते हैं। उक्त रूप माया मे प्रतिबिब ईश्वर है और अविद्या मे प्रतिबिब जीव है। ईश्वर की उपाधि माया का सत्त्व शुद्ध होने से ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव की उपाधि अविद्या का सत्त्व मलिन है, इससे जीव अल्पज्ञ है। कोई ग्रथकार इस रीति से कहते है —उक्त श्रुति मे दो रूपवाली प्रकृति कही है, उसमे यह हेतु है —विक्षेप शक्ति की प्रधानता से माया कहते है। आवरण शक्ति की प्रधानता से अविद्या कहते है। ईश्वर की उपाधि माया मे आवरण शक्ति नही है। इससे माया मे प्रतिबिब ईश्वर को अज्ञता नही है और आवरण शक्तिमती अविद्या मे प्रतिबिब जीव को अज्ञता है।

और सक्षेप शारीरक मे सर्वज्ञात्म मुनि ने यह कहा है :—जीव की उपाधि अन्त करण कार्य है और ईश्वर की उपाधि माया कारण है। इस प्रकार से श्रुति कहती है। इससे माया मे प्रतिबिब ईश्वर है। अन्त करण मे प्रतिबिम्ब जीव है। इस प्रसग मे प्रतिबिब को जीव कहै अथवा ईश्वर कहै, वहा केवल प्रतिबिम्ब को जीवता अथवा ईश्वरता इष्ट नही है, किन्तु प्रतिबिम्बत्व विशिष्ट चेतन को जीवता और ईश्वरता जाननी चाहिये। क्यो ? केवल प्रतिबिम्ब को जीवता, ईश्वरता हो तो जीववाचक पद और ईश्वरवाचक पद मे भागत्याग लक्षणा का असभव होगा। और परमार्थ तो यह है :—पूर्व उक्त चार ही पक्षो मे बिम्ब प्रतिबिब का अभेदवाद है। इससे इस वाद मे प्रतिबिम्ब मिथ्या नही है किन्तु ग्रीवास्थ मुख मे ही प्रतिबिम्बत्व प्रतीति होती है। सो भ्रमरूप प्रतीति होती है। इससे प्रतिबिम्बत्व

धर्म तो मिथ्या है और स्वरूप से प्रतिबिंब मिथ्या नही है। यह अर्थ आगे स्पष्ट होगा।

उक्त चार पक्षो मे मुक्त जीवो का शुद्ध ब्रह्म से अभेद

उक्त चार पक्षो मे जीव, ईश्वर दोनो को प्रतिबिंब मानते है। इससे मुक्त जीवो का प्राप्य शुद्ध ब्रह्म है, ईश्वर नही है। क्यो ? एक उपाधि का विनाश हो तब उस उपाधि के प्रतिबिम्ब का अपर प्रतिबिम्ब से अभेद नही होता किन्तु अपने बिम्ब से अभेद होता है। ईश्वर भी प्रतिबिम्ब है। इससे जीव रूप प्रतिबिम्व की उपाधि का नाश होने पर प्रतिबिम्ब रूप ईश्वर से अभेद सभव नही है किन्तु बिम्बभूत शुद्ध ब्रह्म से ही अभेद होता है।

उक्त चार पक्षो मे षट् अनादि पदार्थ कहकर त्रिविध चेतन का अगीकार

इस रीति से उक्त पक्षो मे जीव, ईश्वर, शुद्ध ब्रह्म भेद से त्रिविध चेतन का अगीकार है। इसीलिये वार्तिक मे सुरेश्वराचार्य ने षट् पदार्थ अनादि कहे है :—१-शुद्ध चेतन, २-ईश्वर चेतन, ३-जीव चेतन, ४-अविद्या, ५-अविद्या और चेतन का परस्पर सबन्ध, और ६-इन पाचो का परस्पर भेद, ये षट् पदार्थ उत्पत्ति शून्य होने से अनादि हैं। इनमे चेतन के तीन ही भेद कहते है।

चेतन के चार भेद

और चित्रदीप मे विद्यारण्य स्वामी ने उक्त चेतन के चार भेद कहे है तथाहि :—जैसे घटाकाश, महाकाश, जलाकाश, मेघाकाश, भेद से आकाश के चार भेद है। घटावच्छिन्न आकाश को घटाकाश कहते है। निरवच्छिन्न आकाश को महाकाश कहते है। घट जल मे आकाश के प्रतिबिंब को जलाकाश कहते है। मेघ मे जल के सूक्ष्म कण है, उनमे आकाश के प्रतिबिंब को मेघाकाश कहते है। वैसे चेतन भी १-कूटस्थ, २-ब्रह्म, ३-जीव, ४-ईश्वर, भेद से चार प्रकार का है। स्थूल सूक्ष्म शरीर के अधिष्ठान चेतन को कूटस्थ कहते है। निर-वच्छिन्न चेतन को ब्रह्म कहते है। शरीर घट में बुद्धि स्वरूप जल मे

जो चेतन का प्रतिबिब उसको जीव कहते है। मायारूप अंधकारस्थ जो जलकरण समान बुद्धिवासना, उनमे प्रतिबिब को ईश्वर कहते है। सुषुप्त्यवस्था मे जो बुद्धि की सूक्ष्म अवस्था उसको वासना कहते है। केवल बुद्धि वासना मे प्रतिबिब को ईश्वर कहे तो बुद्धिवासना को अनन्तता होने से ईश्वर भी अनन्त होने चाहिये। इससे बुद्धि-वासना विशिष्ट अज्ञान मे प्रतिबिब को ईश्वर कहते है। इस रीति से विज्ञानमय कोश जीव है। जाग्रत् स्वप्न अवस्था मे स्थूल अन्त.करण को विज्ञान कहते है। उसमे प्रतिबिम्ब को विज्ञानमय कहते है। "मै कर्ता, भोक्ता, स्थूल, दुर्बल, काण, बधिर हूँ" इस रीति से विशेष विज्ञान वाला जीव है, और सुषुप्त्यवस्था मे बुद्धिवासना सहित अज्ञान रूप आनन्दमय कोश ईश्वर है। आनन्दमय कोश को ईश्वरता माडूक्य-उपनिषद् मे प्रसिद्ध है। इस रीति से चेतन के चार भेद चित्रदीप मे कहे है।

बिम्ब प्रतिबिम्बवाद से आभासवाद का भेद

विद्यारण्य स्वामी के मत मे प्रतिबिम्ब मिथ्या है। पूर्व उक्त चार पक्षो मे बिम्ब प्रतिबिम्ब का अभेद होने से प्रतिबिम्ब सत्य है। एक ही पदार्थ मे उपाधि के सन्निधान से बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व भ्रम होता है। बिम्ब का स्वरूप ही प्रतिबिम्ब है। और विद्यारण्य स्वामी के मत मे दर्पणादिको मे बिम्ब के सन्निधान से अनिवर्चनीय प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति होती है। इससे जीव ईश्वर का स्वरूप मिथ्या है।

आभासवाद की रीति से जीव ब्रह्म के अभेद के वाक्यो मे बाध समानाधिकरण

जीव का ब्रह्म से अभेद प्रतिपादिक वाक्यो मे बाध समानाधिकरण है, अभेद समानाधिकरण नही है। जैसे पुरुष मे स्थाणु भ्रम होकर पुरुष का ज्ञान होने पर "यह स्थाणु पुरुष है" इस रीति से पुरुष से स्थाणु का अभेद कहै, वहा स्थाणु के अभाव वाला पुरुष है वा स्थाणु का अभाव पुरुष है, इस रीति से बाध होता है। अधिकरण से अभाव पृथक् है। इस मत मे स्थाणु के अभाव वाला पुरुष है, ऐसा बाध होता है। कल्पित का अभाव अधिष्ठान रूप है, इस मत मे स्थाणु का अभाव

पुरुष है, ऐसा बाध होता है। इस रीति से अह शब्द का अर्थ "जीव ब्रह्म" है इस वाक्य का जीव के अभाव वाला ब्रह्म है, यह अर्थ है अथवा जीव का अभाव ब्रह्म है, यह अर्थ है ? अभाव को बाध कहते है। उक्त रीति से कल्पित पदार्थ का सत्य अधिष्ठान से अभेद कहै वहा बाध समानाधिकरण ही विवक्षित होता है।

कूटस्थ और ब्रह्म के अभेद स्थल मे अभेद (मुख्य) समानाधिकरण

जहा कूटस्थ का ब्रह्म से अभेद कहते है, वहा अभेद समानाधिकरण होता है। कैसे ? जैसे जलाकाश का महाकाश से अभेद कहते है, वहा जलाकाश का महाकाश से बाध समानाधिकरण है और घटाकाश का महाकाश से अभेद कहते है, वहा अभेद समानाधिकरण है, इसी को मुख्य समानाधिकरण कहते है। इस रीति से विद्यारण्य स्वामी ने जीव का ब्रह्म से बाध समानाधिकरण ही लिखा है।

उक्त बाध समानाधिकरण मे विवरणकार के वचन से अविरोध

और विवरण ग्र थ मे "अह ब्रह्मास्मि" इस वाक्य मे अह शब्द के अर्थ जीव का ब्रह्म से मुख्य समानाधिकरण लिखा है और बाध समानाधिकरण का महावाक्यो मे खडन लिखा है। उसका समाधान विद्यारण्य स्वामी ने इस रीति से लिखा है —बुद्धिस्थ चिदाभास और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास है। क्यो ? चिदाभास विशिष्ट बुद्धि का अधिष्ठान कूटस्थ है। अह प्रतीति का विषय चिदाभास विशिष्ट बुद्धि (जीव) है और स्वय प्रतीति का विषय कूटस्थ है। "अह स्वय जानामि। त्व स्वय जानासि। स स्वय जानाति" इस रीति से सकल प्रतीति मे-अनुगत स्वय शब्द का अर्थ है, और अह त्व आदिक शब्दो का अर्थ व्यभिचारी है। स्वय शब्द का अर्थ कूटस्थ सर्वत्र अनुगत होने से अधिष्ठान है, और अह त्व आदिक शब्दो का अर्थ चिदाभास विशिष्ट बुद्धि रूप जीव व्यभिचारी होने से अध्यस्त है। कूटस्थ मे जीव का स्वरूपाध्यास है। और जीव मे कूटस्थ का सबन्धाध्यास है। इससे कूटस्थ, जीव का अन्योन्याध्यास होने से परस्पर विवेक नही होता, इससे ब्रह्म से

कूटस्थ के मुख्य समानाधिकरण का जीव मे व्यवहार करते है। और जीव मे कूटस्थ धर्म के आरोप बिना मिथ्या जीव का सत्य ब्रह्म से मुख्य समानाधिकरण सभव नही है। इससे स्वाश्रय अन्त करण का अधिष्ठान जो कूटस्थ, उसके धर्म की विविक्षा से जीव का ब्रह्म से मुख्य समानाधिकरण कहा है। इस रीति से चित्रदीप मे विद्यारण्य स्वामी ने विवरणकार के वचन से अविरोध का प्रकार लिखा है।

विवरणोक्त जीव का ब्रह्म से मुख्य समानाधिकरण
और विद्यारण्य के वाक्य की प्रौढिवादता

और विवरण ग्र थ को पूर्व उत्तर देखे तो यह प्रकार सभव नही है। क्यो ? विवरण ग्र थ मे बिम्ब का स्वरूप ही प्रतिबिम्ब माना है। इससे उसके मत मे प्रतिबिम्बत्व रूप जीवत्व तो मिथ्या है और प्रतिबिम्बरूप जीव का स्वरूप मिथ्या नही है किन्तु उसका स्वरूप सत्य है। इससे जीव का ब्रह्म से मुख्य समानाधिकरण सभव है। और विद्यारण्य स्वामी ने जो विवरण ग्र थ का उक्त अभिप्राय कहा है, सो प्रौढिवाद से कहा है। तथाहि —प्रतिबिम्ब को मिथ्यात्व मानने पर भी जीव मे कूटस्थत्व विवक्षा से महावाक्यो मे विवरण उक्त मुख्य समानाधिकरण सभव है। इससे "मुख्य समानाधिकरण की अनुपपत्ति से प्रतिबिम्ब को सत्यत्व अगीकारणीय नही है" इस प्रौढिवाद से विद्यारण्य स्वामी ने उक्तअभिप्राय विवरण का लिखा है और विवरण ग्र थ का उक्त अभिप्राय नही है। प्रौढि अर्थात् उत्कर्ष से जो वाद अर्थात् कथन, उसको प्रौढिवाद कहते है। प्रतिबिम्ब को मिथ्यात्व मानकर महावाक्यो मे मुख्य समानाधिकरण भी प्रतिपादन कर सकते है। इस रीति से अपना उत्कर्ष बोधन किया है।

विद्यारण्योक्त चेतन के चार भेद का अनुवाद

इस रीति से अन्त करण मे आभास जीव है, सो विज्ञानमय कोष रूप है। बुद्धि वासना विशिष्ट अज्ञान मे आभास ईश्वर है, सो आनन्दमय कोष रूप है। दोनो का स्वरूप मिथ्या है। कूटस्थ और जीव का अन्योन्याध्यास है, ब्रह्म चेतन और ईश्वर चेतन का अन्योन्याध्यास है। इससे

जीव मे कूटस्थ धर्मो के आरोप से कही पारमार्थिक ब्रह्मता कही है। वैसे ईश्वर मे अध्यासिक ब्रह्मत्व की विवक्षा से कही वेदात वेद्यत्वादिक धर्म कहे है। इससे चेतन के चार भेद है, यह प्रक्रिया चित्रदीप मे कही है परन्तु

विद्यारण्य स्वामी उक्त बुद्धि वासना मे

प्रतिबिम्ब की ईश्वरता का खडन

बुद्धिवासना विशिष्ट अज्ञान मे प्रतिबिम्ब को ईश्वरता सभव नही है, वैसे आनन्दमय कोष को ईश्वरता कथन भी सभव नही है। तथाहि —बुद्धिवासना विशिष्ट अज्ञान मे प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहै उसको यह पूछना चाहिये, ईश्वर भाव की उपाधि केवल अज्ञान है अथवा वासना सहित अज्ञान है अथवा केवल वासना है ? यदि प्रथम पक्ष कहै तो बुद्धिवासनाविशिष्ट अज्ञान मे प्रतिबिम्ब को ईश्वरता कथन से विरोध होगा। यदि द्वितीय पक्ष कहै तो केवल अज्ञान को ही ईश्वरभाव की उपाधि मानना चाहिये। बुद्धि वासना विशिष्ट अज्ञान को ईश्वर की उपाधि कहना निष्फल है। यदि विद्यारण्य स्वामी का भक्त इस रीति से कहै, केवल अज्ञान को ईश्वर की उपाधि माने तो ईश्वर मे सर्वज्ञता सिद्ध नही होती। इससे सर्वज्ञता के लाभार्थ बुद्धि-वासना भी अज्ञान की विशेषण मानी है। यह कथन भी असगत है। क्यो ? अज्ञानस्थ सत्त्वाश की सर्वगोचर वृति से ही सर्वज्ञता का लाभ होने से बुद्धि वासना को अज्ञान की विशेषणता मानना निष्फल है। अज्ञानस्थ सत्त्वाश की वृत्ति से ही सर्वज्ञता सभव है, बुद्धिवासना से सर्वज्ञता सिद्ध नही होती। क्यो ? एक एक बुद्धिवासना को तो निखिल पदार्थ गोचरता सभव नही है। सर्वज्ञता लाभ के अर्थ सकल वासना को अज्ञान की विशेषणता मानना चाहिये, सो प्रलय काल बिना एक काल मे सर्ववासना का सद्भाव सभव नही है। इससे सर्वज्ञता की सिद्धि वासना से नही होती। इस रीति से भी धीवासना सहित अज्ञान ईश्वर की उपाधि है, यह द्वितीय पक्ष भी सभव नही है।

यदपि केवल वासना ईश्वर की उपाधि है, यह तृतीय पक्ष है तथापि

यह पूछना चाहिये .—एक एक वासना मे प्रतिबिम्ब ईश्वर है वा सकल वासना मे एक प्रतिबिम्ब ईश्वर है ? यदि प्रथम पक्ष कहै तो जीव जीव की बुद्धि की वासना अनन्त होने से उनमे प्रतिबिम्ब ईश्वर भी अनन्त होगे, और एक एक वासना को अल्प गोचरता होने से उनमे प्रतिबिम्ब रूप अनन्त ईश्वर भी अल्पज्ञ ही होगे । सर्व वासना मे एक प्रतिबिम्ब माने तो सर्ववासना प्रलय बिना युगपत् नही हो सकती । और अनेक उपाधि मे अनेक ही प्रतिबिम्ब होते है । इससे सर्व वासना मे एक प्रतिबिम्ब सभव नही है । इस रीति से केवल अज्ञान ही ईश्वर की उपाधि है।

विद्यारण्य स्वामी उक्त आनन्दमय कोश की ईश्वरता का खडन

विद्यारण्य स्वामी ने चित्रदीप मे वासना का निष्फल अनुसरण किया है, वैसे आनन्दमय कोष को भी ईश्वरता कथन असगत है। क्यो ? जाग्रत स्वप्न मे स्थूलावस्था विशिष्ट प्रतिबिम्ब सहित अत-करण को विज्ञानमय कहते है । विज्ञानमय जीव को ही सुषुप्ति काल मे सूक्ष्म रूप से विलीन होने पर आनन्दमय कहते है । उसको ईश्वर मानें तो जाग्रत स्वप्न मे अत करण की विलीन अवस्थारूप आनन्दमय के अभाव से ईश्वर का भी अभाव होना चाहिये । अनन्त पुरुषो की सुषुप्ति मे अनन्त ईश्वर होने चाहिये । जीव के पचकोश सकल ग्र थ-कारो ने कहे है, और पच कोश विवेक मे विद्यारण्य स्वामी ने स्वय भी जीव के पचकोश कथन किये है । आनन्दमय को ईश्वरता माने तो सकल वचन असगत होगे । इससे आनन्दमय कोश को ईश्वरता सभव नही है।

माडूक्योपनिषदुक्त आनन्दमय की सर्वज्ञता आदि का अभिप्राय

और माडूक्य उपनिषद् मे आनन्दमय को सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता कही है, उससे भी आनन्दमय को ईश्वरता सिद्ध नही होती । क्यो ? माडूक्य मे यह अर्थ है .—विश्व, तैजस, प्राज्ञ, भेद से जीव के तीन स्वरूप है । विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, भेद से ईश्वर के भी तीन भेद हैं । यद्यपि हिरण्यगर्भ को जीवता सकल उपनिषद् मे प्रसिद्ध है।

हिरण्यगर्भ रूप की प्राप्ति की हेतु उपासना भी उपनिषद् मे प्रसिद्ध है। और उपनिषदुपासना कर्ता जीव ही कल्पातर मे हिरण्यगर्भ पदवी को प्राप्त होता है। वैसे विराट्भाव की प्राप्ति की हेतु उपासना से कल्पांतर मे जीव को ही विराट् रूप की प्राप्ति होती है। और हिरण्यगर्भ के ऐश्वर्य से विराट् का ऐश्वर्य न्यून है। ईश्वर का ऐश्वर्य सर्व से उत्कृष्ठ है, उसमे अपकृष्ट ऐश्वर्य सभव नही है। वैसे हिरण्यगर्भ का पुत्र विराट होता है, उसको क्षुधापिपासा की बाधा होती है। यह गाथा पुराण मे प्रसिद्ध है। इससे हिरण्यगर्भ और विराट् को ईश्वरता कथन सभव नही है, तथापि सत्यलोक वासी सूक्ष्म समष्टि का अभिमानी सुखभोक्ता हिरण्यगर्भ तो जीव है। और स्थूल समष्टि का अभिमानी विराट भी जीव है। सूक्ष्म प्रपच का प्रेरक अतर्यामी भी हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ है, वैसे स्थूल प्रपच का प्रेरक अतर्यामी विराट् शब्द का अर्थ है। चेतन प्रतिबिम्ब गर्भ (युक्त) अज्ञान रूप अव्याकृत (ईश्वर) ही सूक्ष्म सृष्टि-काल मे उसका प्रेरक हो तब हिरण्यगर्भ सज्ञक होता है। स्थूल सृष्टि-काल मे उसका प्रेरक हो, तब विराट् सज्ञक होता है।

इस रीति से जीव मे और ईश्वर मे हिरण्यगर्भ शब्द की और विराट् शब्द की प्रवृत्ति होती है। परन्तु सूक्ष्म स्थूल के अभिमानी जीव मे तो हिरण्यगर्भ शब्द और विराट् शब्द की शक्ति वृत्ति है, और द्विविध प्रपच के प्रेरक ईश्वर मे उन शब्दो की गौणी वृत्ति है। जैसे जीवरूप हिरण्यगर्भ का और विराट् का स्वीयता सबन्ध सूक्ष्म स्थूल प्रपच से है, वैसे ईश्वर का भी सूक्ष्म स्थूल प्रपच से प्रेर्यता सबन्ध है। इससे सूक्ष्म सृष्टि सबन्धित्वरूप हिरण्यगर्भ वृत्ति गुण के योग से ईश्वर मे हिरण्यगर्भ शब्द की गौणी वृत्ति है। वैसे स्थूल सृष्टि सबन्धित्वरूप विराट् वृत्ति गुण के योग से ईश्वर मे विराट् शब्द की गौणी वृत्ति है। इस रीति से हिरण्यगर्भ, विराट् शब्द के जीव, ईश्वर दोनो अर्थ है। जिस प्रसग मे जो अर्थ सभव हो उसको ग्रहण करना चाहिये। गुरु सप्रदाय बिना वेदात ग्रथो को अवलोकन करते है उनको पूर्व उक्त व्यवस्था का ज्ञान नही होता। इससे हिरण्य-

गर्भ, विराट् शब्दो से कही जीव का कही ईश्वर का सभव देखकर मोह को प्राप्त होते है । माडूक्य उपनिषद् मे त्रिविध जीव का त्रिविध ईश्वर से अभेद चिन्तन लिखा है । जिस मद बुद्धि पुरुष को महावाक्य विचार से तत्त्वसाक्षात्कार नही हो, उसको प्रणवचिन्तन माडूक्य मे कहा है । उसका प्रकार विचारसागर के पचमतरग मे स्पष्ट है । वहा विश्व, विराट् का और तैजस हिरण्यगर्भ का तथा प्राज्ञ, ईश्वर का अभेद चिन्तन लिखा है । इससे ईश्वर के धर्म सर्वज्ञतादिक प्राज्ञरूप आनन्दमय मे अभेद चिन्तन के अर्थ कहे है, और आनन्दमय को ईश्वरता विवक्षा से नही कहे है । जैसे विराट् के अभेद चिन्तन के अर्थ वैश्वानर के उन्नीस मुख कहते है, चतुर्दश त्रिपुटी और पच प्राण ये उन्नीस विश्व के भोग साधन होने से विश्व के मुख है और वैश्वानर ईश्वर है, उसको भोग नही होता । इससे विश्व विराट् के अभेद चिन्तन के अर्थ ही विश्व के भोगसाधन पदार्थो को वैश्वानर की भोग साधनता कही है । विराट् को वैश्वानर कहते है । इस प्रकार माडूक्य वचन का अभेद चितन मे तात्पर्य है । वस्तु के स्वरूप के अनुसार ही चिन्तन होता है, यह नियम नही है किन्तु अन्यरूप से भी चिन्तन होता है । यह अर्थ भी विचारसागर मे स्पष्ट है । इससे माडूक्य वचन से आनन्दमय को ईश्वरता सिद्ध नही होती है ।

आनन्दमय की ईश्वरता मे विद्यारण्य स्वामी के तात्पर्य का अभाव

और विद्यारण्य स्वामी ने भी ब्रह्मानन्द नाम ग्र थ मे "जीव की अवस्था विशेष आनन्दमय कोश है" यह लिखा है । वहा यह प्रसग है :—जाग्रत्स्वप्न मे भोग देने वाले कर्म समुदाय का नाश होने पर निद्रारूप से विलीन अन्त करण का पुन जाग्रत मे भोग देने वाले कर्म के वश से घनी (स्थूल) भाव होता है, उसको विज्ञानमय कहते है । सोई विज्ञानमय सुषुप्ति मे विलीन अवस्थावाले अन्त.करण रूप उपाधि के सबन्ध से आनन्दमय कहा जाता है । इस रीति से विज्ञानमय की अवस्था विशेष को ही आनन्दमय कहा है । इससे विद्यारण्य स्वामी को भी आनन्दमय कोश मे जीवत्व ही इष्ट है । यद्यपि

विलक्षण लेख देखकर और परम्परा वचन मे परम्परा से यह कहते है, पाच विवेक और पाच दीप तो विद्यारण्यकृत है और पाच आनन्द भारतीतीर्थ कृत है, तथापि एक ही ग्र थ मे पूर्व उत्तर का विरोध सभव नही है। इससे पचदशी ग्र थ मे आनन्दमय को ईश्वरता विवक्षित नही है और चित्रदीप मे उसको ईश्वरता कही है, सो माडूक्य वचन के समान चिन्तनीय ईश्वराभेद मे तात्पर्य से कही है। आनन्दमय को ईश्वरता मे विद्यारण्य स्वामी का तात्पर्य नही है। इस रीति से विद्यारण्य स्वामी ने चेतन के चार भेद चित्रदीप मे कहे है, तथापि —

चेतन के तीन भेद का विद्यारण्य स्वामी सहित सर्व को स्वीकार

दृगदृश्य विवेक नाम ग्र थ मे विद्यारण्य स्वामी ने कूटस्थ का जीव मे अतर्भाव लिखा है, तथाहि :—पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातिभासिक, भेद से जीव तीन प्रकार का है। स्थूल सूक्ष्म देह द्वयावच्छिन्न कूटस्थ चेतन को पारमार्थिक जीव कहते है। उसका ब्रह्म से मुख्य अभेद है। माया से आवृत कूटस्थ में कल्पित अन्त.करण उसमे जो चिदाभास है, सो देह द्वय मे अभिमानकर्ता है, उसी को व्यावहारिक जीव कहते है। ब्रह्म ज्ञान से पूर्व उसका बाध नही होता, इससे व्यावहारिक है। निद्रारूप माया से आवृत व्यावहारिक जीव रूप अधिष्ठान मे कल्पित को प्रातिभासिक जीव कहते है, स्वप्न अवस्था मे प्रातिभासिक प्रपच का अहममाभिमानी प्रातिभासिक जीव है। ब्रह्म ज्ञान से बिना ही जाग्रत् प्रपच के बोध से प्रातिभासिक प्रपच की निवृत्ति काल मे व्यावहारिक जीव के बोध से प्रातिभासिक जीव की निवृत्ति होती है। इस रीति से कूटस्थ का जीव मे अतर्भाव है। इससे जीव, ईश्वर, शुद्ध चेतन भेद से त्रिविध चेतन है। यही पक्ष सर्व को समत है और वार्तिक वचन के अनुकूल है।

जीव का मोक्ष दशा मे उक्त (विद्यारण्यादि ४) पक्षो मे शुद्ध ब्रह्म से और विवरणपक्ष मे ईश्वर से अभेद

पूर्व उक्त सकल पक्षो मे जीव के समान ईश्वर भी प्रतिबिम्ब रूप

है, इससे ईश्वर से मोक्ष दशा मे जीव का अभेद इनके मत मे नही होता। क्यो ? उपाधि के अपसरण (हटने) से एक प्रतिबिम्ब का अन्य प्रतिबिम्ब से अभेद अनुभव गोचर नही है, किन्तु बिम्ब से ही अभेद होता है। वैसे शुद्ध चेतन से ही प्रतिबिम्ब रूप जीव का मोक्ष मे अभेद होता है और विवरणकार के मत मे बिम्ब चेतन ईश्वर है, उसके मत मे ईश्वर से ही जीव का अभेद होता है।

वेदात के सिद्धात मे प्रक्रिया के भेद, विवरणकार के मत मे अज्ञान मे प्रतिबिम्ब जीव और बिम्ब ईश्वर का निरूपण

विवरणकार के मत मे जीव, ईश्वर की उपाधि एक ही अज्ञान है। अज्ञान मे प्रतिबिम्ब जीव है। बिम्ब ईश्वर है। जहा दर्पण मे मुख का प्रतिबिब प्रतीत हो, वहा दर्पण मे मुख की छाया नही है और दर्पण मे अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति भी नही है। वैसे व्यावहारिक प्रतिबिम्ब की भी उत्पत्ति नही है, किन्तु दर्पण गोचर चाक्षुष वृत्ति दर्पण से प्रतिहृत होकर (टकराकर) ग्रीवास्थ मुख को ही विषय करती है। इस रीति से ग्रीवास्थ मुख मे ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव प्रतीत होता है। सो ग्रीवास्थ मुख सत्य है। इससे बिम्ब प्रतिबिम्ब का स्वरूप भी ग्रीवास्थ मुख रूप होने से सत्य है, परन्तु ग्रीवास्थ मुख मे बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व धर्म मिथ्या है। अनिर्वचनीय मिथ्या बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व का अधिष्ठान मुख है। इस रीति से बिम्ब के समान प्रतिबिम्ब का भी स्वरूप सत्य होने से दर्पणस्थानी अज्ञान के सन्निधान से शुद्ध चेतन मे बिम्बस्थानी ईश्वर के समान प्रतिबिम्बस्थानी जीव का भी स्वरूप सत्य है। इससे महावाक्यो मे मुख्य समानाधिकरण सभव है, परन्तु बिम्बत्वरूप ईश्वरत्व और प्रतिबिम्बत्व रूप जीवत्व दोनो धर्म मिथ्या है, उनका अधिष्ठान शुद्ध चेतन है। यद्यपि उक्त रीति से जीव, ईश्वर की उपाधि एक अज्ञान है। इससे दोनो को अल्पज्ञता वा सर्वज्ञता होनी चाहिये, तथापि दर्पणादिक उपाधि के लघुत्व पीनत्वादिक धर्मो का आरोप प्रतिबिम्ब मे होता है, बिम्ब मे नही होता। इससे आवरण स्वभाव अज्ञान कृत अल्पज्ञता जीव मे है। बिम्बरूप

ईश्वर मे स्वरूप प्रकाश से सर्वज्ञत्व है। यद्यपि बिम्ब प्रतिबिम्ब का उक्त रीति से अभेद है। इससे बिम्ब प्रतिबिम्ब के धर्मों का भेद कथन सभव नही है। यदि बिम्ब प्रतिबिम्ब का भेद हो, तो उक्त व्यवस्था सभव है, तथापि दर्पणस्थत्वरूप प्रतिबिम्बत्व का ग्रीवास्थ मुख मे भ्रम होता है। भ्रमसिद्ध प्रतिबिम्बत्व की अपेक्षा से बिम्बत्व व्यवहार होता है। इससे एक मुख मे बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व दोनो आरोपित है। वैसे एक ही मुख मे बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप से धर्मी के भेद का भ्रम होता है। भ्राति से प्रतीत जो बिम्ब प्रतिबिब का भेद उससे उक्त व्यवस्था सभव है। इस रीति से विवरणकार के मत में अज्ञान मे प्रतिबिब जीव है और बिब चेतन ईश्वर है। अज्ञान अनिर्वचनीय है, इससे अज्ञान सद्‌भावकाल मे भी अज्ञान का परमार्थ से अभाव होने से बिब प्रतिबिब चेतन ही परमार्थ से शुद्ध चेतन है। इससे ईश्वरभाव की प्राप्ति भी शुद्ध की ही प्राप्ति है।

अवच्छेदवादी द्वारा अभासवाद का खडन और स्वमत का निरूपण

कोई आचार्य यह कहते है'—अन्त करणावच्छिन्न चेतन जीव है, और अन्त करण से अनवच्छिन्न चेतन ईश्वर है। क्यो ? रूपवान् सूर्यादिको का ही प्रतिबिब इष्ट है, रूपरहित वायु आदिको का प्रतिबिब इष्ट नही है। इससे यह नियम सिद्ध होता है, रूपवान् द्रव्य का ही प्रतिबिब होता है, नीरूप का नही होता। इससे नीरूप चेतन का प्रतिबिब सभव नही है। यद्यपि कूप तडागादिक जलगत आकाश मे नीलता विशालता के अभाव होने से "नीलनभ.। विशाल नभ" ऐसी प्रतीति होती है। इससे विशालता विशिष्ट और आरोपित नीलता विशिष्ट आकाश का प्रतिबिब मानना चाहिये। और आकाश मे रूप नही है। इससे नीरूप का भी प्रतिबिब सभव है, तथापि आकाश मे भी भ्रातिसिद्ध आरोपित नीलरूप है। चेतन मे आरोपित रूप का भी अभाव होने से उसका प्रतिबिंब सभव नही है। जिस पदार्थ मे आरोपित वा अनारोपित रूप हो उसका ही प्रतिबिब होता है। सर्वथा रूपरहित का प्रतिबिब नही होता और नीरूप उपाधि मे तो

सर्वथा प्रतिबिब सभव नही है। क्यों ? स्वरूप वाले दर्पणादिको मे ही प्रतिबिब देखा जाता है। इससे नीरूप अन्त करण में वा नीरूप अविद्या मे नीरूप चेतन का प्रतिबिब सभव नही है। और रूपरहित शब्द का नीरूप आकाश मे जैसे प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिब कहते हैं सो भी असंगत है। क्यो ? उक्त रीति से आकाश रूपरहित नही है और आकाश मे जो प्रतिध्वनि होती है, सो शब्द का प्रतिबिब नही है।

क्यों ? यदि प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिब मानें तो आकाश वृत्ति शब्द का अभाव होगा। भेरी दडादिकों के सयोग से पार्थिव शब्द होता है, उस पार्थिव शब्द से उसके सन्मुख देश मे पाषाणादि अवच्छिन्न आकाश मे प्रतिध्वनि रूप शब्द होता है। उस प्रतिध्वनि शब्द का पार्थिव शब्द निमित्त कारण है। इससे पार्थिवध्वनि के समान ही प्रतिध्वनि होती है। जो प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिब मानते है, वे प्रतिबिब को अनिर्वचनीय मानते है। और विवरणकार के अनुसारी बिबरूप ही प्रतिबिब को मानते है। इन दोनो मतो मे आकाश का गुण प्रतिध्वनि नही होगा। क्यो ? व्यावहारिक आकाश का गुण प्रातिभासिक सभव नही है। इससे अनिर्वचनीय प्रतिबिबवाद में प्रतिध्वनि को पार्थिव शब्द का प्रतिबिब माने तो आकाश का गुण कहना सभव नही है। और बिब प्रतिबिब के अभेदवाद में पार्थिव शब्द का प्रतिबिब रूप प्रतिध्वनि का अपने बिब से अभेद होने से पृथ्वी का गुण प्रतिध्वनि होगा। इससे प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिब माने तो किसी भी प्रकार से अकाश का गुण प्रतिध्वनि है, यह कथन संभव नही है। और प्रतिध्वनि से भिन्न शब्द पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के है। आकाश मे अन्य प्रकार का शब्द नही है। इससे शब्दरहित ही आकाश होगा। और शब्दरहित आकाश है, यह मत अशास्त्रीय है। भूत विवेक मे विद्यारण्य स्वामी ने यह कहा है :—कट कट शब्द पृथ्वी का है। चुल चुल शब्द जल का है। भुक् भुक् शब्द अग्नि का है। सी सी शब्द वायु का है। प्रतिध्वनिरूप शब्द आकाश का है। वैसे ही अन्य ग्र थकारो ने भी आकाश का

गुण ही प्रतिध्वनि कहा है। इससे शब्द का प्रतिबिंब प्रतिध्वनि नहीं है, किन्तु आकाश का स्वतत्र शब्द प्रतिध्वनि है। उसका उपादान कारण आकाश है और भेरी आदिको मे जो पार्थिव ध्वनि होती है, सो प्रतिध्वनि का निमित्त कारण है। इससे रूपरहित का प्रतिबिब सभव नही है। यदि प्रतिबिबवादी इस रीति से कहै, कूपादिको के आकाश मे "विशालमाकाशम्" यह प्रतीति होती है और कूप देश के आकाश मे विशालता नही है। इससे बाह्य देशस्थ रूपरहित विशाल आकाश का कूप जल में प्रतिबिब होने से रूपरहित चेतन का भी प्रतिबिब सभव है। तथापि रूप वाली उपाधि मे ही प्रतिबिंब होता है। रूपरहित उपाधि मे प्रतिबिंब सभव नही है। आकाश के प्रतिबिंब की उपाधि कूप जल है, उसमे रूप है और अविद्या अन्त करणादिक रूपरहित है। उनमे चेतन का प्रतिबिब सभव नही है। इससे अतकरणावच्छिन्न चेतन जीव है और अन्तकरण से अनवच्छिन्न चेतन ईश्वर है। अथवा—

अवच्छेदवाद का कथन

अविद्यावच्छिन्न चेतन जीव है और मायावच्छिन्न चेतन ईश्वर है।

अन्त करण से अवच्छिन्न चेतन जीव है और अनवच्छिन्न चेतन ईश्वर है इस पक्ष का खडन

अन्त करणावच्छिन्न को जीव माने और अनवच्छिन्न को ईश्वर माने तो ब्रह्माड से बाह्य देशस्थ चेतन मे ईश्वरता होगी। क्यो ? ब्रह्माड मे अनन्त जीवो के अनन्त अन्त करण व्याप्त है। इससे अन्त:-करणावच्छिन्न चेतन का ब्रह्माड के मध्य लाभ सभव नहीं है। यदि ब्रह्माड से बाह्यदेश मे ही ईश्वर का सद्भाव माने तो अतर्यामी प्रतिपादक बचन से विरोध होगा। "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमतरो यमयति" इस वचन मे विज्ञान पद बोध्य जीव देश मे ईश्वर का सद्भाव कहा है, इससे अन्त करण से अनवच्छिन्न ईश्वर नहीं है किन्तु मायावच्छिन्न चेतन ही ईश्वर है और अन्त करण से अनवच्छिन्न को ईश्वरता माने तो अन्त.करण से सबन्धाभाव ही ईश्वरता की उपाधि

सिद्ध होती है । और ईश्वर मे सर्वज्ञतादिक उपाधिकृत है । आभास रूप उपाधि से सर्वज्ञतादिक धर्मो की सिद्धि नही होती है । और—

तृप्तिदीप मे विद्यारण्य स्वामी उक्त अन्त करण के सम्बन्ध और उसके अभाव के उपाधिपने का अभिप्राय

विद्यारण्य स्वामी ने तृप्तिदीप मे यह कहा है —जैसे अन्त.करण का सबन्ध उपाधि है, वैसे अन्त.करण के सबन्ध का अभाव भी उपाधि है । जैसे लोह की शृ खला से सचार का निरोध होता है, वैसे सुवर्ण की शृ खला से भी सचार का निरोध होता है । इस रीति से अन्त करण के सम्बन्ध रूप भाव उपाधि से जीव स्वरूप का बोध होता है और उक्त सबन्ध अभाव से परमात्म स्वरूप का बोध होता है । इस रीति से विद्यारण्य स्वामी ने अन्त करणराहित्य भी उपाधि कही है । उसका यह अभिप्राय है .—जैसे अन्त.करण सबन्ध से जीव स्वरूप का बोध होता है, वैसे अन्त करणराहित्य से ब्रह्म स्वरूप का बोध होने से ब्रह्म के बोध का उपयोगी अन्त करणराहित्य भी है । इससे विद्यारण्य स्वामी के वचन से भी अभावरूप उपाधि से ईश्वर मे सर्वज्ञतादिको की सिद्धि प्रतीत नही होती ।

अवच्छेदवाद के भेद पूर्वक उसकी समाप्ति

इससे मायावच्छिन्न चेतन ही ईश्वर है, ईश्वर की उपाधि माया सर्व देश मे है । इससे ईश्वर मे अतर्यामिता भी सभव है । और अन्त करण अविच्छन्न को जीव माने तो चेतन के कर्ता भोक्ता प्रदेश भिन्न होगे । इससे कृत का नाश और अकृत की प्राप्ति होगी । इससे अविद्यावच्छिन्न चेतन ही जीव है, अन्त करणावच्छिन्न चेतन जीव नही है । इस रीति से कितने ही ग्र थकार अवच्छेदवाद को ही मानते है और प्रतिबिम्ब के प्रतिपादक श्रुतिस्मृति वचनो का विरोध परिहार उनके ग्र थो मे स्पष्ट है । और—

वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलि आदिक मे उक्त एक जीव (दृष्टि सृष्टि) वाद का निरूपण

सदा असग नित्यमुक्त चिदानन्द ब्रह्म मे कल्पित अविद्यादिको के

सबन्ध से प्रतिबिम्बता तथा अवच्छिन्नता सभव नही है। जैसे मृगतृष्णा के जल से पूरित वध्यासुत कुलाल ने शशश्रृग के दड से रचित घट के सबन्ध से आकाश मे प्रतिबिम्बता वा अवच्छिन्नता नही होती, किन्तु आकाश के समान सत्तावाले जलपूरित घट तडागादिको के सबन्ध से ही आकाश मे प्रतिबिम्बता और अवच्छिन्नता होती है। अविद्या और उसका कार्य ब्रह्म चेतन के समान सत्तावाले नही है, किन्तु स्वत सत्ता-शून्य है और ब्रह्म की सत्ता से सत्ता वाले अविद्यादिक है। इससे शशश्रृगादिको के समान अत्यत अलीक अविद्यादिको से चेतन का सबन्ध कथन ही सभव नही है। उनके सबन्ध से प्रतिबिबतादिक तो अत्यन्त दूर है। इससे ब्रह्म सदा एकरस है, उसमे अवच्छिन्नता वा प्रतिबिबता रूप जीवता सभव नही है, किन्तु कल्पित अज्ञान के कल्पित सबन्ध से ब्रह्म मे बिना हुआ जीवत्व प्रतीत होता है। कैसे ? जैसे अविकारी कुन्ती पुत्र (कर्ण) मे राधापुत्रता की प्रतीति भ्रमरूप हुई है, वैसे प्रतिबिबादिक विकार बिना ही ब्रह्म मे जीवत्व भ्रम से प्रतीत होता है। प्रतिबिबरूप वा अवच्छेदरूप जीवभाव की प्राप्ति नही होती। स्वाविद्या से जीवभावापन्न ब्रह्म ही प्रपच का कल्पक होने से सर्वज्ञत्वा-दिक धर्म सहित ईश्वर भी इस पक्ष मे जीव कल्पित है। कैसे ? जैसे स्वप्न कल्पित राजा की सेवा से स्वप्न मे फल की प्राप्ति होती है, वैसे स्वकल्पित ईश्वर भजन से फल की प्राप्ति भी सभव है। इस रीति से अनादि अविद्या के बल से स्वकीय ब्रह्म भाव के आवरण से जीवत्व भ्रम होता है। "तत्त्वमस्यादि" वाक्यजन्य साक्षात्कार से जीवत्व भ्रम की निवृत्ति होती है। भ्रम काल मे भी जीवत्व नही है, किन्तु नित्य-मुक्त चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही है। यह पक्ष ही भाष्यकार, वार्तिककार ने बृहदारण्य के व्याख्यान मे कर्ण के दृष्टात से प्रतिपादन किया है। जैसे कु ती पुत्र कर्ण को हीन जाति के सबन्ध से निकृष्टता भ्रम हुआ है, और अनेकविध तिरस्कारजन्य दु:ख का अनुभव करता हुआ स्वत. सिद्ध कुन्ती पुत्रता निमित्तक उत्कर्ष से प्रच्युत हुआ है। कदाचित् एकात मे सूर्य भगवान् ने कहा "तू राधा पुत्र नही है, किन्तु मेरे सबन्ध से कुन्ती के उदर से उत्पन्न हुआ है" इस प्रकार के सूर्य के वचन से

अपने मे हीन जाति के भ्रम को त्यागकर स्वत सिद्ध कुन्ती पुत्रता निमित्तक उत्कर्ष को जाना था। वैसे चिदानन्द ब्रह्म भी अनादि अविद्या के सबन्ध से जीवत्व भ्रम को प्राप्त हुआ स्वत सिद्ध ब्रह्मभाव का विस्मरण करके अनेक विध दु ख को अनुभव करता है।

कदाचित् अपने अज्ञान से कल्पित, स्वप्नकल्पित आचार्य के तुल्य आचार्य द्वारा महावाक्य श्रवण से स्वगोचर विद्या से अविद्या की निवृत्ति होने पर नित्य परमानन्द स्वरूप चैतन्य से अनुभव करता है। इस रीति से बृहदारण्य के व्याख्यान मे भाष्यकार ने और वार्तिककार ने लिखा है। जैसे जीव की अविद्या कल्पित आचार्य वेदोपदेश के हेतु है, वैसे ईश्वर भी स्वप्नकल्पित राजा के समान जीव कल्पित ही भजन से फल का हेतु है। इस मत मे एक जीववाद है। इससे एक जीव-कल्पित ईश्वर भी एक ही है, नाना ईश्वर की आपत्ति नही है। शुक वामदेवादिको की मुक्ति प्रतिपादक शास्त्र से भी स्वप्न कल्पित नाना पुरुषो के समान जीवाभास ही नाना सिद्ध होता है। (जीव से भिन्न होकर भी जीव के समान प्रतीत हो उसको जीवाभास कहते है।) नाना-जीववाद की सिद्धि नही होती। कैसे ? जैसे स्वप्न मे एक द्रष्टा को नाना पुरुष प्रतीत होते है, उनमे कोई महावन मे उत्पथगामी होकर व्याघ्रादिजन्य दु.ख को अनुभव करते है, कोई राजमार्ग मे आरूढ होकर स्वनगर को प्राप्त होते है। वहा वन मे भ्रमण और स्वनगर की प्राप्ति स्वप्न द्रष्टा को नही है किन्तु आभास पुरुषो को होती है। वैसे अविद्या सहित ब्रह्म रूप जीव को बध मोक्ष की प्राप्ति नही है, किन्तु आभास रूप जीवो को बध मोक्ष प्रतीत होता है। इस पक्ष मे किस के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति रूप मोक्ष होगा। यह प्रश्न करे तो तेरे ज्ञान से होगा, यह उत्तर है, वा किसी के ज्ञान से मोक्ष नही होता, यह उत्तर है। क्यो ? इस मत मे बध का अत्यन्त असद्भाव आत्मा मे है। नित्यमुक्त आत्मा का मोक्ष होगा वा हुआ है, यह कथन सभव नही है। इस अभि-प्राय से मोक्ष प्रतिपादक वाक्यो को अर्थवाद कहते है। और बध है, अद्यपर्यन्त कोई मुक्त हुआ नही है, आगे पुरुषार्थ से मोक्ष होगा, इस अभि-प्राय से वामदेवादिको की मुक्ति प्रतिपादक वाक्यो को अर्थवाद नही

कहा है। क्यों ? यदि बाध होने पर वामदेवादिकों का मोक्ष नही हुआ तो आगे भी मोक्ष की आशा निष्फल है। इस बुद्धि से श्रवण मे प्रवृत्ति का ही अभाव होगा। इससे आत्मा मे बाध का अत्यन्त असद्भाव है। नित्यमुक्त ब्रह्मरूप आत्मा है, उसका मोक्ष सभव नही है। यह उत्तम भूमिकारूढ विद्वान का निश्चय है।

वेदान्त सिद्धान्त की नाना प्रक्रिया का तात्पर्य सकल अद्वैत ग्रन्थो के तात्पर्य का विषय

नित्यमुक्त आत्मस्वरूप के ज्ञान से दुख परिहार और सुख की प्राप्ति के निमित्त अनेक विध कर्तव्य बुद्धिजन्य क्लेश की निवृत्ति ही वेदान्त श्रवण का फल है। आत्मस्वरूप मे बध का नाश रूप वा परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष वेदान्त श्रवण का फल नही है। क्यो ? वेदान्त श्रवण से पूर्व भी आत्मा मे बाध का लेश भी नही है, तथापि अत्यन्त असत् बाध की प्रतीति होती है। इससे भ्रम से ही वेदात श्रवण में प्रवृत्ति होती है। जिसको बाध भ्रम नही हो, उसकी प्रवृत्ति नही होती। सकल अद्वैत शास्त्र का इस पक्ष मे ही तात्पर्य है।

जीव ईश्वर मे सर्व ग्रन्थकारो की समति का एक निर्णय

इस रीति से जीव, ईश्वर का स्वरूप निरूपण ग्रन्थकारो ने बहुत बिस्तार से लिखा है, वहा जीव के स्वरूप मे एकत्व अनेकत्व का विवाद है और सर्वमत मे ईश्वर एक है, सर्वज्ञ है, नित्यमुक्त है, ईश्वर मे आवरण का अगीकार किसी भी अद्वैतवाद के ग्रथ मे नही है। जो ईश्वर मे आवरण कहै, सो वेदात सप्रदाय से बहिर्भूत है, परन्तु नाना अज्ञानवाद मे जीवाश्रित ब्रह्मविषयक अज्ञान है, यह वाचस्पति का मत है। वहा जीव के अज्ञान से कल्पित ईश्वर और प्रपच नाना मानते है, तथापि जीव के अज्ञान से कल्पित ईश्वर भी सर्वज्ञ ही मानते है, ईश्वर मे आवरण का अगीकार नही है।

विद्यारण्य स्वामी के और विवरणकार के मत की विलक्षणता

विद्यारण्य स्वामी आदिकों ने पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्राति-

भासिक, भेद से त्रिविध जीव कहा है। व्यावहारिक अतःकरण मे प्रतिविम्ब को व्यावहारिक जीव कहते है। स्वाप्न अवस्था के प्रातिभासिक अन्त करण मे प्रतिबिम्ब को प्रातिभासिक जीव कहते है। विवरणकार की रीति से बिम्ब से पृथक् प्रतिबिम्ब के अभाव से जीव के तीन भेद सभव नही है। इससे त्रिविध जीववाद के अनुसारी बिम्ब प्रतिबिम्ब का भेद मानते है। उनके मत मे दर्पणादिक उपाधि मे अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति होती है। प्रतिबिम्ब का अधिष्ठान दर्पणादिक है, और बिम्ब का सन्निधान निमित्त कारण है। यद्यपि निमित्त कारण के अभाव से कार्य का अभाव नही होता है और बिम्ब के अपसरण (हटने) से प्रतिबिम्ब का अभाव होता है, तथापि निमित्त कारण के दो भेद है। कोई तो कार्य से अव्यवहित पूर्वकाल वृत्ति निमित्त कारण होता है। कोई कार्यकालवृत्ति निमित्त कारण होता है। घटादिको के दड कुलालादिक निमित्त कारण है, सो कार्य से पूर्वकाल वृत्ति चाहिये। घटादिको की सत्ता होने पर उनकी अपेक्षा नही रहती। वैसे प्रत्यक्ष ज्ञान मे स्वविषय निमित्त कारण है, वहा विषय की सत्ता ज्ञानकाल मे अपेक्षित है, विनाशाभिमुख घट से नेत्र का सयोग होने से भी घट का साक्षात्कार नही होता। इससे ज्ञानकाल मे वर्तमान घटादिक ही अपने साक्षात्कार के निमित्त कारण है। और दूरस्थ नाना पदार्थों मे एकत्व भ्रम होता है। मदाधकारस्थ रज्जु मे सर्प भ्रम होता है। इससे एकत्व भ्रम का निमित्तकारण दूरस्थत्व दोष है। रज्जु मे सर्प भ्रम का निमित्त कारण मदाधकार है। दूरस्थत्व और मदाधकार का अभाव होने पर एकत्व और सर्पभ्रम का अभाव होने से कार्यकाल मे वर्तमान दूरस्थत्व और मदाधकार, उक्त द्विविध अध्यास के निमित्त कारण है। इस रीति से बिम्ब का सन्निधान भी कार्यकाल मे वर्तमान ही प्रतिबिम्ब अध्यास का हेतु होने से बिम्ब के अपसरण से प्रतिबिम्ब का अभाव सभव है। इससे सन्निहित बिम्ब तो प्रतिबिम्ब का निमित्त कारण है। भ्रम के अधिष्ठान को ही उपादान कारण कहते है। इससे प्रतिबिम्ब के उपादान कारण दर्पणादिक है।

और विवरणकार के मत मे प्रतिबिब का स्वरूप तो बिब से भिन्न नही है, परतु दर्पण-स्थत्व विपरीत देशाभिमुखत्व बिब भिन्नत्व धर्मो की उत्पत्ति ग्रीवास्थ मुख मे होती है, सो भी तीनो धर्म अनिर्वचनीय है। उनका अधिष्ठान रूप उपादान कारण ग्रीवास्थ मुख है, सन्निहित दर्पणादिक निमित्त कारण है। इस रीति से चेतन के प्रति बिबवाद मे दो मत है। विवरणकार के मत मे प्रतिबिब का बिब से अभेद होने से प्रतिबिब का स्वरूप सत्य है और विद्यारण्य-स्वामी आदिको के मत मे दर्पणादिको मे अनिर्वचनीय मुखाभास की उत्पत्ति होती है। इसी को आभासवाद कहते है। विवरण उक्त पक्ष को प्रति बिबवाद कहते है। दोनो पक्षो का परस्पर खडन और स्वपक्ष का मडन बृहद् ग्रथो मे स्पष्ट है। विस्तार भय से यहा नही लिखा है।

दोनो के पक्षो की उपादेयता

और प्रतिबिबवाद मे वा आभासवाद मे आग्रह नही है। चेतन मे ससार धर्म का सभव नही है और जीव ईश का परस्पर भेद नही है। इम अर्थ के बोध के लिये अनेक रीति कही है। जिस पक्ष से असग ब्रह्मात्म बोध होता हो, सोई पक्ष आदरणीय है।

बिम्ब प्रतिबिम्ब के अभेद पक्ष की रीति की अभेद के बोधन मे सुगमता

तथापि बिब प्रतिबिंब के अभेद पक्ष की रीति से असग ब्रह्मात्म बोध अनायास से होता है। क्यो ? दर्पणादिको मे मुखादिको का लौकिक प्रतिबिब होता है, वहा भी बिंब का स्वरूप तो सदा एक रस है, उपाधि के सन्निधान मे बिब प्रतिबिब का भेद भ्रम होता है, वैसे ब्रह्म चेतन तो सदा एक रस है। अज्ञानादिक उपाधि के सबन्ध से जीवभाव, ईश्वरभाव की प्रतीति रूप भ्रम होता है। इस रीति से असग चेतन मे जीव, ईश भेद का सर्वथा अभाव है। जीवत्व ईश्वरत्व धर्म तो परस्पर भिन्न और कल्पित है। और धर्मी परस्पर भिन्न नही है और कल्पित भी नही है। इससे बिब प्रतिबिब का अभेदवाद अद्वैत मत के अत्यन्त अनुकूल है।

प्रतिबिम्ब विषयक विचार, आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद से किंचिद्भेद

परन्तु आभासवाद मे जैसे अनिर्वचनीय प्रतिबिब है, उसका अधिष्ठान दर्पणादिक उपाधि है। वैसे विवरणोक्त प्रतिबिबवाद मे भी दर्पणस्थत्व विपरीत देशाभिमुखत्वादिक धर्म अनिर्वचनीय है। उनका अधिष्ठान मुखादिक बिम्ब है। इससे दोनो पक्षो मे अनिर्वचनीय का परिणामी उपादान अज्ञान कहना चाहिये।

प्रतिबिम्ब की छायारूपता का निषेध

और कोई ग्रथकार छाया को प्रतिबिम्ब मानते है और सत्य कहते है, सो सभव नही है। क्यो ? शरीर-वृक्षादिको से जितने देश मे आलोक का अवरोध होता है, उतने देश मे आलोक विरोधी अधकार उत्पन्न होता है, उस अधकार को ही छाया कहते है। अधकार का नील-रूप होने से छाया का भी नियम से नील रूप ही होता है। और स्फटिक, मौक्तिक का प्रतिबिम्ब श्वेत होता है। सुवर्ण का प्रतिबिम्ब पीतरूपवाला होता है। रक्तमाणिक्य के प्रतिबिम्ब मे रक्तरूप होता है। प्रतिबिम्ब को छायारूप मानें तो सकल प्रतिबिम्ब का नील रूप होना चाहिये। इससे प्रतिबिम्ब छाया रूप नही है।

प्रतिबिम्ब की बिम्ब से भिन्न व्यावहारिक द्रव्यरूपता का निषेध

और कोई इस रीति से कहते है —यद्यपि अधकार स्वरूप छाया से प्रतिबिम्ब का भेद है, तथापि मीमासा के मत मे जैसे आलोकाभाव को अधकार नही मानते है, किन्तु आलोक विरोधी भावरूप अंधकार है, उसमे क्रिया होने से और नीलरूप होने से अधकार द्रव्य है। क्रिया और गुण द्रव्य मे ही होते है। जैसे दशमद्रव्य अधकार है, वैसे प्रति-बिम्ब भी पृथ्वी जलादिको से भिन्न द्रव्य है। इस रीति से प्रतिबिम्ब को स्वतत्र द्रव्य मानें उसको यह पूछना चाहिये —सो प्रतिबिम्ब नित्यद्रव्य है वा अनित्य द्रव्य है ? यदि नित्यद्रव्य हो तो आकाशादिको के समान उत्पत्ति नाशहीन होने से प्रतिबिम्ब के उत्पत्तिनाश प्रतीत नही होने चाहिये ? इससे प्रतिबिम्ब को अनित्य द्रव्य कहै तो उपादान के देश मे कार्य द्रव्य रहता है, इससे प्रतिबिम्ब के उपादान कारण

दर्पणादिक ही मानने होगे और दर्पणादिको को द्रव्यरूप प्रतिबिम्ब की उपादानता सभव नही है। क्यो ? दर्पणादिक उपादान मे जो प्रतिबिम्ब रूप द्रव्य का सद्भाव माने उसको यह पूछना चाहिये --प्रतिबिम्ब मे जो व्यावहारिक रूप और ह्रस्व दीर्घादिक परिमाण स्वरूप गुण, तथा बिम्ब से विपरीताभिमुखत्वादिक धर्म ओर हस्तपादादिक अवयव जो प्रतिबिम्ब मे प्रतीत होते है, सो प्रतिबिम्ब मे व्यावहारिक है वा नही है ? किन्तु मिथ्या प्रतीत होते है ? यदि रूप परिमाणादिको का प्रतिबिम्ब मे व्यावहारिक अभाव मानें और प्रतिबिम्ब के रूपादिको को प्रातिभासिक माने तो व्यावहारिक द्रव्य स्वरूप प्रतिबिम्ब का अगीकार निष्फल है।

और प्रतिबिब के रूप परिमाणादिको को व्यावहारिक मानें तो अल्प परिणाम वाले दर्पण मे महापरिमाणवाले अनेक प्रतिबिब की उत्पत्ति सभव नही है और प्रतिबिब मिथ्यात्व मे तो शरीर के मध्य सकुचित देश मे स्वप्न के मिथ्या हस्ती आदिको की उत्पत्ति होने से उक्त दोष का सभव नही है। वैसे प्रतिबिब को व्यावहारिक द्रव्य कहै तो एक विधरूप वाले दर्पण मे दर्पण के समान रूपवाले प्रतिबिब की ही उत्पत्ति होनी चाहिये और अनेक विधरूपवाले अनेक प्रतिबिबो की एक दर्पण मे उत्पत्ति होती है। एक रूपवाले उपादान से अनेक विध रूपवाले अनेक उपादेय (कार्य) की उत्पत्ति नही होती और दर्पण के मध्य वा दर्पण के अति समीप अन्य पदार्थ कोई प्रतीत होता नही है, जिससे अनेक विध रूपवाले प्रतिबिब की उत्पत्ति सभव हो। इससे प्रतिबिब को व्यावहारिक द्रव्य रूप कहना सभव नही है। किंवा दर्पण के अति समीप और तो कोई प्रतिबिब का उपादान दीखता नही है, दर्पण ही उपादान मानना होगा। सो सभव नही है। क्यो ? सघन अवयव सहित पूर्व के समान अविकारी प्रतीत होने से दर्पण मे निम्न उन्नत हनु नासकादिक अनेक विध अवयव वाले द्रव्यातर प्रतिबिब की उत्पत्ति कहना तो सर्वथा युक्तिहीन है। इससे बिब से पृथक् व्यावहारिक द्रव्यस्वरूप प्रतिबिब है, यह पक्ष भी छायावाद के समान असगत है।

आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद की युक्ति सहितता कहकर दोनो पक्षो मे अज्ञान की उपादानता

इस रीति से सन्निहित दर्पणादिको से मुखादिक अधिष्ठान मे प्रतिबिबत्वादिक अनिर्वचनीय धर्म उत्पन्न होते है। अथवा सन्निहित मुखादिको से दर्पणादिक अधिष्ठान मे अनिर्वचनीय प्रतिबिब उत्पन्न होता है। यह दोनो ही पक्ष युक्तिसहित है। इससे अनिर्वचनीय धर्मो का वा अनिर्वचनीय प्रतिबिब का उपादान कारण अज्ञान ही कहना चाहिये।

मूलाज्ञान को वा तूलाज्ञान को प्रतिबिम्ब वा उसके धर्मो की उपादानता के असभव की शका

वहा जगत् साधारण कारण मूलाज्ञान ही प्रतिबिबत्वादिक धर्मों का वा धर्मी का उपादान कारण कहै तो आकाशादिको के समान मूलाज्ञान के कार्य होने से प्रतिबिबत्वादिक धर्म वा धर्मी प्रतिबिब भी सत्य होने चाहिये और उक्त रीति से अनिर्वचनीय मानते है। इससे मूलाज्ञान को अनिर्वचनीय की उपादानता सभव नही है, वैसे विवरणकार के मत मे मुखावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान को प्रतिबिबत्वादि धर्मों का उपादान माने और विद्यारण्य स्वामी आदिको के मत मे दर्पणावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान को प्रतिबिब का उपादान मानें तो अवस्था अज्ञान के कार्य को अनिर्वचनीयता होने से सत्यता की आपत्ति तो यद्यपि नही है, तथापि अधिष्ठान से अनिर्वचनीय की निवृत्ति होती है। और प्रतिबिम्बाध्यास का अधिष्ठान उक्त रीति से मुखावच्छिन्न चेतन वा दर्पणावच्छिन्न चेतन है। और मुख का ज्ञान वा दर्पण का ज्ञान ही अधिष्ठान का ज्ञान है। उससे मुखादि अवच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान निवृत हो गया। उससे उत्तर काल मे प्रतिबिम्ब आदिको की प्रतीति सर्व के अनुभव सिद्ध है। इससे मुखावच्छिन्न चेतन वा दर्पणावच्छिन्न चेतन का आवरक अवस्थाज्ञान (तूलाज्ञान) भी प्रतिबिम्बादिक अध्यास का उपादान सभव नही है।

उक्त शका का कोई एक ग्रथकार की रीति से समाधान

इस स्थान मे कोई ग्र थकार इस रीति से समाधान करता है :—यद्यपि शुक्ति रजतादिक अध्यास मे अधिष्ठान के विशेष ज्ञान से आवरण शक्ति और विक्षेप शक्तिरूप अज्ञान के दोनो अशो की निवृत्ति होती है, तथापि अनुभव के अनुसार तो प्रतिबिंबाध्यास के अधिष्ठान ज्ञान से अज्ञान के आवरण शक्ति अश की ही निवृत्ति होती है, विक्षेप शक्ति अश की नही होती। इससे अधिष्ठान ज्ञान से आवरण शक्ति रूप अश की निवृत्ति होने पर भी प्रतिबिबादिक और उनका ज्ञान रूप विक्षेप का हेतु अज्ञान का अश रहने से अधिष्ठान ज्ञान से उत्तर काल मे भी प्रतिबिंबादिक प्रतीत होते है । इससे उपाधि अवच्छिन्न चेतनस्थ तूलाज्ञान का कार्य प्रतिबिम्बाध्यास है, यह पक्ष सभव है ।

उक्त शका का अन्य ग्रथकारो की रीति से समाधान

अन्य ग्र थकारो का यह मत है —दर्पणादिको का उपादान मूलाज्ञान ही प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान है। इससे दर्पणादिकों के ज्ञान होने पर भी प्रतिबिब की प्रतीति होती है। ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्म चेतन के आवरक अज्ञान की और उसके कार्य की निवृत्ति होती है। दर्पणादिको के ज्ञान से दर्पणादिक अवच्छिन्न चेतन के आवरक अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी ब्रह्मस्वरूप आवरक अज्ञान की निवृत्ति नही होती । ब्रह्मात्मस्वरूप के आच्छादक अज्ञान को मूलाज्ञान कहते है । उपाधि अवच्छिन्न चेतन के आच्छादक अज्ञान को अवस्थाज्ञान कहते है, उसी को तूलाज्ञान कहते है। मूलाज्ञान से तूलाज्ञान का भेद है वा अभेद है, यह विचार आगे लिखेगे।

मूलाज्ञान और तूलाज्ञान के भेद विषयक किंचित विचार

यद्यपि मूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता मानें तो मूलाज्ञान के कार्य होने से दर्पणादिको के समान व्यावहारिक ही प्रतिबिम्बादिक भी होने चाहिये, और ब्रह्म ज्ञान से बिना ही प्रतिबिम्बत्वादिक धर्मों मे तथा प्रतिबिम्ब मे मिथ्यात्व बुद्धि होने से प्रातिभासिक है। मूलाज्ञान को उक्त अध्यास की उपादानता मानें तो

प्रातिभासिक सभव नही है, तथापि ब्रह्मज्ञान से निवर्तनीय अज्ञान का कार्य व्यावहारिक है, और ब्रह्मज्ञान से बिना ही निवर्तनीय अज्ञान का कार्य प्रातिभासिक है। इस रीति से व्यावहारिक, प्रातिभासिक भेद कहै तो उक्त शका होती है। ओर अज्ञान से अतिरिक्त दोषजन्य नही हो, किन्तु केवल अज्ञानजन्य हो, उसको व्यावहारिक कहते है। अज्ञान से अतिरिक्त दोषजन्य हो, उसको प्रातिभासिक कहते है। इस रीति से व्यावहारिक, प्रातिभासिक का भेद कहने से उक्त शका सभव नही है। क्यो ? दर्पणादिक उपाधि से मुखादिको का सबन्ध होने पर भी ब्रह्म चेतनस्थ मूलाज्ञान का प्रतिबिम्बत्वादिक धर्मरूप वा प्रतिबिम्ब आदिक धर्मीरूप परिणाम होता है । और दोनो पक्षो मे अधिष्ठान ब्रह्म चेतन है।

आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद मे धर्मी वा धर्म के अध्यास की उत्पत्ति का उपादान तूलाज्ञान को मानकर अधिष्ठान का भेद

पूर्व जो कहा है —विद्यारण्यस्वामी के मत मे प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति माने तो दर्पणादिक अवच्छिन्न चेतन अधिष्ठान है, और दर्पणादिक अवच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान उपादान है। वैसे विवरणकार के मत मे प्रतिबिम्बत्वादिक धर्मो की ही उत्पत्ति मानें तो बिम्बावच्छिन्न चेतन अधिष्ठान है और बिम्बावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान उपादान है। इस रीति से धर्माध्यास (विवरण) पक्ष और धर्मीअध्यास (विद्यारण्य) पक्ष मे अधिष्ठान और उपादान भेद है, सो अवस्थाज्ञान (तूलाज्ञान) को उक्त अध्यास की उपादानता मानकर कहा है।

दोनो पक्षो मे मूलाज्ञान की उपादानता माने तो अधिष्ठान का अभेद और मूलाज्ञान को उक्त अध्यास के उपादानता की योग्यता

मूलाज्ञान को उपादानता मानें तो दोनो मतो मे अधिष्ठान का भेद सभव नही है और मूलाज्ञान को ही अध्यास की उपादानता माननी चाहिये। क्यो ? अवस्थाज्ञान को उक्त अध्यास की उपादानता मानें तो दर्पणादिको के ज्ञान से वा मुखादिको के ज्ञान से अज्ञान की आवरणशक्ति अश के निवृत्ति होने पर विक्षेपशक्ति अश की स्थिति मानें

तो ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्मस्वरूप का आवरक मूलाज्ञानाश ही नष्ट होगा, वैसे शुक्ति आदिको के ज्ञान से शुक्ति आदि अवच्छिन्न चेतन का आवरक तूलाज्ञानाश ही नष्ट होगा, और व्यावहारिक, प्रातिभासिक विक्षेप का हेतु द्विविध (तूला, मूला) अज्ञानाश के शेष रहने से विदेह कैवल्य मे भी व्यावहारिक, प्रातिभासिक विक्षेप के सद्भाव से सर्व ससार का अनुच्छेद (उच्छेद नही) होगा । इससे आवरण हेतु अज्ञानाश की निवृत्ति होने पर विक्षेप हेतु अज्ञानाश का शेष कहना सभव नही है।

तूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्याम की उपादानता के वादी का मत

और तूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता वादी ऐसे कहै —आवरण हेतु अज्ञानाश की निवृत्ति होने पर विक्षेप हेतु अज्ञा–नाश का शेप स्वाभाविक नही है, किन्तु विक्षेप हेतु अज्ञानाश की निवृत्ति का प्रतिबधक हो, वहा विक्षेप हेतु अज्ञानाश शेष रहता है। ब्रह्म ज्ञान से आवरण हेतु अज्ञानाश की निवृत्ति होने पर भी विक्षेप हेतु अज्ञानाश की निवृत्ति मे प्रतिबन्धक प्रारब्ध कर्म रहता है, उतने काल विक्षेप हेतु अज्ञानाश शेष रहता है। प्रारब्धरूप प्रतिबधक के अभाव होने पर, विक्षेप हेतु अज्ञानाश की भी निवृत्ति होती है। परन्तु इनना भेद है '—आवरक अज्ञानाश की निवृत्ति तो माहावाक्यजन्य अत करण की प्रमारूप वृत्ति से होती है, किन्तु प्रारब्ध बल से जितने वर्ष जीवे तब पर्यन्त पूर्व (महावाक्यजन्य अत करण की प्रमा) वृत्ति तो रहती नही है। और विक्षेप निवृत्ति के अर्थ मरण के अव्यवहित पूर्व काल मे महा-वाक्य विचार का विद्वान् को विधान भी नही है। और मरण मूर्च्छा-काल मे महावाक्य विचार का सभव भी नही है। इससे विक्षेप शक्ति के नाश के हेतु तत्त्वज्ञान के सस्कार सहित चेतन है और आवरण शक्ति के नाश का हेतु तत्त्वज्ञान है। जैसे मूलाज्ञान की विक्षेप शक्ति की निवृत्ति मे प्रतिबन्धक प्रारब्ध-कर्म है, वैसे प्रतिबिम्बाध्यास मे विक्षेप शक्ति की निवृत्ति मे मुखादिक बिम्ब से दर्पणादिक उपाधि का सबन्ध ही प्रतिबन्धक है, उसके सद्भाव मे आवरणाश की निवृत्ति

होने पर भी प्रतिबिम्बादिक विक्षेप की निवृत्ति नही होती। इससे बिम्ब उपाधि का सबन्धरूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति होने पर ही विक्षेप की निवृत्ति होती है। शुक्ति रजतादिक अध्यास हो, वहा आवरण के नाश से अनन्तर विक्षेप की निवृत्ति मे प्रतिबन्धक के अभाव से विक्षेप शेष नही रहता। इस रीति से विक्षेप निवृत्ति मे प्रतिबन्धकाभाव सहित अधिष्ठान ज्ञान को हेतुता होने से और मोक्षदशा मे विक्षेप शक्ति मे प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक के अभाव से ससार का उपलभ सभव नही है। इससे आवरण शक्ति के नाश से उत्तर भी विक्षेपशक्ति का सद्‌भाव माने तो उक्त (ससार का अनुच्छेद) दोष के अभाव से अवस्थाज्ञान को भी प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता मानना उचित है।

उक्त मत के निषेध पूर्वक मूलाज्ञान को ही प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता

यह कथन भी अयुक्त है। क्यो ? बिम्ब उपाधि के सन्निधान से पूर्व ही जहा देवदत्त के मुख का और दर्पणादिक उपाधि का यज्ञदत्त को यथार्थ साक्षात्कार हो, उससे उत्तरकाल मे भी देवदत्त मुख का दर्पण से सबन्ध होने पर यज्ञदत्त को देवदत्त मुख मे प्रतिबिम्बत्वादिक धर्मों का अध्यास विवरण के मत मे होता है, वैसे विद्यारण्य स्वामी के मत मे देवदत्त के मुख के प्रतिबिम्ब का अध्यास दर्पण मे होता है, सो नही होना चाहिये। क्यो ? उक्त अध्यास की निवृत्ति मे बिम्ब उपाधि का सबन्ध ही प्रतिबन्धक है, मुख वा दर्पणरूप अधिष्ठान के ज्ञान काल मे उस प्रतिबन्धक का अभाव होने से प्रतिबन्ध का अभावसहित अधिष्ठान ज्ञान होता है। विवरणकार के मत मे "देवदत्त मुखे दर्पणस्थत्व प्रत्यङ्· (पश्चिम) मुखत्वादिक नास्ति" ऐसा ज्ञान अध्यास का विरोधी है। और विद्यारण्य स्वामी के मत मे "दर्पणे देवदत्त मुख नास्ति" ऐसा ज्ञान उक्त अध्यास का विरोधी है। क्यो ? दोनो मतों मे क्रम से "देवदत्त मुखे दर्पणस्थत्व प्रत्यङ्. मुखत्व दर्पणे देवदत्त मुखम्" इस रीति से अध्यास के आकार का भेद है। उसकी हेतु विक्षेप शक्ति विशिष्ट अज्ञानाश की भी निवृत्ति हुई है, इससे उपादान के अभाव से उक्त स्थल

मे यज्ञदत्त को देवदत्त के मुख का प्रतिबिब भ्रम नही होना चाहिये और ब्रह्म चेतनस्थ मूलाज्ञान को ही प्रतिबिबाध्यास की उपादानता माने तो उक्त उदाहरण मे देवदत्त के मुख का और दर्पण का ज्ञान होने पर भी ब्रह्म रूप अधिष्ठान के अभाव से उपादान के सद्भाव से उक्त अध्यास सभव है। इससे मूलाज्ञान ही प्रतिबिबाध्यास का उपादान है। यह पक्ष ही समीचीन है।

मूलाज्ञान की उपादानता के पक्ष मे शका

परन्तु इस पक्ष मे यह शका है —ब्रह्म चेतनस्थ मूलाज्ञान को प्रतिबिबाध्यास की उपादानता मानें तो ब्रह्मज्ञान से बिना प्रतिबिब भ्रम की निवृत्ति नही होनी चाहिये। क्यो? अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति द्वारा भ्रम की निवृत्ति होती है। और प्रतिबिबाध्यास का अधिष्ठान उक्त पक्ष मे ब्रह्मचेतन है, दर्पणावच्छिन्न चेतन वा मुखावच्छिन्न चेतन अधिष्ठान नही है। मुखदर्पणादि ज्ञान से मूलाज्ञान की निवृत्ति मानें तो उपादान के नाश से मुखदर्पणादिक व्यावहारिक पदार्थों का भी अभाव होना चाहिये। इससे मूलाज्ञान को उपादानता मानें तो मुखादिक बिब उपाधि के वियोग काल मे भी प्रतिबिबाध्यास की निवृत्ति सभव नही है।

उक्त शका का समाधान

इस शका का यह समाधान है —आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति के भेद से दो अशवाला अज्ञान है। प्रतिबन्धक रहित अधिष्ठान ज्ञान से अशेष अज्ञान की निवृत्ति होती है। प्रारब्ध कर्म प्रतिबधक के रहते ब्रह्मरूप अधिष्ठान का ज्ञान होने पर भी विक्षेप हेतु अज्ञानाश की निवृत्ति नही होती। और घटादिक अनात्मपदार्थगोचर ज्ञान होते है, उनसे अज्ञान की निवृत्ति तो होती नही है परन्तु जितने काल घटादिको का स्फुरण रहै उतने काल अन्धकार से आवृत गृह के एक देश मे प्रभा प्रकाश से अधकार के सकोच के समान अज्ञानजन्य आवरण का सकोच होता है। वैसे मुख दर्पणादिको के साक्षात्कार से ब्रह्म के आच्छादक मूलाज्ञान की निवृत्ति तो यद्यपि नही होती है, तथापि अज्ञान-

जन्य प्रतिबिबाध्यास रूप विक्षेप का मुख दर्पणादि ज्ञान से उपादान मे विलयरूप सकोच होता है। उपादान मे विलय को ही कार्य की सूक्ष्म अवस्था कहते है। इस रीति से अधिष्ठान ज्ञान के अभाव से अज्ञान की निवृत्ति बिना प्रतिबिम्बाध्यास की बाधरूप निवृति का यद्यपि सभव नही है, तथापि मुखदर्पणादिको के ज्ञान से प्रतिबधक का अभाव होने पर कार्य का उपादान मे विलयरूप निवृत्ति होती है।

एक देशी की रीति से बाध का लक्षण

इस रीति से ससार दशा मे प्रतिबिम्बाध्यास का बाध नही होता। यह कोई एक देशी मानते है। इस मत मे अभाव निश्चय को बाध नही कहते है। क्यो ? "मुखे दर्पणस्थत्व नास्ति, दर्पणे मुख नास्ति" इस रीति से विवरणकार, विद्यारण्यस्वामी के मत भेद से उभय विध अध्यास का अभाव निश्चय सर्व अविद्वानो के भी अनुभव सिद्ध है। उसका संसार दशा मे ही अभाव कहना सभव नही है। इससे ब्रह्मज्ञान बिना प्रतिबिबाध्यास का बाध नही मानें उसके मत मे केवल अधिष्ठान शेष को ही बाध कहते है। प्रतिबिम्बाध्यास का अभाव निश्चय उक्त रीति से होने पर भी ससार दशा मे अज्ञान की सत्ता होने से केवल अधिष्ठान ही शेष नही है, किन्तु अज्ञान विशिष्ट अधिष्ठान है। इस रीति से प्रतिबन्धक रहित मुखदर्पणादिक साक्षात्कार से अधिष्ठान ज्ञान बिना अज्ञान निवृति के अभाव से प्रतिबिम्बाध्यास की बाधरूप निवृत्ति का अभाव होने पर भी अपने उपादान मे विलयरूप कार्य का सकोच होता है। उपादानरूप से कार्य की स्थिति को ही सूक्ष्मावस्था कहते हैं।

बहुत ग्रंथकारो की रीति से बाध का लक्षण और ब्रह्मज्ञान बिना प्रतिबिम्बाध्यास के बाध की सिद्धि

बहुत ग्रंथकारो के मत मे ब्रह्मज्ञान से बिना मूलाज्ञान के नाश बिना भी मूलाज्ञानजन्य प्रतिबिम्बाध्यास का बाध होता है। यह उनका अभिप्राय है :—मिथ्यात्व निश्चय वा अभावनिश्चय को बाध कहते हैं। यह सर्व ग्रथों का निष्कर्ष है। बहुत स्थानो मे मिथ्यात्व

निश्चय वा अभाव निश्चय पदार्थ का हो, वहा अधिष्ठान मात्र शेष रहता है, अज्ञान शेष नही रहता। इस अभिप्राय से किसी ग्रथकार ने अधिष्ठान मात्र का शेष ही बाध का स्वरूप कहा है, किन्तु अधिष्ठान मात्र का शेष बाध का लक्षण नही है। यदि बाध का यही लक्षण हो, तो स्फटिक मे लौहित्य भ्रमादिक सोपाधिक अध्यास हो, वहा अधिष्ठान ज्ञान से उत्तर काल मे भी जपा कुसुम और स्फटिक का परस्पर सबन्ध रूप प्रतिबन्धक होने से लौहित्य अध्यास की निवृत्ति नही होती है, वैसे विद्वान् को प्रारब्ध कर्म प्रतिबन्धक होने से शरीरादिको की निवृत्ति नही होती है। इससे अज्ञान कार्य विशिष्ट अधिष्ठान दोनो स्थानो मे होने से केवल अधिष्ठानशेष के अभाव से बाध व्यवहार नही होना चाहिये। और श्वेतस्फटिक के साक्षात्कार से लौहित्य अध्यास का बाध होता है। ब्रह्म साक्षात्कार से जीवन्मुक्त विद्वान को ससार का बाध होता है। इस रीति से विक्षेप सहित अधिष्ठान मे बाध व्यवहार सकल ग्रथकारो ने लिखा है। वहा अध्यस्त पदार्थ मे मिथ्यात्व निश्चय वा उसका अभाव निश्चय ही बाध का स्वरूप सभव है। और प्रतिबन्धक रहित मुखदर्पणादिकों के ज्ञान से मुख में प्रतिबिम्बत्वादिक धर्मो का तथा दर्पण मे प्रतिबिम्बादिक धर्मी का मिथ्यात्व निश्चय होता है, वैसे अभाव निश्चय होता है। इससे ब्रह्म ज्ञान स बिना प्रतिबिम्बाध्यास का बाध नही होता, यह कथन अयुक्त है।

मुख दर्पणादि अधिष्ठान के ज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की निवृत्ति की हेतुता

जैसे अधिष्ठान ज्ञान से अध्यास की बाधरूप निवृत्ति होती है, वैसे मुखदर्पणादिको के अपरोक्ष ज्ञान से भी प्रतिबन्धक रहित काल मे बिम्बाध्यास की निवृत्ति अनुभव सिद्ध है। इससे प्रतिबन्धकाभाव सहित मुखदर्पणादि ज्ञान भी अधिष्ठान ज्ञान के समान अध्यास निवृत्ति की हेतु है। इस रीति से मानना योग्य है और मुख दर्पणादि ज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास निवृत्ति की कारणता भी सभव है। क्यो ? समान विषयक ज्ञान से अज्ञान का विरोध है। भिन्न विषयक ज्ञान से अज्ञान का विरोध नही है। इससे मुखदर्पणादिक ज्ञान का मुखदर्पणादिक

अवच्छिन्न चेतनस्थ अवस्थाज्ञान से ही विरोध है। ब्रह्माच्छादक मूलाज्ञान से ब्रह्मज्ञान बिना अन्य ज्ञान का विरोध नही है। इससे ब्रह्मज्ञान विरोधी मूलाज्ञान से दर्पणादिक ज्ञान के विरोधाभाव से प्रतिबिम्बाध्यास के उपादान मूलाज्ञान की निवृत्ति तो यद्यपि नही होती है, तथापि अज्ञान निवृत्ति से बिना भी विरोधी ज्ञान से पूर्वज्ञान की निवृत्ति अनुभव सिद्ध है।

मुखदर्पणादिक के ज्ञान को मूलाज्ञान की निवृत्ति बिना प्रतिबिम्बाध्यास की नाशकता

जहा रज्जु के अज्ञान से सर्पभ्रम से उत्तर दड भ्रम होता है, वहा दड ज्ञान से सर्प के उपादान अवस्था ज्ञान की निवृत्ति तो होती नही है। क्यो ? अधिष्ठान के तत्त्वज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। इससे रज्जुज्ञान बिना रज्जु चेतनस्थ अज्ञान की निवृत्ति सभव नही है। और दड भ्रम से ही रज्जु चेतनस्थ अज्ञान की निवृत्ति हो तो, उपादान के अभाव से दडाध्यास का स्वरूप ही सिद्ध नही होगा। इससे दडज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति बिना जैसे सर्पाध्यास की निवृत्ति होती है, वैसे "मुखेप्रतिबिम्बत्व नास्ति। दर्पणे मुख नास्ति" इस प्रकार से मुख दर्पण का ज्ञान प्रतिबिम्बाध्यास का विरोधी होने से उससे भी प्रतिबिम्बाध्यास की निवृत्ति होती है। और प्रतिबिम्बअध्यास के उपादान मूलाज्ञान की उक्त ज्ञान से निवृत्ति सभव नही है। यदि उक्त ज्ञान से मूलाज्ञान की निवृत्ति कहे, तो मूलाज्ञान के कार्य मुख दर्पणादिक व्यावहारिक पदार्थ भी नष्ट होने चाहिये। इससे मुखदर्पणादिक ज्ञान को विरोध विषयक होने से अज्ञान निवृत्ति बिना भी प्रतिबिम्बाध्यास की नाशकता है। भाव अभाव का परस्पर विरोध होता है। इससे उसके ज्ञान भी परस्पर विरोधी होते है। जहा स्थाणु मे स्थाणुत्व ज्ञान से उत्तर पुरुषत्व भ्रम हो, वहा "स्थाणुत्व नास्ति" ऐसे विरोधी भ्रमज्ञान से पूर्व प्रमाज्ञान की निवृत्ति होती है। घटवाले भूतल मे घटाभाव के भ्रमज्ञान से उत्तर घट से इन्द्रिय सयोग होने पर "घटवद्-भूतलम्" ऐसे विरोध प्रमाज्ञान से पूर्व भ्रमज्ञान की निवृत्ति होती है। जहा

रज्जु मे सर्प भ्रम से उत्तर दड भ्रम हो, वहा दड भ्रम से सर्प भ्रम की निवृत्ति होती है। इस रीति से कही भ्रमज्ञान से प्रमाज्ञान की निवृत्ति, कही प्रमाज्ञान से भ्रमज्ञान की निवृत्ति, कही भ्रमज्ञान से भ्रमज्ञान की निवृत्ति होती है। जहा भ्रम से प्रमा की निवृत्ति और भ्रम से भ्रम की निवृत्ति हो, वहा भ्रम ज्ञान का उपादान अज्ञान के सद्भाव मे ही पूर्व ज्ञान की निवृत्ति होती है। जहा प्रमाज्ञान से भ्रम की निवृत्ति हो, वहा अधिष्ठान का यथार्थज्ञान प्रमा होने से अज्ञान सहित भ्रम की निवृत्ति होती है। इस प्रकार से अधिष्ठान ज्ञान बिना, मूलाज्ञान की निवृत्ति बिना भी मुख दर्पणादि ज्ञान से प्रतिविम्बाध्यास की निवृत्ति सभव है।

विरोधी ज्ञान से पूर्व ज्ञान की निवृत्ति होती है, यह नियम है। और अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान से ही पूर्व भ्रम की निवृत्ति हो, यह नियम नही है। परन्तु अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान बिना अज्ञान की निवृत्ति नही होती है। इससे अज्ञान की निवृत्ति केवल अधिष्ठान की विशेष प्रमा से होती है, यह नियम है। विवरणकार के मत मे "मुखे प्रतिबिम्बत्व दर्पणस्थत्व प्रत्यङ् मुखत्वम्" ऐसा अध्यास होता है, उसका विरोधी "मुखे प्रतिबिम्बत्वादिक नास्ति" ऐसा ज्ञान है। और विद्यारण्य स्वामी के मत मे "दर्पणे मुखम्" ऐसा अध्यास होता है। "दर्पणे मुख नास्ति" ऐसा ज्ञान उसका विरोधी है। नैयायिक मत मे भी अभाव का परस्पर विरोध मानकर उनके ज्ञानो का भी विषय विरोध से विरोध माना है। इस प्रकार से मूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता मानें तो बिम्ब उपाधि का सन्निधानरूप प्रतिबधकरहित काल मे मुखदर्पणादिक ज्ञान से अज्ञान् निवृत्ति बिना भी उक्त अध्यास की निवृत्ति सभव है। परन्तु—

उक्त पक्ष मे पद्मपादाचार्यकृत पचपादिका की रीति से तूलाज्ञान को अध्यास की हेतुता के वादी की शका

इस पक्ष मे यह शका है —शारीरक भाष्य की टीका पचपादिका नाम पद्मपादाचार्य ने किया है, उनको भाष्यकार के वचन से सर्वज्ञता प्राप्त हुई है। उस सर्वज्ञ वचन पचपादिका मे यह लिखा है —

जहा सर्प रजतादिक भ्रम हो, वहा रज्जु शुक्ति के ज्ञान से सर्प रजतादिको के उपादान अज्ञान की निवृत्ति होती है, और अज्ञान की निवृत्ति से सर्प रजतादिक अध्यास की निवृत्ति होती है। रज्जु शुक्ति आदिको के ज्ञान को सर्प रजतादिकों की निवृत्ति मे साक्षात्कारण माने तो उपादान के नाश से भाव कार्य का नाश होता है, इस नियम की हानि होगी। और अधिष्ठान ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है। अज्ञान नाश से अध्यास का नाश होता है। इस रीति से माने तो उक्त नियम का व्यभिचार नही होता। यद्यपि अधकार के समान अज्ञान भी भावरूप है, तथापि अज्ञान अनादि होने से कार्य नही है। इससे अज्ञान की निवृत्ति तो अधिष्ठान ज्ञान से भी सभव है, परतु भावकार्य सर्पादिक अध्यास की निवृत्ति उपादान के नाश बिना नही होती। घटध्वस की निवृत्ति भी वेदातमत मे होती है और अभाव पदार्थ का उपादान कारण नहीं होता। इससे उपादान के नाश बिना भी घटध्वस रूप कार्य का नाश होता है, परतु घटध्वस भाव नहीं है। इससे उपादान नाश को भाव कार्य के नाश मे नियत हेतुता के सरक्षण को पचपादिका मे अज्ञान निवृत्ति द्वारा अधिष्ठान ज्ञान को अध्यास निवृत्ति की हेतुता कही है। अज्ञान निवृत्ति को त्यागकर अधिष्ठान ज्ञान को अध्यास निवृत्ति की साक्षात् हेतुता का निषेध करा है, और मूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता माने तो उक्त रीति से अज्ञाननिवृत्ति से बिना ही प्रतिबिम्बाध्यास की निवृत्ति माननी होती है। इससे पंचपादिका वचन से विरोध होगा। अवस्थाज्ञान को उक्त अध्यास की उपादानता मानें तो विरोध नही है। क्यो ? अवस्थाज्ञान को उक्त अध्यास की उपादानता कहै उसके मत मे विवरणकार की रीति से मुखावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान को धर्माध्यास की उपादानता सिद्ध होती है। विद्यारण्य स्वामी की रीति से दर्पणावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान को धर्मी अध्यास की हेतुता सिद्ध होती है और प्रतिबधक रहित काल मे मुख ज्ञान से वा दर्पणज्ञान से उन अज्ञानों की क्रम से निवृत्ति होती है। अज्ञान निवृत्ति द्वारा प्रतिबिम्बाध्यास की निवृत्ति होती हैं। इससे अवस्थाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता मानना पंचपादिका

वचन के अनुकूल है। और मूलाज्ञान को उक्त अध्यास की उपादानता कहना पचपादिका वचन से विरुद्ध है। इस रीति से उक्त अध्यास की हेतुता अवस्थाज्ञान को माने तो उसका यह पूर्व पक्ष है।

उक्त शका की अयुक्तता

परन्तु अवस्थाज्ञान को हेतुता माने तो भी पचपादिका वचन से विरोध परिहार नही होता। तथाहि —जहा दर्पण सबन्ध रहित देवदत्त मुख का वा देवदत्त मुख वियुक्त (रहित) दर्पण का यज्ञदत्त को साक्षात्कार हो, और उत्तर क्षण मे देवदत्त मुख का दर्पण से सबन्ध हो, वहा भी प्रतिबिम्बाध्यास होता है। मूलाज्ञान को उपादानता माने तो मुखदर्पणादि साक्षात्कार से उसकी निवृत्ति नही होती। और मुखज्ञान से मुखावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान की, वैसे दर्पणज्ञान से दर्पणावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान की निवृत्ति अवश्य होती है। और मुख दर्पण साक्षात्कार से उत्तर काल मे भी मुख दर्पण सन्निधान से प्रतिबिम्बाध्यास होता है। इससे मुख दर्पण साक्षात्कार से अवस्था अज्ञान के आवरण-शक्ति विशिष्ट अज्ञानाश का नाश होने पर भी विक्षेप शक्ति विशिष्ट अज्ञानाश का नाश नही होने से विशेष रूप से ज्ञानाधिष्ठान मे भी अध्यास सभव है, वहा दर्पण मुख का परस्पर वियोग होने पर प्रतिबन्ध-काभाव सहित अधिष्ठान ज्ञान मे अज्ञान निवृत्ति द्वारा अध्यास की निवृत्ति कहना अवस्थाज्ञानवादी को भी सभव नही है, किन्तु ज्ञान से साक्षात् अध्यास की निवृत्ति कहना ही सभव है। क्यो ? जैसे रज्जु ज्ञान से शुक्ति के अज्ञान का नाश नही होता है। इससे ज्ञान से अज्ञान मात्र का नाश नही होता है, किन्तु समान विषयक अज्ञान का ज्ञान से नाश होता है। ज्ञान से जिसका प्रकाश हो उसको ज्ञान का विषय कहते है। अज्ञान से आवृत हो उसको अज्ञान का विषय कहते है। यज्ञदत्त को अध्यास से पूर्वकाल मे हुआ जो मुखदर्पण का साक्षात्कार उससे आवरण का नाश होने से अज्ञानकृत आवरणरूप अज्ञान के विषय का मुख दर्पण मे अभाव है। इससे ज्ञान अज्ञान के विरोध का सपादक समान विषयत्व के भग से उक्त स्थल मे अज्ञान निवृत्ति बिना ही

अध्यास मात्र की निवृत्ति अवस्थाज्ञानवादी को भी माननी होती है। इस रीति से अवस्थाऽज्ञान को उक्त अध्यास की उपादानता मानने पर भी पचपादिका वचन से विरोध परिहार नही होता है।

तूलाज्ञान को उक्त अध्यास की हेतुता माने तो पचपादिका के वचन से विरोध और मूलाज्ञान को हेतुता माने तो अविरोध

और सूक्ष्म विचार करे तो अवस्थाऽज्ञान को उक्त अध्यास की हेतुता माने तो पचपादिका वचन से विरोध है। मूलाज्ञान को हेतुता माने तो विरोध नहीं है। तथाहि —ज्ञान से केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है। और अज्ञानरूप उपादान की निवृत्ति से अज्ञान कार्य की निवृत्ति होनी है। इस रीति से "पचपादिका का वचन है। उसका यह अभिप्राय नही है —भाव कार्य के नाश मे उपादान का नाश नियत हेतु होने से अधिष्ठान ज्ञान से अध्यास निवृत्ति सभव नही है। क्यो ? उपादान के नाश बिना कही भी भाव-कार्य का नाश नही हो तो भाव-कार्य के नाश मे उपादान का नाश नियत हेतु हो, और भावकार्य द्वचणुक है, उसके उपादान परमाणु है, उनको नित्यता होने से नाश सभव नही है। इससे परमाणु सयोग के नाश से द्वचणुक का नाश होता है। वहा भावकार्य के नाश मे उपादान नाश की हेतुता का व्यभिचार है। इससे भावकार्य नाश मे उपादान नाश की हेतुता नियम के सरक्षण अभिप्राय से पचपादिका की उक्ति नहीं है, और केवल आग्रह से पच-पादिका वचन का उक्त नियम सरक्षण मे अभिप्राय कहै तो दडभ्रम से सर्पाध्यास की निवृत्ति नही होगी। और नैयायिक मत मे द्वचणुक भिन्न द्रव्य के नाश को हेतुता मानी है। सकल भावकार्य के नाश मे उपादान नाश को हेतुता कहै तो परमाणु और मन नित्य है, उनके नाश असभव से उनकी क्रिया का नाश नही होगा। वैसे नित्य आत्मा के ज्ञानादि गुणो का और नित्य आकाश के शब्दादि गुणो का नाश नही होगा। इससे भावकार्य के नाश मे उपादान का नाश नियत हेतु है, यह कथन असगत है, परन्तु किसी स्थान मे आश्रय का नाश होने पर कार्य की स्थिति नही होती है। वहा उपादान का नाश भी कार्य नाश का हेतु है,

तथापि कार्य नाश मे उपादान का नाश नियत हेतु नही है। उपादान के सद्‌भाव मे अन्यकारण से भी कार्य का नाश होता है।

इस रीति से उक्त नियम सरक्षण मे अभिप्राय से पचपादिका की उक्ति नही है, किन्तु अधिष्ठान ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति हो, वहां अधिष्ठान ज्ञान को अध्यास निवृत्ति मे कारणता नही है। अधिष्ठान ज्ञान तो अज्ञान निवृत्ति का कारण है, और अज्ञान निवृत्ति अध्यास निवृत्ति का कारण है। जैसे कुलाल का जनक घट मे अन्यथा सिद्ध होने से कारण नही है, वैसे अध्यास निवृत्ति मे अधिष्ठान का ज्ञान अन्यथा सिद्ध होने से कारण नही है। इस रीति से अधिष्ठान ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति हो, वहा ज्ञान से अज्ञानमात्र की निवृत्ति होती है। अध्यास की निवृत्ति उपादान अज्ञान के नाश से होती है। यह पच-पादिका वचन का अभिप्राय है। और सर्वत्र अध्यास की निवृत्ति मे अज्ञान निवृत्ति हेतुता है। इस अभिप्राय से पचपादिका की उक्ति हो तो दडभ्रम से अज्ञान निवृत्ति के अभाव से सर्पभ्रम की निवृत्ति नही होनी चाहिये। इससे अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति होती है। वहा अज्ञान की निवृत्ति ही अध्यास निवृत्ति का हेतु है, यह नियम पचपादिका ग्रथ मे विवक्षित है। और अवस्थाऽज्ञान को प्रतिबिम्बा-ध्यास को हेतुता माने उसके मत मे मुखदर्पणादिक ज्ञान ही अधिष्ठान का ज्ञान है, उससे अज्ञान निवृत्ति द्वारा अध्यास की निवृत्ति मानना पचपादिकानुसार है। और यज्ञदत्त को पूर्वज्ञान से आवरण नाशस्थल मे देवदत्त मुख का उपाधि सन्निधान होने पर प्रतिबिम्बाध्यास होकर उपाधि वियोग काल मे अधिष्ठान ज्ञान से अध्यास निवृत्ति हो, वहा अज्ञान निवृत्ति द्वारा अध्यास की निवृत्ति सभव नही है, किन्तु अधि-ष्ठान से साक्षात् अध्यास की निवृत्ति होती है। इससे पचपादिका से विरुद्ध है।

और मूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता मानें तो मुख-दर्पणादिक ज्ञान से प्रतिबिम्बाध्यास की निवृत्ति हो, वहा मुखदर्पणा-दिको को इस पक्ष मे अधिष्ठानता के अभाव से अधिष्ठान ज्ञानजन्य

अध्यास की निवृत्ति नही है, किन्तु विरोधी विषय के ज्ञान को भी विरोधी होने से मुखदर्पणादिको के ज्ञान को अध्यास निवर्तकता है। और पचपादिका मे अधिष्ठानज्ञानजन्य अध्यास की निवृत्ति ही अज्ञान निवृत्ति द्वारा विवक्षित है। और अधिष्ठान ज्ञान बिना प्रकारान्तर से अध्यास की निवृत्ति मे अज्ञान निवृत्ति को द्वारता विवक्षित नही है। इस रीति से मूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता मानें तो मुखदर्पणादिकज्ञानजन्य अध्यास की निवृत्ति अधिष्ठानज्ञानजन्य नही है। और अवस्थाज्ञान को उक्त अध्यास का उपादान मानें तो मुखदर्पणादि ज्ञान जन्य अध्यास की निवृत्ति अधिष्ठानज्ञानजन्य है। और अधिष्ठान ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति हो, सो अज्ञान निवृत्ति द्वारा ही पचपादिका मे विवक्षित है। और पूर्व ज्ञात अधिष्ठान मे अध्यास होकर निवृत्ति हो, वहा उक्त रीति से अज्ञान निवृत्ति द्वारा अध्यास की निवृत्ति सभव नही है। इससे अवस्थाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास की उपादानता माने तो पचपादिका बचन से विरोध है मूलाज्ञान को उक्त अध्यास की उपादानता मानें तो विरोध नही है।

प्रतिबिम्बाध्यास की व्यावहारिकता और प्रातिभासिकता के विचार पूर्वक स्वप्नाध्यास के उपादान के विचार की प्रतिज्ञा

इस रीति से आकाशादिक प्रपच के समान मूलाज्ञानजन्य प्रतिबिम्बाध्यास है, परन्तु एक देशी की रीति से ब्रह्मज्ञान बिना उसकी बाधरूप निवृत्ति नही होने से प्रतिबिम्बाध्यास मे व्यावहारिकत्व शका होती हैं, तथापि बिम्ब उपाधि का सबन्धरूप आगतुक दोषजन्य है। इससे प्रातिभासिक है। आकाशादिक प्रपच का अध्यास है, सो अविद्यामात्रजन्य है। इससे व्यावहारिक है। और अनन्तर उक्त रीति (एक देशी की रीति के बाध लक्षण) से तो अधिष्ठान ज्ञान बिना विरोधी ज्ञान से बाधरूप निवृत्ति का सभव होने से ससार दशा मे बाध्यत्वरूप प्रातिभासिकत्व भी सभव है। जैसे प्रतिबिम्बाध्यास मे मत भेद से अवस्थाऽज्ञान और मूलाज्ञान उपादान कहा है, वैसे स्वप्नाध्यास भी किसी

के मत मे अवस्थाऽज्ञान जन्य है, और मतान्तर मे मूलाज्ञान जन्य है ।

स्वप्न विषयक विचार तूलाज्ञान, को स्वप्न के उपादानता की रीति

अवस्थाज्ञान को स्वप्न की उपादानता इस रीति से कहते है —जाग्रत मे भोग हेतु कर्मो का उपराम हो तब मूलाज्ञान की अवस्थाविशेष निद्रा होती है । क्यो ? आवरण विक्षेपशक्ति युक्तता अज्ञान का लक्षण है । और स्वप्नकाल मे जाग्रत के द्रष्टादृश्य का आवरण अनुभवसिद्ध है । देवदत्त नाम ब्राह्मण जाति जाग्रत काल मे पिता पितामहादिको के मरण से उत्तर दाह श्राद्धादि करके धनपुत्रादि सपदा सहित सोता हुआ स्वप्न मे आत्मा को यज्ञदत्त नाम क्षत्रिय जाति बाल्यावस्था विशिष्ट अन्नवस्त्र के अलाभ से तथा क्षुधाशीत से पोडित हुआ स्वपिता पितामह के अक मे रोदनकर्ता अनुभव करता है । वहा जाग्रत् काल के व्यावहारिक द्रष्टा दृश्य का मूलाज्ञान से आवरण कहै तो जाग्रत् काल मे भी उनका आवरण होना चाहिये । अन्य कोई आवरणकर्ता प्रतीत नही होता है ।

इससे स्वप्न काल मे निद्रा ही आवरण करती है । और स्वप्न के पदार्थाकार परिणाम भी निद्रा का ही होता है । इस रीति से आवरण विक्षेप शक्ति विशिष्ट निद्रा है । इससे अज्ञान लक्षण निद्रा मे होने से अज्ञान की अवस्था विशेप निद्रा है, परन्तु अवस्थाज्ञान सादि है । क्यो ? मूलाज्ञान ही आगतुक आकारविशिष्ट हुआ किचित् उपाध्यवच्छिन्न चेतन का आवरण करे, उसको अवस्था अज्ञान और तूला अज्ञान कहते है । इस रीति से आगतुक आकार विशिष्ट होने से अवस्थाज्ञान सादि है । उसकी उत्पत्ति मे निमित्तकारण जाग्रद्भोग हेतु कर्मों का उपराम है, और मूलाज्ञान का ही आकार विशेष होने से मूलाज्ञान उसका उपादान कारण है । निद्रारूप अवस्थाज्ञान से आवृत व्यावहारिक द्रष्टा मे प्रातिभासिक द्रष्टा अध्यस्त है । उस निद्रा से आवृत व्यावहारिक दृश्य में प्रातिभासिक दृश्य अध्यस्त है । इससे प्रातिभासिक द्रष्टा का अधिष्ठान व्यावहारिक द्रष्टा है,

और प्रातिभासिक दृश्य का अधिष्ठान व्यावहारिक दृश्य है। भोग के अभिमुख कर्म हो, तब जाग्रत होता है। उस काल मे ब्रह्मज्ञान रहित पुरुषो को भी व्यावहारिक द्रष्टा का ज्ञान ही अधिष्ठान का ज्ञान है। उससे अवस्थाज्ञानरूप उपादान की निवृत्ति द्वारा प्रातिभासिक द्रष्टा दृश्य की निवृत्ति होती है। व्यावहारिक द्रष्टा के ज्ञान से प्रातिभासिक द्रष्टा की और व्यावहारिक दृश्य के ज्ञान से प्रातिभासिक दृश्य की निवृत्ति होती है।

उक्त पक्ष मे शका

इस पक्ष मे यह शका है —उक्त रीति से जाग्रत द्रष्टा का और स्वप्न द्रष्टा का भेद है, और अन्य द्रष्टा के अनुभूत की अन्य को स्मृति हो, तो देवदत्त के अनुभूत की यज्ञदत्त को स्मृति होनी चाहिये। इससे स्वप्न के अनुभूत की जाग्रत काल मे स्मृति होती है, द्रष्टा का भेद माने तो स्मृति का असभव होगा।

उक्त शका का समाधान

उसका यह समाधान है :—यद्यपि अन्य के अनुभूत की अन्य को स्मृति नही होती, तथापि जैसे स्वानुभूत की स्व को स्मृति होती है, वैसे स्वतादात्म्य वाले के अनुभूत की भी स्व को स्मृति होती है। इससे देवदत्त यज्ञदत्त का परस्पर तादात्म्य नही है, और जाग्रत के द्रष्टा मे स्वप्न द्रष्टा को अध्यस्तता होने से उसमे उसका तादात्म्य है। अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान मे तादात्म्य होता है। इस रीति से जाग्रत द्रष्टा के तादात्म्य वाला स्वप्न द्रष्टा है। उसके अनुभूत की जाग्रत द्रष्टा को स्मृति होती है। यज्ञदत्त मे देवदत्त के तादात्म्य के अभाव से देवदत्त के अनुभूत की यज्ञदत्त को स्मृति की आपत्ति नही है। इस रीति से स्वप्नाध्यास का उपादान निद्रारूप अवस्था अज्ञान है।

व्यावहारिक जीव और जगत को स्वप्न के प्रातिभासिक जीव और जगत् का अधिष्ठानपना

स्वप्नकाल मे दृष्यमात्र की अज्ञान से उत्पत्ति मानें और व्यावहारिक

जाग्रतकाल के जीव को द्रष्टा मानें तो सभव नही है। क्यो ? व्यावहारिक जीव का स्वरूप निद्रारूप अज्ञान से आवृत है। और अज्ञान अनावृत जीव के सबन्ध से विषय का अपरोक्ष होता है। इससे स्वप्न प्रपच के अपरोक्ष ज्ञान का असभव होगा। इससे दृश्य के समान द्रष्टा भी व्यावहारिक जीव मे अध्यस्त है, सो अनावृत है। उसके सबन्ध से प्रातिभासिक दृश्य का अपरोक्ष ज्ञान सभव है। इस रीति से पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातिभासिक भेद से जीव त्रिविधवादी ग्रथकारो ने स्वप्न का अधिष्ठान व्यावहारिक जीव जगत् कहा है, परन्तु—

उक्त पक्ष की अयुक्ततापूर्वक चेतन को स्वप्न का अधिष्ठानपना

यह मत अयुक्त है। क्यो ? व्यावहारिक द्रष्टा भी दृश्य के समान अनात्मा होने से जड है। इससे सत्ता स्फूर्ति प्रदानरूप अधिष्ठानता व्यावहारिक द्रष्टा दृश्य मे सभव नही है, किन्तु चेतन को स्वप्न प्रपच की अधिष्ठानता कहना उचित है। इसीलिये रज्जु शुक्ति को सर्प-रूप्य की अधिष्ठानता वचन का शुक्ति रज्ज्ववच्छिन्न चेतन अधिष्ठान मे तात्पर्य कहा है। बहुत ग्रन्थो मे भी चेतन ही स्वप्न प्रपच का अधिष्ठान कहा है। इससे अहकारावच्छिन्न चेतन वा अहकारानवच्छिन्न चेतन स्वप्न का अधिष्ठान है। यह दो मत समीचीन है।

अहकारावच्छिन्न चेतन को स्वप्न का अधिष्ठान मानकर तूलाज्ञान को उसकी उपादानता और जाग्रत के बोध से उसकी निवृत्ति

उनमे अहकारावच्छिन्न चेतन को अधिष्ठानता मानें तो मूलाज्ञान से उसका आवरण सभव नही है। इससे अहकारावच्छिन्न का आच्छादक अवस्था अज्ञान ही स्वप्न का उपादान सभव है। जाग्रत के बोध से ब्रह्मज्ञान बिना उसकी निवृत्ति भी सभव है।

अहकारावच्छिन्न चेतन को स्वप्न का अधिष्ठान मानकर मूलाज्ञान को उसकी उपादानता और उपादान मे विलयरूपता की निवृत्ति

अविद्या मे प्रतिबिम्ब जीव चेतन वा बिम्बरूप ईश्वर चेतन दोनो

अहकाराऽवच्छिन्न चेतन है, उसको अधिष्ठानता माने तो उसका आच्छादक मूलाज्ञान ही स्वप्न का उपादान मानना होता है। जाग्रत् बोध से उसकी बाध रूप निवृत्ति तो नही होती है, किन्तु उपादान मे विलय-रूप निवृत्ति स्वप्न की जाग्रत मे होती है।

अहकारानवच्छिन्न चेतन को ही अधिष्ठान मानकर विरोधी ज्ञान से अज्ञान की एक विक्षेप हेतु शक्ति के नाश का अगीकार

अथवा प्रतिबिम्बाध्यास निरूपण मे उक्त रीति से जाग्रत बोध भी विरोधी ज्ञान से स्वप्नाध्यास का निवर्त्तक है, परन्तु विरोधी ज्ञान से आवरण हेतु अज्ञान अश की निवृत्ति नही होती, किन्तु विक्षेप हेतु अश की निवृत्ति होती है। विरोधी ज्ञान से अशेष अज्ञान की निवृत्ति कहे, तो दड भ्रम से सर्पभ्रम की निवृत्ति स्थल मे उपादान हेतु के अभाव से दडभ्रम का ही असभव होगा। विक्षेप अश की अशेष निवृत्ति हो, तो दड भी विक्षेप रूप है, उसका उपलभ भी नही होना चाहिये। इससे इस रीति से मानना उचित है —एक अज्ञान मे अनन्त विक्षेप की हेतु अनन्त शक्ति है। विरोधी ज्ञान से एक विक्षेप की हेतु शक्ति का नाश होता है अपर विक्षेप की हेतु शक्ति रहती है। इससे कालातर मे उसी अधिष्ठान मे फिर अध्यास होता है। इसीलिये अतीत स्वप्न का जाग्रत बोध से बाध होने पर भी आगामी स्वप्नरूप विक्षेप की हेतु शक्ति का अवशेष होने से दिनातर मे स्वप्नाध्यास होता है। इससे अहकारान-वच्छिन्न चेतन को स्वप्न की अधिष्ठानता भी सभव है। परन्तु —

उक्त चेतन को स्वप्न की अधिष्ठानतावाद मे भी शरीर के अन्तर्देशस्थ चेतन को ही अधिष्ठानता का सभव

उक्त अहंकारानवच्छिन्न चेतन को स्वप्न की अधिष्ठानतावाद मे भी शरीर के अन्तर्देशस्थ चेतन ही अधिष्ठान सभव है, बाह्य देशस्थ को अधिष्ठान माने तो घटादिको के समान एक एक (प्रत्येक) स्वप्न की प्रतीति सर्व को होनी चाहिये। और घटादिको की अपरोक्षता मे तथा सर्प रजतादिको की अपरोक्षता मे जैसे इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा है, वैसे स्वप्न की अपरोक्षता मे भी इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा होनी

चाहिये। और शरीर के अतर्देशस्थ चेतन मे स्वप्न का अध्यास माने तो प्रमाता से सबन्धी होने से सुखादिको के समान इन्द्रिय व्यापार से बिना ही अपरोक्षता सभव है। इस रीति से अहकारावच्छिन्न वा अहकाराऽनवच्छिन्न चेतन ही स्वप्न का अधिष्ठान है, ये दोनो मत प्रामाणिक है।

शरीर के अतर्देशस्थ अहकाराऽनवच्छिन्न चेतन को स्वप्न की अधिष्ठानता की योग्यता

अहकाराऽनवच्छिन्न को कहे तो, उसमे भी दो भेद है। अविद्या मे प्रतिबिम्ब जीव चेतन वा बिम्ब ईश्वर चेतन दोनों अहकाराऽनवच्छिन्न हैं और एक जीववाद मे दोनो व्यापक होने से शरीर के अतर है। क्यो ? एक चेतन मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भेद स्वाभाविक हो तो विरुद्ध धर्माश्रयता अतर देशस्थ एक चेतन मे सभव नही है। सो बिम्ब प्रतिबिम्बता रूप ईश्वर जीवता उपाधिकृत है, एक ही चेतन मे अज्ञान सबन्ध से बिम्बता, प्रतिबिम्बता कल्पित है। इससे शरीरस्थ एक चेतन मे ही उभयविध शब्द प्रयोग रूप व्यवहार होता है, वैसे अतरदेशस्थ मे ही स्वप्नाध्यास की अधिष्ठानता का अन्त करण को अवच्छेदक मानें तो अहकारावच्छिन्न को अधिष्ठानता सिद्ध होती है। उसी चेतन मे स्वप्न की अधिष्ठानता का अन्त.करण को अवच्छेदक नही माने तो अहकारानवच्छिन्न को अधिष्ठानता सिद्ध होती है। एक ही देवदत्त मे पुत्र दृष्टि से विवक्षा हो तो पिता कहते है। देवदत्त के जनक की दृष्टि से विवक्षा हो तो पुत्र कहते है। विवक्षा (कथन की इच्छा) भेद से एक देवदत्त मे पितृता, पुत्रतारूप विरुद्ध धर्म के व्यवहार के समान शरीर के अतर्देशस्थ एक चेतन मे अवच्छिन्नत्व, अनवच्छिन्नत्व, बिम्बत्व, प्रतिबिम्बत्वरूप विरुद्ध धर्म के व्यवहार का असभव नही है। इस रीति से अविद्या मे प्रतिबिम्ब रूप जीव चेतन मे वा बिम्बरूप ईश्वरचेतन मे स्वप्न की अधिष्ठानता मानकर अहकारानवच्छिन्न मे स्वप्नाध्यास मानने पर भी शरीरदेशस्थ अन्तर चेतन प्रदेश मे ही स्वप्न की अधिष्ठानता उचित है।

बाह्यातर साधारण देशस्थ चेतन मे स्वप्न की अधिष्ठानता के कथन मे गौडपाद और भाष्यकार आदिको के वचन से विरोध

बाह्यातर साधारण देशस्थ मे स्वप्न का अधिष्ठान कहै, तो गौड-पादाचार्य के वचन से और भाष्यकारादिको के वचन से विरोध होगा। क्यो ? माडूक्यकारिका के वैतथ्य (मिथ्या) प्रकरण मे गौडपादाचार्य ने यह कहा है .—स्वप्न के हस्ती पर्वतादिको की उत्पत्ति के योग्य देश-काल का अभाव होने से स्वप्न के पदार्थ मिथ्या है। इस प्रकार से गौड-पादाचार्य की उक्ति के व्याख्यान मे भाष्यकारादिको ने कहा है, क्षण घटिकादिकाल मे और सूक्ष्म हिता नाडी देश मे व्यावहारिक हस्ती आदिको की उत्पत्ति सभव नही है। क्यो ? तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद मे सूत्रकार, भाष्यकार ने स्वप्न के गजादिक प्रातिभासिक कहे है। अन्तर चेतन अधिष्ठान माने तो योग्य देश के अभाव से प्रातिभासिक सभव है। शरीर के बाह्य देशस्थ को अधिष्ठान मानें तो देश योग्य होने से जाग्रत् गजादिको के समान स्वप्न गजादिक भी व्यावहारिक ही होने चाहिये। प्रातिभासिक सभव नही है। इससे प्रातिभासिकता कथन का विरोध होगा। इसीलिये स्वप्न के पदार्थ वितथ (मिथ्या) है। इस रीति से शरीर के अतरदेश मे स्वप्न उत्पत्ति कही है। साधारण चेतन मे अधिष्ठानता माने तो सूक्ष्मदेश मे उत्पत्ति कथन असगत होगा। इससे शरीर के अतरदेशस्थ अहकारानवच्छिन्न चेतन मे स्वप्नाध्यास है।

अहकारानवच्छिन्न चेतन भी अविद्या मे प्रतिबिम्ब और बिम्ब दोनो हैं, उनमे प्रतिबिम्बरूप जीव चेतन को अधिष्ठानता का सभव

अहकारानवच्छिन्न चेतन भी अविद्या मे प्रतिबिम्ब और बिम्ब दोनो है। और मत भेद से दोनो को स्वप्न की अधिष्ठानता है, तथापि अविद्या मे प्रतिबिम्बरूप जीव चेतन को अधिष्ठान कहना ही समीचीन है। क्यो ? अपरोक्ष अधिष्ठान मे अपरोक्ष अध्यास होता है, और शुद्ध-ब्रह्म के समान ईश्वर चेतन का ज्ञान भी केवल शास्त्र से परोक्ष ही होता है। स्वप्ना-ध्यास का ईश्वर चेतन को अधिष्ठान माने तो स्वप्न मे शास्त्ररूप

प्रमाण के अभाव से अधिष्ठान की अपरोक्षता बिना अध्यास की अपरोक्षता का असभव होगा। अहकारावच्छिन्न चेतन तो अहमाकार वृत्ति का गोचर होता है, और अहकारानवच्छिन्न अविद्या मे प्रतिबिब रूप जीवचेतन भी अहमाकार वृत्ति का गोचर तो नही है, परन्तु जीव चेतन आवृत नही है। इससे स्वत अपरोक्ष है उसमे अपरोक्ष अध्यास सभव है।

उक्त पक्ष मे सक्षेप शारीरक मे उक्त अध्यास की अपरोक्षता वास्ते अधिष्ठान की त्रिविध अपरोक्षता

सक्षेप शारीरक मे अध्यास की अपरोक्षता वास्ते अधिष्ठान की अपरोक्षता तीन प्रकार से कही है। सर्प, रजतादिको की अपरोक्षता का उपयोगी रज्जु, शुक्ति आदिको की अपरोक्षता इन्द्रिय से होती है। गगन मे नीलतादिक अध्यास की अपरोक्षता का उपयोगी गगन की अपरोक्षता मन से होती है। स्वप्न की अपरोक्षता की उपयोगी अधिष्ठान की अपरोक्षता स्वभाव-सिद्ध है। इस रीति से सक्षेप शारीरक मे सर्वज्ञात्म मुनि ने स्वत अपरोक्ष मे स्वप्नाध्यास कहा है। इससे जीव चेतन ही स्वप्न का अधिष्ठान है।

उक्त पक्ष मे शका समाधानपूर्वक जीव चेतन रूप अधिष्ठान के स्वरूप प्रकाश मे स्वप्न का प्रकाश

यद्यपि जीवचेतन का अनावृत होने से स्वत. प्रकाश स्वभाव माने तो अविद्या को व्यापकता होने से उसमे प्रतिबिम्बरूप जीव चेतन भी व्यापक है, उसका घटादिको से सदा सबन्ध है। इससे नेत्रादिजन्य वृत्ति की अपेक्षा बिना ही घटादिको की अपरोक्षता होनी चाहिये और जीव चेतन से सबन्धी की अपरोक्षता मे भी वृत्ति की अपेक्षा माने तो स्वत अपरोक्ष जीवचेतन से स्वप्नाध्यास की अपरोक्षता कही सो असगत होगी, तथापि स्वप्नाध्यास का जीव चेतन अधिष्ठान है और घटादिको का अधिष्ठान जीव चेतन नही है, किन्तु ब्रह्म चेतन है। इससे स्वप्न के पदार्थो का तो अपने अधिष्ठान जीव चेतन मे तादात्म्य

सबन्ध है। और घटादिको का अधिष्ठान ब्रह्मचेतन होने से उनका तादात्म्य सबन्ध ब्रह्म चेतन से है, जीव चेतन से नही। नेत्रादिजन्य वृत्ति द्वारा जीव चेतन का घटादिको से सबन्ध होता है। वृत्ति से पूर्व काल मे जो घटादिको का सबन्ध सो अपरोक्षता का सपादक नही है। इससे घटादिको से जीवचेतन के विलक्षण सबन्ध की हेतु वृत्ति की अपेक्षा से अपरोक्षता होती है, और स्वप्नाध्यास मे अधिष्ठानतारूप सबन्ध से जीवचेतन के सदा सबन्धी पदार्थो का वृत्ति बिना ही प्रकाश होता है। इस रीति से प्रकाशात्मश्रीचरण नाम आचार्य ने कहा है। और मत भेद से वृत्ति का प्रयोजन आगे कहैगे। इस प्रकार से अविद्या मे प्रतिबिम्ब जीवचेतन स्वप्न का अधिष्ठान है और उसके स्वरूप प्रकाश से स्वप्न का प्रकाश होता है, परन्तु —

अद्वैतदीपिका मे नृसिहाश्रमाचार्योक्त आकाशगोचर चाक्षुष वृत्ति के निरूपण पूर्वक सक्षेप शारीरोक्त आकाशगोचर मानस वृत्ति का अभिप्राय

इस प्रसग मे आकाश गोचर मानस वृत्ति कही है, वहा नृसिहाश्रम आचार्य ने अद्वैतदीपिका मे यह कहा है —यद्यपि नीरूप आकाशगोचर चाक्षुष वृत्ति सभव नही है, तथापि आकाश मे प्रसृत आलोक रूप वाला होने से आलोकाकार चाक्षुष वृत्ति होती है। और आलोकावच्छिन्न चेतन का जैसे वृत्ति द्वारा प्रमाता से अभेद होता है, वैसे आलोकदेश वृत्ति आकाशावच्छिन्न चेतन का भी अभेद होता है। इस रीति से आलोकाकार चाक्षुष वृत्ति का विषय होने से आकाश की अपरोक्षता भी नेत्रइन्द्रियजन्य ही कही है। और सक्षेपशारीरक मे मानस अपरोक्षता कही है उसका यह अभिप्राय है —आकाश तो नीरूप है, इससे आकाशाकार तो वृत्ति सभव नही है। अन्याकारवृत्ति से समान देशस्थ अन्य का प्रत्यक्ष माने तो घट के रूपाकार वृत्ति से घट के ह्रस्वदीर्घ परिमाण का प्रत्यक्ष होना चाहिये। और आलोकाकार वृत्ति से आलोक देशस्थ वायु का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये। इससे आलोकाकार चाक्षुष वृत्ति से आकाश की अपरोक्षता के असभव से मानस अपरोक्षता ही सभव है।

उभय मत के अगीकार पूर्वक अद्वैतदीपिकोक्त नृसिहाश्रम रीति की समीचीनता

सूक्ष्म विचार करै तो अद्वैतदीपिका की रीति से अन्याकार वृत्ति से अन्य की अपरोक्षता अप्रसिद्ध है, उसका अगीकार दोष है, तथापि फलबल से कही अन्याकार वृत्ति से अन्य की अपरोक्षता माने तो उक्त दोष का उद्धार होता है। और सक्षेप शारीरक की रीति से बाह्य पदार्थ मे अन्त करणगोचरता अप्रसिद्ध है, उसका अगीकार दोष है। और फलबल से अन्याकारनेत्र की वृत्ति सहकृत अत करण की वृत्ति की गोचरता बाह्य पदार्थ मे माने तो केवल अत करण को बाह्यपदार्थ गोचरता नही है। इस नियम का भगरूप दोष नही है। इस प्रकार से उभयथा लेख सभव है, तथापि अद्वैतदीपिका की रीति ही समीचीन है। क्यो ? आलोकाकार वृत्ति को सहकारितारूप करणता मानकर अत करण मे बाह्य पदार्थ गोचर साक्षात्कार की करणता अधिक माननी होती है। अद्वैतदीपिका की रीति से अन्त करण को बाह्य साक्षात्कार की करणता नही माननी होती है। इससे लाघव है, और नेत्र को सहकारिता नही मानकर केवल अत करण को आकाश प्रत्यक्ष का हेतु मानें तो निमीलित नेत्र को भी आकाश का मानस प्रत्यक्ष होना चाहिये। और अ त करण को ज्ञान की उपादानता होने से करणता कथन सर्वथा अयुक्त है। इससे सक्षेपशारीरक मे आकाश के प्रत्यक्ष को मानसता कथन प्रौढिवाद है। इस रीति से अध्यास की अपरोक्षता का हेतु अधिष्ठान की अपरोक्षता इन्द्रिय से अथवा स्वरूप प्रकाश से होती है। इतना ही कहना उचित है। इस रीति से मत भेद से स्वप्न का उपादान अवस्थाज्ञान है अथवा मूलाज्ञान है।

रज्जु सर्पादिको की सर्व मत मे तूलाज्ञान को ही उपादानता

रज्जु सर्पादिको का तो सर्व मत मे अवस्थाज्ञान ही उपादान कारण है। और रज्जुआदिको के ज्ञान से उनकी निवृत्ति होती है। रज्जु के ज्ञान से अज्ञान निवृत्ति द्वारा सर्प की निवृत्ति होती है। इससे एक बार ज्ञात रज्जु मे कालातर मे उपादान के अभाव से सर्पभ्रम नही होना चाहिये। इस शका का समाधान वृत्ति के प्रयोजन निरूपण मे कहैगे।

स्वप्न के अधिष्ठान आत्मा की स्वय प्रकाशता मे प्रमाणभूत बृहदारण्यक की श्रुति का अभिप्राय

स्वप्न के अधिष्ठान को स्वत अपरोक्षता से स्वप्न की अपरोक्षता पूर्व कही है और स्वयज्योतिर्ब्राह्मण वाक्य मे भी "अत्राय पुरुष स्वयज्योतिर्भवति" इसरीति से स्वप्न के प्रसग मे कहा है। उसका यह अभिप्राय है —यद्यपि तीनो अवस्था मे आत्मा स्वयप्रकाश है, तथापि अपने प्रकाश मे अन्यप्रकाश की अपेक्षारहित जो सकल का प्रकाशक उसको स्वय प्रकाश कहते है। जाग्रत् अवस्था मे सूर्यादिक और नेत्रादिक प्रकाशक होने से अन्यप्रकाश की अपेक्षा रहितता आत्मा मे निर्धारित नही होती, और स्थूलदर्शी को सुषुप्ति मे कोई ज्ञान प्रतीत नही होता। इसीलिये सुषुप्ति मे ज्ञान सामान्य का अभाव नैयायिक मानते है। इससे आत्मप्रकाश का सुषुप्ति मे भी निर्धार नही होता। इस अभिप्राय से श्रुति ने स्वप्न अवस्था मे आत्मा को स्वयप्रकाश कहा है।

स्वप्न मे इन्द्रिय और अन्त करण को ज्ञान की असाधनता कहकर स्वत अपरोक्ष आत्मा से स्वप्न की अपरोक्षता

स्वप्न अवस्था मे भी नेत्रादिक इन्द्रिय का सचार हो, तो स्वप्न मे भी आत्मा को प्रकाशातर निरपेक्षता के अभाव से स्वय प्रकाशता का निर्धार अशक्य होगा। इस रीति से इन्द्रिय व्यापार से बिना स्वप्न मे आत्मप्रकाश है। स्वप्न मे हस्त मे दड को लेकर उष्ट्र महिषादिको को ताडन कर्ता नेत्र से आम्रादिको को देखता भ्रमण करता है, और हस्त नेत्र पाद के गोलक निश्चल प्रतीत होते है। इससे स्वप्न मे व्यावहारिक इन्द्रियो का व्यापार नही है, और प्रातिभासिक इन्द्रिय का अगीकार नही है। यदि स्वप्न मे प्रातिभासिक इन्द्रिय हो तो स्वप्न मे प्रकाशातर के अभाव से स्वय प्रकाशता श्रुति मे कही है, उसका बाध होगा। और विचारसागर मे स्वप्न मे इन्द्रिय प्रातिभासिक कहे है सो प्रौढ़िवाद है। स्वप्न मे प्रातिभासिक इन्द्रिय मानकर भी ज्ञान के समान काल में उनकी उत्पत्ति होने से ज्ञान की साधनता उनको सभव नही है। इस रीति से अपना उत्कर्ष बोधन करने को पूर्ववादी की उक्ति मानकर समाधान है। इससे स्वप्न मे

ज्ञान के साधन इन्द्रिय नही है। और इन्द्रिय व्यापार बिना केवल अन्त करण को ज्ञान साधनता के अभाव से और तत्त्वदीपिका के मत से अन्त करण का स्वप्न मे गजादिरूप परिणाम होने से ज्ञान कर्म को ज्ञान साधनता के असभव से अन्त.करण व्यापार बिना आत्म-प्रकाश है। इससे स्वत. अपरोक्ष आत्मा से स्वप्न की अपरोक्षता होती है। और स्वप्न अवस्था मे गजादिको मे चाक्षुषता प्रतीत होती है, सो भी गजादिको के समान अध्यस्त है, जाग्रत् मे घटादिको की चाक्षुषता व्यावहारिक है और रज्जु सर्पादिको की चाक्षुषता अध्यस्त होने से प्रातिभासिक है।

दृष्टि सृष्टि और सृष्टिदृष्टिवाद का भेद दृष्टिसृष्टिवाद मे सकल अनात्मा की ज्ञात सत्ता (साक्षीभाष्यता) कह कर दृष्टि सृष्टि पद के दो अर्थ

दृष्टिसृष्टिवाद मे तो किसी भी अनात्म पदार्थ की अज्ञात सत्ता नही है, किन्तु ज्ञात सत्ता है। इससे रज्जु सर्प के समान सकल अनात्म वस्तु साक्षीभास्य है। उनमे इन्द्रियजन्य ज्ञान की विषयता प्रतीत होती है, सो अध्यस्त है। दृष्टिसृष्टिवाद मे दो भेद है —सिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रथो मे तो यह कहा है —दृष्टि अर्थात् ज्ञान स्वरूप ही सृष्टि है, ज्ञान से पृथक सृष्टि नही है। और आकर ग्र थो (त्रयप्रस्थानो) मे यह कहा है —दृष्टि अर्थात् ज्ञान काल मे अनात्म पदार्थ की सृष्टि है, ज्ञान से पूर्व अनात्म पदार्थ नही होते। इससे सकल दृश्य की ज्ञात सत्ता है, अज्ञात सत्ता नही है। इस रीति से द्विविध दृष्टिसृष्टिवाद है। सकल अद्वैतशास्त्र को यही अभिमत है।

सृष्टिदृष्टिवाद (व्यावहारिक पक्ष) का कथन

कितने ही ग्र थकारो ने स्थूलदर्शी पुरुषो के अनुसार से सृष्टिदृष्टि, वाद माना है। प्रथम सृष्टि होती है, उत्तरकाल मे प्रमाण के सबन्ध से दृष्टि होती है। सृष्टि से उत्तर दृष्टि होती है, यह सृष्टिदृष्टिवाद का अर्थ है। इस पक्ष मे अनात्म पदार्थ की भी अज्ञात सत्ता है। और अनात्म घटादिको की रज्जु सर्पादिको से विलक्षण व्यावहारिक सत्ता

है। और दृष्टिसृष्टिवाद मे कोई भी अनात्म वस्तु प्रमाण का विषय नही है, किन्तु ब्रह्म ही वेदान्तरूप शब्द प्रमाण का विषय है। अचेतन पदार्थ सर्व साक्षीभास्य है, उनमे चाक्षुषतादिक प्रतीति भ्रमरूप है। प्रमाण प्रमेय विभाग भी स्वप्न के समान अध्यस्त है। और सृष्टिदृष्टि-वाद मे अनात्म पदार्थ घटादिक प्रमाण के विषय है। वैसे गुरु शास्त्रा-दिक भी व्यावहारिक है। शुक्ति रजतादिको से विलक्षण है। व्यावहा-रिक रजतादिक पदार्थों से कटकादिरूप प्रयोजन सिद्धि होती है। प्रातिभासिक से प्रयोजन सिद्धि नही होती, तथापि अधिष्ठान ज्ञान से निवृत्ति दोनो की समान ही होती है। और सदसद्विलक्षणत्वरूप अनि-र्वचनीयत्व भी दोनो मे समान है, वैसे स्वाधिकरण मे त्रैकालिक अभाव भी दोनो का समान है। इससे सृष्टिदृष्टिवाद मे भी अद्वैत हानि नही है।

मिथ्या प्रपच के मिथ्यात्व मे शका समाधान, उक्त दोनो पक्षो मे मिथ्यापदार्थो के मिथ्यात्व धर्म मे द्वैतवादियो का आक्षेप

इस प्रसग मे यह शका है —दृष्टि सृष्टि वाद मे तथा सृष्टि दृष्टि वाद मे सकल अनात्म मिथ्या है। इसमे विवाद नही है, परन्तु मिथ्या पदार्थो मे मिथ्यात्व धर्म है। उसमे द्वैतवादी यह आक्षेप करते है :— प्रपच मे मिथ्यात्व धर्म सत्य है अथवा मिथ्या है ? सत्य कहे तो चेतन-भिन्न अनात्म धर्म को सत्यता होने से अद्वैत की हानि होगी। और मिथ्यात्व को मिथ्या कहे तो भी अद्वैत की हानि होगी। तथाहि —मिथ्या पदार्थ को स्वविरोधी पदार्थ की प्रतिक्षेपकता नही होने से प्रपच के मिथ्याभूत मिथ्यात्व से उसकी सत्यता का प्रतिक्षेप नही होगा। जैसे एक ही ब्रह्म मे सप्रपचत्व निष्प्रपचत्व धर्म है। मिथ्याभूत सप्रपचत्व धर्म से निष्प्रपचत्व का प्रतिक्षेप नही होता, किन्तु सप्रपचत्व निष्प्रपचत्व दोनो धर्मवाला ब्रह्म है। कल्पित सप्रपचत्व है और पारमार्थिक निष्प्रपचत्व है, वैसे प्रपच मे कल्पित मिथ्यात्व है और पारमर्थिक सत्यत्व है। इस रीति से प्रपच के पारमार्थिक सत्यत्व धर्म के सद्भाव से अद्वैत की हानि होगी।

उक्त आक्षेप का अद्वैतदीपिकोक्त समाधान

इस आक्षेप का अद्वैतदीपिका मे यह समाधान लिखा है.—"सन् घट"

इसरीति से घटादिको मे जो सत्यता प्रतीत होती है, सो अधिष्ठानगत सत्यता का घटादिको मे भान होता है अथवा अधिष्ठानगत सत्यता का घटादिको मे अनिर्वचनीय सबन्ध उत्पन्न होता है। घटादिको में सदसद्वि-लक्षणतारूप मिथ्यात्व धर्म श्रुतिसिद्ध है। सद्विलक्षण मे मिथ्यात्व होने से मिथ्यात्व का सत्यत्व से विरोध है। इससे घटादिको मे अपनी सत्यता नही है। उसका मिथ्यात्व से प्रतिक्षेप होता है। और द्वैतवादी जो कहते है, मिथ्यात्व धर्म को सत्यता माने बिना मिथ्याभूत मिथ्यात्व से प्रपच की सत्यता का प्रतिक्षेप सभव नही है। यदि मिथ्याभूत धर्म से स्वविरोधी धर्म का प्रतिक्षेप कहै तो मिथ्याभूत सप्रपचत्व से ब्रह्म की निष्प्रपचता का भी प्रतिक्षेप होना चाहिये। यह कथन अयुक्त है। क्यो ? यह नियम है —प्रमाणसिद्ध एक धर्म से स्वसमान सत्तावाले धर्मी के स्वविरोधी धर्म का प्रतिक्षेप होता है। जहा जिस धर्म मे धर्मी की विषम सत्ता हो, उसके उस धर्म से विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप नही होता। ब्रह्म का सप्रपचत्व व्यावहारिक है, और ब्रह्म पारमार्थिक है। इससे सप्रपचत्व के समान सत्ता वाला धर्मी ब्रह्म नही है। उसके निष्प्रपचत्व का सप्रप-चत्व से प्रतिक्षेप नही होता। और व्यावहारिक प्रपच मे मिथ्यात्व भी व्यावहारिक है। क्यो ? आगतुक दोष रहित केवल अविद्याजन्य प्रपच और मिथ्यात्व है। इससे दोनो व्यावहारिक होने से मिथ्यात्व के समान सत्ता वाला प्रपच है। उसके सत्यत्व का मिथ्यात्व से प्रतिक्षेप होता है। और सत्यधर्म से ही विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप माने तो "रजतसत्" इस रीति से शुक्ति रजत मे सत्यत्व प्रतीत होने का रजत के मिथ्यात्व से प्रतिक्षेप नही होना चाहिये। क्यो ? कल्पित रजत मे मिथ्यात्व धर्म भी कल्पित हैं, सत्य नही है। इससे विरोधी धर्म के प्रतिक्षेप मे प्रति-क्षेपक धर्म को सत्यता अपेक्षित नही है, किन्तु जिस धर्मी के धर्म विरोधी हो सो धर्मी प्रतिक्षेपक धर्म के समान सत्तावाला चाहिये। इससे ब्रह्म के सप्रपचत्व से निष्प्रपचत्व के प्रतिक्षेप की आपत्ति नही है। और प्रपच के व्यावहारिक मिथ्यात्व से सत्यत्व का प्रतिक्षेप सभव है।

मिथ्या प्रपच के मिथ्यात्व धर्म मे प्रकारातर से द्वैतवादियो का आक्षेप

और प्रकारातर से द्वैतवादी आक्षेप करते है, तथाहि --प्रपच मे मिथ्यात्वधर्म को मिथ्या मानें तो भी प्रपच के पारमार्थिक सत्यत्व का प्रतिक्षेप नही होता । क्यो ? समान सत्ता वाले धर्मों का विरोध होता है, विषम सत्ता वाले पदार्थों का विरोध नही होता । यदि विषम सत्ता वाले पदार्थों का विरोध हो तो शुक्ति मे प्रातिभासिक रजत तादात्म्य से व्यावहारिक रजत भेद का प्रतिक्षेप होना चाहिये । इस प्रकार से व्यावहारिक मिथ्यात्व से पारमार्थिक सत्यत्व के प्रतिक्षेप का असभव होने से प्रपच सत्य है । इससे अद्वैत का असभव है ।

उक्त आक्षेप के उक्त ही समाधान की घटता (तुल्यता)

इस शका का भी उक्त ही समाधान है । क्यो ? पूर्वोक्त रीति से सर्प रजतादिको के मिथ्यात्व से उनके सत्यत्व का प्रतिक्षेप नही होना चाहिये । इससे प्रमाणनिर्णीत धर्म से विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप होता है, यह नियम है । धर्मो की समान सत्ता विरोध मे प्रयोजक नही है, किन्तु विरोधी धर्म की प्रतिक्षेपकता मे प्रमाण निर्णीतत्व प्रयोजक है । रजत का मिथ्यात्व प्रमाण निर्णीत है, उससे विरोधी सत्यत्व का प्रतिक्षेपक होता है, वैसे प्रपच का मिथ्यात्व भी श्रुत्यादि प्रमाणो से निर्णीत है, उससे प्रपच सत्यत्व का प्रतिक्षेप होता है । शुक्ति रजत का तादात्म्य भ्रमसिद्ध है, प्रमाणनिर्णीत नही है, उससे रजत भेद का प्रतिक्षेप नही होता, उलटाशुक्ति मे रजत भेद ही प्रमाण निर्णीत है । उससे रजततादात्म्य का प्रतिक्षेप होता है, और प्रपच के मिथ्यात्व को व्यावहारिक मानकर उसके धर्मी प्रपच को सत्य कहना सर्वथा विरुद्ध है । क्यो ? व्यावहारिक धर्म का आश्रय व्यावहारिक ही सभव है । इससे द्वैतवादी का द्वितीय आक्षेप भी असगत है ।

अद्वैतदीपिकोक्त समाधान का सत्ता के भेद माने तो सभव और एक सत्ता माने तो असभव

इस प्रकार अद्वैतदीपिका ग्रथ की रीति से प्रतिक्षेपक धर्म के समान सत्तावाला धर्मी हो, उसके विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप होता है । ऐसा नियम मानें तो प्रपच के मिथ्याभूत मिथ्यात्व से प्रपच के सत्यत्व का

प्रतिक्षेप सभव है, और ब्रह्म के सप्रपचत्व से निष्प्रपचत्व का प्रतिक्षेप नही होता, परन्तु सत्ताभेद माने तो अद्वैतदीपिकोक्त समाधान सभव है। और ब्रह्मरूप सत्ता का ही घटादिको मे भान होता है, व्यावहारिक, प्रातिभासिक पदार्थो मे भिन्न सत्ता नही है। इस पक्ष मे एक सत्ता माने तो उक्त समाधान सभव नही है।

उक्त आक्षेप का निश्चलदासोक्त समाधान

किन्तु अस्मद्भावना से यह समाधान है —प्रमाणनिर्णीत धर्म से स्वविरोधी धर्म का प्रतिक्षेप होता है और दोनो धर्म प्रमाण निर्णीत हो, वहा अपर धर्म का प्रतिक्षेप नही होता। प्रपच का मिथ्यात्व श्रुत्यादि प्रमाण से निर्णीत है, और प्रपच के सत्यत्व मे कोई भी श्रुति वचन प्रमाण नही है, उलटा श्रुति वाक्यो से सत्यत्व का अभाव प्रतीत होता है। इससे प्रपच के मिथ्यात्व से सत्यत्व का बाध होता है। "घट सन्" इस रीति से प्रत्यक्ष प्रमाण से यद्यपि प्रपच मे सत्यत्व प्रतीत होता है, तथापि अपौरुषेय श्रुति वचन से पुरुष प्रत्यक्ष दुर्बल है। इससे प्रपच का सत्यत्व प्रमाण सिद्ध नही है। और ब्रह्म का सप्रपचत्व, निष्प्रपचत्व दोनो प्रमाण सिद्ध है। इससे एक धर्म से अपर का बाध नही होता, परन्तु निष्प्रपचत्व ज्ञान से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। इससे निष्प्रपचत्व प्रतिपादन मे श्रुति का तात्पर्य है। और अद्वैत निष्प्रपच ब्रह्म के बोध का उपयोगी सप्रपच का निरूपण है। इससे सप्रपचत्व निरूपण मे श्रुति तात्पर्य के अभाव से सप्रपचत्व पारमार्थिक नही है, किन्तु कल्पित है, परन्तु दोपादिक रहित केवल अविद्याजन्य होने से प्रातिभासिक नही है, व्यावहारिक है। इस रीति से निष्प्रपचत्व से सप्रपचत्व का बाध ही सिद्ध होता है। क्यो ? सप्रपचत्व प्रतिपादक वचन का व्यावहारिक सप्रपचत्व मे तात्पर्य कहने से सप्रपचत्व का सकोच होता है। ब्रह्म का सप्रपचत्व सदा नही है, किन्तु विद्या से पूर्व अविद्याकाल में है। इससे निष्प्रपचत्व धर्म से बाध्य सप्रपचत्व है, उससे निष्प्रपचत्व का प्रतिक्षेप सभव नही है। इससे द्वैतवादी का आक्षेप असगत है।

उक्त आक्षेप का अन्य ग्र थकारोक्त समाधान

और नृसिहाश्रमाचार्य से अन्य ग्र थकारो ने उक्त आक्षेप का यह समाधान कहा है —स्वाश्रयगोचर तत्त्वसाक्षात्कार से जिस धर्म का बाध नही होता उस धर्म से स्वविरोधी धर्म का प्रतिक्षेप होता है। और स्वाश्रयगोचर तत्त्व साक्षात्कार से जिस धर्म का बाध हो, उससे स्वविरोधी धर्म का प्रतिक्षेप नही होता। मिथ्यात्व का आश्रय जो प्रपच उसके अधिष्ठान ब्रह्मगोचर तत्त्वसाक्षात्कार से प्रपच के मिथ्यात्व का बाध नही होता, उलटी ब्रह्मसाक्षात्कार से प्रपच मे दृढतर मिथ्यात्व बुद्धि होती है। इससे प्रपच के मिथ्यात्व से उसके विरोधी सत्यत्व का प्रतिक्षेप होता है। और सप्रपचत्व का आश्रय ब्रह्म है, उसके साक्षात्कार से सप्रपचत्व का बाध होता है। इससे सप्रपचत्व से निष्प्रपचत्व का बाध नही होता प्रत्युत ब्रह्म के निष्प्रपचत्व का बाध होता है। कैसे ? जैसे शुक्ति मे स्वतादात्म्य है, कल्पित का भी स्वाधिष्ठान मे तादात्म्य होने से रजत तादात्म्य है। वहा शुक्ति साक्षात्कार से शुक्ति तादात्म्य का बाधन नही होता। इससे शुक्ति तादात्म्य से स्वविरोधी शुक्ति भेद का प्रतिक्षेप होता है। शुक्ति साक्षात्कार से रजत तादात्म्य का बाध होता है। इससे रजत तादात्म्य से स्वविरोधी रजत भेद का प्रतिक्षेप नही होता, वैसे प्रपच के मिथ्याभूत मिथ्यात्व से सत्यत्व का प्रतिक्षेप होता है और ब्रह्म के सप्रपचत्व से निष्प्रपचत्व का प्रतिक्षेप नही होता। इस रीति से द्वैतवादी के आक्षेप के अनेक समाधान है। उनके वचनो से जिज्ञासु को विमुखता करनी योग्य है।

मतभेद से पाच प्रकार के प्रपच के सत्यत्व का प्रतिक्षेप (तिरस्कार)

तत्त्वशुद्धिकार की रीति से प्रपच के सत्यत्व का प्रतिक्षेप।

प्रपच के मिथ्यात्व से उसके सत्यत्व का प्रतिक्षेप होता है यह कहा, वहा सत्यत्व का प्रतिक्षेप मत भेद से पाच प्रकार का है। तत्त्वशुद्धिकार के मत मे "घट सन्" इत्यादिक प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय घटादिको का अधिष्ठान सत्रूप चेतन है। और सद्रूपचेतन मे अध्यस्त घटादिक अपने अधिष्ठान से अभिन्न होकर भ्रम वृत्ति के विषय होते है। कैसे ? जैसे शुक्ति रज्जु

आदिको को विषय करने वाली इदमाकार चाक्षुष वृत्ति होती है, और रजत सर्पादिक चाक्षुष वृत्ति के विषय नही होते, किन्तु भ्रम वृत्ति के विषय होते है, वैसे नेत्रादि प्रमाणजन्य सकल ज्ञानों का विपय अधिष्ठान सत्ता है, घटादिगोचर प्रमाणजन्य वृत्ति नही होती। क्यो ? अज्ञातगोचर प्रमाण होता है। और जडपदार्थ को अज्ञानकृत आवरण के असभव से अज्ञातत्व के अभाव से प्रमाणगोचरता सभव नही है। इससे रजत सर्पादिको के समान भ्रम के विषय घटादिक है, उनका अधिष्ठान सत्‌रूप है, सोई नेत्रादि प्रमाणजन्य वृत्ति का विषय है। इस रीति से सकल प्रमाण का विषय सत्‌रूप चेतन है। सत्‌रूप चेतन मे तादात्म्य से अनेक भेद विशिष्ट घटादिको की प्रतीति भ्रमरूप है। इससे घटादिको मे सत्ता किसी प्रमाण का विषय नही है। इसीलिये घटादिको के मिथ्यात्व का अनेक श्रुति स्मृति अनुवाद करती है। तत्त्वशुद्धिकार ने इस रीति से नेत्रादि प्रमाण का गोचर अधिष्ठान उसकी सत्ता कही है, घटादिको की सत्ता नेत्रादि प्रमाण का गोचर नही। इससे प्रपच के सत्यत्व का प्रतिक्षेप कहा है।

अन्य ग्रथकारो की रीति से प्रपच के सत्यत्व का प्रतिक्षेप

कोई ग्रथकार इस रीति से कहते है —"घटोस्ति" इत्यादिक प्रतीति का गोचर घटादिको का सत्त्व है, और श्रुति युक्ति ज्ञानी के अनुभव से घटादिको मे मिथ्यात्व है, वहाँ अबाधितत्वरूप सत्त्व का मिथ्यात्व से विरोध होने से घटादिको मे जातिरूप सत्त्व है। जैसे सकल घटो मे अनुगत धर्म घटत्व है, वैसे "सन् घट सन् पट" इस एकाकार प्रतीति का गोचर सकल पदार्थो मे अनुगत धर्म जाति रूप सत्त्व है, अथवा देशकाल के सबन्ध बिना तो घटादिको की प्रतीति होती नही, देशकाल के सबन्ध विशिष्ट घटादिको की प्रतीति होती है। "इह घटोऽस्ति" "इदानी घटोऽस्ति" इस रीति से देश सबन्ध को और काल सबन्ध को घटादिगोचर प्रतीति विषय करती है। ऐसे देश सबन्धरूप वा काल सबन्धरूप ही घटादिको मे सत्त्व है, अथवा घटादिको का स्वरूप ही "घटोस्ति" इस प्रतीति का विषय है। घटादिकों से पृथक् सत्त्व को उक्त प्रतीति विषय नही करती। क्यो ? न शब्द रहित वाक्य से जिस

की प्रतीति हो न शब्द सहित वाक्य से उसका निषेध होता है। ओर "घटोनास्ति" इस वाक्य से घट के स्वरूप का निषेध होता है, यह सर्व को समत है। इससे "घटोऽस्ति" इस न शब्द रहित वाक्य से घट के स्वरूपमात्र का बोध मानना उचित है। इस रीति से "घटोऽस्ति" इस प्रतीति का गोचर घट का स्वरूप है। इससे स्वरूप से अतिरिक्त घटादिको मे सत्त्व के अभाव से उसका प्रतिक्षेप (निषेध) कहते है।

न्याय सुधाकार की रीति से प्रपच के सत्यत्व का प्रतिक्षेप

और न्यायसुधाकार के मत मे अधिष्ठानगत सत्ता का सबन्ध घटादिको मे उक्त प्रतीति का गोचर है। तत्व शुद्धिकार के मत मे तो घटादिक अनात्मगोचर प्रतीति प्रमाणजन्य नही है, केवल अधिष्ठान सत्तागोचर प्रमाण है। और इस मत मे अधिष्ठान सत्ता का सबन्ध विशिष्ट घटादिक प्रमाण के विषय है, इतना भेद है। इस रीति से घटादिको मे अधिष्ठान सत्ता का सबन्ध होने से घटादिको मे सत्व प्रतीत होता है। और घटादिको मे सत्व के अभाव से उसका प्रतिक्षेप कहा जाता है। और अधिष्ठान सत्ता की प्रतीति घटादिको मे माने तो अन्यथाख्याति का अगीकार होता है। इससे अधिष्ठान सत्ता का अनिर्वचनीय सबन्ध घटादिको मे उत्पन्न होता है, यह कहना उचित है।

अन्य आचार्य की रीति से प्रपच के सत्यत्व का प्रतिक्षेप

और कोई आचार्य इस रीति से सत्व का प्रतिक्षेप कहते है — श्रुति मे यह कहा है —"प्राणा वै सत्य तेषामेष सत्यम्" प्राण शब्द का अर्थ हिरण्य गर्भ है, प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भ सत्य है, उसकी अपेक्षा से परमात्मा उत्कृष्ट सत्य है, यह श्रुति का अर्थ है। "सत्यस्य सत्यम्" इस रीति से अन्य श्रुति है, अनात्म सत्यता से आत्म सत्यता उत्कृष्ट सत्य है, यह श्रुति का अर्थ है। जैसे अन्य राजा की अपेक्षा से उत्कृष्ट राजा को राजराज कहते है, वैसे उत्कृष्ट सत्य को "सत्य का सत्य" कहा है। इस रीति से श्रुति वाक्यो मे सत्य के उत्कर्ष अपकर्ष कहे हैं। वहा अन्य विध उत्कर्ष अपकर्ष तो सभव नही है। सर्वदा अबाध्यत्व और किंचित्काल अबाध्यत्व रूप ही सत्यत्व मे उत्कर्ष अपकर्ष

है। अनात्म पदार्थो मे ज्ञान से पूर्व काल मे अबाध्यत्वरूप सत्यत्व है और परमात्म वस्तु मे सर्वदा अबाध्यत्वरूप सत्यत्व है। इससे हिरण्य-गर्भ तो अपकृष्ट सत्य है और परमात्मा उत्कृष्ट सत्य है। इस रीति से द्विविध सत्यत्व श्रुति समत है। उनमे किचित्काल अबाध्यत्वरूप सत्य-त्व का मिथ्यात्व से विरोध नही है, किन्तु सर्वदा अबाध्यत्वरूप सत्यत्व का मिथ्यात्व से विरोध होने से उसका प्रपच के मिथ्यात्व से प्रतिक्षेप होता है।

संक्षेप शारीरक की रीति से प्रपच के सत्यत्व का प्रतिक्षेप

और सक्षेप शारीरक मे यह कहा है '—यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाण से घटादिको मे सत्यत्व प्रतीत होता है, तथापि ब्रह्म बोधक वाक्यो मे ही प्रमाणता है, अनात्म ग्राहक प्रत्यक्षादिक प्रमाणाभास है, प्रमाण नही है। क्यो ? अज्ञात अर्थ के बोध का जनक प्रमाण होता है। अज्ञानकृत आवरण का जडपदार्थ मे असभव होने से चेतन से भिन्न मे अज्ञातत्व के अभाव से उनके बोधक प्रत्यक्षादिको को प्रमाणता सभव नही है। इस रीति से प्रमाणाभास से घटादिको मे सत्यत्व की सिद्धि होती है। और श्रुतिरूप प्रमाण से घटादिको मे मिथ्यात्व की सिद्धि होती है। मुख्य (श्रुति) प्रमाण से प्रमाणाभास के बाध द्वारा सत्यत्व का प्रतिक्षेप होता है। इस रीति से प्रपच मे अत्यन्त अबाध्यत्वरूप सत्यत्व का पच प्रकार से प्रतिक्षेप कहा है, इससे प्रपच मिथ्या है।

कर्म को ज्ञान की साधनता विषयक विचार कहिये ?

मिथ्या प्रपच की निवृत्ति मे कर्म के अनुपयोग के अनुवाद पूर्वक सिद्धान्त के द्विविध समुच्चय का निर्धार

मिथ्या की निवृत्ति मे कर्म का उपयोग नही है। इससे केवल कर्म से वा कर्म समुच्चित ज्ञान से अनर्थ निवृत्ति सभव नही है, केवल ज्ञान से अनर्थ निवृत्ति होती है। यह अर्थ अद्वैतवाद के सस्कृत ग्रथो मे अति-प्रसिद्ध है, और भाषा मे भी विचारसागर के षष्ठतरग मे स्पष्ट है। इस स्थान मे यह सिद्धान्त है —अनेक श्रुति स्मृति मे कर्म समुच्चित ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति कही है। और भाष्यकार ने बहुत स्थान मे समु-

च्चयवाद का निषेध प्रतिपादन किया है। वहा यह निर्धार है '—सम-समुच्चय और क्रमसमुच्चय भेद से समुच्चय दो प्रकार का होता है। ज्ञान और कर्म दोनो परस्पर मिला कर मोक्ष के साधन जानकर एक काल मे दोनो के अनुष्ठान को समसमुच्चय कहते है। और एक ही अधिकारी को पूर्व कर्मानुष्ठान और उत्तरकाल मे सकल कर्म का त्याग करके ज्ञान के हेतु श्रवणादिको के अनुष्ठान को क्रमसमुच्चय कहते है। उनमे समसमुच्चय का तो निषेध है, और श्रुति स्मृति मे ज्ञान कर्म का जहा समुच्चय लिखा है, उसका पूर्व उक्त क्रमसमुच्चय मे तात्पर्य है।

भाष्यकारोक्ति की साधनता

भाष्यकार का यह सिद्धान्त है —मोक्ष का साक्षात्साधन कर्म नही है, किन्तु मोक्ष का साक्षात्साधन ज्ञान है, और ज्ञान का साधन कर्म है, परन्तु :—

वाचस्पत्युक्त जिज्ञासा की साधनता

भामती निबध मे वाचस्पति ने तो यह कहा है —ज्ञान के साक्षात्साधन कर्म नही हैं, किन्तु जिज्ञासा के साधन कर्म है। क्यो ? कैवल्य-शाखा मे सकल आश्रम कर्म विविदिषा के साधन स्पष्ट कहे है। वेदन की इच्छा को विविदिषा कहते है। और ब्रह्मसूत्र तृतीयाध्याय पाद तीन मे सर्वकर्मों की अपेक्षा ज्ञान मे सूत्रकार ने कही है। वहा सूत्र के व्याख्यान मे भाष्यकार ने यह कहा है —शमदमादिक साधन तो ज्ञान के साधन है, इससे ज्ञान के समीप है, और जिज्ञासा के साधन कर्म है, इससे शमदमादिको की अपेक्षा से ज्ञान से दूर है। इस रीति से श्रुति वचन से और भाष्यवचन से जिज्ञासा के साक्षात्साधन कर्म है। और जिज्ञासा द्वारा ज्ञान के साधन है। यदि ज्ञान के साक्षात्साधन ही कर्म कहे, तो ज्ञान के उदयपर्यन्त कर्मानुष्ठान की प्राप्ति होने से साधन सहित कर्म त्याग रूप विविदिषा सन्यास का लोप होगा। इससे जिज्ञासा के साधन कर्म हैं, यह वाचस्पति का मत है।

विवरणकारोक्त कर्म को ज्ञान की साधनता

और विवरणकार का यह मत है :—यद्यपि "वेदानुवचनेन विवि-

दिषति" इस रीति से श्रुति मे कहा है, वहा अक्षर मर्यादा से वेदाध्य-यनादिक (यज्ञ, दान, तपादि) धर्मो को विविदिषा की साधनता प्रतीत होती है, तथापि इच्छा के विषय ज्ञान की साधनता मे ही श्रुति का तात्पर्य है। कर्मो की इच्छा की साधनता मे श्रुति का तात्पर्य नही है। कैसे ? जैसे "अश्वेन जिगमिषति" इस वाक्य से अक्षर मर्यादा से गमन गोचर इच्छा की साधनता अश्व को प्रतीत होती है। और "शस्त्रेण जिघांसति" इस वाक्य से हननगोचर इच्छा की साधनता शस्त्र को प्रतीत होती है। वहा इच्छा का गोचर जो गमन उसकी साधनता अश्व मे अभिप्रेत है। और इच्छा का विषय हनन की साधनता शस्त्र मे अभिप्रेत है, वैसे इच्छा के विषय ज्ञान की साधनता कर्मो को अभिप्रेत है। और इस पक्ष मे दोष कहा है —कर्मों को ज्ञान की साधनता माने तो ज्ञान उदयपर्यन्त कर्मानुष्ठान की आपत्ति होने से सन्यास का लोप होगा। उसका यह समाधान है —जैसे बीज प्रक्षेप से पूर्व तो भूमि का कर्षण होता है, और बीज प्रक्षेप से उत्तर काल मे भूमि का अकर्षण होकर व्रीहि आदिको की सिद्धि कर्षण, अकर्षण से होती है, वैसे कर्म और कर्म सन्यास से ज्ञान सिद्धि होती है। अन्त करण की शुद्धि द्वारा प्रत्यक् तत्त्व की तीव्र जिज्ञासा वैराग्य सहित हो तब पर्यन्त कर्म कर्तव्य है। और वैराग्य सहित तीव्र जिज्ञासा के उत्तरकाल मे साधन सहित कर्मो का त्याग रूप सन्यास कर्तव्य है। इस रीति से ज्ञान के साधन कर्म है, तथापि तीव्र जिज्ञासा से पूर्व ही कर्म कर्तव्य है। तीव्र जिज्ञासा से उत्तर काल मे सन्यास के अगशमादिक ही कर्तव्य है, कर्म नही। इससे कर्म की अपेक्षा से शमादिकों को अतरगता प्रतिपादक ब्रह्म सूत्र तृतीयाध्यायस्थ भाष्य वचन से विरोध नही है। इस रीति से विवरणकार के मत मे ज्ञान के साधन कर्म है और वाचस्पति के मत में विविदिषा के साधन हैं। और दोनो मतों मे विविदिषा से पूर्वकाल मे कर्म का अनुष्ठान और उत्तर काल मे शमदमादि सहित सन्यास पूर्वक श्रवणादिकों का अनुष्ठान है, विविदिषा से उत्तरकाल मे किसी के भी मत में कर्म कर्तव्य नही है।

वाचस्पति और विवरणकार के मत की विलक्षणता मे शका

इस स्थान मे यह शका होती है, दोनो मतो मे विविदिषा से पूर्वकाल मे ही कर्म-कर्त्तव्य हो, तो मतभेद निरूपण निष्फल होगा। क्यो ? वाचस्पति के मत मे कर्म का फल विविदिषा है और विवरण-कार के मत मे कर्म का फल ज्ञान है। फल की सिद्धि होने पर साधन का त्याग होता है। इससे वाचस्पति के मत मे विविदिषा की सिद्धि-पर्यन्त कर्म का अनुष्ठान माने और विवरणकार के मत मे विविदिषा से उत्तर काल मे भी ज्ञान की सिद्धिपर्यन्त कर्म का अनुष्ठान मानें तो दोनो मतो मे विलक्षणता सभव है। वाचस्पति के मतानुसारी जिज्ञासु कर्म का त्याग करे और विवरणकार के मतानुसारी जिज्ञासु ज्ञान से पूर्वकर्म का अनुष्ठान करे तो मतभेद निरूपण सफल हो, और पूर्वोक्त रीति से दोनो मतो मे विविदिषा की सिद्धि से कर्म का त्याग मानें तो परस्पर विलक्षणता प्रतीत नही होती, इससे मतभेद निरूपण निष्फल है ।

उक्त शका का समाधान

उसका यह समाधान है —यद्यपि दोनो मतो मे विविदिषा पर्यन्त ही कर्म का अनुष्ठान है । इसलिये अनुष्ठान से तो दोनो की विलक्ष-णता सभव नही भी है, तथापि मतभेद से कर्म के फल मे विलक्षणता है। तथाहि .—वाचस्पति के मत मे कर्म का फल विविदिषा है, विविदिषा की उत्पत्ति होने पर कर्मजन्य अपूर्व का नाश होता है, विविदिषा होने पर भी उत्तमगुरु लाभादिक सामग्री हो, तो ज्ञान हो। किसी साधन की विकलता होने पर ज्ञान नही होता। कर्म का व्यापार विविदिषा की उत्पत्ति मे है । कर्मों का ज्ञान की उत्पत्तिपर्यन्त व्यापार नही है। और तत्त्वज्ञान कर्म का फल नही है। इससे ज्ञान की उत्पत्ति मे कर्म का व्यापार नही है। इस रीति से वाचस्पति के मत मे विविदिषा हेतु कर्म का अनुष्ठान करने पर भी ज्ञान की सिद्धि नियम से नही होती, किन्तु उत्तम भाग्य से सकल सामग्री की सिद्धि हो, तो ज्ञान होता है। इससे ज्ञान की प्राप्ति अनियत है ।

और विवरणकार के मत मे विविदिषा से पूर्वकाल मे अनुष्ठित कर्म का भी फल ज्ञान है। इससे फल की उत्पत्ति बिना कर्मजन्य अपूर्व का नाश नही होने से ज्ञान की उत्पत्तिपर्यन्त कर्मजन्य अपूर्व रहता है। जितनी सामग्री बिना कर्म का फल ज्ञान नही हो, उतनी सामग्री को कर्म सपादन करता है। इस रीति से इस पक्ष मे ज्ञान के हेतु कर्म का अनुष्ठान करै तो वर्तमान शरीर मे वा, भावी शरीर मे अवश्य ज्ञान होता है। इससे ज्ञान की उत्पत्ति नियत है। इस प्रकार से वाचस्पति के मत मे शुभ कर्म से विविदिषा नियम से होती है। और ज्ञान की सिद्धि अनियत है। विवरणकार के मत मे उसी कर्म से ज्ञान की उत्पत्ति नियम से होती है। इससे दोनो मतो का परस्पर भेद है, सकर नही है। विविदिषा के हेतु कर्म हो अथवा ज्ञान के हेतु हो, दोनो रीति से वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, कृच्छ्रचाद्रायणादिक आश्रम कर्मो का ही विद्या मे उपयोग है। वर्णमात्र के धर्मो का विद्या मे उपगोग नही है। इस रीति से कोई आचार्य कहते है।

कल्पतरुकार की रीति से सकल नित्य कर्म का विद्या मे उपयोग

और कल्पतरुकार का यह मत है —जपादिक सकल नित्य कर्मो का विद्या मे उपयोग है। क्यो ? सूत्रकार ने और भाष्यकार ने आश्रम रहित पुरुषो का भी विद्या के हेतु कर्म मे तथा श्रवणादिको मे अधिकार कहा है, वैसे रैक्व, वाचकन्वी आदिक आश्रम रहितो मे भी ब्रह्म विद्या श्रुति मे कही है। वाचकन्वी की पुत्री गार्गी को वाचकन्वी कहते है। यदि आश्रम धर्मो का ही विद्या मे उपयोग हो तो आश्रम रहित पुरुषो मे ज्ञान सपादक कर्म के अभाव से ज्ञान नही होना चाहिये। इससे जप, गगास्नान, देवताध्यानादि वर्णमात्र के धर्मो सहित सकल शुभकर्म का विद्या मे उपयोग है। यह कल्पतरुकार का मत है, परन्तु कल्पतरुकार के मत मे भी काम्य कर्म का विद्या मे उपयोग नही है, किन्तु नित्य कर्म का ही विद्या मे उपयोग है। क्यो ? अन्य प्रकार से तो विद्या मे कर्म का उपयोग सभव नही है। विद्या के प्रतिबधक पाप की निवृत्ति द्वारा ही विद्या मे कर्म का उपयोग होता है। और

काम्यकर्म से स्वर्ग पुत्रादिकों की प्राप्तिरूप फल होता है। उनसे पाप की निवृत्ति नही होती। नित्य कर्म से ही पाप की निवृत्ति होती है। इससे सकल नित्य कर्म का विद्या मे उपयोग है।

सक्षेप शारीरक कर्ता की रीति से काम्य और नित्य सकल शुभकर्म का विद्या मे उपयोग

और सक्षेप शारीरक कर्ता ने यह कहा है :—काम्य और नित्य सकल शुभ कर्म का विद्या मे उपयोग है। क्यो ? "यज्ञेन विविदिषति" इस रीति से कैवल्य शाखा मे कहा है, वहा नित्य काम्य का बोधक साधारण यज्ञ शब्द है। "धर्मेण पापमपनुदति" इत्यादिक वाक्यो से सकल शुभ कर्म को पाप की नाशकता प्रतीत होती है। इससे ज्ञान के प्रतिबधक पाप की निवृत्ति द्वारा नित्यकर्म के समान काम्य कर्म का भी विद्या मे उपयोग है। यह सक्षेप शारीरक कर्ता सर्वज्ञात्ममुनि का मत है।

सन्यास की ज्ञान साधनता विषयक विचार भी कहिये ?

पाप निवृत्ति द्वारा ज्ञान के हेतु होने से क्रम से कर्म और सन्यास दोनो की कर्तव्यता

इससे तीव्र जिज्ञासा पर्यन्त सकल शुभकर्म कर्तव्य है। दृढतर वैराग्य सहित तीव्र जिज्ञासा होने पर साधन सहित कर्म का त्याग रूप सन्यास कर्तव्य है। जैसे शुभ कर्म से पाप की निवृत्ति होती है, वैसे सन्यास से भी ज्ञान के प्रतिबंधक पाप की निवृत्ति होती है। ज्ञान के प्रतिबधक पाप अनेक विध होते है, उनमें किसी पाप की निवृत्ति कर्म से और किसी की निवृत्ति सन्यास से होती है। इससे ज्ञान प्रतिबधक पाप की निवृत्ति द्वारा कर्म और सन्यास दोनो ज्ञान के हेतु होने से क्रम से कर्त्तव्य हैं।

किसी आचार्य के मत मे सन्यास को प्रतिबधक पाप की निवृत्ति और पुण्य की उत्पत्ति द्वारा श्रवण की साधनता

और किसी आचार्य का यह मत है :—केवल पाप निवृत्ति द्वारा ही

सन्यास को ज्ञान की साधनता नही है, किन्तु सन्यासजन्य अपूर्व सहित पुरुष को ही श्रवणादिको से ज्ञान होता है। इससे श्रवण का अग सन्यास होने से सर्वथा निष्पाप को भी सन्यास कर्तव्य है।

विवरणकार के मत मे सन्यास को ज्ञान प्रतिबंधक विक्षेप की निवृत्ति रूप दृष्टफल की हेतुता

और विवरणकार का यह मत है —सन्यास बिना विक्षेप (काम क्रोधादि) का अभाव नही होता। इससे ज्ञान प्रतिबधक विक्षेप की निवृत्ति रूप दृष्टफल ही सन्यास का है। इसलिये ज्ञान प्रतिबधक पाप की निवृत्ति वा ज्ञानहेतु धर्म की उत्पत्ति रूप अदृष्ट फल का हेतु संन्यास है, यह कथन अयोग्य है। जहा दृष्टफल सभव नहीं हो, वहां अदृष्ट फल की कल्पना होती है। और विक्षेप की निवृत्ति रूप दृष्टफल संन्यास का सभव है, उसका अदृष्टफल कथन संभव नही है। और किसी प्रधान पुरुष को आश्रमातर मे भी काम-क्रोधादि रूप विक्षेप का अभाव हो तो कर्मछिद्रो (अवकाश काल) मे वेदात विचार सभव हो तो, यद्यपि उक्त रीति से सन्यास व्यर्थ है, तथापि "आसुप्तेरामृते काल नयेद्वेदात-चितया" इस गौडपादीय वचन से "तच्चिन्तन तत्कथनमन्योन्य तत्प्रबो-धनम्" इस भगवद्वचन से, "ब्रह्मसस्थोऽमृतत्वमेति" इस श्रुति वचन से निरतर क्रियमाण ब्रह्म श्रवणादिको से ज्ञान होता है। जिसकी ब्रह्म मे सस्था अर्थात् अनन्य व्यापारता से स्थिति हो सो पुरुष ज्ञान द्वारा अमृत भाव को प्राप्त होता है। यह श्रुति का अर्थ है। कर्मछिद्रकाल मे कदाचित् क्रियमाण श्रवणादिको से ज्ञान नही हो, तो निरतर श्रवणा-दिकों के अभ्यास का हेतु संन्यास है। इससे अदृष्ट बिना ही दृष्टफल का हेतु सन्यास है, तो भी व्यर्थ नही है।

मनुष्यमात्र को भक्ति और ज्ञान का अधिकार। अत्यजादि मनुष्यो को तत्वज्ञान का अधिकार

जन्मातर के सस्कार से अत्यजादिको को भी जिज्ञासा हो जाय तो पौरुषेय वचन से उनको भी ज्ञानहोकर कार्य सहित अविद्या की निवृत्तिरूप

मोक्ष होता है। इससे देव असुरो के समान सकल मनुष्यो को तत्त्वज्ञान का अधिकार है। आत्म स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को तत्त्वज्ञान कहते है। आत्महीन कोई शरीर हो तो ज्ञान का अनधिकार हो, इससे आत्म-ज्ञान की सामर्थ्य मनुष्यमात्र मे है, परन्तु —

तत्वज्ञान मे दैवीसपदा की अपेक्षा पूर्वक मनुष्यमात्र को भगवद्-भक्ति और तत्वज्ञान के अधिकार का निर्धार

जिस शरीर मे दैवीसपदा हो, उसको तत्त्वज्ञान होता है। आसुरी-सपदा मे तत्त्वज्ञान नही होता। और सर्वभूतो मे दया, क्षमा, सत्य, आर्जव, सतोषादिक दैवीसपदा का सभव ब्राह्मण मे है। और क्षत्रिय का प्रजापालानार्थ प्रवृत्ति धर्म होने से ब्राह्मण से किचित् न्यून दैवी सम्पदा सभव है। धर्म बुद्धि से प्रजासरक्षण के अर्थ दुष्ट प्राणी की हिसा भी अहिसा है। इससे दैवीसपदा का क्षत्रिय मे असभव नही है। तथा वैश्य का भी कृषिवाणिज्यादिक शरीर व्यापार क्षत्रिय से अधिक होने से आत्मविचार मे अवकाश का असभव होने से, उसको सामर्थ्य का असभव है, तथापि कितने ही भाग्यशाली वैश्यो को शरीर व्यापार बिना ही सकल व्यवहार का निर्वाह होता है। उनको दैवीसपदा का लाभरूप सामर्थ्य सभव है। और जिन आचार्यो के मत मे क्षत्रिय वैश्य को सन्यास का अधिकार है, उनके मत मे तो अनायास से ही दैवीसपदा सभव है। और चतुर्थ वर्ण मे तथा अत्याजादिको मे यद्यपि दैवीसपदा दुर्लभ है, तथापि कर्म का फल अनतविध है, किसी को जन्मातर के कर्म से दैवीसपदा का लाभ हो जाय तो पुराणादिको के विचार से चतुर्थवर्ण को और भाषा प्रबधादिको के श्रवण से अत्यजादिको को भी भगवद्भक्ति और तत्त्वज्ञान के लाभद्वारा मोक्ष का लाभ निर्विघ्न होता है। इस रीति से भगवद्भक्ति और तत्त्व-ज्ञान का अधिकार सकल मनुष्यो को है, यह शास्त्र का निर्धार है।

तत्व ज्ञान से स्वहेतु अज्ञान की निवृत्ति मे शका समाधान, अज्ञान के कार्य अत करण की वृत्तिरूप तत्वज्ञान से उसके कारण अज्ञान की निवृत्ति मे शका

तत्त्वज्ञान से कार्य सहित अज्ञान की निवृत्ति होती है। यह अद्वैत ग्रथो का सिद्धान्त है। और जीवब्रह्म के अभेदगोचर अन्त करण की वृत्ति को तत्त्वज्ञान कहते है। अन्त करण को अज्ञान कार्यता होने से वृत्तिरूप तत्त्वज्ञान भी अज्ञान का कार्य है। और कार्य-कारण का परस्पर अविरोध ही लोक मे प्रसिद्ध है। इससे तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति कहना सभव नही है।

उक्त शका का समाधान

इस शका का यह समाधान है—कार्य-कारण का परस्पर अविरोध है, यह नियम सामान्य है। समान (एक) विषयक ज्ञानाज्ञान का परस्पर विरोध है, यह विशेष नियम है। इससे विशेष नियम से सामान्य नियम का बाध होता है। और पट अग्नि सयोग से पट का नाश होता है। वहा सयोग के उपादान कारण दो होते है। इससे पट भी उपादान कारण है, तथापि अग्नि सयोग का परस्पर नाश्य-नाशकभावरूप विरोध है, अविरोध नही है। इससे कार्य कारण का परस्पर अविरोध है, यह नियम सभव नही है। यद्यपि वैशेषिक शास्त्र की रीति से अग्नि सयोग से पट का नाश नही होता। क्यो ? अग्नि सयोग से पटारभक ततुओ मे क्रिया होती है। क्रिया से ततु विभाग से पट के असमवायि कारण ततु सयोग का नाश होता है, ततुसयोग के नाश से पट का नाश होता है। इस रीति से वैशेषिक मत मे असम-वायि कारण के नाश से द्रव्य का नाश होता है। इससे पट के नाश मे ततुसयोग के नाश को हेतुता है। पट अग्नि के सयोग को पट नाश मे हेतुता नही है, तथापि पूर्वोक्त क्रम से पट का नाश हो तो अग्नि सयोग से पचम क्षण मे पट का नाश सभव है। और अग्नि सयोग से अव्यवहित उत्तर काल मे पट का नाश प्रतीत होता है। इससे वैशेषिकमत असगत है, और अग्नि सयोग से भस्मीभूत पट के अवयव सश्लिष्ट ही प्रतीत होते है, वैसे मुद्गर से चूर्णीभूत घट का कपाल विभागजन्य सयोगनाश बिना ही नाश होता है। इससे अवयव के सयोग के नाश को अवयवी के नाश मे कारणता का असभव होने से

तंतु सयोग के नाश को पटनाश मे कारणता नही है, किन्तु पट अग्नि का सयोग ही पट के नाश मे कारण है। और पट अग्नि के सयोग का अग्निसहित पट उपादान कारण है। इससे कार्यकारण का भी नाश्य नाशकभाव विरोध प्रसिद्ध होने से उनका परस्पर विरोध है, यह नियम सभव नही है। इस रीति से अविद्याजन्य वृत्तिज्ञान से कार्य सहित अविद्या का नाश होता है, परन्तु —

अविद्यालेश सबन्धी विचार भी कहिये ?

तत्त्वज्ञान से अविद्यारूप उपादान के नाश होने पर जीवन्मुक्त विद्वान् के देह के स्थिति की शका

सकल अविद्या का तत्त्वज्ञान से नाश हो, तो जीवन्मुक्त विद्वान् के देह का तत्त्वज्ञान काल मे अभाव होना चाहिये। क्यो ? उपादान कारण अविद्या का नाश होने पर कार्य की स्थिति सभव नही है।

उक्त शका का कोई एक आचार्य की रीति से समाधान

और कोई यह समाधान कहते है —जैसे धनुष का नाश होने पर प्रक्षिप्त बाण के वेग की स्थिति रहती है, वैसे विद्वान के शरीर की स्थिति, कारण का नाश होने पर भी सभव है।

उक्त समाधान का असभव

यह समाधान भी सभव नही है। क्यो ? निमित्त कारण का नाश होने पर तो कार्य की स्थिति रहती है, किन्तु उपादान का नाश होने के पश्चात् कार्य की स्थिति सभव नही है। बाण के वेग का उपादान कारण बाण है और उसका निमित्त कारण धनुष है। उसके नाश से बाण के वेग की स्थिति सभव है। इससे अविद्यारूप उपादान के नाश होने पर विद्वान् के शरीर की स्थिति का असभव होने से, तत्त्वज्ञान होने पर भी अविद्या का लेश रहता है। यह ग्र थकारो ने लिखा है।

अविद्यालेश के तीन प्रकार

वहा मतभेद से अविद्यालेश का स्वरूप तीन प्रकार का है। जैसे

प्रक्षालित लशुनभाड मे गध रहती है, वैसे अविद्या के सस्कार को अविद्यालेश कहते है, अथवा अग्निदग्ध पट के समान स्वकार्य मे असमर्थ ज्ञानबाधित अविद्या को अविद्यालेश कहते है, यद्वा आवरण शक्ति विक्षेप शक्तिरूप अश द्वयवती अविद्या है। तत्त्वज्ञान से आवरण शक्ति विशिष्ट अविद्या अश का नाश होता है, और प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबधक होने से विक्षेपशक्ति विशिष्ट अविद्या अश का नाश नही होता। तत्त्वज्ञान से उत्तर काल मे भी देहादिक विक्षेप का उपादान अविद्या का किचित् अश शेप रहता है। उससे स्वरूप का आवरण नही होता। उसी को अविद्यालेश कहते है।

प्रकृत अर्थ मे सर्वज्ञात्म मुनि का मत

सर्वज्ञात्म मुनि का तो यह मत है —तत्त्वज्ञान से उत्तर काल मे शरीरादि प्रतिभास नही होते। जीवन्मुक्ति प्रतिपादक श्रुतिवचन का स्वार्थ मे तात्पर्य नही है। क्यो ? श्रवण विधि का अर्थवादरूप जीवन्मुक्ति प्रतिपादक वचन है। जिस श्रवण के प्रताप से जीवित रहते ही पुरुष की मुक्ति होती है। ऐसा उत्तम आत्मश्रवण है। इस रीति से आत्म श्रवण की स्तुति मे तात्पर्य होने से जीवन्मुक्ति प्रतिपादक वचनो मे ज्ञानी को देहादिको का प्रतिभास (स्थिति) कहना सभव नही है। इस रीति से तत्त्वज्ञान से अव्यवहित उत्तर काल मे ही विदेह मोक्ष होता है। इस मत मे ज्ञान से उत्तर अविद्यालेश नही रहता है। परन्तु :—

उक्त मत का ज्ञानी के अनुभव से विरोध

यह मत ज्ञानी के अनुभव से विरुद्ध है। जिस तत्त्वज्ञान से कार्य सहित अविद्या की निवृत्ति होती है, उस तत्त्वज्ञान की निवृत्ति का प्रकार कहते है —तत्त्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर तत्त्वज्ञान की निवृत्ति उत्तर काल मे होती है। इस क्रम से तत्त्वज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। क्यो ? तत्त्वज्ञान से इतर अनात्म वस्तु का तो शेष रहता नहीं है। केवल चेतन को असंगता होने से नाशकता संभव नही है। तत्त्वज्ञान को स्वनाशकता भी सभव नही है। इससे तत्त्वज्ञान का नाश नही होगा।

अविद्या की निवृत्ति काल मे तत्त्वज्ञान की निवृत्ति की रीति

इस रीति से अविद्या निवृत्ति से उत्तरकाल मे तत्त्वज्ञान की निवृत्ति के असभव से अविद्या की निवृत्तिकाल मे ही तत्त्वज्ञान की निवृत्ति इस रीति से होती है —जैसे जल मे प्रक्षिप्त कतकरज से जलगत पक का विश्लेष होता है, उसके साथ ही कतकरज का भी विश्लेष होता है। कतकरज के विश्लेष मे साधनातर की अपेक्षा नही है। और तृणकूट (राशि) मे अगार के प्रक्षेप से तृणकूट का भस्म होता है, उसके साथ ही अगार का भी भस्म होता है, वैसे कार्य सहित अविद्या की निवृत्ति होती है, उसके साथ ही तत्त्वज्ञान की भी निवृत्ति होती है। इससे तत्त्व-ज्ञान की निवृत्ति मे साधनातर की अपेक्षा नही है।

प्रकृत अर्थ मे पचपादिकाकार का मत

पचपादिकाकार पद्मपादाचार्य का यह मत है —ज्ञान का अज्ञान मात्र से विरोध है, अज्ञान के कार्य से ज्ञान का विरोध नही होने से तत्त्वज्ञान से केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति से उत्तरकाल मे उपादान के अभाव से कार्य की निवृत्ति होती है, परन्तु देहादिक कार्य की निवृत्ति मे प्रारब्ध कर्म प्रतिबधक है। इसलिये उक्त रीति से अविद्यालेश जब तक रहै तब तक जीवन्मुक्त को देहादिको की प्रतीति सभव है। प्रारब्धरूप प्रतिबध का अभाव होने पर देहादिक और तत्त्वज्ञान की निवृत्ति होती है। इस मत मे प्रारब्ध के अभाव सहित अविद्या की निवृति ही तत्त्वज्ञान की निवृत्ति का हेतु है।

तत्त्वज्ञान के करण और सहकारी साधन विषयक विचार भी कहिये ?

उत्तम और मध्यम अधिकारी भेद से तत्त्वज्ञान के दो साधनो का कथन

जिस तत्त्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, उस तत्त्वज्ञान के दो साधन है। उत्तम अधिकारी के लिये तो श्रवणादिक साधन है और मध्यम अधिकारी के लिये निर्गुण ब्रह्म की अहग्रह उपासना ही तत्त्वज्ञान का साधन है। यह सकल अद्वैत शास्त्र का सिद्धान्त है। परन्तु '—

उक्त दोनो पक्षो मे प्रसख्यान (वृत्ति के प्रवाह) को तत्त्वज्ञान की करणतारूप प्रमाणता

दोनो पक्षो मे तत्त्वज्ञान का करणरूप प्रमाण प्रसख्यान है। यह कितने ही ग्र थकारो का मत है। वृत्ति के प्रवाह को प्रसख्यान कहते है। जैसे मध्यम अधिकारी को निर्गु ण ब्रह्माकार निरतर वृत्तिरूप उपासना कर्त व्य है सोई प्रसख्यान है, वैसे उत्तम अधिकारी को भी श्रवण, मनन से उत्तर निदिध्यासनरूप प्रसख्यान ही ब्रह्म साक्षात्कार का करण है। यद्यपि षड्विध प्रमाण मे प्रसख्यान के अभाव से उसको प्रमा की करणता सभव नही है, तथापि सगुण ब्रह्म के ध्यान को सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार की करणता और निर्गु ण ब्रह्म के ध्यान को निर्गु ण ब्रह्म के साक्षात्कार की करणता सकल श्रुति स्मृतियो मे प्रसिद्ध है। जैसे व्यवहित कामिनी के प्रसख्यान को कामिनी के साक्षात्कार की करणता लोक मे प्रसिद्ध है। इससे निदिध्यासनरूप प्रसख्यान भी ब्रह्म साक्षात्कार का करण सभव है। यद्यपि प्रसख्यानजन्य ब्रह्मज्ञान को प्रमाणजन्यता के अभाव से प्रमात्व का असभव है, तथापि सत्रादिभ्रम के समान विषय के अबाध से प्रमात्व सभव है। और निदिध्यासन रूप प्रसख्यान का मूल शब्द प्रमाण है। इससे भी ब्रह्मज्ञान को प्रमात्व सभव है।

भामतीकार वाचस्पति के मत मे प्रसख्यान को मन की सहकारिता और मन को ब्रह्मज्ञान की करणता

भामतीकार वाचस्पति का यह मत है —मन का सहकारी प्रसख्यान है, ब्रह्मज्ञान का करण मन है। प्रसख्यान को ज्ञान की करणता अप्रसिद्ध है। सगुण निर्गु ण ब्रह्म का ध्यान भी मन का सहकारी है, उनके साक्षात्कार का करण ध्यान नही है, किन्तु मन ही करण है, वैसे व्यवहित कामनी का ध्यान भी कामिनी साक्षात्कार का करण नही है, किन्तु कामिनी चितन सहित मन ही उसके साक्षात्कार का करण है। इस प्रकार से मन ही ब्रह्मज्ञान का करण है।

अद्वैत ग्रथो का मुख्य (प्रथम) मत

(एकाग्रता सहित मन को सहकारिता और वेदान्त वाक्य रूप शब्द को ब्रह्मज्ञान की करणता)

और अद्वैत ग्रथो का मुख्य मत यह है '— वाक्यजन्य ज्ञान से अनन्तर प्रसख्यान की अपेक्षा नही है, किन्तु महावाक्य से ही अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। और सकल ज्ञान मे सहकारी मन है। इससे निदिध्यासनजन्य एकाग्रता सहित मन सहकारी है। और वेदान्त वाक्यरूप शब्द ही ब्रह्मज्ञान का करण है, मन नही है। क्यो ? वृत्तिरूप ज्ञान का उपादान होने से आश्रय अत करण है। इससे ज्ञान का कर्ता मन है। उसको ज्ञान की करणता सभव नही है। और ज्ञानातर मे मन को करणता माने तो भी ब्रह्मज्ञान की करणता सर्वथा विरुद्ध है। क्यो ? "यन्मनसा न मनुते" इत्यादिक श्रुति मे ब्रह्म को मानसज्ञान की विषयता का निषेध करा है, और ब्रह्म को औपनिषदत्व कहा है। इससे उपनिषद् रूप शबद ही ब्रह्मज्ञान का करण है, यत् अर्थात् जिस ब्रह्म को मन से लोक नही जानते है, यह श्रुति का अर्थ है। यद्यपि कैवल्य शाखा मे जहा मन को ब्रह्म ज्ञान की करणता का निषेध करा है, उसी स्थान मे वाक् को भी ब्रह्मज्ञान की करणता का निषेध करा है। इससे शब्द को भी ब्रह्मज्ञान की करणता श्रुति विरुद्ध है, तथापि शब्द को ब्रह्मज्ञान की करणता नही है, इस अर्थ मे श्रुति का तात्पर्य हो तो ब्रह्म को उपनिषद्वेद्यत्व रूप औपनिषदत्व कथन असगत होगा। इससे शब्द की लक्षणा वृत्ति मे ब्रह्मगोचर ज्ञान होता है, शक्तिवृत्ति से ब्रह्म का ज्ञान शब्द से नही होता। इस रीति से श्रुति का तात्पर्य है। इससे शक्तिवृत्ति से शब्द को ब्रह्मज्ञान की करणता का निषेध है, और लक्षणावृत्ति से शब्द को ब्रह्मज्ञान की करणता होने से ब्रह्म को औपनिषदत्व सभव है। जो ब्रह्म साक्षात्कार को मानस मानते है, उनके मत में भी ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान शब्द से ही माना है। इससे ब्रह्मज्ञान मे शब्द को करणता दोनो मतो मे आवश्यक होने से ब्रह्म साक्षात्कार का करण शब्द है, मन नही है। इस रीति से ब्रह्मसाक्षात्कार का करण शब्द है।

शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मे शका समाधान

शब्द को ब्रह्म साक्षात्कार का करण माने तो भी पूर्वोक्त रीति से श्रुति और भाष्य वचन का विरोध तो नही होता है, परन्तु शब्द सामर्थ्य का विरोध होता है। यद्यपि शब्द मे परोक्ष ज्ञान के उत्पादन का सामर्थ्य है, शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सभव नही है, तथापि शास्त्रोक्त श्रवण मनन पूर्वक ब्रह्मगोचर परोक्ष ज्ञान के सस्कार विशिष्ट एकाग्र चित्त सहित शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है। जैसे प्रतिबिम्ब और बिम्ब के अभेदवाद मे जल पात्र और दर्पणादिक सहकृत नेत्र से सूर्यादिको का साक्षात्कार होता है, वहा केवल नेत्र का सूर्यादिको के साक्षात्कार मे सामर्थ्य नही है। चचल वा मलिन उपाधि के सन्निधान से भी सामर्थ्य नही है। और निश्चल निर्मल उपाधि सहकृत नेत्र मे सूर्यादिको के साक्षात्कार का सामर्थ्य है, वैसे सस्कार विशिष्ट निर्मल निश्चल चित्त रूप दर्पण के सहकार से शब्द से भी ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान सभव है।

अन्य दृष्टात —जैसे लौकिक अग्नि मे होम से स्वर्ग हेतु अपूर्व की उत्पत्ति नही होती है और वैदिक सस्कार सहित अग्नि मे होम से स्वर्गजनक अपूर्व की उत्पत्ति होती है। होम को स्वर्ग साधनता श्रुति मे कही है, द्वितीय क्षण मे विनाशी होम को कालातर भावी स्वर्ग की साधनता सभव नही है। इससे स्वर्ग साधनता की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से जैसे अपूर्व की सिद्धि होती है, वैसे ब्रह्म ज्ञान से अध्यास रूप सकल दुख की निवृत्ति श्रुति मे कही है। और कर्तृत्वादिक अध्यास अपरोक्ष है, उस अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति परोक्ष ज्ञान से सभव नही है। अपरोक्ष ज्ञान से ही अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति होती है। इससे ब्रह्म ज्ञान को अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति की अनुपपत्ति से प्रमाणातर के अगोचर ब्रह्म का शब्द से अपरोक्ष ज्ञान सिद्ध होता है। जैसे श्रुतार्थापत्ति से अपूर्व की सिद्धि होती है, वैसे शब्दजन्य ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि भी श्रुतार्थापत्ति से होती है।

अन्य ग्रन्थो की रीति से शब्द को अपरोक्ष ज्ञान की जनकता

अन्य ग्रन्थो मे शब्द को अपरोक्ष ज्ञान की जनकता इस दृष्टात से कही है —जैसे बाह्य पदार्थ के साक्षात्कार मे असमर्थ मन है, तथापि भावना सहित मन से नष्ट वनिता का साक्षात्कार होता है, वैसे केवल शब्द तो अपरोक्ष ज्ञान मे असमर्थ है, परन्तु पूर्व उक्त मन सहित शब्द से वा निदिध्यासन रूप भावना सहित मन से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होता है।

विषय और ज्ञान की अपरोक्षता विषयक विचार भी कहिये ?

अन्य ग्रथकार की रीति से ज्ञान और विषय दोनो मे अपरोक्षत्व व्यवहार का कथन

अन्य ग्र थकार इस रीति से कहते है —ज्ञान और विषय दोनो मे अपरोक्षत्व व्यवहार होता है। क्यो ? नेत्रादिक इन्द्रिय से ज्ञात घट हो, वहा घट का प्रत्यक्ष ज्ञान है और घट प्रत्यक्ष है। इस रीति से उभयविध व्यवहार अनुभव सिद्ध है, वहा ज्ञान मे अपरोक्षता करण के अधीन नही है ? क्यो इन्द्रियजन्यज्ञान अपरोक्ष हो और अनुमानादि-जन्यज्ञान परोक्ष हो, तो ज्ञान मे परोक्षता और अपरोक्षता करण के अधीन हो, सो इन्द्रियजन्यज्ञान को अपरोक्षता ग्र थकारो ने ख डन करी है। इससे अपरोक्ष अर्थगोचर ज्ञान को अपरोक्ष कहते है। इस रीति से ज्ञान मे अपरोक्षता विषय के अधीन है। इससे अपरोक्ष विषय का ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। इन्द्रियजन्य हो वा प्रमाणातर जन्य हो, इसमे अभिनिवेश नही है। इसीलिये सुखादिज्ञान, ईश्वर ज्ञान, स्वप्न का ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है, तथापि प्रत्यक्ष है। इससे ज्ञान मे इन्द्रिय जन्यत्वरूप अपरोक्षत्व नही है, किन्तु अपरोक्ष अर्थ गोचर ज्ञान हो, उसको अपरोक्ष ज्ञान कहते है।

उक्त अर्थ मे शका समाधान

यद्यपि अपरोक्ष ज्ञान के विषय को अपरोक्ष कहते है। इससे अपरोक्ष अर्थगोचर ज्ञान को अपरोक्षता कहने मे अन्योन्याश्रय दोष होता है। क्यो ? ज्ञानगत अपरोक्षत्व निरूपण मे विषय गत अपरोक्षत्व का ज्ञान हेतु है। और विषयगत अपरोक्षत्व निरूपण मे

ज्ञानगत अपरोक्षत्व का ज्ञान हेतु है, तथापि विषय मे अपरोक्षता अपरोक्ष ज्ञान की विषयतारूप माने तो अन्योन्याश्रय दोष होता है। इससे विषय की अपरोक्षता का उक्त स्वरूप नही है, किन्तु प्रमातृ चेतन से अभेद ही विषय की अपरोक्षता है। इससे ज्ञान के अपरोक्षत्व निरूपण मे तो विषय के अपरोक्षत्व ज्ञान की अपेक्षा होने पर भी विषय के अपरोक्षत्व निरूपण मे ज्ञानगत अपरोक्षत्व के ज्ञान का अनुपयोग होने से अन्योन्याश्रय दोष नही है।

विषय मे परोक्षत्व अपरोक्षत्व के सपादक प्रमातृ चेतन के भेद और अभेद सहित विषयगत परोक्षत्व अपरोक्षत्व के अधीन ही ज्ञान के परोक्षत्व अपरोक्षत्व का निरूपण

सुखादिक अन्त करण के धर्म साक्षीचेतन मे अध्यस्त है, और अधिष्ठान से पृथक् सत्ता अध्यस्त की नही होती है। इससे सुखादिको का प्रमातृ चेतन से सदा अभेद होने से उनमे सदा अपरोक्षत्व है। और अपरोक्ष सुखादिगोचर ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। बाह्य घटादिक यद्यपि ब्रह्म चेतन मे अध्यस्त होने से प्रमातृ चेतन से उनका सर्वथा अभेद नही है, तथापि वृत्ति द्वारा बाह्य चेतन का प्रमातृचेतन से अभेद हो, उस काल मे प्रमातृचेतन ही घटादिको का अधिष्ठान होता है। इससे इन्द्रियजन्य घटादिगोचर वृत्ति हो, उस काल मे ही घटादिको मे अपरोक्षत्व धर्म होता है। अपरोक्षत्व विशिष्ट घटादिको के ज्ञान को भी अपरोक्ष कहते है। और घटादिगोचर अनुमित्यादिक वृत्ति हो, उस काल मे प्रमातृ चेतन से घटादिको का अभेद नही होने से उनमे अपरोक्षत्व धर्म नही होता। इससे घटादिको के अनुमित्यादि ज्ञान को अपरोक्ष नही कहते है, किन्तु परोक्ष ही कहते है, और ब्रह्म चेतन का प्रमातृचेतन से सदा अभेद होने से ब्रह्मचेतन सदा अपरोक्ष है। इससे महावाक्य रूप शब्दप्रमाणजन्य ब्रह्म के ज्ञान को भी अपरोक्ष ही कहते है। इस प्रकार से ज्ञान के परोक्षत्व और अपरोक्षत्व प्रमाणाधीन नही है, किन्तु विषयगत परोक्षत्व अपरोक्षत्व के अधीन ही ज्ञान के परोक्षत्व, अपरोक्षत्व है। और विषय मे परोक्षत्व, अपरोक्षत्व

का संपादक प्रमातृ चेतन का भेद और अभेद है। इससे शब्दजन्य ब्रह्म का ज्ञान भी अपरोक्ष है, यह कथन सभव है।

उक्त मत मे अवातरवाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान के अपरोक्षता की प्राप्तिरूप दोष

परन्तु इस मत मे अवातर वाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान भी अपरोक्ष होना चाहिये। क्यो ? उक्त रीति से प्रमातृ चेतन स्वरूप होने से ब्रह्म सदा अपरोक्ष है, और अपरोक्ष वस्तुगोचर ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। इससे नित्य अपरोक्ष स्वभाव ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान सभव नही है। और अवातर वाक्य से सकल ग्रन्थकारो ने ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान माना है। वैसे "दशमोऽस्ति" इस वाक्य से दशम का परोक्ष ज्ञान ही होता है और पचदशी आदिक ग्रन्थों मे भी उक्त वाक्य से दशम का परोक्ष ज्ञान ही कहा है। और प्रमातृ चेतन से अभिन्न दशम है। इससे दशम विषय को अपरोक्षता होने से उसका ज्ञान भी अपरोक्ष होना चाहिये।

उक्त दोष से अपरोक्षता का अन्य लक्षण

इससे इस रीति से मानना चाहिये —जैसे सुखादिक प्रमातृ चेतन मे अध्यस्त है, वैसे धर्म अधर्म भी प्रमातृ चेतन मे अध्यस्त है। इससे सुखादिको के समान धर्मादिक भी प्रमातृ चेतन से अभिन्न होने से अपरोक्ष होने चाहिये, तथापि योग्य विषय का प्रमातृचेतन से अभेद ही विषयगत अपरोक्षता का सपादक है, धर्मादिक योग्य नही है। इससे उनका प्रमातृचेतन से अभेद होने से भी उनमे अपरोक्षता नही है। जैसे विषयगत योग्यता विषयगत अपरोक्षता मे अपेक्षित है, वैसे प्रमाणगत योग्यता ज्ञान भी अपरोक्षता मे अपेक्षित है। अवातर वाक्य में और "दशमोऽस्ति" इस वाक्य मे अपरोक्ष ज्ञान जनन की योग्यता नही है, किन्तु महावाक्य में और "त्व दशम" इस वाक्य में अपरोक्ष ज्ञान के जनन की योग्यता है। विषय की योग्यतादिक प्रत्यक्षादि व्यवहार से जानते है। जिस विषय का प्रमाता से अभेद होते हुए भी प्रत्यक्ष व्यवहार नही हो, उस विषय को अयोग्य कहते है।

जैसे धर्म अधर्म के सस्कार अयोग्य है, विषय के समान प्रमाण मे भी योग्यतादिक अनुभव के अनुसार जाननी चाहिये। बाह्य इन्द्रियो मे प्रत्यक्ष ज्ञानजनन की योग्यता है, और अनुमानादिको मे परोक्ष ज्ञान जनन की योग्यता है, अनुपलब्धि मे और शब्द मे उभयविध ज्ञान जनन की योग्यता है, परन्तु —

अपरोक्ष ज्ञान मे सर्वज्ञात्म मुनि के मत का अनुवाद

इतना विशेष है —प्रमाता से असबन्धी पदार्थ का शब्द से केवल परोक्ष ज्ञान होता है, और जिस पदार्थ का प्रमाता से तादात्म्य सबन्ध हो, उसमे योग्यता होने पर भी प्रमाता से अभेद बोधक शब्द नही हो, तो शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष ज्ञान नही होता। जैसे दशमोऽस्ति" "ब्रह्माऽस्ति" इत्यादिक वाक्यो मे प्रमाता से अभेद बोधक शब्द के अभाव से उक्त वाक्यो के श्रोता को स्वाभिन्न दशम, ब्रह्म का भी परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष ज्ञान नही होता। और जिस वाक्य मे प्रमाता से अभिन्न योग्य विषय का प्रमाता से अभेद बोधक शब्द हो, उस वाक्य से परोक्ष ज्ञान नही होता, किन्तु अपरोक्ष ज्ञान ही होता है। यह मत सर्वज्ञात्ममुनि का है। इस मत मे केवल शब्द ही अपरोक्ष ज्ञान का हेतु है। और परोक्ष ज्ञान के सस्कार विशिष्ट एकाग्रचित्त सहित शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है। यह मत प्रथम कहा है।

दूषित विषयगत अपरोक्षता के अधीन ज्ञानगत अपरोक्षता है, इस मत का अनुवाद

अपरोक्ष अर्थगोचर ज्ञान को अपरोक्षत्व मानकर ब्रह्मज्ञान को अपरोक्षता सभव है, यह मध्य मे तृतीय मत कहा। इस मत मे नित्या-ऽपरोक्ष ब्रह्मगोचर अवातर वाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान भी अपरोक्ष होना चाहिये। यह दूषण कहा।

अद्वैत विद्याचार्य की रीति से विषयगत और ज्ञानगत अपरोक्षत्व का प्रकारातर से कथन और दूषित उक्त मत मे दूषणातर का कथन

अद्वैत विद्याचार्य ने अर्थगत अपरोक्षत्व और ज्ञानगत अपरोक्षत्व प्रकारातर से कहा है। और दूषित उक्त मत मे दूषणातर कहा है। तथाहि —प्रमाता से अभिन्न अर्थ को अपरोक्ष स्वरूप मानकर अपरोक्ष अर्थगोचर ज्ञान को अपरोक्षत्व कहै तो स्वप्रकाश आत्म सुखरूप ज्ञान मे अपरोक्ष ज्ञान के लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्यो ? अपरोक्ष अर्थ है गोचर अर्थात् विषय जिसका उस ज्ञान को अपरोक्ष कहै, तो ज्ञान का और विषय का परस्पर भेद सापेक्ष विषय विषयिभाव सबन्ध है, उसी स्थान मे ज्ञानगत अपरोक्ष लक्षण होगा। और स्वप्रकाश सुख का ज्ञान से अभेद होने से विषय विषयिभाव के असभव से उसमे उक्त लक्षण सभव नही है। यद्यपि प्रभाकर मत मे ज्ञान को स्वप्रकाश कहते है, और अपने स्वरूप को तथा ज्ञाता को, वैसे ज्ञेय घटादिको को ज्ञान विषय करता है। इससे सकल ज्ञान त्रिपुटीगोचर होते है, यह प्रभाकर का मत है। उसके मत मे अभेद होने पर भी विषय विषयि-भाव का अगीकार है। इससे स्वप्रकाश ज्ञान रूप सुख मे विषय विषयिभाव असगत नही है। स्व अर्थात् अपना स्वरूप है, प्रकाश अर्थात् विषयी जिसका उसको स्वप्रकाश कहते है। इस रीति से स्व-प्रकाश पद के अर्थ से भी अभेद मे विषय विषयिभाव सभव है, तथापि प्रकाश-प्रकाशक का भेदानुभव सिद्ध होने से भेद बिना प्रभाकर का विषय विषयिभाव कथन असगत है। इससे स्वप्रकाश पद का उक्त अर्थ नही है, किन्तु स्व अर्थात् अपनी सत्ता से प्रकाश अर्थात् सशयादि राहित्य ही स्वप्रकाश पद का अर्थ अद्वैत ग्रन्थो मे कहा है।

अपरोक्ष के उक्त लक्षण के असभव का अनुवाद

इस रीति से स्वप्रकाश ज्ञान से अभिन्न स्वरूप सुख मे विषय विषयिभाव के असभव से अपरोक्ष का उक्त लक्षण उसमे सभव नही है।

उक्त दोष से रहित अपरोक्ष का लक्षण

इससे अपरोक्ष का यह लक्षण है —स्वव्यवहार के अनुकूल चैतन्य से अभेद अपरोक्ष विषय का लक्षण है। अन्त करण और सुखादिक

साक्षीचेतन मे अध्यस्त होने से धर्म सहित अन्त.करण का साक्षीचेतन से अभेद है। और साक्षीचेतन से उनका प्रकाश होने से उनके व्यवहार के अनुकूल साक्षीचेतन है। इससे स्व अर्थात् अन्त करण और सुखादिको के व्यवहार के अनुकूल जो साक्षीचेतन उससे अभेदरूप अपरोक्ष विषय का लक्षण सुखादि सहित अन्त करण मे सभव है। और धर्मादिको का साक्षीचेतन से अभेद तो है, परन्तु उनमे योग्यता के अभाव से उनके व्यवहार के अनुकूल साक्षीचेतन नही है। इससे स्वव्यवहारानुकूल चैतन्य से धर्मादिको का अभेद नही होने से उनमे अपरोक्षत्व नही है, वैसे घटादिगोचर वृत्तिकाल मे घटादिको के अधिष्ठान चेतन का वृत्त्युपहित चेतन से अभेद होता है। इससे घटादि-गोचर वृत्तिकाल मे घटादि चेतन घटादि व्यवहार के अनुकूल है। उससे अभिन्न घटादिक को अपरोक्ष कहते है। घटादिगोचर वृत्ति के अभाव काल मे भी अपने अधिष्ठान चेतन से घटादिक अभिन्न है, परन्तु उस काल मे उनके व्यवहार के अनुकूल अधिष्ठान चेतन नही है। क्यो ? वृत्त्युपहित से अभिन्न होकर व्यवहार के अनुकूल होता है। इससे घटादिगोचर वृत्ति के अभावकाल मे घटादिक अपरोक्ष नही है, वैसे ब्रह्मगोचर वृत्त्युपहित साक्षीचेतन ही ब्रह्म के व्यवहार के अनुकूल है, उससे अभिन्न ब्रह्म को अपरोक्षता सभव है। जैसे स्वव्यवहारा-नुकूल चैतन्य से विषय का अभेद विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है, वैसे घटादिक विषय से घटादिक व्यवहारानुकूल चैतन्य का अभेद ज्ञान गत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।

वृत्तिरूप प्रत्यक्ष ज्ञान मे उक्त अपरोक्ष के लक्षण की अव्याप्ति

यद्यपि चेतन मे घटादिक अध्यस्त है, और विषयाकार वृत्तिकाल मे वृत्ति चेतन से विषय चेतन की एकता होने से स्वाधिष्ठान विषय चेतन से अभिन्न घटादिको का वृत्ति चेतन से अभेद होने पर भी वृत्ति से घटादिको का अभेद सभव नही है। जैसे रज्जु मे कल्पित सर्प, दड, माला का रज्जु से अभेद होने पर भी सर्प, दड, माला का परस्पर

भेद ही होता है, अभेद नही होता। और ब्रह्म मे कल्पित सकल द्वैत का ब्रह्म से अभेद होने पर भी परस्पर अभेद नही होता वैसे वृत्ति चेतन से तो वृत्ति का और घटादिको का अभेद सभव है, वृत्ति का और घटादिक विषय का परस्पर अभेद सभव नही है। इससे वृत्तिरूप प्रत्यक्ष ज्ञान मे उक्त लक्षण की अव्याप्ति है।

उक्त अव्याप्ति का अद्वैत विद्याचार्य की रीति से उद्धार

तथापि अद्वैत विद्याचार्य की रीति से अपरोक्षत्व धर्म चेतन का है, वृत्ति का नही है। जैसे अनुमितित्व, इच्छात्व आदिक अन्त करण वृत्ति के धर्म है, वैसे अपरोक्षत्व धर्म वृत्ति मे नही है, किन्तु विषयाकार वृत्त्युपहित चेतन का अपरोक्षत्व धर्म होने से चेतन के अपरोक्षत्व का उपाधि वृत्ति है। इससे वृत्ति मे अपरोक्षत्व का आरोप करके वृत्ति ज्ञान अपरोक्ष है, यह व्यवहार करते है। इस रीति से वृत्तिज्ञान लक्ष्य नही है। इससे अव्याप्ति नही है। यदि वृत्तिज्ञान मे अपरोक्षत्व धर्म इष्ट हो और उसमे अपरोक्ष का लक्षण नही जाय तो अव्याप्ति हो। वृत्तिज्ञान लक्ष्य नही है, किन्तु वृत्त्युपहित चेतन ही लक्ष्य है। इससे अव्याप्ति की शका नही है। चेतन का धर्म अपरोक्षत्व मानने से ही सुखादिक ज्ञान मे अपरोक्षत्व सभव है। वृत्ति का धर्म अपरोक्षत्व मानें तो सुखादिकगोचर वृत्ति के अनगीकार पक्ष मे साक्षीरूप सुखादि ज्ञान मे अपरोक्षत्व व्यवहार नही होना चाहिये। इससे अपरोक्षत्व धर्म चेतन का है, वृत्ति का नही है।

उक्त पक्ष मे शका

इस पक्ष मे यह शका है :—ससारदशा में भी जीव से ब्रह्म का अभेद होने से सर्व पुरुषो को ब्रह्म अपरोक्ष है। ऐसा व्यवहार होना चाहिये। और अवातर वाक्य जन्य ब्रह्म का ज्ञान भी अपरोक्ष होना चाहिये। क्यो ? अवातरवाक्यजन्य वृत्त्युपहित साक्षीचेतन का ब्रह्म रूप विषय से अभेद है, तथापि —

उक्त शका का समाधान

यह समाधान है —स्वव्यवहारानुकूल चेतन से अनावृत विषय का

अभेद तो अपरोक्ष विषय का लक्षण है। और अनावृत विषय से स्वव्यवहारानुकूल चेतन का अभेद अपरोक्ष ज्ञान का लक्षण है। ससारदशा मे आवृत ब्रह्म का स्वव्यवहारानुकूल चेतन से अभेद होने पर भी अनावृत विषय का अभेद नही होने से ब्रह्म मे अपरोक्षत्व नही है, वैसे अवातरवाक्यजन्य ज्ञान भी आवृत विषय से अभेद होने से उस ज्ञान को अपरोक्षत्व नही है। इससे उक्त शका सभव नहीं है।

उक्त पक्ष मे अन्य शका

अन्य शका —उक्त रीति से अनावृत विषय के अभेद से अपरोक्षत्व मानें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। क्यो ? समानगोचर ज्ञान मात्र को आवरण निवर्तकता मानें तो परोक्ष ज्ञान से भी अज्ञान की निवृत्ति होनी चाहिये। और सिद्धात मे असत्त्वापादक अज्ञान शक्ति का तिरोधान वा नाश तो परोक्ष ज्ञान से होता है। अभानापादक शक्ति विशिष्ट अज्ञान का परोक्ष ज्ञान से नाश नही होता, अपरोक्ष ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है। इस रीति से ज्ञान के अपरोक्षत्व की सिद्धि के अधीन अज्ञान की निवृत्ति है। और अनावृत विषय से स्वव्यवहारानुकूल चेतन का अभेद होने पर ज्ञान का अपरोक्षत्व लक्षण कहने से अज्ञान निवृत्ति के अधीन ज्ञान के अपरोक्षत्व की सिद्धि कही है। इससे अन्योन्याश्रय दोष है।

उक्त शका का समाधान

उसका यह समाधान है —यद्यपि पूर्व उक्त रीति से अज्ञान निवृत्ति की ज्ञान के अपरोक्षत्व मे अपेक्षा है, तथापि अज्ञान की निवृत्ति मे ज्ञान अपरोक्षत्व की अपेक्षा नही है। क्यो ? ज्ञान मात्र से अज्ञान की निवृत्ति माने तो परोक्ष ज्ञान से भी अज्ञान की निवृत्ति होनी चाहिये। इस दोष के परिहार के अर्थ परोक्ष ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति कही है, उसमे अन्योन्याश्रय दोष होता है। इससे ज्ञान मात्र से अज्ञान की निवृत्ति और अपरोक्षज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नही कहते है, किन्तु प्रमाण की महिमा से जहाँ विषय से ज्ञान का तादात्म्य सबन्ध हो, उस ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। प्रमाण महिमा से

बाह्य इन्द्रियजन्य घटादिको का ज्ञान विषय से तादात्म्य सबन्ध वाला होता है। और शब्दजन्य ब्रह्मज्ञान भी महावाक्य रूप प्रमाण की महिमा से विषय से तादात्म्य सबन्ध वाला होता है। इससे उक्त उभय ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। यद्यपि सर्व का उपादान ब्रह्म होने से ब्रह्मगोचर सकल ज्ञानो का तादात्म्य सबन्ध है। इससे अनुमितिरूप ब्रह्मज्ञान से और अवातरवाक्यजन्य ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान से भी अज्ञान की निवृत्ति होनी चाहिये, तथापि उक्त ज्ञान का विषय से तादात्म्य सबध है, सो विषय की महिमा से है, प्रमाण की महिमा से नही है।

क्यो ? महावाक्य से जीवब्रह्म के अभेदगोचर ज्ञान हो, उसका विषय से तादात्म्य सबन्ध तो प्रमाण की महिमा से कहते है। अन्य ज्ञान का ब्रह्म से तादात्म्य सबन्ध है, सो ब्रह्म को व्यापकता होने से और सकल की उपादानता होने से विषय की महिमा से कहते है। इस रीति से विलक्षण प्रमाणजन्य विषय सबन्धी ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। इस कथन मे ज्ञानमात्र से अज्ञान निवृत्ति की (दोषरूप) आपत्ति नही है, और ज्ञान के अपरोक्षत्व की अज्ञान निवृत्ति मे अपेक्षा के अभाव से अन्योन्याश्रय दोष भी नही है। इस रीति से स्वव्यवहारानुकूल चैतन्य से अनावृत विषय का अभेद अपरोक्ष विषय का लक्षण है। उक्त चैतन्य का अनावृत विषय से अभेद अपरोक्ष ज्ञान का लक्षण है। इससे शब्दजन्य ब्रह्मज्ञान मे भी अपरोक्षता सभव है।

शब्द से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति मे कथन किये तीन मत मे प्रथम मत की समीचीनता

इस प्रकार से शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मे तीन मत कहे है, उनमे आद्यमत ही समीचीन है। क्यो ? ज्ञानगत परोक्षत्व अपरोक्षत्व प्रमाणाधीन है। और सहकारी साधन विशिष्ट शब्द मे अपरोक्ष ज्ञान के जनन की योग्यता है, यह प्रथम मत है। और विषय के अधीन ही ज्ञान के अपरोक्षत्वादिक धर्म है। प्रमाण के अधीन नही है। इस अभिप्राय से द्वितीय मत और अद्वैत विद्याचार्य का तृतीय मत है। उन दोनो मतो मे भी केवल विषय के अधीन ही अपरोक्षत्वादिको को मानें तो अवांतर वाक्य से भी ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिये। इससे ज्ञान

के अपरोक्षत्व मे प्रमाण की अधीनता अवश्य ही चाहिये। इस लिये प्रथम मत ही समीचीन है।

इति श्री जीवेश्वर स्वरूप निरूपण अश १२ समाप्त ।

अथ वृत्ति प्रयोजन, कल्पित निवृत्ति स्वरूप निरूपण अश १३

अब वृत्ति का प्रयोजन कहने की भी कृपा करिये ?

वृत्ति का प्रयोजन यह है—जीव को अवस्थात्रय का सबन्ध वृत्ति से होता है, और पुरुषार्थ प्राप्ति भी वृत्ति से ही होती है। इससे ससार प्राप्ति की हेतु वृत्ति है और मोक्ष प्राप्ति की हेतु भी वृत्ति है। क्यो ? अवस्थात्रय के सबन्ध से जीव को ससार है।

वृत्ति प्रयोजन के कथनावसर मे जाग्रत का लक्षण

वहा इन्द्रियजन्यज्ञान की अवस्था को जाग्रत् अवस्था कहते है। अवस्था शब्द काल का वाचक है। यद्यपि सुखादिको के ज्ञानकाल और उदासीन काल को भी जाग्रत अवस्था कहते है। और सुखादिकज्ञान इन्द्रियजन्य नही है। जैसे सुखादिक ज्ञानकाल मे अन्य विषय का ज्ञान भी इन्द्रियजन्य नही होता, वैसे उदासीन काल मे इन्द्रियजन्य ज्ञान नही है, तथापि वक्ष्यमाण स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था से भिन्न जो इन्द्रियजन्य ज्ञान का आधारकाल, और इन्द्रियजन्य ज्ञान का सस्कार का आधारकाल उसको जाग्रत अवस्था कहते है। सुखादिज्ञान काल मे और उदासीन काल मे यद्यपि इन्द्रिय जन्य ज्ञान नही है, तथापि उसके सस्कार है और इन्द्रियजन्य ज्ञान के सस्कार स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था मे भी है। इससे स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था से भिन्नकाल कहा है। इस रीति से जाग्रत अवस्था यह व्यवहार इन्द्रियजन्य ज्ञान के अधीन है, सो इन्द्रियजन्य ज्ञान अत:करण की वृत्तिरूप है। अन्त.करण की वृत्ति के मत भेद से ये प्रयोजन है।

कोई ग्रथकार की रीति से आवरण का अभिभव (नाश वा तिरोधान) वृत्ति का प्रयोजन है।

कोई तो आवरण का अभिभव वृत्ति का प्रयोजन कहते है।

यद्यपि आवरणाभिभव मे भी नाना मत है, तथापि अभिभवत्वेन एक ही मत है। जैसे खद्योत के प्रकाश से महाधकार के एक देश का नाश होता है, वैसे विषयावच्छिन्न प्रदेश मे अज्ञान के एक देश का नाश आवरणाभिभव शब्द का अर्थ है, यह साप्रदायिक मत है।

समष्टि अज्ञान को जीव की उपाधिता के पक्ष मे ब्रह्म वा ईश्वर वा जीव चेतन के सबन्ध से आवरण के अभिभव का सभव

समष्टि अज्ञान जीव की उपाधि है। इस पक्ष मे घटादिक विषयो से चेतन का सदा सबन्ध है। इससे चेतन सबन्ध से तो आवरण का अभिभव सभव नही है। क्यो ? ब्रह्मचेतन तो आवरण का साधक है विरोधी नहीं है। और ईश्वरचेतन से आवरण का अभिभव हो तो "इद मयावगतम्" ऐसा व्यवहार जीवो को नही होना चाहिये, किन्तु "ईश्वरेणावगतम्" ऐसा व्यवहार होना चाहिये। क्यो ? ईश्वर, जीव का व्यावहारिक भेद है। इससे ईश्वरावगत वस्तु जीव का अवगत नही होता। इसलिये जीवचेतन के सबन्ध से आवरण का अभिभव कहै तो इस पक्ष मे जीवचेतन का घटादिको से सदा सबन्ध है। क्यों ? जीवचेतन की उपाधि मूलाज्ञान है, उसमे आरोपित प्रतिबिम्बत्व विशिष्ट चेतन को जीव कहते है। मूलाज्ञान का घटादिको से सदा सबन्ध होने से जीवचेतन का सदा सबन्ध है। इससे घटादिको के आवरण का सदा अभिभव होना चाहिये, और सदा अभिभव नही होता है। इसलिये वृत्ति से आवरण का अभिभव कहै तो परोक्षवृत्ति से भी आवरण का अभिभव होना चाहिये।

इस पक्ष मे अपरोक्ष वृत्ति से वा अपरोक्ष वृत्ति विशिष्ट चेतन से आवरण के अभिभव का सभव

अपरोक्ष वृत्ति से आवरण का अभिभव होता है अथवा अपरोक्ष वृत्ति विशिष्ट चेतन से आवरण का अभिभव होता है। जैसे खद्योत के प्रकाश से महाधकार के एक देश का नाश होता है, खद्योत के अभाव काल मे महाधकार का फिर विस्तार होता है, वैसे अपरोक्षवृत्ति सबन्ध से अथवा अपरोक्षवृत्ति विशिष्ट चेतन के सबन्ध से मूलाज्ञान के अश का

नाश होता है, वृत्ति की अभावदशा मे अज्ञान का प्रसरण होता है। यह साप्रदाय के अनुसारी मत है।

उक्त पक्ष की रीति से आवरण नाशरूप वृत्ति के प्रयोजन का कथन

उससे अज्ञान के अश का नाश अपरोक्षवृत्ति का प्रयोजन है, और असत्त्वापादक अज्ञानाश का नाश परोक्षापरोक्षवृत्ति का प्रयोजन है। इस रीति से आवरण नाशवृत्ति का प्रयोजन है, यह पक्ष कहा।

द्वितीय पक्ष की रीति से जीवचेतन से विषय के सम्बन्धरूप वृत्ति के प्रयोजन का कथन

जीवचेतन से विषय का सम्बन्ध वृत्ति का प्रयोजन है, यह दूसरा पक्ष है। इसको कहते है —समष्टि अज्ञान मे प्रतिबिम्ब जीव है। इस पक्ष मे जीवचेतन का घटादिको से सर्वदा सबन्ध है, परन्तु जीव के सामान्य सबन्ध से विषय का प्रकाश नही होता। इससे विषय के प्रकाश का हेतु जीव से विजातीय (विलक्षण) सबन्ध वृत्ति का प्रयोजन है। जीवचेतन का विषय से सबन्ध सर्वदा है, परन्तु वह सबन्ध विषय प्रकाश का हेतु नही है। यदि वृत्तिविशिष्ट जीव का विषय से सबन्ध हो, तो विषय का प्रकाश होता है। इससे प्रकाश हेतु सबन्ध वृत्ति के अधीन है। सो प्रकाश हेतु जीव का विषय से सबन्ध अभिव्यजक अभिव्यग्य-भाव है। विषय मे अभिव्यजकता है, जीवचेतन मे अभिव्यग्यता है। जिसमे प्रतिबिम्ब हो, उसको अभिव्यजक कहते है। जिसका प्रतिबिम्ब हो, उसको अभिव्यग्य कहते है। कैसे ? जैसे दर्पण मे मुख का प्रति-बिम्ब होता है, वहा दर्पण अभिव्यजक है, मुख अभिव्यग्य हैं वैसे घटा-दिक विषयों में चेतन का प्रतिबिम्ब होता है। इससे घटादिक अभिव्यजक है, चेतन अभिव्यग्य है। इस रीति से प्रतिबिम्ब ग्रहणरूप व्यजकता घटादिक विषय मे है। प्रतिबिम्ब समर्पणरूप व्यग्यता चेतन मे है, घटादिको मे स्वभाव से प्रतिबिम्ब ग्रहण की सामर्थ्य नही है, किन्तु स्त्राकारवृत्ति सबन्ध से चेतन प्रतिबिम्ब के ग्रहण योग्य होता है। जैसे दर्पण सबन्ध बिना कुड्य (भीति) में सूर्य का प्रतिबिम्ब नही होता और दर्पण सबन्ध से

होता है। इससे सूर्य प्रतिबिम्ब ग्रहण की योग्यता कुडच मे दर्पण सबन्ध से होती है। जैसे दृष्टात मे सूर्य प्रभा का कुडच से सर्वदा सामान्य सबन्ध है, और अभिव्यजक अभिव्यग्य भाव सबन्ध दर्पणाधीन है, वैसे जीव चेतन का विषय से सर्वदा सम्बन्ध है, परन्तु वृत्ति सम्बन्ध से घटादिको मे जीवचेतन के प्रतिबिम्ब ग्रहण की योग्यता होती है। इससे जीवचेतन का घटादिको से अभिव्यजक अभिव्यग्यभाव सबन्ध वृत्ति के अधीन है। इस रीति से जीवचेतन से घटादिको के विलक्षण सबन्ध की हेतु वृत्ति है। इससे विषय सबन्धार्थ वृत्ति है, उस सबन्ध से विषय का प्रकाश होता है। जीवचेतन विभु है। इस पक्ष मे विलक्षण सबन्ध की जनक वृत्ति है और —

अन्त करण विशिष्ट चेतन जीव है, इस पक्ष मे विषय सबन्धार्थ वृति की अपेक्षा

अन्त.करण विशिष्ट चेतन जीव है। इस पक्ष मे वृत्ति बिना जीव चेतन से घटादिको का सर्वथा सबन्ध नही है। इन्द्रिय विषय के सबन्ध से अन्त करण की वृत्ति घटादिदेश मे जाय, तब जीवचेतन का घटादिको से सबन्ध होता है। वृत्ति के बाह्य गमन बिना अतर जीव का बाह्य घटादिको से सबन्ध नही होता। इस रीति से अन्त करणावच्छिन्न परिच्छिन्न जीव है। इस पक्ष मे विषय सबन्धार्थ वृत्ति है। यह अर्थ स्पष्ट ही है।

उक्त दोनो पक्षो की विलक्षणता

इस रीति से अज्ञानोपाधिक जीव है। इस पक्ष मे जीवचेतन का विषय स सबन्ध तो सदा है, किन्तु अभिव्यजक अभिव्यग्यभाव सबन्ध सदा नही है, उसके अर्थ वृत्ति है। और अन्त.करणावच्छिन्न जीव है। इस पक्ष मे जीव का विषय से सर्वथा सबन्ध नही है, उसके अर्थ वृत्ति है। इस रीति से मतभेद से वृत्ति के फल सबन्ध में विलक्षणता ग्र थकारो ने कही है। परन्तु .—

मतभेद से सबन्ध मे विलक्षणता के कथन की असगतता

मतभेद से सबन्ध मे विलक्षणता का कथन असगत है। क्यो ?

अन्त करण जीव की उपाधि है। इस पक्ष मे भी अज्ञान तो जीवभाव की उपाधि अवश्य इष्ट है, अन्यथा प्राज्ञरूप जीव का अभाव होता है। इससे जीवभाव की उपाधि सर्व के मत मे अज्ञान है। कर्तृत्वादिक अभिमान अन्त करण विशिष्ट मे होता है, इससे अन्त करणावच्छिन्न को जीव कहते है। और अज्ञान मे प्रतिबिम्ब जीव है, इस पक्ष मे भी अज्ञान विशिष्ट प्रमाता नही है, किन्तु अन्त करण विशिष्ट ही प्रमाता है। और जीवचेतन का तो विषय से सबन्ध सर्वदा है, परन्तु प्रमातृ चेतन का विषय से सबन्ध नही है। और प्रमातृ चेतन के सबन्ध से ही विषय का प्रकाश होता है। जीव चेतन के सबन्ध से विषय का प्रकाश नही होता। जैसे ब्रह्मचेतन, ईश्वरचेतन अज्ञान के साधक है, वैसे अविद्योपाधिक जीवचेतन है, उसके सबन्ध से विषय मे ज्ञाततादिक व्यवहार नही होता। और जीवचेतन को ज्ञाततादिक का अभिमान भी नही होता। प्रमाता के सबन्ध से ही विषय मे ज्ञाततादिक व्यवहार होता है। और व्यवहार का अभिमान भी प्रमाता को होता है। सो प्रमाता विषय से भिन्न देश मे है। इससे प्रमाता का विषय से सदा सबन्ध नही है। प्रमाता से विषय का सबन्ध वृत्ति के अधीन है। इस रीति से जीव की उपाधि को व्यापक मानें वा परिच्छिन्न मानें तो दोनो पक्षो मे प्रमाता से विषय सबन्ध वृत्ति के अधीन समान है। उसमे विलक्षणता कथन केवल बुद्धि प्रवीणता ख्यापान (प्रकट) के अर्थ है। और प्रमाता का विषय से सम्बन्ध नही है। इसलिये अप्रवीणता का साधक है।

चार चेतन के कथन पूर्वक उक्त अर्थ की सिद्धि

प्रमातृचेतन, प्रमाणचेतन, विषयचेतन, और फलचेतन भेद से चार प्रकार का चेतन कहा है। यदि प्रमाता का विषय से सबन्ध हो तो प्रमातृचेतन से विषय चेतन का विभाग कथन असगत होगा। अन्त करण विशिष्टचेतन प्रमातृचेतन है। वृत्त्युवच्छिन्नचेतन प्रमाणचेतन है। घटाद्यवच्छिन्नचेतन विषयचेतन है और वृत्ति सम्बन्ध से घटादिको मे चेतन का प्रतिबिम्ब

होता है, उसको फलचेतन कहते है । और कोई ऐसे कहै है, घटावच्छिन्न चेतन अज्ञात हो तब उसको विषयचेतन कहते है । और ज्ञात हो तब घटावच्छिन्नचेतन को ही फलचेतन कहते है, उसी को प्रमेयचेतन कहते है, परन्तु विद्यारण्यस्वामी ने और वार्तिककार ने प्रमाण वृत्ति उत्तरकाल मे जो घटादिको मे चेतन का आभास होता है उसी को फल चेतन कहा है । इस रीति से प्रमातृचेतन परिच्छिन्न है, और उसके सबन्ध से ही विषय का प्रकाश होता है । जीवचेतन को विभु माने तो भी प्रमाता से विषय का सबन्ध वृत्ति कृत है । इससे दोनो मतो मे विषय सबन्ध में विलक्षणता नही है ।

जाग्रत मे होने वाली वृत्ति के अनुवाद पूर्वक स्वप्नावस्था का लक्षण

उक्त प्रयोजन वाली इन्द्रियजन्य अन्त करण की वृत्ति जाग्रत् अवस्था मे होती है । इन्द्रिय से अजन्य जो विषयगोचर अन्त करण की अपरोक्ष वृत्ति उसकी अवस्था को स्वप्नावस्था कहते है । स्वप्न मे ज्ञेय और ज्ञान अन्त करण का परिणाम है ।

सुषुप्ति अवस्था का लक्षण

सुखगोचर, अविद्यागोचर अज्ञान का साक्षात्परिणाम रूप वृत्ति की अवस्था को सुषुप्तिअवस्था कहते है । सुषुप्ति मे अविद्या की वृत्ति सुखगोचर और अज्ञानगोचर होती है । यद्यपि अविद्यागोचर वृत्ति जाग्रत् मे "अह न जानामि" इस रीति से होती है, तथापि वह वृत्ति अन्त.करण की है, अविद्या की नही है । इससे सुषुप्ति लक्षण की जाग्रत् मे अतिव्याप्ति नही है, जैसे प्रातिभासिक रजताकार वृत्ति जाग्रत् मे अविद्या का परिणाम है, सो अविद्यागोचर नही है । वैसे सुखाकार वृत्ति जाग्रत् मे है सो अविद्या का परिणाम नही है । इस रीति से सुखगोचर और अविद्यागोचर अविद्या वृत्ति की अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते है ।

सुषुप्ति सबन्धी अर्थ का कथन

सुषुप्ति में अविद्या की वृत्ति मे आरूढ साक्षी अविद्या को प्रकाशता

है, और स्वरूप सुख को प्रकाशता है। सुषुप्ति अवस्था मे सुखाकार अविद्याकार परिणाम जिस अज्ञानाश का हुआ है, उस अज्ञानाश मे उस पुरुष का अन्त करण लीन है। जाग्रत् काल मे उस अज्ञानाश का परिणाम अन्त करण होता है। इससे अज्ञान की वृत्ति से अनुभूत सुख की जाग्रत् मे स्मृति होती है। उपादान का और कार्य का भेद नही होने से अनुभव स्मरण को व्यधिकरणता नही है। इस रीति से तीन अवस्था है। मरण का और मूर्छा का भी कोई सुषुप्ति मे अत-र्भाव कहते है, कोई पृथक् कहते है।

उक्त अवस्था भेद को वृत्ति की अधीनता

यह अवस्था भेदवृत्ति के अधीन है। जाग्रत् स्वप्न मे तो अन्त-करण की वृत्ति है। जाग्रत् मे इन्द्रियजन्य है, स्वप्न मे इन्द्रियअजन्य है, सुषुप्ति मे अज्ञान की वृत्ति है।

वृत्ति के प्रयोजन का कथन

अवस्था का अभिमान ही बध है। भ्रम ज्ञान को अभिमान कहते है, सो भी वृत्ति विशेष है। इससे वृत्तिकृत बध ही ससार है। और वेदात वाक्य से "अह ब्रह्मास्मि" ऐसी अन्त करण की वृत्ति होती है, उससे प्रपच सहित अज्ञान की निवृत्ति होती है, सोई मोक्ष है। इससे वृत्ति का ससार दशा मे तो व्यवहार सिद्धि प्रयोजन है और परम प्रयोजन मोक्ष है।

कल्पित की निवृत्ति सबन्धी विचार भी कहिये ?

कल्पित की निवृत्ति को अधिष्ठानरूपता पूर्वक मोक्ष मे द्वैतापत्ति दोष के कथन की अयुक्तता

कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान रूप होती है। इससे ससार निवृत्ति मोक्ष है। इस कथन से ब्रह्मरूप मोक्ष है, यह सिद्ध होता है। इससे कल्पित की निवृत्ति को कल्पित का ध्वस मानकर मोक्ष मे द्वैतापत्ति दोष का कथन अज्ञान प्रयुक्त है।

न्यायमकरदकारोक्त अधिष्ठान रूप कल्पित की निवृत्ति पक्ष मे दूषण

न्यायमकरदकार ने कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान रूप नही मानी है और द्वैतापत्ति का भी समाधान कहा है, परन्तु उनका लेख अनुभव के अनुसार नही है। क्यो ? यह उनका लेख है —कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान से भिन्न है। यदि अधिष्ठानरूप कहै तो अधिष्ठान और कल्पित निवृत्ति एक ही पदार्थ है, दो पदार्थ नही, यह सिद्ध होता है। वहा यह पूछते है —अधिष्ठान मे अतर्भाव मानकर पृथक् अधिष्ठान का लोप इष्ट है ? अन्य प्रकार सभव नही है, एक मे अपर का अतर्भाव ही कहना होगा। यदि प्रथम पक्ष कहै तो सभव नही है। क्यो ? ससार का अधिष्ठान ब्रह्म है, और ससार की निवृत्ति ब्रह्म से भिन्न नही हो तो ससार निवृत्ति के साधन मे प्रवृत्ति नही होनी चाहिये। क्यों ? ससार निवृत्ति ब्रह्म से भिन्न तो है नही और ब्रह्म सिद्ध है। व्यापार साध्य के अर्थ प्रवृत्ति होती है। स्वभावसिद्ध ब्रह्म के अर्थ ज्ञान साधन श्रवणादिको मे प्रवृत्ति सभव नही है। इससे ससार निवृत्ति का नित्यसिद्ध ब्रह्म मे अतर्भाव सभव नही है। और यदि निवृत्ति मे ब्रह्म का अतर्भाव कहै तो भी ससार भ्रम का असभव होने से उसकी निवृत्ति जनक ज्ञान के साधन श्रवणादिको मे प्रवृत्ति नही होनी चाहिये।

क्यो ? ससार की निवृत्ति तो ज्ञान से उत्तरकाल मे होती है। ज्ञान से प्रथम कल्पित की निवृत्ति नही होती, यह अनुभव सिद्ध है। और ससार निवृत्ति से पृथक ब्रह्म है नही। इससे ज्ञान से पूर्व ब्रह्म रूप अधिष्ठान के अभाव से ससार भ्रम सभव नही है। इससे अनुभव सिद्ध ससार का अभाव तो कहा नही जाता, सत्य ही कहना होगा। उसकी ज्ञान से निवृत्ति सभव नही है। इससे ससार निवृत्ति मे ब्रह्म का अतर्भाव सभव नही है, और ससार निवृत्ति ज्ञान से पूर्वकाल मे नही है। ज्ञान से उत्तरकाल मे होने से सादि है और ब्रह्म अनादि है। सादि पदार्थ मे अनादि पदार्थ का अतर्भाव कथन अयुक्त है। इस रीति से दोनो का परस्पर अतर्भाव सभव नही है। इससे कल्पित निवृत्ति अधिष्ठानरूप है, यह पक्ष सभव नही है। और यदि ऐसे कहै, परस्पर अतर्भाव किसीका भी नही कहते है तथापि कल्पित निवृत्ति अधिष्ठान से पृथक् नही है। अधिष्ठान की अवस्था विशेष कल्पित निवृत्ति है।

अज्ञात और ज्ञात दो अवस्था अधिष्ठान की होती है। ज्ञान से पूर्व अज्ञात अवस्था है और ज्ञान से उत्तरकाल मे ज्ञात अवस्था होती है। ज्ञात अधिष्ठान रूप कल्पित की निवृत्ति ,ज्ञात अधिष्ठान सादि है। इससे ज्ञान साधन श्रवणादिक निष्फल नही है। और ससार निवृत्ति ब्रह्म से पृथक नही है। इस रीति से ज्ञात अधिष्ठान रूप ही कल्पित निवृत्ति को मानै सो भी सभव नही है। क्यो ? ज्ञान के विषय को ज्ञात कहते है। अज्ञान के विषय को अज्ञात कहते है। अज्ञानकृत आवरण को ही अज्ञान की विषयता कहते है। जब ज्ञान से अज्ञान का अभाव हो, तब अज्ञान व्यवहार नही होता, वैसे विदेहदशा मे देहादिको के अभाव से ज्ञान का अभाव होने से ज्ञातता का अभाव होता है। इससे विदेहदशा मे अज्ञात अवस्था के समान ज्ञात अवस्था का भी अभाव होने से ज्ञात अधिष्ठान रूप कल्पित निवृत्ति का मोक्ष मे अभाव होना चाहिये। यदि मोक्ष मे अभाव मानें तो कल्पित निवृत्ति को अनन्तता के अभाव से औषधजन्य रोग निवृत्ति के समान परम पुरुषार्थता का अभाव होगा। इससे

न्यायमकरदकार की रीति से अधिष्ठान से भिन्न कल्पित की निवृत्ति का निरूपण

कल्पित निवृत्ति अधिष्ठान रूप नही है, उससे भिन्न है। और अधिष्ठान भिन्न भी कल्पित की निवृत्ति द्वैत की सपादक नही है। क्यो ? अधिष्ठान से भिन्न सत्य हो, तो द्वैत हो, सत्य से विलक्षण पदार्थ द्वैत का हेतु हो तो सिद्धान्त मे सदा अद्वैत है, इस अर्थ का बाध होगा। इससे सत्यपदार्थ का भेद ही द्वैत का साधक है, कल्पित निवृत्ति अधिष्ठान से भिन्न है और सत्य नही है, इससे द्वैत की सिद्धि नही होती है।

न्यायमकरदकार की रीति से कल्पित निवृत्ति के स्वरूप निर्णय वास्ते अनेक विकल्पो का लेख

कल्पित निवृत्ति के स्वरूप निर्णय के लिये इस रीति से विकल्प लिखे है.—अधिष्ठान से भिन्न कल्पित की निवृत्ति सत्रूप है वा

असत्‌रूप है वा सदसत् रूप है वा सदसत् विलक्षण है ? यदि सत्‌रूप कहै तो व्यावहारिक सत् है वा पारमार्थिक सत् है ? यदि व्यावहारिक सत् कहै तो ब्रह्मज्ञान से उत्तर व्यावहारिक सत् का सभव नही होने से ब्रह्मज्ञान से उत्तर ससार निवृत्ति का अभाव होना चाहिये । क्यो ? ब्रह्मज्ञान से प्रथम जिसका बाध नही हो, और ब्रह्मज्ञान से उत्तर जिसकी सत्ता स्फूर्ति नही हो, उसको व्यावहारिक सत् कहते है । इससे कल्पित निवृत्ति को व्यावहारिक सत् मानें तो ज्ञान से उत्तर उसका सभव नही होता । इससे अधिष्ठान से भिन्न कल्पित निवृत्ति को पारमार्थिक सत्‌रूप कहै तो द्वैत होगा । इस रीति से अधिष्ठान से भिन्न कल्पित निवृत्ति सत्‌रूप नही है । यदि अधिष्ठान से भिन्न कल्पित निवृत्ति को असत् कहै तो असत् शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय है अथवा तुच्छ है ? यदि अनिर्वचनीय कहै तो उसके दोष आगे चतुर्थ विकल्प के खडन मे कहैगे । तुच्छ कहै तो ससार निवृत्ति को पुरुषार्थता नही होगी । इससे द्वितीय विकल्प सभव नही है । और अधिष्ठान से भिन्न को सदसत्‌रूप कहै तो एक पदार्थ को सत् स्वरूपता और असत् स्वरूपता विरोधी होने से सभव नही है । और सदसत्‌रूप मानें तो पूर्व उक्त सत् पक्ष का दोष और असत् पक्ष का दोष होगा । क्यो ? कल्पित निवृत्ति मे सत् अश है, इससे द्वैत होगा और असत् अश से अपुरुषार्थता होगी । और सदसत् शब्द का ऐसा अर्थ करें-सत् अर्थात् व्यावहारिक सत्ता का आश्रय है और असत् अर्थात् पारमार्थिक सत् से भिन्न है तो इससे सत् असत् का विरोध नही है । क्यो ? घटादिक व्यावहारिक सत्ता के आश्रय और पारमार्थिक सत् से भिन्न प्रसिद्ध है । इससे उक्त विरोध नही है । और पारमार्थिक सत्ता का निषेध करने से द्वैत नही है । व्यावहारिक सत्ता है, तुच्छ नही है । इससे अपुरुषार्थ भी नही है । इस रीति से अधिष्ठान से भिन्न कल्पित निवृत्ति पारमार्थिक सत्ताशून्य व्यावहारिक सत्तावाली है । इस अभिप्राय से सत् असत्‌रूप कहै तो प्रथम विकल्प मे व्यावहारिक सत् माने तो जो दोष कहा "ज्ञान से उत्तर व्यावहारिक पदार्थ का असंभव होता है" उस दोष से यह अर्थ भी संभव नही है । इससे

तृतीय विकल्प भी सभव नही है। और अधिष्ठान से भिन्न कल्पित निवृत्ति सदसत् विलक्षण है। यह चतुर्थ पक्ष कहै तो सद्विलक्षण कहने से द्वैत नही होता और असत् विलक्षण कहने से अपुरुषार्थता भी नही होती, तथापि सभव नही है। क्यो ? सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय होता है। इससे कल्पित की निवृत्ति अनिर्वचनीय है, यह सिद्ध होगा।

और माया अथवा उसका कार्य अनिर्वचनीय होता है इससे अज्ञान सहित ससार की निवृत्ति भी अनिर्वचनीय हो तो मायारूप वा माया-का कार्यरूप अज्ञान सहित प्रपच की निवृत्ति माननी होगी। माया रूप अथवा माया का कार्यरूप उक्त निवृत्ति को कहै तो घटरूप घट की निवृत्ति है। इस कथन के समान उक्त कथन हास्य का आस्पद है। और ब्रह्मज्ञान से अज्ञान सहित प्रपच की निवृत्ति होती है, उससे अनन्तर पुरुषार्थ साधन सामग्री कोई नही रहती, यह सिद्धान्त है। ब्रह्मज्ञान का फल कल्पित की निवृत्ति मायारूप अथवा माया का कार्यरूप हो तो उसका निवर्तक कोई भी नही रहा। इससे मोक्ष दशा मे भी माया वा उसके कार्य का नित्य सबन्ध रहने से निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्तिरूप मोक्ष का अभाव होगा। इससे चतुर्थ पक्ष भी सभव नही है। इस रीति से अज्ञान तत्कार्य की निवृत्ति ब्रह्म से भिन्न है, सत्‌रूप नही है, इससे द्वैत नही है। असत् नही है, इससे अपुरुषार्थता नही है। सदसद्रूप नही है, इससे उभय पक्ष उक्त दोष नही है। अनिर्वचनीय नही है, इससे मोक्ष दशा मे अज्ञान तत्कार्य का शेष नही है। इससे उक्त चतुर्विध प्रकार से विलक्षण अज्ञान तत्कार्य की निवृत्ति ब्रह्म से भिन्न है।

न्यायमकरदकार की रीति से उक्त चार प्रकार से विलक्षण और ब्रह्म से भिन्न पचम प्रकार रूप कल्पित की निवृत्ति का स्वरूप

पचम प्रकार को कहते है :—जैसे सद्‌सत् से विलक्षण पदार्थ की अद्वैतमत मे अनिर्वचनीय परिभाषा है, वैसे सत्‌रूप, असत्‌रूप,

सदसत् रूप, सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय, इन चार प्रकार से विलक्षण प्रकार वाली अज्ञान तत्कार्य की निवृत्ति है। चतुर्विध प्रकार से विलक्षण प्रकार का नाम पचम प्रकार है। इससे अज्ञान तत्कार्य की निवृत्ति ब्रह्म से भिन्न है, उसकी निवृत्ति मे पचम प्रकार है, यह न्यायमकरद मे लिखा है —

न्यायमकरदकार के मत की असमीचीनता

सो समीचीन नही है। क्यो ? व्यावहारिक सत् पदार्थ तो लोक मे प्रसिद्ध है और अनिर्वचनीय पदार्थ भी इन्द्रजालकृत लोक मे प्रसिद्ध है, वैसे पारमार्थिक सत् पदार्थ शास्त्र मे ब्रह्म प्रसिद्ध है। और विद्वानो के अनुभव सिद्ध ब्रह्मात्मा है। इन सर्व से विलक्षण कोई वस्तु लोक-शास्त्र मे प्रसिद्ध नही है। अत्यन्त अप्रसिद्धरूप अज्ञान सहित ससार की निवृत्ति माने तो पुरुषार्थता का अभाव होगा। क्यो ? पुरुष की अभिलाषा के विषय को पुरुषार्थ कहते है। अत्यन्त अप्रसिद्ध मे पुरुष की अभिलाषा नही होती, किन्तु प्रसिद्ध मे अभिलाषा होती है। इससे प्रसिद्ध पदार्थो से विलक्षण कल्पित निवृत्ति नही है। यद्यपि कल्पित निवृत्ति को अधिष्ठान रूप मानें तो भी ससार का अधिष्ठान ब्रह्म प्रसिद्ध नही है, तथापि पूर्व अनुभूत मे अभिलाषा होती है, यह नियम नही है, किन्तु अनुभूत के सजातीय मे अभिलाषा होती है। जैसे भयरूप अनर्थ के हेतु सर्प की निवृत्ति अधिष्ठान रज्जुरूप है, वैसे जन्म मरणादि रूप अनर्थ हेतु ससार की निवृत्ति अधिष्ठान ब्रह्म रूप है। इस रीति से अधिष्ठानत्व धर्म से ब्रह्म रूप ससार की निवृत्ति अनुभूत के सजातीय होने से पुरुष की अभिलाषा सभव है। और पचम प्रकार वादी के मत मे अनुभूत सजातीय नही होने से प्रवृत्ति सभव नही है। और अधिष्ठान से भिन्न मानें तो भाष्यकार के वचन से विरोध होगा। भाष्यकार ने कल्पित निवृत्ति अधिष्ठानरूप ही कही है।

न्यायमकरदकारोक्त ज्ञात अधिष्ठानरूप कल्पित की निवृत्ति पक्ष मे दोष का उद्धार और प्रसग मे विशेषण उपाधि और उपलक्षण का लक्षण

ज्ञात अधिष्ठान रूप कल्पित की निवृत्ति मानने मे जो दोष कहा है —मोक्षदशा मे ज्ञातत्व के अभाव से कल्पित निवृत्ति का अभाव होने से कल्पित का उज्जीवन होगा। उसका यह समाधान है — ज्ञातत्व विशिष्ट और ज्ञातत्व उपहित ब्रह्म तो मोक्ष काल मे नही है। क्यो ? ज्ञातत्व विशेषण वाले को ज्ञातत्व विशिष्ट कहते है। और ज्ञातत्व उपाधि वाले को ज्ञातत्व उपहित कहते है। कार्य मे सबन्धी जो वर्तमान व्यावर्तक उसको विशेषण कहते है। कैसे ? जैसे नीलरूप वाला घट उत्पन्न होता है, इस स्थान मे नीलरूप विशेषण है। क्यो ? उत्पत्ति रूप कार्य से सबन्धी है, और घट मे वर्तमान हुआ पीत घट से व्यावर्तक है। और कार्य मे असबन्धी वर्तमान व्यावर्तक को उपाधि कहते है। कैसे ? जैसे भेरी उपहित आकाश मे शब्द है, इस स्थान मे भेरी उपाधि है। क्यो ? शब्द की अधिकरणता मे भेरी का सबन्ध नही है और वर्तमान भेरी बाह्याकाश से व्यावर्तक है। और कार्य मे असबन्धी व्यावर्तक हो उसको उपलक्षण कहते है। उपलक्षण मे वर्तमानता की अपेक्षा नही है। अतीत भी उपलक्षण होता है। और उपाधि तो विशेष्य के सर्वदेश मे होती है। उपलक्षण एक देश मे होता है। कैसे ? जैसे "काकवद् गृह गच्छ" ऐसा कहे, तब जिस गृह मे काक सयोग देखा है, उस गृह से काक चला जाय तो भी गमन करता है। यहा गृह का काक उपलक्षण है। क्यों ? गमनरूप कार्य मे असम्बन्धी है और गृह के एक देश मे है, वैसे वर्तमान और अतीत काक अन्य गृह से व्यावर्तक है। इस रीति से विशेषण और उपाधि तो वर्तमान होते है, इससे विशेष्य के सर्वदेश मे और सर्वकाल मे होते है। विशेष्य के जिस देश मे जिस काल मे नही हो उस देश मे उस काल मे विशिष्ट व्यवहार नही होता है और उपहित व्यवहार भी नही होता है। किन्तु जितने काल मे और जितने देश मे व्यावर्तक हो उतने देश और काल मे विशिष्ट व्यवहार और उपहित व्यवहार होता है। सो मोक्ष दशा मे ज्ञातत्व का सबन्ध नही है, किन्तु पूर्व ज्ञातत्व हुआ है। इससे ज्ञातत्व विशिष्ट और ज्ञातत्व उपहित तो अधिष्ठान नही है। और व्यावर्तक

मात्र को उपलक्षण कहते है, वर्तमान मे आग्रह नही है। इससे विशेष्य के एक देश मे सबन्ध होने पर और एक काल मे सबन्ध होने पर भी व्यावर्तक को उपलक्षण कहते है। इतर पदार्थ से भेद ज्ञान को व्यावृत्ति कहते है। विशेष, उपाधि, उपलक्षण, ये तीनो इतर से व्यावृत्ति करते है। उनमे विशेषण तो यावत् देशकाल मे आप हो, उस देश कालस्थ स्वविशिष्ट विशेष्य की व्यावृत्ति करता है।

जिसकी व्यावृत्ति विशेषण से हो, उसको विशिष्ट कहते है। और जिस देशकाल मे व्यावर्तक हो, उस देशकालस्थ व्यावर्तनीय की व्यावृत्ति करे, आप बहिर्भूत रहै उसको उपाधि कहते है। जिसकी व्यावृत्ति उपाधि से हो, उसको उपहित कहते है। और व्यावर्तनीय के एक देश मे कदाचित् होकर व्यावृत्ति करे तथा उपाधि के समान आप बहिर्भूत रहै उसको उपलक्षण कहते है। जिसकी व्यावृत्ति उपलक्षण से हो, उसको उपलक्षित कहते है। इससे यह निष्कर्ष हुआ —व्यावर्तक व्यावर्तनीय इन दोनो मे विशिष्ट व्यवहार होता है। जितने देश मे व्यावर्तक हो, उतने देश मे स्थित व्यावर्तनीय मात्र मे उपहित व्यवहार होता है, परन्तु व्यावर्तक सद्भावकाल मे व्यावर्तक को त्यागकर उपहित व्यवहार होता है, और व्यावर्तनीय के एक देश मे कदाचित् व्यावर्तक हो, वहा व्यावर्तनीय मात्र में उपलक्षित व्यवहार होता है। यहा व्यावर्तक सद्भाव की अपेक्षा नही है। इस रीति से विशेषणादिको के भेद से अन्त.करण विशिष्ट प्रमाता है, अन्त.करणोपहित जीव साक्षी है और अन्त करणोपलक्षित ईश्वर साक्षी है। यहा यह प्रसग है—मोक्षदशा मे ज्ञातत्व के अभाव से ज्ञातत्व विशिष्ट और ज्ञातत्वोपहित तो अधिष्ठान सभव नही है, तथापि ज्ञातत्वोपलक्षित अधिष्ठान मोक्षदशा मे भी है और —

अधिष्ठान रूप निवृत्ति के पक्ष मे पचम प्रकार वादी की शका

यदि पचम प्रकार वादी यह शका करे .—जिसमे कदाचित् ज्ञातत्व हो, उसमे ज्ञातत्व के अभाव काल मे भी ज्ञातत्वोपलक्षित माने तो ज्ञातत्व से पूर्वकाल मे भी भावी ज्ञातत्व को मानकर ज्ञातत्वोपलक्षित

कहना चाहिये। यदि पूर्वकाल मे ज्ञातत्वोपलक्षित मानें तो ससारकाल मे भी ज्ञातत्वोपलक्षित अधिष्ठानरूप ससार निवृत्ति के होने से अनायास से पुरुषार्थ प्राप्ति होगी। इससे ज्ञातत्व के अभाव काल मे ज्ञातत्वोपलक्षित अधिष्ठानरूप कल्पित निवृत्ति कहना योग्य नही है।

उक्त शका का समाधान

उसका यह समाधान है —व्यावर्तक सबन्ध से उत्तरकाल मे उपलक्षित व्यवहार होता है, पूर्वकाल में नही होता है। कैसे ? जैसे काक सबन्ध से उत्तरकाल मे काकोपलक्षित व्यवहार होता है, वैसे ज्ञातत्व की उत्पत्ति से पूर्व ससार दशा मे ज्ञातत्वोपलक्षित अधिष्ठान नही है, किन्तु उत्तरकाल मे ज्ञातत्व के असद्भाव काल मे भी ज्ञानत्वोपलक्षित अधिष्ठान है, उसका स्वरूप ही समार निवृत्ति है।

न्यायमकरद से अन्य रीति से अधिष्ठान से भिन्न कल्पित की निवृत्ति का स्वरूप

कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान से भिन्न है, इस पक्ष मे आग्रह हो तो न्यायमकरद ग्र थ मे उक्त रीति से अत्यन्त अप्रसिद्ध पचम प्रकार मानना निष्फल है। क्यो ? अनिर्वचनीय की निवृत्ति अनिर्वचनीय है। निवृत्ति नाम ध्वस का है, उस ध्वस को अनन्त अभाव मानें और अधिष्ठान से भिन्न माने तो मोक्ष दशा मे द्वैत हो, सो ध्वस अनन्त अभावरूप नही है, किन्तु क्षणिक भाव विकार है। यास्क नाम मुनि ने वेद का अग निरुक्त करा है। उसमें जन्म, सत्ता, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, बिनाश, ये षट् भाव विकार कहे है। भाव अर्थात् अनिर्बच-नीय वस्तु उसके विकार अर्थात् अवस्था विशेष है। अनिर्वचनीय की अवस्था विशेष होने से जन्मादिक नाशपर्यन्त अनिर्वचनीय है। जैसे जन्म क्षणिक है। क्यो ? आद्यक्षण सबन्ध को जन्म कहते है। प्रथम क्षण मे "जायते" ऐसा व्यवहार होता है, द्वितीयादि क्षण मे "जात" ऐसा व्यवहार होता है, "जायते" ऐसा व्यवहार नही होता। वैसे मुद्गरादिको से घट का चूर्णादिभाव हो तब एक क्षण मे "घटो नश्यति" ऐसा व्यबहार होता है, द्वितीयादिक्षण मे "नष्टो घट"

ऐसा व्यवहार होता है। "नश्यति" यह व्यवहार नही होता। इससे जन्म नाश क्षणिक है। वर्तमान जन्म घट का है, यह "जायते घट" इस वाक्य से प्रतीत होता है। जैसे घट का वर्तमान नाश है, यह "नश्यति घट" इस वाक्य से प्रतीत होता है और "नष्टो घट" इस वाक्य से घट का अतीत नाश प्रतीत होता है। यदि ध्वसरूप नाश अनन्त हो तो नाश मे अतीतत्व व्यवहार नही होना चाहिये। इससे नाश अनन्त नही है, किन्तु क्षणिक है और भावविकार है। इसलिये अभाव-रूप नही है और वृत्ति-प्रभाकर के अनुपलब्धि निरूपण मे अनन्त अभाव ध्वस कहा है सो न्याय की रीति से कहा है। वेदान्त मत मे एक अत्यन्ताभाव ही अभाव पदार्थ है। इस रीति से कल्पित की निवृत्ति क्षणिक है। जैसे विद्वान् के अनिर्वचनीय शरीरादिक ज्ञान से उत्तर भी प्रारब्ध बल से किचित्काल रहते है, किन्तु द्वैत के साधक नही होते, वैसे ज्ञान से उत्तर काल कल्पित की निवृत्ति एक क्षण रहती है, इससे द्वैत की साधक नही है। एक क्षण से उत्तर कल्पित निवृत्ति का अत्यन्ताभाव है, सो ब्रह्मरूप है।

उक्त मत मे पुरुषार्थ का स्वरूप (दुखाभाव वा केवल सुख)

इस मत मे दु ख निवृत्ति क्षणिकभाव होने से पुरुषार्थ नही है, किन्तु सुख वा दु खाभाव पुरुषार्थ है, अथवा दु खाभाव भी पुरुषार्थ नही है, किन्तु केवल सुख ही पुरुषार्थ है। क्यो ? अनन्त दु ख सहित ग्राम्य धर्मादिको का सुख है, उसमे स्वभाव से ही सकल जीवो की प्रवृत्ति होती है। यदि दु खाभाव भी पुरुष की अभिलाषा का विषय हो तो सर्वथा दु.खग्रसित सुख मे पुरुष की अभिलाषा नही होनी चाहिये। और जहा दु खाभाव मे अभिलाषा होती है, वहा भी स्वरूप सुखानुभव का प्रतिबन्धक दु ख है, उसके अभाव काल मे स्वरूप सुख का प्रादुर्भाव होता है। इससे दु खाभाव मे पुरुष की अभिलाषा स्वरूप सुख के निमित्त है। इस रीति से मुख्य पुरुषार्थ सुख है, दु.खा-भाव नही है। इससे दु.खात्यन्ताभाव को भी ब्रह्मरूप नही माने और अनिर्वचनीय माने तो उसका भी बाध सभव है, परन्तु अनिर्वचनीय

का बाधरूप अभाव तो अधिष्ठानरूप अनुभवसिद्ध है। इससे अज्ञान सहित भावाभावरूप प्रपच और उसकी निवृत्ति सकल अनिर्वचनीय है, उन सर्व का अधिष्ठानरूप बाध होकर निर्द्वैत स्वरूप परमानन्द रूप परम पुरुषार्थ मोक्ष है।

इति श्री वृत्ति प्रयोजन, कल्पित निवृत्ति स्वरूप निरूपण अश १३ समाप्त ।

अथ सृष्टि निरूपण अश १४

भगवन् ! आपने कहा था ब्रह्म के अज्ञान से ससार की उत्पत्ति होती है, वह किस क्रम से होती है यह आप मुझे समझाने की कृपा करे ? जैसे स्वप्न बिना क्रम से ही होता है, वैसे ही मिथ्या जगत् अज्ञान से भासता है। जो मिथ्या ससार की उत्पत्ति का क्रम जानना चाहता है, वह तो मानो मृगतृष्णा के जल से अपना वस्त्र धोकर निचोडने की इच्छा करता है। यद्यपि उपनिषदो मे जगत की उत्पत्ति अनेक प्रकार से कथन की है। छादोग्य मे सत्रूप परमात्मा से अग्नि, जल, पृथ्वी क्रम से उत्पन्न होते है, यह कहा है। और तैत्तिरीय मे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी क्रम से होते है। इस रीति से पाच भूतो की उत्पत्ति कथन की है। और कहो सर्व की परमेश्वर उत्पत्ति करते है। इस रीति से क्रम से बिना ही उत्पत्ति कथन की है। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति वेद मे अनेक प्रकार से कही है। वहा वेद का यह अभिप्राय है —सर्व जगत् मिथ्या है, यदि जगत् कुछ पदार्थ होता तो उसकी उत्पत्ति वेद अनेक प्रकार से नही कहता। अनेक प्रकार से जगत् की उत्पत्ति कही है। इससे जगत की उत्पत्ति प्रतिपादन मे वेद का अभिप्राय नही है, किन्तु अद्वैतब्रह्म का साक्षात्कार कराने के लिये मिथ्या जगत का अध्यारोप किया है। क्यो ? अध्यारोप और अपवाद बिना किसी के भी मत मे ब्रह्म का ज्ञान नही होता। जिस अधिष्ठान मे जिस वस्तु का वास्तव रूप से अभाव होने पर भी उसका आरोप (कथन) किया जाता है उसको अध्यारोप कहते है। कैसे ? जैसे द्वैतरूप प्रपच से रहित ब्रह्म है, उसमे इस द्वैत प्रपच का जो आरोप है, वह अध्यारोप है।

आरोपित वस्तु के निषेध को अपवाद कहते है। कैसे ? जैसे ब्रह्म मे

जगत् प्रपच का निषेध श्रुति करती है, वह अपवाद है। निषेध के निमित्त प्रपच की उत्पत्ति कही है। इसीलिये प्रपच की उत्पत्ति क्रम एक रूप कथन मे वेद ने यत्न नही किया है। जिसको नष्ट करने के लिये रचा जाता है, उसको अधिक सुन्दर बनाने का यत्न नही किया जाता, यह लोक मे भी प्रसिद्ध है।

सूत्रकार भाष्यकार का श्रुति वचनो से जगत् उत्पत्ति कथन का अभिप्राय

सूत्रकार भाष्यकार ने द्वितीय अध्याय मे उत्पत्ति कथन करने वाले श्रुति वचनो का विरोध दूर करके एक रूप से तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार उत्पत्ति मे सब उपनिषदो का अभिप्राय कहा है। सो मद जिज्ञासु के निमित्त कहा है। जो उत्पत्तिवाक्यो के पूर्व कहे अभिप्राय को नही जानता हो, ऐसे मद जिज्ञासु को उपनिषदो मे नाना प्रकार से जगत् उत्पत्ति देखकर आपस मे उपनिषदो का विरोध है, यह भ्राति होगी। उस भ्राति को दूर करने के लिये सब उपनिषदो मे एक रूप से जगत् की उत्पत्ति प्रतिपादन का प्रकार कहा है।

और जिसको ब्रह्म विचार से यथार्थ ज्ञान नही हो, उसके लिये लयचिन्तन के निमित्त भी उत्पत्ति क्रम कहा है। जिस क्रम से उत्पत्ति कही है, उससे विपरीत क्रम से लयचिन्तन करे, उस लयचिन्तन से अद्वैत मे बुद्धि स्थित होती है।

जगत् उत्पत्ति प्रकार

शुद्ध ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति नही होती। क्यो ? शुद्ध ब्रह्म असग है और अक्रिय है। माया विशिष्ट ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति होती है। इसलिये माया और ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादन करते है'—जीव, ईश्वर भेद से रहित जो शुद्ध चेतन है, उसके आश्रित माया रहती है। वह माया अनादि अर्थात् आदिरहित है। आदि नाम उत्पत्ति का है। यदि माया की उत्पत्ति अगीकार करें तो माया के कार्य प्रपंच से तो पुत्र से पिता के समान माया की उत्पत्ति हो नही सकती। चेतन से ही

माया की उत्पत्ति माननी होगी। वहा जीवभाव और ईश्वरभाव तो माया के कार्य है। माया की सिद्धि हुये बिना जीव, ईश्वर का स्वरूप असिद्ध है। इसलिये जीवचेतन वा ईश्वरचेतन से माया की उत्पत्ति कहना असभव है। और शुद्धचेतन असग है, अक्रिय है, निर्विकार है। उससे माया की उत्पत्ति मानें तो विकारी होगा। और शुद्धचेतन से माया की उत्पत्ति हो तो मोक्षदशा मे पुन उत्पन्न होगी। इससे मोक्ष निमित्त साधन निष्फल होगे। इस रीति से माया उत्पत्तिरहित है, इससे अनादि और एक है। सात अर्थात् अतवाली है, ज्ञान से माया का अत होता है और सत् असत् से विलक्षण है। जिसका तीन काल मे बाध नही हो, उसको सत् कहते है, ऐसा चेतन है। माया का ज्ञान से बाध होता है। इससे सत् से विलक्षण है। जिसकी तीन काल मे प्रतीति नही हो, उसे शशश्रृग, वध्यापुत्र, आकाश फूल के समान असत् कहते है। ज्ञान से पूर्व माया और उसका कार्य प्रतीत होता है। जाग्रत मे "मै अज्ञानी हू, ब्रह्म को नही जानता हूँ" इस रीति से माया प्रतीत होती है। और स्वप्न मे जो नाना प्रदार्थ प्रतीत होते है, उनका उपादान कारण माया है। और सुषुप्ति से अनन्तर अज्ञान की इस रीति से स्मृति होती है —"मै ऐसा सुख से सोया कि कुछ भी नही जान सका" सो स्मृति अज्ञात वस्तु की नही होती। इससे सुषुप्ति मे अज्ञान का भान होता है। वह अज्ञान और माया एक ही है, उनका भेद नही है। इस प्रकार से तीनो अवस्था मे माया की प्रतीति होती है। इससे असत् से विलक्षण है। इस रीति से सत् असत् से विलक्षण जो माया, उसका कार्य भी सत् असत् से विलक्षण है।

सत् असत् से विलक्षण को ही अद्वैतमत मे मिथ्या कहते है और अनिर्वचनीय कहते है। इससे माया और उसके कार्य से द्वैत की सिद्धि नहीं होती। क्यो ? जैसे चेतन सत्रूप है, वैसे माया और उसका कार्य सत्रूप हो तो द्वैत हो। सो माया और उसका कार्य सत् असत् से विलक्षण होने से मिथ्या है। मिथ्या पदार्थ से द्वैत नही होता। कैसे ? जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या है, उनसे द्वैत नही होता है।

अज्ञान की स्वाश्रयता और स्वविषयता

जीव, ईश्वर विभाग रहित शुद्ध ब्रह्म के आश्रित माया है। और शुद्ध ब्रह्म को ही आच्छादन करती है। कैसे ? जैसे घर के आश्रित अंधकार घर को ही आच्छादन करता है। इस पक्ष को स्वाश्रय स्वविषय पक्ष कहते है। स्वअर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही आश्रय, और स्व अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही विषय अर्थात् माया से आच्छादित है अर्थात् ढका है। सो अज्ञान एक नही हैं, किन्तु अनन्त है। क्यो ? यदि एक अज्ञान माने तो एक अज्ञान की एक के ज्ञान से निवृत्ति होने से औरो को अज्ञान और उसका कार्य ससार प्रतीत नही होना चाहिये। यदि ऐसे कहे, आज तक किसी को भी ज्ञान नही हुआ, तो आगे भी किसी को ज्ञान नही होगा। इससे श्रवणादिक साधन निष्फल होगे। इससे अनन्त जीवो के आश्रित अज्ञान अनन्त है। अनन्त जीवो के अनन्त अज्ञान कल्पित ईश्वर भी अनन्त है और ब्रह्माड भी अनन्त है। जिस को ज्ञान होता है, उसके अज्ञान, ईश्वर और ब्रह्माड की निवृत्ति होती है। जिसको ज्ञान नही होता, उसको बध रहता है। यह वाचस्पति का मत है, सो समीचीन नही है। क्यो ?

वाचस्पति के मत की असमीचीनता और अज्ञान की एकता

"ईश्वर, जीव के अज्ञान मे कल्पित है" यह कहना श्रुति, स्मृति, पुराण से विरुद्ध है। "ईश्वर अनन्त और जीव जीव मे सृष्टि का भेद" यह भी विरुद्ध है। इससे नाना अज्ञान मानने असगत है। और नाना अज्ञान मानकर ईश्वर और सृष्टि एक मानें तो बनता नही है। क्यो ? जीव, "ईश्वर, प्रपच, अज्ञान कल्पित है। अनन्त अज्ञान मानने से एक एक अज्ञान कल्पित जीव के समान ईश्वर और प्रपच भी अनन्त ही होगे। इसी से वाचस्पति ने अनन्त ईश्वर और अनन्त सृष्टि कही है। इससे "अज्ञान एक है" यह मत समीचीन है।

स्वाश्रय स्वविषय पक्ष का अगीकार

सो एक अज्ञान भी जीव के आश्रित नही है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है। क्यो ? जीव भाव अज्ञान का कार्य है। वह अज्ञान स्वतत्र

कभी भी नही रहता। इससे निराश्रय अज्ञान से तो जीवभाव नही बनता। प्रथम किसी के आश्रित अज्ञान हो, तब अज्ञान का कार्य जीवभाव हो। जीवत्व के समान ईश्वरत्व भी अज्ञान का कार्य है। इससे ईश्वर के आश्रित भी अज्ञान नही है किन्तु शुद्धब्रह्म के आश्रित अनादि अज्ञान है। अनादि जो चेतन और अज्ञान उनका सबन्ध भी अनादि है। अनादि चेतन अनादि अज्ञान के अनादि सबन्ध से जीव भाव, ईश्वर भाव भी अनादि है, परन्तु जीवभाव और ईश्वरभाव अज्ञान के अधीन है, इससे अज्ञान के कार्य कहे जाते है। यद्यपि "मै अज्ञानी हूँ" इस रीति से जीव के आश्रित अज्ञान प्रतीत होता है, तथापि शुद्धब्रह्म के आश्रित जो अज्ञान, उसका जीव को "मै अज्ञानी हूँ" यह अभिमान होता है। और जीव अज्ञान का कार्य है। इससे अज्ञान का अधिष्ठानरूप आश्रय जीव नही बन सकता, किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान का अधिष्ठानरूप आश्रय है। शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान के आश्रित जो अज्ञान, सो उस ब्रह्म को ही आच्छादन करता है। उससे अनन्तर "मै अज्ञानी हूँ" इस रीति से अज्ञान का अभिमानीरूप आश्रय जीव होता है। इस प्रकार से स्वाश्रय स्वविषय अज्ञान है।

एक अज्ञान पक्ष मे बध मोक्ष की व्यवस्था। सर्व प्रक्रिया की श्रेष्ठतापूर्वक माया का नाम भेद से स्वरूप

सो अज्ञान यद्यपि एक है, और ज्ञान से निवृत्त होता है। परन्तु जिस अन्त करण मे अज्ञान हो, उस अन्त करण अवच्छिन्न चेतन मे स्थित जो अज्ञान का अश उसकी निवृत्ति ज्ञान से होती है। सोई मुक्त होता है। जिस अन्त करण मे ज्ञान नही हो, वहा अज्ञान का अश रहता है और बध रहता है। इस रीति से एक अज्ञान पक्ष मे बध मोक्ष व्यवहार बनता है। और किसी को वाचस्पति की रीति से नाना अज्ञानवाद ही बुद्धि मे प्रवेश हो, तो वह भी अद्वैतज्ञान का उपाय है। उसके खडन मे कोई आग्रह नही है। जिस रीति से जिज्ञासु को अद्वैत बोध हो, वैसे ही बुद्धि की स्थिति करे। शुद्धब्रह्म के आश्रित जो माया, उसको अविद्या और अज्ञान कहते है। अचिन्त्यशक्ति और

युक्ति को नही सहन करती इससे माया कहते है। विद्या से नष्ट होती है, इससे अविद्या कहते है। स्वरूप को आच्छादन करती है, इससे अज्ञान कहते है। जिस चेतन के आश्रित है, वह सामान्य चेतन उसका विरोधी नही है, किन्तु सामान्य चेतन माया का साधक है। सत्ता स्फुरण देता है। और वृत्ति मे आरूढ अर्थात् स्थितचेतन अथवा चेतन सहित वृत्ति, उसकी विरोधी है ऐसा जानना चाहिये।

ईश्वर का स्वरूप, द्विविधकारण का लक्षण, जगत् का उपादान, निमित्त कारण ईश्वर है

शुद्ध सत्व गुण सहित माया और माया का अधिष्ठान चेतन, माया मे आभास, तीनो के मिलने पर ईश्वर कहा जाता है। वह ईश्वर सर्वज्ञ है और वही जगत् का कारण है। कारण दो प्रकार का होता है :—एक तो उपादान कारण होता है। दूसरा निमित्त कारण होता है। जिसका कार्य के स्वरूप मे प्रवेश हो और जिसके बिना कार्य की स्थिति नही हो, उसको उपादान कारण कहते है। कैसे ? जैसे मृत्तिका घट का उपादान कारण है। घट के स्वरूप मे मृत्तिका का प्रवेश है और मृत्तिका बिना घट की स्थिति नही रहती है। जिसका स्वरूप मे प्रवेश नही हो, किन्तु कार्य को कार्य से भिन्न स्थित होकर करे और उसके नाश से कार्य बिगडे नही, उसको निमित्त कारण कहते है। कैसे ? जैसे घट के कुलाल, दड, चक्र आदिक निमित्त कारण है। घट के स्वरूप मे उनका प्रवेश नही है। घट से पास स्थित होकर घट की उत्पत्ति करते है और उत्पत्ति होने के पीछे कुलाल, दड, चक्र आदिको के नाश से घट नही बिगड़ता। इस रीति से उपादान और निमित्त दो प्रकार का कारण होता है। जगत् का उपादान और निमित्त कारण एक ईश्वर ही है। कैसे ? जैसे एक ही ऊर्णनाभि (मकडी) जाले का उपादान कारण और निमित्त कारण है। और यदि ऐसे कहै —मकडी का जड शरीर जाले का उपादान कारण है और मकड़ी के शरीर मे जो चेतन भाग है सो निमित्त कारण है। इससे एक ईश्वर को निमित्त कारण और उपादान कारण मानने मे कोई दृष्टात नही है। तो

मकडी के समान ईश्वर का शरीर जडमाया जगत् का उपादान कारण है और चेतन भाग निमित्त कारण है। इस रीति से एक ही ईश्वर जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। न्यायमत मे घट के साथ ईश्वर के सयोग मे ईश्वर को अभिन्न निमित्त उपादान कारण माना है। और जीवात्मगत ज्ञानादि गुणो मे जीवात्मा को अभिन्न निमित्त उपादान कारण माना है। ब्रह्मा ने वत्स और वत्स पालक बालको को हरण किया था तब श्री कृष्ण वत्स ओर वत्सपालादि सर्व रूप आप ही बन गये थे। उनके श्रीकृष्ण ही अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। सूर्य अष्टमास पर्यन्त पृथ्वी के रस का शोषण करते है और चार मास पर्यन्त जल वर्षाते है। उस जल के एक सूर्य ही अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। कोई चित्रकार अपने नख से अपने शरीर पर चित्र लिखता है। उसे देखकर प्रसन्न होता है। फिर उसको नष्ट कर देता है। उस चित्र का वह एक चित्रकार ही अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। और मुख्य दृष्टात स्वप्न है। जैसे साक्षीचेतन स्वप्न प्रपच का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है, वैसे ही ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। जिस समय जीवो के कर्म फल देने को सन्मुख नही हो, तब प्रलय होता है और जीवो के कर्म फल देने को सन्मुख हो, तब सृष्टि होती है। इस रीति से जीव के कर्म के अधीन सृष्टि है। इसलिये जीव का स्वरूप कहते है —

जीव का स्वरूप

रजोगुण, तमोगुण को दबाने वाले सतोगुण को शुद्ध सत्वगुण कहते है। रजोगुण, तमोगुण से दबनेवाले सतोगुण को मलिन सत्व-गुण कहते है। उस मलिन सत्वगुण सहित अज्ञान के अश मे जो चेतन का आभास और अज्ञान और उसका अधिष्ठान कूटस्थ इन तीनो के मिलने पर जीव कहा जाता है। वह जीव कर्म करता है और फल की आशा करता है।

ईश्वर मे विषमदृष्टि और क्रूरता नही है

उस जीव के कर्मो के अनुसार ऊ च नीच भोग के निमित्त ईश्वर

सृष्टि रचता है। इससे ईश्वर मे विषमदृष्टि और क्रूरता नही है। और यदि ऐसे कहै —सर्व से प्रथम सृष्टि से पूर्व कर्म नही है और प्रथम सृष्टि मे ऊचनीच शरीर और भोग ईश्वर ने रचे है। इससे ईश्वर विषम दृष्टि है। सो नही बनता। क्यो ? ससार अनादि है, उत्तर उत्तर सृष्टि मे पूर्व पूर्व सृष्टि के कर्म हेतु है। सर्व से प्रथम कोई सृष्टि नही है। इससे ईश्वर मे दोष नही है।

जीवो के भोग के निमित्त ईश्वर को जगत् रचने की इच्छा

जब जीवो के कर्मभोग देने से उदासीन हो तब प्रलय होता है। प्रलय मे सर्व पदार्थो के सस्कार माया मे रहते है। कैसे ? जैसे वट बीज मे वट का वृक्ष रहता है। इससे जीवो के कर्म भी जो बाकी रहे थे सो सूक्ष्म होकर माया मे रहते है। जब कर्म भोग देने को सन्मुख होते है, तब ईश्वर को इच्छा होती है :—"जीवो के भोग के निमित्त जगत् को उत्पन्न करू।" शका —दु ख और दु ख के साधन की निवृत्ति के निमित्त किवा सुख और सुख के साधन की प्राप्ति के निमित्त इच्छा होती है। अन्य वस्तु की इच्छा नही होती, यह नियम है। ईश्वर को दु ख और दु ख के साधन का अभाव है। इससे ईश्वर को दु ख और दु ख के साधन की निवृत्ति के निमित्त इच्छा नही बनती है। और ईश्वर पूर्ण काम है। इससे ईश्वर को सुख और सुख के साधन की प्राप्ति के निमित्त भी इच्छा नही बनती। यदि कहो बालक को विनोद की इच्छा होती है। उसके समान ईश्वर को जगद्रचनारूप विनोद की इच्छा निर्निमित्त भी होती है। सो कथन भी नही बनता। क्यो ? जैसे बालक को चित्त के आल्हादरूप सुख की प्राप्ति के निमित्त इच्छा होती है, वैसे पूर्णकाम ईश्वर को आल्हादरूप सुख प्राप्ति की इच्छा सभव नही है। उक्त शका का समाधान यह है —जैसे कल्पवृक्ष अन्य पुरुष के सकल्प रूप निमित्त से स्वस्वभाव से वाछित फल को देता है, वैसे ईश्वर भी फल देने को सन्मुख हुये जीवो के अदृष्टरूप निमित्त से स्वस्वभाव से इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न को करता है। सो ईश्वर के इच्छादिक की एक एक ही व्यक्ति सृष्टि के आरम्भ काल मे

उत्पन्न होती है और प्रलयपर्यन्त स्थायी है। इससे ही उसे नित्य कहते है। और भूत भविष्यत् वर्तमान कालगत सकल पदार्थो को विषय करती है। इससे सदा सृष्टि किंवा प्रलय, शीत, उष्ण, वर्षा नही होती, किन्तु समय के अनुसार ही होती है।

सूक्ष्म सृष्टि निरूपण पचभूत और उनके गुणो की उत्पत्ति

उक्त ईश्वर की इच्छा से माया तमोगुण प्रधान होती है। कैसे ? जैसे स्वपति के शुक्ररूप बीज को धारण करने वाली और कृमि आदिक अनेक जतु युक्त पुत्ररूप गर्भवाली सगर्भा स्त्री, प्रसव से पूर्व सतति के लाभरूप निमित्त से सदा प्रसन्न रहती है। इससे सत्वगुण प्रधान के समान है। पीछे प्रसव काल मे वेदनारूप निमित्त से प्रसन्नता का तिरोधान होता है तब शून्य चित्तवाली होने से तमोगुण प्रधान के समान होती है। और जैसे पूर्व श्वेतरगवाला बादल होता है, वह वर्षाकाल मे श्याम रगवाला हो जाता है, वैसे सृष्टि से पूर्व ब्रह्म के प्रतिबिम्बरूप जगत् के बीज (कारण) को धारण करने वाली और अविद्योपाधिक अनन्त जीवयुक्त प्रपचरूप गर्भवाली शुद्ध सत्व प्रधान माया (ईश्वर की उपाधि) है। सो सृष्टि के आरभकाल मे शुद्ध सत्व प्रधान स्वरूप का तिरोधान होने से सृष्टि के योग्य तमोगुण प्रधान प्रकृति रूप होती है। उस तमोगुण प्रधान माया से नभ, वायु, अग्नि, जल, भूमि ये पाच भूत उत्पन्न होते है। उन भूतो मे क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध ये पाच गुण होते है। माया से शब्द सहित आकाश की उत्पत्ति होती है और आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु आकाश का कार्य है। इससे आकाश का शब्द गुण वायु मे होता है। अपना गुण स्पर्श होता है। वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है और अग्नि मे आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श होता है। अपना रूप होता है। अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है। जल मे आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप होता है और अपना रस होता है। जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी मे आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस होता है और अपना गध होता है। आकाश मे प्रतिध्वनिरूप शब्द होता है। वायु मे सी सी शब्द होता

है और उष्ण, शीत, कठिन से विलक्षण स्पर्श होता है । अग्नि मे भुक भुक शब्द होता है, उष्ण स्पर्श होना है, प्रकाश रूप होता है । जल मे चुल चुल शब्द होता है, शीत स्पर्श होना है, शुक्ल रूप होता है, मधुर रस होता है । और क्षार तथा कटु रस जल मे पृथ्वी के सग से प्रतीत होता है । जल का रस मधुर ही होता है । वह मधुरता हरीतकी आदिक भक्षण करके जलपान करने से प्रकट होती है ।

पृथ्वी मे कट कट शब्द होता है । उष्ण, शीत से विलक्षण कठिन स्पर्श होता है । श्वेत, नील, पीत, रक्त, हरित आदि रूप होते है । मधुर, अम्ल, क्षार, कटु, कषाय, तिक्त रम होते है । सुगध और दुर्गंध दो प्रकार की गध होती है । इस रीति से आकाश मे एक, वायु मे दो, अग्नि मे तीन, जल मे चार, और पृथ्वी मे पाच गुण रहते है । उनमे एक एक अपना होता है । अधिक कारण के होते है । और सर्व का मूल कारण ईश्वर है । उसमे माया और चेतन दो भाग है । मिथ्यापना माया का भाग है और सत्ता स्फूर्त्ति सर्व भूतो मे चेतन का भाग है । ये पच भूत न्यूनाधिक भाग मे रहते है । कैसे ? जैसे माया के एक देश मे आकाश है, आकाश के एक देश मे वायु है, वायु के एक देश मे अग्नि है, अग्नि के एक देश मे जल है, और जल के एक देश मे पृथ्वी है । किसी का यह मत भी है —आकाश के दशवें भाग मे वायु रहता है । वायु के दशवे भाग मे अग्नि रहता है, अग्नि के दशवें भाग मे जल रहता है । जल के दशवे भाग मे पृथ्वी रहती है अर्थात् पृथ्वी से दश गुणा अधिक जल है, जल से दश गुणा अधिक अग्नि है, अग्नि से दश गुणा अधिक वायु है और वायु से दश गुणा अधिक आकाश है ।

चार भेद सहित अत करण की उत्पत्ति

माया के कार्य पाच भूतो मे अपने कारण माया के सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण रहते है । पचभूतो के मिले हुये सत्त्वगुण के अश से अन्त करण की उत्पत्ति होती है । अत.करण ज्ञान का हेतु है और ज्ञान की उत्पत्ति सत्त्वगुण से अ गीकार करी है । इससे अन्त करण भूतो के सत्त्व-

गुण का कार्य है। भूतो के सत्त्वगुण का कार्य होने से ही अन्त.करण को सत्व भी कहा जाता है। और पचभूतो के कार्य पच ज्ञान इन्द्रिय है। अन्त करण उन सब का सहायक है। इससे भी पचभूतो के मिले हुये सत्वगुण से अन्त.करण की उत्पत्ति कही है। देह के अन्तर अर्थात् भीतर है और करण अर्थात् ज्ञान का साधन है, इससे अन्त करण कहते है। अन्त करण के परिणाम को वृत्ति कहते है। वे अन्त करण की वृत्ति चार है। पदार्थ के भले बुरे स्वरूप को निश्चय करने वाली वृत्ति को बुद्धि कहते है। सकल्प विकल्पवृत्ति को मन कहते है। चिन्तारूप वृत्ति को चित्त कहते है। "अह" ऐसी अभिमान रूप वृत्ति को अह कार कहते है।

प्राण की पच भेद सहित उत्पत्ति

पचभूतो के मिले हुये रजोगुण अ श से प्राण की उत्पत्ति होती है। वह प्राण क्रियाभेद से और स्थानभेद से पाच प्रकार का है। जिसका हृदय स्थान है और क्षुधा पिपासा क्रिया है, उसको प्राण कहते है। जिसका गुदा स्थान है और मलमूत्र अधोनयन क्रिया है, उसको अपान कहते है। जिसका नाभिस्थान है और भुक्त पीत अन्न जल को पाचन-योग्य सम करना क्रिया है, उसको समान कहते है। जिसका कठ स्थान है और श्वास क्रिया है, उसको उदान कहते है। जिसका सर्व शरीर स्थान है और रस मेलन क्रिया है, उसको व्यान कहते है। कही नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनजय, ये पाच प्राण अधिक कहे है और उनकी उद्गार, निमेष, छीक, जृभाई और मृतशरीर-फुलावन, ये क्रम से क्रिया कही है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पचो के रजोगुण अ श से एक-एक की क्रम से उत्पत्ति कही है। और प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, इनकी भी पृथ्वी आदिक एक-एक के रजोगुण अ श से उत्पत्ति कही है। सर्व के मिले हुये रजोगुण अ श से नही कही है। परतु अद्वैत सिद्धान्त मे यह प्रक्रिया नही है। क्यो ? विद्यारण्य स्वामी ने तथा पची-करण मे वार्तिककार ने सूक्ष्म शरीर मे और पचकोशो मे नाग, कूर्म आदिको का ग्रहण नही किया है और उनने अपान आदिक पचप्राण की

उत्पत्ति भी भूतो के मिले हुये रजोगुण अ श से ही कही है। इससे एक-एक के रजोगुण अ श से अपानादिको की उत्पत्ति कथन असगत है और सूक्ष्म शरीर मे नाग कूर्म आदिको का ग्रहण भी असगत है। सूक्ष्म शरीर मे पचप्राण का ही ग्रहण है। प्राण विक्षेपरूप है और विक्षेप स्वभाव रजोगुण का है। इससे भूतो के रजोगुण अ श से प्राण की उत्पत्ति कही है।

ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति

एक-एक भूत के सत्त्वगुण अ श से पचज्ञान इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। आकाश के सत्वगुण अ श से श्रोत्र, वायु के सत्वगुण अ श से त्वक्, अग्नि के सत्वगुण अ श से नेत्र, जल के सत्वगुण अ श से रसना, पृथ्वी के सत्त्वगुण अ श से घ्राण उत्पन्न होती है। ये पच इन्द्रिय ज्ञान के साधन है इससे इनको ज्ञानेंद्रिय कहते है। ज्ञान सत्वगुण से होता है। इससे इन की उत्पत्ति भूतो के सत्वगुण से कही है। श्रोत्रेंद्रिय आकाश के गुण को ग्रहण करती है, इससे श्रोत्रेंद्रिय की उत्पत्ति आकाश से कही है। ऐसे ही जिस भूत के गुण को जो इन्द्रिय ग्रहण करती है, उस भूत से उस इन्द्रिय की उत्पत्ति कही है।

कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति

एक-एक भूत के रजोगुण अ श से एक-एक कर्म इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। आकाश के रजोगुण अ श से वाक्इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है, वायु के रजोगुण अ श से पाणि (हाथ) की, अग्नि के रजोगुण अ श से पाद की, जल के रजोगुण अ श से उपस्थ की, पृथ्वी के रजोगुण अ श से गुदा की उत्पत्ति होती है। स्त्री की योनि और पुरुष के लिग मे जो विषयानन्द का साधन इन्द्रिय है, उसको उपस्थ कहते है। कर्म नाम क्रिया का है। ये पाच इन्द्रिय क्रिया के साधन है, इससे इनको कर्मेन्द्रिय कहते है। क्रिया रजोगुण से होती है। इससे भूतो के रजोगुण अ श से इनकी उत्पत्ति कही है। अपचीकृतभूत और उनका कार्य अ त करण, प्राण, कर्मइन्द्रिय, ज्ञानइन्द्रिय, इन सबको सूक्ष्म सृष्टि कहते है। सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान इन्द्रिय से नही होता है। नेत्र नासिका आदिक गोलक

तो इन्द्रियो के विषय होते है, परन्तु उन गोलको मे स्थित जो इन्द्रिय है, वे किसी के इन्द्रियो के विषय नही होते है। सूक्ष्म सृष्टि की उत्पत्ति से अनन्तर ईश्वर की इच्छा से स्थूल सृष्टि के निमित्त भूतो का पचीकरण होता है। क्यो? पचीकरण होने से ही स्थूल सृष्टि होती है।

पचीकरण प्रकार

पचीकरण दो भाति से कहा है —एक एक भूत के दो दो समान भाग होते है। उन दो दो भागो मे से पुन एक एक भाग के चार चार भाग होते है। और प्रथम के आधे आधे भाग वैसे ही रहते है। अर्ध अर्ध भाग के चार चार भाग अपने से भिन्न चार भूतो के बडे अर्ध अर्ध भागो से मिलते है तव अर्ध भाग तो अपना रहता है और अर्ध भाग सबका मिलकर होता है। इस प्रकार प्रत्येक भूत का आधा भाग तो अपना रहता है, और आधे के चतुर्था श भाग दूसरे चार भूतो के रहते है। इसी को पचीकरण कहते है। इस प्रकार प्रत्येक भूत पच भूत मे मिश्रित होने के कारण पचात्मक हो जाते है। कैसे? जैसे आकाश के दो समान भाग होते है, उनमे से आधा एक भाग तो अलग रहता है और दूसरे एक भाग मे से चार भाग होकर आकाश से भिन्न वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी चारो मे एक एक भाग मिलता है। इसी प्रकार अन्य चारो भूतो के भी आधे आधे भाग के एक एक चतुर्था श भाग आकाश मे मिलते है। ऐसे आधा अपना और आधा अन्य चार भूतो के चतुर्था श भाग मिलकर होता है। इससे एक २ भूत पचीकृत (पचात्मक) होता है। दृष्टात —जैसे एक दिन कोई पॉच मित्र वन यात्रा के लिये नगर से जाने लगे तब मेवे वाले की दुकान से एक ने एक सेर वादाम गिरी, दूसरे ने एक सेर किसमिस, तीसरे ने एक सेर काजू, चौथे ने एक सेर पिस्ते, पाचवे ने एक सेर अखरोट गिरी ली और वन मे एक सरोवर पर विश्राम के लिये ठहरे, तब खाने के समय अपने २ मेवे खोलकर सोचने लगे, मित्रो को देकर ही खाना चाहिये। अकेले खाना ठीक नही है। फिर उन्होने अपने २ मेवे मे से

आध २ सेर तो अपने २ पास रख लिया और शेष आध २ सेर मे से दो दो छटाक अपने अन्य चार मित्रो को बाट दिया। ऐसा करने से आधा २ सेर मेवा तो अपना रह गया और दो दो छटाक दूसरे चार मित्रो से मिलने के कारण आध २ सेर मेवा दूसरो से सबको मिल गया। तब फिर पाचो के पास एक एक सेर पच मेवा हो गया। उसे खाकर वे सब प्रसन्नता को प्राप्त हुये। इसी प्रकार भूतो का पचीकरण होता है। उक्त पचीकरण प्रक्रिया मे कोई शका करते हैं —इस प्रक्रिया मे तो प्रत्येक भूत मे आधा २ भाग अपना आधा २ दूसरे चार भूतो के मिले अश का होने से सबका अपना आधा भाग दब जाता है। इससे आकाशादि भूनो का भिन्न २ ज्ञान नही हो सकता। अत उक्त पचीकरण की प्रक्रिया ठीक नही है, इससे अलग ही प्रक्रिया होनी चाहिये।

पचीकरण की दूसरी प्रक्रिया

पाच भूतो मे से प्रत्येक भूत के पचीस पचीस भाग होते है। उनमे से इक्कीस २ भाग तो सब के अलग २ रहते है। शेष चार भागो मे से एक २ भाग अपने से भिन्न चार भूतो के इक्कीस २ भागो मे मिल जाते है। इस प्रकार पुन सबके पास इक्कीस २ भाग अपने २ और एक २ भाग अन्य चारो के होते है। सब मिलकर पचीस २ भाग हो जाते है। इस प्रकार भूतो का पचीकरण होता है। इसमे इक्कीस भाग अपने और केवल चार भाग दूसरे भूतो के होने से अपना भाग तिरोहित नही होता। इससे आकाशादि भूतो के भिन्न २ ज्ञान स्पष्ट होते है। इस रीति से दो प्रकार का पचीकरण कहा है। एक एक भूत मे पाच २ भूत मिलाकर करने का नाम पचीकरण है। जिन भूतो का पचीकरण किया है, उनको पचीकृत कहते है।

स्थूल ब्रह्माडादिक की उत्पत्ति

उन पचीकृत भूतो से इन्द्रियो का विषय स्थूल ब्रह्माड होता है। उस ब्रह्माड के भीतर भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक, ये सात भुवन ऊपर के हुये और अतल, सुतल,

पाताल, वितल, रसातल, तलातल, महातल, ये सात लोक नीचे के हुये। इन चतुर्दश लोको मे जीवो के भोग योग्य अन्न आदिक सामग्री और भोग के स्थान स्थूल शरीर उत्पन्न हुए। वे शरीर देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भेद से अनेक प्रकार के है।

आकाश मे एक बडा भाग निज का तथा चार छोटे भाग अन्य चार महाभूतो के मिलने से पाच तत्त्व एक आकाश मे हो जाते है। इसी प्रकार दूसरे चार भूनो मे भी एक एक मुख्य भाग अपना तथा चार भाग दूसरो के मिलने से एक एक भूत मे पाच पाच भाग (तत्त्व) हो जाते है। पश्चात् पच तत्त्वात्मक प्रत्येक भूत के परस्पर मिलने से २५ तत्त्व होते है वा पचीकृत पच भूनो के सब मिलकर पचीस तत्त्व होते है। ये २५ तत्त्व स्थूल शरीर मे इस प्रकार प्रनीत होते है —

आकाश के पाच तत्त्व

शोक, काम, क्रोध, मोह और भय। इनमें से शोक आकाश का मुख्य भाग है। क्यो ? शोक उत्पन्न होना है तब शरीर शून्य जैसा हो जाता है और आकाश भी शून्य जैसा है। इससे यह आकाश का मुख्य भाग है। यद्यपि वायु आदिक भूतो के भागो मे भी आकाश के अन्य चार भागो मे एक एक भाग मिला है, किन्तु उसको आकाश का मुख्य भाग नही कहते है। और शोक तथा आकाश की अतिशय समता भी है। इससे भी शोक आकाश का मुख्य भाग है। कही लोभ को भी आकाश के समान पदार्थ की प्राप्ति से अपूर्ण होने से आकाश का मुख्य भाग कहा है। इस रीति से ही अन्य भूतो मे भी जानना चाहिये। काम —आकाश मे वायु का भाग मिला है। क्यो ? कामना रूप वृत्ति चचल है और वायु भी चचल है। इससे काम वायु का भाग है। क्रोध '—आकाश मे अग्नि का भाग मिला है। क्यो ? क्रोध आता हैं तब शरीर तपायमान होता है और अग्नि भी तपायमान है। इससे क्रोध अग्नि का भाग है। मोह —आकाश मे जल का भाग मिला है। क्यो ? मोह पुत्रादिक मे फैलता हैं और जल भी फैलता है। इससे मोह जल का भाग है। भय —आकाश मे पृथ्वी का भाग मिला है।

क्यो ? भय होता है तब शरीर जड अर्थात् अक्रिय होकर रहता है और पृथ्वी भी जडता स्वभाव वाली है। इससे भय पृथ्वी का भाग है।

कोई ग्रन्थ मे —शिर, कठ, हृदय, उदर, कटिदेश गत आकाश, ये आकाश के पाच तत्त्व कहे है। उनमे शिरो देशगत आकाश का मुख्य भाग है। क्यो ? अनाहत शब्द का आश्रय होने से। कठ देश गत आकाश वायु का भाग है। क्यो ? श्वास प्रश्वास का आश्रय होने से। हृदय देशगत आकाश अग्नि का भाग है। क्यो ? पित्त का आश्रय होने से। उदर देशगत आकाश जल का भाग है। क्यो ? पान किये हुये जल का आश्रय होने से। कटि देशगत आकाश पृथ्वी का भाग है। क्यो ? गध का आश्रय होने से। इस रीति से काम क्रोधादिक स्थूल देह के तत्त्व नही है, किन्तु लिग देह के धर्म है और अन्य ग्रन्थो की रीति से तो कामादिक लिग देह के मुख्य धर्म है और स्थूल देह मे घट मे जल की शीतलता के आवेश के समान इनका आवेश होता है। इससे स्थूल देह के भी गौण धर्म कहे जाते है।

वायु के पाच तत्त्व

प्रसारण, धावन, वलन, चलन और आकुचन, ये वायु के पाच तत्त्व है। इनमे प्रसारण वायु मे आकाश का भाग मिला है। क्यो ? प्रसारण पसरने को कहते है और आकाश भी पसरा हुआ है। इससे प्रसारण आकाश का भाग है। धावन :—वायु का मुख्य भाग है। क्यो ? धावन दौडने को कहते है और वायु भी दौडता है। इससे धावन वायु का मुख्य भाग है। वलन —वायु मे अग्नि का भाग मिला है। क्यो ? वलन नाम अग के वालने का है और अग्नि का प्रकाश भी वलता है। इससे वलन वायु मे अग्नि का भाग है। चलन —वायु मे जल का भाग मिला है। क्यो ? चलन नाम चलने का है और जल भी चलता है। इससे चलन वायु मे जल का भाग है। आकुचन :—वायु मे पृथ्वी का भाग मिला है। क्यो ? आकुचन नाम सकोच करने का है और पृथ्वी भी सकोच से युक्त है। इससे वायु मे आकुचन पृथ्वी का भाग है।

अग्नि के पाच तत्त्व

निद्रा, तृषा, क्षुधा, काति और आलस्य, ये अग्नि के पाच तत्त्व है। इनमे निद्रा अग्नि मे आकाश का भाग मिला है। क्यो ? निद्रा आती है तब शरीर शून्य होता है और आकाश भी शून्यता वाला है। इससे निद्रा अग्नि मे आकाश का भाग है। तृषा —अग्नि मे वायु का भाग मिला है। क्यो ? तृषा कठ को शोषण करती है और वायु भी गीले वस्त्रादिको को सुखाता है। इससे तृषा अग्नि मे वायु का भाग मिला है। क्षुधा —अग्नि का मुख्य भाग है। क्यो ? क्षुधा लगे तव जो खाये सो भस्म होता है और अग्नि मे भी डाले सो भस्म होता है। इससे क्षुधा अग्नि का मुख्य भाग है। काति '—अग्नि मे जल का भाग मिला है। क्यो ? काति धूप से घटती है और जल भी धूप से घटता है। इससे काति अग्नि मे जल का भाग है। आलस्य —अग्नि मे पृथ्वी का भाग मिला है। क्यो ? आलस्य आता है तब शरीर जड हो जाता है और पृथ्वी भी जड स्वभाव वाली है। इससे आलस्य अग्नि मे पृथ्वी का भाग है।

जल के पाच तत्त्व

लाल, स्वेद, मूत्र, शुक्र, और शोणित, ये जल के पाच तत्त्व है। इनमे लाल जल मे आकाश का भाग मिला है। क्यो ? लाल (मुख की लार) ऊचा नीचा होता है और आकाश भी ऊचा नीचा है। इससे जल मे लाल आकाश का भाग है। स्वेद —जल मे वायु का भाग मिला है। क्यो ? पसीना श्रम करने से होता है और वायु भी पखा आदिक से श्रम करने से होता है। इससे स्वेद जल मे वायु का भाग है। मूत्र —जल मे अग्नि का भाग मिला है। क्यो ? मूत्र गर्म होता है और अग्नि भी गर्म है। इससे मूत्र अग्नि का भाग है। शुक्र — जल का मुख्य भाग है। क्यो ? शुक्र श्वेत वर्ण है तथा गर्भ का हेतु है, वैसे जल भी श्वेत वर्ण है और वृक्ष आदि का हेतु है। इससे शुक्र जल का मुख्य भाग है। शोणित .—जल मे पृथ्वी का भाग मिला है। क्यो ? शोणित रक्त वर्ण है और पृथ्वी भी कही रक्त होती है। इससे शोणित जल मे पृथ्वी का भाग है।

पृथ्वी के पाच तत्त्व

रोम, त्वचा, नाडी, मास और अस्थि, ये पृथ्वी के पाच तत्त्व है। इनमे रोम पृथ्वी मे आकाश का भाग मिला है। (मस्तकादि के केश भी रोमो के अतर्भाव है)। क्यो ? रोम शून्य है, काटने से पीडा नही होती और आकाश भी शून्य है। इससे रोम पृथ्वी मे आकाश का भाग है। त्वचा —पृथ्वी मे वायु का भाग मिला है। क्यो ? त्वचा से शीत, उष्ण, कठिन, कोमल, स्पर्श ज्ञात होता है और वायु भी स्पर्श गुणवाला है। इससे त्वचा पृथ्वी मे वायु का भाग है। नाडी —पृथ्वी मे अग्नि का भाग मिला है। क्यो ? नाडी से ताप की परीक्षा होती है और अग्नि भी तापरूप है। इससे नाडी पृथ्वी में अग्नि का भाग है। मास —पृथ्वी मे जल का भाग मिला है। क्यो ? मास गीला है और जल भी गीला है। इससे मास पृथ्वी मे जल का भाग है। अस्थि —पृथ्वी का मुख्य भाग है (नख, दत का भी हड्डी मे अतर्भाव है)। क्यो ? अस्थि कठिन और पृथ्वी भी कही कठिन होती है। इससे अस्थि पृथ्वी का मुख्य भाग है। उक्त रीति से स्थूल देह मे पचीस तत्त्व रहते है। यह सक्षेप से सृष्टि का निरूपण किया है। माया के कार्य का विस्तार से निरूपण करने से तो कोटि ब्रह्मा की आयु तक भी मायाकृत पदार्थ निरूपण का अत नही आता है। यह वाल्मीकि नें अनेक इतिहासों से योग वासिष्ठ में निरूपण किया है।

आत्म विवेक वा पच कोश विवेक भी समझाइये ?

आत्मविवेक, पच कोश विवेक

उक्त माया और माया के कार्य मे तीन शरीर और पच कोश हैं। वे आत्मा को आच्छादन करते है। शुद्ध सत्त्व गुण सहित माया ईश्वर का कारण शरीर है। और मलिन सत्त्व गुण सहित अविद्या अश जीव का कारण शरीर है। उत्तर शरीर के आरभक पच सूक्ष्म भूत, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पच प्राण, पच कर्म इन्द्रिय, पच ज्ञान इन्द्रिय, जीव का सूक्ष्म शरीर है। सर्व जीवो के सूक्ष्म शरीर मिलकर ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है। सपूर्ण स्थूल ब्रह्माड ईश्वर का स्थूल शरीर है और जीवो के व्यष्टि स्थूल शरीर प्रसिद्ध है। इन तीन शरीरो मे ही पच-

कोश है। कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहते है। विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, ये तीन कोश सूक्ष्म शरीर मे है। पच ज्ञानेद्रिय और निश्चयरूप अन्त करण की वृत्ति बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते है। पच ज्ञानेंद्रिय और सकल्प विकल्प रूप अन्त करण की वृत्ति मन को मनोमय कोश कहते है। पचप्राण और पच कर्मेन्द्रिय को प्राण-मय कोश कहते है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहते है। इस रीति से तीन शरीरो मे पच कोश है। ईश्वर के शरीर मे ईश्वर के कोश है। समष्टि अज्ञानरूप माया ईश्वर का कारण शरीर है, वही ईश्वर का आनन्दमय कोश है। जीवो के सूक्ष्म शरीर का समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है। उसमे विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय रूप ईश्वर के तीन कोश है।

उनमे दिक्पाल, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमार। ये पाच ईश्वर की ज्ञानेंद्रिय और समष्टि बुद्धिमय महतत्त्वरूप वा सर्व बुद्धियो का अभिमानी ब्रह्मारूप ईश्वर की बुद्धि मिलकर ईश्वर का विज्ञानमय कोश है। और उक्त श्रोत्रादिक के अधिष्ठाता देवता रूप पच ईश्वर के ज्ञानेद्रिय और समष्टि मनरूप अहकारमय वा सर्व के मन का अभि-मानी चन्द्रमामय ईश्वर का मन मिलकर ईश्वर का मनोमय कोश है। अग्नि, इन्द्र, उपेंद्र, प्रजापति और मृत्यु (यम) ये पाच ईश्वर के कर्म इन्द्रिय और समष्टि प्राण वा वायु का अभिमानी देवतारूप ईश्वर का प्राण मिलकर ईश्वर का प्राणमय कोश है। और समष्टि स्थूल सृष्टि रूप विराट् ईश्वर का स्थूल शरीर है, सो ईश्वर का अन्नमय कोश है। जीव के शरीर में जीव के कोश है। कोश नाम म्यान का हैं। म्यान के समान पचकोश आत्मा के स्वरूप को आच्छादन करते है। इससे अन्नयमादिक को कोश कहते है। जैसे जीव के शरीर मे जीव के कोश है। वे कोशकार नाम कृमि (कीट) के कटकरचित गृह रूप कोश के समान जीव की दृष्टि से उसके निजरूप प्रत्यगात्मा के आच्छादक है, वैसे ईश्वर के शरीरो में जो ईश्वर के कोश है, वे ईश्वर की दृष्टि से उसके निजरूप ब्रह्म के आच्छादक नही है किन्तु जीव की दृष्टि से ब्रह्म के आच्छादक है।

इससे जीव को व्यष्टि पचकोशो से जैसे प्रत्यगात्मा का विवेचन कर्त्तव्य है, वैसे समष्टि पचकोशो से ब्रह्म का विवेचन भी जीव को ही कर्त्तव्य है। ईश्वर को आवरण के अभाव से तथा नित्यमुक्त होने से कुछ भी कर्त्तव्य नही है। अनेक मदमति पुरुष पचकोशो मे जो अनात्मपदार्थ है, उनमे किसी एक को आत्मा मानकर मुख्य साक्षी आत्मस्वरूप से विमुख ही रहते है। इससे अन्नमयादिक कोश आत्मस्वरूप को आच्छादन करते है। वहाँ .—

विरोचन का सिद्धात (अन्नमय कोश आत्मा) और उसका खडन

कितने ही पामर विरोचन मत के अनुसारी स्थूलशरीर रूप अन्नमय कोश को ही आत्मा कहते है और यह युक्ति कहते है :—जिसमे अहबुद्धि हो वह आत्मा है। अहबुद्धि स्थूल शरीर मे होती है। "मै मनुष्य हूँ, मै ब्राह्मण हूँ" ऐसी प्रतीति सर्व को होती है। और मनुष्यपना, ब्राह्मणपना, स्थूलशरीर मे ही है। इससे स्थूल शरीर ही अहबुद्धि का विषय होने से आत्मा है। किवा जिसमे मुख्यप्रीति हो सो आत्मा है। स्त्री, पुत्र, धन, पशु, आदिक स्थूलशरीर के उपकारक हो तो उनमे प्रीति होती है। और स्थूश शरीर के उपकारक नही हो तो प्रीति नही होती, जिसके निमित्त अन्य पदार्थो मे प्रीति हो, उस स्थूल शरीर मे ही मुख्य प्रीति है। इससे स्थूलशरीर ही आत्मा है। स्थूल शरीर का वस्त्र, भूषण, अजन, मजन, नाना विध भोजन से शृंगार, पोषण हो परम पुरुषार्थ है। मरण ही मोक्ष है, केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य प्रमाण नहीं है। यह असुर स्वामी विरोचन का सिद्धान्त है। सो असगत है। क्यो ? "मै देखता हूँ" "मैं सुनता हूँ" इत्यादि प्रयोग से इन्द्रिया भी तो अह प्रतीति की विषय है, और "मेरा देह स्थूल है, कृश है" "मुझको धिक्कार है" ऐसा कहा जाता है। इससे देह ममता और द्वेष का विषय प्रतीत होता है। जो ममता और द्वेष का विषय हो, वह 'अहता' का विषय नही होता। इससे स्थूल देह अह प्रतीति का विषय नही होने से आत्मा नही है। जैसे स्त्री, पुत्रादि से देह मे अधिक प्रीति होती है, वैसे देह से अधिक प्रीति इन्द्रियो मे होती है। इससे

स्थूल देह परम प्रीति का विषय नही है। और आत्मा चेतन होता है, देह भूतो का सघातरूप है, चेतन नही है। इससे भी स्थूल देह आत्मा नही है। देहात्मवादी चार्वाकादिक कहते है :—जैसे कत्था और चूने से पान रग देने लगता है, वैसे ही भूत समुदाय से देह मे ज्ञान शक्ति सभव है। यह कथन उनका उचित नही है। क्यो ? भूत समुदाय तो घट मे भी है, उसमे भी चेतना होनी चाहिये। और सुषुप्ति, मूर्छा, मरण आदि अवस्थाओ मे देह घट की भाति जड हो ही जाता है। इससे देह जड है और जड होने से आत्मा नही है।

और यदि देह को आत्मा माने तो बालक शरीर से भिन्न युवा शरीर मे "मै वही हूँ" यह ज्ञान नही होना चाहिये। देह जन्म मरण शील है—जन्म से पहले और मरण के पीछे देह नही रहता है। यदि यह स्थूल देह ही आत्मा हो तो उसमे कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष आयेंगे। इत्यादिक युक्तियो से स्थूल देह अनात्मा सिद्ध होता है। देह के शृ गार वा पोषणादिकों को परम पुरुषार्थ मानना भी असगत है। क्यो ? पुरुष की इच्छा का विषय ही पुरुषार्थ होता है। और सुख की प्राप्ति तथा दु ख की निवृत्ति की ही सबको इच्छा होती है, वही पुरुषार्थ है। सबसे अधिक सुख और अत्यन्त दु खाभाव परम पुरुषार्थ है। इसी को सिद्धान्ती मोक्ष कहते है। भोग मे सातिशयता आदि दोष है। इससे वह परम पुरुषार्थ नही हो सकता। मरण को मोक्ष कहना भी असगत है। क्यो ? मरण के पश्चात् जला देने पर देह-रूप आत्मा रहता ही नही है, भस्म रहती है। उस स्थिति को मोक्ष कहना प्रलापमात्र है। प्रत्यक्ष प्रमाण से अन्य प्रमाण नही मानना भी असगत है। क्यो ? अभुक्त भोजन मे तृप्ति का निश्चय अनुमान से होता है। परदेश मे स्थित माता-पिता का मरण शब्द प्रमाण से ज्ञात होता है। इस प्रकार अन्य प्रमाण भी मानने से ही व्यवहार की सिद्धि होती है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानना हठमात्र है। इस प्रकार देहात्मवादी चार्वाक का मत असगत सिद्ध होता है।

इन्द्रिय आत्मवादी का मत (इन्द्रिय आत्मा) और उसका खडन

और कोई ऐसे कहते है —स्थूल शरीर ही आत्मा नही है, किन्तु स्थूल शरीर मे जिसके होने से जीवन व्यवहार होता है और जिसके नही होने से मरण व्यवहार होता है, सो आत्मा स्थूल शरीर से भिन्न है। जीवन मरण इन्द्रियो के अधीन है। जब तक शरीर मे इन्द्रिय रहती है तब तक जीवन रहता है। और कोई भी इन्द्रिय शरीर मे नही रहे तब उसको मरण कहते है। और "मै देखता हूँ" "मै सुनता हूँ" "मैं बोलता हूँ" इस रीति से अह बुद्धि भी इन्द्रियो मे ही होती है। इससे इन्द्रिय ही आत्मा है। स्थूल शरीर आत्मा नही है। चार्वाकों मे से अन्यतम इन्द्रियात्मवादी का मत भी असगत है। क्यो ? जिसके बिना शरीर न रह सके वह आत्मा है। चक्षु आदि इन्द्रियो मे से एक एक के नष्ट होने पर भी शरीर रहता है। इससे इन्द्रिया आत्मा नहीं है।

"मैं देखना हूँ, मैं सुनता हूँ" आदि मे अह प्रतीति की विषय इन्द्रियाँ नहीं हैं अपितु ऐसा कहते हुये वक्ता का अभिप्राय "मै नेत्रवाला देखता हूँ" "मै कानवाला सुनता हूँ" यह है। इसलिये अह प्रतीति का विषय इन्द्रियों से भिन्न है और "मेरी दृष्टि मद है" "मेरी वाणी स्पष्ट है" इत्यादिक प्रयोगो से स्पष्ट है, इन्द्रिया ममता की विषय हैं। इससे वे अहता की विषय नही हो सकती है। और जो जिसको जानता है, वह उससे भिन्न होता है। कैसे ? जैसे घट का द्रष्टा घट से भिन्न होता है। इस नियम के अनुसार इन्द्रियो की मन्दता को जानने वाला इन्द्रियो से भिन्न ही मानना होगा। और मन के व्याकुल होने पर इन्द्रियो से श्रवणादि व्यापार नही होते है। इससे इन्द्रियो की जडता प्रतीत होती है। इसलिये जड होने से भी इन्द्रियाँ आत्मा नही है। इन्द्रियो की चेतनता के विषय मे तीन पक्ष सभव है :—एक ही इन्द्रिय चेतन है, वा इन्द्रियों का समुदाय चेतन है, वा सब इन्द्रियाँ पृथक् २ चेतन हैं। ये तीनो ही पक्ष सिद्ध नहीं होते।

प्रथम पक्ष इसलिये असिद्ध है, जिस भी इन्द्रिय को चेतन मानो उसके बिना भी ज्ञान और जीवन तो विद्यमान रहता है। द्वितीय पक्ष,

यदि समुदाय को चेतन मानो तो एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर समुदायता नष्ट हो जायगी । फिर ज्ञान, जीवन नही रहने चाहिये । किन्तु वे बने रहते है । इससे इन्द्रिय समुदाय को भी चेतानता सिद्ध नही होती है । तृतीय पक्ष, यदि सब इन्द्रियो को पृथक् पृथक् चेतन मानो तो एक देह मे दश चेतन हो जायेंगे । इन दशो की विभिन्न इच्छाओ के कारण शरीर ऐसे ही छिन्नभिन्न हो जायगा, जैसे एक केले मे बन्धे दश हाथियों से केला टूट जाता है । इससे इन्द्रियाँ चेतन नही है । श्रुति मे इन्द्रियों का जो सवाद है, वह इन्द्रियो के अभिमानी देवो का ही है ।

इन्द्रियो के अभाव से शरीर कैसे रहता है ? इन्द्रियो के अभाव से बधिर, अध, मूक, पगुरूप होकर भी शरीर जीवित रहता है। इससे जीवन मरण इन्द्रियो के अधीन नही है । "मैं क्षुधावान हूँ" "मै तृषावान हूँ" ऐसे क्षुधा तृषारूप धर्म वाले प्राण मे भी अह बुद्धि होने से और "मेरी चक्षु, मेरी वाणी" ऐसे इन्द्रियो को ममबुद्धि के विषय होने से इन्द्रियगत अह बुद्धि का व्यभिचार है । इससे इन्द्रिय आत्मा नही है । इस प्रकार इन्द्रियात्मवादी का मत असगत है ।

हिरण्यगर्भ के उपासक का मत (प्राणात्मा) और उसका खडन

हिरण्यगर्भ के उपासक प्राण को आत्मा कहते है और उसमें यह युक्ति कहते है — जब मरण समय मूर्छा होती है, तब उसके सबन्धी पुत्रादिक, प्राणशेष हो तो जीवन जानते है और प्राण शेष न हो तो मरण जानते हैं । किवा शरीर मे नेत्र इन्द्रिय नही हो तो अंध शरीर रहता है । श्रोत्र से बिना बधिर रहता है । वाक् बिना मूक रहता है । ऐसे जो इन्द्रिय नही हो, उसके व्यापार से बिना भी शरीर स्थित रहता है और प्राण से बिना उसी क्षण मे स्मशान के समान अमगल भयकर होकर गिर जाता है । और "मैं देखता हूँ, मै सुनता हूँ" इस प्रतीति से भी इन्द्रियो से भिन्न ही आत्मा सिद्ध होता है । क्यों ? "नेत्रस्वरूप मैं देखता हूँ, श्रवणस्वरूप मै सुनता हूँ" । ऐसी प्रतीति हो, तो इन्द्रियरूप आत्मा सिद्ध हो, किन्तु "मैं नेत्रवाला देखता हूँ, मैं श्रोत्र वाला सुनता हूँ" ऐसी प्रतीत होती है । इससे इन्द्रियो से भिन्न ही आत्मा है । और

सुषुप्ति मे सर्व इन्द्रियो का अभाव है, तो भी प्राण के होने से जीवन व्यवहार होता है। इससे जीवन-मरण भी इन्द्रियो के अधीन नही है, किन्तु स्थूल शरीर और प्राण के वियोग को मरण कहते है। इससे जीवन-मरण प्राण के अधीन है, सोई आत्मा है। यह मत भी असगत है।

क्यो ? वह वायु है, जैसे बाह्य वायु आत्मा नही है, वैसे यह प्राणवायु भी आत्मा नही है। और प्राण के अदर्शन से मृत्यु का होना भी नियम नही है। स्थावर वृक्षादि मे प्राण न दिखाई देने पर भी मृत्यु नही होती है। इससे प्राण आत्मा नही है। और निद्रा के समय प्राण जागता है तो भी यदि कोई शरीर के भूषणादि उतारे तो उसे हटाता नही है, सबन्धी आये तो उसका सत्कार नही करता है। इससे प्राण जड है। जड होने से आत्मा नही है। और प्राण के निकलने से देह की मृत्यु होना, प्राण के आत्मा होने का साधक नही है ? जठाराग्नि के निकलने से भी तो मृत्यु हो जाती है। श्रुति मे प्राण की श्रेष्ठता आदि के प्रतिपादक जो वाक्य कहे है, वे प्राण की उपासना मे प्रवृत्ति के प्रयोजक मात्र है, प्राणमय कोश की आत्मता के प्रतिपादक वचनो का तो मनोमय कोश की आत्मता के प्रतिपादक वचनो से बाध हो जाता है। इसलिये उन श्रुति वाक्यो का तात्पर्य तो स्थूलारुन्धतिन्याय से अधिष्ठान प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म को बताना है। कोशो की आत्मता के प्रतिपादक सब वाक्यो के विषय मे यही बात है। इन्द्रिय-प्राण सवाद और शरीर मे प्राण के प्रवेश का वर्णन भी वायु के अभिमानी देवता का ही समझना चाहिये। और "भूख से मेरे प्राण निकल जायेगे वा भोजन से मेरे प्राण सन्तुष्ट हो गये है" आदि वाक्यो से स्पष्ट है, प्राण ममता के विषय है। इससे अह प्रतीति के विषय नही हो सकते। और अपने प्राण का गमनागमन अपने आप अनुभव होता है। इससे प्राण को जानने वाला आत्मा स्वयं प्राण से भिन्न ही है। इससे प्राण की आत्मता असगत होने से प्राणात्मावादी का मत असगत है।

मनआत्मवादी का मत (मन आत्मा) और उसका खडन

और कोई ऐसे कहते है :—प्राण जड़ है, इससे घट के समान अनात्मा

है। और बध मोक्ष मन के अधीन है। विषय मे आसक्त जो मन सो बन्धन का हेतु है और विषयवासना से रहित मन मोक्ष का हेतु है। और मन के सबन्ध से ही इन्द्रिय ज्ञान के हेतु है। मन के सबन्ध बिना इन्द्रिय से ज्ञान नही होता है। इससे सर्व व्यवहार का हेतु मन है, वही आत्मा है। यह मन आत्मवादी का मत भी असगत है। क्यो ? मन छैनी आदि की भाति करण अर्थात् साधन है। और मन के होने से ही चेतनता का होना आवश्यक नही है। क्यो ? सुषुप्ति आदि के समय भी सामान्य चेतनता रहती है। इससे मन जड है। और "पहले मेरा मन किसी दूसरे स्थान पर गया था, अब मेरा मन स्थिर है" इस प्रकार मन ममता का विषय है, अह प्रतीति का विषय नही है। इससे मन की स्थिरता वा अस्थिरता को जानने वाला आत्मा मन से भिन्न ही है। और मन स्वतत्ररूप से भोक्ता नही है, चेतनाभास विशिष्ट होने से ही वह भोक्ता है। इससे "भोक्ता होने से उसको आत्मा मानना सगत नही है।" और मनुष्यो के बध मोक्ष का कारण मन को बताने वाली श्रुति तो यह बताती है—ज्ञान प्राप्ति से मन का बाध होने पर मोक्ष होता है।और विषयवासनाओ के कारणभूत मोक्ष साधनो का प्रतिबन्ध होने से अध्यास होने पर बन्ध होता है। वह मन को आत्मा नही बताती है। इससे वह श्रुति मन की आत्मता मे प्रमाण नही है अपितु बन्ध के साधनो से निवृत्ति और मोक्ष-साधन मे प्रवृत्ति की बोधक है। इससे मन की आत्मता असगत होने से, मन आत्मवादी का मत असगत है।

क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार का मत (बुद्धि आत्मा) और उसका खडन

क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध यह कहते है —मन का व्यापार बुद्धि के अधीन है। क्यो ? बुद्धि का ही आकार मन होता है। इससे क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि ही आत्मा है, मन नही। यह उनका अभिप्राय है ,— सपूर्ण पदार्थ विज्ञान के ही आकार है, वह विज्ञान प्रकाशरूप है। और क्षण क्षण मे विज्ञान के उत्पत्ति नाश होते है। पूर्व विज्ञान के समान अन्य विज्ञान की उत्पत्ति होने पर पूर्व विज्ञान का नाश होता है, वैसे

तृतीय विज्ञान की उत्पत्ति और द्वितीय विज्ञान का नाश, चतुर्थ की उत्पत्ति और तृतीय का नाश होता है। इस रीति से नदी के प्रवाह के समान विज्ञान की धारा बनी रहती है। वह विज्ञान की धारा दो प्रकार की है। एक तो आलय विज्ञान धारा और दूसरी प्रवृत्ति विज्ञान धारा है। "अह अह" ऐसी विज्ञान धारा को आलय विज्ञान धारा कहते है। उसी को बुद्धि कहते है। "यह घट है, यह शरीर है" ऐसी विज्ञान धारा को प्रवृत्ति विज्ञानधारा कहते है। आलय विज्ञान धारा से प्रवृत्ति विज्ञानधारा की उत्पत्ति होती है। मन का स्वरूप भी प्रवृत्ति विज्ञानधारा मे है। इससे आलय विज्ञान धारारूप बुद्धि का कार्य है। सो बुद्धि ही आत्मा है। आलय विज्ञानधारा मे प्रवृत्ति विज्ञानधारा का बाध चिन्तन से निर्विशेष क्षणिक विज्ञानधारा की स्थिति ही उनके मत मे मोक्ष है। इस रीति से विज्ञानवादी बुद्धि को ही क्षणिकरूप और स्वय प्रकाशरूप कल्पना करके आत्मा कहते हैं। सो विज्ञानवादी का यह मत असगत है। क्यो ? रूपादि ज्ञानरूप कार्य के साधन जैसे चक्षु आदि है, वैसे ही जो निश्चयरूप कार्य की करण (साधन) बुद्धि है, वह आत्मा नही है। क्यो ? सब पदार्थों का निश्चय करने वाली बुद्धि को जो जानता है, वह आत्मा है। वह प्रकाश स्वरूप है, इससे सदा-प्रकाशित रहता है। भास्य और भासक (रूप और सूर्य प्रकाश) जैसे भिन्न है, वैसे भास्य बुद्धि से भासक आत्मा भिन्न है। जैसे घटादि के आकार को प्राप्त हुआ दीपादि का प्रकाश मिश्रभाव से भासमान होता हुआ भी वस्तुत भिन्न स्वभाव का होता है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा बुद्धिवृत्तियो के साथ एकाकार हुआ मिश्रभाव से भासमान है तो भी वस्तुत बुद्धिवृत्तियो से भिन्न, नित्य और शुद्ध ही है।

जैसे एक ही ब्राह्मण को पाठन और पाचन आदि क्रियाओ के कारण पाठक, पाचक आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं, वैसे ही अपचीकृत भूतों के मिलित सत्त्वगुणों के अंशों का कार्यभूत अन्त.करण निश्चय क्रिया के कारण बुद्धि और सकल्प-विकल्प क्रिया के कारण मन कहा जाता है। इसलिये अहंआकार वाली अन्तरवृत्ति बुद्धि और इदंआकार वाली बाह्यवृत्ति मन अन्त.करण से भिन्न नहीं है। इस प्रकार

देह, इन्द्रिय और मन की भांति बुद्धि भी भौतिक होने से अनात्मा है। कठोपनिषद् की तीसरी बल्ली मे जो रूपक बताया है उसमे बुद्धि को "सारथि" और आत्मा को "रथी" बताकर बुद्धि की अनात्मता का वर्णन किया है। और आत्मा को क्षणिक मानना भी असगत है। यदि ज्ञाता आत्मा को क्षणिक मानें तो धन देने वाले आत्मा के नष्ट हो जाने पर वर्ष पीछे धन लेने का कार्य कौन करेगा ? प्रथम क्षण मे भोजन करने वाले का दूसरे क्षण मे नाश हो जाने से भोजन के पश्चात् "मैं भोजन करने बैठा अब तृप्त हो गया हूँ।" ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे सभव होगी ? और यदि यह कहै प्रत्यभिज्ञा भ्राति से होती है और पूर्व नष्ट हुये आत्मा आदि के सस्कार से दूसरे आत्मा की उत्पत्ति हो जाती है। इससे प्रत्यभिज्ञा भी सभव है। यह कहना भी असगत है। क्यो ? जब विज्ञानवादी क्षणिक आत्मा को दूसरे क्षण मे विनाशी मानता है तो भ्राति के द्रष्टा और अधिष्ठान के न होने से भ्राति ही असभव है। समाधान के लोभ से यदि सस्कार मान भी लें तो भी उसका आश्रय तो बताना होगा। यदि वह आश्रय विज्ञानरूप है तो निर्विशेष सिद्धान्त की हानि होगी। विज्ञान से भिन्न पदार्थ तो है नही। इसलिये सस्कार विज्ञानरूप मानना होगा और उसमें आत्माश्रय दोष आयेगा। जब आत्मा उत्तरक्षण मे रहेगा ही नही तो मोक्ष के साधनो मे कैसे प्रवृत्त होगा। "मेरी बुद्धि मद वा तीव्र है" इस वाक्य से ज्ञात होता है, बुद्धि ममता की विषय है। इससे उसकी मन्दता, तीव्रता को जानने वाला आत्मा बुद्धि से भिन्न है और बुद्धि स्वप्रकाश नही है अपितु परप्रकाश है। इस प्रकार विज्ञानवादी का मत असंगत है।

भट्ट का मत (आनन्दमय कोश आत्मा) और उसका खडन

पूर्वमीमांसा का वार्त्तिककार भट्ट यह कहता है.—विद्युत के समान क्षणिकरूप आत्मा नहीं है, किन्तु स्थिरस्वरूप आत्मा जड़स्वरूप और चेतनरूप है। यह उसका अभिप्राय है —सुषुप्ति से जागकर पुरुष यह कहता है :—"मैं जड होकर सोया था" इससे आत्मा जड़रूप है। और [illegible] की स्मृति होती है, [illegible] की स्मृति नहीं होती। आत्मस्वरूप से

भिन्न ज्ञान के सुषुप्ति मे अन्य साधन नही है। इससे स्मृति का हेतु सुषुप्ति मे ज्ञान है, वह आत्मा का स्वरूप ही है। इस रीति से खद्योत के समान आत्मा प्रकाश और अप्रकाशरूप है। ज्ञानरूप है, इससे प्रकाशरूप है। और जड है, इससे अप्रकाशरूप है। सो प्रकाशरूप और अप्रकाश-रूप आनन्दमय कोश है। क्यो ? सुषुप्ति मे चेतन के आभाससहित जो अज्ञान है, उसको आनन्दमय कोश कहते है। वहा आभास तो प्रकाश-रूप है और अज्ञान अप्रकाशरूप है। इससे भट्ट के मत मे आनन्दमय कोश ही आत्मा है। आत्मा को जड चेतन उभयरूप मानने वाला भट्ट का मत भी असगत है। क्यो ? तेज को तिमिर कहना वा "यह मनुष्य घट है" इसकी भाति एक ही पदार्थ मे दोनो रूप सिद्ध नही होते। वे एक ही आत्मा मे दोनो अ श मानते है, जडाश को गोचर तथा चेतनाश को अगोचर। परन्तु एक ही आत्मा मे यह विलक्षणता सभव नही है। जैसे अकेले दड को देखने से ही दडी का ज्ञान नही होता, दड और पुरुष दोनो को साथ देखकर ही 'दडी' कहते है, ऐसे ही अकेले जड अ श के ज्ञान से आत्मा को उभयरूप सिद्ध नही कर सकते। यदि चेतन अ श को भी अनुभवगोचर मानें तो जड कल्पित होगा। फिर यह प्रश्न है — आत्मा के जडचेतन अ शो का परस्पर सम्बन्ध सयोग है, वा तादात्म्य है, वा विषय विषयी भाव है ? प्रथम पक्ष मानें तो आत्मा अनित्य होगा। सयोग सबन्ध दो अनित्य पदार्थों का ही होता है। द्वितीय पक्ष मे चित् और जड दोनो अ शो की एकता माननी होगी। और इस प्रकार मानने से चेतनाश जड और जडाश चेतन हो जायगा। तृतीय पक्ष मे घट की भाति दोनो की अनात्मता हो जायगी। श्रुति मे आत्मा को विज्ञानघन कहा है। इससे आत्मा को अर्धजड मानना प्रमाणरहित है। आत्मा की जडता की सम्पादिका स्मृति तो सुषुप्ति मे स्थित अज्ञानाश की स्मृति है, आत्मा की जड़ता की नही है। इस प्रकार आत्मा की जड चेतन उभयरूपता असंगत सिद्ध होने से भट्ट का मत असगत है।

माध्यमिक बौद्ध का मत (आनन्दमय कोश आत्मा) और उसका खडन

शून्यवादी बौद्ध माध्यमिक यह कहते है :—आत्मा निरश है।

इससे एक आत्मा को प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप कहना नही बनता। और खद्योत का तो एक अश प्रकाशरूप है और दूसरा अश अप्रकाश रूप है। उसके समान अश रहित आत्मा मे उभयरूप कहना असगत है। इससे उभयरूप की सिद्धि के लिये आत्मा अश सहित ही मानना होगा। जो अश वाले पदार्थ घटादिक है, वे उत्पत्ति और नाशवाले ही होते है, वैसे आत्मा भी अशसहित होने से उत्पत्ति नाशवाला ही मानना होगा। जो उत्पत्ति नाशवाला पदार्थ होता है, सो उत्पत्ति से पूर्व और नाश से अनन्तर असत् होता है। जो आदि अत मे असत् होता है सो मध्य मे सत् नही होता, किन्तु मध्य मे भी असत् ही होता है। इससे आत्मा असत्रूप है, वैसे आत्मा से भिन्न भी सपूर्ण पदार्थ उत्पत्ति नाशवाले है, इससे असत्रूप है। इस रीति से आत्मा और अनात्मा समग्र वस्तु असत् रूप होने से शून्य ही परम तत्त्व है।

यह शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध का मत है। सो भी अज्ञानरूप आनन्दमय कोश का प्रतिपादन करता है। क्यो ? अज्ञान तीन रूप से प्रतीत होता है। अद्वैतशास्त्र के सस्कार से रहित जो मूढ उनको तो जगत्रूप परिणाम को प्राप्त अज्ञान, सत्य प्रतीत होता है। और अद्वैतशास्त्र के अनुसार युक्ति निपुण पडितो को सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीयरूप अज्ञान और उसका कार्य प्रतीत होता है। और ज्ञान निष्ठा को प्राप्त जो जीवन्मुक्त विद्वान् उनको कार्यसहित अज्ञान तुच्छरूप प्रतीत होता है। तुच्छ, असत्, शून्य, ये तीन शब्द एक ही अर्थ को कहते है। इस रीति से जीवन्मुक्त को तुच्छरूप जो प्रतीत हो अज्ञान, उसमे मोहित शून्यवादी परम पुरुषार्थ को नही जानते है, किन्तु तुच्छरूप आनन्दमय कोश को ही आत्मा कहते है। सो शून्यवादी का उक्त मत भी असगत है। क्यो ? इस शून्य को साक्षीसहित, साक्षीरहित वा स्वप्रकाश मान सकते है। प्रथम पक्ष मे शून्य का साक्षी शून्य से भिन्न होगा, वही आत्मा है, ऐसा सिद्ध होगा। दूसरे पक्ष में साक्षी रहित शून्य की सिद्धि ही न होगी। तीसरे पक्ष मे तो स्वप्रकाश रूप जिस ब्रह्म को हम मानते है, वही सिद्ध होगा, शून्य सिद्ध होगा

ही नही। "यह जगत् आगे असत् ही था" यह श्रुति वाक्य पूर्वापर के विरोध के कारण शून्य का प्रतिपादक नही है, अपितु नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध आदि वादी जो प्रागभाव आदि को जगत् का कारण मानते है, उसका निषेध करता है। इस प्रकार शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध का मत भी असगत है।

प्रभाकर और नैयायिक का मत (आनन्दमय कोश आत्मा) और उसका खडन

पूर्व मीमासा का एक देशी प्रभाकर और नैयायिक यह कहते है — आत्मा शून्य रूप नही है। क्यो ? जो शून्यरूप आत्मा मानें उसको यह पूछते है —शून्यरूप का तुमने अनुभव किया है, अथवा नही ? यदि कहै "शून्य का अनुभव किया है" तो जिसने शून्य का अनुभव किया है, वह आत्मा शून्य से विलक्षण सिद्ध होता है। और यदि ऐसे कहै "शून्यरूप का अनुभव नही किया"। तो शून्य नही है, यह सिद्ध होता है। इस रीति से शून्य से विलक्षण आत्मा है। उसमे मन के सयोग से ज्ञान होता है। उस ज्ञान गुण से आत्मा को चेतन कहते है। और स्वरूप से आत्मा जड है। वैसे सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदिक गुण आत्मा मे है। उनके मत मे भी आनन्दमय कोश ही आत्मा है। और विज्ञानमय कोश जो बुद्धि है, उसको आत्मा का ज्ञान गुण कहते है। क्यो ? आनन्दमय कोश मे चेतन गूढ है, विवेकहीन को प्रतीत नही होता। और प्रभाकर तथा नैयायिक आत्मा को सुषुप्ति मे ज्ञानहीन मानकर स्वरूप से जड कहते है। इससे गूढ़चेतन आनन्दमय कोश मे ही उनको आतमभ्राति है। और आत्म-स्वरूप नित्यज्ञान को तो जीव मे वे मानते नही है, किन्तु अनित्यज्ञान मानते है। सो अनित्यज्ञान सिद्धान्त मे अन्त.करण की वृत्ति बुद्धिरूप है। इस रीति से प्रभाकर, नैयायिक मत मे आनन्दमय कोश आत्मा है और बुद्धि उसका गुण है। उनका मत भी समीचीन नही है। नैयायिक और प्रभाकर सुषुप्ति मे ज्ञान न होने से आत्मा को जड मानते है, परन्तु सुषुप्ति से उठे हुए पुरुष को "मैने कुछ भी नही जाना, सुख से

सोया" इस प्रकार सुषुप्तिकालीन अज्ञान और सुख की स्मृति होती है। यदि आत्मा जड हो तो उसको किसी भी प्रकार की स्मृति नही होनी चाहिये। श्रुति मे आत्मा को निर्गुण कहा है। इससे इच्छादिक आत्मा के गुण नही है। अन्त करण के धर्म है, वे अध्यास से आत्मा मे प्रतीत होते है। श्रुति मे भी इच्छादिक अन्त करण के गुण बताये है। और नैयायिक आदि आत्मा को विभु और नाना स्वीकार करते है। इससे सब आत्माओ का सब देहो, सब कर्मो और सब भोगो तथा सब मनो के साथ सम्बन्ध रहेगा। फिर यह व्यवस्था कैसे होगी, किस आत्मा का कौन सा देह कर्म आदि है। इस प्रकार अनेक दोषो के कारण नैयायिक और प्रभाकरो का मत असगत है। और —

जीव के पचकोशो के समान ईश्वर के पचकोश भी ईश्वर के स्वरूप के आच्छादक हैं

ज्ञान से भिन्न जो जड वस्तु घटादिक है, वे अनित्य है, वैसे आत्मा भी ज्ञान स्वरूप नही हो तो घटादिको के समान जड होने से अनित्य होगा। यदि आत्मा अनित्य हो तो मोक्ष के अर्थ साधन निष्फल होगा, इस रीति से वेदान्त वाक्यो मे विश्वास हीन अनेक बहिर्मुख पचकोशो मे ही किसी पदार्थ को आत्मा मानते है और मुख्य आत्मस्वरूप साक्षी को नही जानते है। अन्नमयादिक आत्मा के आच्छदक है इससे इनको कोश कहते है। जैसे जीव के पचकोश जीव के यथार्थ स्वरूप साक्षी को आच्छादन करते है, वैसे ईश्वर के समष्टि पचकोश ईश्वर के यथार्थ स्वरूप कोआच्छादन करते है। क्यो ? ईश्वर का यथार्थस्वरूप तो तत्पद का लक्ष्य है। उसको त्यागकर कोई तो मायारूप आनन्दमय कोश विशिष्ट जो अतर्यामी तत्पद का वाच्य, उसको ही परम तत्त्व कहते है। वैसे हिरण्यगर्भ, वैश्वानर, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, देवी, सूर्य से आदि असि, कुदाल, पीपल, अर्क, वश पर्यन्त पदार्थो मे परमात्मा की भ्राति करते है। यद्यपि सर्व पदार्थो मे लक्ष्य भाग परमात्मा से भिन्न नही है, तथापि उस उस उपाधिसहित को जो परमात्मा मानते हैं, सो उनको भ्राति है। इस रीति से पचकोशो से आवृत जो जीव

ईश्वर का परमार्थ स्वरूप, उससे विमुख होकर देहादिको मे आत्म-भ्राति करके पुण्य पाप कर्म करते है। और अतर्यामी से आदि वश पर्यन्त को ईश्वररूप मानकर आराधन करके सुख चाहते है। जैसी उपाधि का आराधन करते है, उसके अनुसार ही उनको फल होता है। क्यो ? कारण, सूक्ष्म, स्थूल प्रपच सब ईश्वर के तीन शरीरो के अतर्भूत है। उसमे उपासना के अनुसार फल भी सबसे ही प्राप्त होता है। परन्तु ब्रह्म ज्ञान बिना मोक्ष नही होता। यदि मोक्ष की इच्छा हो, तो विवेक से जीव, ईश्वर के स्वरूप को पचकोशो से पृथक् करे। दृष्टात :—जैसे मुज और इषीका (तूली) मिली हुई रहती है उनको तोडकर पृथक् करते है, वैसे विवेक से जीव, ईश्वर के स्वरूप को पच कोशो से पृथक् जाने।

पचकोश विवेक का प्रकार

स्वप्न अवस्था मे स्थूल देह का भान नही होता और आत्मा भान (प्रतीत) होता है। वैसे सुषुप्ति अवस्था मे सूक्ष्मशरीर का ज्ञान नही होता और सुखस्वरूप आत्मा स्वयप्रकाशरूप से प्रतीत होता है। सुख का ज्ञान सुषुप्ति मे नही हो तो "मै सुख से सोया था" ऐसी स्मृति जागकर नही होनी चाहिये। इससे सुख का ज्ञान सुषुप्ति मे होता है वह सुख सुषुप्ति मे विषयजन्य नही है, किन्तु आत्मस्वरूप ही है। सो आत्मा स्वयप्रकाश है। इससे सुखस्वरूप आत्मा स्वयप्रकाश रूप से सुषुप्ति मे भासता है। और निदिध्यासन के फल निर्विकल्प समाधि अवस्था मे निरावरण अर्थात् अज्ञानकृत आवरण से रहित आत्मा भासता है और अज्ञान अर्थात् कारण शरीर रूप अज्ञान नही भासता है। इस प्रकार तीनो देह व्यभिचारी है। एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था मे नही भासते है। और आत्मा अनुगत है, सर्व अवस्थाओ मे भासता है। इससे व्यापक है। इस प्रकार के विवेक से तीनो शरीरों से आत्मा को अलग जानो। स्थूल शरीर तो अन्नमय कोश है। कारण शरीर आनन्दमय कोश है। और सूक्ष्मशरीर मे प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय ये तीन कोश है। इससे तीन शरीरो के विवेक से पचकोश

का ही विवेक होता है। जैसे जीव का स्वरूप पचकोशो से पृथक् है, वैसे ईश्वर का स्वरूप भी समष्टि पचकोशो से पृथक् है।

महावाक्य के अर्थ का उपदेश

इस रीति से पचकोशो से आत्मा को अलग जानने से भी कृतकृत्य नही होता, किन्तु जीव ब्रह्म के अभेद निश्चय के लिये फिर भी विचार कर्त्तव्य रहता है। इससे कर्त्तव्य अभाव रूप कृत कृत्यता की सिद्धि के लिये महावाक्य के अर्थ का उपदेश करते है। पचकोश से आत्मा को भिन्न जानकर वह आत्मा ब्रह्म रूप है यह जाने। इसमे ऐसी शका होती है :—आत्मा पुण्य पाप करता है। इससे स्वर्ग, नरक और मृत्यु लोक मे नाना प्रकार के सुख दु ख भोगता है। उसकी ब्रह्म से एकता नही बनती है। समाधान —उस ब्रह्मरूप आत्मा से भिन्न जो देखने मे आता है और शास्त्र से सुना जाता है, स्वर्ग नरक पुण्य पाप सो सपूर्ण मिथ्या भ्रम है ऐसा मानो। जो वस्तु मिथ्या होती है वह अधिष्ठान का कुछ भी नही बिगाड सकती है। कैसे ? जैसे स्वप्न की मिथ्या भिक्षा मागने से राजा दरिद्री नही होता है और मरुस्थल के मिथ्या जल से भूमि गीली नही होती है, तथा मिथ्या सर्प से रज्जु विष सहित नही होती है। इससे सपूर्ण मिथ्या शुभअशुभ क्रिया का कर्ता प्रतीत होता है तो भी अकर्ता अर्थात् परमार्थ से कर्ता नही है। ऐसा अनूप और आश्चर्यरूप आत्मा का स्वरूप है। इसका भाव यह है :— ब्रह्म से अभिन्न आत्मस्वरूप मे स्थूलसूक्ष्मशरीर और उनकी शुभ अशुभ क्रिया और उसका फल जन्म, मरण, स्वर्ग, नरक, सुख, दु.ख, सपूर्ण अविद्या से कल्पित है। उस कल्पित सामग्री से आत्मा का ब्रह्म भाव नही बिगडता है। इससे ज्ञान से प्रथम भी आत्मा ब्रह्म स्वरूप ही है। उसमे तीन काल मे भी शरीर और उसके धर्मो का सबन्ध नही होता है, किन्तु आत्मा सदा ही नित्य मुक्त है। उसका ब्रह्म से कभी भी भेद नही होता है।

जीवन्मुक्त का निश्चय और वेदान्त श्रवण का फल

यदि ऐसा कहै :—आत्मा सदा ही नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप होता

है, तो श्रवणादिक ज्ञान के साधन निष्फल होगे। उसका समाधान — जीवन्मुक्त विद्वान् की दृष्टि मे अज्ञान और उसका कार्य तुच्छ है। सो जीवन्मुक्त का निश्चय यह है —प्रपञ्च आकाश के पुष्प के समान नही है। इससे उसका कर्ता ईश्वर भी नही है। साक्षी के विषय अज्ञानादिक को साक्ष्य कहते हैं। सो साक्ष्य नही है, इससे साक्षी भी नही है। दृश्य के प्रकाशक को दृक् कहते है और प्रकाश करने योग्य देहादिक को दृश्य कहते है। सो देहादिक दृश्य नही है। इससे दृक् भी नही है। यद्यपि केवल कूटस्थ चेतन को साक्षी और दृक् कहते है, उसका निषेध नही बनता। तथापि साक्ष्य की अपेक्षा से साक्षी नाम और दृश्य की अपेक्षा से दृक् नाम है। साक्ष्य और दृश्य का अभाव है। इससे साक्षी और दृक् नाम का निषेध करते हैं, स्वरूप का नही। और बध हो तो बध की निवृत्ति रूप मोक्ष हो। बंध नही है, इससे मोक्ष भी नही है। और अज्ञान हो, तो उसका ज्ञान से नाश हो। अज्ञान नही है, इससे उसका नाशक ज्ञान भी नही है।

यह जानकर कर्त्तव्य को त्याग दे अर्थात् "मेरे को यह करने योग्य है" इस बुद्धि को त्याग दे। क्यो ? यह लोक तथा परलोक तो तुच्छ है। उनके निमित्त कुछ कर्त्तव्य नही है। आत्मा मे बन्ध नही है, इससे मोक्ष के निमित्त भी कर्त्तव्य नही है। इस रीति से आत्मा को नित्यमुक्त ब्रह्मरूप जानकर जब निश्चल होकर सब कर्त्तव्य भावना त्यागे तब अक्रिय ब्रह्मस्वरूप विदेह मोक्ष को प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय यह है —यद्यपि आत्मा ज्ञान से प्रथम भी नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही है, परन्तु ज्ञान से पूर्व आत्मा को मिथ्या ही कर्ता भोक्ता मानकर सुख प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये अनेक साधन करता है, उनसे क्लेश को ही प्राप्त होता है। जब उत्तम आचार्य मिलें तब वेदान्त वाक्यों का उपदेश करते है। उन वेदान्त वाक्यो के श्रवण से ऐसा ज्ञान होता है —"मै कर्ता भोक्ता नही हूँ, किन्तु मै ब्रह्मस्वरूप हूँ। इससे मेरे को किंचित् भी कर्त्तव्य नही है"। ऐसा जानना ही श्रवणादिकों का फल है। और ब्रह्म की प्राप्ति वेदात श्रवण का फल नही है। क्यो ? ब्रह्म अपना स्वरूप है, इससे नित्य

प्राप्त है। कर्त्तव्य मानना ही अज्ञान का चिन्ह है और जो अन्य रूप होना नही चाहता उसी को ज्ञानी कहते है।

गोप्य तत्त्व का उपदेश

ब्रह्म एक, अखडित, असग, अजन्म, अरूप, अनाम है। उसमे मूल अज्ञान और सूक्ष्म, स्थूलता, समष्टि, व्यष्टिपना नही है। शुद्ध ब्रह्म मे ईश्वर, सूत्र, विराट्, प्राज्ञ, तैजस, विश्वरूपता भी नही है। भोग, योग, बध, मोक्ष आदि कुछ भी शुद्धब्रह्म मे नही है और ब्रह्म व्यापक है, इससे सब उसी मे विवर्त्त रूप से है। जो जाग्रत मे प्रपच प्रतीत होता है, वह सब बुद्धि का विलास ही बना हुआ है। कैसे ? जैसे स्वप्न मे भोग्य और भोग कुछ भी नही होता, तो भी विचित्र चित्ररूप बना हुआ प्रतीत होता है, किन्तु जब बुद्धि सुषुप्ति मे लीन हो जाती है तब सब भेद भाग जाते है। उस स्थिति मे एक रूप ही रहता है। ऐसा ही ज्ञानीजनो से सुना जाता है। यह सब बुद्धि ने ही मनोरथ मात्र रचा है। बुद्धि का प्रकाशक निश्चल ब्रह्म ही सिद्धान्त मे ज्ञानियो ने कहा है। इससे क्षणिक विज्ञानवादी के मत मे अतिव्याप्ति नही है। क्यो ? उसके मत मे बुद्धि से भिन्न पदार्थ प्रकाशक नही है। जिसके हृदय मे ज्ञानरूप प्रकाश प्रकट हो जाता है तब अज्ञानरूप अधकार निश्चय ही नष्ट हो जाता है। फिर तो सदा असग, एकरस आत्मस्वरूप ब्रह्म स्वय प्रकाशरूप से भासता है। उस स्थिति मे ऐसा निश्चय होता है —न तो कुछ हुआ था, न है, और न होगा। यह सपूर्ण जगत् मनोरथमात्र और बुद्धि का विलास है। फिर तो जैसे ब्रह्मज्ञानी को कोई आशा नही होती है, वैसे ही उक्त स्थिति प्राप्त होने पर जिज्ञासु ज्ञाननिष्ठ हो जाता है। इससे मनोरथ मात्र जगत् के प्राप्ति की तथा निवृत्ति की इच्छा नही करता है।

उक्त स्थिति मे इन्द्रियो का साक्षी बन कर रहता है। इन्द्रिय शरीर निर्वाह के लिये अपने २ विषयो मे जाती है, किन्तु वह अपने को उनसे असग ही समझता है और कहता है मैं इन्द्रियरूप नही हूँ और न मेरी इन्द्रिय है। मै तो इन्द्रियो का साक्षी, कूटस्थ और असग हूँ। ये

इन्द्रिय विषयो का त्याग करें या नही करें, इनका रग मुझ आत्मा को नही लगता। ज्ञानी का ऐसा निश्चय होता है। वह शरीर निर्वाह के लिये शरीर से क्रिया करता हुआ दीखता है, किन्तु आत्मदृष्टि से कुछ भी नही करता है। उक्त उपदेश से भी कृतार्थ नही हो, उस स्थूल बुद्धि वाले के लिये स्थूल रीति से उपदेश करने के लिये गुरुजन लयचिन्तन रीति से उपदेश करते है।

लयचिन्तन प्रकार, सर्वप्रपच की ईश्वररूपता

कार्य को कारण रूप जानकर जो चिन्तन किया जाता है, उसको लय-चिन्तन कहते है। जैसे मिट्टी के कार्य मे बाहर भीतर मिट्टी है, इससे मिट्टी के सर्व कार्य मिट्टी स्वरूप ही होते है। जल के कार्य फेन, बुदबुदा, तरग जल से उत्पन्न होते है, वे सब जल से भिन्न नही होते। ऐसे ही जो जिसका कार्य होता है, वह अपने उपादान कारण से भिन्न नही होता, उसी का स्वरूप होता है। सकल प्रपच का मूल कारण ईश्वर है। इससे सर्व कार्य रूप प्रपच ईश्वरस्वरूप से भिन्न नही है किन्तु सर्वप्रपच का स्वरूप ईश्वर ही है। "सो ईश्वर मै हूँ" इस रीति से लयचिन्तन जानकर करना चाहिये।

सर्वसूक्ष्म सृष्टि की अपचीकृत भूतरूपता

लयचिन्तन का सक्षेप से यह क्रम है —स्थूल ब्रह्माड सर्व पचीकृत भूतो का कार्य है। वहा जो पृथ्वी का कार्य है सो पृथ्वी स्वरूप है और जल का कार्य जल स्वरूप है। इस रीति से जिस भूत का जो कार्य है, सो उसी का स्वरूप है। इस प्रकार सर्वस्थूल ब्रह्माड पचीकृत भूत स्वरूप है। वैसे पंचीकृत भूत भी अपचीकृत भूतो के कार्य है। इससे अपचीकृत भूत स्वरूप ही पचीकृत भूत है, भिन्न नही है। और अन्त करण आदिक सूक्ष्म सृष्टि भी अपचीकृत भूतो का कार्य होने से अपचीकृतभूत स्वरूप ही है। उसमे अन्त करण सर्व भूतो के सत्त्वगुण के कार्य है। इससे सत्त्वगुण स्वरूप है। भूतो के रजोगुण अश के कार्य प्राण, रजोगुण स्वरूप है। गुदाइन्द्रिय पृथ्वी के रजोगुण अश का कार्य है, सो पृथ्वी के रजोगुण का स्वरूप है। घ्राणइन्द्रिय पृथ्वी के सत्त्वगुण का कार्य है,

सो पृथ्वी के सत्त्वगुण का स्वरूप है । ऐसे रसना और उपस्थ जल के सत्त्वगुण, रजोगुण स्वरूप है । नेत्र और पाद तेज के सत्त्वगुण, रजोगुण स्वरूप है । त्वक् और पाणि वायु के सत्त्वगुण, रजोगुण स्वरूप है । श्रोत्र और वाक् आकाश के सत्वगुण, रजोगुण स्वरूप है । इस रीति से सब सूक्ष्म सृष्टि अपचीकृत भूत स्वरूप है।

सर्व अनात्म पदार्थों का क्रम से ब्रह्म मे लयचिन्तन

उक्त प्रकार लयचिन्तन करके अपचीकृत भूतो का भी लयचिन्तन करे । पृथ्वी जल का कार्य है, इससे जलस्वरूप है । तेज का कार्य जल है, इससे तेजस्वरूप है । तेज वायु का कार्य होने से वायुस्वरूप है । आकाश का कार्य वायु, आकाश स्वरूप है । तमोगुणप्रधान प्रकृति का कार्य आकाश प्रकृति स्वरूप है । और माया की अवस्था विशेष ही प्रकृति है, इससे प्रकृति माय स्वरूप है । एक ही वस्तु के प्रधान, प्रकृति, माया, अविद्या, अज्ञान, शक्ति, ये नाम है । सर्व कार्य को अपने मे लीन करके प्रलय मे स्थित उदासीन स्वरूप को प्रधान कहते है । सृष्टि के उपादान योग्य तमोगुणप्रधान स्वरूप को प्रकृति कहते है, वा प्रकर्ष से सर्वजगत् को करती है, ऐसी जो सृष्टि की उपादान कारण उसको प्रकृति कहते है किवा "प्र" सत्त्वगुण, "कृ" रजोगुण दोनो से युक्त "ति" तमोगुण, उस तमोगुण प्रधान स्वरूप को प्रकृति कहते है । जैसे देश कालादिक सामग्री बिना ही दुर्घट पदार्थ की इन्द्रजाल से उत्पत्ति होती है । वहा इन्द्रजाल को माया कहते है, वैसे असग अद्वितीय ब्रह्म मे इच्छादिक दुर्घट है, उनको करती है, इससे माया कहते है । स्वरूप को आच्छादन करने से अज्ञान कहते है । ब्रह्मविद्या से नाश होती है, इससे अविद्या कहते है । स्वतत्र कभी भी नही रह सकती, किन्तु चेतन के आश्रित ही रहती है, इससे शक्ति कहते है । इस रीति से प्रकृति आदिक प्रधान के ही भेद है, इससे प्रधानरूप है । वह प्रधान ब्रह्मचेतन की शक्ति है । इससे ब्रह्मस्वरूप ही है ।

कैसे ? जैसे पुरुष मे सामर्थ्यरूप शक्ति पुरुष से भिन्न नही है, वैसे

चेतन मे प्रधानरूप शक्ति ब्रह्मचेतन से भिन्न नही है। यद्यपि ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म से भिन्न कहेगे तो अद्वैत श्रुति से विरुद्ध होगा और अभिन्न कहेगे तो, उसको ब्रह्मरूप होने से ब्रह्म से भिन्नता का द्योतक शक्ति नाम से कथन व्यर्थ होगा। इससे शक्ति के ब्रह्म से भेद अभेद दोनो कहने होगे और भेद अभेद दोनो धर्म तम प्रकाश के समान एक आश्रय मे नही रह सकते। तथापि शक्ति का ब्रह्म के साथ रज्जु से सर्प के सबन्ध के समान कल्पितभेद और वास्तव अभेदरूप अनिर्वचनीय तादात्म्य सबन्ध है। इससे शक्ति का अपने शक्त (आश्रय) से वास्तव भेद के अभाव से और कोई भी प्रमाण से भिन्न प्रतीति के अभाव से सो शक्ति ब्रह्म से भिन्न नही है, किन्तु जैसे कल्पित सर्प परमार्थ से रज्जुरूप है, वैसे शक्ति परमार्थ से ब्रह्मरूप ही है। इस प्रकार से सर्व अनात्म पदार्थो का ब्रह्म मे लयचिन्तन करके "सो अद्वयब्रह्म मै हू" यह चिन्तन करे। यह अध्यारोप अपवाद रूप सृष्टि का सक्षिप्त परिचय है।

इति श्री सृष्टि निरूपण अश १४ समाप्त।

अथ उपासना निरूपण अश १५

ध्यान और ज्ञान का भेद, अहग्रह ध्यान

कृपया अब ज्ञान मे उपयोगी उपासना का भी सम्यक् प्रकार परिचय देने की कृपा करे? जिसको महावाक्य विचार करने से भी बुद्धि की मदतादिक किसी प्रतिबधक से अपरोक्ष ज्ञान नही हो, उसको उक्त १४वें अश मे कथित लयचिन्तन रूप ध्यान करना चाहिये। बुद्धि मदतादि मे आदि शब्द से बुद्धिमदता के सहवर्ती विषयाशक्ति, कुतर्क और विपर्यय दुराग्रहरूप त्रिविध वर्त्तमान प्रतिबधक का, और धन पुत्रादिरूप प्रिय वस्तु के नाश होने के पीछे भी उनके अनुसधान (अविस्मरण) रूप भूत प्रतिबाधक का तथा ब्रह्मलोकादिक की इच्छा किवा जन्मातर के हेतु शेष प्रारब्धरूप भविष्य (आगामी) प्रतिबाधक का ग्रहण करना चाहिये।

ध्यान और ज्ञान का इतना भेद है —ज्ञान तो प्रमाण और प्रमेय

के अधीन है। विधि और पुरुष की इच्छा के अधीन नहीं है। यहा यह रहस्य है —भ्रातिज्ञान, स्मृतिज्ञान, और प्रमाज्ञान, भेद से ज्ञान तीन प्रकार का है। उनमे भ्रातिज्ञान केवल वस्तु (भ्रमरूप विषय) के अधीन है। और स्मृति ज्ञान तो अपने विषय के सदृश वा तत्सबन्ध वस्तु के ज्ञान से वा अपने विषय (पूर्वदृष्ट वस्तु) के ज्ञान के चिन्तन से उदय हुये पूर्व दृष्टवस्तु के मनोमय आकार के अधीन है। और प्रमाज्ञान के अतर्गत जो सुखादिक का ज्ञान सो न्यायमत मे और वाचस्पति मिश्र के मत मे तो मनरूप प्रमाण और सुखादिरूप प्रमेय के अधीन है। परतु सिद्धात मे मन मे प्रमाणता के अनगीकार से सुखादिक का ज्ञान केवल प्रमेय (सुखादिरूप वस्तु) के अधीन है और अन्य जो प्रमाज्ञान है वे इन्द्रिय अनुमानादिरूप प्रमाण का जो प्रमेयरूप वस्तु के साथ सबन्ध होता है, उसके अधीन होते है। उनमे शब्द प्रमाण से जन्य ब्रह्मज्ञानरूप जो शाब्दी प्रमा है, सो महावाक्यरूप शब्द प्रमाण का और प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्मरूप प्रमेय का लक्षणा वृत्तिरूप जो परपरा सबन्ध है, उसके ज्ञान के अधीन है। और अन्य लौकिक पदार्थो का शाब्दी प्रमा रूप जो ज्ञान है सो कही शक्ति वृत्तिरूप सबन्ध के ज्ञान के अधीन है। कही लक्षणावृत्ति रूप सबन्ध के ज्ञान के अधीन है। इस रीति से कोई ज्ञान ज्ञेयरूप वस्तुमात्र के अधीन है। और कोई ज्ञान प्रमाण और प्रमेयरूप वस्तु के सबन्ध वा तत्सबन्ध के ज्ञान के अधीन है। भ्रम प्रमा के साधारण ज्ञान के विषय को ज्ञेय कहते है। उसमे प्रमेयपना नही है। और केवल प्रमाज्ञान के विषय को प्रमेय कहते है, उसमे ज्ञेयपना भी है। इस प्रकार सर्वज्ञान वस्तु के अधीन है। यहा "वस्तु" शब्द से ईश्वररचित वा मनोमय (परोक्षज्ञान के विषय) वा भ्रमरूप वस्तु के साथ प्रमाण द्वारा वा साक्षात् वृत्ति के सबन्ध का ग्रहण है। इससे ज्ञान विधि आदिक के अधीन नही है। ध्यान, विधि, पुरुष की इच्छा, विश्वास तथा हठ के अधीन है। क्यो ? ध्यान जो उपासना सो वस्तु के अधीन नही है, किन्तु कर्ता के अधीन है। यद्यपि ध्यान भी मन की वृत्तिरूप है, तथापि सो पुरुष से करे इच्छा आदिक के अधीन है, वस्तु के अधीन नही है। इससे सो मानसज्ञान नही है किन्तु मानस क्रिया

है। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रमाणनेत्र और प्रमेय घटादिक है। वहा नेत्र का और घट का सबन्ध होने पर पुरुष की इच्छा बिना भी घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी के दिन चन्द्रदर्शन का निषेध है। विधि नही है और पुरुष को यह इच्छा होती है :—"आज मुझे चन्द्र दर्शन नही होना चाहिये।" तो भी किसी रीति से नेत्रप्रमाण का प्रमेय चन्द्र से सबन्ध हो जाय तो चन्द्र का प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य ही होता है। इस रीति से प्रमाण प्रमेय के अधीन ज्ञान है। और "शालिग्राम विष्णु रूप है" यह ध्यान करे, उसको उत्तम फल प्राप्त होता है। वहा शास्त्र प्रमाण से विष्णु को तो चतुर्भुज मूर्ति, शख, चक्र, गदा, पद्म, लक्ष्मी सहित जानता है। और नेत्र प्रमाण से शालिग्राम को शिला जानता है। तथापि विधि, विश्वास, इच्छा से "शालिग्राम विष्णु है" यह ध्यान होता है। परन्तु सो ध्यान नाना प्रकार का है। कही तो अन्य वस्तु का अन्य रूप से ध्यान। जैसे शालिग्राम का विष्णु रूप से ध्यान, इसको प्रतीक ध्यान कहते है। जिसकी वृत्ति शास्त्र द्वारा परोक्ष ध्येय मे स्थित नही हो, वह पुरुष, पुरुष के प्रेरक शास्त्र के वचनरूप विधि से बोधित (अन्य ध्येय के प्रतिनिधिरूप) वस्तु मे अन्य (ध्येय) की बुद्धि से उपासना करे उस अन्य मे अन्य की बुद्धि से उपासना (ध्यान) को प्रतीक ध्यान कहते है।

वैकुठलोक वासी विष्णु का शखचक्रादिक सहित चतुर्भुज मूर्तिरूप से ध्यान है। वहा अन्य का अन्यरूप से ध्यान नही है, किन्तु ध्येयरूप के अनुसार यह ध्यान है। वैकुठवासी विष्णु का स्वरूप प्रत्यक्ष तो नही है। केवल शास्त्र से जाना जाता और शास्त्र ने शखचक्रादिक सहित ही विष्णु का स्वरूप कहा है। इससे ध्येयस्वरूप के अनुसार ही यह ध्यान है। वैसे "मै ब्रह्म हूँ" इस आकार वाला जो निर्गुण उपासनारूप अहग्रह ध्यान है, वह भी ध्येयानुसार ध्यान है। विधि, विश्वास, इच्छा बिना ध्यान नही होता "यह उपासना करे" ऐसे पुरुष के प्रेरक वचन को विधि कहते है। उस बचन मे श्रद्धा को विश्वास कहते है। और अन्तःकरण की कामनारूप रजोगुण की वृत्ति को इच्छा कहते है।

ध्यान के हेतु ये तीन है, ज्ञान के नही है। ध्यान हठ से होता है। ज्ञान मे हठ की अपेक्षा नही है। क्यो ? निरतर ध्येयाकार चित्त की वृत्ति को ध्यान कहते है। वहा वृत्ति मे विक्षेप हो तो हठ से वृत्ति को स्थिर किया जाता है। और ज्ञानरूप अत करण की वृत्ति से तत्काल आवरण भग होने पर वृति की स्थिति का उपयोग नही है। इससे हठ की अपेक्षा नही है। वैकुठवासी चतुर्भुज विष्णु के ध्यान के समान "मैं ब्रह्म हूँ" यह ध्यान भी ध्येय के अनुसार होने से प्रतीक नही है, परतु यह अहग्रह ध्यान है। ध्येयस्वरूप का अपने से अभेद करके चिन्तन करने को अहग्रह ध्यान कहते है। जिस पुरुष को अपरोक्षज्ञान नही हो और वेद की आज्ञारूप विधि मे विश्वास करके हठ से निरन्तर "मै ब्रह्म हूँ" इस वृत्ति की स्थितिरूप अहग्रहध्यान करे। उसको भी ज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होतो है। कैसे ? जैसे सवादी भ्राति से प्रवृत्त हुये पुरुष को यथार्थज्ञान द्वारा इष्ट वस्तु का लाभ होता है, वैसे "मै ब्रह्म हूँ" इस वृत्ति की स्थितिरूप अहग्रहध्यान करे उसको भी ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। मणि की प्रभा मे मणि के भ्रम को सवादी भ्रम कहते है। और दीपक प्रकाश मे मणि की भ्राति को विसवादी भ्रम कहते है, यह विसवादीभ्रम निष्फल होता है। क्यो ? इससे मणि की प्राप्ति नही होती। किन्तु सवादीभ्रम सफल होता है। क्यो ? उससे मणि की प्राप्ति होती है। वैसे ही "मै ब्रह्म हूँ" इस ध्यान से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यद्यपि ध्यान का विषय जो ब्रह्म है सो परमार्थरूप नही है, किन्तु मन कल्पित है, इससे भ्रमरूप है। इससे उसको विषय करने वाली वृत्तिरूप ध्यान भी भ्रातिज्ञान ही है, यथार्थ ज्ञान नही है। तथापि मणि की प्रभा मे मणि बुद्धिरूप सवादी भ्राति करके दौडे पुरुष को मणि के ज्ञान द्वारा मणि की प्राप्ति के समान उक्त ध्यान से ब्रह्म का ज्ञान होकर मोक्ष की प्राप्ति सभव है।

प्रणव की उपासना (प्रणव का अहग्रहध्यान)

अन्यरीति से अहग्रह उपासना —ओकार स्वरूप का अहग्रह ध्यान माडूक्य, प्रश्न,आदिक श्रुति और गौडपादाचार्य कृत माडूक्य उपनिषद् की कारिका के अनुसार सुरेश्वराचार्य ने "पचीकरण" नामक ग्रथ मे

लिखा है। वह करना चाहिये। उसका सक्षेप से यह प्रकार है —प्रणव अक्षर ब्रह्मरूप है। "सो प्रणव रूप ब्रह्म मे हूँ" इस रीति से निरतर अपनी बुद्धि की वृत्ति को स्थित करना चाहिये। इस ध्यान के समान अन्य ध्यान नही है। इस ध्यान की विशेष रीति सुरेश्वराचार्यकृत पची-करण ग्र थ से समझना चाहिये। जो यह प्रणव उपासना करता है, उसको मुनि कहते है। उसका यह अपार ससार तुरन्त नष्ट हो जाता है।

निर्गु ण और सगुण प्रणव की उपासना का फलसहित कथन

यद्यपि प्रणव उपासना बहुत उपनिषदो मे है तथापि माडूक्य उपनिषद् मे विशेष रूप से है। उसके व्याख्यान मे भाष्यकार और आन्दगिरी ने उसकी रीति स्पष्ट लिखी है। वही वार्तिककारने पची-करण मे लिखी है। वही विचार-सागर ग्र थ से यहा लिखी जा रही है :—दो प्रकार से प्रणव का चिन्तन उपनिषदो मे कहा है। एक तो परब्रह्मरूप से प्रणव का चिन्तन कहा है और दूसरा अपर-ब्रह्मरूप से कहा है। निर्गु ण ब्रह्म को परब्रह्म कहते है। सगुण ब्रह्म को अपरब्रह्म कहते है। परब्रह्मरूप से प्रणव का चिन्तन करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है। अपर ब्रह्मरूप से प्रणव का चिन्तन करता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। ऐसे निर्गु ण सगुण भेद से प्रणव उपासना दो प्रकार की है।

निर्गु णरूप प्रणव उपासना का प्रकार

उनमे निर्गु ण उपासना की रीति लिखते है, सगुण की नही। क्यो ? जिसको ब्रह्मलोक की कामना हो, उसको निर्गु ण उपासना से भी कामनारूप प्रतिबधक से ज्ञान द्वारा तत्काल मोक्ष नही होता। किन्तु ब्रह्मलोक की ही प्राप्ति होती है। वहा हिरण्यगर्भ के समान भोगो को भोगकर ज्ञान हो तब मोक्ष होता है। और जिसको ब्रह्मलोक की कामना नही हो, उसको इस लोक मे ही ज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त होता है। इस रीति से सगुण उपासना का फल भी निर्गु ण उपासना के अतर्भू त है। इससे निर्गु ण उपासना का प्रकार ही कहते है। जो कुछ कारण कार्य वस्तु है, सो सब ओकारस्वरूप है। इससे सर्वरूप ओकार है। सर्व-पदार्थों मे नाम और रूप दो भाग है। वहा रूप भाग अपने २ नाम भाग से भिन्न नही है। किन्तु नामस्वरूप ही रूपभाग है। क्यो ? पदार्थ का

रूप अर्थात् आकार है, उसका नाम से निरूपण करके ही ग्रहण वा त्याग होता है। नाम जाने बिना केवल आकार से व्यवहार सिद्ध नही होता। इससे नाम ही सार है। और आकार के नाश होने पर भी नाम शेष रहता है। कैसे ? जैसे घट का नाश होने पर भी मृत्तिका शेष रहती है। वहा घट मृत्तिका से पृथक् वस्तु नही है, मृत्तिका स्वरूप ही है, वैसे आकार का नाश होने पर मृत्तिका के समान शेष रहे जो नाम, उससे आकार पृथक् नही है, नाम स्वरूप ही आकार है। किंवा जैसे घट शरावादिको मे मृत्तिका अनुगत है और घटशरावादिक परस्पर व्यभिचारी है, इससे घट शरावादि (कूडा आदि मृत्तिका के पात्र) मिथ्या है। उनमे अनुगत मृत्तिका सत्य है। क्यो ? घट शरावादिको की अपेक्षा से मृत्तिका बहुकाल स्थायी है। इससे उसको आपेक्षिक सत्य कहते है। वैसे घट आकार अनेक है, उन सबका "घट" यह दो अक्षर नाम एक है। वह आकार परस्पर व्यभिचारी है और सर्वघटो के आकारो मे नाम एक है, अनुगत है। इससे मिथ्या आकार सत्यनाम से पृथक् नही है। क्यो ? घट की अपेक्षा से "घट" ऐसा दो-अक्षरवाला नाम बहुकाल पर्यन्त स्थायी है। इससे पुण्य के क्षय से मरनेवाले बहुकाल स्थायी देव को जैसे अमर कहते है, वैसे नाम को भी सत्य (नित्य) कहते है।

इस रीति से सर्व पदार्थो के आकार अपने अपने नाम से भिन्न नही है, किन्तु नामस्वरूप ही आकार है। सो सब नाम ओकार से भिन्न नही हैं, किन्तु ओकारस्वरूप ही नाम है। क्यो ? वाचक शब्द को नाम कहते है। और लोक वेद के सब शब्द ओकार से उत्पन्न हुये है। यह श्रुति मे प्रसिद्ध है। सपूर्ण कार्य कारणस्वरूप होते है। इससे ओकार के कार्यवाचक शब्दरूप नाम ओकारस्वरूप है। इस रीति से रूप भाग जो पदार्थों का आकार है वह तो नाम स्वरूप है और सर्वनाम ओकार स्वरूप है। इससे सर्व ओकार रूप है।

ओकार और ब्रह्म का अभेद

जैसे सर्वस्वरूप ओकार है, वैसे सर्वस्वरूप ब्रह्म है। इससे ओंकार ब्रह्मरूप है। किंवा ओकार ब्रह्म का वाचक है, ब्रह्म वाच्य है। वाच्य

का और वाचक का अभेद होता है। इससे ओंकार ब्रह्मरूप है। और विचार दृष्टि से ओ अक्षर ब्रह्म मे अध्यस्त है, ब्रह्म उसका अधिष्ठान है। अध्यस्त का स्वरूप अधिष्ठान से भिन्न नही होता है। इससे भी ओंकार ब्रह्मस्वरूप है। इससे ओंकार को ब्रह्मरूप जानकर चिन्तन करना चाहिये।

चार पादो के कथनपूर्वक आत्मा का ब्रह्म से और विश्व का विराट् से अभेद, विराट् विश्व के सप्त अग और उन्नीस मुख

ब्रह्मरूप ओंकार का आत्मा से भी अभेद चिन्तन करना चाहिये। क्यो ? आत्मा का ब्रह्म से मुख्य अभेद है। और ब्रह्म के चार पाद है, वैसे आत्मा के भी चार पाद है। पाद नाम भाग का है, उसी को अश भी कहते है। यहा पाद धान्य के पाद के समान विभागरूप अर्थ का बोधक है। गो के पाद के समान अवयव (अग) रूप अर्थ का बोधक नही है। विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तत्पद का लक्ष्य ईश्वर साक्षी ये चार पाद ब्रह्म के है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और त्वपद का लक्ष्य जीव साक्षी ये चार पाद आत्मा के है। जीव साक्षी को ही तुरीय कहते है। समष्टि स्थूल प्रपच सहित चेतन को विराट् कहते है। व्यष्टि स्थूल के अभिमानी को विश्व कहते है। विराट् की और विश्व की उपाधि स्थूल है। इससे विराट् रूप ही विश्व है, विराट् से भिन्न नही है। विराट् रूप विश्व के सात अग है —स्वर्गलोक मूर्ध है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश धड है, समुद्रादिरूप जल मूत्रस्थान है। पृथ्वी पाद है। जिस अग्नि मे होम करते है सो अग्नि मुख है। ये सात अग विश्व के कहते है। माडूक्य उपनिषद् मे यद्यपि स्वर्ग लोकादिक विश्व के अग नही बनते तथापि विराट् के अग है। उस विराट् से विश्व का अभेद है। इससे विश्व के अग कहते है। वैसे विराट् विश्व के उन्नीस मुख है —पचप्राण, पच कर्म इन्द्रिय, पच ज्ञान इन्द्रिय, चार अन्त -करण, ये उन्नीस मुख के समान भोग के साधन है। इससे इनको मुख कहते है। इन उन्नीस से स्थूल शब्दादिको को बाह्यवृत्ति से जाग्रत अवस्था मे भोगता है। इससे विराट्रूप विश्व को स्थूल का भोक्ता और बाह्यवृत्ति कहते है। और जाग्रत अवस्था वाला कहते है।

चतुर्दश त्रिपुटी

प्राणादिक उन्नीस जो भोग के साधन है, उनमे श्रोत्रादिक इन्द्रिय और चार अन्त करण ये चतुर्दश, अपने अपने विषय और अपने २ देवता की सहाय चाहते है। देवता तथा विषय की सहायता बिना केवल इनसे भोग नही होता है। इससे पचप्राण और चतुर्दश त्रिपुटी को विराट् रूप विश्व के मुख कहते है। उनके समुदाय का नाम त्रिपुटी है। सो त्रिपुटी इस रीति से कही है —श्रोत्र इन्द्रिय अध्यात्म है, और उसका विषय शब्द अधिभूत है, दिशा का अभिमानी देवता अधिदैव है। इस प्रकरण मे क्रियाशक्ति वाले और ज्ञानशक्ति वाले इन्द्रिय और अन्त करण को अध्यात्म कहते है। उनके विषयो को अधिभूत कहते है। और उनके सहायक देवता को अधिदैव कहते है।

त्वचा इन्द्रिय अध्यात्म है, उसका विषय स्पर्श अधिभूत है, वायु तत्त्व का अभिमानी देवता अधिदैव है। नेत्र इन्द्रिय अध्यात्म है, रूप अधिभूत है, सूर्य अधिदैव है। रसना इन्द्रिय अध्यात्म है, रस अधिभूत है, वरुण अधिदैव है। घ्राणइन्द्रिय अध्यात्म है, गध अधिभूत है, अश्विनीकुमार अधिदैव है। और वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने पृथ्वी का अभिमानो देवता घ्राण का अधिदैव कहा है। सो भी बनता है। क्यो ? पृथ्वी से घ्राण की उत्पत्ति है। इससे पृथ्वी अधिदैव कहा है और सूर्य की वडवा की नासिका से अश्विनीकुमार की उत्पत्ति कही है। इससे नासिका का अधिदैव कही अश्विनीकुमार को भी कहते है।

वाक् इन्द्रिय अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है, (वचन क्रिया के विषय पदार्थ को वक्तव्य कहते है। अग्नि देवता अधिदैव है। हस्त-इन्द्रिय अध्यात्म है, पदार्थ ग्रहण अधिभूत है, इन्द्र अधिदैव है। पाद इन्द्रिय अध्यात्म है, गमन अधिभूत है, विष्णु अधिदैव है। गुदा इन्द्रिय अध्यात्म है, मल का त्याग अधिभूत है, यम अधिदैव है। उपस्थ इन्द्रिय अध्यात्म है, ग्राम्यधर्म के सुख की उत्पत्ति अधिभूत है, प्रजा-

पति अधिदैव है। मन अध्यात्म है, मनन का विषय अधिभूत है, चन्द्रमा अधिदैव है। बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य अधिभूत है, बृहस्पति अधिदैव है। ज्ञान के विषय को बोद्धव्य कहते है। अहकार अध्यात्म है, अहकार का विषय अधिभूत है, रुद्र अधिदैव है। चित्त अध्यात्म है, चिन्तन का विषय अधिभूत है, क्षेत्रज्ञ जो साक्षी सो अधिदैव है। साक्षी चेतन चित्त का आश्रय होने से चित्त पर अनुग्रह करता है। इससे चित्त के साक्षी को अधिदैव कहते है। इसी से किसी आचार्य ने चिन्तनरूप स्मृतिज्ञान साक्षी के आश्रित कहा है। कही चित्त का अधिदैव नारायण (वासुदेव) कहा है। ये चतुर्दश त्रिपुटी और पच प्राण, ये उन्नीस विराट्रूप विश्व के मुख है।

विश्व विराट् और अकार का अभेद चिन्तन

जैसे विराट् से विश्व का अभेद है, वैसे ओकार की प्रथम मात्रा जो अकार है, उसका भी विराट्रूप विश्व से अभेद है। क्यो ? ब्रह्म के चार पादो मे प्रथम विराट् है। और आत्मा के चार पादो मे प्रथम पाद विश्व है, वैसे ही ओकार की चार मात्रा रूप पादो मे प्रथमपाद अकार है। इससे प्रथमता तीनो मे समान धर्म होने से विश्व-विराट् अकार का अभेदचिन्तन करना चाहिये। जो सात अग, उन्नीस मुख विश्व के कहे है सोई सात अग और उन्नीस मुख तैजस के भी जानने योग्य है।

विश्व और तैजस की विलक्षणता

परन्तु इतना भेद है —विश्व के जो अग और मुख है, सो तो ईश्वररचित है और तैजस के जो इन्द्रिय, देवता, विषयरूप त्रिपुटी और मूर्धादिक अग हैं सो मनोमय है। तैजस का भोग सूक्ष्म है। यद्यपि भोग नाम सुख अथवा दु ख के ज्ञान का है उसमे स्थूलता और सूक्ष्मता कहना नही बनता, तथापि बाह्य जो शब्दादिक विषय हैं, उनके सबन्ध से जो सुख वा दु.ख का साक्षात्कार होता है उसको स्थूल कहते हैं। और मानस जो शब्दादिक, उनके सबन्ध से जो भोग होता है उसको सूक्ष्म कहते है। इसी कारण से विश्व को स्थूल का

भोक्ता श्रुति मे कहा है और तैजस को सूक्ष्म का भोक्ता कहा है। क्यो ? तैजस के भोग्य जो शब्दादिक है, सो तो मानस है, इससे सूक्ष्म है। और उनकी अपेक्षा से विश्व के भोग बाह्य शब्दादिक है, सो स्थूल है। और विश्व बहिरप्रज्ञ है। तैजस अतरप्रज्ञ है। क्यो ? विश्व की जो अत करण की वृत्तिरूप प्रज्ञा है, सो बाहर जाती है और तैजस की नही जाती है।

तैजस हिरण्यगर्भ और उकार का अभेद चिन्तन

जैसे विश्व का और विराट् का अभेद है, वैसे तैजस को भी हिरण्यगर्भरूप जाने। क्यो ? सूक्ष्म उपाधि तैजस की है और सूक्ष्म ही हिरण्यगर्भ की है। इससे दोनो की एकता जाने। तैजस हिरण्यगर्भ की एकता जानकर ओकार की द्वितीय मात्रा उकार से उनका अभेद चिन्तन करे। क्यो ? आत्मा के चार पादो मे द्वितीय पाद तैजस है। ब्रह्म के चार पादो मे द्वितीय पाद हिरण्यगर्भ है। ओकार की चार मात्राओ मे द्वितीय मात्रा उकार है। द्वितीयता तीनो मे समानधर्म है। इससे तीनो की एकता जानकर एक रूप से चिन्तन करे।

प्राज्ञ ईश्वर और मकार का अभेद। प्राज्ञ के विशेषण

और प्राज्ञ को ईश्वररूप जाने। क्यो ? प्राज्ञ की कारण उपाधि है और ईश्वर की भी कारण उपाधि है। ईश्वर और प्राज्ञ पादो मे तृतीय है। ओकार की तृतीय मात्रा मकार हैं। तृतीयपना तीनो मे समानधर्म है। इससे तीनो की एकता जाने। और यह प्राज्ञ प्रज्ञानघन है। क्यो ? जाग्रत् और स्वप्न के जितने भोग हैं, सो सुषुप्ति मे घन अर्थात् एक अविद्यारूप हो जाते है, इससे प्रज्ञानघन कहते है। कैसे ? जैसे पिष्ट (अन्न का चूर्ण) जल से पिंड बाधने पर उसके कण एक रूप हो जाते हैं। और वर्षा के अनन्त विन्दु तडाग (तलाब) में एक रूप हो जाते है वैसे जाग्रत् स्वप्न के ज्ञान, सुषुप्ति मे एक अविद्या रूप हो जाते है। उस अविद्या मे स्थित जो अधिष्ठान कूटस्थ सहित चेतन का प्रतिबिम्बरूप प्राज्ञ जीव उसको "प्रज्ञानघन" कहते है। और आनन्दभुक् भी यह प्राज्ञ है, यह भी श्रुति ने कहा है। क्यो ? अविद्या

से आवृत जो आनन्द है, उसको यह प्राज्ञ भोगता है। इससे प्राज्ञ को आनन्दभुक् कहते है। जैसे तैजस और विश्व का भोग त्रिपुटी से होता है, वैसे प्राज्ञ के भोग की भी त्रिपुटी कहते है :—चेतन के प्रतिबिम्ब सहित जो अविद्या की वृत्ति है, सो अध्यात्म है। अज्ञान से आवृत जो स्वरूप आनन्द है, सो अधिभूत है। ईश्वर अधिदैव है। इस रीति से विश्व तो बहिरप्रज्ञ है, और तैजस अन्तरप्रज्ञ है, और प्राज्ञ प्रज्ञानघन है।

वास्तव मे विश्वादिक तीनो की एकता। तुरीय का ईश्वर साक्षी से अभेद

ऐसे तीनो का जो भेद है, सो उपाधि करके है। विश्व की स्थूल, सूक्ष्म, अज्ञान तीन उपाधि है। और तैजस की सूक्ष्म, अज्ञान दो उपाधि है। और प्राज्ञ की एक अज्ञान उपाधि है। इस रीति से उपाधि की न्यूनता अधिकता से तीनो का भेद है। परमार्थ करके स्वरूप से भेद नही है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ, इन तीनो मे अनुगत जो चेतन है, सो परमार्थ से तीनो उपाधि के सबन्ध से रहित है। तीनो उपाधि का अधिष्ठान तुरीय है। सो बहिरप्रज्ञ नही है, अतरप्रज्ञ भी नही है, और प्रज्ञानघन भी नही है। कर्म इन्द्रियों का तथा ज्ञान इन्द्रियो का विषय नही है। बुद्धि का भी विषय नही है। ओर किसी शब्द का भी विषय नही है। ऐसा जो तुरीय है, उसको परमात्मा का चतुर्थ पाद ईश्वर साक्षी शुद्ध ब्रह्मरूप जाने।

दो स्वरूप वाले ओकार और आत्मा का मात्रा और पादरूप से अभेद चिन्तन

इस रीति से दो प्रकार का आत्मा का स्वरूप कहा। एक तो परमार्थरूप है और दूसरा अपरमार्थरूप है। तीन पाद तो अपरमार्थ रूप है। और एक पाद तुरीय परमार्थरूप है। जैसे आत्मा के दो स्वरूप है, वैसे ओकार के भी दो स्वरूप है। अकार, उकार, मकार, ये तीन मात्रारूप जो वर्ण है, सो तो अपरमार्थरूप है। और तीनो मात्रा मे व्यापक जो अस्तिभाति प्रियरूप अधिष्ठान चेतन है, सो परमार्थरूप है। जो ओकार का परमार्थरूप है, उसको श्रुति मे अमात्र शब्द से कहा है। क्यो ? उस

परमार्थस्वरूप मे मात्राविभाग नही है, इससे उसको अमात्र कहते है। इस रीति से दो स्वरूप वाला जो ओकार है, उसका दो स्वरूप वाले आत्मा से अभेद जाने। व्यष्टि और समष्टि जो स्थूल प्रपच है, उनके सहित विश्व और विराट् का अकार से अभेद जाने। आत्मा के जो पाद है, उनमे विश्व आदि है। और ओकार की मात्रा मे अकार आदि है, इससे दोनो को एक जाने। सूक्ष्मप्रपच सहित जो हिरण्यगर्भरूप तैजस है, उसको उकाररूप जाने। तैजस भी दूसरा है और उकार भी दूसरा है। इससे दोनो को एक जाने। कारण उपाधि सहित जो ईश्वर-रूप प्राज्ञ है, उसको मकाररूप जाने। जैसे ईश्वररूप प्राज्ञ तीसरा है, वैसे मकार भी तीसरा है। इससे ईश्वररूप प्राज्ञ और मकार को एक जाने। तीनो मे अनुगत जो परमार्थरूप तुरीय है, उसको ओकार वर्ण की तीन मात्रा मे अनुगत जो ओकार का परमार्थरूप अमात्र है, उससे अभिन्न जाने। जैसे विश्वादिक मे तुरीय अनुगत है, वैसे अकारादिक तीन मात्रा मे अमात्र अनुगत है। इससे ओकार के अमात्ररूप को और तुरीय को एक जाने। इस रीति से आत्मा के पाद और ओकार की जो मात्रा है, उनकी एकता जानकर चिन्तन करे। उसको लयचिन्तन कहते है।

लयचिन्तन का अनुवाद (एक एक मात्रारूप विश्व आदिक अन्यमात्रा की रूपता)

विश्वरूप जो अकार है, सो तैजसरूप उकार से भिन्न नही है, किन्तु उकाररूप ही है। ऐसे चिन्तन करने को इस स्थान मे लय कहते है। ऐसा ही अन्य मात्राओ के विषय मे जानना चाहिये। और जिस उकार मे अकार का लय किया है, उस तैजसरूप उकार को प्राज्ञरूप मकार में लय करे। और प्राज्ञरूप जो मकार है, उसको तुरीयरूप जो ओकार का परमार्थरूप अमात्र है, उसमे लीन करे। क्यो ? स्थूल की उत्पत्ति और लय सूक्ष्म मे होते है। इससे विश्वरूप जो अकार है, उसका तैजसरूप उकार मे लय बनता है। और सूक्ष्म की उत्पत्ति और लय कारण में होते हैं। इससे तैजसरूप जो उकार है, उसका कारण प्राज्ञ-

रूप जो मकार है, उसमे लय बनता है। इस स्थान मे विश्व आदिको के ग्रहण से समष्टि जो विराट् आदिक है उनका और अपनी अपनी जो त्रिपुटी है, उन सर्व का ग्रहण जानना चाहिये। जिस प्राज्ञरूप मकार मे उकार लय किया है, उस मकार को तुरीयरूप जो ओकार का परमार्थरूप अमात्र है, उसमे लीन करे। क्यो ? ओकार के परमार्थ स्वरूप का तुरीय से अभेद है। सो तुरीय ब्रह्मरूप है और शुद्ध मे ईश्वरप्राज्ञ दोनो कल्पित है। जो जिसमे कल्पित होता है, सो उसका स्वरूप ही होता है। इससे ईश्वर सहित प्राज्ञरूप मकार का शुद्धब्रह्म मे लय बनता है।

इस रीति से जिस ओकार के परमार्थस्वरूप अमात्र मे सर्व का लय किया है "सो मैं हूँ" एकाग्रचित्त होकर ऐसा चिन्तन करे। स्थावर जगमरूप और असग, अद्वय, असंसारी, नित्यमुक्त, निर्भय, ब्रह्मरूप जो ओकार का परमार्थ स्वरूप है "सो मै हूँ" ऐसा चिन्तन करने से ज्ञान उदय होता है। इससे ज्ञानद्वारा मुक्तिरूप फल का देनेवाला यह ओकार का निर्गुण उपासन है, सो सर्व से उत्तम है।

ॐकार चिन्तन मे परमहस का अधिकार

जो पूर्व रीति से ओकार के स्वरूप को जानता है, उसको मुनि कहते है। जो नही जानता उसको शास्त्र मुनि नही कहते। क्यो ? मुनि नाम मनन करने वाले का है। यह ओकार का चिन्तन मनन रूप है। जिसके अन्त करण मे ओकार का चिन्तनरूप मनन नही सो मुनि नही है। यह माडूक्य उपनिषद् की रीति से सक्षेप से ओकार का चिन्तन कहा है। और भी नृसिह तापिनी आदिक उपनिषदो मे इसका प्रकार है। यह ओकार का चिन्तन परमहसो का गोप्य धन हैं। बहिर्मुख पुरुष का इसमे अधिकार नही है। अत्यन्त अतर्मुख का ही अधिकार है।

ॐकार का ध्यान करने वाले को फल

पूर्व प्रकार से ओकार का ब्रह्मरूप से ध्यान करने से ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है। परन्तु जिस पुरुष को इस लोक के भोगो में अथवा ब्रह्मलोक के भोगो मे कामना हो, तीव्र वैराग्य नही हो और हठ से कामना को

रोककर, धन पुत्रादिको को त्यागकर परमहंस गुरु के उपदेश से ओंकार रूप ब्रह्म का ध्यान करे। उसको भोग की कामना ज्ञान मे प्रतिबंधक है। इससे ज्ञान नही होता है। किन्तु ध्यान करते २ ही शरीर त्याग से अनन्तर अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। यदि इस लोक के भोगो की कामना रोककर ध्यान मे लगा हो, तो इस लोक मे अत्यन्त विभूति वाले पवित्र सत्संगी कुल मे जन्म होता है। वहा जिनकी पूर्व कामना थी वे सब भोग प्राप्त होते है और पूर्वजन्म के ध्यान के संस्कारो से पुन विचार मे वा ध्यान मे प्रवृत्त होता है। उससे ज्ञान होकर मोक्ष होता है। और ब्रह्मलोक के भोगो की कामना रोककर ओंकाररूप ब्रह्म के ध्यान मे लगा हो, तो शरीर त्यागकर ब्रह्मलोक को जाता है। वहा मनुष्यो को, पितरो को, देवो को, दुर्लभ जो स्वतन्त्रता है, उसके आनन्द को भोगता है। जितनी हिरण्यगर्भ की विभूति है, सो सब सत्य संकल्पादिक विभूति इसको प्राप्त होती है।

ब्रह्मलोक के मार्ग का क्रम

जिस मार्ग से ब्रह्मलोक को जाता है, उस मार्ग का क्रम यह है — जो पुरुष ब्रह्म की उपासना मे तत्पर है। उसके मरण समय इन्द्रिय अन्त.करण यद्यपि सब मूर्छित है। क्यो ? मरण समय स्थूल शरीर से लिंग शरीर का वियोग होने से चेतना का अभाव होता है। इससे उपासक के इन्द्रिय और अन्त करण अन्य प्राणियो के समान मूर्छित होते है। इससे स्वत. कही जाने मे समर्थ नही होते और क्रिया शक्ति वाले प्राण को स्वरूप से अचेतन होने से इच्छा के अभाव से उससे उनका गमन संभव नही है। इसलिये इन्द्रिय अन्त करण कही जाने मे समर्थ नही होते। और यम के दूत उसके समीप आते नही है, जो उसके लिंग शरीर को ले जाये। परन्तु अग्नि का अभिमानी देवता उसको मरण समय शरीर से निकालकर अपने लोक को ले जाता है। उस अग्नि लोक से दिन का अभिमानी देवता ले जाता है। उससे शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता अपने लोक को ले जाता है। उससे आगे उत्तरायण षट् मास का अभिमानी देवता ले जाता है। उससे आगे संवत्सर का अभिमानी देवता ले जाता है। उससे आगे देवलोक का अभिमानी

देवता ले जाता है। उससे आगे वायु का अभिमानी देवता ले जाता है। उससे आगे सूर्य देवता ले जाता है। उससे आगे चन्द्र देवता ले जाता है। उससे आगे बिजली का अभिमानी देवता अपने लोक मे ले जाता है। वहा बिजली के लोक मे उस उपासक के सामने हिरण्यगर्भ की आज्ञा से दिव्य पुरुष हिरण्यगर्भ लोकवासी हिरण्यगर्भ समान रूप उसको लेने आता है। सो पुरुष बिजली के लोक से वरुणलोक को ले जाता है। बिजली का अभिमानी देवता भी साथ जाता है। वरुणलोक से इन्द्रलोक को ले जाते है और वरुण देवता भी इन्द्रलोक तक हिरण्यगर्भ लोकवासी पुरुष और उपासक के साथ रहता है। उससे आगे इन्द्र देवता प्रजापति के लोक तक दोनो के साथ रहता है। उससे आगे प्रजापति उन दोनो के साथ ब्रह्मलोक ले जाने मे समर्थ नही है। इसमे ब्रह्मलोक को उस दिव्यपुरुष के साथ सो उपासक प्राप्त होता है। ब्रह्मलोक का अधिपति हिरण्यगर्भ है। सूक्ष्मसृष्टि के अभिमानी चेतन को हिरण्यगर्भ कहते है। उसी को कार्यब्रह्म कहते है। कार्यब्रह्म के निवास स्थान को ब्रह्मलोक कहते है। यह मार्ग का क्रम यजुर्वेद की ईशावास्य उपनिषद् के अत मे और छादोग्य मे लिखा है।

सायुज्य मोक्ष का वर्णन

यद्यपि पूर्व रीति से ओकार की उपासना शुद्ध ब्रह्मरूप करके कही है। शुद्ध ब्रह्म के उपासक को शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति होनी चाहिये। तथापि शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है और कामनारूप प्रतिबध से जिसको ज्ञान नही हुआ हो, उसको कार्य ब्रह्म की प्राप्ति रूप सायुज्य मोक्ष होता है। ब्रह्मलोक को प्राप्त जो उपासक है, उसको हिरण्यगर्भ के समान विभूति प्राप्त होती है। सत्य सकल्प होता है। जैसे शरीर की इच्छा करे वैसा ही उसका शरीर होता है। जिन भोगो की अभिलाषा करे, वे सब भोग सकल्प से ही प्राप्त होते है। यदि एक समय हजार शरीरो से भिन्न भिन्न भोगो की इच्छा करे, तो उसी समय हजार शरीर और उनके भोगो की भिन्न भिन्न सामग्री उत्पन्न हो जाती है। और बहुत क्या कहें ? जो कुछ सकल्प करे सोई

सिद्ध होता है। परन्तु जगत् की उत्पत्ति, पालन, सहार छोडकर और सर्व विभूति ईश्वर के समान होती है। इसी को सायुज्य मोक्ष कहते है। यही चार मुक्तियो मे श्रेष्ठ है। वे चार मुक्ति कौन है ? सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि । राजधानी मे राजा की प्रजा के समान ईश्वर के लोक मे वास का नाम सालोक्य मुक्ति है। उससे श्रेष्ठ राजा के किकर के समान ईश्वर के समीप वास करने का नाम सामीप्य मुक्ति है। उससे श्रेष्ठ राजा के अनुज के समान ईश्वर के समान रूप की प्राप्ति का नाम सारूप्य मुक्ति है। उससे श्रेष्ठ राजा के जेष्ठ पुत्र के समान ईश्वर के समान सत्य सकल्पादि ऐश्वर्य (विभूति) की प्राप्ति का नाम सार्ष्टि मुक्ति है। इस रीति से शास्त्र मे फलरूप चार प्रकार की मुक्ति कही है। उनमे अत की सार्ष्टि मुक्ति श्रेष्ठ है। सार्ष्टि मुक्ति को ही सायुज्य मोक्ष कहते है। ऐसे हिरण्यगर्भ के समान होकर बहुत काल सकल्पसिद्ध दिव्य पदार्थों को भोगकर प्रलयकाल मे जब हिरण्यगर्भ के लोक का नाश होता है, तब ज्ञान होकर उपासक को विदेह मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ॐकार के अहग्रहध्यान से ब्रह्मलोक की प्राप्ति का नियम

जैसे ओकार रूप ब्रह्म की उपासना करने वाला ब्रह्मलोक की प्राप्ति द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है। वैसे और भी उपनिषदो मे ब्रह्म की उपासना कही है, उनसे भी यही फल होता है। परन्तु अहग्रह उपासना बिना और उपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति नही होती है। यह वार्ता सूत्रकार ने और भाष्यकार ने चतुर्थ अध्याय मे प्रतिपादन करी है। जैसे नर्मदेश्वर का शिवरूप से और शालिग्राम का विष्णु रूप से ध्यान कहा है। सो प्रतीकध्यान है, अहग्रह नही है। और मन का ब्रह्मरूप से, आदित्य का ब्रह्मरूप से ध्यान कहा है सो भी प्रतीक ध्यान है, अहग्रह नही है। उनसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति नही होती है। सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म को अपने से अभेद करके चिन्तन करे, उसको अहग्रहध्यान कहते है। उसी से ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है।

उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मलोक मे जाने पर पुन ससार की अप्राप्ति और ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति

पूर्व कहा जो मार्ग है, उसको उत्तरायण मार्ग कहते है और देव-मार्ग भी कहते है। उस देवमार्ग से ब्रह्मलोक को जो उपासक जाता है, उसको पुन· जन्मादि ससार की प्राप्ति नही होती है। किन्तु ज्ञान होकर विदेह मुक्ति को प्राप्त होता है। वहा ज्ञान के साधन जो गुरु उपदेशादिक है, उनकी भी अपेक्षा नही है। किन्तु ब्रह्मलोक में गुरु उपदेशादिक साधन बिना ही ज्ञान हो जाता है। क्यो ? ब्रह्मलोक मे तमोगुण रजोगुण का तो लेश भी नही है। केवल सत्त्वगुणप्रधान वह लोक है। वहां तमोगुण नहीं है, इससे जडता आलस्यादिक नही है। रजोगुण नही है, इससे काम क्रोधादिरूप रजोगुण का कार्य-विक्षेप नही है। केवल सत्त्वगुण है, इससे सत्त्वगुण का कार्य ज्ञानरूप प्रकाश उस लोक मे प्रधान है।

हिरण्यगर्भ लोकवासी को असग निर्विकार ब्रह्मरूप आत्मा का भान होता है, उसमे कारण

ओंकार की ब्रह्मरूप से जो पूर्व उपासना करी है तब ओंकार की मात्रा का अर्थ इस रीति से चिन्तन किया है —"स्थूल उपाधि सहित विराट् विश्वचेतन अकार का वाच्य है। सूक्ष्मउपाधि सहित चेतन हिरण्यगर्भ तैजस उकार का वाच्य है। कारण उपाधि सहित चेतन ईश्वर प्राज्ञ मकार का वाच्य है।" ऐसा अर्थ जो पूर्व चिन्तन किया है, उसकी ब्रह्मलोक मे स्मृति होती है और सत्त्वगुण के प्रभाव से ऐसा विवेचन होता है —स्थूल उपाधि से चेतन मे विराट्पना और विश्व-पना प्रतीत होता है। स्थूल समष्टि की दृष्टि से विराट्पना है और स्थूल व्यष्टि की दृष्टि से विश्वपना है। समष्टि व्यष्टि स्थूल की दृष्टि बिना विराट् भाव और विश्वभाव प्रतीत नही होते किन्तु चेतनमात्र ही प्रतीत होता है।

वैसे सूक्ष्म उपाधि सहित हिरण्यगर्भ तैजस चेतन उकार का वाच्य है। वहा समष्टि सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि से चेतन मे हिरण्यगर्भता प्रतीत होती है । ओर व्यष्टि सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि से तैजसता प्रतीत होती है। सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि बिना हिरण्यगर्भता और तैजसता प्रतीत नही होती। वैसे मकार के वाच्य ईश्वर प्राज्ञ है। वहा समष्टि अज्ञान उपाधि की दृष्टि से चेतन मे ईश्वरता प्रतीत होती है । और व्यष्टि अज्ञान उपाधि की दृष्टि से चेतन मे प्राज्ञता प्रतीत होती है। अज्ञान उपाधि की दृष्टि बिना ईश्वरता और प्राज्ञता प्रतीत नही होती । जो वस्तु जिसमे अन्य की दृष्टि से प्रतीत हो, सो उसमे परमार्थ से नही होती है। जो जिसका रूप अन्य की दृष्टि बिना प्रतीत हो, सो उसका परमार्थ रूप होता है। कैसे ? जैसे एक पुरुष मे पिता की दृष्टि से पुत्रता और दादा की दृष्टि से पौत्रतादिकरूप भान होता है, सो परमार्थ से नही होता। पुरुष का पिड ही परमार्थ है। वैसे स्थूल सूक्ष्म कारण उपाधि को दृष्टि से जो विराट् विश्वादिकरूप भान होता है सो मिथ्या है। चेतनमात्र ही सत्य है। सो चेतन सर्व भेद रहित है। क्यो ? विराट् और विश्व का जिससे भेद है, सो उपाधि तो दोनो की यद्यपि स्थूल है तथापि समष्टि उपाधि विराट् की और व्यष्टि उपाधि विश्व की है। सो समष्टि व्यष्टि उपाधि से उनका भेद है। इससे स्वरूप से भेद नही है। वैसे तैजस का हिरण्यगर्भ से भेद भी समष्टि व्यष्टि उपाधि से है। स्वरूप से नही है। वैसे ईश्वर से प्राज्ञ का भेद भी समष्टि व्यष्टि उपाधि से है। स्वरूप से नही है। ऐसे प्राज्ञ का ईश्वर से अभेद है। और तैजस का हिरण्यगर्भ से अभेद है। तथा विश्व का विराट् से अभेद है। इस प्रकार से स्थूल उपाधि वाले का सूक्ष्म उपाधि वाले से वा कारण उपाधि वाले से भेद नही है। क्यो ? स्थूल सूक्ष्म कारण उपाधि की दृष्टि त्यागने से चेतन स्वरूप मे किसी भी प्रकार का भेद प्रतीत नही होता है। और अनात्मा से भी चेतन का भेद नही है। क्यो ? अनात्म देहादिक अविद्याकाल मे प्रतीत होते हैं, परमार्थ से नही हैं। उनका भी चेतन से भेद नही बनता। ऐसे सर्व भेद रहित,

असंग, निर्विकार, नित्यमुक्त, ब्रह्मरूप आत्मा, ओकार का लक्ष्य स्वय प्रकाशरूप, उस उपासक को भान होता है। इससे हिरण्यगर्भ लोक-वासी को ससार प्राप्त नही होता। ज्ञान द्वारा मोक्षरूप फल प्राप्त होता है।

ॐ और महावाक्य के अर्थ की एकता

यद्यपि महावाक्य के विवेक बिना ज्ञान नही होता तथापि ओकार का विवेक ही महावाक्य का विवेक है। स्थूल उपाधि सहित चेतन अकार का वाच्य है। स्थूल उपाधि को त्यागने से चेतन मात्र अकार का लक्ष्य है। वैसे सूक्ष्म उपाधि सहित चेतन उकार का वाच्य है। सूक्ष्म उपाधि को त्यागने से चेतनमात्र उकार का लक्ष्य है। कारण उपाधि सहित चेतन मकार का वाच्य है। कारण उपाधि को त्यागने से चेतनमात्र मकार का लक्ष्य है। इस रीति से उपाधि सहित विश्वादिक अकारादि मात्रा के वाच्य है। और उपाधिरहित चेतन सर्वमात्रा के लक्ष्य है। वैसे नाम रूप सकल उपाधि सहित चेतन ओकार वर्ण का वाच्य है। और नाम रूप सकल उपाधि रहित चेतन ओकार वर्ण का लक्ष्य है। ऐसे ओकार का और महावाक्यो का अर्थ एक ही है। इससे ओकार के विवेक से अद्वैत ज्ञान होता है।

निर्गुण उपासना के अनधिकारी को कर्त्तव्य

जिस जिज्ञासु की वेदान्त के श्रवण मननरूप विचार मे प्रवृत्ति हो गई है, उसको विचार त्याग करके अन्यसाधन कर्त्तव्य नही है। क्यो ? यदि वह विचारशील पुरुष विचार को त्यागकर अन्य साधन मे प्रवृत्त होगा, तो आरूढ पतित होगा। किंवा उसको "करलेढि न्याय" (लड्डू गिराकर हाथ चाटने का दृष्टांत) प्राप्त होगा। इससे उस विचारशील पुरुष को दृढ़बोधपर्यन्त विचार ही करना चाहिये। और जिसकी विचार मे प्रवृत्ति नही हो, उसको उक्त निर्गुण उपासना कर्त्तव्य है। और जिसका निर्गुण उपासना मे अधिकार नही है, उसको "उपवास से भिक्षा श्रेष्ठ है" इस न्याय से सगुण उपासनादिरूप कर्त्तव्य कहते है। यदि निर्गुण उपासना नही हो तो सगुण ईश्वर की उपासना करनी

चाहिये। माया विशिष्ट चेतनरूप कारण ब्रह्म सगुण ईश्वर है। किंवा उसके उपलक्षण जे हिरण्यगर्भ, वैश्वानर, हरि, हर, शक्ति, गणेश, सूर्य और उनके अवताररूप कार्य ब्रह्म को सगुण ईश्वर कहते है। किंवा उनकी प्रतिमादिरूप प्रतिनिधि (उनके स्थान मे स्थापित) उसको यहा सगुण ईश्वर कहते हैं। उक्त उपास्यो मे पूर्व पूर्व श्रेष्ठ है। यद्यपि माया विशिष्ट चेतनरूप कारण ब्रह्म ही ईश्वर पद का मुख्य अर्थ है और वही उपास्य है तथापि "माया को प्रकृति (सर्व जगत् की उपादान) जाने और ब्रह्म को महेश्वर जाने" इस श्रुति से माया विशिष्ट चेतन से भिन्न वस्तु का अभाव होने से श्री विद्यारण्य स्वामी ने सर्व मत से अविरुद्ध ईश्वर चित्रदीप मे निरूपण किया है। उसके अनुसार हिरण्य-गर्भादिक सर्व उपास्य वस्तु को भी ईश्वर कहते है। आपने हरि, हर, शक्ति, गणेश और सूर्य को सगुण ईश्वर कहा है। किन्तु इन पाचो के उपासक तो अपने अपने उपास्य को ही ईश्वर मानते है। अन्यो को अपने अपने उपास्य के भक्त मानते है। सुनिये --विष्णुभक्त कहता है, शख, चक्र, गदा और पद्म को धारण करने वाले मगलमूर्ति कृपालु विष्णु ही ईश्वर है। शिव, ब्रह्मा आदि सब विष्णु भगवान् की सेवा मे लगे हुये है। विष्णु अपने भक्त को कृतार्थ कर देते है। शिव, शक्ति गणेश और सूर्य आदि सब विष्णु भगवान् की आज्ञा मे रहते है। यह वार्ता सपूर्ण महाभारत ग्रथ मे तथा पद्म पुराण मे लिखी है। और नृसिह तापनी, रामतापनी तथा गोपालतापनी उपनिषद् भी कहते है। सर्व विष्णुरूप से उत्पन्न होते है और दु ख पडने पर दु ख निवृत्ति के लिये भगवान् विष्णु से ही सब प्रार्थना करते है। तब भगवान् विष्णु विविध रूपो मे अवतार लेकर सब देवताओ की सहायता करते है।

इससे विष्णु के समान अन्य कोई भी सेव्य नही है। अत विष्णु-भगवान् की ही उपासना करना चाहिये। यद्यपि विष्णु भक्तो मे शिव उत्तम है, तथापि उनको भी अभी तक सेव्य स्वरूप की प्राप्ति नही हो सकी है। और शिव का रूप शव के समान अमगल होने से हम शिव का ध्यान नही करते है। क्यो ? शिव तो स्वय ही भस्म, डमरू, गजचर्म

और कपाल धारण करते है। वे अन्य को कृतार्थ कैसे कर सकते है? अर्थात् नही कर सकते, और शिव के पुत्र गणेश भी वैसे ही है। उनका तो रूप भी नर और पशु के समान विलक्षण है। और जो शठ हठ से देवी की उपासना करते हैं वे भी देवी के समान ही नारी के रूप को धारण करते है। स्त्री तो निदित और अपवित्र होती ही है। और भी उसमे इतने विचित्र औगुण है, जिनकी सख्या बताना भी कठिन है। और नारी कपट तथा मिथ्या की तो खान ही होती है। सदा पराधीन रहती है, स्वतत्र नही होती। ऐसा रूप जिसको चाहिये, वह खर के समान नर ही उसकी उपासना करेगा। ओर सूर्य भी रात दिन भ्रमण करता रहता है। एक क्षण भी एक स्थान पर निश्चल नही रहता है। सूर्य के उपासक को भी अपने उपास्य के समान ही भ्रमण करना होगा। इसलिये अन्य सब देवो को त्यागकर एक विष्णु ही सेवनीय है। वे ही सदा जागते हुये ससार की रक्षा करते हैं। भगवान विष्णु के पूजन, ध्यान आदि करने की विधि नारद पचरात्र ग्र थ मे लिखी है। उसके अनुसार भगवान् विष्णु की ही उपासना करनी चाहिये। विष्णु की उपासना को त्यागकर अन्य जो प्रसिद्ध चार उपासना है, उन एक एक का निषेध करने से, स्मार्त्त उपासना का भी निषेध हो जाता है। क्यो? पाचो देवो मे सम बुद्धि करके उपासना करने को स्मार्त्त उपासना कहते है। शिव आदिक चारो देव विष्णु के समान ही है। इस कथन से स्मार्त्त उपासना का भी निषेध हो ही जाता है।

शिव सेवक के विचार

शिव सेवक मुनि विष्णु भक्त के उक्त विचार सुनकर क्रोध सहित चचल नेत्रों से विष्णु भक्त को उत्तर देते हुये कहते है —मैं कहता हूँ इसमे करोडो प्रमाण है। शिव के समान अन्य किसी को भी नही कहा जा सकता है। क्यो? शिव जिसको जो चाहिये, वही माँगने पर देते हैं। विष्णु के माँगने पर शिव ने ही विष्णु को सर्व ऐश्वर्य प्रदान किया है। और स्वय शिव परमविरक्त होने से भस्म धारण करते है। वैष्णव जो चर्म कपालादिक निंदित वस्तुओ के धारण करने का आक्षेप शिव

पर करता है सो तो शिव के रहस्यमय विचार नही जानने मे करता है। वे शिव तो आत्माराम होने से सर्वपदार्थों मे समबुद्धि है। किसी भी वस्तु को उत्तम वा अधम नही मानते है। सबको मिथ्या मानते है। अथवा सबको ब्रह्मरूप समझते है। इससे सर्व ऐश्वर्य से विरक्त होकर निंदित चर्म कपालादिक धारण करते है। और नग्न रहकर यह उपदेश करते है :—वैराग्य के समान सुख किसी मे भी नही है। शिव की उदारता तो प्रसिद्ध ही है, काशी मे जो भी नरनारी मृत्यु को प्राप्त होते है, उन सबको सायुज्य मुक्ति प्रदान करते है अर्थात् अपने समान ऐश्वर्य युक्त शिवलोक देते है। जिससे उनको पुन गर्भवास सकट नही होता है। वे सब नरनारी शिव के समान सर्व दिव्य भोग प्राप्त करते है। फिर शिव उनको अद्वैत ब्रह्म का उपदेश करते है। जिससे सूक्ष्म शरीर को त्यागकर वे ब्रह्म मे लय हो जाते है। मुक्ति प्रदान करते समय शिव ऊँच नीच विचार से नही देखते। सबको समान ही मुक्ति देते है। शिव के समान दाना कोई भी नही है। शिव तो भक्त वा अभक्त सबका ही उद्धार करते है। और विष्णु का स्वभाव तो हम ऐसा सुनते है, जैसा जगत मे साधारण जन का होता है। विष्णु अपने भक्त का उद्धार करते है। अभक्त का उद्धार नही करते। ऐसा तो जगत् मे साधारण मनुष्यो का सबन्ध प्रसिद्ध ही है। और हरि सेवक है, हर सेव्य है। यह कथन भी प्रसिद्ध ही है। रामचन्द्र ने शिव को अपना इष्ट देव मानकर हो रामेश्वर शिव की स्थापना की थी। स्कद पुराण मे व्यास ने बहुत प्रकार से कथन करके हरि को सेवक और हर को सेव्य के स्थान मे रक्खा है। और विष्णु भक्त ने कहा —"महाभारत और पद्म-पुराण मे हरि को सब देवो से श्रेष्ठ बताया है। सो भी ठीक नही है। क्यो ?

अप्पयदीक्षित विद्वान् ने भारत तात्पर्य ग्र थ लिखा है, वह उसने नही देखा है। इससे कहा है। क्यों ? भारत ग्र थ का तात्पर्य देखने से शिव को ही ईश्वरता प्रतीत होती है। यह दक्षिण दिशा की कांची-पुरी के पडित अप्पयदीक्षित ने सकल पुराण इतिहास का तात्पर्य लिखा है। उसमे भारत का यह प्रसग लिखा है '—अश्वत्थामा ने नारायण

अस्त्र और आग्नेय अस्त्र का प्रयोग किया। तब अन्य बहुत सेना का तो सहार हुआ। परन्तु पच पाडवो मे कोई भी नही मरा। तब रथ को त्यागकर धनुर्वेद और आचार्य को धिक्कार देता हुआ वन को चला- वहाँ व्यास भगवान् उस को मिले और यह कहा —"हे ब्राह्मरण ! तुम आचार्य और वेद को धिक्कार नही दो। ये अर्जु न और कृष्ण दोनो नर नारायणरूप है। इन्होने शिव का पूजन बहुत किया है। इससे इनकी भक्ति के अधीन होकर त्रिशूली महादेव इनके रथ के आगे रहते है। इससे इन दोनो के ऊपर प्रयोग किये हुये अनेक शस्त्र अस्त्रो की सामर्थ्य को महादेव नष्ट कर देते है।

इस भारत प्रसग से नारायणरूप कृष्ण की विभूति महादेव की कृपा से उत्पन्न हुई है, यह सिद्ध होता है। इससे विष्णुचरित्र के प्रतिपादक जो ग्र थ है, सो भी शिव की ही अधिकता को प्रतिपादन करते है। क्यो ? उन ग्रन्थो मे विष्णु सेव्य कहा है, सो विष्णु भारत प्रसग से शिव का भक्त है। इससे जिस शिव की भक्ति से विष्णु सेव्य होता है सो शिव ही परम सेव्य है। इस रीति से अप्पयदीक्षित ने सकल वैष्णव ग्रन्थो का प्रतिपाद्य शिव कहा है। और शिव भक्तो मे हरि को उत्तम भक्त कथन किया है। अन्य सब देवो को तो देव तथा ईश ही कहते है, किन्तु शिव को महादेव और महेश कहते है। इससे भी शिव सबसे महान् है। कल्याण को शिव कहते हैं। उससे भिन्न सब अशिव है। इससे यह सिद्ध होता है —शिव से भिन्न अन्य देवता अशिव अर्थात् अकल्याणरूप है। उनसे कल्याण कैसे मिलेगा ? इससे उन अकल्याण- रूप देवताओ को त्यागकर कल्याणरूप शिव की ही उपासना करो। समुद्र मथन के समय जब महाविष निकला था, उसे देखकर सब देव- ताओ के मन मे भय उत्पन्न हो गया था। तब शिव ने ही उसको अपने कठ में धारण करके सबको निर्भय किया था। शिव के पुत्र गणेश भी सपूर्ण विघ्नो को तत्काल नष्ट करने वाले है। यह तो प्रसिद्ध ही है। गणेश में विघ्न विनाशक शक्ति शिव से ही आई है। क्यों ? कारण का गुण कार्य मे आता ही है। इससे शिव ही मूल सहित विघ्न को नष्ट

करते है। जन्म-मरणरूप दुःख ही विघ्न कहलाता है। शिव का ध्यान उस जन्म-मरणरूप विघ्न को उसके मूल अज्ञान के सहित नष्ट कर देता है। इससे सदा सेवन योग्य एक शिव ही है। और विवेकयुक्त होने से शिव ही समाधि मे स्थित होकर सदा जागते रहते है। पाशुपत तत्र मे जैसी रीति बताई है, उस रीति से पूजन करके शिव का ध्यान करना चाहिये।

और नारद पचरात्र मत तो मिथ्या है। इससे ही उसका शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे खडन किया है। और शकर भाष्य पर वाचस्पतिमिश्रकृत भामती निबध नामक टीका है। उसकी टीका कल्पतरु है। कल्पतरु की टीका का नाम 'परिमल' है। परिमल मे रामानुज आदिक नवीन वैष्णवो का खडन अनूठी रीति से किया है। इससे जो शिवभक्ति मन लगाकर करता है, वह जो भी चाहे वही प्राप्त करता है।

गणेश भक्त के विचार

गणेश भक्त जब सुनते है, गणेश शिव के पुत्र है और शिवरूप कारण की शक्ति ही गणेश रूप कार्य मे आई है। तब कुपित होकर कहते है, ये वैष्णव और शैव मिथ्यावादी है। मिथ्या वचनो को ही सत्य समान बनाकर अनूठी रीति से कहते है। शैव जो गणेश को शिव का पुत्र कहते है और गणेश मे पराधीनता बताते है, यह मिथ्या है। व्यास मुनि ने जो भागवत मे प्रसग लिखा है, सो उन्होने नही देखा होगा। तब ही वे उक्त बात कहते है। वह प्रसग इस प्रकार है —विष्णु शिव आदि मुख्य देवता जब त्रिपुर को मारने के लिये जाने लगे तब गणेश का पूजन बिना किये ही त्रिपुर पर हमला कर दिया था। इससे वे त्रिपुर का कुछ भी नही बिगाड सके थे। फिर उनको स्मरण आया, हमने गणेश का पूजन किये बिना ही चढाई कर दी है। इसी से त्रिपुर नही मारा जा सका है। फिर भूल के लिये पश्चात्ताप करके गणेश का पूजन किया। पश्चात् त्रिपुर पर चढाई की तब शीघ्र ही त्रिपुर को

मार दिया। त्रिपुर की शक्ति लेशमात्र भी नही बच पाई। इससे सिद्ध होता है, जिसके पूजन करने से सब देवता समर्थ हुये थे, वह एक गणेश ही उपासना करने योग्य है, दूसरा कोई भी नही है। जैसे राम दशरथ के पुत्र है, वैसे ही विघ्नहरणगणेश शिव के पुत्र है। व्यास ने गणेश पुराण रचा है। उसमे सबका कारण गणेश को ही बताया है। विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, शक्ति सहित सब गणेश की शुड से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विघ्नहरण गणेश ही सदा जागते हुये भक्तो के विघ्नों को नष्ट करते रहते है। इसलिये सदा प्रेम सहित गणेश की ही उपासना करनी चाहिये।

दक्षिण आम्नाय देवी भक्त का विचार

सब गणेश से उत्पन्न होते है। इससे शक्ति का हेतु गणेश को सुनकर भगवती का भक्त कुछ विचार करके कहता है। विष्णु, शिव, और गणेश, के ये तीनो भक्त मिथ्यावादी है। शक्ति बिना तो सर्व देवता ऐसे हैं, जैसे प्राणरहित मृतक देह। शक्तिहीन तो असमर्थ कहलाते है। वे कार्य को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ? जिन जिन देवताओ ने शक्ति की बहुत उपासना की है, उस उपासना के बल से ही वे सब विशेष विशेष पदो के अधिकारी हुये है। शक्ति के भक्तो मे–विष्णु, शिव, सूर्य और गणेश ये प्रधान है। तब ही इन मे नाना प्रकार की शक्तियाँ देखी जाती है। लोक में जिसको शक्ति कहते है, वह भगवती का ही रूप है। भगवती के दो रूप हैं — एक सामान्य और दूसरा विशेष। सर्वपदार्थो मे अपना कार्य करने की जो सामर्थ्यरूप शक्ति है, सो भगवती का सामान्यरूप है। और अष्टभुजादिक सहित मूर्ति विशेषरूप है। सामान्यरूप शक्ति के संख्यारहित अनन्त अंश है। जिसमें शक्ति के न्यून अश हों, वह अल्पशक्ति होता है। उसे ही असमर्थ कहते हैं। जिसमे शक्ति के अधिक अंश हो, उसको समर्थ कहते है। विष्णु, शिव आदिक मे शक्ति के अश अधिक हैं। इससे उनको अधिक समर्थ कहते है। इस रीति से भगवती का सामान्यरूप जो शक्ति है, उसके अशो की अधिकता से विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य की

महिमा प्रसिद्ध है । और शक्ति से रहित तो सब अमगलरूप हो जाते है । इससे जिम शक्ति की अधिकता से देवो की महिमा प्रसिद्ध है, सो महिमा शक्ति की है, उन देवो की नही है । विष्णु शिव आदिको ने भगवती के सामान्यरूप शक्ति की अधिक उपासना करी है । इमसे उनमे शक्ति के अश अधिक है । यह भगवती भक्त का अभिप्राय है ।

जैसे भगवती के निराकाररूप शक्ति के अनन्त अश है, वैसे साकार-रूप के भी अनन्त अश है । उन साकार अशो मे कालीरूप प्रधान है । और माहेश्वरी, वैष्णवी, शौरी, गणेशी आदिक भी प्रधान अश है । विष्णु को भगवती की उपासना से वैष्णवी नाम भगवती के अश का लाभ हुआ है । वैसे अन्य देवो को भगवती के उपासन से निज निज माहेश्वरी आदिक अशो का लाभ हुआ है । यह देवी भागवत मे स्पष्ट लिखा है । उनमे भी भगवती के विष्णु, शिव दोनों प्रधान भक्त हैं । क्यो ? ध्याता को ध्येयरूप की प्राप्ति उपासना की परम अवधि है । विष्णु और शिव को उपासना से ध्येयरूप की प्राप्ति हुई है । इससे वे प्रधान उपासक है । विष्णु और शिव को ध्येयरूप की प्राप्ति कब और कैसे हुई थी ? समुद्र मथन के समय अमृत प्रकट हुआ तब सुर और असुरो का विवाद मिटाने मे विष्णु असमर्थ रहे तब विष्णु ने अपने उपास्यरूप भगवती का एकाग्रचित्त से ऐसा ध्यान किया था, जिससे विष्णु स्वय उपास्यरूप (मोहनी) को प्राप्त हुये थे । उस रूप के माहात्म्य से असुर भी उनके अनुकूल हो गये थे । यह प्रसिद्ध है । और शिव ने भी समाधि मे भगवती का ऐसा ध्यान किया था, जिससे अर्धविग्रह शिव का उपास्यरूप हो गया था। कदाचित् विक्षेप से समाधि का अभाव हो गया था, इससे सब विग्रह शिव का उपास्यरूप नही हो सका। इस रीति से सब देव भगवती के उपामक है । सो उपासना दो प्रकार से कही है —दक्षिण आम्नाय से और उत्तर आम्नाय से । पूर्व दक्षिण आम्नाय कहा है । आगे उत्तर आम्नाय कहते हैं :—

उत्तर आम्नाय देवीभक्त के विचार

भगवती के प्रधान भक्त शिव और विष्णु है । यद्यपि इन दोनों के

ममान तो भगवती की उपामना कौन कर सकता है ? तथापि जो भी महामाया की उपासना करता है, वह सकल पुरुषार्थ प्राप्त करता है। भगवती की उपासना को छोडकर जगत मे अन्य ऐसा साधन कोई नही है जिसके करने से भोग और मोक्ष दोनो एक ही शरीररूप स्थान मे प्राप्त हो जाये। जो भगवती का भक्त होता है, वह जगत् मे इच्छित भोग भोगता है तो भी पुनर्जन्म को प्राप्त नही होता। शिव रचित तत्र मे यह रीति कथन करके कहा है। भगवती की भक्ति अति सुखदाता है। पंच मकार (मदिरा, मास, मत्स्य, मुद्रा, मत्र,) को कभी नही छोडना चाहिये। क्यो ? उनको सनातन से सभी सेवन करते आये है। कृष्णदेव, बलदेव आदि श्रेष्ठ ज्ञानी भी पानी के समान प्रथमा (मदिरा) पान करते थे। और भी प्राचीनकाल मे जितने प्रधान पुरुष हुये है, वे सब पच मकारो को सेवन करते थे। उनके सेवन करने की जो विधि है, सो सब उपकारी शिव ने अपने मुख से कथन करी है। जो शिव का वचन अपने मन मे धारण करता है, वह वर्तमान एक शरीर मे ही भोग और मोक्ष प्राप्त करता है। व्यास ने देवी भागवत मे और काली पुराण मे भगवती की भक्ति समझाकर कही है। और सपूर्ण पूजा विधि समझाई है। विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश आदि जितने बडे २ देव है, वे सब भगवती का ही ध्यान करने वाले है। सब शक्ति की भक्ति मे मग्न मन होकर शक्ति को पूजा करते है। और सब प्रथमा पान करके मतवाले रहते है। जगत् की जननी एक देवी ही जागती है। देवी का उपासक ही परमानन्द को प्राप्त होता है। यह उत्तर आम्नाय वाले देवी के भक्त कहते है। उत्तर आम्नाय को ही वाम मार्ग कहते है।

सूर्य भक्त के विचार

भगवती भक्तो के उक्त वचन सुनकर सूर्यभक्त कुपित होकर कहते है :—हमारे वचन सत्य है। हम करोड़ो शपथ करके कहते है, हमारे वचनों मे लेशमात्र भी मिथ्यापना नही है। जिनके वचन लोग स्नेह से सुनते है, वे भगवती के भक्त अतिपापिष्ट है और उनका मत भी अतिनीच है। समार मे जितने अवगुण कहे जाते है, वे सब उन योनि लपट

लोगो मे गिने जा सकते है अर्थात् उनमे सब अवगुण रहते है। वे लोग मलिन मद्य को तीर्थ कहते है। मास को शुद्ध कहते है। ऐसे ही और सब बाते विपरीत ही कहते है। इससे वे "शभुतत्र" को सेवन करने वाले बुद्धिशून्य ही होते है, भाव यह है —पामर पुरुषो की आस्था रखने के लिये वाममार्ग का प्रतिपादक शिवतत्र (वामतत्र) है। उसके सेवन करने वालो की बुद्धि युक्ति प्रमाण से रहित ही होती है।

और दूसरा जो दक्षिण सप्रदाय है, उसको यद्यपि अनेक श्रेष्ठ पुरुषो ने माना है, तथापि इन उक्त उपासको के मन जिन उपास्य देवो मे लगे हुये है, वे सब बिना सूर्य के अधे ही है। सूर्य ही सबको प्रकाश प्रदान करते है। सूर्य के बिना तत्काल अधेरा हो जाता है। जगत् मे अन्य जो प्रकाशक है, वे सब सूर्य के ही अश है। सूर्य के समान लोक हितकर कौन होगा ? सूर्य ही परहित की बुद्धि से भ्रमण करते है। सर्व कार्य काल के अधीन होते है। उस काल को विद्वान् लोग भूत, वर्त-मान और भविष्यत् त्रिविध बनाते है। वह त्रिविधता सूर्य की क्रिया से ही ठीक बैठती है। इस प्रकार सर्व सूर्य से उत्पन्न होते है। और सूर्य कुपित होते है तब सब भस्म हो जाते है। सूर्य के दो रूप है —निराकार प्रकाश और साकारप्रकाश। उन दोनो मे से निराकार प्रकाश तो सपूर्ण नामरूप मे व्यापक है। जिसका वेदाती भाति शब्द से व्यवहार करते है। वह निराकार प्रकाश सूर्य का सामान्यरूप है। वही सर्व जगत् का अधिष्ठान है। उसके अज्ञान से जगत्रूप विवर्त्त उत्पन्न होता है। वही निराकर प्रकाश अत.करण की वृति मे प्रतिबिम्ब सहित ज्ञान कहलाता है। "अहभानु" ऐसी अत करण की वृत्ति प्रकाश के प्रतिबिम्ब सहित हो, तब अज्ञान की निवृत्ति द्वारा जगत् की निवृत्ति होती है और जिस-का दिन मे यह प्रकाश होता है, वह सूर्य का साकाररूप है। इस साकाररूप के अन्य अश चन्द्रमा, तारा, बिजली, दीपकादि भी बहुत है। इस प्रकार निराकार, साकार भेद से सूर्य के दो रूप है। इनमे निराकाररूप ज्ञेय है और साकाररूप ध्येय है। इसको वेदान्त मत (वेद के अतिम भाग रूप उपनिषद्) मे निर्गुण, सगुण भेद से दो

प्रकार का ब्रह्म कहते है। सूर्य मे अधकार का तो लेश भी नही है। सूर्य को उदय हुआ देखकर जगत् के सभी जन जाग जाते है। इस प्रकार सूर्य सदा जगते ही रहते है, कभी भी नही सोते है। सूर्य का ध्यान करने से हृदय का अधकार भाग जाता है। अन्य जो चार उपासक अपने अपने इष्टदेवो को जागने की बात कहकर झगडते है, वे तो सब मिथ्यावादी है।

उक्त मतो के अनुवादपूर्वक स्मार्त्त मत

इस प्रकार पाचो के उपासक अपने अपने विचार प्रकट करते है और अपने गुण तथा अन्य के अवगुण भी प्रकट करते है। जैसे पांच उपासक परस्पर विरुद्ध बोलते है, वैसे ही अनेक पडित अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार विरुद्ध ही बोलते है। जैसे इन पाचो का परस्पर विरुद्ध मत है, वैसे स्मार्त्त जो पडित है, वे पाचो देवो मे भेद बुद्धि नहीं करते। उनका मत भी इन सबसे विरुद्ध है। क्यो? वैष्णव का यह मत है —विष्णु के समान और कोई देव नही है। सर्व विष्णु के ही भक्त है। और विष्णु के जो राम, कृष्ण, नारायण आदिक नाम है, उनके समान जो अन्य देवो के नाम को जानता है, सो नामापराधी है। दश नामापराध मे से कोई भी नामापराध जिसमे हो, उसको नामापराधी कहते है। वे नामापराध ये है —सत्पुरुषो की निदा, असाधु पुरुषो को नाम महिमा सुनाना, विष्णु का शिव से भेद, शिव का विष्णु से भेद, श्रुति वाक्य मे अश्रद्धा, शास्त्र वाक्य मे अश्रद्धा, गुरु वचन मे अश्रद्धा, नाम मे अर्थवाद का (महिमा की स्तुति का) भ्रम, अनेक पापो का नाशक नाम मेरे पास है, इस विश्वास से निषिद्ध कर्म का आचरण, उक्त विश्वास से ही विहित कर्म का त्याग, और अन्य धर्मो से (अन्य देवो के नामो से) भगवत् नाम की समता जानना। ये दश शिव और विष्णु के जप मे नामापराध है। उक्त नामापराध जिसमे हो, उसको राम आदिक नाम उच्चारण का यथार्थ फल नही होता। वैसे शैव मत में शिव के समान अन्य देव नही है और शिव के नाम उच्चारण का फल विष्णु नाम उच्चारण से नही होता। इस रीति से सर्व के मत मे

अपने अपने उपास्य देव के समान अन्य देव नही है। और स्मार्त्त मत मे सर्व देवता सम है। इससे स्मार्त्त का मत भी पाचों से विरुद्ध है। इन उक्त मतो के परस्पर विरोध के कारण निश्चय नही होता है कि ये सगुण ईश्वर स्वरूप है, तब इनकी सगुण ईशरूप से उपासना कैसे हो सकती है ?

षट् शास्त्रो की परस्पर विरुद्धता

साख्य, पातजल, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमासा, उत्तरमीमासा, इन षट् शास्त्रो का मत भी परस्पर विरुद्ध है। क्यो ? १-सांख्य शास्त्र मे ईश्वर को अगीकार ही नही किया है। साख्य योग मे निरपेक्ष (समाधिरूप योग की अपेक्षा से रहित केवल) प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से मोक्ष मानी है। २-और पातजल शास्त्र मे ईश्वर को अगीकार किया है, समाधि से मोक्ष मानी है। यह विरोध है। ३—४ न्याय मत में चार प्रमाण और वैशेषिक मत मे दो प्रमाण माने है। यह विरोध है। वैसे न्याय तथा वैशेषिक का और भी आपस मे बहुत विरोध है। जिज्ञासु को अपेक्षित नहीं है। इससे लिखने की आवश्यता नही है। ५-पूर्व मीमासा मे ईश्वर को अगीकार नही किया है और मोक्षरूप नित्य सुख को भी अगींकार नही किया है, किन्तु कर्मजन्य विषयसुख ही पुरुषार्थ माना है। ६-उत्तर मीमासा मे ईश्वर को और मोक्ष को अंगीकार किया है। विषयसुख को पुरुषार्थ नही माना है। इस प्रकार सर्वशास्त्रो का परस्पर विरोध प्रतीत होने से एक निश्चय नही होता है। मन में सशय होने से दुःख ही बढता जा रहा है। आप कृपा करके समझायें तो ही शाति मिल सकती है। अत. आप समझाने की कृपा करिये कौन सगुण ईश्वर उपास्य है ?

कारणरूप की उपास्यता और कार्यरूप की निकृष्टता

कारण ब्रह्म को ही उपास्य जानना चाहिये। उस कारण ब्रह्म के नाम अनन्त हैं, यह भी बुद्धि मे समझ लेना चाहिये। कार्य रूप को तुच्छ जानकर त्याग देना चाहिये। यही वेद का सिद्धान्त है। इसी का सेवन करना चाहिये। व्यास मुनि ने जिन इतिहास पुराणो की रचना

की है, उन सब मे भी यही सिद्धान्त है। भिन्न २ सिद्धान्त नही है। जो पडित उक्त रहस्य को अपने मन मे नही समझते है, वे ही परस्पर मतो का खडन करते है। नीलकठ नामक एक अच्छे विद्वान् पूर्वकाल मे हुये है। उन्होने महाभारत ग्रथ पर टीका लिखी है। उस टीका मे उन्होने प्रथम यही प्रसग लिखा है और वहा यह निर्णय किया है — श्रुति ने जो सिद्धात बताया है वही श्रेष्ठ है।

पुराण उक्त स्तुति, निन्दा करने मे व्यास का अभिप्राय

यद्यपि सकल पुराणो के कर्ता एक व्यास है। उन्होने स्कदपुराण मे शिव मे स्वत्रतादिक ईश्वर धर्म कहे है, और अन्य देवो को शिव की कृपा मे सब विभूति प्राप्त होती है यह कहा है। इससे अन्य मे जीव धर्म कहे है। वैसे विष्णु पुराण, पद्मपुराण मे विष्णु मे ईश्वरता कही है। वैसे किसी को पुराण मे और किसी को उपपुराण मे, विष्णु, शिव से भिन्न जो गणेशादिक है, उनको ईश्वर कहा है। इस रीति से व्यास वाक्यो मे विरोध प्रतीत होता है। उसका यह समाधान है :—विष्णु, शिव, गणेश, देवी और सूर्य ये सब ही ईश्वर है। जिस प्रकरण मे अन्य देव की निन्दा है, उसकी निदा से उसकी उपासना त्याग मे व्यास का अभिप्राय नही है। किन्तु वैष्णव पुराण मे शिवादिक की निन्दा विष्णु की स्तुति करके विष्णु की उपासना मे प्रवृत्ति की हेतु है। वैसे शिव पुराण मे विष्णु आदिक की निंदा भी उनकी उपासना के त्याग के लिये नही है। किन्तु उनकी निदा शिव की उपासना मे प्रवृत्ति के लिये है। यदि एक प्रकरण मे अन्य की निंदा त्याग के लिये हो, तो सर्व की उपासना का त्याग होगा। इससे अन्य की निदा एक की स्तुति के लिये है, त्याग के लिये नही है। दृष्टात — वेद मे अग्निहोत्र दो काल मे करना कहा है। एक तो सूर्य उदय से प्रथम और दूसरा सूर्य उदय से अनन्तर काल कहा है। वहा उदय काल के प्रसग मे अनुदयकाल की निंदा करी है और अनुदयकाल के प्रसग मे उदयकाल की निदा करी है। वहा यदि निदा का तात्पर्य त्याग मे हो तो दोनो काल मे होम का त्याग होगा और नित्य कर्म का त्याग

सभव नही है। इससे उदयकाल की स्तुति के लिये अनुदय काल की निदा है और अनुदय काल की स्तुति के लिये उदयकाल की निदा है। वैसे एक देव की उपासना के प्रसग मे अन्य की निदा का एक की स्तुनि मे तात्पर्य है। अन्य की निन्दा मे तात्पर्य नही है।

पाच देवो के उपासको को सम (ब्रह्मलोक) फल की प्राप्ति

जैस शाखाभेद से कोई उदयकाल मे होम करता है। कोई अनुदय काल मे करता है, किन्तु फल दोनो को समान ही होता है। वैसे इच्छा भेद से पाच देवो मे जिसकी उपासना करता है, उन सबसे ब्रह्म लोक की ही प्राप्ति होती है। वहा भोग भोगकर विदेह मोक्ष को प्राप्त होता है। यद्यपि विष्णु आदिको की उपासना से वैकुठ लोकादिको की प्राप्ति पुराण मे कही है, ब्रह्म लोक की नही, तथापि उत्तम उपासक विदेह मुक्ति के अधिकारी सब देवयान मार्ग से ब्रह्म लोक को ही जाते है। परन्तु एक ही ब्रह्मलोक वैष्णव उपासक को वैकुठरूप प्रतीत होता है। और उस लोक के वासी सब उसको चतुर्भुज पार्षदरूप प्रतीत होते है और आप भी चतुर्भुज मूर्ति होता है। वैसे शिव उपासक को ब्रह्मलोक ही शिवलोक प्रतीत होता है और उस लोक के वासी सब त्रिनेत्र मूर्ति अपने सहित प्रतीत होते है। इस रीति से सर्व उपासको को ब्रह्मलोक ही अपने उपास्य का लोक प्रतीत होता है। क्यो ? यह नियम है —देवयान मार्ग बिना अन्य मार्ग से जो जाता है, उनका ससार मे आगमन होता है। मार्ग कितने है ? तीन है :—१-जायस्व म्रियस्व, २-पितृयान, ३-देवयान। बारम्बार जन्म मृत्युलोक मे आने का जो मार्ग है उसको जायस्व म्रियस्व मार्ग कहते है। चन्द्रमडल को भेदन करके इन्द्रलोक रूप ब्रह्मलोक मे जाने का जो मार्ग है, उसको पितृयान मार्ग कहते है, इसी को धूम मार्ग भी कहते है। सूर्य मडल को भेदन करके ब्रह्मलोक में जाने का जो मार्ग है, उसको देवयान मार्ग कहते है। इसी को अर्चिमार्ग भी कहते है। और चौथा ब्रह्मज्ञान रूप मार्ग है, उसको मोक्ष मार्ग भी कहते है।

इससे एक देवयान मार्ग ही ब्रह्मलोक का है। इसलिये विदेह मोक्ष के योग्य उपासक सब ब्रह्मलोक को ही जाते है। उस ब्रह्मलोक मे ऐसी अद्भुत महिमा है :—उपासक की इच्छा के अनुसार सर्व सामग्री सहित वह ब्रह्मलोक ही उनको प्रतीत होता है। इस रीति से पाचो देवो के उपासको को समफल होता है। इसमे यह शका होती है —पाच देवो के नाम रूप भिन्न भिन्न कहे है और ईश्वर एक कहा है। एक ईश्वर के नाना नाम रूप सभव नही है।

एक परमात्मा मे नाना नाम रूप सभव है

उक्त शका का यह समाधान है —परमार्थ मे कोई भी नाम रूप परमात्मा मे नही है। मद बुद्धि को उपासना के लिये नाम रूप रहित परमात्मा के मायाकृत कल्पित नाम रूप कहे है। इससे एक परमात्मा मे मायाकृत कल्पित नाम रूप सभव है। इस रीति से सर्व पुराण वाक्यो का विरोध दूर होता है। और :—

सर्व पुराणो का कारण और कार्य ब्रह्म के उपासन की क्रम से उपादेयता और हेयता मे तात्पर्य

पुराण वाक्यो मे विरोध शका का मुख्य समाधान तो यह है — विष्णु, शिव, गणेश, देवी, सूर्य, इनसे आदि जितने एक एक नाम है, सो सर्व कारणब्रह्म के नाम है और कार्यब्रह्म के भी वे सब नाम है। जैसे माया विशिष्ट कारण को ब्रह्म कहते है, वैसे हिरण्यगर्भ कार्य है उसको भी ब्रह्म कहते है। इस रीति से कारण ब्रह्म को विष्णु, शिव, गणेश, देवी, सूर्य, पद बोधन करते है और कार्यब्रह्म को भी पाचो पद बोधन करते है। ऐसे ही पाचो पदो के जो-नारायण, नीलकठ, विघ्नेश, शक्ति, भानु, इत्यादि अनन्त पर्याय है। वे भी सब कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्म दोनो को बोधन करते है। कही कारण ब्रह्म को कही कार्यब्रह्म को, प्रसग से बोधन करते है। कैसे ? जैसे सैधव पद, अश्व और लवण दोनों को बोधन करता है। भोजन प्रसग मे सैधव पद लवण को बोधन करता है और गमन प्रसग मे सैधव पद अश्व को बोधन करता है।

वैसे ही वैष्णव पुराण मे विष्णु नारायणादिक पद कारण ब्रह्म के बोधक है और शिव, गणेश, सूर्यादिक पद कार्यब्रह्म के बोधक है। इससे वैष्णव ग्र थो मे विष्णु की स्तुति और शिवादिको की निदा मे व्यास का यह अभिप्राय है —कारण ब्रह्म उपास्य है और कार्य ब्रह्म उपास्य नही है। वैसे ही स्कद पुराणादिक शैव ग्र थो मे शिव, महेशादिक पद कारण ब्रह्म के बोधक है और विष्णु, गणेश, देवी सूर्यादिक पद कार्यब्रह्म के बोधक है। इससे उनमे भी कारण ब्रह्म की स्तुति और कार्यब्रह्म की निदा है। वैसे ही गणेश पुराण मे गणेश पद कारणब्रह्म का वाचक है और विष्णु शिवादिक पद कार्य ब्रह्म के वाचक है। इससे कारण की स्तुति और कार्य की निन्दा है। कालीपुराण मे काली देवी आदिक पद कारण ब्रह्म के बोधक है और विष्णु, शिव, गणेश, सूर्यादिक पद कार्यब्रह्म के बोधक है। इससे काली पद बोध्य कारण की स्तुति और विष्णु शिवादिक पद बोध्य कार्यब्रह्म की निन्दा है। सौर पुराण मे सूर्य, भानु पद बोध्य कारणब्रह्म है, उसकी स्तुति और अन्य पद बोध्य कार्य की निन्दा है। इस रीति से सकल पुराणो मे कार्य, कारण की सज्ञारूप सकेत का तो भेद है, किन्तु उपादेय हेय जो अर्थ उसका भेद नही है। सकल पुराणो मे कारणब्रह्म की उपासना उपादेय है और कार्यब्रह्म उपासना हेय है। इससे सर्व पुराण एक कारण ब्रह्म को उपास्य रूप से बोधन करते है। उनका आपस मे विरोध नही है।

मूर्ति प्रतिपादन का अभिप्राय

यद्यपि चतुर्भु ज, त्रिनेत्र, सतु ड, अष्टभुजादिक मूर्ति माया के परिणाम है और चेतन के विवर्त्त है, इससे कार्य है। और उनकी भी उपासना कही है। तथापि उन चतुर्भु जादिक मूर्तियो का जो माया विशिष्ट कारण है, उससे विचार करने पर भेद नही है। इससे उन आकारो को बाधकर कारणरूप से उनकी उपासना मे तात्पर्य है। क्यो ? आकार कार्य है, इससे तुच्छ है और कारण सत्य है। और जिसकी मद प्रज्ञा आकार मे ही स्थित हो, सो शास्त्र-उक्त आकार की ही उपासना

करे। उससे भी प्रज्ञा निश्चल होकर कारण ब्रह्म की उपासना मे स्थिति होती है।

कारण ब्रह्म की उपासना इस रीति से कही है :—ब्रह्म जगत् का कारण है, सत्यकाम है, सत्यसकल्प है, सर्वज्ञ है, स्वतत्र है, सर्व का प्रेरक है, कृपालु है। ऐसे ईश्वर के धर्मो का चिन्तन करे। मूर्तिचिन्तन मे शास्त्र का तात्पर्य नही है। और जो अनेक मूर्ति शास्त्र मे लिखी है, सो उपासना के निमित्त नही है। किन्तु सर्व मूर्ति कारण ब्रह्म की उपलक्षण है। जो वस्तु जिसके एक देश मे हो और कदाचित् हो और व्यावर्त्तक हो, उसको उपलक्षण कहते है। कैसे ? जैसे "काकवाला देवदत्त का गृह है" इस वाक्य मे देवदत्त के गृह का काक उपलक्षण है। क्यों ? गृह के एक देश मे काक होता है और कदाचित् होता है, सर्वदा नही। अन्य गृहो से देवदत्त के गृह का व्यावर्त्तक है। वैसे जगत् का कारण ब्रह्म है। उसके एक देश मे मूर्ति होती है और कदाचित् होती है और चतुर्भुजादिक मूर्ति कारणब्रह्म मे होती है, अन्य मे नही" इससे व्यावर्त्तक होने से उपलक्षण है। उपलक्षण का यह प्रयोजन होता है —उससे विशेष्य वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है। कैसे ? जैसे काक से देवदत्त के गृह का ज्ञान होता है। अन्य प्रयोजन काक से नही है, वैसे चतुर्भुजादिक आकारो से निराकार कारणब्रह्म का ज्ञान ही उपासना के निमित्त मूर्तिप्रतिपादन का प्रयोजन है, अन्य नही है। और.-

आकारो मे आग्रह वाले शैवादिको को खेद की प्राप्ति

मद प्रज्ञावाले शास्त्र के अभिप्राय को समझे बिना उन आकारो मे आग्रह करते है और 'श्याल सारमेय न्याय' से परस्पर कलह करते है। स्त्री के भाई को श्याल कहते है। कुत्ते को सारमेय कहते है। दृष्टात को न्याय कहते हैं। किसी के शाले का नाम उत्फालक था और शाले के शत्रु का नाम धावक था। उस पुरुष के गृह के कुत्ते का नाम धावक था और दूसरे गृह के कुत्ते का नाम उत्फालक था। वहा उस पुरुष की स्त्री प्रथम गृह मे आई, तब देखा दोनो कुत्ते आपस मे लडने लगे तो उसके पति श्वसुर आदिक उत्फालक को गालियाँ देने लगे और अपने

धावक की प्रशसा करने लगे । तब उस स्त्री को यह भ्राति हो गई —मेरे भाई को गाली देते है और उसके शत्रु की प्रशसा करते है। उससे रुष्ट होकर अपने पति से लडने लगी। जैसे उनके अभिप्राय को जाने बिना समान सज्ञा से भ्रम करके स्त्री ने क्लेश किया, वैसे ही वैष्णव ग्र थो मे शिवादिक नाम से कार्यब्रह्म की निन्दा करी है। इस अभिप्राय को नही जानकर शैवादिक दु खित होते है और विष्णु नाम से कार्य की निन्दा को नही जानकर वैष्णव दु.खित होते है। और सकल पुराणो का यह अभिप्राय है.—कारणब्रह्म उपास्य है। कार्यब्रह्म त्याज्य है। माया विशिष्ट चेतन को कारणब्रह्म कहते है। मायाकृत कार्य विशिष्ट चेतन को कार्यब्रह्म कहते है। यही अर्थ महाभारत की नीलकठी टीका के आरभ मे लिखा है। और सर्व वेदान्तो का भी यही सिद्धान्त है।

उत्तर मीमासा की प्रमाणता, अन्यो की अप्रमाणता

पुराणों मे विरोध की शका तो आपकी कृपा से नष्ट हो गई है। अब आप षट्शास्त्र के परस्पर विरोध की शका भी नष्ट करने की कृपा करे। उन षट् शास्त्रो मे कौन शास्त्र सत्य है। जिसको आप सत्य बतायेगे उसी का अर्थ बुद्धि मे धारण करू गा। समाधान —उत्तर मीमासा (वेदान्त शास्त्र) ही सत्यब्रह्म का प्रतिपादक होने से सत्य है। उसका उपदेश लेशमात्र भी वेद से विरुद्ध नही है। अन्य पाच शास्त्र मुमुक्षु के लिये श्रेष्ठ नही है। क्यो ? उनमे कुछ अश ही वेद के अनुसार है। वे सर्वथा वेद के अनुसार नही है। बहुत से मद अधिकारी उनके वेदानुसार अश को देखकर उनको ग्रहण करते है।

यद्यपि षट् शास्त्रो के कर्ता सर्वज्ञ कहे गये है। १-साख्य के कर्ता कपिल। २-पातजल के कर्ता पतजलि शेष के अवतार है। ३-न्याय के कर्ता गौतम। ४-वैशेषिक शास्त्र के कर्ता कणाद। ५-पूर्व मीमासा के कर्ता जैमिनि। ६-उत्तर मीमासा के कर्ता व्यास। इन सब का माहात्म्य प्रसिद्ध है। इसमे इनके वचनरूप शास्त्र भी सब समान प्रमाण होने चाहिये। तथापि सर्व वाक्यों मे प्रबल प्रमाण वेदवाक्य है। क्यो ?

वेद का कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर है। उसमे भ्रम, सदेह, विप्रलिप्सा दोष सभव नही है। षट् शास्त्रो के कर्ता जीव है। उनमे भ्रम आदिक दोषो का होना सभव है। यद्यपि शास्त्रकार भी सर्वज्ञ कहे है, तथापि उनको सर्वज्ञता योग के माहात्म्य से प्राप्त हुई थी। इससे वे यु जान योगी हुये है। और ईश्वर को सर्वज्ञता स्वभावसिद्ध है। इससे ईश्वर युक्तयोगी है। जिसको चिन्तन करने से पदार्थो का ज्ञान हो, उसको यु जान योगी कहते है। और जिसको सर्वदा एकरस सर्व पदार्थ अपरोक्ष प्रतीत हो, उसको युक्त योगी कहते है। ऐसा ईश्वर है। युक्त योगीकृत वेदवचन प्रबल है और यु जानयोगिकृत शास्त्र वचन दुर्बल है। इससे वेदानुसारी शास्त्र प्रमाण है और वेद विरुद्ध अप्रमाण है। पाचशास्त्र जैसे वेद विरुद्ध है, वह शारीरक आदिक ग्रन्थो मे स्पष्ट है और उत्तर मीमासा किसी भी अश मे वेद विरुद्ध नही है, इससे प्रमाण है। और शास्त्रो को भी किसी अश मे वेद के अनुसारी देखकर मदबुद्धि उनमे विश्वास करते है, परन्तु बहुत अश मे वे वेदविरुद्ध है। इससे त्याज्य है। किसी अश मे वेद अनुसारी होने से उपादेय हो, तो जैन शास्त्र भी अहिसा अश मे वेद अनुसारी है, उपादेय होना चाहिये, और उपादेय नही है, त्याज्य है। यद्यपि सुगत ईश्वर का अवतार है, जिसको बुद्ध भी कहते है। उसके वचन भी वेद समान प्रमाण होने चाहिये। तथापि बुद्ध विप्रलिप्सा निमित्त से ही हुआ है। इससे उसके वचन सर्वथा अप्रमाण है। वचन की इच्छा को विप्रलिप्सा कहते है। इसी को बहकाने की इच्छा भी कहते हैं। इससे सर्व अश मे वेद अनुसारी उत्तर मीमासा ही सर्वथा मुमुक्षु को उपादेय है। यद्यपि उत्तर मीमासा व्यास कृत सूत्ररूप है। उसके व्याख्यान अनेक पुरुषो ने नाना रीति से किये है। तथापि पूज्य चरण शकरकृत व्याख्यान ही वेदानुसारी है और नही है। इसमे वायु पुराण, कूर्म पुराण, आदि के व्यास जी के वचन प्रमाण है। उन पुराण वचनों का सार यह है —"जब कलि मे वेद का अर्थ नाना भांति करेंगे, तब कृपालु शिव शकराचार्य नाम से अवतार लेकर बदरीनाथ की मूर्ति का देव नदी मध्य से उद्धार करके स्वस्थान मे स्थापन करेंगे। जैन और

बुद्धमत का खडन करेंगे और वेद का यथार्थ व्याख्यान करेंगे । इससे मुमुक्षु के लिये उत्तर मीमासा शास्त्र ही उपादेय है ।

अन्य शास्त्रो की त्याज्यता मे दृष्टान्त और हेतु

यद्यपि सारग्राहक दृष्टि से सर्व शास्त्र मोक्ष उपयोगी कहे जा सकते है । कैसे ? जैसे किसी का शत्रु तलवार मारे, उससे रुधिर निकल के दैव गति से रोग निवृत्त हो जाय । तब सारग्राही पुरुप तलवार मारने का उपकार मान ले, वैसे ही अन्य शास्त्र से भी किसी रीति से अत करण की शुद्धि वा निश्चलता होने पर पुरुष निवृत्त होकर वेद अनुसार निश्चय करे तो मोक्ष होता है । और सर्वथा उनमे ही आग्रह करे तो अधगोलागूल न्याय से अनर्थ को प्राप्त होता है । इससे सकल शास्त्र त्यागकर अद्वैत व्याख्यान रीति से उत्तर मीमासा शास्त्र ही मुमुक्षु को उपादेय है ।

अधगोलागूल न्याय यह है —किसी धनी के भूषणयुक्त पुत्र को चोर ले गये । वन मे भूषण लेकर उसके नेत्र फोड़कर छोड गये । तब उस रुदन करते हूये बालक को कोई निर्दय वचक उन्मत्त बलि बैल की लागूल (पू छ) पकडाकर कहै तू इसका लॉगूल मत छोडना, यह तेरे को तेरे ग्राम मे पहुचा देगा । वह दु.खी बालक उसके वचन मे विश्वास करके दु ख अनुभव करता हुआ नष्ट होता है, वैसे ही विषयरूप चोर बिवेक रूप नेत्रो को फोडकर ससार वन मे डाल देता है । वहा भेदवादी आचार्य जो है, उनके शास्त्र उक्त परमेश्वर और मोक्ष के अपरोक्ष ज्ञान से रहित है । और यथोक्त उपासनादिरूप मोक्ष के साधनो से भी रहित है, तो भी द्रव्यहरण के निमित्त लोको को अपने सप्रदाय के चिन्ह सहित सार्केतिक मत्र का उपदेश देते है । और उनको ऐसी दया नही आती है कि हम इनको सन्मार्ग से रोकेंगे तो इनका जन्म व्यर्थ चला जायगा । इससे वे निर्दय वचक कहे जाते है । अन्य शास्त्रो के सिद्धान्त से आग्रह करवाते है और यह कहते है :—हमारा उपदेश ही तेरे को परमसुख प्राप्ति का हेतु होगा । उसको छोडना नही । उनके वाक्यो मे विश्वास करके परमपुरुषार्थ रूप सुख से रहित होते हैं और जन्ममरणरूप महादु.ख

को अनुभव करते है। इससे अन्य शास्त्र मुमुक्षु के लिये त्याज्य है।

सगुण ईश्वर की उपासना के अनधिकारी को कर्त्तव्य

यदि उक्त सगुण ईश्वर की उपासना भी नही हो तो निष्काम कर्म अर्थात् फल की कामना से रहित स्ववर्णाश्रम के कर्म को ईश्वरार्पण बुद्धि से करे और उसके साथ राम नाम कीर्तनादिक के द्वारा राम को भजे। शका —रामकृष्णादिक तो हमारे समान ही मूर्तिमान् थे और नेत्रो के विषय होते थे, परमात्मा तो नेत्रो के विषय नही होते। जब वे परमात्मा नही थे तब उनका भजन क्यो किया जाय ? समाधान — रामकृष्णादिक की जो मनुष्याकार मूर्ति है, सो यद्यपि रूपवाली है तथापि हमारे शरीरो के समान नही है। मायारचित होने से मिथ्या होती है, ब्रह्मरूप तो नही होती है। पुराण मे रामकृष्णादिको को ब्रह्म-रूपता कही है। सो उनका शरीर रूप मूर्ति ब्रह्मरूप है, इस अभिप्राय से नही कही है। किन्तु उनके शरीरो का अधिष्ठान चेतन ब्रह्म है, इस अभिप्राय से कही है। इसमे ऐसी शका होती है :—सर्व शरीरो का अधिष्ठान चेतन ब्रह्म है। इससे अधिष्ठान चेतन के अभिप्राय से राम कृष्णादिको को ब्रह्मरूपता कही हो, तो सर्व शरीरो का अधिष्ठान चेतन ब्रह्म होने से मनुष्य, पशु पक्षी आदिक सर्व ही ब्रह्मरूप है। उनके समान ही रामकृष्णादिक होगे। इससे रामकृष्णादिको को अधिष्ठान चेतन ब्रह्म है, इस अभिप्राय से ब्रह्मरूपता नही कही है। किन्तु उनकी अन्य जीवो से विशेषरूपता की सिद्धि के लिये उनका शरीर ही ब्रह्म है। ऐसा मानना योग्य है।

सो बने नही। क्यो ? शरीर का बाध करके उनके शरीर को ब्रह्म-रूपता मानें तो सर्वशरीरो का बाध करके सब शरीर ब्रह्मरूप है। और बाध किये बिना तो अन्य शरीरो के समान हस्तपादादिक अवयव सहित रूपवान्, क्रियावान् शरीर का निरवयव नीरूप अक्रिय ब्रह्म से अभेद बनता नही है। इससे रामकृष्णादिको का शरीर ब्रह्म नही है। परन्तु इतना भेद है :—जीवो के शरीर पुण्य पाप के अधीन है, भूतो के कार्य हैं, और जीवो को देहादिक अनात्म पदार्थों मे अविद्या बल से अह मम

अध्यास है। आचार्य के उपदेश से उस अध्यास की निवृत्ति होती है। और रामकृष्णादिको के शरीर अपने पुण्य पाप से रचित नही है, भूतो के कार्य नही है। किन्तु जैसे सृष्टि के आदि मे प्राणियो के कर्मभोग देने को सन्मुख होते है। तब आप्तकाम ईश्वर मे भी प्राणियो के कर्म के अनुसार "मै जगत की उत्पत्ति करू" ऐसा सकल्प होता है। उस सकल्प से जगत की उत्पत्ति रूप सृष्टि होती है। वैसे सृष्टि के अनन्तर भी "मै जगत् का पालन करू" ऐसा ईश्वर का सकल्प होता है। उस सकल्प से जगत् का पालन होता है। कर्मों के अनुसार सुखदु ख के सबन्ध को पालन कहते है। पालन सकल्प के मध्य उपासक पुरुषो की उपासना के बल से ईश्वर को ऐसा सकल्प होता है .—"रामकृष्णादिक नाम सहित मूर्ति सर्व को प्रतीत हो" उस ईश्वर सकल्प से विशेष नाम रूप रहित ईश्वर मे रामकृष्णादिक नाम, पीताबरधरादि श्यामसुन्दर विग्रहरूप की उत्पत्ति होती है। सो विग्रह कर्म के अधीन नही है।

यद्यपि रामकृष्णादिक विग्रह से साधु और दुष्टो को क्रम से सुख-दु ख होता है। जो जिसके सुख-दु ख का हेतु होता है, सो उसके पुण्य पाप से रचित होता है। इससे पुण्य पाप के अधीन कहते है। इस रीति से अवतारो के शरीर साधु पुरुषो के सुख के हेतु होने से साधु पुरुषो के पुण्य समुदाय मे रचित है। वैसे असुरादिक असाधु पुरुषो को दु ख के हेतु होने से उनके पाप से रचित है। इससे "अवतारो के शरीर पुण्य पाप के अधीन नही है" यह कहना सभव नही है। तथापि जैसे जीव ने पूर्व शरीर मे पुन्य पाप कर्म किये है, उनका फल उत्तर शरीर मे उस जीव को सुख-दु.ख होते है। वहा शरीर अभिमानी जीव के पूर्व शरीर के अपने पुण्य पाप के अधीन उत्तर-शरीर कहे जाते हैं। वैसे राम-कृष्णादिको के शरीर यद्यपि साधु असाधु पुरुषो के पुण्य पाप के अधीन है और उनको ही सुख दु ख के हेतु है। परन्तु रामकृष्णादिको के पुण्य पाप से रचित अवतार शरीर नही है और उनको अपने शरीर से सुख का तथा दु ख का भोग नही होता। इससे रामकृष्णादिको के शरीर अपने पुण्य पाप के अधीन नही है, यह सभव है।

वैसे भूतो के परिणाम भी रामकृष्णादिक शरीर नही है। किन्तु चेतन के आश्रित माया का परिणाम है। यदि पचीकृत भूतो के परिणाम हो तो कृष्ण शरीर मे रज्जुकृत बधनादिक का अभाव शास्त्र मे कहा है, सो असगत होगा। यद्यपि पचभूत रचित सिद्ध योगी शरीर मे भी बधनादिक नही होते है। तथापि योगी शरीर मे प्रथम बधनादिको का सभव होता है। फिर योगाभ्यासरूप पुरुषार्थ से बधन दाहादिको की योग्यता नष्ट होती है। कृष्णादिको के शरीर मे योगी के समान कुछ पुरुषार्थ से बन्धनादिको का अभाव नही होता है। किन्तु उनके शरीर सहज ही बधनादि योग्य नही होते है। इससे भूतो के परिणाम नही होते है। और माडूक्यभाष्य की टीका मे आनन्दगिरि ने रामादिक शरीर भूतो के परिणाम कहे है। सो स्थूल दृष्टि से अन्य शरीरो के समान वे शरीर प्रतीत होते है, इस अभिप्राय से कहे है।

क्यो ? भाष्यकार ने गीताभाष्य मे यह कहा है —"जीवो के ऊपर अनुग्रह करके शरीरधारी के समान माया के बल से परमात्मा कृष्णरूप प्रतीत होते है। सो जन्मादिक रहित है। उनका वसुदेव द्वारा देवकी से जन्म भी माया से ही प्रतीत होता है।" इस रीति से भाष्यकार ने कृष्ण-शरीर माया का कार्य कहा है। इससे भूतो से अवतार शरीरो की उत्पत्ति नही होती। किन्तु उनके शरीरो का उपादान कारण साक्षात् माया है। अन्य जीवो को देहादिको मे आत्मभ्राति होती है, रामकृष्णादिको को नही होती है। क्यो ? जीवो की उपाधि अविद्या मलिन सत्त्वगुण वाली होती है। रामकृष्णादिको की उपाधि माया शुद्ध सत्त्व गुण वाली होती है। इससे जीवो को अविद्याकृत भ्राति होती है। और रामकृष्णादिको को मायाकृत सर्वज्ञता होती है। जीवो को अज्ञानकृत आवरण और भ्राति के नाश निमित्त आचार्य द्वारा महावाक्य के उपदेशजन्य ज्ञान की अपेक्षा रहती है। वैसे रामकृष्णादिको को आवरण और भ्राति नही होती। इससे उपदेशजन्य ज्ञान की अपेक्षा नही होती। किन्तु जीव को अन्त करण की वृत्तिरूप ज्ञान के समान ईश्वर को माया की वृत्तिरूप आत्मा का ज्ञान तो उपदेशादिक बिना भी होता है। परन्तु उस ज्ञान से उनका कुछ प्रयोजन सिद्ध नही होता है। क्यो ? जीवो को

घटादिको के ज्ञान से आवरण भग और विषय जो घटादिक उनका प्रकाश होता है। और ब्रह्मरूप से आत्मा का ज्ञान जो जीवो को होता है, वहा ज्ञान का विषय जो आत्मा उसका आवरण भग तो ज्ञान से होता है और आत्मा विषय स्वयप्रकाश है। इससे आत्मज्ञान से विषय का प्रकाश नही होता। वैसे ईश्वर को माया की वृत्तिरूप जो "अहं-ब्रह्मास्मि", ऐसा ज्ञान, उसका विषय ईश्वर का आत्मा सो आवरण रहित स्वय प्रकाश है। इससे आवरण भग वा विषय का प्रकाश ईश्वर के ज्ञान का प्रयोजन नही है।

जैसे जीवन्मुक्त विद्वान् की निरावरण आत्मा को विषय करने वाली अन्त.करण की "अह ब्रह्मास्मि" ऐसी वृत्ति आवरण भगादिक प्रयोजन रहित होती है। वैसे ईश्वर को भी आवरण भगादिक प्रयोजन बिना ही माया की वृत्तिरूप "अह ब्रह्मास्मि" ऐसा ज्ञान उपदेशादिक से बिना ही होता है। इस रीति से रामकृष्णादिको को जीवो से विलक्षणता ईश्वरता है। तो भी उनका शरीर मायारचित है। इससे ब्रह्म नही है, किन्तु मिथ्या है। माया ने उत्पन्न किये जो अवतारो के शरीर सो हस्त पादादिक अवयव सहित और रूप सहित किये है। इससे नेत्र इन्द्रिय के विषय उनके शरीर होते है। उक्त प्रकार राम-कृष्णादिक भजनीय है।

राम भजन के अनधिकारी को कर्त्तव्य

रामकृष्णादिको का भजन भी नही हो तो केवल निष्काम कर्म ही करे। क्यो ? निष्काम कर्म भी अन्त.करण की शुद्धि द्वारा ज्ञान का हेतु है और ज्ञान से मोक्ष होता ही है। शका.-मोक्ष की कामना तो रहती है, निष्काम कर्म कैसे हो सकता है ? समाधान .—मोक्ष प्राप्ति की इच्छा कामना नही कहलाती है। क्यो ? अपने स्वरूप से भिन्न की प्राप्ति की इच्छा ही कामना कही जाती है। मोक्ष कोई लोक वा वस्तु रूप से प्राप्त नही होती है। अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष का स्वरूप है। अपना स्वरूप परमानन्द रूप है और अज्ञान तथा जन्म मरणादि ससार रूप अनर्थ स्वरूप मे लेश-

मात्र भी नही है, किन्तु अज्ञान के द्वारा प्रतीत होता है। कैसे ? जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्प प्रतीत होता है। सर्प भ्राति और भ्राति निवृत्ति दोनो समय रज्जु ही होती है किन्तु भ्राति समय रज्जु नही भासती, वैसे ही अज्ञान और ज्ञान दोनो समय आत्मा का स्वरूप सम ही होता है। अज्ञान के समय वास्तवस्वरूप प्रतीत नही होता है। ब्रह्म-ज्ञान द्वारा अनर्थ निवृत्ति भी परमानन्दमय अधिष्ठान रूप ही होती है। कैसे ? जैसे रज्जु सर्प की निवृत्ति रज्जु रूप ही होती है।

और परमानन्द प्रथम प्राप्त है ही। इससे मोक्ष अपना स्वरूप ही है। उसकी प्राप्ति की इच्छा को कामना नही कहते है। निष्काम कर्म करने से क्या होगा ? निष्काम कर्म करने से अन्त करण शुद्ध होकर राम भजन मे मन लगेगा तब वह स्थिर भी हो जायगा। शुद्ध और स्थिर अन्त करण मे गुरु वचनो द्वारा ज्ञान होने से नित्य प्राप्त की प्राप्ति और नित्य निवृत्त की निवृत्तिरूप मोक्ष होती है।

निष्काम कर्म के अनधिकारी को कर्त्तव्य

यदि निष्काम कर्म भी नही हो तो, शुभ सकाम कर्म ही करे। शुभ सकाम कर्म से क्या होगा ? नीच योनियो को नही जा सकेगा। क्यो ? शुभ सकाम कर्मों का फल भोगने के लिये ऊचे लोको को प्राप्त होगा तथा इस लोक मे भी श्रेष्ठ श्रीमानो के घर जन्मकर लौकिक सुख भोगेगा। अशुभ सकाम करने से क्या हानि है ? अशुभ सकाम का फल पाप होगा। पाप का फल दु.ख प्रसिद्ध ही है। पाप से नीच योनियो को प्राप्त होकर अति दु ख ही भोगेगा। अशुभ सकाम किसको कहते है ? धनादिको की प्राप्ति के लिये तथा अन्य किसी भी स्वार्थ सिद्धि के लिये दूसरो को दु ख देना ही अशुभ कर्म है। अशुभ कर्म प्राय सकाम ही होते है। उनके द्वारा दूसरो को दु ख देने से इस जन्म वा अन्य भावी जन्म उनका फल करने वाले को दु ख ही मिलता है। और शुभ सकाम करने से पतन से बचकर सासारिक सुख भी भोगता है। अत. निष्काम कर्म नही हो तो शुभ सकाम कर्म तो अवश्य करते रहना चाहिये। यदि कोई शुभ सकाम कर्म भी नही

करे तो ? वह दुष्ट प्राणी तो बारम्बार जन्मेगा और मरेगा। कभी चाडाल, कभी श्रेष्ठ, कभी महादु:खी, कभी सुखी, कभी महाघोर वन के सर्प, हस्ती, सिहादि का जन्म धारण करेगा। कभी राध रुधिर से भरे कुड मे पडकर हाहाकार करेगा। कभी लोहे के तप्त स्तभ से बाधा जायेगा। कभी तप्तवालु युक्त मार्ग मे नग्न पाद चलते हुये लोह मय दड से यम भटो से पीटा जायगा। नाना भयकर स्थानो को देखेगा। कभी देवता होगा और दिव्य भोग भोगेगा। फिर कभी अकस्मात् रुधिर मल पूरित कुड मे जा पडेगा। फिर कूकर, सूकर, कीट पतगादि योनियो मे भ्रमण करता हुआ, वह ऐसी योनियो को प्राप्त होगा, जो एक दिन मे ही जन्मकर, अपना परिवार फैलाकर मर जाते है और पुन जन्म जाते है। इसलिये अशुभ कर्मो को त्याग करके शुभ सकाम कर्म अवश्य ही करते रहना चाहिये।

इससे कदाचित् सत्सग प्राप्त होने पर निष्काम कर्म करने की भावना भी अन्त करण मे प्रकट हो सकती है। और निष्काम कर्म करने से मन शुद्ध होकर प्रभु भक्ति मे भी प्रवृत्त हो सकता है। भक्ति द्वारा मन स्थिर होने पर आत्मज्ञान भी हो सकता है। और ज्ञान द्वारा मोक्ष होता ही है। यह तो श्रुति सिद्ध सिद्धान्त अति प्रकट है ही।

मनुष्य शरीर प्राप्त करके भी जो उक्त प्रकार से उपासना रूप किसी भी साधन मे प्रवृत्त नही 'होता, वह पामर पुरुष अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही खोकर अत मे पश्चाताप करता है।

इति श्री उपासना निरूपण अश १५ समाप्त।

अथ महावाक्य निरूपण अश १६

कृपया महावाक्यो का रहस्य भी समझाने की कृपा करे ? अच्छा सुनो, चार वेदों के चार महावाक्यो का रहस्य सुनाता हूं। "प्रज्ञान ब्रह्म" ऋग्वेद के ऐत ५-३ मे "अह ब्रह्मास्मि" यजुर्वेद के बृ. १-४-१० में, "तत्त्वमसि" सामवेद के छा० ६-८-मे, "अयमात्मा ब्रह्म" अथ-

र्वणवेद के माडूक्य २ मे, ये चार महावाक्य है। मुमुक्षु को मोक्ष के साधन ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान इनसे ही होता है। "प्रज्ञानब्रह्म" के प्रज्ञानपद का अर्थ प्रथम वर्णन करते है।

प्रज्ञान ब्रह्म के प्रज्ञान पद का अर्थ

यह पुरुष, चक्षु द्वारा बाहर निकली हुई अन्त.करण की वृत्ति से युक्त जिस चैतन्य से दर्शन योग्य रूप आदि को देखता है। श्रोत्र द्वारा निकली हुई अन्त करण की वृत्ति सहित जिस चैतन्य से शब्दो को सुनता है। नासिका द्वारा निकली हुई अन्त करण की वृत्ति सहित जिस चैतन्य से गधो को सूघता है। वागिद्रिय से युक्त जिस चैतन्य से शब्दो का उच्चारण करता है। रसना इन्द्रिय द्वारा निकली हुई अन्त करण की वृत्तिरूप उपाधि वाले जिस चैतन्य से स्वादु अस्वादु दोनो प्रकार के रसो को चखता है। और भी जो उक्त अनुक्त इन्द्रियो तथा अन्त करण की वृत्तियो से उपलक्षित चैतन्य है, वही यहा "प्रज्ञान" शब्द का अर्थ है। इस प्रकार "येन वा पश्यति" से लेकर "सर्वण्येतानि प्रज्ञानस्य नामध्येयानि" ऐतरेयारण्यक के षष्ठाध्याय मे आये हुए इन अवान्तर वाक्यो का अर्थ भी सक्षेप से दिखा दिया गया है। इन वाक्यो द्वारा सब इन्द्रियो और उनकी वृत्तियो से भिन्न, स्वप्रकाश स्वरूप, सबके साक्षी, सब वृत्तियो मे अनुगत एक आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

ब्रह्म पद का अर्थ

ब्रह्मा, इन्द्र, और देव आदि उत्तम, अधम मनुष्य, नीच, गाय, घोडा आदि, सब देह धारियो और आकाश आदि भूत पदार्थों मे जो जगत् के जन्म स्थिति और प्रलय का कारण भूत एक चैतन्य है, वह ब्रह्म है। इससे "एष ब्रह्मे ष इन्द्र" से लेकर "प्रज्ञाप्रतिष्ठिता" तक के ऐतरेयारण्यक के छठे अध्याय के आत्मा के स्वरूप को बताने वाले अवान्तर वाक्यो का अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार "प्रज्ञान" और "ब्रह्म" दोनों पदो का अर्थ बताकर "प्रज्ञान ब्रह्म" इस सपूर्ण वाक्य का अर्थ बताते है —"अतः मयि अपि प्रज्ञानब्रह्म" क्योकि सर्वत्र

अवस्थित रहने वाला "प्रज्ञान" ही ब्रह्म है। इसलिये मुझमे भी जो "प्रज्ञान" है, वह भी "ब्रह्म" है, क्योकि मेरे और उनके "प्रज्ञान" की प्रज्ञानता मे कोई अन्तर नही है।

अहं ब्रह्मास्मि के "अहं" पद का अर्थ

स्वभावत देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न-परिपूर्ण परमात्मा, इस माया कल्पित जगत् मे, शमादि साधनो से सम्पन्न होने से ब्रह्म-विद्या को पाने की योग्यता वाले, श्रवण-मननाद्यनुष्ठान वाले, इस मनुष्यादिदेह मे बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म शरीर का साक्षी अर्थात् अविकारी अतएव अवभासक रूप मे स्थित होकर प्रकाशित होता हुआ लक्षण से 'अहं' पद का लक्ष्य अर्थ बनता है।

ब्रह्म पद का अर्थ

स्वत परिपूर्ण अर्थात् स्वभाव से देश-काल-वस्तु से अपरिछिन्न परमात्मा ही यहाँ-'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य मे ब्रह्म शब्द का अर्थ है। और इस वाक्य मे जो "अस्मि" पद है, वह "अहं" और "ब्रह्म" इन दोनो पदो को समानाधिकरण (एकार्थवाची) बताता है (भिन्नार्थ पदो की समान विभक्ति के बल से जो एक ही अर्थ मे प्रवृत्ति होती है, वह 'समानाधिकरणता कहलाती है। यहा 'अहं' और 'ब्रह्म' पद क्रमश. 'आत्मा' और 'ब्रह्म' के बोधक है, परन्तु समान प्रथमा विभक्ति के बल से वे दोनो पद अखड एकरसता के बोधक है। इससे ब्रह्मात्मा की एकता सिद्ध होती है।) इसीलिये जीव और ब्रह्म दोनो की एकता का बोधक होता है। इस प्रकार इस वाक्य का साराश यह है —'मै ब्रह्म हूं'।

तत्त्वमसि के तत् पद का अर्थ

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" इस वाक्य से सृष्टि से प्रथम सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रहित, नामरूप रहित जिस 'सत्' वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। अब सृष्टि के पश्चात् भी वह सद् वस्तु वैसी की वैसी ही है। यह बात विचार से उचित प्रतीत होती है। 'तत्' शब्द उसी अविकृत सद् वस्तु की ओर निर्देश करता

है अर्थात् वही 'तत्' शब्द का अर्थ है। उददालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ६ बार ६ प्रकार से इसका उपदेश किया था।

त्व पद का अर्थ और वाक्य का अभिप्राय

श्रवण आदि के अनुष्ठान से महावाक्य के अर्थ का निश्चय करने वाला श्रोता कहलाता है। उसके देह इन्द्रिय आदि स्थूल सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीरो से भिन्न उनकी साक्षीभूत जो सद् वस्तु है, वही इस महावाक्य के 'त्व' पद से अभिप्रेत है। इस वाक्यगत 'असि' पद को ब्रह्म कहना तो सर्वथा विरुद्ध है, क्यो ? 'असि' का वाच्यार्थ 'है' या 'हो' है, लक्षणा की प्रवृत्ति 'तत्' और 'त्व' पदो के अर्थो मे ही है। इससे 'असि' का लक्ष्यार्थ भी ब्रह्म नही हो सकता है। 'असि' पद से शिष्य को यह बोध होता है :—'तत् त्व' ये दोनो पद समानाधिकरण हैं। इससे ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ के बोधक है।

'अयमात्मा ब्रह्म' के 'अयम्' और 'आत्मा' पदो के अर्थ

अथर्ववेद की माडूक्य उपनिषद् के अन्तर्गत 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इस महावाक्य के 'अयम्' और 'आत्मा' पदो के अर्थ क्रमश ये हैं —'अय' इस शब्द से साक्षी आत्मा की स्वप्रकाश होने से अपरोक्षता कही है अर्थात् यह तत्त्व अदृष्ट (धर्माधर्म) के समान सदा परोक्ष भी नही है और घटादि के समान दृश्य (पर प्रकाश्य) तथा अपरोक्ष भी नही है। और जो चेतन तत्त्व अहकार से देह तक सघात (अहकार, प्राण, मन, इन्द्रिय और देहरूप सघात) से पृथक अर्थात् उक्त सघात का अधिष्ठान एव साक्षी अन्तरात्मा है, उसको इस महावाक्य मे 'आत्मा' कहा है।

'अयमात्माब्रह्म' के 'ब्रह्म' पद का अर्थ और एकता रूप वाक्यार्थ

दृश्यमान अर्थात् दृश्य होने से मिथ्याभूत आकाशादिक सकल जगत् का जो अधिष्ठान है, एव इस जगत् का बाध हो जाने पर भी जो शेष रह जाता है, वह पारमार्थिक सच्चिदानन्दरूप तत्त्व ही 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार इस महावाक्य का अर्थ यह हुआ :—उक्त लक्षण वाला ब्रह्म स्वप्रकाशात्मस्वरूप है, जो मनुष्य का स्वय प्रकाश आत्मा

है, वही ब्रह्म है तथा जो ब्रह्म है वह मनुष्य का यह स्वयप्रकाश आत्मा ही है। इस आत्मा से भिन्न ब्रह्म नही है। ब्रह्मात्मा एक ही है।

मुमुक्षुजन इन चार महावाक्यो के ब्रह्मात्मा के एकतारूप अर्थ को वेदान्त शास्त्र द्वारा जानकर तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु से सुनकर, वाच्य एव लक्ष्यार्थ के विचार द्वारा पदार्थ का शोधन करके तथा उसकी यथार्थता जानकर, श्रवण-मननादि से सशय-विपर्यय का निवारण करते हुये, दृढ-अपरोक्ष निष्ठा से अज्ञान तथा उसके कार्यरूप अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति को प्राप्त करते है।

इन चार महावाक्यो मे क्रमशः विद्यमान —'प्रज्ञान' 'अह' 'त्व' और 'अयम्' इन चार विशेषणो वाला आत्मा, इन पदो का वाच्यार्थ जीव है और 'ब्रह्म' 'ब्रह्म' 'तत्' और 'ब्रह्म' इन चार पदो का वाच्यार्थ ईश्वर है। ये जीव और ईश्वर अल्पज्ञतादि तथा सर्वज्ञतादि विरुद्ध धर्म वाले है। इससे यद्यपि इन दोनो मे घटाकाश-मठाकाश के समान एकता असम्भव है, तथापि घट-मठ की दृष्टि को छोडकर दोनो मे विद्यमान 'आकाश' मात्र की दृष्टि से जैसे एकता सम्भव है, वैसे ही लक्षणा से धर्म सहित उपाधि भाग को छोडकर, जीव-ईश्वर दोनो में जो लक्ष्यार्थ चेतनमात्र है, उसकी एकता सभव है। महावाक्यो मे लक्षणा किस प्रकार की जाती है, वह भी बताने की कृपा करे ?

महावाक्यो मे लक्षणा प्रकार

"तत्त्वमसि" महावाक्य मे लक्षणा दिखाने के लिये 'तत्' पद और "त्व" पद का वाच्य-अर्थ बताते है :—सर्वशक्तियुक्त, सर्वज्ञ, व्यापक, सर्व का प्रेरक, स्वतत्र अर्थात् कर्म के अधीन नही है। परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष नही है। माया जिसके अधीन है। बन्ध मोक्ष से रहित है। जिसको बन्ध हो, उसी को मोक्ष होता है। ईश्वर बधरहित है। इससे ईश्वर का मोक्ष भी नही होता। इतने धर्म वाला ईश्वर चेतन "तत्" पद का वाच्य अर्थ है।

'त्व' पद का वाच्य अर्थ

जो ईश्वर के धर्म कहे है, उनसे विपरीत धर्म जिसमे हो, वह जीव चेतन 'त्व' पद का वाच्य है अर्थात् अल्पशक्ति, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, अनीश्वर, कर्म के अधीन, अविद्या-मोहित, बध मोक्ष वाला और प्रत्यक्ष है। क्यो ? अपना स्वरूप किसी को परोक्ष नही होता, प्रत्यक्ष ही होता है। यद्यपि ईश्वर को भी अपना स्वरूप प्रत्यक्ष है, तथापि ईश्वर का स्वरूप जीवो को प्रत्यक्ष नही है। इसी से परोक्ष कहते है। और जीव के स्वरूप को जीव ईश्वर दोनो जानते है। इससे प्रत्यक्ष कहते है। यद्यपि जीव अपने निजरूप अह पद के लक्ष्य कूटस्थमात्र को नही जानता है, तथापि अह पद का वाच्य जो अत करण विशिष्ट चेतन, किवा स्थूल सूक्ष्म सघात विशिष्ट चेतन मै हूँ ऐसे जानता है। इससे जीव को विवेक ज्ञान से पूर्व भी विशिष्टात्मारूप से अपने स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष है। इतने धर्मवाले जीवचेतन को "त्व" पद का वाच्य कहते है।

वाच्य अर्थ मे एकता का विरोध और लक्षणा की कर्त्तव्यता

सामवेद के छादोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय मे उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को जगत् की उत्पत्ति करने वाला, ईश्वर बता कर कहा है —"तत्त्वमसि" उसका यह वाच्य अर्थ है.—"तत्" अर्थात् वह जगत् की उत्पत्ति करने वाला, सर्वशक्ति, सर्वज्ञता आदिक धर्म सहित ईश्वर। "त्व" अर्थात् तू अल्पशक्ति, अल्पज्ञता आदिक धर्मवाला जीव। "असि" अर्थात् "है"। यहा "सो तू है" इस कथन से ईश्वर जीव की एकता वाच्य अर्थ से भान होती है। सो नही बनती है। क्यो ? सर्वशक्ति, और अल्पशक्ति, सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, व्यापक और परिच्छिन्न, स्वतत्र और कर्म के अधीन, परोक्ष और प्रत्यक्ष, माया जिसके अधीन और अविद्या मोहित एक है। यह कथन "अग्नि शीतल है" इस कथन के समान है। इस प्रकार वाच्य अर्थ मे विरोध है। किन्तु लक्षणा से लक्ष्य अर्थ जानने पर उक्त विरोध नही भासता। दोनो एकरूप ही भासते है। महावाक्यो मे जहति, अजहति लक्षणा तो सभव नही है, किन्तु भागत्याग लक्षणा से उक्त विरोध दूर होकर एकताजन्य आनन्द का अनुभव होगा।

महावाक्य मे जहति असभव

सपूर्ण वेदान्त का ज्ञेय साक्षीचेतन और ब्रह्मचेतन है। सो साक्षी-चेतन और ब्रह्मचेतन त्वपद और तत्पद के वाच्य मे प्रविष्ट है। और जहति लक्षणा जहा होती है, वहाँ सपूर्ण वाच्य का त्याग करके वाच्य का सबन्धी अन्य ज्ञेय होता है। इससे महावाक्य मे जहति लक्षणा मानें तो वाच्य मे आया हुआ जो चेतन, उससे अन्य ही कोई ज्ञेय होगा। चेतन से भिन्न असत् जड दु खस्वरूप है। उसके जानने से पुरुषार्थ सिद्ध नही होता है। इससे महावाक्य मे जहति लक्षणा नही लागू होती है।

महावाक्य मे अजहति का असभव

जहा अजहति लक्षणा होती है, वहा वाच्य अर्थ सब रहता है और वाच्य से अधिक का ग्रहण होता है। महावाक्यों मे अजहति लक्षणा अगीकार करै, तो वाच्य अर्थ सब रहेगा और वाच्य अर्थ महावाक्यो मे विरोध युक्त है। विरोध दूर करने के लिये ही लक्षणा स्वीकार की है। अजहति मानने से महावाक्यो मे जो विरोध है, वह दूर नही होता है। इससे महावाक्यो मे अजहति लक्षणा की रीति ग्रहण करने योग्य नही है, त्यागने योग्य ही है।

महावाक्यो मे भागत्याग लक्षणा प्रकार

तत्पद का वाच्य ईश्वर और त्वपद का वाच्य जीव, उनके आपस मे विरोधी धर्म त्यागकर शुद्ध असग चेतन लक्षणा से जानना चाहिये। यह भागत्याग लक्षणा है। इस स्थान मे यह सिद्धान्त है '—ईश्वर जीव का स्वरूप अनेक प्रकार का अद्वैत ग्र थो मे कहा है। विवरण ग्र थ मे, अज्ञान मे प्रतिबिम्ब जीव और बिम्ब ईश्वर कहा है। और विद्यारण्य के मत मे, शुद्ध सत्त्वगुण सहित माया मे आभास ईश्वर और मलिन सत्त्वगुण सहित जो अत करण का उपादान कारण अविद्या का अश, उसमे आभास जीव कहा है।

जीव ईश्वर के स्वरूप मे पचदशीकार तथा विवरणकारादिक का मत (आभास प्रतिबिम्ब और अवच्छेदवाद)

यद्यपि पचदशी ग्र थ मे विद्यारण्य स्वामी ने अत करण मे आभास जीव कहा है। तथापि अन करण के आभास को जीव मानें तो सुषुप्ति मे अन्तःकरण नही रहता है। इससे जीव का भी अभाव होना चाहिये। और प्राज्ञरूप जीव सुषुप्ति मे रहता है। इससे विद्यारण्य स्वामी का यह अभिप्राय है —अत करणरूप परिणाम को प्राप्त जो अविद्या का अश, उसमे आभास जीव है। सो अविद्या का अश सुषुप्ति मे भी रहता है। इससे प्राज्ञ का अभाव नही होता है। और केवल आभास ही जीव ईश्वर नही है। किन्तु माया का अधिष्ठान चेतन और माया सहित आभास ईश्वर है। और अविद्या अश का अधिष्ठान चेतन और अविद्या के अश सहित आभास जीव है। ईश्वर की उपाधि मे शुद्ध सत्त्वगुण है। इससे ईश्वर मे सर्वशक्ति सर्वज्ञतादिक धर्म है। और जीव की उपाधि मे मलिन सत्त्वगुण है। इससे जीव मे अल्पशक्ति अल्पज्ञतादिक धर्म है। इसको आभासवाद कहते है। विवरण के मत मे यद्यपि जीव ईश्वर दोनो की उपाधि एक ही अज्ञान है। इससे दोनो अल्पज्ञ होने चाहिये। तथापि जिस उपाधि मे प्रतिबिम्ब होता है, उसका यह स्वभाव होता है —प्रतिबिम्ब मे अपने दोष करती है, बिम्ब मे नही करती है। कैसे? जैसे दर्पणरूप उपाधि मे मुख का प्रतिबिम्ब होता है। ग्रीवा मे स्थित मुख बिम्ब है। वहा दर्पणरूप उपाधि के श्यामपीत लघुतादिक अनेक दोष प्रतिबिम्ब मे भान होते है। और ग्रीवा मे स्थित जो बिम्ब है, उसमे भान नही होते। वैसे दर्पणस्थानी जो अज्ञान, उसमे प्रतिबिम्ब-रूप जीव मे अज्ञानकृत अल्पज्ञतादिक दोष है और बिम्बरूप ईश्वर मे नहीं हैं। यद्यपि प्रतिबिम्बवाद मे शुद्ध ब्रह्म ही ईश्वर है उसमे सर्वज्ञता आदि धर्म भी सभव नही है। तथापि जीव के अल्पज्ञता आदिक धर्मों की अपेक्षा से शुद्ध ब्रह्म मे बिम्बत्व, ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व आदि धर्मों का आरोप करके ईश्वर मे सर्वज्ञतादिक है। और जीव मे अल्पज्ञतादिक है। परमार्थ से जीव ईश्वर दोनो शुद्ध ब्रह्मरूप है। उनमे किसी भी धर्म का सभव नही है।

आभास और प्रतिबिम्बवाद का इतना भेद है:—आभास पक्ष मे तो आभास मिथ्या है। और प्रतिबिम्बवाद मे प्रतिबिम्ब मिथ्या नही

है, किन्तु सत्य है। क्यो ? प्रतिबिम्बवादी का यह सिद्धान्त है :— दर्पण मे जो मुख का प्रतिबिम्ब है, सो मुख की छाया नही है। क्यो ? छाया का यह स्वभाव है —जिस दिशा मे छायावान् के मुख और पृष्ठ हो, उसी दिशा मे छाया के मुख और पृष्ठ होते है। और दर्पण के प्रतिबिम्ब के मुख, पीठ बिम्ब से विपरीत होते है। इससे दर्पण मे छायारूप प्रतिबिम्ब नही होता है। किन्तु दर्पण को विषय करने के लिये नेत्रद्वारा निकली जो अन्त करण की वृत्ति, सो दर्पण को विषय करके, तत्काल ही दर्पण से निवृत्त होकर, ग्रीवा मे स्थित मुख को विषय करती है। जैसे भ्रमण के वेग से अलात का चक्र भान होता है, किन्तु चक्र नही होता है। वैसे दर्पण और मुख के विषय करने मे वृत्ति के वेग से मुख दर्पण मे स्थित भान होता है। और मुख ग्रीवा मे ही स्थित है। दर्पण मे नही है, और छाया भी नही है। वृत्ति के वेग से दर्पण मे जो मुख की प्रतीति है सोई प्रतिबिम्ब है। इस रीति से दर्पणरूप उपाधि के सबन्ध से ग्रीवा मे स्थित मुख ही बिम्बरूप और प्रतिबिम्बरूप भान होता है। और विचार से बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव नही है। वैसे अज्ञानरूप उपाधि के सबन्ध से असग चेतन मे बिम्बस्थानी ईश्वरभाव और प्रतिबिम्ब स्थानी जीवभाव प्रतीत होता है और विचार दृष्टि से ईश्वरता जीवता नही है। अज्ञान से जो चेतन मे जीवभाव की प्रतीति है, उसी को अज्ञान मे प्रतिबिम्ब कहते है। इससे बिम्बपना और प्रतिबिम्बपना तो मिथ्या है और स्वरूप से बिम्ब प्रतिबिम्ब सत्य है। क्यो ? बिम्ब प्रतिबिम्ब का स्वरूप दृष्टात मे मुख है और दार्ष्टांत मे चेतन है। सो मुख और चेतन सत्य है।

इस रीति से प्रतिबिम्ब को स्वरूप से सत्य होने से सत्य कहते है। और आभास का स्वरूप छाया मानते है। इससे मिथ्या है। यह आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद का भेद है। और कितने ही ग्रन्थो मे शुद्ध सत्त्वगुण सहित माया विशिष्ट चेतन को ईश्वर कहते है। और मलिन सत्त्वगुण सहित अत.करण का उपादान अविद्या के अश विशिष्ट चेतन को जीव कहते है। इसको अवच्छेदवाद कहते है। सर्व

ही अर्थात् कार्य कारण उपाधिवाद, अवच्छिन्न अनवच्छिन्नवाद, और दृष्टिसृष्टिवाद आदिक पक्षरूप वेदात की प्रक्रिया अद्वैत आत्मा का ज्ञान कराने के लिये है। वेदान्त की प्रक्रियारूप अनेक पक्षो के अनुवाद पडितवर अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धात लेश सग्रह' ग्र थ मे और पडित प्रवर स्वामी निश्चल दासजी ने 'वृत्ति प्रभाकर ग्र थ' के अष्टम प्रकाश में किया है। वही इस 'वेदान्त प्रश्नोत्तरी' के १२ वे अश मे है। इससे जिस प्रक्रिया से जिज्ञासु को बोध हो, वही उसके लिये समीचीन है। तथापि 'वाक्यवृत्ति' और 'उपदेश सहस्री' मे भाष्यकार ने आभासवाद ही लिखा है। इससे आभासवाद ही मुख्य है। उसकी रीति से —

चार महावाक्यो मे भाग त्याग का प्रदर्शन

माया और माया मे आभास तथा माया का अधिष्ठान जो चेतन सो सर्व शक्ति सर्वज्ञतादिक धर्म सहित ईश्वर है, सोई तत्पद का वाच्य है। और व्यष्टि अविद्या, उसमे आभास और उसका अधिष्ठान चेतन, अल्पशक्ति अल्पज्ञतादिक धर्म सहित जीव है, सो त्वपद का वाच्य है। उन दोनों की "तत्त्वमसि" वाक्य ने एकता बोधन की है। और बनती नही है। इससे आभास सहित माया और मायाकृत सर्व शक्ति सर्वज्ञतादिक धर्म, इतने वाच्य भाग को त्यागकर चेतन भाग मे तत्पद की भाग त्याग लक्षणा है। वैसे आभास सहित अविद्या अश और अविद्याकृत अल्पशक्ति अल्पज्ञतादिक धर्म, जो त्वपद का वाच्य भाग, उसको त्यागकर चेतन भाग मे त्वपद की भाग त्याग लक्षणा है। इस रीति से भाग त्याग लक्षणा से ईश्वर और जीव के स्वरूप मे लक्ष्य जो चेतन भाग, उनकी एकता "तत्त्वमसि" महावाक्य बोधन करता है। "तत्त्वमसि" को उपदेश वाक्य कहते है। इससे भिन्न तीन को अनुभव वाक्य कहते हैं। वैसे "अय आत्मा ब्रह्म" इस महावाक्य मे, आत्मपद का वाच्य जीव है, और ब्रह्मपद का वाच्य ईश्वर है। ब्रह्मपद का वाच्य शुद्ध ब्रह्म नहीं है, ईश्वर ही वाच्य है। पूर्व के तत्त्वमसि के समान दोनो पदों में लक्षणा है। लक्ष्य अर्थ परोक्ष नही है, इस अर्थ को ज्ञान कराने के लिये अयंपद है। अयं अर्थात् सबके अपरोक्ष

आत्मा ब्रह्म है । यह वाक्य का अर्थ है । अपरोक्ष भी दो प्रकार का होता है —एक तो स्वय प्रकाश होने से बुद्धि रूप ज्ञान का विषय जो आत्मा का स्वरूप सो अपरोक्ष है । दूसरा "मै स्वप्रकाश आत्मा हूँ" इस रीति से बुद्धि ने अवलोकन करना, सो भी अपरोक्ष है । उनमें प्रथम अपरोक्ष नित्य (सदा विद्यमान) है और दूसरा (बुद्धि वृत्ति रूप) अपरोक्ष अनित्य (कदाचित् होने वाला) है ।

"अह ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य मे अह पद का वाच्य जीव है, और ब्रह्मपद का वाच्य ईश्वर है । दोनो पदो की चेतन भाग मे लक्षणा है । "मै ब्रह्म हूँ" यह वाक्य का अर्थ है । "प्रज्ञानमानद ब्रह्म" इस महावाक्य मे प्रज्ञानपद का वाच्य जीव है, ब्रह्मपद का वाच्य ईश्वर है । पूर्व के महावाक्यो के समान दोनो पक्षो मे लक्षणा है । लक्ष्य जो ब्रह्मात्मा, सो आनन्द गुण वाला नही है, किन्तु आनन्द रूप है । इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये आनन्द पद है । आत्मा से अभिन्न ब्रह्म आनन्द रूप है । यह वाक्य का अर्थ है । जैसे महावाक्यो मे भाग त्याग लक्षणा है, वैसे अन्य वाक्यो मे भी है । सत्य, ज्ञान, आनन्द पद भी भागत्याग लक्षणा से शुद्ध ब्रह्म को ही बोधन करते है, शक्ति से नही करते । क्यो ? शुद्ध ब्रह्म किसी पद का वाच्य नही है । यह सिद्धान्त है । इससे सर्व पद विशिष्ट के वाचक है और शुद्ध के लक्षक है । माया की आपेक्षिक सत्यता और चेतन की निरपेक्षिक सत्यता मिली हुई सत्यपद का वाच्य है, निरपेक्षित सत्य लक्ष्य है । बुद्धि वृत्ति रूप ज्ञान, और स्वय प्रकाशज्ञान दोनो मिलकर ज्ञान पद का वाच्य है और स्वय प्रकाश भाग लक्ष्य है । विषय संबन्ध जन्य सुखाकार सात्त्विक अन्त.करण की वृत्ति और परमप्रेम का आस्पद स्वरूप सुख दोनो मिलकर आनन्द पद का वाच्य है और वृत्ति भाग को त्यागकर स्वरूप भाग लक्ष्य है । इस रीति से सर्व पदों की शुद्ध ब्रह्म में लक्षणा सक्षेप शारीरक मे प्रतिपादन करी है ।

दोनो पक्षो मे लक्षणा मानना निष्फल

महावाक्यो मे विरोध दूर करने के लिये दोनो पदों मे लक्षणा

अंगीकार करी है। वहा कोई कहते है .—एक पद मे लक्षणा अगीकार करने से भी विरोध दूर होता है। दो पदो मे लक्षणा मानने से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता है। इसलिये सुज्ञ दो पदो मे लक्षणा मानना निष्फल कहते है। क्यो ? एक ही पद मे लक्षणा मानने से विरोध दूर हो जाता है। इसका भाव यह है .—यद्यपि सर्वज्ञतादि विशिष्ट की अल्पज्ञतादि विशिष्ट के साथ एकता नही बनती है, तथापि एक पद का लक्ष्य जो शुद्धचेतन, उसकी विशिष्ट के साथ एकता बनती है। दृष्टात जैसे "शूद्र मनुष्य ब्राह्मण है।" इस रीति से शूद्रत्व धर्म विशिष्ट मनुष्य की ब्राह्मणत्व धर्म विशिष्ट के साथ एकता कहना विरुद्ध है। और "मनुष्य ब्राह्मण है" इस रीति से शूद्रत्व धर्मरहित शुद्ध मनुष्य को ब्राह्मणत्व विशिष्ट विशिष्टता कहने मे विरोध नही है। वैसे अल्पज्ञतादि धर्म विशिष्ट चेतन की और सर्वज्ञतादि धर्म विशिष्ट की एकता विरुद्ध भी है। परन्तु जीववाचक पद और ईशवाचक पद की चेतन मे लक्षणा करके चेतनमात्र की सर्वज्ञतादि धर्म विशिष्ट के साथ वा अल्पज्ञतादि धर्म विशिष्ट के साथ एकता कहने मे विरोध नही है। इससे दो पदो मे लक्षणा मानने मे कोई दोष नही है। गत प्रश्न का उत्तर —दोनो पदो मे लक्षणा सफल है।

जो एक पद मे लक्षणा अगीकार करे, उसको पूछते है —दोनो पदो मे से किस पद मे लक्षणा है ? यदि ऐसे कहै —सर्व महावाक्यो के प्रथम पद मे लक्षणा है, द्वितीय पद मे नही है। यद्वा द्वितीय पद मे लक्षणा सर्ववाक्यो मे है, प्रथम पद मे नही है। तब उसे कहते है '— प्रथम वा द्वितीय पद मे यदि नियम से लक्षणा सर्ववाक्यो मे माने तो वाक्यो का परस्पर विरोध होगा। क्यो ? "अह ब्रह्मास्मि" "प्रज्ञान-मानद ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" इन तीनो वाक्यो मे जीव पद प्रथम है और "तत्त्वमसि" इस वाक्य मे प्रथम पद ईश्वर का बोधक है। यदि सब महावाक्यो के प्रथम पद मे लक्षणा मानें तो तीन वाक्यो का तो यह अर्थ होगा —चेतन सर्वज्ञतादि विशिष्ट अश सर्व मे ईश्वर रूप है। और "तत्त्वमसि" वाक्य का यह अर्थ होगा —चेतन अल्पज्ञतादि विशिष्ट ससारी जीवरूप है। क्यो ? तीन वाक्यो मे पूर्व जीववाचक

पद है। उसकी चेतन भाग मे लक्षणा और द्वितीय जो ईश्वरवाचक पद है, उसके वाच्य का ग्रहण। और "तत्त्वमसि" मे आदि ईश वाचक पद है, उसकी चेतन भाग मे लक्षणा और द्वितीय जीववाचक पद है, उसके वाच्य का ग्रहण। इस रीति से लक्षणा का नियम करें तो वाक्यो का परस्पर विरोध होगा।

वैसे सर्ववाक्यो के द्वितीय पद मे लक्षणा माने तो तीन वाक्यो मे पूर्व जो जीव पद उसके वाच्य का ग्रहण और उत्तर ईश पद की चेतन भाग मे लक्षणा। इससे अल्पज्ञतादि धर्म विशिष्ट चेतन है। यह तीन वाक्यो का अर्थ होगा। और "तत्त्वमसि" मे आदि ईश पद है, उसके वाच्य का ग्रहण और द्वितीय जीव पद की चेतन भाग मे लक्षणा। इससे सर्वज्ञतादि धर्म विशिष्ट चेतन है। यह "तत्त्वमसि" का अर्थ होने से परस्पर विरोध ही होगा। इस रीति से प्रथम वा द्वितीय पद मे लक्षणा का नियम नही बनता है। इससे श्रेष्ठ आचार्य दोनो पदो मे ही लक्षणा कहते है।

ईशवाचक पद मे लक्षणा है। इसका उत्तर

और यदि ऐसा कहै, प्रथम पद वा द्वितीय पद मे लक्षणा है। यह नियम नही करते है, किन्तु सर्ववाक्यो मे जो ईश्वर वाचक पद है, उस मे लक्षणा है। यह नियम करते है। सो ईश्वरवाचक पद पूर्व हो वा उत्तर हो। इससे वाक्यो का परस्पर विरोध नही होता। उसका समाधान :—यदि ईश्वरवाचक पद को ही लक्षक कहै, तो सर्व अनर्थ अल्पज्ञता, पराधीनता, जन्म-मरण से आदि जो दु ख के साधन है, उनकी खान जो ससारी जीव, सो श्रुतिवाक्यो मे ज्ञेय होगा। इससे पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की हानि होगी। इसका यह भाव है :—यदि ईश्वरवाचक मे ही लक्षणा माने, तो महावाक्यो का यह अर्थ होगा — "तत्पद का लक्ष्य जो अद्वय, असग, मायारहित चेतन, सो काम, कर्म, अविद्या के अधीन, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न, पुण्य पाप, सुखदु ख, जन्ममरण, गमन आगमन आदिक अनन्त अनर्थ का पात्र है।" यदि

महावाक्यो का ऐसा अर्थ हो, तो जिज्ञासु को इसी अर्थ मे बुद्धि की स्थिति करनी होगी। और जिसमे बुद्धि की स्थिति होती है, प्राण वियोग से अनन्तर उसी को प्राप्त होता है। इससे वेद वाक्यो के विचार से मुमुक्षु को अनर्थ की प्राप्ति होगी, आनन्द की प्राप्ति नही होगी। इससे ईश्वर वाचक पद मे लक्षणा है, जीव वाचक मे नही है, यह नियम असगत है। और

जीववाचक पद मे लक्षणा है। इसका उत्तर

यदि ऐसे कहे :—सर्व महावाक्यो में जो जीववाचक पद है, उनमे लक्षणा है, ईशवाचक मे नही है। इससे पुरुषार्थ की हानि नही होती है। क्यो ? जीववाचक पद मे लक्षणा मानें तो महावाक्यो का यह अर्थ होगा :—"जो त्वपद का लक्ष्य चेतन भाग है, सो सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, स्वतत्र, जन्मादिक बध रहित ईश्वररूप है।" इस अर्थ में बुद्धि की स्थिति से जिज्ञासु को अतिउत्तम ईश्वरभाव की ही प्राप्ति होगी। इससे जीव वाचक पद मे लक्षणा का नियम करते है। उसका समाधान —त्व पद का लक्ष्य साक्षी ईश्वर कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता। इसीलिये श्रेष्ठ ज्ञानीजनो ने दोनो पदो मे ही लक्षणा कही है। इसका भाव यह है :—यदि जीववाचक पद मे लक्षणा माने और ईशवाचक मे नही मानें। उसको यह पूछते है —त्व-पद की लक्षणा व्यापक चेतन मे है अथवा जितने देश मे जीव की उपाधि है, उतने देश मे स्थित जो साक्षी चेतन, उसमे त्वपद की लक्षणा है ?

यदि व्यापक चेतन मे त्वपद की लक्षणा कहे तब तो नही बन सकती। क्यो ? वाच्य अर्थ मे जिसका प्रवेश हो, उसमे ही भागत्याग लक्षणा होती है। और वाच्य मे व्यापक चेतन का प्रवेश नही है। किन्तु जीवपने की उपाधि देश मे स्थित जो साक्षीचेतन, उसका वाच्य मे प्रवेश है। इससे साक्षीचेतन मे ही त्वपद की लक्षणा है। व्यापक चेतन में नही है। उस साक्षी चेतन में सर्व के हृदय का प्रेरण और सर्वप्रपच मे व्यापकतादिक ईश्वर के धर्मों का असभव है। और साक्षी

सदा अपरोक्ष है। उसमे परोक्षता ईश्वर धर्म का अत्यन्त असभव है। और मायारहित को मायाविशिष्ट कहना असभव है। जैसे दण्डरहित को दडी कहना और सस्कार रहित द्विज बालक को सस्कारविशिष्ट कहना असभव है। इसलिये साक्षीचेतन का ईश्वर से अभेद कहे तो महावाक्य असभव अर्थ के प्रतिपादक होगे। और—

दोनो पदो मे लक्षणा और ओत प्रोत भाव

दोनो पदो मे लक्षणा माने तो दोष नही है। क्यो ? जो एकता के विरोधी धर्म है, उन सबको त्यागकर दोनो पदों मे प्रकाशरूप चेतन जो वाच्य भाग है, उस सर्व धर्म रहित चेतन में दोनो पदो की लक्षणा होती है। उपाधि और उपाधिकृत धर्मों से चेतन का भेद है। स्वरूप से नही है। उपाधि और उपाधिकृत धर्मो का त्याग करने से दोनो पदो के लक्ष्य चेतन की एकता सभव है। जैसे घटाकाश मे घट दृष्टि त्याग कर मठ विशिष्ट आकाश से एकता नही बनती है, किन्तु मठ दृष्टि त्याग करने से एकता बनती है। सर्व वाक्यो मे "तत् त्व" "त्व तत्" इस रीति से ओतप्रोत भाव की रीति जाननी चाहिये। क्यो ? जैसे गमन और आगमन रूप परिचय बिना मार्ग के सम्यक् ज्ञान का अभाव होता है। वैसे ओतप्रोत भाव बिना सम्यक् अभेद ज्ञान नही होता है। इससे महावाक्य उपदेश के अनन्तर जिज्ञासु को ओतप्रोत भाव कर्त्तव्य है। इसी को अन्वय और व्यतिहार भी कहते है। ओतप्रोत भाव करने से वाक्य के अर्थ मे परोक्ष और परिच्छिन्नता भ्राति नष्ट होती है।

यहा यह प्रश्न है '—महावाक्य उपदेश के अनतर जिज्ञासु को ब्रह्म और आत्मा मे परोक्षता और परिच्छिन्नता भ्राति प्रतीत होती हैं। सो कारण बिना सभव नही है। वहा अन्य तो भ्राति का कारण कोई सभव नही है। किन्तु ब्रह्म मे स्थित माया और आत्मा मे स्थित अविद्या भ्राति का कारण सभव है। सो माया अविद्या ब्रह्म और आत्मा के आश्रित होकर पहले रहती है। किन्तु जब जिज्ञासु "तत् त्व" पदार्थ का शोधन करता है, तब दोनो नष्ट हो जाती है। कैसे ? जैसे घट

के स्वरूप का विचार करने से घटनिष्ठ अविद्या नही रहती है। वैसे ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप का विचार करने से उनमे स्थित माया, अविद्या नही रहती है। विचार करने वाले अधिकारी की दृष्टि से बाधित हो जाती है। और तृतीय चेतन का अभाव है। चेतन से बिना अन्य जड वस्तु के आश्रित माया अविद्या नही रहती है। और माया अविद्या की स्थिति बिना उक्त दो प्रकार की भ्राति सभव नही है। और जिज्ञासु के चित्त मे प्रतीयमान जो भ्राति उनकी माया अविद्या के बिना अन्यकारण सभव नही हैं। इस अर्थापत्ति प्रमाण से माया अविद्या की स्थिति की कल्पना होती है। इससे महावाक्य के उपदेश के अनन्तर वे माया अविद्या कहा स्थित होकर परोक्षता, परिच्छिन्नता भ्रॉति को उत्पन्न करती है ? यह प्रश्न है।

इसका उत्तर यह है —पदार्थ शोधन (विचार) के अनन्तर ज्ञात (विचारित) जो ब्रह्म और आत्मा, उनमे तो माया अविद्या सभव नही है। तथापि महावाक्य की अर्थरूप जो ब्रह्मात्मा की एकता, सो सम्यक् ज्ञात नही हुई है, किन्तु अज्ञात है। उस एकता मे माया अविद्या स्थित होकर परोक्षतारूप और परिच्छिन्नता रूप भ्राति को उत्पन्न करती है। उस भ्राति के निवारण अर्थ ओतप्रोतभाव कर्त्तव्य है। ओतप्रोतभाव के करने से एकता का सम्यक् ज्ञान होकर माया अविद्या की निवृत्ति द्वारा परोक्षता परिच्छिन्नता रूप भ्राति की निवृत्ति होती है। "तत् त्व" इस कथन से तत्पद के अर्थ का त्व पद के अर्थ से अभेद कहा है, सो त्व-पद का अर्थ साक्षी नित्य अपरोक्ष है। इससे परोक्षतारूप भ्राति नष्ट होती है। और "त्व तत्" इस कथन से त्वपद के अर्थ का तत्पद के अर्थ से अभेद कहा है। सो तत्पद का अर्थ व्यापक है। इससे परिच्छिन्नता रूप भ्रॉति नष्ट होती है। वैसे ही "अह ब्रह्म" "प्रज्ञान ब्रह्म" "आत्म ब्रह्म" इससे परिच्छिन्नतारूप भ्राति नष्ट होती है। और "ब्रह्म अह" "ब्रह्म प्रज्ञान" "ब्रह्म आत्मा" इससे परोक्षतारूप भ्राति नष्ट होती है। जो वेद वचन और स्मृति वचन जीव ब्रह्म की एकता कहते है, वहा सर्वत्र भागत्यागलक्षणा द्वारा ही कहते है। यही समझना चाहिये।

इति श्री महावाक्य निरूपण अश १६ समाप्त.

अथ विविध प्रश्नोत्तर निरूपण अश १७

जन्म मरणादिक दु ख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति जीवात्मा को किससे होती है ? ज्ञान से होती है। यद्यपि ज्ञान का स्वरूप अनेक शास्त्रो मे भिन्न २ रूप से वर्णन किया है, तथापि जीव ब्रह्म के भेद को दूर करने वाला ज्ञान ही वेद मे दु ख निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष का साधन कहा है। जन्मादि दु ख की निवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति की इच्छा भ्राति से होती है। ऐसा जानना चाहिये। क्यो ? आत्मा परमानन्द स्वरूप ही है। इससे उसकी प्राप्ति की इच्छा नही बन सकती। जो वस्तु अप्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है। अपना स्वरूप तो सदा प्राप्त है। उसकी प्राप्ति की इच्छा भ्राति बिना नही बनती है। जन्मादिक ससार कदाचित् आत्मा मे हो तो उसकी निवृत्ति की इच्छा हो, सो जन्मादिक ससार का लेश भी जीव मे नही है। बिना हुये दु ख की निवृत्ति की इच्छा भ्राति बिना नही होती है। जन्म और नाश रहित चेतन स्वरूप ब्रह्म है वही आत्मा है। यदि आत्मा आनन्दरूप हो तो विषय सबन्ध से आनन्द की आत्मा मे प्रतीति नही होनी चाहिये ? और होती है। इससे आत्मा आनन्द रूप नही है, किन्तु विषय के सबन्ध से आत्मा मे आनन्द होता है। उत्तर—आत्मा से विमुख बुद्धि वाले पुरुष को विषय की इच्छा होती है। इस स्थान मे जो भोग का साधन हो, उसको विषय कहते है। इससे धन पुत्रादिक भी विषय ही है। विषय की इच्छा से बुद्धि चचल होती है। उस चचल बुद्धि मे आत्म स्वरूप आनन्द का आभास अर्थात् प्रतिबिम्ब नही होता है। और जिस विषय की इच्छा हो, वह विषय प्राप्त हो जाय तब पुरुष की बुद्धि क्षणमात्र स्थित होकर अतर्मुख होती है। उस अतर्मुख बुद्धिवृत्ति मे आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब होता है। उस आत्मस्वरूप आनन्द के प्रतिबिम्ब को अनुभव करके पुरुषो को भ्राति होती है। "मेरे को विषय से आनन्द प्राप्त हुआ है।" परन्तु विषय मे आनन्द नही है।

कदाचित् विषय मे आनन्द हो तो, एक विषय से तृप्त पुरुष को दूसरे विषय की इच्छा हो, तब भी प्रथम विषय से आनन्द होना चाहिये। सो नही होता है। और हमारी रीति से स्वरूप आनन्द का तो भान बनता नही है। क्यो ? दूसरे विषय की इच्छा करके बुद्धि चचल है। उसमे प्रतिबिम्ब नही बनता है।

किवा यदि विषय मे ही आनन्द हो तो, जिस पुरुष का प्रिय पुत्र वा और कोई अत्यत प्यारा बहुत काल पीछे अकस्मात मिल जाय, तब उसको देखते ही प्रथम जो आनन्द होता है, सो आनन्द फिर सदा नही होता है, सो सदा ही होना चाहिये। क्यो ? आनन्द का हेतु जो पुरुष है, सो उसके समीप है। और हमारी रीति से तो प्रथम ही आनन्द होता है, सदा नही होता। क्यो ? एक बार प्यारे को देखकर वृत्ति स्थित होती है। फिर वृत्ति अन्य पदार्थ मे लग जाती है, इससे चंचल है। इससे पदार्थ मे आनन्द नही है।

किंवा यदि विषय मे आनन्द हो तो, समाधिकाल में जो योगानन्द का भान होता है, सो नही होना चाहिये। क्यो ? समाधि मे किसी भी विषय का सबन्ध नही है। समाधि का दृष्टात तो सबके अनुभव मे नही आता है। सबके अनुभव योग्य दृष्टात से समझाने की कृपा करे ? किवा यदि विषय मे ही आनन्द हो तो, सुषुप्ति मे आनन्द का भान नही होना चाहिये। क्यो ? सुषुप्ति मे भी किसी विषय का सबन्ध नही है। यह सबको अनुभूत है। इससे विषय मे आनन्द नही है किन्तु आत्मस्वरूप आनन्द ही सर्वत्र भान होता है। इसीलिये वेद में लिखा है :—"आत्मस्वरूप आनन्द को लेकर सब आनन्द वाले होते हैं।"

ज्ञानी को विषय की इच्छा और उसके सबन्ध से सुख का भान होता है या नही

आपने विषय के सबन्ध से आत्मानन्द के भान की जो रीति कही है, सो अज्ञानी की कही है, ज्ञानी की नही कही है। क्यो ? आपने आत्म-विमुख बुद्धिवाले का नाम कहा है। सो आत्मविमुख बुद्धि अज्ञानी

की ही होती है, ज्ञानी की नही होती है। इससे अब आप ज्ञानी का विचार भी कहै। ज्ञानी को विषय की इच्छा और उसके सबन्ध से पूर्ववत् ही सुखभान होता है वा नही होता ? उत्तर —

द्विविध आत्मविमुख है। विषयानन्द स्वरूपानन्द से भिन्न नही

आत्मविमुख अज्ञानी ही नही होता है, ज्ञानी भी होता है। ज्ञानी की बुद्धि भी जब व्यवहार में आती है तब वह तत्त्व को भूल जाता है। कैसे ? जैसे जब जाग्रदाकार वृत्ति होती है तब स्वप्नाकार वृत्ति नही होती है। जब स्वप्नाकार वृत्ति होती है तब जाग्रदाकार वृत्ति नही होती है। वैसे ही ज्ञानी की बुद्धि भी जब आत्माकार होती है, तब अनात्माकार नही होती। और जब अनात्माकार होती है, तब आत्माकार नही होती। यद्यपि एक अन्त.करण मे एक काल मे भिन्न विषयाकार सामान्य विशेषरूप दो वृत्तिया होती है। तथापि दोनो विशेष वृत्तिया नही होती है। इससे अन्य व्यवहार मे सलग्न पुरुष को जैसे पेटी मे जानबूझकर रखे धन की विस्मृति हो जाती है। फिर व्यवहार समाप्ति पर उस धन का स्मरण होता है। वैसे ज्ञानी की भी बुद्धि व्यवहार मे विशेष सलग्न हो तब उसको भी तत्त्व का विस्मरण होता है। फिर जब व्यवहार से उपराम होता है तब उसका ज्यो का त्यो स्मरण हो जाता है। इसी से भगवान् भाष्यकार ने शारीरक भाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद मे कहा है —"व्यवहार मे ज्ञानवान् भी अविवेकी जन के समान व्यवहार करते है।" उस काल मे ज्ञानवान् भी आत्मविमुख ही होता है। और ज्ञानी की बुद्धि यदि सदा आत्माकार ही रहे तो भोजनादिक व्यवहार नही होगा, इससे आत्मविमुख बुद्धि दोनो की होती है। अज्ञानी की बुद्धि तो सदा आत्मविमुख होती है और ज्ञानी की बुद्धि आत्मविमुख हो उस काल मे ज्ञानी को भी इच्छा और विषय के सबन्ध से आत्मस्वरूप आनन्द का भान अज्ञानी के समान ही होता है। परन्तु इतना भेद है —विषय के सबन्ध से जो आनन्द का भान होता है, उसको ज्ञानी तो जानता है, यह जो आनन्द है, सो मेरे स्वरूप से भिन्न नही है किन्तु उसका ही

आभास है और अज्ञानी नही जानता। इससे केवल अज्ञानी को ही विषय मे आनन्द की भ्राति होती है।

जन्मादिक दु ख कौन मे है ?

आपने कहा —आत्मा परमानन्द स्वरूप है, सो मैने भली प्रकार से जान लिया है। और आपने कहा "जन्म मरणादि ससार दु ख आत्मा मे नही है। इससे उसकी निवृत्ति नही बनती है।" इसमे शका है —यदि जन्मादि दु ख आत्मा मे नही है तो जिसमे यह ससार है, सो मेरे आत्मा से भिन्न आश्रय इनका कौन है ? जिसमे ससार दुख जानकर अपने मे नही मानू ? उत्तर —ससार का तो अतिशय अभाव है, न तेरे आत्मा मे है और न मेरे आत्मा मे है तथा न किसी अन्य की आत्मा मे है।

दु ख कही नही, तो प्रत्यक्ष प्रतीत क्यो होता है ?

यदि जन्म मरणादिक ससार दुख मेरे आत्मा मे तथा अन्य मे कही भी नही तो प्रत्यक्ष प्रतीत क्यो होता है ? जो वस्तु नही होती है, सो प्रतीत भी नही होती है। कैसे ? जैसे वध्या का पुत्र और आकाश मे पुष्प नही है सो प्रतीत भी नही होते है। वैसे ससार भी नही हो तो प्रतीत भी नही होना चाहिये। और जन्मादिक ससार प्रतीत होता है। इससे "जन्मादिक ससार रूप दुख नही है" यह कहना नही बनता। उत्तर —जन्मादिक जगत् परमार्थ से नही है, तो भी आत्मा का ब्रह्मस्वरूप करके जो अज्ञान है, उसमे मिथ्या ही प्रतीत होता है। कैसे ? जेसे स्वप्न के पदार्थ, आकाश मे नीलता और रज्जु मे सर्प, परमार्थ से नही है और मिथ्या प्रतीत होते है। वैसे ही जन्मादिक जगत् परमार्थ से नही है, मिथ्या ही प्रतीत होता है।

अपार मिथ्या जगत् का आधार और अधिष्ठान

जिसमे यह अपार मिथ्या जगत् प्रतीत होता है, वह इसका आधार और अधिष्ठान कौन है ? कृपा करके कहिये आपके कथन से मुझे ज्ञात होगा, अन्यथा नही। उत्तर—तेरे निजरूप ब्रह्म के अज्ञान से मिथ्या जगत् प्रतीत होता है। इससे जगत् का आधार और·अधिष्ठान तू है। कैसे ?

जैसे रज्जु के अज्ञान से मिथ्यासर्प प्रतीत होता है। वहा मिथ्यासर्प का अधिष्ठान रज्जु है। यद्यपि मिथ्या सर्प के अधिष्ठान मे दो पक्ष है :— प्रथम पक्ष मे रज्जु उपहित चेतन अधिष्ठान है। और मुख्य द्वितीय पक्ष मे वृत्ति उपहित चेतन अधिष्ठान है। किसी पक्ष मे भी रज्जु अधिष्ठान नही है। तथापि प्रथम पक्ष मे चेतन मे अधिष्ठानपने की उपाधि रज्जु है। इसलिये स्थूल दृष्टि से रज्जु को अधिष्ठान कहते है। जैसे मिथ्यासर्प का अधिष्ठान तथा आधार रज्जु है, वैसे मिथ्या जगत् का अधिष्ठान और आधार तू आत्मा है।

आत्मा का सामान्यरूप आधार और विशेषरूप अधिष्ठान है

इस स्थान मे यह रहस्य है :—जैसे जेवरी के दो स्वरूप है। एक तो सामान्यरूप है और दूसरा विशेषरूप है। सामान्यरूप "इद" है, विशेषरूप "रज्जु" है। "यह सर्प है" इस रीति से मिथ्यासर्प से अभिन्न होकर भ्रातिकाल मे प्रतीत हो, जो "इदरूप" सो सामान्यरूप है। और जो स्वरूप की भ्रातिकाल मे प्रतीत नही होता, किन्तु जिसकी प्रतीति होने पर भ्राति दूर हो जाती है, सो रज्जु का विशेषरूप है। वैसे आत्मा के भी दो रूप है। एक सामान्य और दूसरा विशेष। सतरूप सामान्यरूप है। असगता, कूटस्थता, नित्यमुक्ततादिक विशेषरूप है। क्यो ? "स्थूल सूक्ष्म सघात है" इसमे स्थूल सूक्ष्म सघात की भ्राति समय भी मिथ्या सघात से अभिन्न होकर सत्‌रूप प्रतीत होता है। इससे आत्मा का सत् स्वरूप सामान्यरूप है। और स्थूल सूक्ष्म सघात की भ्राति समय आत्मा का असग, कूटस्थ, नित्यमुक्त स्वरूप प्रतीत नही होता। किन्तु असगादि स्वरूप आत्मा की प्रतीति होने पर सघात भ्राति दूर होती है। इससे असगता, कूटस्थता, नित्यमुक्तता, व्यापकतादिक विशेषरूप है। सर्व भ्राति मे सामान्यरूप को आधार कहते है। और विशेषरूप को अधिष्ठान कहते है। कैसे ? जैसे सर्प का आश्रय जो जेवरी उसका समान्य "इद" स्वरूप सर्प का आधार है। और विशेष रज्जुस्वरूप अधिष्ठान है। वैसे मिथ्याप्रपच का आश्रय जो आत्मा उसका सामान्य

सत्‌रूप प्रपच का आधार है। और असगतादिक विशेषरूप अधिष्ठान है। इस रीति से आधार और अधिष्ठान का किंचित् भेद सर्वज्ञात्म मुनि नें प्रतिपादन किया है।

जगत का द्रष्टा कौन है ?

यदि जगत् का आधार और अधिष्ठान आत्मा है, तो द्रष्टा कौन है ? वह आत्मा से भिन्न ही होना चाहिये। जैसे सर्प का आधार और अधिष्ठान जो रज्जु है, उससे भिन्न पुरुष सर्प का द्रष्टा है।

सर्व कल्पित का द्रष्टा अधिष्ठान

उक्त प्रश्न का उत्तर :—जगत् मे जो मिथ्या वस्तु है, वे सब अधिष्ठान मे कल्पित होती है। वह अधिष्ठान दो प्रकार का होता है। एक चेतन और दूसरा जड। जहाँ जड़ वस्तु अधिष्ठान होता है, वहा द्रष्टा अधिष्ठान से भिन्न होता है। और जहा चेतन अधिष्ठान होता है, वहां अधिष्ठान ही द्रष्टा होता है, भिन्न द्रष्टा नही होता। कैसे ? जैसे स्वप्न का अधिष्ठान साक्षीचेतन है, सोई स्वप्न का द्रष्टा है। वैसे जगत् का आत्मा ही अधिष्ठान है, सोई द्रष्टा है। यह शका और समाधान स्थूल दृष्टि से जेवरी को सर्प का अधिष्ठान मानकर करते हैं। और सिद्धात मे तो सर्प का अधिष्ठान साक्षीचेतन है, सोई द्रष्टा है। इससे सर्वकल्पित का अधिष्ठान है, वही द्रष्टा है। शका समाधान नही बनते। इस रीति से मिथ्या ससाररूप दु ख भ्राति से आत्मा मे प्रतीत होता है। उस मिथ्या दु·ख की निवृत्ति की इच्छा नही बनती है। कैसे ? जैसे बाजीगर ने किसी पुरुष को मिथ्या शत्रु मत्र के बल से दिखाया हो, तब उसके मारने के लिये वह पुरुष उद्योग नही करता है, वैसे ही मिथ्या ससार की निवृत्ति की भी इच्छा नही होती है।

जन्मादिक ससार दु:ख का हेतु है, इससे उसकी निवृत्ति का उपाय कहे ?

आपने कहा जगत् तेरे आत्मा मे मिथ्या ही प्रतीत होता है, सत्य नही है। सो यद्यपि सत्य है। तथापि वह मिथ्याजन्मादि ससार भी

जिस उपाय से मेरी आत्मा मे भान नही हो वह उपाय मुझे अवश्य बताने की कृपा करो। और आपने कहा था मिथ्या की निवृत्ति के लिये साधन की आवश्यकता नही है। सो वार्ता भी सत्य है। परन्तु जिसको मिथ्या पदार्थ भी दु.ख का हेतु हो उसको वह मिथ्या भी साधन से दूर करना योग्य है। कैसे ? जैसे किसी पुरुष को प्रतिदिन भयानक स्वप्न आते हो, वे मिथ्या भी होते है, परन्तु उनको भी दूर करने के लिये जप और पाद प्रक्षालनादिक नाना साधनो का अनुष्ठान करते है। वैसे यह ससार मिथ्या भी है, परन्तु मेरे को जन्मादिक दु.ख का हेतु प्रतीत होता है। इससे ससार की निवृत्ति चाहता हूँ। आप कृपा करके उपाय बताइये।

ससार निवृत्ति का उपाय

अपने आत्मस्वरूप के अज्ञान से जगत्‌रूप दु ख प्रतीत होता है, सो आत्मज्ञान से नष्ट होता है। जो वस्तु जिसके अज्ञान से प्रतीत होती है, सो उसी के ज्ञान से नष्ट होती है, यह नियम है। कैसे ? जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्प प्रतीत होता है, वह रज्जु के बोध से ही नष्ट होता है। वैसे आत्मज्ञान से ही जगत् का अभाव होता है। जगत् तेरे आत्मा मे तीन काल मे भी नही है। क्यो ? मिथ्या है, जो वस्तु मिथ्या होती है, सो अधिष्ठान की हानि नही करती है। कैसे ? जैसे मृगतृष्णा का जल भूमि को गीली नही करता है। वैसे मेरे आत्मा मे जगत् प्रतीत हो तो भी मिथ्या है। इससे आत्मा की कुछ भी हानि नही कर सकता है। और "मैं आत्मा सत् चित् आनन्दमय ब्रह्म स्वरूप हूँ" ऐसे निश्चय का नाम ज्ञान है। वही मोक्ष का साधन है, अन्य कोई भी नही है। वह तेरे को प्रथम ही कहा है।

अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से, कर्म उपासना से नही

जगत् का उपादान कारण अज्ञान है। उस अज्ञान के नाश से जगत् का नाश आप ही हो जाता है। क्यो ? उपादान के नाश होने पर कार्य नही रहता है। उस अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से होता है, कर्म उपासना से नही होता। क्यो ? अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, कर्म उपासना

विरोधी नही है। कैसे ? जैसे गृह मे अधकार होता है, वह किसी भी क्रिया से दूर नही होता है। केवल प्रकाश से ही दूर होता है। वैसे अज्ञानरूप अधकार ज्ञानरूप प्रकाश से ही दूर होता है। अन्य किसी भी साधन से दूर नही होता। जन्मादिक ससार दु ख निवृत्ति का उपाय रूप यह उपदेश है। इसको हृदय मे धारण कर और इसमे यदि कोई सशय रह गया हो तो विचार करके पुन प्रश्न द्वारा उसे भी निवृत्त कर सकता है।

आपने कहा—जगत् का कारण अज्ञान है। ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होकर जगत् की निवृत्ति होती है, सो मै सत्य मानता हूँ। और ज्ञान का स्वरूप भी आपने कहा —जगत् मिथ्या है, जीव आनन्दस्वरूप है, सो ब्रह्म से भिन्न नही है, किन्तु ब्रह्मरूप है। ऐसे निश्चय का नाम ज्ञान है। "उसमे जगत् मिथ्या है और जीव आनन्दस्वरूप है" यह वार्ता तो मै जान गया हूँ। परन्तु "जीव ब्रह्म दोनो एक है" यह वार्ता मेरे समझ मे नही आई है। क्यो ? जीव ब्रह्म के भेद को बताने वाली शका मेरे हृदय मे उठती है। वह यह है —मै पुण्य पाप का कर्ता हूँ और उनके फल जन्म मरण, सुख दु ख को धारण करता हूँ और भी नाना प्रकार का जगत् मेरे मे प्रतीत होता है। और जगत् के कारण अज्ञान को दूर करने के लिये ज्ञान चाहता हूँ। और ब्रह्म मे न पुण्य है, न पाप है, न जन्म है, न मरण है, न सुख है, न दु.ख है, और भी कोई क्लेश ब्रह्म मे नही है। ज्ञान की इच्छा भी नही है। इससे ब्रह्म का और मेरा स्वरूप परस्पर विरुद्ध है। इसलिये दोनो की एकता नही बनती है। यद्यपि मेरे मे भी जन्मादिक ससार परमार्थ से नही है। तथापि मिथ्या जो जन्मादिक है सो मेरे को भ्राति से प्रतीत होता है और ब्रह्म मे नही है। इतना भेद है, इससे एकता सभव नही है। (यह प्रमेयगत सशय का स्वरूप है)। मेरे हृदय मे एक सशय और भी है। सो भी आप सुने। उससे भी जीव ब्रह्म की एकता भग होती है। वह भी मै आपको सुनाता हूँ। आप सुनकर उसको भी दूर करें। वेद मे मैने ऐसा देखा है '—एक बुद्धिरूप वृक्ष मे दो पक्षी है। वे दोनो समान है। उनमे एक तो कर्म के फल को भोगता है। एक शुद्ध है, भोगरहित है, असग है

और उस फल भोगनेवाले को प्रकाशता है। इनमे भोगने वाला जीव प्रतीत होता है। और दूसरा परमात्मा प्रतीत होता है। इससे उनकी एकता सभव नही है।

और वेद मे कर्म और उपासना बहुत प्रकार से कहे है। सो जीव ब्रह्म की एकता मे निष्फल हो जायेगे। क्यो ? जो आप जीव ब्रह्म की एकता कहते हो, सो ब्रह्म मे जीव के स्वरूप का अतरभाव कहते हो ? अथवा जीव मे ब्रह्म के स्वरूप का अतरभाव कहते हो ? यदि कदाचित् ब्रह्म मे जीव के स्वरूप का अतरभाव कहोगे तो जीव को ब्रह्म-रूप होने से अधिकारी का अभाव होगा। इससे कर्म और उपासना निष्फल होगे। और यदि जीव मे ब्रह्म के स्वरूप का अतरभाव कहोगे तो ब्रह्म को जीवरूप होने से जिसकी उपासना करते है, उस उपास्य का अभाव होगा। इससे उपासना निष्फल होगी। और कर्म का फल देने वाला जो परमात्मा, उसका अभाव होगा। इससे कर्म निष्फल होगे। और मीमासक जो कहते है "कर्म ही ईश्वर है। उनसे ही फल होता है।" सो वार्ता समीचीन नही है ? क्यो ? जो कर्म है सो जड है, उनको फल देने का सामर्थ्य नही है। इससे कर्म का फल ईश्वर देते है। इस रीति से परमात्मा और जीव की एकता नही बनती है। यह प्रमाणगत सशय का स्वरूप है।

उक्त प्रश्न का उत्तर। चार आकाश और चार चेतन

जो तेरे हृदय मे शकायें हुई है उनका निराकारण हो सो विचार मै कहता हूँ तू सुन —जैसे एक आकाश के चार भेद है —१ घटाकाश, २ जलाकाश, ३ मेघाकाश, और ४ महाकाश। वैसे एक चेतन के चार भेद है —१ कूटस्थ, २ जीव, ३ ईश्वर, और ४ ब्रह्म। ये चार भेद आकाश के समान चेतन मे है। जब इनका स्वरूप तू भली प्रकार जानेगा, तब तेरी शका समाधान तू आप ही कर लेगा। इससे मै इनका स्वरूप कहता हूँ, तू सुन जिनके सुनने से सशयरहित ज्ञान होकर जन्मादिक दु.ख नष्ट हो जायेंगे।

घटाकाश

जल से भरे हुये घट को आकाश जितना अवकाश देता है, उतने आकाश को घटाकाश कहते है। शका —घट से बाहर जो आकाश है सो महाकाश है। उससे भिन्न घट के भीतर का जो आकाश है, वह घटाकाश है। यह घटाकाश का लक्षण सुगम है। इसको छोड़कर उक्त लक्षण करने का क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान यह है '—घटाकाश का पूर्व उक्त लक्षण करें तो, घट जिसमे स्थित है, सो आकाश पंचम कपालाकाश (ठीकराकाश) कहना होगा। सो शास्त्र से विरुद्ध है। इससे 'जल से भरे हुये घट को आकाश जितना अवकाश देता है, उतने आकाश को घटाकाश कहते है। यह लक्षण ही उचित है।

जलाकाश

जल से भरे हुये घट मे नक्षत्रादि सहित आकाश का प्रतिबिम्ब होता है, वह आकाश का प्रतिबिम्ब और घटाकाश, दोनो मिले हुयों को जलाकाश कहते है। जल बिना प्रतिबिम्ब नही होता। इससे यहां आकाश का प्रतिबिम्ब कहने से घट मे स्थित जो जल, उसके सहित आकाश के प्रतिबिम्ब का ग्रहण है। इसमे कोई शका करते है :—आकाश का प्रतिबिम्ब नही होता है, किन्तु केवल नक्षत्रादिको का ही प्रतिबिम्ब होता है। क्यो ? आकाश रूपरहित है। प्रतिबिम्ब रूप वाले पदार्थ का ही होता है। इससे आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं बनता। ऐसी शंका करते है। उसका समाधान यह है —यदि जल मे आकाश का प्रतिबिम्ब नही हो, तो गोडे परिमाण जल मे मनुष्य परिमाण गभीरता की जो प्रतीति होती है, सो नही होनी चाहिये। इससे आकाश का प्रतिबिम्ब मानना योग्य है। और जो कहते है "रूप रहित पदार्थ का प्रतिबिम्ब नही होता है।" सो भी नियम नही है। क्यो ? रूपरहित जो शब्द है। उसकी प्रतिध्वनि होती है, सो शब्द का प्रतिबिम्ब है। और गुण के आश्रित गुण नही रहता है, किन्तु आकाशादिक द्रव्य के आश्रित गुण रहता है। इस नियम से नील पीतादि रगमय जो रूप है, सो रूप गुण का अनाश्रित होने से रूप रहित है। उस रूप रहित नील पीतादि रग का दर्पण आदिक स्वच्छ उपाधि मे प्रतिबिम्ब होता है। उसके समान रूप रहित

आकाश का और रूपरहित चेतन का प्रतिबिम्ब बनता है। इससे रूप रहित आकाश का प्रतिबिम्ब सिद्ध होता है।

मेघाकाश

मेघो को जो आकाश अवकाश देता है और मेघो के जल मे जो आकाश का प्रतिबिम्ब है, उन दोनो को मेघाकाश कहते है। इसमे कोई शका करते है —मेघ तो आकाश मे है, उनमे जल और आकाश का प्रतिबिम्ब बिना देखे कैसे जाना जाय ? इसका समाधान — यद्यपि मेघ मे जल और आकाश का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष नही है, तथापि अनुमान से जाने जाते है —मेघ जल की वृष्टि करते हैं। इससे अनुमान होता है, मेघो मे जल है। यदि मेघो मे जल नही हो तो मेघो से जल की वृष्टि नही होनी चाहिये। मेघो मे जल है, सो आकाश के प्रतिबिम्ब सहित है। क्यो ? जल आकाश के प्रतिबिम्ब बिना नहीं होता है। इससे मेघो मे जो जल है, सो भी आकाश के प्रतिबिम्ब सहित है। इस रीति से मेघो मे जल और आकाश के प्रतिबिम्ब का अनुमान होता है।

महाकाश

ब्रह्माड के बाहर और भीतर सर्वत्र एकरस व्यापक जो आकाश है, उसको महाकाश कहते है। चार प्रकार के आकाश के लक्षण कहे, अब चार प्रकार के चेतन के लक्षण कहता हूँ, तू सुन जिनके सुनने से विचार का फल ज्ञान प्राप्त होता है।

कूटस्थ

बुद्धि वा व्यष्टि अज्ञान का जो अधिष्ठान चेतन है, उसको कूटस्थ कहते हैं। जिस पक्ष मे बुद्धि सहित चेतन जीव है, उस पक्ष मे बुद्धि के अधिष्ठान को कूटस्थ कहते है। और जिस पक्ष मे व्यष्टि अज्ञान सहित चेतन को जीव कहते है, उस पक्ष मे व्यष्टि अज्ञान का जो अधिष्ठान है, उसको कूटस्थ कहते है। इस स्थान मे यह सिद्धात है.— जीवपने का जो विशेषण है, उसके अधिष्ठान को कूटस्थ कहते है। सो कूटस्थ अजन्य है अर्थात् उत्पत्तिरहित है। इसका अभिप्राय

यह है —जैसे ब्रह्म से भिन्न चिदाभास उत्पन्न होता है, वैसे यह कूटस्थ उत्पन्न नही होता है। किन्तु ब्रह्मरूप ही है। जैसे घटाकाश महाकाश से भिन्न नही होता है, महाकाश रूप ही होता है, वैसे कूटस्थ ब्रह्म से भिन्न नही होता है, ब्रह्मरूप ही है। यह कूटस्थ ही आत्मपद का लक्ष्य अर्थ है। इसी को प्रत्यक् और निजरूप कहते है। यही जीवसाक्षी है।

जीव

नाना काम और कर्म सहित जो बुद्धि है और उसमे चेतन का प्रतिबिम्ब है, उसको ज्ञानीजन जीव कहते है। सो केवल प्रतिबिम्ब मात्र को ही जीव नही कहते है। किन्तु जैसे घटाकाश सहित आकाश के प्रतिबिम्ब को जलाकाश कहते है, वैसे बिम्ब जो कूटस्थ उस सहित चिदाभास को जीव कहते है। इससे यह सिद्ध हुआ :—बुद्धि मे जो चिदाभास और बुद्धि का अधिष्ठान चेतन दोनो का नाम जीव है। यहा "चिदाभास" शब्द से बुद्धि सहित चिदाभास का ग्रहण है। कामना और कर्मरूप जल सहित बुद्धिरूप घट मे चेतन का प्रतिबिम्ब है। यह रीति दुर्गम है। इमसे स्थूलदेह रूप घट मे नख से शिखा पर्यंत भरा बुद्धिरूप जल है। उसमे चेतन का प्रतिबिम्ब और कूटस्थ दोनो का नाम जीव है। यह रीति सुगम है। यहा केवल बुद्धि सहित चिदाभास को त्वपद का अर्थ जीव कहै तो, उसमे भाग त्याग लक्षणा संभव नही होगी। किन्तु सब वाच्यभाग का त्याग रूप जहत लक्षणा सभव होगी। वैसे मानना आचार्यों की युक्ति से विरुद्ध है। और अधिष्ठान से अभिन्न होकर अधिष्ठान को ढापे, उसको आरोप कहते है। अधिष्ठान से भिन्न होकर कही भी आरोप्य की प्रतीति नही होती है। इससे अनुभव से भी विरुद्ध है। इससे चिदाभास सहित बुद्धि विशिष्ट कूटस्थ चेतन जीव है। ऐसे मानना योग्य है। पूर्व बिम्ब जो कूटस्थ, उस सहित आभास को जीव कहा है। इससे यह प्रतीत होता है :— बुद्धि में जो प्रतिबिम्ब है, सो कूटस्थ का है। बाहर के ब्रह्म चेतन का नही है। क्यो ? जिसका प्रतिबिम्ब हो, उसको बिम्ब कहते है। कूटस्थ को बिम्ब कहा है, इससे उसका प्रतिबिम्ब है। यह प्रतीत

होता है। सो अब कहते है —जैसे बडे लाल पुष्प के ऊपर श्वेत स्फटिक धरा हो, उसमे फूल की लाली की दमक होती है। सो लाल पुष्प का प्रतिबिम्ब है। वैसे कूटस्थ के आश्रित जो बुद्धि है, उसमे कूटस्थ के प्रकाश की दमक होती है। जैसे स्फटिक अत्यन्त उज्जवल है, वैसे बुद्धि भी अत्यत शुद्ध है। क्यो ? बुद्धि सत्वगुण का कार्य है। इससे कूटस्थ की दमक का नाम प्रतिबिम्ब है।

अथवा ब्रह्मचेतन का प्रतिबिम्ब है। कैसे ? जैसे महाकाश का घट के जल मे प्रतिबिम्ब होता है। भीतर के आकाश का नही होता। क्यो ? जितनी गभीरता जल मे प्रतीत होती है, उतनी गंभीरता भीतर के आकाश मे नही है। वह गभीरता ही आकाश का प्रतिबिम्ब है। और जो यह कहते है —"व्यापक चेतन का प्रतिबिम्ब नही बनता" सो शका आकाश के दृष्टात से दूर होती है। क्यो ? आकाश भी व्यापक है और उसका प्रतिबिम्ब होता है। वैसे व्यापक चेतन का भी प्रतिबिम्ब होता है। और जो कहते है —"रूपवाले पदार्थ का रूपवाले पदार्थ मे प्रतिबिम्ब होता है" सो भी नियम नही है। क्यो ? "रूपरहित शब्द का रूपरहित आकाश मे प्रतिबिम्ब होता है।" यह पूर्व कहा था। इससे चेतन का प्रतिबिम्ब होता है। इस रीति से बुद्धि मे आभास और बुद्धि का अधिष्ठान चेतन, दोनो का नाम जीव है यह कहा है। उस जीव को ही त्वपद का वाच्य कहते है। और उसमे चिदाभास को त्यागकर केवल कूटस्थ को त्वपद का लक्ष्य कहते है। अह शब्द का वाच्य भी जीव ही है। केवल कूटस्थ अह शब्द का लक्ष्य है। यद्यपि चिदाभास और कूटस्थ दोनो का नाम जीव है, तथापि जीवपने के जो धर्म है, सो सब आभास मे है। पुण्य, पाप, पुण्यपाप के फल सुखदु ख, लोकातर मे गमन, इस लोक मे आगमन, इससे आदि सब आभास सहित बुद्धि करती है। कूटस्थ नही करता है। कूटस्थ मे केवल भ्राति से प्रतीत होते है। सो भ्राति से प्रतीति भी बुद्धि सहित आभास को होती है, कूटस्थ को नही होती है।

क्यो ? कूट जो लुहार का अहरन उसके समान निर्विकार रूप से स्थित हो उसको कूटस्थ कहते है। अथवा कूट अर्थात् मिथ्या बुद्धि और चिदाभास उनमे असग रूप से स्थित हो, उसको कूटस्थ कहते है। इससे कूटस्थ मे भ्राति आदिक नही बनते, किन्तु चिदाभास मे बनते है। और अत्यत विचार से देखिये तो पुण्यपाप, सुखदु ख, लोकातर मे गमन और आगमन, केवल बुद्धि मे है। आभास मे भी नही है, बुद्धि के सयोग से आभास मे भासते है। कैसे ? जैसे लोह की कडाई में जो तप्त तैल है, उसमे आकाश का प्रतिबिम्ब होता है, किन्तु अग्नि का ताप तैल को ही लगता है। उसमे स्थित आकाश के प्रतिबिम्ब को नही लगता। तब तैल पूरित कड़ाई के अधिष्ठान रूप आकाश को कैसे लगेगा ? वैसे पुण्य पापादिक रूप जो ससार है, सो केवल बुद्धि मे है। आभास मे भी भ्राति बिना नही भासता है। तब उनके अधिष्ठान कूटस्थ मे कैसे होगा ? परन्तु उसकी कूटस्थ मे प्रतीति ही अज्ञानकृत भ्राति है। और जैसे जल सहित जो घट है, सो टेडा होता है और सीधा होता है, जाता है, आता है। तब उसके सबन्ध से आकाश का आभास सपूर्ण क्रिया करता है और स्वतत्र कुछ भी नही करता है। वैसे काम कर्म रूप जल से भरा जो बुद्धि रूप घट है, सो पुण्य से आदि सपूर्ण विकार धारण करता है। और उसके सबन्ध से चिदाभास धारण करता है। कूटस्थ सर्व विकार से रहित है। जैसे जल पूरित घट के विकार से रहित घटाकाश है, उसके समान ही कूटस्थ को जानो। इससे जीवपने के धर्म चिदाभास मे है। तथापि कूटस्थ मे अज्ञान से प्रतीत होते है। इससे बुद्धि में कूटस्थ सहित जो चिदाभास उसको जीव कहते है।

यह जो जीव का स्वरूप वर्णन किया है, इससे प्राज्ञ की हानि होती है। क्यो ? सुषुप्ति के अभिमानी जीव का नाम प्राज्ञ है। उस सुषुप्ति में बुद्धि का अभाव होता है। इससे बुद्धि में आभास भी नहीं बनता है। इससे प्राज्ञ के स्वरूप का प्रतिपादक जो शास्त्र है, उसका विरोध होगा। इसलिये जीव का अन्य स्वरूप प्रतिपादन करते है। अज्ञान के अश को व्यष्टि अज्ञान कहते है। सपूर्ण अज्ञान को समष्टि अज्ञान

कहते है। उस अज्ञान के अश मे जो चेतन का आभास और अज्ञान के अश का अधिष्ठान जो कूटस्थ है, उन दोनो को जीव कहते है। इस लक्षण से प्राज्ञ का अभाव नही होता है। क्यो ? सुषुप्ति मे अज्ञान रहता है। सुषुप्ति मे चेतन के प्रतिबिब सहित जो अज्ञान का अश है। सोई बुद्धिरूप को प्राप्त होता है। और चेतन का प्रतिबिब साथ ही होता है। उस चिदाभास सहित बुद्धि मे पुण्यादिक ससार प्रतीत होता है। इस अभिप्राय से बुद्धि ही कही शास्त्रो मे जीवपने की उपाधि वर्णन करी है और विचार दृष्टि से जीवपने की उपाधि अज्ञान है। यहा बुद्धि किवा बुद्धि का सस्कार-रूप घट है। उसमे व्यष्टि अज्ञानरूप जल भरा है, उसमे चेतन का प्रतिबिम्ब है। अथवा व्यष्टि अज्ञानरूप घट है। उसमे मलिन सत्वगुण रूप जल भरा है। उसमे चेतन का प्रतिबिब है। अधिष्ठान कूटस्थ सहित उसको जीव कहते है।

ईश्वर

माया मे चेतन का आभास, माया और माया का अधिष्ठान चेतन, इनको ईश्वर कहते है। सो ईश्वर मेघाकाश के सम है। ईश्वर अतर्यामी है। क्यो ? सर्व के अतर प्रेरणा करता है, इससे अतर्यामी है। और सदामुक्त है। क्यो ? उसको अपने स्वरूप मे आवरण नही है। इससे जन्म मरणादिक बध की प्रतीति भी नही है। इसलिये ईश्वर नित्यमुक्त है। और सर्वज्ञ है अर्थात् सर्व पदार्थो को जानने वाला है। इसमे यह हेतु है —माया मे शुद्ध सत्वगुण है। तमोगुण और रजोगुण से दबा हुआ सत्वगुण नही होता है। किन्तु रजोगुण और तमोगुण को दबाने वाला होता है, उसको शुद्ध सत्वगुण कहते है। सत्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इससे प्रकाश स्वभाव वाला सत्वगुण है। ऐसी सत्वगुण वाली माया मे जो चेतन का आभास, उसको स्वरूप मे अथवा अन्य पदार्थ मे आवरण सभव नही है। इससे मुक्त है और सर्वज्ञ है। अधिष्ठान चेतन तो जीव और ईश्वर दोनो मे बध मोक्ष भेद से रहित है। आकाश के समान एकरस है। परन्तु आभास अश मे बंध मोक्ष है। अधिष्ठान मे आभास की भ्राति से प्रतीत होते है। इससे केवल आभास मे बध मोक्ष है।

उसमे भी इतना भेद है —जिस आभास मे आवरण है, उसमे बध है। जिसमे स्वरूप का आवरण नही है, सो मुक्त है। ईश्वर मे आवरण नही है, इससे ईश्वर सदा मुक्त है। और जीव मे आवरण है, इससे जीव बद्ध है। बद्ध अर्थात् बधा हुआ है। क्यो ? जिस अविद्या के अश मे चेतन के आभास को जीव कहा है, उस अविद्या का आवरण करने का स्वभाव है। यद्यपि अविद्या, अज्ञान, और माया एक ही वस्तु को कहते है, तथापि शुद्ध सत्वगुण की प्रधानता से माया कहते है। और मलिन सत्वगुण की प्रधानता से अज्ञान और अविद्या कहते है। रजोगुण और तमोगुण से दबा जो सत्वगुण है, उसको मलिन सत्वगुण कहते है। इससे तमोगुण और रजोगुण की अधिकता होने से अविद्या मे जो जीव का आभास अश है, उसको अविद्या स्वरूप का आवरण करती है। इससे जीव मे बधन है और ईश्वर मे नही है। अधिष्ठान चेतन सहित जो माया मे आभासरूप ईश्वर है, उसको तत्पद का वाच्य कहते है। केवल अधिष्ठान चेतन तत्पद का लक्ष्य है।

"जो ईश्वर है, सोई जगत् की उत्पत्ति, पालन और सहार करता है" यह सपूर्ण शास्त्रो मे कहा है। उसका अभिप्राय यह है :—चेतन अश तो आकाश के समान असग है और आभास अश जगत् की उत्पत्ति आदि करता है। उसी मे सर्वज्ञता है। और भक्तजन के ऊपर अनुग्रह जो करता है, सो भी केवल आभास अश करता है। और जो कुछ ऐश्वर्य है, सो केवल आभास मे है, चेतन अश एकरस है। उसमे सत्ता स्फूर्ति देने बिना अन्य ऐश्वर्य नही बनता।

ब्रह्म

ब्रह्माड के भीतर बाहर जो महाकाश के समान परिपूर्ण चेतन है, उसको ब्रह्म कहते है। वह ब्रह्म समीप नही है और दूर भी नही है। क्यो ? जो वस्तु अपने से भिन्न हो और देशरूप उपाधि वाला हो, उसको समीप और दूर कहा जाता है। ब्रह्म भिन्न नही है, किन्तु सर्व का आत्मा है और देशादिक सर्व उपाधि से रहित है। इससे समीप और दूर नही कहा जाता।

यद्यपि ब्रह्म शब्द का वाच्य भी सोपाधिक है। क्यो ? व्यापक वस्तु का नाम ब्रह्म है। सो व्यापकता दो प्रकार की है —एक तो आपेक्षिक व्यापकता है और दूसरी निरपेक्षिक व्यापकता है। जो वस्तु किसी पदार्थ की अपेक्षा से व्यापक हो और किसी की अपेक्षा से न हो, उसमे आपेक्षिक व्यापकता कही जाती है। जैसे पृथ्वी आदि की अपेक्षा से माया व्यापक है और चेतन की अपेक्षा से नही है। इससे माया मे आपेक्षिक व्यापकता है। और जो वस्तु सर्व की अपेक्षा से व्यापक हो, उसमे जो व्यापकता है, उसको निरपेक्षिक व्यापकता कहते है। वह निरपेक्षिक व्यापकता चेतन मे है। क्यो ? चेतन के समान अथवा चेतन से अधिक अन्य कोई भी व्यापक नही है। किन्तु चेतन ही सर्व से अधिक व्यापक है। इससे चेतन मे निरपेक्षिक व्यापकता है। दोनो प्रकार की व्यापकता सहित जो वस्तु है, सो ब्रह्म शब्द का वाच्य है। वह दोनो प्रकार की व्यापकता मायाविशिष्ट चेतन मे है। क्यो ? विशिष्ट मे जो माया अश है, उसमे तो आपेक्षिक व्यापकता है। और चेतन अश मे निरपेक्षिक व्यापकता है।

यद्यपि माया विशिष्ट चेतन मे निरपेक्षिक व्यापकता नही बनती है। क्यो ? माया चेतन के एक देश मे है। उस मायाविशिष्ट चेतन से शुद्ध चेतन की व्यापकता अधिक है। इससे शुद्धचेतन मे निरपेक्षित व्यापकता है। तथापि मायाविशिष्ट जो चेतन है, सो परमार्थ दृष्टि से शुद्ध से भिन्न नही है, किन्तु शुद्धरूप ही है। इससे मायाविशिष्ट मे भी जो चेतन अश है, उसमे निरपेक्षिक ही व्यापकता है। इस रीति से माया विशिष्ट ही ब्रह्म शब्द का वाच्य बनता है। और शुद्ध चेतन ब्रह्म शब्द का लक्ष्य है। इससे ईश्वर शब्द और ब्रह्म शब्द दोनो का अर्थ समान ही प्रतीत होता है। भिन्न अर्थ नही है। तथापि ब्रह्म शब्द का तो यह स्वभाव है :—बहुत स्थान मे लक्ष्य अर्थ को बोधन करता है और किसी स्थान मे वाच्य अर्थ को कहता है। और ईश्वर शब्द का यह स्वभाव है :—बहुत स्थान मे वाच्य अर्थ को बोधन करता है और किसी स्थान मे लक्ष्य अर्थ को बोधन करता है। इनना भेद है, इससे लक्ष्य अर्थ को लेकर ब्रह्म शब्द का अर्थ भिन्न निरूपण किया है।

कूटस्थ प्रकाशमान है और आभास भोगता है

चार प्रकार का चेतन कहा। उसमे जीव के स्वरूप मे जो मिथ्या आभास अश है, सो पुण्य पाप करता है और उनके फल को भोगता है। और जो कूटस्थ चेतन है, सो कल्याणरूप है। इससे प्रथम जो शका करी थी 'बुद्धिरूप वृक्ष मे दो पक्षी है, एक परमात्मा और दूसरा जीव।" उसका यह उत्तर कहा —वहा परमात्मा और जीव का ग्रहण नही करना चाहिये, किन्तु कूटस्थ तो प्रकाशमान है और आभास भोगता है।

आभास ही कर्म करता है और फल देता है, चेतन नहीं

जीव के स्वरूप मे जो चेतन का आभास अश है, सो कर्म करता है, उस कर्म करने वाले को ईश्वर का जो आभास अश है, सो फल देता है। इससे यह सिद्ध हुआ —जीव के स्वरूप मे जो आभास अश है, सो तो पुण्यपाप करता है और उनका फल भोगता है। और ईश्वर के स्वरूप मे जो आभास अश है, सो कर्म का फल देता है। और दोनो मे जो चेतन अश है, उसमे किसी भी बात का जोग नही है। जीव मे जो चेतन अश है, उसमे तो कर्म और फल का जोग नही है। और ईश्वर मे जो चेतन अश है, उसमे फल देने का जोग नही है। उस चेतन मे जो कहता है, वह अज्ञानी है। क्यो ? चेतन दोनो मे असग है और एक रूप है। चेतन मे भेद नही है। जो जीव चेतन को ईश्वर चेतन से अथवा ईश्वर चेतन को जीव चेतन से भिन्न जानता है, वह यथार्थ रूप से नही जानता है। इस कथन से जो दूसरा प्रश्न किया था "जीव और परमात्मा की एकता अगीकार करने से कर्म और उपासना का प्रतिपादक वेद निष्फल होगा।" उसका उत्तर कहा —जो जीव और ईश्वर मे चेतन भाग है, उनका तो अभेद है और आभास का भेद है। इससे दोनो प्रकार के वचन ठीक है।

जीव ब्रह्म के लक्ष्य अर्थ का अभेद

तुमने जो प्रश्न किये थे उनके उत्तर कह दिये है। तुमने कहा था —"एक वृक्ष मे दो पक्षी हैं, एक भोगता है और दूसरा इच्छा से

रहित है। इससे जीव ब्रह्म की एकता नही बनती है।" इसका उत्तर कहा '—"इस स्थान मे जीव ब्रह्म का ग्रहण नही करना चाहिये। किन्तु कूटस्थ और बुद्धि मे जो आभास हैं, उनका ग्रहण करना चाहिये। वे आपस मे घटाकाश और आकाश की छाया के समान भिन्न है।" और प्रश्न किया था —"जीव तो कर्म उपासना करने वाला है ओर परमात्मा फल देने वाला है। उनकी एकता नही बनती।" इसका भी उत्तर कहा —"कर्म करने वाला जीव नही है और फल देने वाला ईश्वर नही है। किन्तु जीव मे जो आभास अश है सो करता है। ईश्वर मे जो आभास अश है, सो फल देता है। और जीव ईश्वर मे जो चेतन अश है, सो घटाकाश महाकाश के समान सर्वथा भेद से रहित है —इस रीति से जीव और ब्रह्म की एकता बनती है। इससे "अह ब्रह्म" अर्थात् "मै ब्रह्म हूँ" ऐसे तुम जानो। अह शब्द का अर्थ तो कूटस्थ को जानो। और ब्रह्म शब्द का जो महाकाश के समान लक्ष्य अर्थ कहा है, सो भी जानो। "अह" शब्द और "ब्रह्म" शब्द के वाच्य अर्थ का अभेद नही भी है, परन्तु लक्ष्य अर्थ का अभेद है। और जब तक तू "अह ब्रह्मास्मि" ऐसे नही जानेगा तब तक तू अपने को दीन मानेगा और दु खी मानेगा। और अपने से भिन्न परमात्मा जाना है, सो तेरे को भय का हेतु होगा। इससे "मै ब्रह्म हूँ" ऐसे जान।

"अह ब्रह्म" यह ज्ञान किसको होता है ?

आप कृपा करके कहे "अह ब्रह्मास्मि" ऐसा ज्ञान किसको होता है ? आपके कथन बिना यह वार्ता मै नही जान सकू गा। मेरे मन मे यह गूढ अभिप्राय है —"मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान कूटस्थ मे होता है। अथवा आभास सहित बुद्धि मे होता है ? यदि कूटस्थ मे कहोगे तो कूटस्थ विकारी होगा। और आभास सहित बुद्धि मे कहोगे तो उसको "मै ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान भ्रातिरूप होगा। क्यो ? आपने पूर्व कहा था —"कूटस्थ की और ब्रह्म की एकता है और आभास भिन्न है" इससे ब्रह्म से भिन्न जो आभास, उसका ब्रह्मरूप से जो ज्ञान, सो भ्राति ही होगा। कैसे ? जैसे सर्प से भिन्न जो रज्जु, उसका सर्परूप से ज्ञान भ्राति है। इस रीति

से आभास सहित बुद्धि को "मै ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान यथार्थ नही होगा, किन्तु भ्रातिरूप होगा। और कदाचित् "अह ब्रह्मास्मि" इस ज्ञान को भ्राति रूप ही अगीकार करोगे तो, इस ज्ञान से मिथ्या जगत् की निवृत्ति नही होगी। यथार्थ ज्ञान से ही मिथ्या की निवृत्ति होती है। कैसे ? जैसे रज्जु के यथार्थ ज्ञान से मिथ्या सर्प की निवृत्ति होती है। इस रीति से आभास सहित बुद्धि को "मै ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान नही बनता है।

गत प्रश्न का उत्तर। आभास की सप्त अवस्था

आभास की सात अवस्था कहता हूँ तू सुन —उन सात अवस्थाओ मे कोई भी कूटस्थ चेतन की नही है। "मै ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान भी उन सात मे ही है। सात अवस्था के नाम ये है .— १ अज्ञान २ आवरण ३ भ्राति ४ परोक्षज्ञान ५ अपरोक्षज्ञान ६ भ्रातिनाश और ७ हर्ष।

अज्ञान और आवरण

"मै ब्रह्म को नही जानता हूँ" यह जो पुरुष कहता है, इस व्यवहार के हेतु को अज्ञान कहते है। ब्रह्म नही है और भान नही होता है। इस व्यवहार के हेतु को आवरण कहते है। आवरण से ही यह व्यवहार होता है। क्यो ? दो प्रकार की अज्ञान की शक्ति है —एक असत्वापादक है और दूसरी अभानापादक है। उन दोनो को आवरण कहते है। "वस्तु नही है" ऐसी प्रतीति कराने वाली जो अज्ञान की शक्ति है, उसको असत्वापादक कहते है। और "वस्तु का भान नही होता है" ऐसी प्रतीति कराने वाली जो अज्ञान की शक्ति है, उसको अभानापादक कहते है। इस रीति से "ब्रह्म नही है" इस व्यवहार की हेतु अज्ञान की असत्वापादक शक्ति है। और "ब्रह्म भान नही होता है" इस व्यवहार की हेतु अज्ञान की अभानापादक शक्ति है। इन दोनो का नाम आवरण है।

भ्राति

जन्म-मरण, गमनागमन, पुण्यपाप, सुख दु:खादि की निजस्वरूप

कूटस्थ मे प्रतीति को वेद मे भ्राति कहते है। क्यो ? देह, प्राण, इन्द्रिय और अन्त करणसहित चिदाभास। इनके जन्मादिक संबन्ध विशिष्ट केवल धर्मरूप सबन्धियो की वा सबन्ध विशिष्ट धर्मी सहित धर्मरूप सबन्धी की आत्मा मे अपने विषय सहित प्रतीति और आत्मा के तादात्म्य सबन्ध की वा सत्यत्वादिक धर्मो के सबन्ध की अनात्मा मे अपने विषय सहित प्रतीति को अध्यास कहते है। अध्यास को ही भ्राति, विक्षेप और शोक भी कहते है।

द्विविध ज्ञान (परोक्ष, अपरोक्ष)

दो प्रकार का ज्ञान है —एक परोक्ष है और दूसरा अपरोक्ष है। "ब्रह्म है" इसको परोक्ष ज्ञान कहते है। और "मै ब्रह्म हूँ" इसको अपरोक्ष ज्ञान कहते है। "ब्रह्म नही है" इस आवरण के अश को "ब्रह्म है" ऐसा परोक्ष ज्ञान नष्ट करता है। क्यो ? "सत्य ज्ञान अनतरूप ब्रह्म है" ऐसे ज्ञान का नाम परोक्ष ज्ञान है। सो "ब्रह्म नही है" ऐसी प्रतीति का विरोधी है, अन्य का नही है। "मै ब्रह्म हूँ" ऐसा जो अपरोक्ष ज्ञान है, सो सकल अविद्या जाल का विरोधी है। इस कारण से "मै ब्रह्म को नही जानता हूँ" यह अज्ञान और "ब्रह्म नही है" और "भान नही होता है" यह आवरण। और "मै ब्रह्म नही हूँ, किन्तु पुण्य पाप का कर्ता और सुखदु.ख का भोक्ता जीव हूँ" यह भ्राति। इतना जो अविद्या जाल है, उसको अपरोक्ष ज्ञान नष्ट करता है।

भ्रातिनाश

मेरे मे जन्म, मरण, सुख दु ख का लेश भी नही है तथा अन्य कोई भी ससार धर्म मेरे मे नही है। किन्तु मै जन्म रहित कूटस्थ हूँ। इस रीति से सर्व अनर्थ का जो निषेध है, उसी को भ्रातिनाश कहते है। इस स्थान मे कूटस्थ मे जन्म का निषेध करने से सर्व का निषेध जानना चाहिये। क्यो ? जन्म प्रतीति से अनन्तर और अनर्थ प्रतीत होते है। इससे जन्म के निषेध से सर्व अनर्थ का निषेध है। यह जो भ्रातिनाश है, इसी को शोकनाश भी कहते है।

हर्षस्वरूप

जब संशयरहित अपने स्वरूप का ऐसा ज्ञान होता है —"मै अद्वय ब्रह्मरूप हूँ" तब हृदय मे जो मोद होता है, उसको हर्ष कहते है। विद्यारण्य स्वामी ने पचदशी के तृप्तिदीप मे इसी हर्ष का नाम "निरकुशातृप्ति" धरा है। मैने तुमको ये सात अवस्था कही है, सो सब आभास की है। उन्ही मे "मै ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान है। ज्ञान किसको होता है, यह तुमने पूछा था। मैने उसका उत्तर दे दिया है। अब जो पूछना चाहते हो, सो पूछ सकते हो। भगवन् ! आपने कहा — "अह-ब्रह्म" यह ज्ञान आभास को होता है। यह मैने जान लिया है। किन्तु पुन मुझे एक शका होती है। वह यह है —आपने पहले कहा था — "कूटस्थ और ब्रह्म तो दोनो एक है। और आभास ब्रह्म से भिन्न है" उस ब्रह्म से भिन्न आभास को "मै ब्रह्म हूँ" ऐसा ब्रह्मरूप करके ज्ञान नही बनता। "मेरा अधिष्ठान जो कूटस्थ सो ब्रह्मरूप है" ऐसा आभास को ज्ञान हो, तब तो यथार्थ ज्ञान कहा जा सकता है। अहब्रह्म" यह ज्ञान यथार्थ नही बनता। क्यो ? अह नाम अपने स्वरूप का है, जिसको मैं कहते है। सो आभास का स्वरूप मिथ्या है, इससे भिन्न है। इससे ब्रह्म से भिन्न आभास का जो स्वरूप, उसको ब्रह्मरूप करके ज्ञान हो तो मिथ्या ज्ञान होगा। कैसे ? जैसे सर्प से भिन्न जो जेवरी, उसका सर्परूप से ज्ञान मिथ्या होता है। मिथ्या नाम भ्राति का है। सो ब्रह्मज्ञान को भ्रातिरूप कहना नही बनता है।

यहाँ प्रश्नकर्ता से पूछते है :—१ ब्रह्मज्ञान का स्वरूप मिथ्या ससार के अतर्गत मिथ्या चिदाभास के आश्रित होने से मिथ्या है। इससे इस मिथ्या ज्ञान से मृग जल से तृषा की निवृत्ति के समान ससार की निवृत्ति कैसे होगी, यह कहते हो ? २ अथवा उस ज्ञान का विषय जो चिदाभास और ब्रह्म की एकता, सो सर्प और जेवरी की एकता के समान मिथ्या है। इससे उस मिथ्या विषय का ज्ञान भी मिथ्या है। इससे उस मिथ्याज्ञान से ससार की निवृत्ति कैसे होगी, यह कहते हो ? उनमे ज्ञान का स्वरूप मिथ्या है। यह वार्ता हम भी अगीकार

करते है। परन्तु उस मिथ्या ज्ञान से ही ससार की निवृत्ति बनती है। क्यो? "जैसा यक्ष वैसी बलि" इस लौकिक न्याय से, जैसा मिथ्या ससार है, उसकी निवृत्ति-अर्थ ज्ञान भी वैसा ही मिथ्या ज्ञान चाहिये। किवा —"समान सत्ता वाले पदार्थ ही आपस मे साधक बाधक होते है" इस नियम से भी मिथ्या ज्ञान से ही मिथ्या ससार की निवृत्ति सभव है। मृग जल की और तृषा की समान सत्ता नही है, किन्तु विषम सत्ता है। इससे प्रातिभासिक मृगजल से व्यवहारिक तृषा की निवृत्ति सभव नही है। और चिदाभास तथा ब्रह्म की एकता रूप ज्ञान का विषय मिथ्या है। इससे उसका ज्ञान भी मिथ्या है। यह द्वितीय पक्ष जो तुमने प्रकट किया, सो सभव नही है। यह वार्ता अब कहते है।

उत्तर —अह शब्द के दो अर्थ

अब तुम "अह" शब्द के अर्थ का विवेक सुनो, जिसके सुनने से तुम्हारे हृदय के अनेक शका रूप कलक नष्ट हो जायेगे। यद्यपि "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान बुद्धि सहित आभास को होता है, कूटस्थ को नही होता। तथापि सो आभास कूटस्थ को और अपने स्वरूप को, दोनों को अपना आत्मा जानता है। उस आत्मा का "मै" शब्द से ग्रहण होता है। सोई अह शब्द का अर्थ है। उस "अह" शब्द मे भान जो होता है कूटस्थ, उसका तो ब्रह्म के साथ सदा अभेद है। कैसे ? जैसे घटाकाश का और महाकाश का सदा अभेद है। इसी कारण से कूटस्थ का ब्रह्म के साथ मुख्य सामानाधिकरण्य वेदात शास्त्र मे कहा है। समान विभक्ति के बल से समान अर्थात् एक है अधिकरण अर्थात् अर्थरूप आश्रय जिनका, ऐसे जो दो शब्द होते है, उनको समानाधिकरण कहते है। उन दोनों शब्दो का जो परस्पर सबन्ध, उसको सामानाधिकरण्य अर्थात् एक अर्थवानपना कहते है। उक्त सामानाधिकरण्यरूप सबन्ध, जीवईश्वर की एकता के बोधक एक विभक्ति वाले पदो से युक्त चार वेदो के चार महावाक्यो मे, तथा उस प्रकार के अन्य लौकिक वैदिक वाक्यो मे जानना चाहिये। उनमे एक सत्ता और एक स्वरूप वाले होने से वास्तव भेदरहित दो

अर्थो के बोधक वाक्यगत दो पदो का "मुख्य सामानाधिकरण्य" होता है। कैसे ? जैसे घटाकाश पद और महाकाश पद का है और कूटस्थ पद तथा ब्रह्मपद का है। जिस वस्तु का जिस वस्तु के सग सदा अभेद हो, उस वस्तु का उसके सग मुख्य सामानाधिकरण्य होता है। इस रीति से कूटस्थ का ब्रह्म के सग मुख्य सामानाधिकरण्य है। क्यो ? कूटस्थ का ब्रह्म से सदा अभेद है। इससे "मै" शब्द मे भान जो होता है कूटस्थ, उसका तो ब्रह्म के सग सदा अभेद है। और "मै" शब्द मे भान जो होता है आभास, उसका ब्रह्म से अपने स्वरूप को बाधकर अभेद होता है। भिन्न सत्तावाले दो पदार्थो की एक विभक्ति के बल से एकता के बोधक वाक्यगत दो पदो का "बाध सामानाधिकरण्य होता है। कैसे ? जैसे मुख का प्रतिबिम्ब बिम्बस्वरूप मुख के सग प्रतिबिम्ब स्वरूप को बाध करके अभेद होता है। इसी प्रकार स्थाणुपद और पुरुषपद का है। तथा जगत् और ब्रह्म पद का है। इसी कारण से वेदान्त शास्त्र मे आभास का ब्रह्म के सग बाध सामानाधिकरण्य कहा है। जिस वस्तु का बाध होकर जिसके सग अभेद हो, उस वस्तु का उसके सग बाधसामानाधिकरण्य होता है। जैसे मुख के प्रतिबिम्ब का बाध होकर मुख के साथ अभेद होता है। इससे प्रतिबिम्ब मुख है, भिन्न नही है। ऐसे प्रतिबिम्ब का मुख के साथ बाध सामानाधिकरण्य है। किवा जैसे स्थाणु मे पुरुष भ्रम होकर स्थाणुज्ञान से अनन्तर "पुरुष स्थाणु है" इस रीति से पुरुष का स्थाणु से बाध सामानाधिकरण्य होता है। वैसे आभास का बाध होकर ब्रह्म के साथ अभेद होता है। इससे "मै" शब्द मे भान जो होता है आभास सो ब्रह्म है ब्रह्म से भिन्न नही है। ऐसा बाध सामानाधिकरण्य आभास का ब्रह्म के साथ होता है। इस रीति से "अह" शब्द मे भान जो होता है कूटस्थ, उसका तो मुख्य अभेद है। और आभास का बाध करके अभेद है।

अह वृत्ति मे कूटस्थ और आभास का भान क्रम
से होता है वा बिना क्रम ?

आपने कहा :—"अह वृत्ति मे साक्षी और आभास दोनो का भान

होता है। सो अहं वृत्ति मे कूटस्थ और आभास का भान क्रम मे होता है अथवा बिना ही क्रम होता है। क्रम अर्थात् भिन्न २ काल मे होता है? वा दोनो का एक ही काल मे भान होता है। यह मुझे बताने की कृपा करें?

गत प्रश्न का उत्तर एक समय ही दोनो का भान होता है

जो तुमने प्रश्न किया है, उसका साररूप उत्तर कहता हूँ। तुम सावधान होकर सुनो। उसके सुनते ही तुम्हारे हृदय मे ज्ञानरूप सूर्य का प्रकाश होकर अज्ञानरूप अधकार नष्ट हो जायगा। अहं वृत्ति मे साक्षी और आभास का भान एक ही समय होता है। इस प्रकरण मे सर्वत्र "आभास" शब्द से अत करण सहित आभास का ग्रहण करना। इससे अन्त करण सहित आभास तो चेतनसाक्षी का विषय होकर भान होता है। और साक्षी स्वय प्रकाश रूप से भान होता है। अन्त करण की आभास सहित वृत्ति का विषय साक्षी नही है। और घटादिक बाहर के पदार्थो की तो ऐसी रीति है —जब इन्द्रिय का और घट का सयोग होता है, तब इन्द्रिय द्वारा अन्त.करण की वृत्ति निकल कर घट के समान आकार को प्राप्त होती है। कैसे? जैसे मूषा (साचा) मे डाला जो ताम्र, उसका मूषा के आकार के समान आकार होता है। वैसे अन्त करण की वृत्ति का भी घट के आकार के समान आकार होता है। वह वृत्ति आभासरहित नही होती है, किन्तु आभास सहित होती है। क्यो? वृत्ति अन्त करण का परिणाम है। अन्तःकरण के परिणाम को ही वृत्ति कहते है। जैसे अन्त करण सत्वगुण का कार्य होने से स्वच्छ है। इससे ही अन्त करण मे चेतन का आभास होता है। वैसे वृत्ति भी स्वच्छ अन्त करण का कार्य है। इससे वृत्ति मे चेतन का आभास होता है और वृत्ति जो भी उत्पन्न होती है, सो आभास सहित अन्त.करण से उत्पन्न होती है। इस कारण से भी वृत्ति आभास सहित ही होती है। और—

अज्ञान का आश्रय और विषय चेतन है

विषय जो घट है, सो तमोगुण का कार्य है। इससे स्वरूप से जड़

है और उसमे अज्ञान और उसका आवरण है। इसमे यह शका होती है —अज्ञान और उसका आवरण विचार दृष्टि से चेतन मे है, घट मे नही है। क्यो ? अज्ञान चेतन के आश्रित है और चेतन को ही विषय करता है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है। और सात अवस्था के प्रसग मे अज्ञान का आश्रय अत करण सहित आभास कहा था, सो अज्ञान का अभिमानी है। "मै अज्ञानी हूँ" ऐसा अभिमान अत करण सहित आभास को होता है। इस कारण से अज्ञान का आश्रय कहते है। और मुख्य आश्रय चेतन है, आभास सहित अन्त.करण नही है। कैसे ? जैसे धन का मुख्य आश्रय कोश (पेटी आदिक धन का भडार) है और "मै धनी हूँ" ऐसा धन का अभिमानीरूप आश्रय पुरुष है। वैसे अज्ञान का मुख्य आश्रय चेतन है और अभिमानीरूप आश्रय साभास अत.करण है। क्यों ? आभाससहित अन्त करण अज्ञान का कार्य है। जो जिसका कार्य होता है, सो उसका आश्रय नही बनता। इससे चेतन ही अज्ञान का अधिष्ठान रूप आश्रय है। चेतन को ही अज्ञान विषय करता है। स्वरूप का जो आवरण करना है, सोई अज्ञान का विषय करना है। सो अज्ञानकृत आवरण जड वस्तु मे नही बनता। क्यो ? जड वस्तु स्वरूप से ही आवृत्त है। उसमे अज्ञानकृत आवरण का कुछ भी उपयोग नही है। इस रीति से अज्ञान का आश्रय और विषय चेतन है। कैसे ? जैसे गृह के मध्य जो अधकार है, सो गृह के मध्य को आवरण करता है। इससे घट मे अज्ञान और उसका आवरण नही बनता है। उक्त शका का यह समाधान है —

बाहर के पदार्थ मे वृत्ति और आभास दोनो का उपयोग

जैसे चेतन के स्वरूप से भिन्न सत् असत् से विलक्षण अज्ञान चेतन के आश्रित है, उस अज्ञान से चेतन आवृत्त होता है, वैसे घट के स्वरूप से भिन्न अज्ञान यद्यपि घट के आश्रित नही है, तथापि अज्ञान ने घटादिक स्वरूप से प्रकाश रहित जडस्वरूप रचे है। इससे सदा ही अध के समान आवृत्त है। सो आवृत स्वभाव घटादिको का अज्ञान ने ही किया है। क्यों ? तमोगुण प्रधान अज्ञान से भूतो की उत्पत्ति द्वारा घटादिक उत्पन्न होते

है। सो तमोगुण आवरण स्वभाव वाला है। इससे घटादिक प्रकाश रहित अध ही होते है। इस रीति से अधतारूप आवरण घटादिको मे अज्ञानकृत स्वभावसिद्ध है और घटादिको के अधिष्ठान चेतन आश्रित अज्ञान, चेतन को आच्छादित करके स्वभाव से आवृत्त घटादिको को भी आवृत्त करता है।

यद्यपि स्वभाव से आवृत्त पदार्थ के आवरण मे प्रयोजन नही है, तथापि आवरण कर्ता पदार्थ प्रयोजन की अपेक्षा से बिना ही निरावरण के समान आवरण सहित मे भी आवरण करता है। यह लोक मे प्रसिद्ध है। उस अज्ञान से आवृत घट को व्याप्त जो होती है अन्त करण की आभास सहित घटाकार वृत्ति, उसमें वृत्तिभाग तो घट के आवरण को दूर करता है। और वृत्ति मे जो आभासभाग है, सो घट का प्रकाश करता है। इस रीति से बाहर के पदार्थ मे वृत्ति और आभास दोनो का उपयोग है।

दृष्टान्त

जैसे अधकार मे कुंडे से मृत्तिका अथवा लोह का पात्र ढका धरा हो, वहाँ दड से कूडे को फोड भी दे, पीछे भी दीपक बिना उस निरावरण पात्र का प्रकाश नही होता है, किन्तु दीपक से प्रकाश होता है। वैसे अज्ञान से आवृत्त जो घट, उसके आवरण को वृत्ति भग कर देती है। तथापि घट का प्रकाश नही होता है। क्यो ? घट तो स्वरूप से जड है और वृत्ति भी जड है। उसका आवरण भग मात्र प्रयोजन है। उससे प्रकाश नही होता। इससे घट का प्रकाशक आभास है। नेत्र का विषय जो वस्तु है, उसके प्रत्यक्ष ज्ञान की यह रीति कही है। और जहा श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द विषय का प्रत्यक्ष होता है। वहा श्रोत्र द्वारा निकली जो अन्त.करण की साभास वृत्ति, सो दूर देश मे वा समीप देश मे स्थित शब्द के आकार के समान आकार को प्राप्त होती है। तब वृत्ति से शब्द का आवरण भंग होता है और आभासभाग शब्द का प्रकाश करता है। जहा त्वक् इन्द्रिय से स्पर्शगुण और उसके आश्रय घटादिक का प्रत्यक्ष होता है, वहा शरीररूप गोलक को छोड़कर वृत्ति बाहर नही

जाती है। किन्तु शरीर की क्रिया से अथवा अन्य की क्रिया से शरीररूप गोलक के साथ सयोग को प्राप्त जो घटादिक विषय, उसको और उसके आश्रित कठिनतादिकरूप स्पर्शगुण को शरीररूप गोलक मे ही स्थित हुई साभास अत करण की वृत्ति विषय करती है। उस वृत्ति से आश्रय सहित स्पर्श का आवरण भग होता है। और चिदाभास उसका प्रकाश करता है। जहा रसन इन्द्रिय से रस विषय का प्रत्यक्ष होता है, वहा भी जिह्वारूप गोलक को छोडकर वृत्ति बाहर नही जाती है। किन्तु जिह्वारूप गोलक से जब रस विषय का सयोग होता है, तब जिह्वा के अग्रभाग वर्त्ति रसन इन्द्रिय मे स्थित साभासवृत्ति रस को विषय करती है। वहा वृत्ति से रस का आवरण भग होता है। और चिदाभास मधुरादिरस का प्रकाश करता है। जहा घ्राण इन्द्रिय से गध का प्रत्यक्ष होता है, वहा भी नासिकारूप गोलक से पुष्पादिरूप गध के आश्रय का वा उसके सूक्ष्म अवयवो का जब सयोग होता है, तब नासिका के अग्रभाग वर्त्ति घ्राणइन्द्रिय मे स्थित साभास अत करण की वृत्ति, पुष्पादिरूप द्रव्य के आश्रित गधमात्र को ग्रहण अर्थात् विषय करती है। वहा वृत्ति भाग से गध का आवरण भग होता है और वृत्ति मे स्थित चिदाभास भाग गध का प्रकाश करता है। यह श्रोत्रादिको का जो विषय है, उसके प्रत्यक्ष की रीति है। वृत्ति और घट दोनो एक देश मे स्थित होने से घट का ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है।

और अन्त करण की वृत्ति तो घटाकार हो, किन्तु घट के सग वृत्ति-का सबन्ध न हो, अतर ही वृत्ति हो, उसको घट का परोक्ष ज्ञान कहते है। "यह घट है" ऐसा अपरोक्ष ज्ञान का आकार है। "घट है" वा "सो घट है" ऐसा परोक्ष ज्ञान का आकार है। यद्यपि स्मृति ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान ही है, तथापि स्मृति ज्ञान तो सस्कारजन्य है और अनुमिति आदिक परोक्ष ज्ञान प्रमाणजन्य है। इतना भेद है।

प्रमाण और प्रमा ज्ञान का लक्षण

प्रमाण और प्रमा का लक्षण भी बताइये ? यद्यपि प्रमाण और प्रमा का वर्णन प्रमाण निरूपण अश ३ से अश ८ तक किया गया है,

किन्तु तुम्हारे प्रश्न पर सक्षेप से पुन. कहते है, सुनो। प्रमा ज्ञान के करण को प्रमाण कहते है। स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थ को विषय करने वाला जो ज्ञान उसको प्रमा कहते है। स्मृति ज्ञान प्रमा नही है। क्यो ? प्रमाज्ञान प्रमाता के आश्रित होता है और स्मृतिज्ञान प्रमाता के आश्रित नही होता। किन्तु साक्षी के आश्रित होता है ऐसा माना है। भ्रातिज्ञान और सशय भी साक्षी के आश्रित अगीकार किये है। इसी कारण से स्मृति और भ्राति तथा सशयज्ञान, ये तीनो आभास सहित अविद्या की वृत्तिरूप है, अत करण की वृत्तिरूप नही है। इससे प्रमाता के आश्रित नही है किन्तु साक्षी के आश्रित है। जो अन्त करण की वृत्तिरूप ज्ञान होता है, वह प्रमाता के आश्रित होता है। उसी को प्रमा कहते है। स्मृति ज्ञान अन्त करण की वृत्ति नही है। इससे प्रमाता के आश्रित नही है और प्रमा भी नही है। इससे प्रमा के लक्षण मे स्मृति से भिन्न कहना चाहिये। अबाधित अर्थ को विषय करने वाला ज्ञान तो स्मृतिज्ञान भी है। परन्तु स्मृति ज्ञान स्मृति से भिन्न नही है। इससे स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थ को विषय करने वाला जो ज्ञान है, उसको प्रमा कहते है। यह लक्षण निर्दोष है। यथार्थ अनुभव प्रमा है। यह भी स्मृति से भिन्न प्रमा का लक्षण है।

स्मृति ज्ञान और षट् प्रमा के विचारपूर्वक करण का लक्षण

और कोई स्मृति ज्ञान को भी प्रमारूप मानते है। उनके मत मे प्रमा के लक्षण मे "स्मृति से भिन्न" ऐसा नही कहते है। किन्तु अबाधित अर्थ को विषय करने वाला जो ज्ञान है, उसको प्रमा कहते है। भ्राति ज्ञान अबाधित अर्थ को विषय नही करता है। किन्तु बाधित अर्थ को विषय करता है। इससे प्रमा का लक्षण भ्राति ज्ञान मे नही जाता है। जिनके मत मे स्मृति ज्ञान मे भी प्रमा व्यवहार होता है, उनके मत मे स्मृति ज्ञान अन्त करण की वृत्ति है। अविद्या की वृत्ति नही है और साक्षी के आश्रित भी नही है। किन्तु प्रमाता के आश्रित है। क्यो ? अन्त करण की वृत्ति का आश्रय प्रमाता ही होता है,

साक्षी नही होता। इस रीति से स्मृति ज्ञान किसी के मत मे तो अंत - करण की वृत्ति है, इससे प्रमारूप है। और किसी के मत मे अविद्या की वृत्ति है, इससे प्रमा रूप नही है। और भ्रातिज्ञान तथा सशयज्ञान, ये दोनो सब के मत मे अविद्या की वृत्ति है और साक्षी के आश्रित है। इसमे कोई विवाद नही है। और विचार करके देखिये तो स्मृति ज्ञान भी अविद्या की वृत्ति है और साक्षी के आश्रित है, प्रमारूप नही है। क्यो ? जो वेदात सप्रदाय के वेत्ता है उन्होने प्रमाज्ञान षट् प्रकार का ही कहा है। उस षट् प्रकार मे स्मृति ज्ञान नही है, इससे प्रमा नही है। और मधुसूदन स्वामी ने भी स्मृति ज्ञान साक्षी के आश्रित ही कहा है। यहा यह विवेक है —भ्रमरूप अनुभव के सस्कार से जन्य जो स्मृति सो बाधित अर्थ को विषय करने वाली होने से अयथार्थ है। इसी से वह अविद्या की वृत्ति है। अन्त करण की वृत्ति नही है और साक्षी के आश्रित है। प्रमाता के आश्रित नही है। और जो यथार्थ अनुभव के सस्कार से जन्य स्मृत्ति ज्ञान है, सो अबाधित अर्थ को विषय करने वाला होने से यथार्थ ज्ञान है, इसी से सो अन्त करण की वृत्ति है। अविद्या की वृत्ति नही है और प्रमाता के आश्रित है, साक्षी के आश्रित नही है। परन्तु स्मृति ज्ञान मे पूर्वाचार्यों ने प्रमा व्यवहार नही किया है। इससे दोनो प्रकार की स्मृति अप्रमा है। उनमे अयथार्थ स्मृति अयथार्थ अप्रमा है। और यथार्थ स्मृति यथार्थ अप्रमा है। इतना भेद है। इससे प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति शाब्दी, अर्थापत्ति और अभाव प्रमा, ये षट् प्रमा है। प्रत्यक्षादि प्रमाण क्रम से इन के करण है।

असाधारण कारण को करण कहते है। जो सर्व कार्य का कारण हो, उसको साधारण कारण कहते है। कैसे ? जैसे धर्म अधर्मादिक सर्व कार्य के कारण है। इससे साधारण कारण है। सर्व कार्य का कारण न हो, किन्तु किसी एक कार्य का कारण हो, उसको असाधारण कारण कहते है। कैसे ? जैसे दड सर्व कार्य का कारण नही है, किन्तु घटादिक कार्य विशेषो का ही कारण है। इससे दड को असाधारण कारण कहते है और घट का करण भी कहते है। वैसे प्रत्यक्ष प्रमा

के ईश्वर और ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का ज्ञान, ईश्वर का प्रयत्न, काल, दिशा, अदृष्ट, प्रागभाव, प्रतिबन्धकाभाव, ये नव सर्व कार्यो के साधारण कारण है। इनके बिना कोई भी कार्य नही होता है। इनसे ईश्वरादिक साधारण कारण है। और नेत्रादि इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमा के असाधारण कारण है। इससे नेत्रादिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमा के करण है। इस रीति से नेत्रादि इन्द्रिय प्रमा के करण है।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति, और प्रमेय चेतन

यद्यपि इन्द्रिय को वेदात सिद्धान्त मे प्रमाज्ञान की करणता कहना नही बनता। क्यो ? चेतन के चार भेद है —१ प्रमाता चेतन २ प्रमाण चेतन ३ प्रमिति चेतन। प्रमिति चेतन को प्रमा चेतन भी कहते है। ४ प्रमेय चेतन। प्रमेय चेतन को विषय चेतन भी कहते है। इस रीति से प्रमा नाम चेतन का है। सो नित्य है, इन्द्रियजन्य नही है। इससे इन्द्रिय उसका करण नही है। तथापि चेतन मे प्रमा व्यवहार की सपादक वृत्ति को भी प्रमा कहते है, उसके इन्द्रिय करण है। १ देह के मध्य जो अन्त करण है, उसकरके अवच्छिन्न चेतन को प्रमाता कहते है। २ सोई अन्त करण नेत्रादिक इन्द्रिय द्वारा निकलकर जितनी दूर घटादिक विषय स्थित हो, उतना लम्बा परिणाम अन्त.-करण का होता है और आगे विषय जो घटादिक है, उनसे मिलकर जैसा घटादिक का आकार हो, वैसा ही अन्त करण का आकार होता है। कैसे ? जैसे कोठे (कूप के पास के कु ड) मे भरा जो जल है, सो छिद्र द्वारा निकल कर लबे नाले के आकार का होकर, बगीचे के केदार मे जाता है और केदार के आकार का हो जाता है अर्थात् जैसा केदार (क्यार) का आकार होता है, वैसा ही जल का आकार हो जाता है। वैसे अन्त करण भी इन्द्रियरूप छिद्र द्वारा निकल कर विषय रूप केदार को जाता है। वहा शरीर से घटादिक विषय पर्यं त जो अन्त:-करण का नाले के समान परिणाम है, उसको वृत्ति ज्ञान कहते है। उससे अवच्छिन्न जो चेतन उसको प्रमाण चेतन कहते है। और वृत्ति ज्ञान रूप जो अन्त करण का परिणाम, उसको प्रमाण कहते है। ३ जैसे केदार मे जल जाकर केदार के समान आकार होता है, वैसे

घटादिक जो विषय है, उनमे वृत्ति जाकर घटादिक के समान आकार को प्राप्त होती है, उससे अवच्छिन्न जो चेतन है, उसको प्रमा चेतन कहते है। ४ ज्ञान के विषय जो घटादिक उन करके अवच्छिन्न जो चेतन है, उसको विषयचेतन कहते है और प्रमेयचेनन भी कहते है। यह वेद के अर्थ को जानने वाले आचार्यो की परिभाषा है।

अवच्छेदवाद की रीति से प्रमाता और साक्षी सहित विशेषण और उपाधि का लक्षण

इसमे इतना भेद है —जो अवच्छेदवाद अगीकार करते है, उनके मत मे तो, अन्तःकरण विशिष्ट जो चेतन है, वह प्रमाता है और वही कर्ता भोक्ता है। अन्त करण उपहित साक्षी है। एक ही अन्त करण प्रमाता का तो विशेषण है और साक्षी की उपाधि है। स्वरूप मे जिसका प्रवेश हो, ऐसी जो व्यावर्त्तक वस्तु है, उसको विशेषण कहते है। अन्य पदार्थ से भिन्न करके वस्तु के स्वरूप को जो बतावे, उसको व्यावर्त्तक कहते है। जिसको भिन्न करके बतावे, उसको व्यावर्त्य कहते है। कैसे ? जैसे "नीलघट" इस स्थान मे घट का नीलता विशेषण है। क्यो ? नीलघट मे नीलता का प्रवेश है और पीत श्वेतादिको से भिन्न करके बताती है, इससे व्यावर्त्तक है। इस रीति से नीलता घट का विशेषण है। और घट परिच्छेद्य है। क्यो ? पीत श्वेतादिको से भिन्न करके बताया जाता है। जिसको भिन्न करके बताया जाय, उसको ही परिच्छेद्य कहते है। व्यावर्त्य और विशेष भी उसी को कहते है। और "दडी पुरुष है" इस स्थान मे भी दड पुरुष का विशेषण है।

इस रीति से प्रमाता का अत करण विशेषण है। क्यो ? प्रमाता के स्वरूप मे अन्त.करण का प्रवेश है। और प्रमेय चेतन से भिन्न करके प्रमाता के स्वरूप को बताता है। इससे व्यावर्त्तक है। जिस वस्तु का स्वरूप मे प्रवेश नही हो और व्यावर्त्तक हो, उसको उपाधि कहते है। कैसे ? जैसे नैयायिको के मत मे करण शस्कुली से अवच्छिन्न जो आकाश है, उसको श्रोत्र कहते है। इस स्थान मे करण शस्कुली श्रोत्र की उपाधि है। क्यो ? श्रोत्र के स्वरूप मे करण शस्कुली का प्रवेश

नही है और बाहर के आकाश से भिन्न करके श्रोत्र को बताती है। इससे व्यावर्त्तक है। और घटाकाश जो है सो मण परिमाण अन्न को अवकाश देता है। इस स्थान मे भी आकाश की घट उपाधि है। क्यो ? मण अन्न को अवकाश देने वाला जो आकाश है, उसके स्वरूप मे घट का प्रवेश नही है। घट पार्थिव है, उसमे अवकाश देना नही बनता है। इससे घट का स्वरूप मे प्रवेश नही बनता है और व्यापक आकाश से भिन्न करके बताता है। इससे मण अन्न को अवकाश देने वाला जो आकाश है, उसकी घट उपाधि है। वैसे अन्त करण उपहित जो चेतन है, सो साक्षी है। इस स्थान मे अन्त करण साक्षी की उपाधि है। क्यो ? साक्षी के स्वरूप मे अन्त.करण का प्रवेश नही है और प्रमेय चेतन से साक्षी को भिन्न करके बताता है। इससे एक ही अन्त - करण साक्षी की तो उपाधि है और प्रमाता का विशेषण है। इस रीति से अन्त करण उपहित जो चेतन है, वह साक्षी है। और अन्त करण विशिष्ट चेतन प्रमाता है।

जो उपाधिवाला हो, उसको उपहित कहते है। और विशेषण वाला हो उसको विशिष्ट कहते है। जो अन्त करण विशिष्ट प्रमाता है, सोई कर्त्ता भोक्ता, दु खी सुखी ससारी जीव है। यह अवच्छेदवाद की रीति है। और —

आभासवाद की रीति से जीव और साक्षी आदिक का लक्षण

आभासवाद मे आभास सहित अन्त करण जीव का विशेषण है। और आभास सहित अन्त.करण साक्षी की उपाधि है। इससे साभास अन्त करण विशिष्ट चेतन जीव है। और साभास अन्त करण उपहित चेतन साक्षी है। यद्यपि दोनो पक्षो मे विशेषण सहित चेतन जीव है, सोई ससारी है। तथापि विशेष भाग जो चेतन है, उसमे तो जन्ममरण से आदि ससार का सभव नही है। इससे विशेषण मात्र मे ससार है। सोई विशिष्ट चेतन मे प्रतीत होता है। कही तो विशेषण के धर्म का विशिष्ट मे व्यवहार होता है। और कही विशेष्य के धर्म का विशिष्ट मे व्यवहार होता है।

और कही विशेषण विशेष्य दोनो के धर्म का विशिष्ट में व्यवहार होता है । कैसे ? जैसे दड से घटाकाश का नाश होता है । इस स्थान मे विशेषण जो घट है उसका दड से नाश होता है और विशेष्य जो आकाश है उसका नाश नही बनता है। तो भी विशिष्ट जो घटाकाश है, उसका नाश प्रतीत होता है । और "कु डली पुरुष सोता है" इस स्थान मे कु डल विशेषण है और पुरुष विशेष्य है। विशेषण कु डल मे सोना नही बनता है किन्तु विशेष्य पुरुष मे सोना बनता है। और "कु डल विशिष्ट सोता है" ऐसा विशिष्ट मे व्यवहार होता है। और "शस्त्री पुरुष युद्ध मे गया है" इस स्थान मे विशेषण शस्त्र और विशेष्य पुरुष है। दोनो युद्ध मे गये है। इससे दोनो के धर्म का विशिष्ट मे व्यवहार होता है। इस स्थान मे अवछेच्दवाद मे तो अन्त करण विशेषण है। और आभासवाद मे साभास अन्त करण विशेषण है। और दोनो पक्षो मे चेतन विशेष्य है। उसमे तो जन्मादि ससार नही बनता है किन्तु विशेषण अन्त करण वा साभास अन्त करण उसका धर्म जो जन्मादिक ससार, उसका विशिष्ट चेतन मे व्यवहार करते है। व्यवहार प्रतीति और कथन को कहते है। इस रीति से आभासवाद और अवच्छेदवाद का भेद है।

आभासवाद की श्रेष्ठता

आभासवाद मे तो अन करण आभास सहित है और अवच्छेदवाद मे अत करण आभासरहित है। दोनो पक्षो मे आभासवाद श्रेष्ठ है। क्यो ? भाष्यकार ने आभासवाद अगीकार किया है। और अवच्छेदवाद मे विद्यारण्य स्वामी ने दोष भी कहा है'—यदि आभास रहित अत करण अवच्छिन्न चेतन को प्रमाता माने तो घट अवच्छिन्न चेतन भी प्रमाता होना चाहिये। क्यो ? जैसे अन्त करण भूतो का कार्य है, वैसे घट भी भूतो का कार्य है। और जैसे अत:करण चेतन का अवच्छेदक अर्थात् व्यावर्त्तक है, वैसे घट भी चेतन का अवच्छेदक है। इससे अत.करण विशिष्ट के समान घट विशिष्ट भी प्रमाता होना चाहिये। और अंत:-करण मे आभास अगीकार करने से यह दोष नही आता है। क्यो ? अत करण तो भूतो के सत्वगुण का कार्य है, इससे स्वच्छ है और

घटादिक भूतो के तमोगुण के कार्य है, इससे स्वच्छ नही है। जो स्वच्छ पदार्थ होता है, वही आभास के योग्य होता है। मलिन पदार्थ आभास के योग्य नही होता। कैसे ? जैसे काच और उसका ढकना दोनो पृथ्वी के कार्य है। परन्तु काच तो स्वच्छ है, उसमे मुख का आभास होता है। ढकना स्वच्छ नही है, इससे उसमे आभास नही होता। वैसे सत्वगुण का कार्य होने से अन्त करण स्वच्छ है उसी मे चेतन का आभास होता है। शरीरादिक और घटादिक तमोगुण के कार्य होने से स्वच्छ नही है। इससे उनमे चेतन का आभास नही होता है।

अत करण मे द्विविध प्रकाश है इससे वही प्रमाता है

इस रीति से अत करण मे द्विविध प्रकाश है। एक तो व्यापक चेतन का प्रकाश है और दूसरा आभास का प्रकाश है। शरीरादिक और घटादिको मे एक व्यापक चेतन का प्रकाश तो है। दूसरा आभास का प्रकाश नही है। इससे द्विविध प्रकाश सहित अन्त करण विशिष्ट चेतन को ही प्रमाता कहते है। एक प्रकाश सहित जो घटादिक है, उनसे सयुक्त चेतन प्रमाता नही है। जिनके मत मे अन्त करण मे आभास नही है, उनके मत मे घटादिको के समान अत करण मे भी आभास का दूसरा प्रकाश नही है, व्यापक चेतन का एक प्रकाश अन्त करण मे है। वह व्यापक चेतन का प्रकाश घटादिको मे भी है। इससे अन्त करण विशिष्ट के समान घटविशिष्ट वा शरीर विशिष्ट वा भीत विशिष्ट चेतन भी प्रमाता होना चाहिये। इस रीति से घट शरीरादिको से अन्त.-करण मे यही विलक्षणता है —अन्त करण सत्वगुण का कार्य है। इससे स्वच्छ होने से चेतन का आभास ग्रहण करने योग्य है। अन्य पदार्थ स्वच्छ नही है, इससे आभास ग्रहण करने योग्य नही है। आभास ग्रहण के योग्य जो अन्त करण है, उससे सयुक्त चेतन को ही प्रमाता कहते है। घटादिक और शरीरादिक आभास ग्रहण के योग्य नही है। इससे उनसे विशिष्ट चेतन प्रमाता नही है। इस रीति से आभासवाद ही उत्तम है, अवच्छेदवाद उत्तम नही है।

प्रमाता आदिक चार चेतन का स्वरूप

जैसे अन्त करण आभास सहित है, वैसे अन्त करण की वृत्ति भी आभाससहित ही होती है। साभास वृत्ति विशिष्टचेतन को प्रमाण चेतन कहते है। अन्त करण की घटादि विषयाकार जो वृत्ति, उसमे आरूढ चेतन को प्रमा और यथार्थज्ञान कहते है। उसके साधन जो इन्द्रिय है, उनको प्रमाण कहते है। क्यो ? विषयाकारवृत्ति मे आरूढ चेतन को प्रमा कहते है। वहाँ चेतन यद्यपि स्वरूप से नित्य है, इससे इन्द्रिय-जन्यता के अभाव से प्रमाचेतन का साधन इन्द्रिय नही है। तथापि निरुपाधिक चेतन मे तो प्रमाव्यवहार नही होता है। किन्तु विषयाकार वृत्ति उपहित चेनन मे ही प्रमा व्यवहार होता है। इससे चेतन मे प्रमा शब्द की प्रवृत्ति मे विषयाकार वृत्ति उपाधि है। सो विषयाकारवृत्ति इन्द्रियजन्य है । इन्द्रिय उसका साधन है। प्रमापने की उपाधि जो वृत्ति, उसको इन्द्रियजन्य होने से उपहित जो प्रमा उसको भी इन्द्रियजन्य कहते है। इससे इन्द्रिय को प्रमा का साधन कहते है। परन्तु अन्त करण के सब परिणाम को प्रमा नही कहते है। शरीर के भीतर जो अन्त करण, उसके विषय घटादिको तक जो परिणाम है, उसको प्रमाण कहते है। विषय से मिलकर विषय के समान जो अन्त करण का परिणाम है, उसको प्रमा कहते है। शरीर के भीतर जो अन्त.करण है, उससे लेकर घटादिक विपय तक पहुँचा जो अन्त.करण का परिणाम वही प्रमारूप को धारण करता है। इससे प्रमा का प्रमाणरूप अन्त करण की वृत्ति से अत्यत भेद नही है।

इस रीति से बाहर के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान जहा होता है, वहा अन्त करण की वृत्ति बाहर जाकर विषय जो घटादिक, उनके समान आकाररूप को धारण करती है। और शरीर के अन्तर जो आत्मा, उसका प्रत्यक्ष होता है, तब अन्त.करण की वृत्ति बाहर नही जाती है किन्तु शरीर के भीतर ही वृत्ति आत्माकार होती है। उस वृत्ति से आत्मा के आश्रित जो आवरण होता है, वह दूर हो जाता है। और

आत्मा अपने प्रकाश से उस वृत्ति मे प्रकाशित होता है। इसी कारण सें वृत्ति का विषय आत्मा कहा है। और चिदाभासरूप जो वृत्ति मे फल है, उसका विषय आत्मा नही है। इस प्रकार से साक्षी आत्मा स्वय प्रकाशरूप भान होता है। यह सिद्ध हुआ।

इन्द्रिय सबन्ध बिना "अह ब्रह्म" यह ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता है

'ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान से सकल अविद्या जाल का नाश होता है। परोक्षज्ञान से नही होता है" यह पूर्व कहा था। उसमे शका होती है - ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता है। क्यो ? इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। ब्रह्म का ज्ञान इन्द्रियजन्य नही बनता है। क्यो ? नेत्र इन्द्रिय से रूपवान का अथवा नीलादिक रूप का ज्ञान होता है। ऐसा ब्रह्म नही है। इससे नेत्र इन्द्रियजन्य ज्ञान ब्रह्म का नही बनता। वैसे त्वचा इन्द्रिय भी स्पर्श और स्पर्श के आश्रय को विषय करती है। ब्रह्मस्पर्श का आश्रय नही है और स्पर्श भी नही है। इससे त्वचाइन्द्रिय का विषय भी नही है। और रसना इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है। घ्राण से गध का ज्ञान होता है। श्रोत्र से शब्द का ज्ञान होता है। रस, गध, शब्द से ब्रह्म विलक्षण है। इससे रसना, घ्राण और श्रोत्र से ब्रह्म का ज्ञान नही होता है। और कर्मइन्द्रिय ज्ञान के साधन नही है, किन्तु वचनादिक क्रिया के साधन है। इससे उनसे तो किसी का भी ज्ञान नही होता है। इस रीति से किसी भी इन्द्रिय से ब्रह्म का ज्ञान नही बनता है। और इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। प्रत्यक्ष को ही अपरोक्ष कहते है। इससे ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान नही बनता है। किन्तु शब्द से ब्रह्म का ज्ञान होता है। जो ज्ञान शब्द से होता है, वह परोक्ष ही होता है। इससे ब्रह्म का ज्ञान भी परोक्ष ही होता है। गत प्रश्न का उत्तर —

इन्द्रिय बिना प्रत्यक्ष नही होता यह नियम नही

इन्द्रिय सबन्ध बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है, यह नियम नही है। क्यो ? जैसे सुख का और दु ख का ज्ञान होता है, सो किसी भी इन्द्रिय से नही होता है, तो भी सुख दु:ख का ज्ञान प्रत्यक्ष होता

है। इससे इन्द्रिय सबन्ध से जो ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यह नियम नही है। किन्तु विषय से वृत्ति का सबन्ध होकर विषयाकार वृत्ति जहा होती है, वहा उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। सो विषय से वृत्ति का सबन्ध कही इन्द्रिय द्वारा होता है। और कही शब्द से होता है। कैसे ? जैसे "दशम तू है" इस शब्द से दशम जो आप है, उससे अन्त करण की वृत्ति का सबन्ध होकर दशमाकार वृत्ति होती है। इससे शब्दजन्य भी दशम का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इससे विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद ही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है। कही इन्द्रियादिरूप बाह्य निमित्त से बिना ही शरीर के भीतर उत्पन्न वृत्ति द्वारा होता है उसको भी प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। चेतन का स्वरूप से तो कही भी भेद नही है। किन्तु विषय और वृत्तिरूप उपाधि का किया हुआ भेद है। सो उपाधि जब भिन्न देश मे स्थित हो, तब उस उपाधि वाले चेतन का भेद कहा जाता है।

जब विषयाकार वृत्ति हो, तब दोनो उपाधि एक देश मे स्थित होती है। इससे उस उपाधि वाले विषयचेतन और वृत्तिचेतन का अभेद कहा जाता है। उस विषयचेतन से वृत्तिचेनन के अभेद को ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण १ इन्द्रिय जन्य बाह्य घटादिको के प्रत्यक्ष ज्ञान मे अनुगत है। २ महावाक्यजन्य ब्रह्म के प्रत्यक्ष ज्ञान मे, बाह्य निमित्त बिना अन्तर उत्पन्न हुये सुख दु ख के प्रत्यक्ष ज्ञान मे, माया की वृत्तिरूप ईश्वर के ज्ञान मे और अविद्या की वृत्तिरूप रज्जु सर्पादिको के ज्ञान मे अनुगत है। प्रमाता मे सुख दु'ख हो तब सुखाकार दु.खाकार अन्त करण की वृत्ति होती है। उस वृत्ति से सुखदु:ख का सबन्ध होता है। इससे सुखदु ख के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। पूर्व उत्पन्न सुखदु.ख नष्ट हो जाने के पीछे जहाँ पुरुष को याद आये, वहा सुखाकार दु खाकार अन्त.करण की वृत्ति तो होती है। परन्तु वृत्ति के नष्ट होने पर सुखदु.ख से सबन्ध नही होता है। इससे वह ज्ञानस्मृतिरूप है, प्रत्यक्ष नही है। यद्यपि अन्त.करण के धर्म सुखदु'ख साक्षीभास्य हैं, तथापि सुखाकार दु.खाकार अन्त करण की वृत्ति द्वारा साक्षी सुखदु.ख का प्रकाश करता है। जो साक्षीभास्य पदार्थ है,

उनको भी साक्षी वृत्ति की अपेक्षा से ही प्रकाशता है। कैसे ? जैसे शुक्ति रजत साक्षीभास्य है, वहा अविद्या की वृत्ति की अपेक्षा से ही साक्षी रजत को प्रकाशता है। परन्तु सुखदु ख के प्रकाश में अन्त करण की वृत्ति साक्षी की सहायक है। और मिथ्या रजतादिको के प्रकाश में अविद्या की वृत्ति सहायक है। इस रीति से साक्षीभास्य पदार्थ के ज्ञान मे भी वृत्ति की अपेक्षा है। सो वृत्ति जहा इन्द्रियादिक बाह्य साधन से होती है, उसके विषय को साक्षीभास्य नही कहते है।

सुखदु ख को विषय करने वाली वृत्ति मे बाह्य इन्द्रियादिक हेतु नही है। किन्तु जब सुखादिक उत्पन्न होते है, उसी काल मे अन्य साधन की अपेक्षा बिना सुखाकार दु खाकार अन्त करण की वृत्ति होती है। उस वृत्ति मे आरूढ साक्षी सुखदु ख को प्रकाशता है। इससे सुखदु ख को साक्षीभास्य कहते है। और —

ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष सभव है

बाह्य जो घटादिक है, उनसे अन्त करण की वृत्ति का सबन्ध नेत्रादिक इन्द्रिय द्वारा होता है। इससे घटादिक साक्षीभास्य नहीं है। वैसे ब्रह्माकार अन्त करण की वृत्ति होती,है। सो अत करण की वृत्ति बाहर नही जाती है। किन्तु शरीर के अन्तर ही होती है। उस वृत्ति से ब्रह्म का सबन्ध है। इससे ब्रह्म ज्ञान भी सुखदु ख के ज्ञान के समान प्रत्यक्षरूप है। परन्तु सुखाकार दु'खाकार वृत्ति मे बाह्य साधन की अपेक्षा नही है। इससे सुखदु'ख साक्षीभास्य हैं। और जो ब्रह्माकार अन्त करण की वृत्ति है, उसमें तो गुरु द्वारा वेद वचन का श्रोत्र से संबन्ध बाह्य साधन चाहिये। इससे ब्रह्म साक्षीभास्य नही है। इस रीति से जहा विषय से वृत्ति का सबन्ध होता है, वहा प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता हैं। "अह ब्रह्मास्मि" इस वृत्ति का विषय जो ब्रह्म है, उससे वृत्ति का सबन्ध है। इससे ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष सभव है।

जहा धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है, वहां धूम का ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष नही है। क्यों ? नेत्र द्वारा अन्त करण की वृत्ति का धूम से संबन्ध है। इससे धूम के ज्ञान को

प्रत्यक्ष कहते है। और अनुमान से अन्त करण की वृत्ति शरीर के अन्तर अग्नि के आकार को ग्रहण करने वाली तो होती है। परन्तु अग्नि से वृत्ति का सबन्ध नही है। इससे अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष नही है। इस रीति से जहा वृत्ति से विषय का सबन्ध होता है, उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है। यह नियम नही है। जैसे सुखदु ख का ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है और प्रत्यक्ष है, वैसे दशम पुरुष का ज्ञान शब्दजन्य है, तो भी प्रत्यक्ष है। इस रीति से गुरु द्वारा श्रवण किया जो महावाक्यरूप वेद का शब्द, उससे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान भी प्रत्यक्ष ही सभव है।

वेद गुरु से अद्वैत ज्ञान नही

आपने कहा .—"गुरुमुख द्वारा श्रवण करे वेद वाक्य से अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होता है" इसमे मेरे को शका होती है —वेद गुरु सत्य हो तब तो अद्वैत की हानि होगी। और असत्य हो तो जैसे मृग-तृष्णा के जल से प्यास नही मिटती है वैसे उनसे पुरुषार्थ की प्राप्ति नही होगी। इससे दोनो रीति से वेद गुरु से अद्वैत ज्ञान नही बनता है। उत्तर —ससाररूप दु ख मिथ्या है। इससे उसकी निवृत्ति के साधन वेद गुरु मिथ्या ही चाहिये। मिथ्या के नाश के लिये सत्य साधन की अपेक्षा नही होती है। जैसे स्वप्न का मिथ्या दु ख जाग्रत के सत्य साधनो से नही मिटता, स्वप्न के मिथ्या साधनो से ही मिटता है, वैसे मिथ्या ससार दु ख मिथ्या वेद गुरु से ही मिटता है। और तुमने कहा —"मिथ्या वेद गुरु मानोगे तो जैसे मृगतृष्णा का मिथ्या जल प्यास को नही मिटाता है, वैसे मिथ्या वेद गुरु से भी ससार दु ख का नाश नही होगा। और मिथ्या वेद गुरु से ससार दु ख का नाश होता है तो मृगतृष्णा के जल से भी प्यास मिटनी चाहिये ? उक्त शका का समाधान —यद्यपि मिथ्या मृगतृष्णा के जल से किसी की भी प्यास नही मिटी है। और मिथ्या वेद गुरु से दु ख के नाश के समान मिथ्या जल से प्यास मिटनी चाहिये। और मिटती नही है। वैसे मिथ्या वेद गुरु से ससार का भी नाश नही बनता है। तो भी तुम्हारा दृष्टान्त

विषम है। क्यो ? मृगतृष्णा के जल मे और प्यास मे सत्ता का भेद है।

समसत्ता वाले ही साधक बाधक

भवदु ख और वेद गुरु की समसत्ता अर्थात् एक सत्ता है। इससे वेद गुरु से भवदु ख का नाश होता है। जिनकी आपस मे समसत्ता हो, उनकी आपस मे साधकता और बाधकता होती है। कैसे ? जैसे मृत्तिका और घट की समसत्ता है। इससे मृत्तिका घट का साधक है। अग्नि और काष्ठ की समसत्ता है। इससे अग्नि काष्ठ का बाधक है। साधक अर्थात् कारण। और बाधक अर्थात् नाशक। मृगतृष्णा के जल की और प्यास की समसत्ता नही है। इससे मृगतृष्णा का जल प्यास का बाधक नही है। इस स्थान मे यह रहस्य है —चेतन मे परमार्थ सत्ता है और चेतन से भिन्न मिथ्या पदार्थो मे दो प्रकार की सत्ता है :—एक तो व्यवहार सत्ता है और दूसरी प्रतिभास सत्ता है। जिस पदार्थ का ब्रह्मज्ञान बिना बाध नही होता किन्तु ब्रह्मज्ञान से बाध होता है, उस पदार्थ की व्यवहार सत्ता होती है। सो व्यवहार सत्ता ईश्वर सृष्टि मे है। क्यो ? देह इन्द्रियादिक प्रपच ईश्वर सृष्टि है। उसका ब्रह्मज्ञान से बिना बाध नही होता है। ब्रह्मज्ञान से ही बाध होता है। यद्यपि ईश्वर सृष्टि के पदार्थो का ब्रह्मज्ञान से बिना नाश तो होता है। परन्तु ब्रह्मज्ञान से बिना बाध नही होता है। अपरोक्ष मिथ्या निश्चय का नाम बाध है। सो अपरोक्ष मिथ्या निश्चय ईश्वर सृष्टि के पदार्थो मे ब्रह्मज्ञान से प्रथम किसी को भी नही होता है। ब्रह्मज्ञान से अनन्तर ही होता है। इसमे मूल अविद्या के कार्य जो जाग्रत के पदार्थ ईश्वर सृष्टि, उसमे व्यवहार सत्ता है। जन्म मरण बन्ध मोक्ष आदिक व्यवहार को सिद्धि करने वाली जो सत्ता (होना) उसको व्यवहार सत्ता कहते है।

ब्रह्मज्ञान से बिना ही जिनका बाध हो उन पदार्थों की प्रतिभास सत्ता होती है। कैसे ? जैसे ब्रह्मज्ञान से बिना ही शुक्ति, जेवरी, मरुस्थल, आदिको के ज्ञान से रूपा, सर्प, जल आदिको का बाध होता है।

उनमे प्रतिभास सत्ता है। प्रतिभास अर्थात् प्रतीतिमात्र जो सत्ता (होना) उसको प्रतिभास सत्ता कहते है। तूला अविद्या के कार्य रूपा आदिक पदार्थो का प्रतीतिमात्र ही होना है, इससे उनकी प्रतिभास सत्ता है।

घटादि जड पदार्थ उपहित चेतन को आच्छादन करने वाली अविद्या को तूला अविद्या कहते है। इमी को अवस्थाज्ञान और सादि दोष वाली अविद्या भी कहते है। सो तूला अविद्या अश भेद से नाना है और भिन्न भिन्न पदार्थो को आवरण करती है। जिस घट आदि पदार्थाकार अन्त करण की वृत्ति होती है, उस पदार्थ का आच्छादक तूला अविद्या का अश नष्ट होता है। फिर जब वृत्ति अन्य देश मे जाती है तब वहा और अविद्या अश उत्पन्न होता है। इससे तूला अविद्या के नाश निमित्त ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा नही है। किन्तु वह प्रतिभासिक सत्तावाली होने से घटादिक के ज्ञान से ही उसका नाश होता है। जिसका तीन काल मे बाध नही होता है, उसकी परमार्थ सत्ता होती है। चेतन का बाध कभी नही होता है। इससे चेतन की परमार्थ सत्ता है।

वेदगुरु और ससार दु:ख की समसत्ता

इस रीति से वेदगुरु और संसार दु ख इन दोनो की एक व्यवहार सत्ता होने से आपस मे समसत्ता है। इससे मिथ्या वेद गुरु से मिथ्या भवदु.ख का नाश बनता है। और क्षुधापिपासा प्राण के धर्म है। प्राण और उसके धर्मों का ब्रह्मज्ञान से बिना बाध नही होता है। इससे पिपासा की व्यवहार सत्ता है। मृगतृष्णा के जल का ब्रह्मज्ञान से बिना ही मरुस्थल के ज्ञान से बाध होने से मृगतृष्णा के जल की प्रतिभास सत्ता है। इससे प्यास और मृगतृष्णा के जल की समसत्ता नही होने से उस जल से प्यास का नाश नही होता है। इस प्रकार से दार्ष्टांत मे बाधक वेदगुरु और बाध्य ससार दु ख दोनों की सत्ता एक है। और दृष्टांत में जल और प्यास की सत्ता का भेद है। इससे दृष्टात विषम अर्थात् दार्ष्टांत के सम नहीं है। शका —ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है, ऐसा आप कहते हो। फिर उन मिथ्या पदार्थो मे शुक्ति

रूपा, रज्जु सर्प, मृगतृष्णा का जल आदिको का ब्रह्मज्ञान से बिना ही बाध और ससार दु.ख का ब्रह्मज्ञान से अनन्तर बाध । यह भेद किस कारण से करते हो ?

उक्त शका का समाधान

यद्यपि ब्रह्म से भिन्न सकल अविद्या का कार्य है, इससे मिथ्या है । उसमें लेशमात्र भी सत्य नही है । परन्तु जिसके अज्ञान से जो उत्पन्न होता है, उसके ज्ञान से ही उसका बाध होता है । कैसे ? जैसे शुक्ति, रज्जु, मरुस्थल आदिको के अज्ञान से रूपा, सर्प, जल आदिक उत्पन्न होते है । उनका बाध शुक्ति, रज्जु, मरुस्थल आदिको के ज्ञान से ही होता है । वैसे ब्रह्म के अज्ञान से जो जन्म मरणादिक ससार दुख उत्पन्न होता है, उसका बाध भी ब्रह्मज्ञान से ही होता है। शका —ब्रह्म के अज्ञान से ससार कैसे उत्पन्न होता है ? स्वप्न के समान मिथ्या ही उत्पन्न होता है । चैतन से भिन्न अज्ञान और उसके कार्य को अनात्मा कहते है । सो अनात्म पदार्थ सर्व स्वप्न के समान मिथ्या है ।

प्रश्न —स्वप्न के दृष्टान्त से जाग्रत् पदार्थ मिथ्या सभव नही ?

क्यो ? पूर्व जो अत्यन्त अज्ञात पदार्थ है, उसका स्वप्न मे ज्ञान नही होता है । किन्तु जाग्रत् मे जिसका अनुभव ज्ञान हो, उसकी स्वप्न मे स्मृति होती है । (नैयायिक स्वप्न को जाग्रत् मे अनुभव किये हुये पदार्थों की स्मृतिरूप मानस विपर्यास कहते है ।) इससे स्मृति ज्ञान के विषय पदार्थ सत्य होने से उनका स्वप्न मे स्मृतिरूप ज्ञान भी सत्य है । इससे स्वप्न के दृष्टात से जाग्रत् के पदार्थों को मिथ्या कहना सभव नही ।

स्वप्न मिथ्या नही

अन्य प्रकार से स्वप्न के विषय पदार्थो की सत्यता का प्रतिपादन करते है —अन्य प्रकार से भी स्वप्न का ज्ञान और उसके विषय पदार्थ सत्य है, मिथ्या नही है । क्यो ? स्वप्न अवस्था मे स्थूल शरीर को त्याग कर लिंग शरीर बाहर निकल कर सच्चे गिरि समुद्रादिकों को देखता है, इससे स्वप्न मिथ्या नही है ।

उत्तर —जाग्रत् के पदार्थो की स्वप्न मे स्मृति नही

पूर्वकाल सबधी पदार्थ का ज्ञान स्मृति होती है। कैसे ? जैसे पूर्व देखे हुये हस्ती की "सो हस्ती है" ऐसी स्मृति होती है। और "यह हस्ती सन्मुख स्थित है" ऐसा ज्ञान स्मृति नही होता है, किन्तु प्रत्यक्ष होता है। स्वप्न मे तो "यह हस्ती आगे स्थित है, यह पर्वत है, यह नदी है।" ऐसा ज्ञान होता है। इससे स्वप्न मे जाग्रत् मे देखे हुये पदार्थो की स्मृति नही होती है। किन्तु हस्ती आदिको का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। और यदि ऐसे कहे —"जाग्रत् मे जाने हुये पदार्थो का ही स्वप्न मे ज्ञान होता है। अज्ञात पदार्थ का ज्ञान नही होता है। इससे जाग्रत् पदार्थों के ज्ञान के सस्कारो से स्वप्न के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। सस्कार-जन्य ज्ञान को स्मृति कहते है। इससे स्वप्न का ज्ञान स्मृतिरूप है।" सो शका नही बनती है। क्यो ? प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का होता है। एक अभिज्ञारूप प्रत्यक्ष होता है। और दूसरा प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष होता है। केवल इन्द्रिय सबन्ध से जो ज्ञान होता है, उसको अभिज्ञा प्रत्यक्ष कहते है। कैसे ? जैसे नेत्र के सबन्ध से हस्ती का "यह हस्ती है" ऐसा ज्ञान अभिज्ञा प्रत्यक्ष है। और पूर्वज्ञान के सस्कारो से और इन्द्रिय सबन्ध से जो ज्ञान होता है, उसको प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष कहते है। कैसे ? जैसे पूर्व देखे हुये हस्ती का "सो हस्ती यह है" ऐसा ज्ञान होता है, उसको प्रत्य-भिज्ञा प्रत्यक्ष कहते है। वहा पूर्व हस्ती के ज्ञान के सस्कार और हस्ती से नेत्र का सबन्ध प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का हेतु है। "सस्कारजन्य ज्ञान स्मृति ही होती है" यह नियम नही है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष भी सस्कारजन्य होता है। परन्तु इन्द्रिय सबन्ध बिना केवल सस्कारजन्य ज्ञान होता है, उसको स्मृतिज्ञान कहते हैं। स्वप्न मे हस्ती आदिको का ज्ञान केवल सस्कार जन्य नही है किन्तु निद्रारूप दोषजन्य है और हस्ती आदिको के समान स्वप्न मे कल्पित इन्द्रिय भी है, इससे इन्द्रियजन्य है। यद्यपि स्वप्न के पदार्थ साक्षीभास्य हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय नही है। तथापि अविवेकी की दृष्टि से स्वप्न के ज्ञान को इन्द्रियजन्य कहते है। इस रीति से स्वप्न का ज्ञान जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति नही है और '—

निद्रा से जागकर पुरुष ऐसे कहता है —मैंने स्वप्न मे हस्ती

आदिको को देखा था" यदि स्वप्न मे हस्ती आदिको की स्मृति हो तो जागकर ऐसा कहना चाहिये "मैने स्वप्न मे हस्ती आदिको का स्मरण किया था" ऐसे कोई भी नही कहता है। इससे जाग्रत् के पदार्थो की स्वप्न मे स्मृति नही होती है। "जाग्रत् मे जो देखे हुये तथा सुने हुये पदार्थ है, उनका ही स्वप्न मे ज्ञान होता है" यह नियम नही है। किन्तु जाग्रत् मे अज्ञात पदार्थों का भी स्वप्न मे ज्ञान होता है। कदाचित् स्वप्न मे ऐसे विलक्षण पदार्थ प्रतीत होते है, जो सब जन्म मे कभी भी देखने, सुनने मे नही आये हो। इससे उनका ज्ञान स्मृति नही है। यद्यपि "इस जन्म के पदार्थो के ज्ञान के सस्कार ही स्मृति के हेतु है।" यह नियम नही है किन्तु अन्य जन्म के ज्ञान के सस्कारो से भी स्मृति होती है, क्यो ? अनुकूल ज्ञान से प्रवृति होती है। अनुकूल ज्ञान बिना प्रवृत्ति नही होती है। इससे बालक की स्तनपान मे जो प्रथम प्रवृत्ति होती है, उसका हेतु बालक को भी "स्तनपान मेरे अनुकूल है" ऐसा ज्ञान होता है। वहा अन्य जन्म मे जो स्तनपान मे अनुकूलता अनुभव करी थी, उसके सस्कारो से बालक को प्रथम अनुकूलता की स्मृति होती है। इससे जन्मातर के ज्ञान के सस्कारो से भी स्मृति होती है। वैसे इस जन्म मे अज्ञात पदार्थो की भी अन्य जन्म के ज्ञान के सस्कारो से स्वप्न मे स्मृति सभव है।

तथापि कोई पदार्थ स्वप्न मे ऐसा भी प्रतीत होता है, जिसका जाग्रत मे किसी भी जन्म मे ज्ञान सभव नही है। जैसे अपने मस्तक छेदन को आप नेत्रो से स्वप्न मे देखता है। वहा अपना मस्तक छेदन नेत्रो से जाग्रत मे देखना सभव नही है। इससे जाग्रत पदार्थो के ज्ञान के सस्कारो से स्वप्न मे स्मृति नही होती है। ऐसे स्वप्न की स्मृतिरूपता के खडन मे अनेक युक्तिया ग्रन्थकारो ने कही है। परन्तु स्वप्न को स्मृति मानने मे पूर्व उक्त दूषण अतिप्रबल है —स्मृतिज्ञान का विषय सन्मुख प्रतीत नही होता है। और स्वप्न के हस्ती आदिक स्वप्नकाल मे सन्मुख प्रतीत होते है। इससे हस्ती आदिको की स्वप्न मे स्मृति नही है।

स्वप्न मे लिग शरीर बाहर नही जाता

"लिग शरीर बाहर निकल कर सच्चे गिरि समुद्रादिको को देखता है" इसका उत्तर —यदि स्थूल शरीर से निकलकर लिग शरीर बाहर सच्चे गिरि समुद्रादिको को देखता हो तो लिग शरीर के निकलने से जैसे मरण अवस्था मे शरीर भयकर रूप प्रतीत होता है, वैसे स्वप्न अवस्था मे भी लिग शरीर के अभाव से स्थूल शरीर अमगल अर्थात् भयकर होना चाहिये। तथा प्राणरहित मृतक समान होना चाहिये। और स्वप्नावस्था मे ऐसा नही होता है। किन्तु स्वप्न अवस्था मे स्थूल शरीर प्राण सहित होता है और जाग्रत के समान सुन्दर अर्थात् मगलरूप होता है। इससे स्थूल शरीर के बाहर लिग शरीर स्वप्नावस्था मे नही निकलता है। और यदि ऐसे कहे —स्वप्न अवस्था मे प्राण तो नही जाता है। किन्तु अन्त करण और इन्द्रिय बाहर पर्वतादिको मे जाकर उनको देखते हैं। प्राण बाहर नही जाता है। इससे स्थूल शरीर मरण अवस्था के समान भयकर नही होता है। और प्राण का बाहर जाने का कुछ प्रयोजन भी नही है। क्यो ? प्राण मे ज्ञानशक्ति नही है। किन्तु क्रियाशक्ति है। इससे बाहर के पदार्थो के ज्ञान की सामर्थ्य जिनमे है, वे ही जाते है। ज्ञानशक्ति अन्त करण और ज्ञान इन्द्रियो मे है। प्राण के समान कर्म इन्द्रियो मे भी ज्ञानशक्ति नही है। क्रिया शक्ति है। इससे प्राण और कर्मइन्द्रिय शरीर मे रहते है। इसी से मरण निमित्त से दाहादिक होते हैं, उनसे रक्षा होती है। बाहर अन्त - करण, ज्ञान इन्द्रिय जाते है और सच्चे पर्वतादिको को देखकर प्राण और कर्म इन्द्रियो के समीप आ जाते है। सो भी नही बनता है। क्यों ? स्थूल सूक्ष्म समाज मे सर्व का स्वामी प्राण है। प्राण बिना शरीर को देखकर क्षणमात्र भी नही रहने देते है। बाहर ले जाते है। दाह करते है, स्पर्श से स्नान करते हैं। इससे स्थूल शरीर का सार प्राण है। वैसे सूक्ष्म शरीर मे भी प्राण ही प्रधान है। एक समय प्राण इन्द्रि-यादिक परस्पर श्रेष्ठता का विवाद करके प्रजापति के पास गये (यहां प्राण इन्द्रिय शब्द से उनके अभिमानी देवो का ग्रहण है) और

बोले —हे भगवन् ! हमारे मे कौन श्रेष्ठ है ? तब प्रजापति ने कहा :— तुम सब स्थूल शरीर मे प्रवेश करके एक एक निकलते जाओ, जिस के निकलने से शरीर अमगलरूप होकर गिर पडे, वही तुम्हारे मे श्रेष्ठ है ।

प्रजापति के वचन से नेत्रादिक इन्द्रिया एक एक करके निकलने लगी । तब एक एक के अभाव से अधादिरूप शरीर की स्थिति देखने मे आई अर्थात् नेत्र के निकलने से अधा, श्रवण के निकलने से बधिर आदि होकर शरीर स्थित रहा, गिरा नही । किन्तु प्राण निकलने का उद्योग करते ही शरीर गिरने लगा । तब सर्व ने यह निश्चय किया । हमारा सर्व का स्वामी प्राण है । इससे जब तक शरीर मे प्राण रहता है, तब तक सब रहते है । शरीर से प्राण के निकलते ही सब निकल जाते है । इससे सूक्ष्मसमाज का राजा के समान प्राण ही प्रधान है। उसके निकले बिना अन्त करण, ज्ञान इन्द्रिय बाहर नही निकलते है । किवा अन्त करण और ज्ञानइन्द्रिय भूतो के सत्वगुण के कार्य है । उनमे ज्ञानशक्ति है, क्रियाशक्ति नही है । प्राण मे क्रियाशक्ति है । मरण समय प्राण के बल से ही लिगशरीर इस स्थूलशरीर को त्यागकर लोकान्तर को जाता है और प्राण के ही बल से इन्द्रिय द्वारा अंत करण की वृत्ति बाहर घटादिको के समीप जाती है । प्राण के सहारे बिना अत करणादिको का बाहर गमन सभव नही है । इसी कारण से योग शास्त्र मे कहा है —"प्राण निरोध बिना मन का निरोध नही होता । प्राण के सचार से मन का सचार होता है । प्राण निरोध से मन का निरोध होता है ।" इससे मन का निरोधरूप जो राजयोग, उसकी जिसको इच्छा हो, वह प्राण निरोध रूप हठ योग का अनुष्ठान करे । इससे भी प्राण के अधीन अत करण का गमन है । प्राण के निकले बिना अत करण और ज्ञान इन्द्रिय बाहर नही निकलते है । और स्वप्न अवस्था मे स्थूल शरीर प्राण समेत प्रतीत होता है । इससे "बाहर जाकर सच्चे पदार्थो को स्वप्न मे देखता है" यह सभव नही है ।

किवा कोई पुरुष अपने सबन्धी से स्वप्न मे मिलकर जो व्यवहार करता है, तो जागकर वह सबन्धी मिले तब कहना चाहिये । रात्रि को

हम मिले थे और अमुक व्यवहार किया था। क्यो ? पूर्व पक्ष की रीति से तो बाहर निकलकर उस सबन्धी से मिलकर सच्चा व्यवहार किया है। इससे उसके मिलने का और व्यवहार का ज्ञान सबन्धी को होना चाहिये और मिले तब सबन्धी को भी कहना चाहिये। सिद्धान्त मे तो सबन्धी और उसका मिलाप सब अतर ही कल्पित है। किंवा यदि बाहर जाकर सच्चे पदार्थो को देखना है, तो रात्रि मे सोया हुआ पुरुष हरिद्वार पुरी के महल मध्याह्न के सूर्य से तपे हुये गगा से पूर्व और नील पर्वत गगा से पश्चिम देखता है। वहाँ रात्रि मे मध्याह्न का सूर्य नही है। गगा से पूर्व दिशा मे हरिद्वार पुरी नही है। और गगा से पश्चिम नील पर्वत नही है। इससे भी सच्चे पदार्थो का देखना स्वप्न मे असभव है और जाग्रत् की स्मृति, अथवा ईश्वरकृत पर्वतादिको को देखने बाहर निकलकर देखने जाता है तब स्वप्न मे ज्ञान होता है। इन दोनो पक्षो का निराकरण किया।

सिद्धात :—जाग्रत् स्वप्न समान

जाग्रत् के पदार्थो की स्मृति और बाहर लिग शरीर का निकलना तो सभव नही है। तथापि जाग्रत् के समान ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी स्वप्न मे प्रतीत होती है। इससे कठ की हिता नाडी के अतर सब कुछ उत्पन्न होता है। सब प्रमाण मे प्रधान वेद है, वेद ने यह कहा है। उपनिषद् मे यह प्रसग है :—"जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न मे नही प्रतीत होते है। किन्तु रथ और घोडे तथा मार्ग, वैसे रथ मे बैठनेवाले स्वप्न मे नवीन उत्पन्न होते है। इससे पर्वत, समुद्र, नदी, वन, ग्राम, पुरी, सूर्य, चन्द्र जो कुछ स्वप्न मे दीखते है, वे सब नवीन उत्पन्न होते हैं। यदि स्वप्न मे पर्वतादिक नही हों, तो उनका प्रत्यक्षज्ञान स्वप्न में होता है सो नही होना चाहिये। क्यो ? विषय से इन्द्रिय सबन्ध वा अन्त.करण की वृत्ति का सबन्ध प्रत्यक्षज्ञान का हेतु है। इससे पर्वतादिक विषय और उनके ज्ञान के साधन इन्द्रिय तथा अत:-करण- सब अतर उत्पन्न होते है। यद्यपि स्वप्न के पदार्थ शुक्ति रजतादिको के समान साक्षीभाष्य है। अन्त करण और इन्द्रियो का

स्वप्न के ज्ञान मे उपयोग नहीं है। इससे ज्ञेय जो पर्वतादिक हैं। उनकी ही उत्पत्ति स्वप्न मे माननी योग्य है। ज्ञाता ज्ञान और इन्द्रियो की उत्पत्ति माननी योग्य नही है। तथापि जैसे स्वप्न पर्वतादिक प्रतीत होते है, वैसे इन्द्रिय अन्त करण प्राण सहित स्थूल शरीर भी स्वप्न मे प्रतीत होता है। इससे उनकी भी उत्पत्ति माननी चाहिये।

किंवा स्वप्न के पदार्थो मे नेत्रादिको की विषयता भान होती है। सो व्यवहारिक नेत्रादिको की विषयता तो स्वप्न के प्रातिभासिक पदार्थो मे नही बनती है। क्यो ? समसत्ता वाले पदार्थ ही आपस मे साधक बाधक होते है। इससे व्यवहारिक नेत्रादिक शरीर मे है भी तो भी उनसे स्वप्न के पदार्थों की विषम सत्ता होने से, उनके ज्ञान की विषयता स्वप्न के पर्वतादिको को नही बनती है। किंवा व्यावहारिक जो इन्द्रिय है, सो अपने अपने गोलको को त्यागकर कार्य करने मे समर्थ नही होती है। और स्वप्न अवस्था मे हस्तपाद वाक् के गोलक तो निश्चल दूसरे को दीखते है और हस्त मे द्रव्य ग्रहण करके पुकारता हुआ दौडता है। इससे स्वप्न मे इन्द्रियो की उत्पत्ति अवश्य माननी चाहिये। वैसे सुख दु ख और उनका ज्ञान तथा सुख दु ख ज्ञान का आश्रय प्रमाता, स्वप्न मे प्रतीत होता है। और बिना हुये पदार्थ की प्रतीति नही होती है। इससे सब त्रिपुटी समाज स्वप्न मे उत्पन्न होता है। अनिर्वचनीय ख्याति की यह रीति है —जितने भ्रमज्ञान है, उनके विषय सब अनिर्वचनीय उत्पन्न होते है। विषय बिना कोई ज्ञान नही होता है। यह सिद्धात है। अन्य शास्त्रो के मत मे तो अन्य पदार्थ का अन्य रूप से भान होता है, उसको भ्रम कहते है। सिद्धान्त मे तो जैसा पदार्थ होता है, वैसा ही ज्ञान होता है। इससे भ्रमस्थल मे भी विषय की उत्पत्ति अवश्य होती है। विषय बिना ज्ञान नही होता है। इस रीति से स्वप्न मे त्रिपुटी की प्रतीति होने से सब समाज उत्पन्न होता है। इसमे ऐसी शका है —

स्वप्न के जो पदार्थ प्रतीत होते है, उनको उत्पत्ति अगीकार हो

तो जैसे स्वप्न के दृष्टांत से जाग्रत् के पदार्थ सिद्धान्त मे मिथ्या कहे है, वैसे जाग्रत् के पदार्थो के समान उत्पत्ति वाले होने से स्वप्न के पदार्थ भी सत्य होने चाहिये। और स्वप्न मे भीतर पदार्थो की उत्पत्ति नही माने तब तो यह दोष नही आता है। क्यो ? जाग्रत् के पदार्थ तो उत्पन्न होकर प्रतीत होते है और स्वप्न में पदार्थ बिना हुये ही प्रतीत होते है। इससे स्वप्न मे बिना हुये पदार्थो का ज्ञान भ्रमरूप होता है। उनकी उत्पत्ति माननी योग्य नही है।

उक्त शका का समाधान

जिस वस्तु की उत्पत्ति मे जितनी देश कालादि कारण सामग्री होती है, उतनी सामग्री बिना उत्पन्न हो, उसको मिथ्या कहते है। स्वप्न के हस्ती आदिको की उत्पत्ति के योग्य देश काल नही है। बहुत काल मे और बहुत देश मे उत्पन्न होने योग्य हस्ती आदिक क्षणमात्र काल मे सूक्ष्म कठ देश मे उत्पन्न होते है। इससे मिथ्या है। यद्यपि स्वप्न अवस्था मे काल और देश भी अधिक प्रतीत होता है। तथापि अन्य पदार्थों के समान स्वप्न मे अधिक काल और अधिक देश भी अनिर्वचनीय प्रातिभासिक उत्पन्न होता है। क्यो ? विषय बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है और स्वप्न मे अधिक देशकाल का ज्ञान होता है। व्यावहारिक देश काल न्यून है। इससे प्रातिभासिक उत्पन्न होते है। परन्तु स्वप्न अवस्था मे उत्पन्न हुये जो प्रातिभासिक देशकाल सो स्वप्न अवस्था के हस्ती आदिको के कारण नही है। क्यो ? कारण होता है वह पहले उत्पन्न होता है। और कार्य पीछे उत्पन्न होता है। स्वप्न के देश काल और हस्ती आदिक एक ही समय मे होते है। इससे उनका कार्य कारण भाव नहीं बनता है।

और व्यावहारिक देशकाल न्यून है। हस्ती आदिको के योग्य नही है। इससे देश कालरूप सामग्री बिना उत्पन्न होते हैं। इसलिये स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं। और भी माता से आदि हस्ती आदिकों की सामग्री स्वप्न मे नही है। यद्यपि स्वप्न में प्राणी पदार्थों के माता पिता भी प्रतीत होते है। तथापि स्वप्न के माता पिता पुत्र की उत्पत्ति के कारण

नही है। क्यो ? माता पिता और पुत्र एकक्षण मे साथ ही उत्पन्न होते है। इससे उनका कार्य कारणभाव नही बनता है। जिस निद्रा सहित अविद्या से स्वप्न के पदार्थ उत्पन्न होते है, सोई अविद्या उन पदार्थो मे मातापना, पितापना और पुत्रपना उत्पन्न करती है। इस रीति से स्वप्न के पदार्थो की उत्पत्ति मे अन्य कोई भी सामग्री नही है। किन्तु अविद्या ही निद्रारूप दोष सहित कारण है। जो दोष सहित अविद्या से जन्य हो, सो शुक्ति रजत के समान मिथ्या होता है। इससे स्वप्न के पदार्थ सत्य नही है, मिथ्या है। उनका उपादान कारण अन्त'करण है वा साक्षात् अविद्या ही उनका उपादान कारण है। पहले पक्ष मे साक्षी चेतन स्वप्न का अधिष्ठान है और दूसरे पक्ष मे ब्रह्मचेतन स्वप्न का अधिष्ठान है। इस रीति से अन्त करण अथवा अविद्या का परिणाम और चेतन का विवर्त्त स्वप्न है। इसमे ऐसी शका होती है —दूसरे पक्ष मे ब्रह्मचेतन स्वप्न का अधिष्ठान कहा है और अविद्या उपादान कारण कही है। वहाँ अधिष्ठान ज्ञान से कल्पित की निवृत्ति होती है और स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म है। इससे ब्रह्मज्ञान बिना अज्ञानी को जागरण मे स्वप्न की निवृत्ति नही होनी चाहिये।

अन्य शका —जैसे स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान कारण अविद्या है, वैसे वेदान्त सिद्धान्त मे जाग्रत् के व्यावहारिक पदार्थो का भी अधिष्ठान ब्रह्म है और उपादान कारण अविद्या है। इससे जाग्रत् के पदार्थों को व्यावहारिक कहते है और स्वप्न को प्रातिभासिक कहते हैं। ऐसा भेद नही होना चाहिये। क्यो ? दोनो का अधिष्ठान ब्रह्म है और उपादान कारण अविद्या है। इससे जाग्रत् स्वप्न दोनो व्यावहारिक होने चाहिये वा दोनो प्रातिभासिक होने चाहिये।

सो दोनो शका नही बनती हैं। क्यो ? प्रथम शका का यह समाधान है '—निवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक कारण सहित कार्य का विनाशरूप अत्यन्त निवृत्ति। सो तो स्वप्न की जाग्रत् मे ब्रह्मज्ञान बिना नही होती है। दूसरी दंड के प्रहार से जैसे घट का मृत्तिका मे लय होता है, वैसे स्वप्न का हेतु जो निद्रादोष, उसके नाश से वा स्वप्न की

विरोधी जाग्रत् की उत्पत्ति से अविद्या मे लयरूप निवृति स्वप्न की ब्रह्म ज्ञान बिना सभव है। और जो शका करी थी —"जाग्रत् स्वप्न दोनो समान होने चाहिये।" सो भी नही बनती है। क्यो ? जाग्रत् के देहादिक पदार्थो की उत्पत्ति मे तो अन्य दोष रहित केवल अनादि अविद्या ही उपादान कारण है। और स्वप्न के पदार्थों मे सादि निद्रादोष भी अविद्या का सहायक है। इससे अन्य दोष रहित केवल अविद्याजन्य को व्यवहारिक कहते है। और सादिदोष सहित अविद्याजन्य को प्रातिभासिक कहते है। स्वप्न के पदार्थ निद्रादोष सहित अविद्याजन्य होने से प्रातिभासिक है। और जाग्रत् के पदार्थ अन्य दोष रहित अविद्याजन्य होने से व्यावहारिक कहे जाते है। इस रीति से स्वप्न के पदार्थो मे जाग्रत् पदार्थो से विलक्षणता है। परन्तु यह सपूर्ण तीन प्रकार की सत्ता मानकर स्थूल दृष्टि से कही है। विचार दृष्टि से तीन प्रकार की सत्ता नही बनती है। और जाग्रत् स्वप्न की परस्पर विलक्षणता भी नही बनती है। यद्यपि वेदात परिभाषादिक ग्रथो मे पूर्व प्रकार से व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों का भेद कहा है। इससे तीन सत्ता मानी है। वैसे विद्यारण्य स्वामी ने भी तीन सत्ता मानी है। क्यो ? यह प्रसग उन्होने लिखा है —दो प्रकार के देहादिक पदार्थ है —एक तो ईश्वर रचित है, सो बाह्य हैं और दूसरे जीव के सकल्प रचित है। सो मनोमय अर्थात् अतर है। उन दोनो मे जीव सकल्प से रचित अतर मनोमय साक्षीभास्य है। और ईश्वररचित बाह्य है, सो प्रमाता प्रमाण के विषय है।

और अतर मनोमय देहादिक ही जीव को सुखदु ख के हेतु है। बाह्य जो ईश्वररचित है, सो सुखदु ख के हेतु नही होते है। इससे अतर मनोमय पदार्थों की निवृत्ति मुमुक्षु को अपेक्षित है। बाह्यप्रपच सुखदु:ख का हेतु नही है। इससे उसकी निवृत्ति अपेक्षित नही है। दृष्टात :—जैसे दो पुरुषो के दो पुत्र विदेश मे गये हो, उनमे एक के पुत्र की मृत्यु हो जाय और एक का जीवित हो। वह जीवित पुत्र विशेष विभूति को प्राप्त होकर किसी पुरुष द्वारा अपने पिता को

अपनी विभूति प्राप्ति का और द्वितीय के मरण का समाचार भेजे। वहा समाचार सुनाने वाला दुष्ट हो। इससे जीवित पुत्र के पिता को कहै तुम्हारा पुत्र मर गया है। और मरे पुत्र के पिता को कहै तुम्हारा पुत्र शरीर से निरोग है। बडी विभूति को प्राप्त हो गया है। कुछ काल मे हस्ती पर आरूढ होकर बडे समाज से आयेगा। उस वचक के वचन को सुनकर जीवित पुत्र का पिता रोता है, महान् दु ख को अनुभव करता है और मरे पुत्र का पिता अति हर्ष को प्राप्त होता है। इस रीति से देशातर मे ईश्वर रचित पुत्र जीवित है, तो भी मनोमय पुत्र मर गया है। इससे दु ख होता है। ईश्वर रचित जीवित का सुख नही होता है। वैसे दूसरे का ईश्वर रचित पुत्र मर गया है, उसका दुख नही होता। मनोमय जीवित है, उसका सुख होता है। इससे जीव सृष्टि ही सुख दु ख की हेतु है। ईश्वर सृष्टि सुखदु ख की हेतु नही है। इस रीति से विद्यारण्य स्वामी ने जीव सृष्टि और ईश्वर सृष्टि दो प्रकार की सृष्टि कही है। वहा जीव सृष्टि प्रातिभासिक है और ईश्वर सृष्टि व्यावहारिक है। ऐसे ही अन्य ग्रथकारो ने भी सत्ता तीन प्रकार की कही है।

चेतन की परमार्थ सत्ता है। और चेतन से भिन्न जड पदार्थो की दो प्रकार की सत्ता है। एक व्यावहारिक सत्ता है ओर दूसरी प्राति-भासिक सत्ता है। सृष्टि के आदिकाल मे ईश्वर सकल्प से उत्पन्न जो केवल अविद्या के कार्य पचभूत और उनके कार्य की व्यावहारिक सत्ता है। दोष सहित अविद्या के कार्य स्वप्न, शुक्ति रजतादिको की प्राति-भासिक सत्ता है। इस रीति से जाग्रत् पदार्थो की व्यावहारिक सत्ता और स्वप्न की प्रातिभासिक सत्ता कही है। तथापि अनात्मपदार्थो की सर्व की प्रातिभासिक सत्ता है। इससे दो प्रकार की ही सत्ता है। चेतन की परमार्थ सत्ता है। और चेतन से भिन्न सकल अनात्मा की प्रातिभा-सिक ही सत्ता है। जाग्रत् स्वप्न के पदार्थों की किचित् मात्र भी विलक्षणता सिद्ध नही होती है। इस उत्तम सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है —देशकाल सामग्री बिना ही स्वप्न के हस्ती पर्वतादिक

उत्पन्न होते है, इससे उनको मिथ्या कहते है। वैसे आकाशादि प्रपच की सृष्टि ब्रह्म से होती है। उस ब्रह्म मे देशकाल का लेश भी नही है। स्वप्न मे हस्ती पर्वतादिको के योग्य तो देशकाल नही है तथापि अल्प देश काल है। वैसे आकाशादिको की सृष्टि मे अल्प देशकाल भी नही है। क्यो? देशकाल रहित परमात्मा से आकाशादिको की सृष्टि कही है। इस कारण से ही तैत्तिरीय श्रुति मे आकाशादिको की क्रम से सृष्टि कही है। देशकाल की सृष्टि नही कही है। और सूत्रकार, भाष्यकार, ने भी देशकाल की सृष्टि नही कही है। सृष्टि नाम उत्पत्ति का है। वहा तैत्तिरीय श्रुति और सूत्रकार भाष्यकार का यही अभिप्राय है :—आकाशादिक प्रपच की उत्पत्ति देशकाल सामग्री बिना ही होती है। इससे आकाशादिक स्वप्न के समान मिथ्या है।

यहा यह रहस्य है —जैसे कोई दो बलिष्ठ पुरुष शून्य वन मे अपनी अपनी बलिष्ठता का विवाद करके स्वस्वबल की परीक्षा के लिये "जो अन्य को मार दे वही बलिष्ठ माना जाय" ऐसी प्रतिज्ञा करके उभय फल युक्त शक्ति (शस्त्र विशेष) को बीच मे धर कर उसके एक एक फल हृदय देश मे लगाकर परस्पर के सन्मुख बल करने से दोनो मृत्यु को प्राप्त होते है। वैसे ब्रह्मस्वरूप शून्य वन मे जाग्रत् प्रपच और स्वप्न प्रपच रूप दो बली पुरुष है। उनका परस्पर मे परस्पर के दृष्टात से परस्पर का प्रहार होता है। वह दिखाते है —देशकालादि सामग्री से बिना उत्पन्न हो, वह मिथ्या होता है। कैसे ? जैसे देशरूप सामग्री के पूर्ण होने पर भी कालरूप सामग्री की न्यूनता से उत्पन्न राख का परेवा, ठीकरी की अशरफ़ी, चमडे का सर्प इत्यादिक ऐन्द्र-जालिक (बाज़ीगर रचित) पदार्थों को मिथ्या कहते है। वैसे हिना नासक कठ की नाडीरूप अल्पदेश और अल्पकाल मे उत्पन्न स्वप्न प्रपच मिथ्या है। उसके दृष्टात से (उसके समान होने से) जाग्रत् प्रपच मिथ्या है। ऐसे स्वप्न के दृष्टात से जाग्रत् पर प्रहार है। वैसे ही देशकाल रूप सामग्री के लेश से रहित ब्रह्म मे जाग्रत् प्रपच प्रतीत होता है। इससे वह असत् है। क्यो ? प्रतीयमान देशकाल तो जाग्रत् प्रपच के अतर्गत हैं। उनसे भिन्न देशकाल प्रपच के कारण कहै, उसको पूछना

चाहिये —वे देशकाल ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न है? अभिन्न कहै तो ब्रह्म से भिन्न देशकाल के अभाव से देशकाल रहित ब्रह्म मे प्रपच की प्रतीति सिद्ध होती है। और यदि ब्रह्म से भिन्न देशकाल कहै तो वे सत्य है। किवा मिथ्या है? सत्य कहै तो अद्वैत श्रुति से विरोध होगा। और मिथ्या कहै तो उनको भी प्रपच के समान कार्य होने से उनके कारण भी कोई देशकाल कहने चाहिये। यदि आपके कारण आप ही हैं तो आत्माश्रय होगा। और यदि प्रथम देशकाल के कारण द्वितीय और द्वितीय के प्रथम कहै तो परस्पर की उत्पत्ति मे परस्पर की अपेक्षा के होने से अन्योन्याश्रय होगा। और यदि द्वितीय के तृतीय, फिर तृतीय के प्रथम देशकाल कारण कहै तो चक्र के समान भ्रमण रूप चक्रिका होगा। और यदि तृतीय देशकाल के कारण चतुर्थ और चतुर्थ के कारण पचम कहै तो अनन्त देशकाल की धारा रूप अनवस्था होगी। इससे ब्रह्म मे कोई भी देशकाल सिद्ध नही होता है। इस रीति से देश काल रहित ब्रह्म से जाग्रत् जगत् की प्रतीत होती है। इससे जाग्रत् प्रपच असत् (तुच्छ) है।

किवा जाग्रत् काल मे स्वप्न पदार्थो की स्मृति होती है और स्वप्न मे बहुत करके जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति नही होती है। इससे भी जाग्रत् प्रपच असत् है। उसके दृष्टात से (उसके समान होने से) स्वप्न प्रपच भी असत् (बध्यापुत्र के समान) है। और जब जाग्रत् का अभाव है, तब उसके अतर्गत समाधि अवस्था का भी चेतन मे अभाव है। और जब जाग्रत् स्वप्न का अभाव है, तब दोनो अवस्था मे वर्तमान बुद्धि के अभाव से उसका विलय रूप सुषुप्ति और सुषुप्ति के अतर्गत मरण मूर्छा का भी अभाव है। इस रीति से ब्रह्म में सर्व प्रपच की असिद्धि से अजातवाद सिद्ध होता है।

यद्यपि मधुसदन स्वामी ने देशकाल साक्षात् अविद्या के कार्य कहे है। इससे माया विशिष्ट परमात्मा से पहले माया के परिणाम देश-काल होते है। उससे अनन्तर आकाशादिको की उत्पत्ति होती है। इससे योग्य देशकाल से आकाशादिक प्रपच की उत्पत्ति संभव है। तथापि मधुसूदन स्वामी का यह अभिप्राय नही है।—देशकाल प्रथम

होते है और आकाशादिक उत्तर होते है। क्यो ? अतीत काल मे हो, उसको प्रथम और पूर्व कहते है। भविष्य काल मे हो, उसको उत्तर अर्थात् पीछे कहते है। आकाशादिको की उत्पत्ति से प्रथम देशकाल उत्पन्न होते है। इस कथन से आकाशादिको की उत्पत्ति काल से पूर्व काल उपहित परमात्मा देशकाल का अधिष्ठान है। यह सिद्ध होगा। इससे देशकाल की उत्पत्ति मे पूर्वकाल की अपेक्षा होगी और काल की उत्पत्ति बिना पूर्वकाल असिद्ध है। इससे आकाशादिको से पूर्वकाल मे देशकालादि होते है। यह कहना नही बनता है।

किन्तु मधुसूदन स्वामी का यह अभिप्राय है —जैसे भूत भौतिक प्रपच प्रतीत होता है, वैसे देशकाल भी प्रतीत होते है। और आत्मा से भिन्न कोई भी नित्य नही है। इससे देशकाल नित्य नही है। और बिना हुये की प्रतीति नही होती है। इससे आकाशादिको के समान देशकाल की भी उत्पत्ति होती है। सो देशकाल माया के परिणाम है और चेतन के विवर्त्त है। जो विवर्त्त होता है, सो किसी का भी कारण नही होता है। इससे आकाशादिक प्रपच की उत्पत्ति मे देशकाल को कारणता नही बनती है।

किवा कारण प्रथम होता है। और कार्य उत्तर होता है। आकाशादिक प्रपच से देशकाल प्रथम होते है। यह कहना नही बनता है। यह वार्ता अभी कही ही थी। इससे भी देशकाल को आकाशादिक प्रपच की कारणता नही बनती है। किन्तु स्वप्न के पिता पुत्र के समान देश-काल सहित आकाशादिक प्रपच माया विशिष्ट परमात्मा से उत्पन्न होता है। और कोई पदार्थ किसी देश मे किसी काल मे उत्पन्न होता है। अन्य देश मे अन्यकाल मे उत्पन्न नही होता है। इस रीति से सर्व-पदार्थ प्रलयकाल मे उत्पन्न नही होते है, सृष्टिकाल मे उत्पन्न होते है। इससे देश काल को कारणता प्रतीत भी होती है। तो भी जिस माया से देशकाल सहित प्रपच की उत्पत्ति होती है, उस माया से ही देश काल में कारणता और अन्य प्रपच मे कार्यता प्रतीत होती है। आकाशादिक प्रपच के देशकाल कारण नही है। इसमे ऐसी शका होती है —

(पूर्वपक्षी) बिना हुये पदार्थों की तो प्रतीति नही होती है। और

सिद्धान्त मे भी अगीकार नही करी है। यदि बिना हुये की प्रतीति माने तो, असत् ख्याति का अगीकार करना होगा। और बिना हुये वध्या-पुत्र, शश शृगादिको की प्रतीति भी होनी चाहिये। इससे बिना हुये की प्रतीति नही होती है। देश काल मे कारणता नही हो, तो देशकाल मे सर्वपदार्थो की कारणता माया के बल से भी नही प्रतीत होनी चाहिये। और देशकाल मे कारणता प्रतीत होती है। इससे देशकाल सर्व प्रपच के कारण है। और यदि सिद्धान्ती ऐसे कहै —सर्वप्रपच का कारण ब्रह्म है। ब्रह्म की कारणता देशकाल मे प्रतीत होती है। देशकाल मे कारणता नही है, सो भी नही बनता है। क्यो ? जैसे देशकाल का अधिष्ठान ब्रह्म है, वैसे सर्वप्रपच का अधिष्ठान ब्रह्म है। देशकाल मे ही ब्रह्म की कारणता प्रतीत होती है, अन्य मे नही। इस कथन मे कोई हेतु नही है। इससे अधिष्ठान ब्रह्म की कारणता देशकाल मे प्रतीत होती हो, तो ब्रह्म सर्व प्रपच का अधिष्ठान है। इससे सर्व प्रपच मे कारणता प्रतीत होनी चाहिये। किसी मे कारणता और किसी मे कार्यता, ऐसा भेद नही होना चाहिये।

किवा देशकाल मे कारणता नही है और ब्रह्म मे कारणता है। सो ब्रह्म की कारणता देशकाल मे प्रतीत होती है। इस कथन से अन्यथा ख्याति को अगीकार करना होगा। क्यो ? अन्यवस्तु की अन्य रूप से प्रतीति को अन्यथा ख्याति कहते है। देशकाल कारण नही है, कारण से अन्य अकारण है। उनकी अन्य रूप से अर्थात् कारण रूप से प्रतीति मानने मे अन्यथा ख्याति का अगीकार होगा। और सिद्धान्त मे अन्यथा ख्याति अगीकार नही करी है। यदि इस स्थान मे अन्यथा ख्याति माने तो शुक्ति मे अनिर्वचनीय रूपे की उत्पत्ति सिद्धात मे मानी है, सो निष्फल होगी। क्यो ? अन्यथा ख्याति मे दो मत है —एक तो अन्य देश मे स्थित पदार्थ की अन्य देश मे प्रतीति अन्यथा ख्याति है। कैसे ? जैसे काताकर मे स्थित रजत की सन्मुख शुक्ति देश मे प्रतीति अन्यथा ख्याति है। दूसरा अन्य पदार्थ की अन्य रूप से प्रतीति अन्यथा ख्याति है। कैसे ? जैसे शुक्ति की ही रजत रूप से प्रतीति अन्यथा ख्याति है।

ऐसे सर्व भ्रमस्थल मे अन्यथाख्याति से निर्वाह सभव है। अनिवर्चनीय रजतादिको की उत्पत्ति कथन असगत होगा। और यदि सिद्धाती ऐसे कहै —विषय के समानाकार ही ज्ञान होता है। अन्य वस्तु का अन्यरूप से ज्ञान सभव नही है। इससे रजताकार ज्ञान का विषय रजत भी अनिवर्चनीय ही उत्पन्न होती है। इस अद्वैत सिद्धान्त मे कारण से अन्य जो देशकाल, उनमे ब्रह्म की कारणता का ज्ञान मभव नही है। इससे देशकाल मे कारणता जो प्रतीत होती है, उसका बिना हुये का अथवा ब्रह्म मे स्थित का भान सभव नही है। किन्तु देशकाल मे ही कारणता है, उसका ही भान होता है। इस रीति से "आकाशादिक प्रपच के कारण देशकाल नही है" यह कथन असगत है।

(सिद्धाती —) सो शका नही बनती है। क्यों ? ब्रह्म की कारणता देशकाल मे प्रतीत होती है। कैसे ? जैसे जपा (जावक—जावली—जासूद) पुष्प सबधी स्फटिक मे पुष्प की रक्तता प्रतीत होती है। अधिष्ठान की सत्यता स्वप्नकाल मे मिथ्या हस्ती पर्वतादिको मे प्रतीत होती है। वहा स्फटिक मे अनिर्वचनीय रक्तता की उत्पत्ति का अगीकार नही है। किन्तु पुष्प की रक्तता स्फटिक मे प्रतीत होती है। इससे श्वेत स्फटिक की रक्तरूप से प्रतीति होने से रक्तता के ज्ञान मे अन्यथा ख्याति ही मानी है। वैसे स्वप्न मे मिथ्या पदार्थो मे सत्यता प्रतीत हो, वहा अनिर्वचनीय सत्यता, उन पदार्थो मे उत्पन्न होती है। यह कथन तो "सत्य, मिथ्या है" इस (व्याघात दोषवाले) वचन के समान सभव नही है। और बिना हुये की प्रतीति नही होती है। किन्तु स्वप्न के अधिष्ठान चेतन की सत्यता मिथ्या पदार्थो मे प्रतीत होती है। इससे मिथ्या पदार्थों की सत्यरूप से प्रतीति होने से सत्यता के ज्ञान मे अन्यथाख्याति ही मानी है। वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म की कारणता देशकाल मे अन्यथाख्याति से प्रतीत होती है।

और यदि ऐसे कहै —इतने स्थान मे अन्यथा ख्याति माने तो सर्व भ्रम मे अन्यथाख्याति ही माननी चाहिये। सो शका नही बनती

है। क्यो ? शुक्ति रजतादिको मे अन्यथा ख्याति मानने मे यह दोष कहा है —विषय से विलक्षण ज्ञान नही होता है। और जहाँ स्फटिक मे रक्तता का ज्ञान होता है, वहाँ रक्त पुष्प का स्फटिक से सबध है। इससे स्फटिक सबधी पुष्प की रक्तता स्फटिक मे प्रतीत होती है। क्यो ? अन्त करण की वृत्ति जब रक्त पुष्पाकार होती है, उसी वृत्ति का विषय रक्त पुष्प सबधी स्फटिक है। इससे पुष्प की रक्तता स्फटिक मे प्रतीत होती है। और शुक्ति का तो रजतरूप से ज्ञान सभव नही है। क्यो ? शुक्ति देश मे अनिर्वचनीय तथा व्यावहारिक रजत तो अन्य मत मे नही है, किन्तु शुक्ति है। उस शुक्ति के सबन्ध से शुक्ति के समानाकार ही अत करण की वृत्ति होगी। रजताकार अत करण की वृत्ति नही होती। इससे अविद्या का परिणाम और चेतन का विवर्त्त अनिर्वचनीय रजत और उसका ज्ञान, दोनो उत्पन्न होते है। और स्फटिक मे रक्तता प्रतीत होती है, वहाँ वृत्ति का सबन्ध स्फटिक और रक्त पुष्प दोनो से होता है। उस वृत्ति का स्फटिक से भी सम्बन्ध है और स्फटिक मे रक्तता की छाया है। इससे पुष्प का धर्म रक्तता स्फटिक मे उसी वृत्ति का विषय है, इस रीति से जहाँ दो पदार्थों का सबन्ध है, वहाँ एक के धर्म की दूसरे मे प्रतीति सभव है। वहा अन्यथा ख्याति ही संभव है। जहा दोनों पदार्थो का सबन्ध नही है, वहा अन्यथा ख्याति नही होती किन्तु अनिर्वचनीय ख्याति ही होती है। जैसे पुष्प संबन्धी स्फटिक मे पुष्प की रक्तता प्रतीत होती है। वैसे स्वप्न के हस्ती पर्वतादिको का भी अधिष्ठान चेतन से सबन्ध है। इससे चेतन का धर्म सत्यता भी चेतन सबन्धी हस्ती पर्वतादिकों मे प्रतीत होती है। सो अन्यथाख्याति है। वैसे अधिष्ठान चेतन का धर्म कारणता अधिष्ठान चेतन सबन्धी देशकाल मे प्रतीत होती है।

जाग्रत प्रपच सामग्री बिना होने से स्वप्न समान मिथ्या

और जो पूर्व शका करी थी .—अधिष्ठान चेतन का सबन्ध सर्व-प्रपच से है। यदि सबधी का धर्म अन्यथा ख्याति से अन्य मे प्रतीत हो, तो चेतन की कारणता सर्वप्रपच मे प्रतीत होना चाहिये।

सो शका नही बनती है। क्यो ? जैसे स्वप्न मे दो शरीर उत्पन्न होते है। एक पितारूप प्रतीत होता है और दूसरा शरीर पुत्ररूप प्रतीत होता है। वहा दोनो शरीरो का स्वप्न के अधिष्ठान चेतन से सबन्ध भी है। तथापि पिता शरीर मे अधिष्ठान चेतन की कारणता प्रतीत होती है और पुत्र शरीर मे कारणता प्रतीत नही होती है। किन्तु पिताजन्य पुत्र है। इस रीति से पुत्र शरीर मे कार्यता प्रतीत होती है। इस प्रकार यद्यपि अधिष्ठान चेतन से सबन्ध तो सर्व का है, तथापि देशकाल मे चेतन धर्म कारणता की प्रतीति होती है। अन्य मे कार्यता की प्रतीति होती है। अथवा अधिष्ठान चेतन असग है, सो परमार्थ से किसी का भी कारण नही है। माया मे आभास यद्यपि कारण है, तथापि आभास का स्वरूप मिथ्या होता है। जो आप ही मिथ्या हो, सो दूसरे का कारण नही हो सकता। इससे परमात्मा मे प्रपच की कारणता हो तो, उसकी देशकाल मे भ्रम से प्रतीति सभव हो। सो परमात्मा मे तो कारणता नही है। परमात्मा कारणतादिक धर्म रहित असग है। उसकी कारणता देशकाल मे प्रतीत होती है। यह कहना सभव नही है। किन्तु मायाकृत अनिर्वचनीय देशकाल अनिर्वचनीय कारणता वाले होते है। और परमार्थ से देशकाल कारण नही है। कैसे ? जैसे पुत्रहीन पुरुष स्वप्न मे पुत्र पौत्र दोनो को देखता है। वहा पुत्र पौत्र शरीर अनिर्वचनीय होते है और पुत्र शरीर मे पौत्र शरीर की अनिर्वचनीय कारणता होती है। वहा परमार्थ से पुत्र शरीर और पौत्र शरीर का परस्पर कार्य कारणभाव नही होता है। वैसे ही अनिर्वचनीय कारण देशकाल प्रतीत होते हैं। परमार्थ से देशकाल और आकाशादिक प्रपच का कार्यकारण भाव नही है। इस रीति से देशकाल सामग्री बिना जाग्रत प्रपच की उत्पत्ति होती है। इससे स्वप्न के समान जाग्रत भी मिथ्या है। और जैसे स्वप्न के स्त्री पुत्रादिक स्वप्न मे ही सुखदु.ख के हेतु होते है। जाग्रत मे उनका अभाव होता है। वैसे ही जाग्रत के पदार्थों का स्वप्न मे अभाव होता है। इससे दोनो समान है।

जाग्रत के पदार्थ ज्ञान के साथ ही उत्पन्न

और यदि ऐसे कहै —जाग्रत से स्वप्न होकर फिर जाग्रत होता है। वहा प्रथम जाग्रत के जो पदार्थ है। सोई स्वप्न व्यवहित दूसरे जाग्रत मे रहते है और प्रथम स्वप्न के पदार्थ दूसरे स्वप्न मे नही रहते है। इससे स्वप्न के पदार्थो से जाग्रत के पदार्थ विलक्षण है। सो शका भी सिद्धान्त के अज्ञानी मूढो की दृष्टि से होती है। क्यो ? मूर्खो की ऐसी दृष्टि है। ससार प्रवाह अनादि है। उसमे जीवो को जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति होती है। जाग्रत काल मे स्वप्न सुषुप्ति नष्ट होती है और स्वप्न काल मे जाग्रत सुषुप्ति नष्ट होती है। वैसे सुषुप्ति काल मे जाग्रत स्वप्न नष्ट होती है। परन्तु "स्वप्न सुषुप्ति हो, तब जाग्रत काल के स्त्री, पुत्र, पशु, धनादिक दूर नही होते है किन्तु बने रहते है। उनका ज्ञान ही दूर होता है। फिर जाग्रत हो, तब प्रथम जाग्रत के विद्यमान पदार्थो का ज्ञान होता है।" यह अज्ञानी मूर्खो की दृष्टि है। सिद्धान्त यह है —सर्व पदार्थ चेतन के विवर्त्त है। अविद्या के परिणाम है। इससे शुक्ति रजत के समान जिस काल मे जो पदार्थ प्रतीत होता है, उस काल मे अधिष्ठान चेतन आश्रित अविद्या का द्विविध परिणाम होता है। अविद्या के तमोगुण अश का घटादिक विषयरूप परिणाम होता है। अविद्या के सत्वगुण का ज्ञानरूप परिणाम होता है। यद्यपि चेतन को ज्ञान कहते है। इससे सत्वगुण का परिणाम ज्ञान है, यह कहना नही बनता है। तथापि सर्वत्र व्यापक चेतन ज्ञान नही है। किन्तु साभासवृत्ति मे आरूढ चेतन को ज्ञान कहते है। इससे चेतन मे ज्ञान व्यवहार की सपादक वृत्ति होने से, वृत्ति को भी ज्ञान कहते है। इस रीति से चेतन मे ज्ञानपने की उपाधिवृत्ति है। इसलिये वृत्ति मे भी ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। कैसे ? जैसे लोक मे कहते है :—"घट का ज्ञान उत्पन्न हुआ, पट का ज्ञान नष्ट हुआ।" वहा वृत्ति मे आरूढ चेतन का तो उत्पत्ति नाश सभव नही है। वृत्ति के ही उत्पत्तिनाश होते है। और ज्ञान के उत्पत्तिनाश कहते है। इससे वृत्ति मे भी ज्ञान-शब्द का प्रयोग होता है। सो वृत्तिरूप ज्ञान सत्वगुण का परिणाम है। यह कथन सभव है।

उस वृत्तिरूप परिणाम मे चेतन का आभास होता है। घटादिक विषयरूप परिणाम मे चेतन का आभास नही होता है। क्यो ? विषय और वृत्ति यद्यपि दोनो अविद्या के परिणाम है, तथापि घटादिक विषय तो अविद्या के तमोगुण के परिणाम है। इससे मलिन है, उनमे आभास नही होता है। और वृत्ति सत्वगुण का परिणाम है, इससे स्वच्छ है, उसमे आभास होता है। इस रीति से वृत्ति की चेतन के आभास ग्रहण की योग्यता होने से वृत्ति अवच्छिन्न चेतन को ज्ञान कहते है और साक्षी भी कहते है। घटादिक विषय की आभास ग्रहण की योग्यता नही है। इस कारण से विषय अवच्छिन्न चेतन ज्ञान नही है और साक्षी भी नही है। इस रीति से जाग्रत् के पदार्थ और उनका ज्ञान दोनो साथ ही उत्पन्न होते है और साथ ही नष्ट होते है। यह वेद का गूढ सिद्धान्त है। इससे जाग्रत् के पदार्थ दूसरी जाग्रत् मे रहते हैं। यह कथन सभव नही है।

जाग्रत् के पदार्थो का परस्पर कार्य कारण भाव नही

यद्यपि स्वप्न से जागे हुये पुरुष को ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। "जो पूर्व पदार्थ थे वे ही ये पदार्थ है।" इससे जाग्रत् के पदार्थो का ज्ञान के समकाल उत्पत्तिनाश नही होता है। किन्तु ज्ञान से प्रथम विद्यमान होते है और ज्ञान नाश से अनतर भी रहते है। तथापि जैसे स्वप्न के पदार्थ उसी क्षण मे उत्पन्न होते है। और प्रतीत ऐसे होते है .—"मेरे जन्म से भी प्रथम उत्पन्न हुये ये पर्वत समुद्रादिक है।" वहा तत्काल उत्पन्न हुये पदार्थो मे बहुकाल स्थिरता की भ्राति होती है। इससे जिस अविद्या ने मिथ्या पर्वत समुद्रादिक उत्पन्न किये है, उसी अविद्या से बहु-काल स्थिरता और स्थिरता की प्रतीति अनिर्वचनीय उत्पन्न होती है। वैसे जाग्रत् के पदार्थो मे भी अनेक दिन स्थिरता नही है। किन्तु अविद्या के बल से मिथ्या स्थिरता भी उन पदार्थो के साथ उत्पन्न होकर प्रतीत होती है।

जाग्रत् के पदार्थो का "वे पूर्व जाग्रत् मे देखे हुये पदार्थ ये है।" इस आकार वाला प्रत्यभिज्ञा ज्ञान निद्रा से उठे हुये पुरुष को होता है। सो ज्ञान नदी प्रवाह, दीपशिखा, आकाशगत तारा की स्थिति और वृक्ष के फल, इनके प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के समान भ्रमरूप है। इसमे मुख्य दृष्टात स्वप्न है। सो ऊपर कह दिया है। और यदि ऐसे कहै —स्वप्न

के पदार्थ साक्षात् अविद्या के परिणाम है और जाग्रत् के पदार्थ साक्षात् अविद्या के परिणाम नही है। किन्तु घट की उत्पत्ति दड, चक्र, कुलाल से होती है। वैसे सर्व पदार्थो की उत्पत्ति अपने अपने कारण से होती है, साक्षात् अविद्या से नही होती है। यदि साक्षात् अविद्या के परिणाम हो तो आकाशादिक क्रम से पचभूतो की उत्पत्ति और पचीकरण तथा उनसे ब्रह्माड की उत्पत्ति श्रुति मे कही है, सो असगत होगी। इससे ईश्वर सृष्टिरूप जाग्रत् के पदार्थ अपने अपने उपादान के परिणाम है, अविद्या के साक्षात् परिणाम नही है।

स्वप्न के तो सर्व पदार्थ अविद्या के परिणाम है। उनका एक अविद्या उपादान होने से, उन पदार्थों की और उनके ज्ञान की एक अविद्या से एक काल मे उत्पत्ति सभव है। जाग्रत् के पदार्थ भिन्न भिन्न कारण से उत्पन्न होते है। कार्य से प्रथम कारण होता है और कारण मे कार्य का लय होता है। इससे घट की उत्पत्ति से प्रथम और घटनाश से आगे मृत्पिड रहता है। इस रीति से कोई पदार्थ अल्पकाल स्थिर और कोई अधिककाल स्थिर, कार्य कारण है। वैसे स्वप्न नही है।

सो शका नही बनती है। क्यो ? जाग्रत् के पदार्थो के समान स्वप्न के पदार्थो मे भी कार्यकारण भाव प्रतीत होता है। कैसे ? जैसे किसी को ऐसा स्वप्न हो —मेरी गाय के वत्स हुआ है अथवा मेरी स्त्री के पुत्र हुआ है। वहा गाय और स्त्री मे कारणता की प्रतीति और बहुकाल स्थायीता की प्रतीति होती है। वत्स और पुत्र मे कार्यता और अल्पकाल स्थिरता प्रतीत होती हैं और सब समकाल है। कोई किसी का कारण नही है। किन्तु गाय वत्स स्त्री आदिको का अविद्या ही उपादान है। वैसे जाग्रत् मे भी कोई अधिककाल स्थायीकारण स्वरूप से, कोई न्यूनकाल स्थायी कार्यरूप से स्वप्न के समान प्रतीत होता है। और कोई भी किसी का परस्पर कार्यकारण नही है। किन्तु साक्षात् अविद्या के कार्य है। और श्रुति मे जो क्रम से सृष्टि कही है, वहा सृष्टि प्रतिपादन मे श्रुति का अभिप्राय नही है। किन्तु अद्वैत बोधन मे अभिप्राय है।

सर्व पदार्थ परमात्मा से उत्पन्न होते है। इससे उसके विवर्त्त है। जो जिसका विवर्त्त होता है, सो उसका ही स्वरूप होता है। इससे सर्व नामरूप ब्रह्म से पृथक नही है, ब्रह्म ही है। इस अर्थ का बोधन करने को सृष्टि कही है। सृष्टि कथन का अन्य प्रयोजन नही है। वहा क्रम का जो कथन है, सो स्थूल दृष्टि को विपरीत क्रम से लय चिन्तन के निमित्त है। उसका भी अद्वैत बोध ही प्रयोजन है। इससे क्रम कथन मे भी अभिप्राय नही है। सृष्टि मे क्रम नही है। किन्तु सर्व पदार्थ एक अविद्या से उत्पन्न होते है। उनका परस्पर कार्यकारण भाव और पूर्व उत्तर भाव अविद्याकृत स्वप्न के समान मिथ्या प्रतीत होता है। और श्रुति ने उनकी आपस मे कार्यकारणता और पूर्व उत्तरता कही है। सो लय चिन्तन के निमित्त कही है। ध्यान मे यह नियम नही है —जैसा स्वरूप हो वैसा ही ध्यान होता है। इससे जाग्रत् के पदार्थो का आपस मे कार्यकारण भाव नही है। किन्तु —

दृष्टि सृष्टिवाद का अगीकार

सव पदार्थ साक्षात् अविद्या के कार्य है। शुक्ति रजत के समान वा स्वप्न के समान अविद्या की वृत्ति उपहित साक्षी से उनका प्रकाश होता है। इससे सर्व पदार्थ साक्षीभास्य है। और ज्ञानाकार तथा ज्ञेयाकार अविद्या का परिणाम एक ही काल मे उत्पन्न होता है और साथ ही नष्ट होता है। इससे जब पदार्थ की प्रतीति हो तब ही प्रतीति का विषय पदार्थ होता है। अन्य काल मे नही होता है। इसी को दृष्टि-सृष्टिवाद कहते है। दृष्टि अर्थात् अविद्या की वृत्ति रूप ज्ञान, उसके समय मे ही सृष्टि अर्थात् प्रपच की उत्पत्ति, उसका कथन, उसको दृष्टि-सृष्टिवाद कहते है। इसी को अजातवाद भी कहते है। इस पक्ष मे पदार्थ की अज्ञात सत्ता नही है, ज्ञात सत्ता है। अद्वैतवाद मे यह सिद्धात पक्ष है। इस पक्ष मे दो सत्ता है, तीन नही है। क्यो ? अनात्म पदार्थ सब स्वप्न के समान प्रातिभासिक है। प्रतीति काल से भिन्न काल मे अनात्मा की सत्ता नही होती है। इससे तीसरी व्याव-हारिक सत्ता नही है। इस पक्ष मे सब अनात्म पदार्थ साक्षीभास्य है।

प्रमाता प्रमाण का विषय कोई भी नही है। क्यो ? अत करण और इन्द्रिय तथा घटादिक सब त्रिपुटी और ज्ञान, स्वप्न के समान एक काल मे ही उत्पन्न होते है। उनका विषय विषयीभाव नही बनता है। घटादिक विषय, और नेत्रादिक इन्द्रिय, वैसे अत करण। ये ज्ञान से प्रथम हो, तो नेत्रादि द्वारा अत करण की वृत्ति रूप ज्ञान प्रमाणजन्य हो। सो अत करण, इन्द्रिय, विषय, ये तीनो ज्ञान के पूर्वकाल मे नही है। किन्तु ज्ञान समकाल ही स्वप्न के समान त्रिपुटी उत्पन्न होती है। इससे त्रिपुटीजन्य ज्ञान कोई भी नही है। तथापि ज्ञान मे स्वप्न के समान त्रिपुटीजन्यता प्रतीत होती है। इससे जाग्रत के पदार्थ साक्षी-भास्य है। प्रमाणजन्य ज्ञान के विषय नही है। इससे भी स्वप्न के समान मिथ्या है। किवा जाग्रत् मे कितने ही पदार्थो को मिथ्यारूप जानते है। अन्यो को सत्यरूप करके ऐसे जानते है —अनादिकाल के पदार्थ है। उनमे कोई नष्ट होते है और उनके समान उत्पन्न होते है। इस प्रकार प्रपच धारा का उच्छेद कभी भी नही होता है।

जिसको ज्ञान होता है, उसको प्रपच की प्रतीति नही होती है। अन्यो को प्रपच की प्रतीति होती है। उस ज्ञान के साधन वेदगुरु है। उनसे परम सत्य की प्राप्ति होती है। ऐसी प्रतीति जाग्रत् मे होती है। वहा किसी पदार्थ मे मिथ्यापना, किसी मे नाश, किसी मे उत्पत्ति, वेदगुरु से परमपुरुषार्थ की प्राप्ति ये सब अविद्याकृत स्वप्न के समान मिथ्या है। योगवसिष्ठ मे ऐसे अनन्त इतिहास कहे है। क्षणमात्र के स्वप्न मे बहुकाल प्रतीत होता है और जाग्रत् के समान स्थायी पदार्थ प्रतीत होते है। और उनसे बहुकाल भोग होता है। इससे जाग्रत् पदार्थ की स्वप्न से किचित् भी विलक्षणता नही है। किन्तु आत्म भिन्न सर्व मिथ्या है। यह दृष्टि सृष्टिवाद का निष्कर्ष (निचोड) है। इस पक्ष का प्रतिपादन बृहदारण्यक उपनिषद् के व्याख्यान मे भाष्य-कार और वार्त्तिककार ने किया है और शकरभाष्य और आनन्द गिरिकृत व्याख्यान सहित माडूक्य उपनिषद् की कारिका मे किया है। उसकी वेदातदीपिका नामक भाषा टीका मे पडित पीताम्बर ने भी लिखा है। योग वसिष्ठ मे, वेदात मुक्तावली में, वृत्तिप्रमाकर के

अष्टम् प्रकाश मे, विचार सागर मे, आत्म पुराण और अद्वैत सिद्धि आदिक आकर ग्रथो मे इसका प्रतिपादन है। वही इस ग्र थ मे भी कुछ आया है।

प्रश्न —स्वप्न सम स्वल्पकाल स्थायी ससार हो तो बध अनादि काल का न होगा। बध निवृत्तिरूप मोक्ष के निमित्त साधन निष्फल होगे ?

ईश्वर सृष्टि अनन्त कल्प से अनादि है। उसमे ज्ञानी मुक्त होते है, अज्ञानी को बध रहता है। यदि स्वप्न समान हो तो स्वप्न एक क्षण घडी तथा पहर होता है। वैसे ससार भी क्षण अथवा घडी, पहर वा किंचित् अधिक काल होगा। स्वप्न के समान स्वल्प काल स्थायी संसार हो, तो अनादिकाल का बन्ध नही होगा। बध निवृत्ति रूप मोक्ष के निमित्त श्रवणादिक साधन निष्फल होगे। (गुरु —) यद्यपि पूर्व उक्त सिद्धान्त मे बन्ध, मोक्ष, वेद गुरु अगीकार नही है, किन्तु चेतन नित्य मुक्त है। चेतन मे अविद्या के परिणामरूप नाना विवर्त्त होते है। उनसे आत्मरूप की किंचित्मात्र भी हानि नही होती है। आत्मा सदा असग एक रस है। आज तक कोई भी चेतन आत्मा मुक्त नही हुआ है और आगे भी नही होगा। क्यो ? चेतन आत्मा तो नित्य मुक्त है, आत्मा को बन्ध था ही नही तब उसकी मुक्ति कैसे कही जा सकती है ? अविद्या और उसके परिणाम का चेतन से किसी काल मे भी संबन्ध नहीं होता है। इससे बध, वेद गुरु, श्रवणादिक समाधि और मोक्ष, इनकी प्रतीति भी स्वप्न के समान अविद्याजन्य है, इसमे मिथ्या है। इनमे बहुकाल स्थायिता भी अविद्याजन्य है। तथापि इस सिद्धान्त को नही जान कर स्थूल दृष्टि का प्रश्न है।

गत प्रश्न का उत्तर

जैसे निद्रा दोष से स्वप्न मे-अध्यापक, अध्ययन, वेद शास्त्र, पुराण, धर्मशास्त्र और अध्ययन कर्ता, कर्म और उनका फल प्रतीत होता है और उन सर्व पदार्थो मे सत्यता की भ्रान्ति होती है। तथापि भी स्वप्न के सर्व पदार्थ मिथ्या होते हैं। वैसे ही जाग्रत् के सर्व पदार्थ

मिथ्या है। उनमे सत्यता, अनादि काल का बध, मोक्ष, साधन और बहुकाल स्थायितादि प्रतीति स्वप्न के समान भ्रम ही है।

प्रश्न-मै कौन हू ?

भगवन् ! मै कौन हूँ ? देह स्वरूप हूँ वा देह से भिन्न हूँ ? मै मनुष्य हूँ और मेरा शरीर है। यह दो प्रतीति होती है। इससे मेरे को सशय है। और यदि देह से भिन्न भी आप कहो तो, मै कर्ता भोक्ता हूँ वा अक्रिय हूँ ? यदि अक्रिय कहो तो भी सर्व शरीरो मे एक हूँ वा नाना हूँ ? यह प्रश्न का अभिप्राय है। उत्तर :—तू सत् चित् आनन्दस्वरूप है। इससे देह से भिन्न है। क्यों ? देह असत् रूप है, जडरूप है, दु:खरूप है। और तू कर्ता भोक्ता भी नही है। क्यो ? जिसमे दु ख हो, वह दु ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये क्रिया करता है, उसको कर्ता कहते है। सो तेरे मे दु ख नही है। इससे तू दु:ख की निवृत्ति के लिये क्रिया का कर्ता नही है। तू आनन्दस्वरूप है। इससे सुख की प्राप्ति के लिये भी तू क्रिया का कर्ता नही है। जो कर्ता होता है, सोई भोक्ता होता है। तू कर्ता नही है, इससे भोक्ता भी नही है। पुण्यपाप का जनक जो कर्म है, उसका कर्ता और सुखदु ख का भोक्ता स्थूल सूक्ष्म सघात है, सो तू नही है। तू सघात का साक्षी है। इसी से एक है।

आत्मा सुखदु खादि धर्म से रहित व्यापक एक है।

साख्य और त्रिविध न्याय मत का कथन और खडन

आत्मा एक है, नाना नही है। यदि आत्मा कर्ताभोक्ता हो, तब तो नाना हो सकता है। क्यो ? कोई सुखी है, कोई दु खी है। और कर्ता-भोक्ता एक ही अगीकार हो, तो एक के सुखी होने से तथा दु:खी होने से सर्व को सुख तथा दु:ख होना चाहिये। इससे कर्ताभोक्ता नाना है। आत्मा कर्ता भोक्ता नही है, इससे एक है। (पूर्वपक्षी:—) साख्यमत मे आत्मा को कर्ताभोक्ता अगीकार नही करके नानापुरुष जो अंगीकार किये है, सो अत्यन्त विरुद्ध है। क्यो ? यह साख्य का सिद्धान्त है — सत्व, रज, तम गुण की सम अवस्था को प्रधान कहते है। वह प्रधान

प्रकृति है, विकृति नही है। विकृति कार्य को कहते है। और प्रकृति उपादान कारण को कहते है। वह प्रधान महत्तत्त्व का उपादान कारण है। इससे प्रकृति है और अनादि है, इससे विकृति नही है। और महत्तत्त्व, अहकार, पचतन्मात्रा, ये सात प्रकृति विकृति है। पहले पहले के प्रकृति है और आगे आगे के विकृति है। तन्मात्रा भी भूतो के प्रकृति है। इस रीति से सात प्रकृति विकृति है। और पचभूत, दशइन्द्रिय, और मन ये सोलह विकृति है, प्रकृति नही है। और पुरुष प्रकृति विकृति नही है। क्यो ? यदि किसी पदार्थ का हेतु हो, तो प्रकृति हो और कार्य हो, तो विकृति हो। सो पुरुष किसी का हेतु नही है, इससे प्रकृति नही है, और कार्य नही है, इससे विकृति नही है। इससे पुरुष-असग है। इस रीति से साख्य मत मे पच्चीस तत्त्व है। तत्त्व नाम पदार्थ का है। साख्यमत मे ईश्वर का अगीकार नही है। स्वतन्त्र प्रकृति जगत् का कारण है और पुरुष के भोग मोक्ष के निमित्त प्रकृति ही प्रवृत्त होती है, पुरुष नही। प्रकृति के विषयरूप परिणाम से पुरुष को भोग होता है। और बुद्धि द्वारा विवेकरूप प्रकृति के परिणाम से मोक्ष होता है। यद्यपि पुरुष असग है। उसमे भोग मोक्ष नही बनते है। तथापि ज्ञान, सुख, दु ख, राग द्वेष से आदि बुद्धि के परिणाम है। उस बुद्धि का आत्मा से अविवेक है, विवेक नही है। इससे आत्मा मे आरोपित बध मोक्ष है, परमार्थ मे नही है। अविवेक सिद्ध जो आत्मा मे भोग, उससे ही आत्मा को साख्यमत मे भोक्ता कहते है। और परमार्थ से आत्मा भोक्ता नही है, बुद्धि ही भोक्ता है। और बुद्धि आत्मा से भिन्न है। इस ज्ञान का नाम विवेक है। उसके अभाव का नाम अविवेक है। इस रीति से साख्यमत मे आत्मा असग है। और सुखादिक बुद्धि के परिणाम है। इससे बुद्धि के धर्म है। और आत्मा नाना है।

(सिद्धान्ती —) सो वार्ता अत्यन्त विरुद्ध है। यदि सुखदु ख आत्मा के धर्म हो, तो सुखदु ख के प्रति शरीर भेद होने से आत्मा का भेद हो। सो सुखदुःख आत्मा के धर्म नही है, किन्तु बुद्धि के धर्म है। इससे सुखदुःख के भेद से बुद्धि का ही भेद सिद्ध होता है। आत्मा का भेद सिद्ध नही होता है। कैसे ? जैसे एक ही व्यापक आकाश मे नाना

उपाधि के धर्म, उपाधि और आकाश के अविवेक से प्रतीत होते है। वैसे एक ही व्यापक आत्मा मे नाना बुद्धि के धर्म अविवेक से प्रतीत होते है। यह वार्ता साख्य मत मे अगीकार करनी उचित है। आत्मा को असग मानकर नाना अगीकार करने निष्फल है। और कोई आत्मा मुक्त है, अन्य को बध है। इस रीति से बध मोक्ष के भेद से आत्मा का भेद अगीकार करे। सो भी नही बनता है। क्यो ? यदि बध मोक्ष आत्मा मे अगीकार करे तो बध मोक्ष के भेद से आत्मा का भेद सिद्ध हो। सो बध मोक्ष साख्यमत मे असग आत्मा मे अगीकार नही करे है। किन्तु बुद्धि के अविवेक से बध अगीकार किया है और बुद्धि के विवेक से बध का मोक्ष अगीकार किया है। जो वस्तु अविवेक से हो और विवेक से दूर हो, सो वस्तु रज्जुसर्प के समान मिथ्या होती है। आत्मा मे भी बुद्धि के अविवेक से बध है और विवेक से दूर होता है। इससे बध मिथ्या है। जैसे बध मिथ्या है, वैसे आत्मा का मोक्ष भी मिथ्या है। जिसमे बध सत्य हो, उसका हो मोक्ष सत्य होता है। आत्मा मे बध मिथ्या है। इससे मोक्ष भी मिथ्या ही है। इस रीति से मिथ्या जो बध मोक्ष, सो आकाश के समान एक आत्मा मे भी बनते है। उनके भेद से आत्मा का भेद सिद्ध नही होता है। इससे साख्यमत मे आत्मा का भेद असगत है।

(पूर्वपक्षी '—) वैसे न्यायमत मे भी आत्मा का भेद असगत है। क्यो ? यह न्याय सिद्धान्त है —सुख, दु ख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, ज्ञान के सस्कार, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, ये चतुर्दश गुण जीवरूप आत्मा मे है। सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, ये अष्ट गुण ईश्वर मे है। इतना भेद है .—ईश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, नित्य है और जीव के तीनो अनित्य है। ईश्वर व्यापक है और नित्य है। जीव नाना है और सपूर्ण व्यापक है तथा नित्य है। इससे जब ज्ञान गुण हो, तब तो जीव चेतन है और ज्ञान गुण का नाश हो तब जडरूप रह जाता है। ईश्वर जीव के समान आकाश, काल, दिशा, मन, ये भी नित्य है। और पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, के परमाणु नित्य है। जो झरोखे से आने वाली धूप मे सूक्ष्मरज प्रतीत होती है, उसके छठे भाग का नाम परमाणु है। वे परमाणु भी आत्मा के समान नित्य है। और भी जाति से आदि कितने ही पदार्थ न्यायमत मे नित्य है। वेद विरुद्ध सिद्धान्त का बहुत लिखने का जिज्ञासु को उपयोगी नही है। इससे यहा नही लिखे है। "मै मनुष्य हूँ। ब्राह्मण हूँ" ऐसी जो देह मे आत्म भ्राति है, उससे राग द्वेष होते है। उन राग द्वेष से धर्म अधर्म के निमित्त प्रवृत्त होता है। उनसे शरीर सबन्ध द्वारा सुख दु ख होते है। इस रीति से न्यायमत मे आत्मा को ससार का हेतु भ्राति ज्ञान है। वह भ्रांति ज्ञान तत्त्वज्ञान से दूर होता है। देहादिक सपूर्ण पदार्थो से आत्मा भिन्न है। इस निश्चय का नाम तत्त्व ज्ञान है। उस तत्त्वज्ञान से "मै ब्राह्मण हूँ। मै मनुष्य हूँ।" यह भ्रांति दूर होती है। भ्राति के नाश से राग द्वेष का अभाव होता है। उनके अभाव से धर्म अधर्म के निमित्त प्रवृत्ति का अभाव होता है। प्रवृत्ति के अभाव से शरीर सबन्धरूप जन्म का अभाव होता है और प्रारब्ध का भोग से नाश होता है। शरीर सबन्ध के अभाव से इक्कीस दु.खों का नाश होता है। उन दु'खो का नाशरूप ही न्यायमत मे मोक्ष है।

एक शरीर और श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, घ्राण, मन, ये षट् इन्द्रिय और षट् इन्द्रियों के विषय, षट् इन्द्रियो के ज्ञान और सुखदु ख ये इक्कीस दु ख हैं। शरीरादिक भी दु ख के जनक है। इससे उनको दु ख कहते हैं। और स्वर्गादिको का सुख भी नाश के भय से दु ख का हेतु है। इससे उसको भी दु ख कहते है। यद्यपि न्यायमत मे श्रोत्र और मन नित्य है। उनका नाश नही होता है। तथापि जिस रूप से श्रोत्र मन दु.ख के हेतु है, उस रूप का नाश होता है। पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति करके दु.ख के हेतु है। सो पदार्थो का ज्ञान मोक्षकाल मे श्रोत्र और मन से नही होता है। क्यो ? जो कर्ण गोलक मे स्थित आकाश है, उसको श्रोत्र कहते है। उस कर्ण गोलक का मोक्ष काल मे अभाव होता है। इससे आकाशरूप श्रोत्र इन्द्रिय है भो। परन्तु गोलक के

अभाव से ज्ञान नही होता है। इस रीति से ज्ञान का जनक जो श्रोत्र इन्द्रिय का स्वरूप, सोई दु ख है। उसी का नाश होता है। और आत्मा के साथ मन के सयोग से ज्ञान होता है। सो मन का सयोग न्याय सिद्धान्त मे एक को क्रिया से वा दो की क्रिया से होता है। कैसे ? जैसे बाज वृक्ष का सयोग एक बाज की क्रिया से होता है। और दो मेषो का सयोग दो की क्रिया से होता है। वैसे विभुआत्मा मे तो क्रिया कभी भी नही होती है। और मोक्ष काल मे मन मे भी क्रिया नही होती है। इससे सयोगवान मन का ही मोक्षकाल मे अभाव होता है। और कोई एक-देशी नैयायिक त्वचा के साथ मन के सयोग को ज्ञान का हेतु कहता है, आत्मा के सयोग को नही। सुषुप्ति मे पुरीतत् नाम नाडी मे मन प्रवेश करता है। तब त्वचा से मन का सयोग नही होता है। इससे सुषुप्ति मे ज्ञान नही होता है। उनके मत मे त्वचा से सयोग वाला मन ही ज्ञान द्वारा दु ख का हेतु होने से दु ख है, केवल मन नही है। मोक्ष मे त्वचा का नाश होने से उसके साथ सयोग नही है, इससे ज्ञान नही होता है। मोक्षकाल मे मन है भी, परन्तु दु ख का हेतु जो ज्ञान का जनक त्वचा से सयोग वाला मन, उसका सयोग के नाश से नाश होता है।

इस रीति से मोक्षकाल मे परमात्मा से भिन्न ही दु खरहित होकर, व्यापक आत्मा जडरूप से स्थित होता है। क्यो ? ज्ञानगुण से आत्मा का प्रकाश होता है। सो जीव का ज्ञान सपूर्ण इन्द्रियजन्य ही है, नित्य नही है। उस इन्द्रियजन्य ज्ञान का मोक्षकाल मे नाश होता है। इससे प्रकाशरहित जडरूप होकर आत्मा मोक्षकाल मे स्थित होता है। यह न्याय का सिद्धान्त है। और न्यायमत मे पूर्व उक्त प्रकार से सुख दु ख और बध मोक्ष आत्मा को होते है। इससे आत्मा नाना है और सपूर्ण व्यापक है। सर्व अल्प पदार्थो से जो सयोग है, सोई न्यायमत मे व्यापक का लक्षण है। सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद का अभाव व्यापक का लक्षण नही है। क्यो ? न्यायमत मे यद्यपि आत्मा निरवयव है, इससे स्वगत भेद का तो उसमे अभाव है भी, परन्तु सजातीय और विजातीय भेद का अभाव नही है। किन्तु सजातीय जो दूसरा आत्मा, उसका भेद

आत्मा मे है और विजातीय घटादिको का भेद भी आत्मा मे है। इससे सजातीय विजातीय स्वगत भेद का अभाव व्यापक का लक्षण नही है। किन्तु सर्वअल्प पदार्थो से सयोग ही व्यापक का लक्षण है। इसमे कोई शका करता है —न्यायमत मे आत्मा के समान आकाश, काल, दिशा भी व्यापक है और परमाणु सूक्ष्म है, निरवयव है। उनसे सर्व व्यापक पदार्थो का सयोग नही बनता। क्यो ? यदि परमाणु सावयव हो, तब तो किसी देश मे आत्मा का सयोग हो और किसी देश मे अन्य व्यापक पदार्थों का सयोग हो, सो परमाणु सावयव नही है, किन्तु निरवयव है और अतिसूक्ष्म है। उनके साथ एक ही देश मे सर्व व्यापक पदार्थो का संयोग होगा, सो नही बनता है।

क्यो ? जो एक के सयोग से स्थान निरुद्ध है, उस देश मे अन्य पदार्थ का सयोग नही बनता है। इससे नाना पदार्थो को व्यापकता नही बनती है। एक ही कोई पदार्थ व्यापक बनता है। यह शका नही बनती है। क्यो ? जो सावयत्र वस्तु का सयोग होता है, सो तो अन्य के सयोग का विरोधी होता है। जैसे जिस पृथ्वी देश मे हस्त का सयोग हो, उस देश मे पाद का सयोग नही होता है। और निरवयव का सयोग स्थानको नही रोकता है। इससे अन्य के सयोग का विरोधी नही है। यह वार्ता अनुभवसिद्ध है। कैसे ? जैसे घट के जिस देश मे आकाश का सयोग है, उस देश मे ही काल का और दिशा का सयोग भी है। यदि कोई घट का देश आकाश, काल, दिशा से बाहर हो, तो उस देश मे आकाश काल दिशा का सयोग नही हो। सो बाहर तो कोई देश भी नही है। किन्तु सर्व पदार्थों के सर्वदेश आकाश काल दिशा मे ही है। इससे सर्वपदार्थों के सर्वदेश में आकाशकाल दिशा का सयोग है। इस रीति से परमाणु मे भी एक ही देश मे नाना निरवयव विभु का सयोग बनता है, कोई दोष नही है। इससे आत्मा नाना है और सपूर्ण व्यापक है।

(सिद्धान्ती :—) सर्व का सर्व पदार्थो से सयोग है। यह न्याय का सिद्धान्त है। सो समीचन नही है। क्यो ? यदि व्यापक आत्मा नाना अगीकार करें, तो सर्व शरीर मे सर्व आत्मा का सबन्ध अगीकार करना

होगा। इससे कौन शरीर किसका है, यह निश्चय नही होगा। तब एक एक आत्मा के सर्व शरीर होने चाहिये। यदि ऐसे कहै —जिसके कर्म से जो शरीर उत्पन्न हुआ है, उस आत्मा का वह शरीर है। सो भी नही बनता। क्यो ? कर्म जिस शरीर से होते है, उस कर्म करने वाले पूर्व शरीर मे भी सर्व आत्मा का सबन्ध है। इससे कर्म भी सर्व आत्मा के ही होगे, एक के नही।

और यदि ऐसे कहै —जिस आत्मा का मन सहित शरीर है, उस आत्मा का सो शरीर है। सो भी नही बनता। क्यो ? शरीर के समान मन के साथ भी सर्व आत्मा का सबन्ध है। उसमे यह निश्चय नही होता है। जो कौन सा मन किस आत्मा का है। इसलिये सर्व आत्मा के सर्व मन होने चाहिये। वैसे इन्द्रिय भी सर्व आत्मा के सर्व ही होगे। बाहर के पदार्थों मे "यह मेरा है, यह अन्य का है" ऐसा व्यवहार भी शरीर निमित्तक होता है। सो शरीर सर्व आत्मा के सर्व है। इससे बाहर के पदार्थ भी सर्व आत्मा के सर्व होने चाहिये। और यदि ऐसे कहै —जिस आत्मा को जिस शरीर मे अहबुद्धि और ममबुद्धि हो, उस आत्मा का वह शरीर है। सो अहबुद्धि और ममबुद्धि एक है। इससे सर्व आत्मा मे नही रहती है किन्तु एक धर्म एक ही धर्मी मे रहता है। इससे एक ही आत्मा का शरीर है। जिस आत्मा का जो शरीर है, उस शरीर के सबन्धी मन इन्द्रिय और बाहर के पदार्थ उस आत्मा के है। इससे व्यापक नाना आत्मा अगीकार करने मे भी दोष नही है।

सो वार्त्ता भी नहीं बनती है। क्यो यद्यपि अहबुद्धि एक देह मे एक ही आत्मा को होती है। तथापि सो न्यायमत मे नही बनती है। किन्तु न्यायमत मे सर्व आत्मा को एक देह में अहबुद्धि होनी चाहिये। क्यो ? न्यायमत मे बुद्धि नाम ज्ञान का है। वह ज्ञान आत्मा और मन के सयोग से होता है। सो मन के साथ सयोग सर्व आत्मा का है। इससे मन के सयोग से जैसे एक देह मे एक आत्मा को अहबुद्धि होती है, वैसे एक देह मे सर्व आत्मा को अहबुद्धि होनी चाहिये। और यदि ऐसे कहै — यद्यपि मन का सयोग तो सर्व आत्मा से है। तथापि जिस आत्मा मे

ज्ञान का जनक अदृष्ट है, उस आत्मा को ही अहबुद्धि होती है। तो भी सर्व को ही ज्ञान होना चाहिये। क्यो ? यदि व्यापक नाना आत्मा अगीकार करें, तो एक शरीर की शुभ अशुभ क्रिया से शरीर मे स्थित सर्व आत्मा मे ही अदृष्ट होना चाहिये। यह वार्ता पूर्व कह आये हैं। इससे व्यापक नाना आत्मा अगीकार करे तो एक देह मे सर्व को सुख दुःख का भोग होना चाहिये। जैसे नाना घटो को व्यापक कहना निष्फल है, वैसे देह देह मे ही कर्ताभोक्ता नाना आत्मा को व्यापक कहना निष्फल है। किंवा नाना अतःकरण के अगीकार करने से भोग की असकर की सिद्धि से व्यापक आत्मा को नाना कहना निष्प्रयोजन है। इससे व्यापक नाना कर्ता भोक्ता आत्मा है। यह न्याय का सिद्धान्त समीचीन नही है।

हमारे सिद्धात मे तो कर्ता भोक्ता अन्तःकरण है, सो अन्तःकरण नाना है, व्यापक और अणु नही है। किन्तु शरीर के समान उस अन्तःकरण का परिणाम है। दीप के प्रकाश के समान बड़े शरीर को प्राप्त हो, तब अन्तःकरण का विकाश होता है। और न्यून शरीर मे सकोच होता है। यह वार्ता सिद्धात बिन्दु के व्याख्यान मे मधुसूदन स्वामी ने प्रतिपादन करी है। जिस अन्तःकरण का जिस शरीर से सबन्ध है, उस अन्तःकरण को उस शरीर से भोग होता है। यदि अन्तःकरण को व्यापक अगीकार करें, तो सर्व शरीर सर्व के होगे और भोग भी सर्व को होगा। सो अन्तःकरण व्यापक नही है, इस से दोष नही है। और अन्तःकरण को अणु अगीकार करै, तो शरीर के एक देश मे अन्तःकरण रहता है, ऐसा अगीकार करना होगा। सो वार्ता भी नही बनती है। क्यो ? यदि एक काल मे ही पाद और मस्तक मे कटक वेध हो, तब दोनो स्थानो मे एक ही काल मे पीड़ा होती है, सो नही होनी चाहिये। क्यो ? यदि अतःकरण अणु हो, तो एक ही स्थान मे एक काल मे रहेगा। इससे जिस स्थान मे अन्तःकरण हो, उस स्थान मे ही पीडा होनी चाहिये, दोनो स्थानो मे नही होनी चाहिये। इससे अन्तःकरण अणु और व्यापक नही है, किन्तु शरीर के

समान है। इससे कोई दोष नही है। अणु और व्यापक मे विलक्षण जो हो, उसको ही मध्यम परिमाण कहते है। (पूर्वपक्षी —) और न्याय मत मे किसी नवीन ने ऐसा अगीकार किया है —आत्मा नाना है, कर्ता भोक्ता है, व्यापक नही है। इससे भोग का सकर नही होता है। अणु भी नही है, इससे दो स्थान में पीडा का असभव भी नही है। किन्तु जैसे वेदात मत मे अन्त करण मध्यम परिमाण है, वैसे आत्मा भी मध्यम परिमाण है। उसमे चतुर्दश गुण रहते है। शरीर के अतर्गत मन इन्द्रिय आदिक सर्व अल्प पदार्थों से आत्मा का सयोग है। इसमे मध्यम परिमाण वाले आत्मा मे भी न्याय सप्रदाय उक्त व्यापक का लक्षण सभव है।

(सिद्धान्ती —) सो भी समीचीन नही है। क्यो ? यदि आत्मा को सकोच विकाश वाला अगीकार करै। तो दीप की प्रभा के समान आत्मा विकारी और विनाश वाला होगा। इससे मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र और साधन निष्फल होगे। और मध्यम परिमाण अगीकार करके सकोच विकाश अगीकार नही करें, तो कौन से शरीर के समान आत्मा को अगीकार करें, यह निश्चय नही होता है। यदि मनुष्य शरीर के समान अगीकार करे तो जब आत्मा हस्ती के शरीर को प्राप्त हो, तब सर्व शरीर मे आत्मा नही होगा। इससे जिस देश मे हस्ती के आत्मा नही है, उस देश मे पीडा नही होनी चाहिये। और हस्ती के समान अंगीकार करें तो उससे अन्य शरीर बडे है, उनके एक देश मे पीडा नही होनी चाहिये। और सर्व से बडा किसी का शरीर नही है। जिसके समान आत्मा अगीकार करें। सबसे बडा विराट् का शरीर है। उसके समान यदि आत्मा अगीकार करें, तो विराट् के शरीर के अतर्भूत सर्व शरीर है। इससे सर्व आत्मा का सर्व शरीर से सबन्ध होगा। उसमें पूर्व दोष कहे ही हैं। और यह नियम है —जो मध्यम परिमाण वस्तु हो, सो शरीर के समान अनित्य होती है। इससे आत्मा भी अनित्य होगा। और अन्त करण का तो हमारे मत मे ज्ञान से नाश होता है, इससे अनित्य है, मध्यम परिमाण अगीकार करने से

दोष नही है। इस रीति से नवीन तार्किक का मत भी समीचीन नही है। और (पूर्वपक्षी —) जो कोई ऐसे कहै —आत्मा नाना है और अणु है। (सिद्धाती —) सो वार्ता भी नही बनती है। क्यो ? यदि आत्मा को कर्ता भोक्ता अगीकार करे, तो अन्त करण के अणु पक्ष मे जो दोष कहा है, सो दोष होगा। और कर्ता भोक्ता अगीकार नही करे तो नाना आत्मा अगीकार करना निष्फल होगा। एक ही व्यापक सर्व शरीर मे अगीकार करना योग्य है। और कर्ता भोक्ता अगीकार नही करे तो अपने सिद्धात का भी त्याग होगा। क्यो ? अणुवादी का यह सिद्धात है —ज्ञान, सुख, दु ख, धर्म, से आदि आत्मा के धर्म है। इससे यदि आत्मा को अणु अगीकार करे, तो जिस शरीर देश मे आत्मा नही है, सो देश मृत समान है। उसमे पीडा आदिक नही होने चाहिये।

और यदि ऐसे कहै .—यद्यपि आत्मा तो शरीर के एक देश मे है, परन्तु कस्तूरी की गध के समान उसका ज्ञान सर्व शरीर मे व्याप्त है। इससे सर्व शरीर मे अनुकूल प्रतिकूल के सबन्ध का अनुभव करता है। सो भी नही बनता। क्यो ? यह नियम है —जितने देश मे गुणवाला रहता है, उससे बाहर गुण नही रहता है, किन्तु गुणी मे ही गुण रहना है। कैसे ? जैसे रूप घटादिको से बाहर नही रहता है, वैसे आत्मा से बाहर ज्ञान भी नही रहता है। और कस्तूरी के सूक्ष्म भाग जितने देश मे व्याप्त होते है, उतने देश मे ही गध व्याप्त होती है। इससे कस्तूरी का दृष्टात भी नही बनना है। और कही श्रुति मे आत्मा अणु से भी अत्यन्त अणु कहा है। सो दुर्विज्ञेय है, इससे कहा है। कैसे ? जैसे अत्यन्त अणु वस्तु का मद दृष्टि पुरुष को ज्ञान नही होता है। वैसे बहिर्मुख पुरुष को आत्मा का भी ज्ञान नही होता है। इससे अणु के समान है। यह श्रुति का अभिप्राय है। और "आत्मा अणु है" यह अभिप्राय नही है। क्यो ? बहुत स्थान मे व्यापक रूप से आत्मा का वेद ने स्वय ही प्रतिपादन किया है, इससे आत्मा अणु नही है। "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इस श्रुति का यह अर्थ

है —पृथ्वी से जल सूक्ष्म है और व्यापक है। जल से तेज सूक्ष्म है और व्यापक है। तेज से वायु सूक्ष्म है और व्यापक है। वायु से आकाश सूक्ष्म है और व्यापक है। आकाश से माया सूक्ष्म है और व्यापक है। माया से आत्मा सूक्ष्म है और व्यापक है। इत्यादिक श्रुतियो मे आत्मा की सर्व से सूक्ष्मता और व्यापकता कही है। यही अर्थ उपदेश सहस्त्री मे भाष्यकार ने प्रतिपादन किया है। इस रीति से "व्यापक तथा मध्यम परिमाण अथवा अणु आत्मा नाना है" यह कहना सभव नही है।

परिशेष से एक व्यापक आत्मा है। बहुत अर्थो के प्राप्त होने पर अन्यो के निषेध होने पर अवशेष रहे एक अर्थ मे जो निश्चय होता है, उसको परिशेष कहते है। उस परिशेष से एक व्यापक आत्मा मे धर्म-अधर्म, सुखदु.ख और बन्ध मोक्ष अगीकार करे, तो किसी को सुख, किसी को दु ख, किसी को बन्ध, किसी को मोक्ष, ऐसा व्यवहार नही होगा। इससे धर्मादिक बुद्धि के धर्म है। यद्यपि बुद्धि जड है, इससे उसमे भी धर्म सुखादिक नही बनते है। तथापि आत्मा के धर्म नही है। इस अभिप्राय से ही बुद्धि के धर्म कहते है। और "बुद्धि के धर्म है" इस अभिप्राय से नही कहते है। बुद्रि और सुखादिक आत्मा मे अध्यस्त है। जो वस्तु जिसमे अध्यस्त हो, सो उसमे परमार्थ से नही होती है। कैसे ? जैसे सर्प रज्जु मे अध्यस्त है, सो परमार्थ से रज्जु मे नही है। वैसे बुद्धि और सुखादिक आत्मा मे नही है। और अध्यस्त वस्तु भी किसी का आश्रय नही होती है। इससे बुद्धि भी सुखादिको का आश्रय नही है। परन्तु अज्ञान तो शुद्ध चेतन मे अध्यस्त है। और अत करण अज्ञान उपहित मे अध्यस्त है। और अत.करण उपहित मे धर्म अधर्म, सुख दु ख, बन्ध मोक्ष अध्यस्त है। इस रीति से आत्मा मे धर्मादिको के अधिष्ठानपने का अत करण उपाधि है। इससे धर्मादिक को अत.करण के धर्म कहते है। यदि अत करण विशिष्ट मे धर्मादिक अध्यस्त कहै तो नही बनता है। क्यो ? विशेषण युक्त का नाम

विशिष्ट है। धर्मादिक अध्यास का अधिष्ठान जो आत्मा, उसका विशेषण अतःकरण को मानें तो अत करण भी धर्म सुखादिको का अधिष्ठान होगा। सो वार्ता नही बनती है। क्यो ? मिथ्या वस्तु अधिष्ठान नही होती है। इससे आत्मा मे धर्मादिको के अध्यास का अत.करण विशेषण नही है, किन्तु उपाधि है। उपाधि का यह स्वभाव है —आप तटस्थ होकर जितने देश मे आप हो, उतने देश मे स्थित वस्तु को बताती है। और विशेषण का यह स्वभाव है —जितने देश मे आप हो, उतने देश मे स्थित वस्तु को अपने सहित बताता है। विशेषणवान को विशिष्ट कहते है। और उपाधि वाले को उपहित कहते है।

इस रीति से अत करण विशिष्ट मे धर्मादिक अध्यस्त कहै, तो जितने देश मे अत.करण है उस देश मे स्थित चेतन भाग और अत करण दोनो को अधिष्ठानता होती है। सो अत करण आप भी अध्यस्त है। इससे अधिष्ठान नही बनता है। इस अभिप्राय से अत करण उपहित मे धर्मादिक अध्यस्त कहे है। इससे "जितने देश मे अत.करण है, उतने देश मे स्थित चेतन भाग मात्र मे अधिष्ठानता है, अत.करण मे नही है" यह वार्ता बनती है। वैसे अत.करण भी अज्ञान उपहित मे अध्यस्त है, अज्ञान विशिष्ट मे नही है। इस रीति से अध्यस्त जो धर्मादिक, उनका अधिष्ठान आत्मा है। अध्यास के अधिष्ठानपने की अत.करण उपाधि है। इससे बुद्धि के धर्म कहते है। और अविवेक से अत करण, आत्मा दोनो मे प्रतीत होते है। इससे अंत.करण विशिष्ट जो प्रमाता है, उसके धर्म कहते हं। धर्मादिक अत करण के धर्म हो अथवा अत करण विशिष्ट प्रमाता के धर्म हो अथवा रज्जु सर्प, स्वप्न के पदार्थ, गधर्व नगर, नभनीलता के समान किसी के भी धर्म नहीं हो। सर्व प्रकार से आत्मा के धर्म तो नही है। यद्यपि आत्मा मे अध्यस्त है तथापि जो वस्तु जिसमे अध्यस्त हो, सो उसमे परमार्थ से नही होती है। इससे राग द्वेष, धर्म अधर्म, सुख दु ख, बन्ध मोक्ष, रहित एक व्यापक आत्मा है। अध्यस्त नाम कल्पित का है।

आत्मा सत् है

सो आत्मा सत् है। जिस वस्तु का ज्ञान से अभाव हो, उसको असत् कहते है। जिसकी निवृत्ति किसी भी काल मे नही हो, उसको सत् कहते है। सर्व पदार्थों का और उनकी निवृत्ति का अधिष्ठान आत्मा है। यदि आत्मा की निवृत्ति हो, तो उसका अन्य अधिष्ठान कहना चाहिये। क्यो ? शून्य मे निवृत्ति नही होती है। यदि आत्मा और उसकी निवृत्ति का अन्य अधिष्ठान अगीकार करे, तो उसका और अधिष्ठान अगीकार करना होगा। इस रीति से अनवस्था होगी। और आत्मा की जो निवृत्ति अगीकार करें, उसको यह पूछते है — आत्मा की निवृत्ति किसी ने अनुभव करी है अथवा नही ? यदि ऐसे कहै, अनुभव करी है। सो नही बनता। क्यो ? जो अनुभव करने वाला है, सोई आत्मा है और अपना स्वरूप है। उसकी निवृत्ति का अनुभव अपने मस्तक छेदन के अनुभव के समान है। इससे आत्मा की निवृत्ति का अनुभव नही बनता है। और यदि ऐसे कहै —आत्मा की निवृत्ति तो होती है, परन्तु उसकी निवृत्ति का अनुभव किसी को भी नही होता है। तो यह वार्ता सिद्ध हुई। आत्मा की निवृत्ति नही होती है। क्यो ? जिस वस्तु का किसी ने भी अनुभव नही करा, सो वध्या-पुत्र के समान होती है। इससे आत्मा की निवृत्ति नही होती है। इसी से आत्मा सत् है। और—

आत्मा चित् (चैतन्य) है

आत्मा चित् है। प्रकाश रूप जो ज्ञान है, उसको चित् कहते है। यदि आत्मा को अप्रकाशरूप माने तो, अनात्म जड वस्तु का प्रकाश कभी भी नही होगा। यदि अ त करण और इन्द्रियो से पदार्थों का प्रकाश कहै तो नही बनता है। क्यो ? अ त करण और इन्द्रिय परि-च्छिन्न है, इससे कार्य है। जो परिच्छिन्न होता है, वह घट के समान कार्य होता है। अ त करण इन्द्रिय भी परिच्छिन्न है, इससे कार्य है। देशकाल से जिसका अ त हो, उसको परिच्छिन्न कहते है। जो कार्य होता है सो जड होता है। अ त.करण और इन्द्रिय भी जड है। उनसे

किसी वस्तु का प्रकाश नही बनता है। इससे जो आत्मा सर्व का प्रकाश करता है, सो प्रकाशरूप है। और यदि ऐसे कहै —आत्मा प्रकाशरूप नही है किन्तु जड है और उसमे ज्ञान गुण है। उस ज्ञानगुण से आत्मा और अनात्मा का प्रकाश होता है। उसको यह पूछते है —आत्मा का ज्ञान गुण नित्य है अथवा अनित्य है। यदि नित्य कहै, तो आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान सिद्ध होगा। क्यो ? यह नियम है —जो आत्मा से भिन्न होता है, वह अनित्य होता है। यदि ज्ञान को आत्मा से भिन्न अगीकार करे, तो अनित्य ही होगा। इससे नित्य मानकर आत्मा से भिन्न ज्ञान है, यह कहना नही बनता है।

और यदि अनित्य अगीकार करै, तो घटादिको के समान जड होगा। जो अनित्य वस्तु होती है, वह जड होती है। इससे "ज्ञान अनित्य है" यह कहना नही बनता है। कितु ज्ञान नित्य ही है। वह नित्य ज्ञान आत्मा स्वरूप ही है। यदि अनित्य अगीकार करै, तो कदाचित् आत्मा मे ज्ञान होगा और कदाचित् नही होगा। इससे आत्मा मे भिन्न भी ज्ञान हो, और नित्य अगीकार करै, तो भिन्न नही रहता है। जो गुण होता है, सो गुणवान् मे कदाचित् रहता है और कदाचित् नही भी रहता है। कैसे ? जैसे वस्त्र का नीलपीत गुण कदाचित् रहता है और कदाचित् नही रहता है। इससे जो गुण होता है वह आगमापायी होता है। और ज्ञान को नित्यता होने से आगमापायी नही है। इससे आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है। और ज्ञान को अनित्य कहै, तो इन्द्रिय अथवा अन्त करण से ज्ञान उत्पन्न होता है, यह कहना होगा। सो नही बनता है। क्यो ? सुषुप्ति मे इन्द्रियादिक तो नही है और सुख का ज्ञान होता है। सो नही होना चाहिये। यदि सुषुप्ति मे सुख का ज्ञान अगीकार नही करें, तो जागकर "मै सुख से सोया" यह सुषुप्ति के सुख की स्मृति होती है, सो नही होनी चाहिये। जिस वस्तु का पूर्व ज्ञान होता है, उसकी स्मृति होती है। अज्ञात वस्तु की स्मृति नही होती है और सुषुप्ति के सुख की जागने पर स्मृति होती है। इससे सुषुप्ति मे सुख का ज्ञान होता है। उस ज्ञान के जनक इन्द्रियादिक सुषुप्ति मे नही हैं, इससे ज्ञान नित्य है।

ज्ञान को त्यागकर आत्मा कभी भी नही रहती है। इससे ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। कैसे ? जैसे उष्णता को त्यागकर अग्नि कभी भी नही रहता है। इससे उष्णता अग्नि का स्वरूप है। वैसे ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप है। जो आगमापायी होता है, वह गुण होता है। उष्णता और ज्ञान आगमापायी नही है। इससे अग्नि और आत्मा के स्वरूप है। जो वस्तु कदाचित् हो और कदाचित् नही हो, उसको आगमापायी कहते है। उत्पत्ति और विनाश अन्त करण की वृत्ति के होते है, ज्ञान के नही होते। आत्मस्वरूप जो ज्ञान है, सो विशेष व्यवहार का हेतु नही है। किंतु ज्ञान सहित वृत्ति अथवा वृत्ति मे आरूढ ज्ञान, व्यवहार का हेतु है। और आभासवाद मे आभास सहित वृत्ति से व्यवहार होता है। आभास द्वारा अथवा साक्षात् वृत्ति द्वारा आत्मस्वरूप ज्ञान से ही सर्व व्यवहार सिद्ध होता है, नही तो नही होता है। इस रीति से सर्व का प्रकाशक ज्ञानस्वरूप आत्मा है। इससे चित् है। और :—

आत्मा आनन्दरूप है

आत्मा आनन्दरूप है। यदि आत्मा आनन्दरूप नही हो तो, विषय सबन्ध से स्वरूप आनन्द का भान होता है। सो नही होना चाहिये। विषय मे आनन्द नही। यह वार्ता पूर्व कथन कर आये है। यदि विषय मे आनन्द हो तो, जिस विषय से एक पुरुष को सुख होता है, उसी से अन्य को दुख होता है। कैसे ? जैसे अग्नि के स्पर्श से अग्निकीट को और सर्प सिह के रूप देखने से सर्पनी सिहनी को आनन्द होता है और अन्य पुरुषो को दु ख होता है। सो नही होना चाहिये और सिद्धान्त मे तो अग्निकीट को अग्नि स्पर्श की इच्छा होती है। तब चचल बुद्धि मे स्वरूप आनन्द का भान नही होता है। अग्नि सबन्ध से क्षणमात्र इच्छा दूर होकर निश्चल बुद्धि मे स्वरूप आनन्द का भान होता है। अन्य पुरुषो को अग्नि सबन्ध की इच्छा नही है। किन्तु अन्य पदार्थों की इच्छा है। उन पदार्थो की इच्छा अग्नि सबन्ध से दूर नही होती है। इससे चचल अन्त करण मे अग्नि सबन्ध से आनन्द नही होता है। इसमे यह शका होती है :—जो इच्छारूप अन्त करण की वृत्ति है। सो तो विषय

प्राप्ति से नाश हो गई है और अन्य वृत्ति का कोई निमित्त नही है। इससे उत्पन्न नही हुई है। और वृत्ति से बिना स्वरूप आनन्द का भान नही होता है। इससे विषय मे ही आनन्द है।

सो शका नही बनती है। क्यो? यद्यपि इच्छारूप अन्त करण की वृत्ति का तो अभाव है। और वह इच्छारूप वृत्ति हो, तो भी उसमे आनन्द का प्रकाश नही होता है। क्यो? इच्छारूप वृत्ति राजस है और आनन्द का प्रकाश सात्विक वृत्ति मे होता है। तथापि वाछित पदार्थ जो मिला है, उसके स्वरूप को विषय करने के लिये जो ज्ञान रूप अत-करण की वृत्ति है सो सात्विक है। क्यो? सत्वगुण से ज्ञान होता है, यह नियम है। उस सात्विक वृत्ति मे आनन्द का भान होता है। परन्तु सो ज्ञानरूप वृत्ति बहिर्मुख है। उसके पृष्ठ भाग मे स्थित जो अन्त-करण उपहित चेतन स्वरूप आनन्द, उसका उस वृत्ति से ग्रहण नही होता है। इससे विषय उपहित चेतन रूप आनन्द का भान होता है। वह विषय उपहित चेतन आत्मा से भिन्न नही है। इससे आत्मानन्द का ही विषय मे भान कहा जाता है। उस ज्ञानरूप वृत्ति मे विषय के साथ नेत्रादिको का सबन्ध ही निमित्त है अथवा ज्ञानरूप जो बहिर्मुख वृत्ति है, उससे अन्य अन्तर्मुख वृत्ति होती है। वह एकाग्रता युक्त सात्विकी वृत्ति होती है। उसी को प्रियमोद और प्रमोद वृत्ति भी कहते है। उसमें अन्त करण उपहित चेतनरूप आनन्द का ही भान होता है। यह उत्तम सिद्धांत है। उस वृत्ति की उत्पत्ति मे इच्छादिको का अभाव ही निमित्त है। कैसे? जैसे इच्छादिको से रहित जो उदासीन पुरुष एकात मे स्थित होता है। उसकी बहिर्मुख ज्ञानरूप से कोई भी वृत्ति नही होती है, आनन्द का ही भान होता है। इससे इच्छादिको के अभावरूप निमित्त से अन्तर्मुख वृत्ति आनन्द ग्रहण करने वाली होती है। उससे वाछित विषय के लाभ से इच्छादिको का अभाव होने से, ज्ञान से अनन्तर अन्तर्मुख वृत्ति होती है। उससे अन्त करण उपहित आनन्द का ही ग्रहण होता है। सो स्वरूप आनन्द का ग्रहण और विषय का ज्ञान अत्यन्त अव्यवहित है। इससे पुरुष को ऐसी भ्राति होती है —"मैने विषय मे आनन्द अनुभव किया है। कैसे? जैसे श्वान हड्डी को चाबता

है, उससे अपने मुख के मसोडे आदिक टूटे अवयवो से रुधिर निकलता है। उसको प्राशन करके "यह रुधिर मेरे को हड्डी से प्राप्त हो रहा है।" ऐसे मानता है।

वैसे ही वाछित विषय की प्राप्तिरूप निमित्त से इच्छा की निवृत्ति द्वारा अतर्मुख हुई वृत्ति मे प्रतिबिंबित स्वरूप आनन्द का अनुभव करके "मैने विषय मे आनन्द अनुभव किया है।" ऐसी भ्राति अविवेकी पुरुष को होती है। उस भ्राति से वह फिर भी अधिक अधिक विषय की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न करता है और विवेकी पुरुष को उक्त भ्राति नही होती है। इससे वह निरुपाधिक आनन्द की प्राप्ति के निमित्त वेदान्त विचार आदिक मे प्रयत्न करता है। यद्यपि विषय मे जो आनन्द का भान होता है, सो भी स्वरूप का आनन्द है। तथापि श्वान की खलडी मे स्थित दुग्ध के समान निषिद्ध होने से सो विषयानन्द उपादेय नही है। किन्तु अनेक विक्षेपो का हेतु होने से हेय है। विषय के अभाव पूर्वक विचार आदिक साधन से जो आनन्द का भान होता है, सो सुवर्ण आदिक के पात्र मे स्थित दुग्ध के समान शास्त्र विहित होने से उपादेय है।

"विषयाकार वृत्ति से विषय उपहित चेतनरूप आनन्द का भान होता है।" इस प्रथम पक्ष से यह द्वितीय पक्ष "अन्य अतर्मुख वृत्ति मे अन्त.करण उपहित चेतन आनन्द का ही भान होता है।" उत्तम है। क्यों ? जो विषयाकार ज्ञानरूप वृत्ति है, उससे अत.करण उपहित आनन्द का तो भान नही होता है। इससे विषय उपहित आनन्द का ही भान होगा। तो मार्ग मे वृक्षाकार जो ज्ञानरूप वृत्ति है, सो भी सात्विक है। उससे भी वृक्ष उपहित चेतन स्वरूप आनन्द का भान होना चाहिये। वैसे सर्व ज्ञान से ज्ञेय उपहित चेतनरूप आनन्द का भान होना चाहिये। इससे अनात्म वस्तु का ज्ञानरूप जो बहिर्मुख वृत्ति है, उससे ज्ञेय उपहित चेतन स्वरूप आनन्द का ग्रहण नही होता है।

इस रीति से विषय के सबन्ध से आत्मस्वरूपानन्द का भान होता है। यदि आत्मा आनन्दरूप नही हो, तो विषय सबन्ध से आनन्द का

भान नही बनता है। इससे आत्मा आनन्दरूप है और आत्मा का सबन्धी जो वस्तु है, उसमे प्रेम होता है। उससे सन्निहित मे अधिक प्रेम होता है। इस रीति से बाहर बाहर के पदार्थो की अपेक्षा से अन्तर अन्तर के पदार्थो मे अधिक प्रीति होती है। परपरा से आत्मा का सबधी जो पुत्र का मित्र है, उसमे प्रीति होती है। पुत्र के मित्र की अपेक्षा से पुत्र मे अधिक प्रीति होती है। और पुत्र से भी स्थूल सूक्ष्म शरीर मे अधिक प्रीति होती है। और स्थूल सूक्ष्म शरीर से भी स्थूल से सूक्ष्म मे अधिक प्रीति होती है। पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर आत्मा के समीप है। आत्मा का आभास सूक्ष्म शरीर मे होता है, अन्य मे नही होता है। इससे आभास द्वारा आत्मा का सूक्ष्म शरीर से सबन्ध है, अन्य से नही है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का सबन्ध है। इससे स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर द्वारा आत्मा का सबन्ध है। और पुत्र से स्थूल शरीर द्वारा सबन्ध है। पुत्र के मित्र से पुत्र द्वारा सबन्ध है। इस रीति से उत्तर उत्तर जो आत्मा के समीप है, उसमे अधिक प्रीति है। जिस आत्मा के सबन्ध होने से पदार्थ मे प्रीति होती है, उस आत्मा मे ही मुख्य प्रीति है और पदार्थ मे नही है। कैसे ? जैसे पुत्र के मित्र मे पुत्र सबन्ध से प्रीति है, इससे पुत्र मे ही प्रीति है, पुत्र के मित्र मे नही है। वैसे आत्मा के अधिक समीप मे अधिक प्रीति होती है। इससे आत्मा मे ही सर्व की प्रीति है।

सो प्रीति आनन्द मे और दु.ख के अभाव में होती है, अन्य मे नही होती। अन्य पदार्थ मे जो प्रीति होती है, सो आनन्द और दु ख के अभाव के निमित्त होती है। इससे आनन्द और दु ख के अभाव को छोडकर अन्य मे प्रीति नही होती है। इमसे सर्व की प्रीति का विषय जो आत्मा, सो आनन्दरूप है। और दु ख का अभाव आत्मरूप है। कल्पित का अभाव अधिष्ठानरूप ही होता है। कैसे ? जैसे सर्प का अभाव रज्जुरूप ही होता है। इससे कल्पित जो दु.ख, उसका अभाव भी आत्मारूप है। इस रीति से आत्मा आनन्दरूप है। और न्यायमत मे आत्मा का आनन्द गुण माना है, सो समीचीन नही है। क्यो ? यदि आनन्द गुण को अगीकार करे, तो आगमापायी नही है, इससे

आत्मा का स्वरूप ही आनन्द सिद्ध होगा और नित्य आनन्द न्यायमत मे नही माना है। अनित्य कहै, तो अनुकूल विषय और इन्द्रिय के सबन्ध से आनन्द की उत्पत्ति अगीकार करनी होगी। इससे सुषुप्ति मे आनन्द का भान नही होना चाहिये। क्यो ? सुषुप्ति मे विषय का और इन्द्रिय का सबन्ध नही है। इससे आत्मा का आनन्द गुण नही है। किन्तु आत्मा आनन्द रूप है। इस रीति से आत्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप है।

सच्चिदानन्द परस्पर भिन्न नही

सो सच्चिदानन्द परस्पर भिन्न नही है, एक ही है। यदि आत्मा के गुण हो, तो परस्पर भिन्न भी हो, आत्म स्वरूप है, इससे भिन्न नही है। एक ही आत्मा निवृत्ति रहित है, इससे सत्य है। जड से विलक्षण प्रकाशरूप है, इससे चित् है। और दु ख से विलक्षण मुख्य प्रीति का विषय है, इससे आनन्दरूप है। जैसे उष्ण प्रकाशरूप अग्नि है, वैसे सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है। और सच्चिदानन्द स्वरूप ही शास्त्र मे ब्रह्म कहा है। इससे ब्रह्मस्वरूप आत्मा है। ब्रह्म नाम व्यापक का है। देश से जिसका अत नही हो, उसको व्यापक कहते है। उससे आत्मा यदि भिन्न हो, तो देश से अन्तवाला होगा। जिसका देश से अन्त हो, उसका काल से भी अन्त होता है, यह नियम है। इससे अनित्य होगा। जिसका काल से अत होता है, उसको अनित्य कहते है। इससे ब्रह्म से भिन्न आत्मा नही है। यदि आत्मा से भिन्न ब्रह्म हो, तो अनात्मा होगा। अनात्म घटादिक है, सो जड है। इससे आत्मा से भिन्न ब्रह्म भी जड ही होगा। इससे आत्मा से भिन्न ब्रह्म नही है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप ही आत्मा है। एक ही चेतन सर्व प्रपच और माया का अधिष्ठान है, इससे ब्रह्म कहा जाता है।

अविद्या और व्यष्टि देहादिको का अधिष्ठान है, इससे आत्मा कहा जाता है। तत्पद के लक्ष्य को ब्रह्म कहते है और त्वपद के लक्ष्य को आत्मा कहते है। ईश्वर साक्षी तत्पद का लक्ष्य है। और जीव साक्षी

त्वपद का लक्ष्य है। व्यष्टि सघात उपहित चेतन जीव साक्षी है। और समष्टि सघात उपहित चेतन ईश्वर साक्षी है। यद्यपि जीव की और ईश्वर की एकता नही बनती है। तथापि जीव साक्षी और ईश्वर साक्षी का उपाधि के भेद से भेद है और स्वरूप से एक ही है। कैसे ? जैसे मठ मे स्थित जो घटाकाश और मठाकाश, उनका उपाधि के भेद बिना स्वरूप से भेद नही है। वैसे आत्मा और ब्रह्म का उपाधि भेद बिना भेद नही है, एक ही वस्तु है।

ब्रह्मरूप आत्मा अजन्मा है

वह ब्रह्मरूप आत्मा अजन्मा अर्थात् जन्मरहित है। यदि आत्मा का जन्म अ गीकार करें तो अनित्य होगा। सो वार्ता परलोक वादी जो आस्तिक हैं, उनको इष्ट नही है। क्यो ? यदि आत्मा उत्पत्ति नाशवान् हो, तो प्रथम जन्म मे पूर्व कर्म के बिना ही सुखदु.ख का भोग और किये हुये कर्म का भोग से बिना ही नाश होगा। इससे यदि कर्ता भोक्ता आत्मा अगीकार करें, तो भी जन्म नाश रहित ही अगी-कार करना होगा। और यदि आत्मा का जन्म अ गीकार करे तो, हेतु से बिना तो किसी भी वस्तु का जन्म नही होता है। इससे किसी हेतु से ही जन्म कहना होगा। सो नही बनता है। क्यो ? जो आत्मा का हेतु है, सो आत्मा से भिन्न नही कहना होगा। सो आत्मा से भिन्न संपूर्ण आत्मा मे कल्पित है इससे आत्मा का हेतु नही बनता है। कैसे ? जैसे रज्जु मे कल्पित सर्प रज्जु का हेतु नही है, वैसे आत्मा मे कल्पित वस्तु आत्मा का हेतु नही बनती है। जैसे एक रज्जु मे नाना पुरुषो को दड, सर्प, पृथ्वी की रेखा जलधारा की भ्राति होती है। उस भ्राति मे दो अ श है। एक तो सामान्य इद अ श है। और दूसरा सर्पादिक विशेष अ श है। सो सामान्य इद अ श सर्पादिक विशेष अशो मे सर्वत्र व्यापक है। "'यह' सर्प है" "'यह' दड है" "'यह' पृथ्वी की रेखा है।" "'यह' जल की रेखा है।"

इस रीति से सर्पादिक विशेष अश मे इद अश सर्वत्र व्यापक है।

मो व्यापक सामान्य इद अश रज्जु स्वरूप है। उस सामान्य इद अंश के ज्ञान को ही भ्राति का हेतु रज्जु का सामान्य ज्ञान कहते हैं। सो सामान्य इद अश सत्य है। क्यो ? रज्जु का ज्ञान होने से अनन्तर भी उस इद अश की प्रतीति होती है। जैसे भ्राति काल मे "यह' सर्प है" इस रीति से सर्पादिको से मिलकर इद अश को प्रतीति होती है। वैसे भ्रान्ति की निवृत्ति से अनन्तर भी 'यह' रज्जु है" इस रीति से रज्जु के साथ मिलकर इद अश की प्रतीति होती है। यदि इद अश भी मिथ्या हो, तो सर्पादिको के समान भ्रान्ति की निवृत्ति से अनन्तर उसकी भो प्रतीति नही होनी चाहिये। इससे सर्पादिक भ्रान्ति में व्यापक जो इद अ श है, सो सत्य है और अधिष्ठान रज्जु रूप है। और परस्पर व्यभिचारी जो सर्पादिक सो कल्पित है। वैसे सर्व पदार्थों मे पांच अ श है। नाम, रूप, अस्ति, भाति, और प्रिय। "घट" यह दो अक्षर नाम है और गोलरूप है। "घट है" यह अस्ति है। "घट प्रतीत होता है" यह भाति है। और 'घट प्रिय है" यह आनन्द है। (सर्पादिक भी सर्पनी आदिको को प्रिय हैं)। इस रीति से सर्व पदार्थों मे पाच अ श है। उनमे अस्ति, भाति, प्रिय रूप तीन अ श सर्व पदार्थों में व्यापक है। और नाम रूप व्यभिचारी है। जो वस्तु कही हो और कही नही हो, उसको व्यभिचारी कहते है। घट नाम और गोलरूप, पट मे नही है। पट नाम और उसका रूप घट मे नही है। इस रीति से सर्व पदार्थो मे नाम रूप अ श व्यभिचारी है। और अस्ति भाति प्रिय रूप सर्व मे अनुगत है। जैसे सर्प दडादिकों मे अनुगत इदं अ श सत्य है और अधिष्ठान है। वैसे सर्व पदार्थों में अनुगत अस्ति भाति प्रियरूप सत्य है और अधिष्ठान रूप है। और सर्प दडादिको के समान व्यभिचारी नाम, रूप कल्पित है। और अस्ति भाति प्रिय सच्चिदानन्द रूप है, इससे आत्म स्वरूप है।

इस रीति से सच्चिदानन्द रूप आत्मा मे सपूर्ण नाम रूप प्रपञ्च कल्पित है। सो कल्पित पदार्थ कोई आत्मा के जन्म का हेतु नही बनता है, इससे आत्मा अजन्मा है अर्थात् जन्मरहित है। जिस वस्तु

का जन्म हो, उसी के सत्ता, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, विनाशरूप पाच विकार और होते है। आत्मा का जन्म नही होता है। इससे उत्तर पाच विकार भी नही होते है। इस रीति से अजन्मा अर्थात् जन्मादिक षट् विकार से रहित आत्मा है। सत्ता नाम प्रकटता का है। और अपक्षय नाम घटने का है। "घट होता है" इस व्यवहार का हेतु जन्म है। उससे अनन्तर "घट जन्म गया है" इस व्यवहार का हेतु अस्ति-रूप विकार है। इसी को प्रकटता और सत्ता भी कहते है।

आत्मा असग है

सग नाम सबन्ध का है। सो सजातीय, विजातीय, स्वगत पदार्थ से होता है। कैसे ? जैसे घट का घट से जो सबन्ध है, वह सजातीय से सबन्ध है। और घट का पट से जो सबन्ध है, वह विजातीय से सबन्ध है। स्वगत नाम अवयव का है। इससे पट का ततु से जो सबन्ध है, वह स्वगत से सबन्ध है। आत्मा दो अथवा अनन्त हो, तो सजातीय से आत्मा का सबन्ध हो, सो आत्मा एक है। इससे सजातीय आत्मा से आत्मा का सबन्ध नही है। और आत्मा से विजातीय अनात्मा है, सो मृग तृष्णा के जल समान आत्मा मे कल्पित है। उस कल्पित से आत्मा का सबन्ध नहीं होता है। कैसे ? जैसे मृगतृष्णा के जल से पृथ्वी का संबन्ध नही होता है। यदि सबन्ध हो, तो ऊषर भूमि उस जल से गीली होनी चाहिये। जैसे मृगतृष्णा के जल से ऊषर भूमि का सबन्ध नही है, वैसे आत्मा मे कल्पित जो विजातीय अनात्मा, उससे आत्मा का संबन्ध नही होता है।

यदि आत्मा के अवयव हो, तो आत्मा का स्वगत से सबन्ध हो। आत्मा नित्य है, इससे निरवयव है, उसका स्वगत से सबन्ध नही बनता है। इस रीति से सजातीय, विजातीय, स्वगत सबन्ध आत्मा मे नही है, इससे आत्मा असग है। इस रीति से सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप, जन्मादिक विकार रहित, असग आत्मा है, "सो तू है"। यह "मै कौन हू" का उत्तर कहा।

ससार का कर्ता कौन है ?

ससार का कर्ता कौन है ? इसका यह अभिप्राय है —इस ससार का कर्ता कोई है ? अथवा आप ही होता है ? यदि कर्ता कहो, तो भी कोई जीव कर्ता है अथवा ईश्वर कर्ता है ? यदि ईश्वर कहो, तो भी सो ईश्वर एक देश मे स्थित है अथवा वह ईश्वर व्यापक है ? यदि व्यापक है, तो भी जैसे व्यापक आकाश से जीव भिन्न है, वैसे उस ईश्वर से जीव भिन्न है अथवा ईश्वर से जीव अभिन्न है ? उत्तर —व्यापक चेतन के आश्रित और उसको विपय करने वाली माया अर्थात् सत् असत् से विलक्षण अद्भुत शक्तिरूप अज्ञान है, उससे जगत् की उत्पत्ति और नाश होता है। उत्पत्ति और नाश कथन से स्थिति का ग्रहण अर्थ से होता है। इससे यह अर्थ सिद्ध हुआ। मायायुक्त जो चेतन है, उसको ईश्वर कहते है। वह ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, पालन, नाश का हेतु है। इस कथन से "जगत् का कोई कर्ता है अथवा आप से ही होता है ?" इसका उत्तर कहा। और "जगत् का कर्ता कोई जीव है अथवा ईश्वर है" इसका भी उत्तर कहा।

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और स्वतन्त्र है

जगत् का कर्ता ईश्वर है, आपसे नही होता है। यदि कर्ता से बिना जगत् हो, तो कुलाल बिना घट भी होना चाहिये। इससे जगत् का कर्ता कोई है। सो कर्ता सर्वज्ञ है। क्यो ? जो कार्य का कर्ता होता है, वह उस कार्य को और उसके उपादान को जानकर करता है। इससे जगत् का कर्ता भी जगत् को और जगत् के उपादान को जानकर करता है। इस रीति से जगत् का कर्ता जगत् को और जगत् के उपादान को जानता है, इससे सर्वज्ञ है। और सर्व शक्तिमान् है। क्यो ? जो अल्प शक्ति वाले जीव है, उनसे इस जगत् की रचना का मन से चिन्तन भी नही हो सकता है। इससे अद्भुत जगत् का कर्ता अद्भुत शक्ति वाला है। इस रीति से जगत् का कर्ता सर्व शक्तिमान है और स्वतत्र है। क्यो ? जो न्यून शक्ति वाला होता है, वह पराधीन होता है और सर्व शक्ति वाला पराधीन नही होता है, इससे

स्वतंत्र है। इस रीति से जगत् कर्ता सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और स्वतंत्र है। उसी को ईश्वर कहते है। और अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान, पराधीन को जीव कहते है। यद्यपि अल्पज्ञतादिक जीव मे भी परमार्थ से नही है। तथापि अविद्याकृत मिथ्या अल्पज्ञतादिक जीव मे प्रतीत होते है, इससे जीव मे कहे जाते है। अविद्याकृत अल्पज्ञतादिको की जो भ्रान्ति है, उसी को जीवता कहते है। वह अल्पज्ञतादिको की भ्राति ईश्वर मे नही है, किन्तु मायाकृत सर्वज्ञतादिक ईश्वर मे है। इस रीति से जगत् कर्ता जीव नही है, ईश्वर है।

ईश्वर व्यापक और नित्य है

वह ईश्वर एक देश मे स्थित नही है, किन्तु सर्वत्र व्यापक है। यदि एक देश मे अंगीकार करे तो, जिस वस्तु का देश से अंत होता है, उसका काल से अंत होता है। इससे ईश्वर अनित्य होगा। जो अनित्य होता है, सो कर्ता से जन्य होता है। इससे ईश्वर का भी कर्ता अंगीकार करना होगा। सो ईश्वर का कर्ता नही बनता है। क्यो ? आप तो अपना कर्ता बनता नही है। यदि अपना कर्ता आप ही अंगीकार करे, तो आत्माश्रय दोष होगा। आप ही क्रिया का कर्ता (आश्रय) और आप ही क्रिया का कर्म, क्रिया का विषयरूप कार्य हो, वहाँ आत्माश्रय होता है। कैसे ? जैसे कुलाल क्रिया का कर्ता है और घट कर्म है। वैसे क्रिया का कर्ता और कर्म भिन्न होते है। एक नही होते है, इससे आत्माश्रय दोष है। कर्म नाम कार्य का है। और कार्य के विरोधी का नाम दोष है। आत्माश्रय कार्य का विरोधी है, इससे दोष है।

इससे ईश्वर का कर्ता अन्य अंगीकार करना होगा। सो अन्य भी प्रथम कर्ता के समान कर्ताजन्य ही कहना होगा। सो उसका कर्ता भी प्रथम के समान उससे भिन्न ही कहना होगा। सो प्रथम जो ईश्वर है, उसको द्वितीय कर्ता का कर्ता अंगीकार करे, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। इससे तृतीय कर्ता और अंगीकार करना होगा। उस तृतीय का कर्ता यदि द्वितीय मानें तब तो अन्योन्याश्रय दोष होता है और प्रथम मानें तो चक्रिका दोष होगा। कैसे ? जैसे चक्र का भ्रमण होता है, वैसे

प्रथमकर्ता द्वितीय जन्य और द्वितीयकर्ता तृतीय जन्य और तृतीय प्रथमजन्य, सो प्रथम फिर द्वितीयजन्य। इस रीति से कार्य कारण भाव का भ्रमण होगा। चक्रिका स्थान मे कोई भी सिद्ध नही होता है, सर्व की परस्पर अपेक्षा रहती है। अन्योन्याश्रय मे दो की परस्पर अपेक्षा रहती है। एक की सिद्धि हुये बिना अन्य की सिद्धि नही होती है। इससे जैसे कुलाल का कर्ता आप नही है, किन्तु उसका पिता है। वैसे प्रथम ईश्वर कर्ता का अन्य कर्त्ता है। और कुलाल का पिता अपने पुत्र से उत्पन्न नही होता। किन्तु अन्य पिता से उत्पन्न होता है। वैसे द्वितीय कर्ता प्रथम कर्ता से उत्पन्न नही होता, किन्तु अन्य कर्ता से ही कहना होगा।

और कुलाल का पितामह, कुलाल और उसके पिता से उत्पन्न नही होता है, किन्तु चतुर्थ जो कुलाल का प्रपितामह उससे उत्पन्न होता है। वैसे तृतीय कर्ता भी प्रथम और द्वितीय कर्ता से उत्पन्न नही होता है। इससे चतुर्थ कर्ता और मानना होगा। उस चतुर्थ कर्ता का और पचम मानना होगा। इससे अनवस्था दोष होगा। धारा का नाम अनवस्था है। यदि कर्ता की धारा अगीकार करे, तो कौन सा कर्ता जगत् रचता है, यह निर्णय नही होगा। किसी एक को जगत् का कर्ता मानने मे कोई युक्ति नही है। उस युक्ति के अभाव को ही बिनगमना विरह कहते है। और धारा की कही विश्राति अगीकार करे, तो जिस कर्ता मे धारा का अत अगीकार किया जाय, वही जगत् का कर्ता मानने योग्य है। पूर्व के सर्व निष्फल होगे। इसको ही प्राग्लोप कहते है। पिछले के अभाव का नाम प्राग्लोप है। इस रीति से ईश्वर का देश से अत अगीकार करें, तो उत्पत्ति अगीकार करनी होगी। और उत्पत्ति अगीकार करें तो, आत्माश्रयादि षट् दोष होगे। इससे ईश्वर का देश से अंत नही है, किन्तु ईश्वर व्यापक है। इसी से नित्य है।

ईश्वर और जीव का स्वरूप से भेद नही है

व्यापक ईश्वर का और जीव का स्वरूप से भेद नही है, किन्तु उपाधि से भेद है। क्यो ? अवच्छेदवाद में मायाविशिष्ट चेतन को

ईश्वर कहते है। और अविद्याविशिष्ट चेतन को जीव कहते है। आभासवाद मे आभास सहित माया विशिष्ट चेतन को ईश्वर कहते है। आभास सहित अविद्याविशिष्ट चेतन को जीव कहते है। आभासवाद मे आभाससहित अविद्या और माया का भेद है, चेतन का नही है। वैसे अवच्छेदवाद मे भी अविद्या और माया का भेद है। स्वरूप से चेतन का भेद नही है। और प्रतिबिम्बवाद मे अज्ञान मे चेतन का प्रतिबिम्ब जीव है। और बिम्ब ईश्वर है। इस पक्ष मे भी चेतन का स्वरूप से भेद नही है। किन्तु एक ही चेतन मे जीवपना और ईश्वरपना आरोपित है। इस रीति से जगत् का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतत्र ईश्वर है। सो ईश्वर व्यापक है। उसका और जीव का विशेषण मात्र से भेद है और स्वरूप से अभेद है। यह ससार का कर्ता कौन है, इस प्रश्न का उत्तर है।

मुक्ति का हेतु कौन है ?

मुक्ति का हेतु ज्ञान है अथवा कर्म है ? अथवा उपासना है ? अथवा दो है ? यदि दो कहो, तो भी ज्ञान कर्म है अथवा ज्ञान उपासना है ? अथवा कर्म उपासना है ? इसका उत्तर कहते है —मुक्ति का हेतु ज्ञान है, कर्म और उपासना नही है। क्यो ? यदि आत्मा मे बन्ध सत्य हो, तो उसकी निवृत्ति रूप मोक्ष ज्ञान से नही होगी, किन्तु कर्म अथवा उपासना से होगी। सो बध आत्मा मे सत्य नही है, किन्तु रज्जु सर्प के समान मिथ्या है। उस मिथ्या की निवृत्ति अधिष्ठान ज्ञान से ही होती है। कर्म अथवा उपासना से नही होती है। कैसे ? जैसे रज्जु का सर्प किसी क्रिया से दूर नही होता है, केवल रज्जु के ज्ञान से हो दूर होना है। वैसे आत्मा के अज्ञान से जो बध प्रतीत होता है, उस बध की प्रतीति और अज्ञान आत्मा के ज्ञान से ही दूर होते है।

कर्म और उपासना मुक्ति के हेतु नही

यदि कर्म का फल मोक्ष हो, तो मोक्ष अनित्य होगा। क्यो ? यह नियम है —जो कृषि आदि कर्म का फल अन्नादिक है, सो अनित्य है।

और यज्ञादिक कर्म का फल स्वर्गादिक भी अनित्य है। यदि मोक्ष भी कर्म का फल अ गीकार करे तो, अनित्य होगा। इससे कर्म का फल मोक्ष नही है। "जैसे यह कर्म रचित लोक क्षीण होता है, वैसे ही वह पुण्य रचित लोक क्षीण होता है।" ऐसे कर्म रचित लोको को अनित्य जान कर उनसे ब्राह्मण (ब्रह्मभाव को प्राप्त करने की इच्छा वाला मुमुक्ष) वैराग्य को प्राप्त करता है। कृत जो कर्म है, उससे अकृत मोक्ष नही मिलता। इस श्रुति वचन से मोक्ष कर्म से नही होता है। वैसे यदि उपासना का फल अगीकार करे, तो भी मोक्ष अनित्य होगा। क्यो ? उपासना भी मानस कर्म ही है और कर्म का फल अनित्य होता है। इससे उपासनारूप कर्म का फल भी मोक्ष नही है। और कर्म कर्ता को कर्म से पाच प्रकार का उपयोग होता है। १ पदार्थ की उत्पत्ति २ नाश ३ पदार्थ की प्राप्ति ४ पदार्थ का विकार ५ सस्कार। पूर्व रूप को त्यागकर अन्यरूप की प्राप्ति को विकार कहते है। उसी को विक्रिया और परिणाम भी कहते है। सस्कार दो प्रकार का होता है —१ मल की निवृत्ति और २ गुण की उत्पत्ति। यह पाच प्रकार का कर्म से उपयोग होता है। सो मुमुक्षु को भी नही बनता है। इससे मुमुक्षु को ज्ञान के साधन श्रवणादिक मे ही प्रवृत्त होना चाहिये, कर्म मे नही।

१ जैसे कुलाल के कर्म से कुलाल को घट की उत्पत्ति उपयोग (फल) होता है, वैसे मुमुक्षु को कर्म से मोक्ष की उत्पत्ति उपयोग नही बनता है। क्यो ? अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष है। सो अनर्थ निवृत्ति आत्मा मे नित्य सिद्ध है। कैसे ? जैसे रज्जु मे व्यावहारिक सत्ता वाले सर्प का अभावरूप सर्प की निवृत्ति नित्य सिद्ध है, वैसे आत्मा मे परमार्थ सत्ता वाले कार्य सहित अज्ञान रूप अनर्थ की अत्यन्ताभाव रूप निवृत्ति नित्य सिद्ध है। और आत्मा परमात्मा स्वरूप है। इससे परमानन्द की प्राप्ति भी नित्य सिद्ध है। कैसे ? जैसे विस्मृत कठ मणि की प्राप्ति किवा गृह मे गाडी हुई निधि की प्राप्ति नित्य सिद्ध है। वैसे निज रूप परमानन्द की प्राप्ति भी सर्व को नित्य सिद्ध है। इस रीति से स्वभाव सिद्ध मोक्ष की कर्म से उत्पत्ति

नही बनती है। जो वस्तु प्रथम सिद्ध नही हो, उसकी कर्म से उत्पत्ति होती है, सिद्ध वस्तु की उत्पत्ति नही होती है। और वेदात श्रवण भी मोक्ष की उत्पत्ति के निमित्त नही कहा है। किन्तु "आत्मा नित्य मुक्त है, किंचित् मात्र भी कर्त्तव्य नही है" इस वार्ता को बताने के लिये श्रवण है। यह जानकर कर्त्तव्य भ्राति दूर होती है। और वेदात श्रवण से अनन्तर भी जिनको कर्त्तव्य प्रतीति होती है, उन्होने तत्त्व जाना नही है। यही स्मृति कहती है —ज्ञानरूप अमृत से तृप्त और उसी से कृतकृत्य (कृतार्थ) हुये ज्ञान योगी को मोक्ष के लिये वा ज्ञान के लिये किंचित् भी कर्त्तव्य नही है। और जिसको कर्त्तव्य है, वह तत्त्ववेत्ता नही है।" इस कारण से नित्य निवृत्त जो अनर्थ, उसकी निवृत्ति और नित्य प्राप्त आनन्द की प्राप्ति वेदात श्रवण का फल देवगुरु (शकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य) ने नैष्कर्म सिद्धि मे कहा है। इससे मोक्ष की उत्पत्ति रूप कर्म का उपयोग मुमुक्षु को नही बनता है।

२ जैसे दण्ड के प्रहाररूप कर्म का घट का नाशरूप उपयोग होता है, वैसे मुमुक्षु को कर्म से किसी पदार्थ का नाशरूप उपयोग भी नही बनता है। क्यो ? अन्य पदार्थ का नाश तो मुमुक्षु को वाछित नही है। बन्ध का नाश ही कर्म से उपयोग कहना होगा। सो बन्ध आत्मा मे नही है, मिथ्या प्रतीत होता है। उस मिथ्या प्रतीति का नाश कर्म से नही होता है। आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही मिथ्या प्रतीति का नाश होता है। इससे मुमुक्षु को पदार्थ का नाशरूप उपयोग भी कर्म से नही बनता है। ३ जैसे गमनरूप कर्म से ग्राम की प्राप्ति होती है, वैसे मोक्ष की प्राप्ति रूप उपयोग भी कर्म से नही होता है। क्यो ? आत्मा नित्यमुक्त है। उसको मोक्ष की प्राप्ति कहना भी नही बनता है। जिसको बन्ध होता है, उसको मोक्ष की प्राप्ति कहना बनता है। आत्मा मे बन्ध नही है, इससे मोक्ष की प्राप्ति रूप कर्म का उपयोग मुमुक्षु को नही बनता है। ४ जैसे पाक रूप कर्म से अन्न का विकार रूप उपयोग पाचक को होता है, वैसे मुमुक्षु को कर्म से विकार रूप उपयोग भी नही बनता है। क्यो ? अन्य तो कोई विकार नही बनता

है। यदि आत्मा मे प्रथम बध अगीकार करे और मोक्ष दशा मे चतु-र्भुजादिक विलक्षण रूप की प्राप्ति अगीकार करे, तो अन्य रूप की प्राप्ति रूप विकार कर्म का उपयोग मुमुक्षु को बने। सो अन्य रूप की प्राप्ति आत्मा मे मानी नही है। इससे कर्म से विकाररूप उपयोग भी मुमुक्षु को नही बनता है। ५ जैसे वस्त्र के क्षालनरूप कर्म का, मल की निवृत्तिरूप सस्कार होता है, वैसे मल की निवृत्ति रूप सस्कार भी मुमुक्षु को कर्म से उपयोग नही होता है। क्यो ? १ अन्य के मल की निवृत्ति तो मुमुक्षु को वाछित नही है। आत्मा के मल की निवृत्ति कहनी होगी। सो आत्मा नित्य शुद्ध है। उसमे मल नही है। इससे मल की निवृत्ति रूप संस्कार भी नही बनता है। और २ अत करण मे पाप रूप जो मल है। उसकी निवृत्ति यदि कर्म से उपयोग कहै तो, यह वार्ता सत्य है। परन्तु शुद्ध अत.करण वाला जो मुमुक्षु है, उसका विचार करते है। उसके अत.करण मे भी पाप नही है। इससे पापरूप मल की निवृत्ति रूप सस्कार भी मुमुक्षु को कर्म से उपयोग नही बनता। और —

३ अज्ञान को यदि मल कहै, तो अज्ञान आत्मा मे है भी, परन्तु उसकी निवृत्ति कर्म से नही होती है। क्यो ? अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, कर्म नही है। इससे मुमुक्षु को मल की निवृत्तिरूप सस्कार कर्म से उपयोग नही बनता है। ४ जैसे वस्त्र का कुसुभ मे मज्जनरूप कर्म का रक्त गुण की उत्पत्ति रूप सस्कार उपयोग होता है, वैसे गुण की उत्पत्ति सस्कार मुमुक्षु को कर्म से उपयोग नही बनता। क्यो ? अन्य मे तो गुण की उत्पत्ति कहना नही बनता है। आत्मा मे ही कहना होगा। सो आत्मा निर्गुण है, उसमे गुण की उत्पत्ति नही बनती है। इससे मुमुक्षु को गुण की उत्पत्तिरूप सस्कार भी कर्म का उपयोग नहीं बनता है। इस प्रकरण मे उपयोग नाम फल का है। कर्म का पाच ही प्रकार का फल होता है, और नही होता। सो पाच प्रकार का फल कर्म का मुमुक्षु को नही बनता है। इससे कर्म को त्यागकर ज्ञान के साधन श्रवण मे ही मुमुक्षु को प्रवृत्त होना चाहिये। उपासना भी मानस कर्म ही है। इससे उसके खण्डन मे पृथक् युक्ति नही कही है।

इस रीति से केवल कर्म अथवा उपासना मोक्ष का हेतु नही है, किन्तु केवल ज्ञान ही है। और—

आक्षेप —कर्म और उपासना ज्ञान के और मोक्ष के हेतु है

(पूर्वपक्षी.—)कोई [भर्तृ प्रपच नामक प्राचीन वृत्तिकार (ब्रह्म सूत्र की टीका का कर्ता) समुच्चयवादी हुआ है। उसके अनुसारी] कर्म उपासना सहित ज्ञान को मोक्ष का हेतु मानते है और उसमे युक्ति दृष्टात भी कहते है। दृष्टात .—जैसे आकाश मे पक्षी का एक पक्ष से गमन नही होता है। किन्तु दो पक्ष से गमन होता है। वैसे मोक्ष लोक को भी एक ज्ञान रूप पक्ष से गमन नही होता है। किन्तु एक पक्ष तो उपासना सहित कर्म है और द्वितीय पक्ष ज्ञान है। उपासना भी मानस कर्म ही है। इससे एक ही पक्ष है। अन्य दृष्टात — जैसे सेतु के दर्शन से पाप का नाश होता है। सो सेतु का दर्शन भी प्रत्यक्ष रूप ज्ञान है और श्रद्धा भक्ति सहित गमनादि नियम की अपेक्षा करता है। जो पुरुष श्रद्धादिक से रहित हो, उसको सेतु दर्शन से फल नही होता है। जैसे सेतु के प्रत्यक्ष फल की उत्पत्ति में ज्ञान श्रद्धा नियमादिको की अपेक्षा करता है, वैसे ब्रह्मज्ञान भी मोक्षरूप फल की उत्पत्ति मे कर्म उपासना की अपेक्षा करता है। और केवल ज्ञान से जो मोक्ष अगीकार करते है, सो भी ज्ञान का हेतु तो कर्म उपासना को मानते है। शुद्ध और निश्चल अत करण मे ज्ञान होता है। सो अत करण शुभ कर्म से शुद्ध होता है और उपासना से निश्चल होता है।

इस रीति से अत करण की शुद्धि और निश्चलता द्वारा कर्म उपासना ज्ञान के हेतु अगीकार किये है। जैसे ज्ञान के हेतु कर्म उपासना अगीकार किये है, वैसे ज्ञान के फल मोक्ष के हेतु भी अगीकार करने योग्य हैं। दृष्टान्त :—जैसे जल का सेचन वृक्ष की उत्पत्ति का हेतु है और वृक्ष के फल की उत्पत्ति का भी हेतु है। और वन के वृक्षो के जल सेचन बिना भी फल होता है। सो भी वृक्ष के मूल मे नीचे जल का सबन्ध है। इससे फल होता है और जल का सबन्ध नही हो तो

वृक्ष सूख जाता है, फल नही होता है। वैसे कर्म उपासना ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु है और ज्ञान का फल जो मोक्ष उसके भी हेतु है। इस रीति से कर्म उपासना ज्ञान तीनो मोक्ष के हेतु है। इससे ज्ञानवान् को भी कर्म करना चाहिये। अथवा कर्म उपासना ज्ञान की रक्षा के हेतु है।

क्यो ? यदि ज्ञानवान् कर्म उपासना का त्याग करेगा तो, उत्पन्न हुआ ज्ञान भी जल से बिना वृक्ष के समान नष्ट हो जायगा। क्यो ? शुद्ध अ त करण मे ज्ञान होता है और शुभ कर्म नही करे तो ज्ञानवान् को पाप होगा। और उपासना के त्याग से अ त.करण फिर चचल हो जायगा। उस मलिन और चचल अत करण मे ज्ञान नही रहेगा। कैसे ? जैसे सूखी भूमि मे उत्पन्न हुआ वृक्ष नही रहता है। अन्य दृष्टात .—जैसे सस्कार से शुद्ध किये हुये स्थान मे वेद पाठी ब्रह्मचारी निवास करता है। और वह शुद्ध किया हुआ स्थान भी किसी निमित्त से फिर मलिन हो जाय तो, ब्रह्मचारी उस स्थान को त्याग देता है। वैसे कर्म त्याग से मलिन और उपासना त्याग से चचल हुये अ त करण मे ज्ञान नही रहता है। इससे कर्म और उपासना ज्ञान की रक्षा के हेतु है। इस रीति से कर्म उपासना ज्ञान तीनो मोक्ष के हेतु माने तथा ज्ञान की रक्षा के हेतु कर्म उपासना मानें और केवल ज्ञान मोक्ष का हेतु माने। दोनो प्रकार से ज्ञानवान् को कर्म उपासना कर्त्तव्य है। इसको समुच्चयवाद कहते है।

कर्म उपासना से ज्ञान का विरोध

(सिद्धान्ती :—) सो समीचीन नही है। क्यो ? देह से भिन्न जो आत्मा नही जानता है, उससे कर्म नही होते है। क्यो ? जन्मान्तर के भोग के निमित्त कर्म करते है और देह का अग्नि मे दाह होता है। उससे जन्मा-न्तर का भोग नही बनता है। इससे शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान कर्म का हेतु है। सो शरीर से भिन्न भी आत्मा का कर्ता भोक्ता रूप करके ज्ञान कर्म का हेतु है। "मै पुण्य पाप का कर्ता हूँ और पुण्य पाप का फल मेरे को होगा" ऐसा जिसको ज्ञान है, वह कर्म करता है। और

ज्ञानवान् को ऐसा आत्मा का ज्ञान नही है। किंतु "पुण्यपाप और सुख दु.ख से रहित असग ब्रह्म रूप आत्मा है" ऐसा वेदान्त वाक्यो से ज्ञान होता है। सो ज्ञान कर्म का हेतु नही, उलटा विरोधी है। इससे ज्ञानवान् से कर्म नही होना है। और कर्ता, कर्म, फल का भेद ज्ञान कर्म का हेतु है। सो कर्ता, कर्म, फल की ज्ञानवान् को आत्मा से भिन्न प्रतीति नही होती है। सपूर्ण आत्मस्वरूप ही प्रतीत होते है। इससे भी ज्ञानवान् से कर्म नही होते है। और भाष्यकार ने बहुत प्रकार से ज्ञानवान् को कर्म का अभाव प्रतिपादन किया है। कर्म का और ज्ञान का फल से विरोध है। इससे भी ज्ञान कर्म का समुच्चय नही बनता है। यद्यपि वेद मे भी कही ज्ञान कर्म का समुच्चय लिखा है। तथापि समसमुच्चय और क्रमसमुच्चय के भेद से समुच्चय दो प्रकार का है। ज्ञान के साधन श्रवणादिक और कर्म के साधन अग्निहोत्रादिको का एक ही काल मे अनुष्ठान करने को समसमुच्चय कहते है। और प्रथम अन्त करण शुद्धि के अर्थ जिज्ञासापर्यन्त कर्म करना, पीछे कर्म की विधि का अनादर करके ज्ञान के साधन श्रवणादिक द्वारा ज्ञान को सपादन करने का नाम क्रमसमुच्चय है। उनमे समसमुच्चय त्याज्य है और क्रमसमुच्चय ग्राह्य है। यह वेद का तात्पर्य है। इससे यहा समसमुच्चय का खण्डन किया है, क्रमसमुच्चय का नही।

कर्म का फल अनित्य ससार है और ज्ञान का फल नित्य मोक्ष है। और आत्मा मे जाति, आश्रम, अवस्था का अध्यास कर्म का हेतु है। क्यो ? जाति, आश्रम, अवस्था के योग्य भिन्न भिन्न कर्म कहे है। इससे जाति आदिको का अध्यास कर्म का हेतु है। यद्यपि जाति, आश्रम, अवस्था देह के धर्म है और कर्मी को देह मे आत्मबुद्धि नही है। किन्तु देह से भिन्न कर्ता आत्मा कर्मी जानता है। यह वार्ता पूर्व कही है। इससे जाति, आश्रम, अवस्था की प्रतीति आत्मा मे कर्मी को भी नही बनती है। तथापि देह से भिन्न आत्मा का कर्मी को अपरोक्ष ज्ञान नही होता है। किन्तु शास्त्र से परोक्ष ज्ञान होता है और देह मे आत्मज्ञान अपरोक्ष होता है। यदि देह से भिन्न आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो, तब तो देह में अपरोक्ष आत्मज्ञान का विरोधी हो। और परोक्ष ज्ञान का अपरोक्ष

ज्ञान से विरोध नही है। इससे देह से भिन्न कर्ता आत्मा का ज्ञान और देह मे आत्मबुद्धि दोनो एक को बनते है। दृष्टात —मूर्ति मे ईश्वर ज्ञान शास्त्र से परोक्ष है और पाषाण बुद्धि अपरोक्ष है। उनका विरोध नही है, दोनो एक को होते है। और रज्जु मे जिसको सर्प रूप से अपरोक्ष भेद ज्ञान है, उसकी अपरोक्ष सर्प भ्राति दूर होती है। इससे यह नियम सिद्ध हुआ —अपरोक्ष भ्राति का अपरोक्ष ज्ञान से विरोध है, परोक्ष से नही है। इससे देह से भिन्न आत्मा का परोक्ष ज्ञान और देह मे अपरोक्ष ज्ञान बनता है। सो दोनो कर्म के हेतु है। देह से भिन्न भी कर्तारूप से आत्मा का ज्ञान कर्म का हेतु है। सो कर्तारूप से आत्मा का ज्ञान भ्राति रूप है और भ्राति विद्वान् को नही होती है। इससे कर्म का अधिकार विद्वान् को नही है। देह मे अपरोक्ष आत्मबुद्धि हो, तब देह के धर्म, जाति, आश्रम, अवस्था प्रतीत हो, सो देह मे आत्मबुद्धि भी विद्वान् को नही होती है। किंतु ब्रह्म रूप से आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है। इससे जाति, आश्रम, अवस्था की भ्राति के अभाव से भी विद्वान् को कर्म का अधिकार नही है।

और उपासना भी "मै उपासक हूँ, देव उपास्य है।" इस बुद्धि से होती है। सो विद्वान् को उपास्य उपासक भाव प्रतीत नही होता है। "देहादिक सघात तो मेरा और देव का स्वप्न के समान कल्पित है और चेतन एक है।" यह विद्वान् का निश्चय है। इससे ज्ञान का उपासना से विरोध है। और पक्षी के गमन का दृष्टात भी नही बनता है। क्यो ? पक्षी के तो दो पक्ष एक काल मे रहती है। उनका परस्पर विरोध नही है और ज्ञान का तो कर्म उपासना से विरोध है। एक काल मे ये नही रह सकते है।

ज्ञान मे कर्म उपासना की अपेक्षा नही

सेतु के ज्ञान का दृष्टात भी नही बनता है। क्यो ? सेतु (रामचन्द्र जी ने रामेश्वर से लका तक बाँधी समुद्र की पाज) का दर्शन दृष्ट फल का हेतु नही है, किन्तु अदृष्ट फल का हेतु है। जो प्रत्यक्ष प्रतीत हो, उसको दृष्टफल कहते है। कैसे ? जैसे भोजन का फल तृप्ति प्रत्यक्ष है।

इससे भोजन दृष्ट फल का हेतु है। वैसे सेतु के दर्शन से प्रत्यक्ष फल प्रतीत नही होता है, किन्तु पाप का नाशरूप फल शास्त्र से जाना जाता है। जो फल शास्त्र से जाना जाय, प्रत्यक्ष प्रतीत नही हो, उसको अदृष्ट फल कहते है। इससे जैसे यज्ञादिक कर्म स्वर्गादिक अदृष्ट फल के हेतु है। वैसे सेतु का दर्शन भी पाप के नाशरूप अदृष्ट फल का हेतु है। जो अदृष्ट फल का हेतु होता है, सो तो जितनी फल की उत्पत्ति मे सहायक सामग्री शास्त्र ने बोधन करी है, उसके सहित ही फल का हेतु होता है, केवल नही। इससे श्रद्धा नियमादिक सहित ही सेतु का दर्शन पाप नाशरूप फल का हेतु है।

श्रद्धा नियमादिक रहित हेतु नही है। क्यो ? सेतु के दर्शन से प्रत्यक्ष तो कोई फल प्रतीत नही होता है। केवल शास्त्र से जाना जाता है। सो शास्त्र श्रद्धादिक सहित सेतु के दर्शन से फल बोधन करता है। केवल दर्शन से फल की उत्पत्ति मे कोई प्रमाण नही है इससे सेतु का दर्शन फल की उत्पत्ति मे श्रद्धा नियम भक्ति की अपेक्षा करता है। और ब्रह्मविद्या अपने फल की उत्पत्ति मे कर्म उपासना की अपेक्षा नही करती है। क्यो ? यदि ब्रह्मविद्या का फल भी स्वर्ग के समान लोक विशेष हो और वह लोक विशेष भी केवल ब्रह्मविद्या से शास्त्र ने बोधन नही किया हो, किंतु कर्म उपासना सहित ब्रह्मविद्या से बोधन किया हो, तो ब्रह्मविद्या भी सेतु के दर्शन के समान फल की उत्पत्ति मे कर्म उपासना की अपेक्षा करे। सो ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष, स्वर्ग के समान लोक विशेषरूप अदृष्ट तो नही है, किन्तु मोक्ष नित्य प्राप्त है और भ्रांति से बध प्रतीत होता है। उस भ्रांति की निवृत्ति ही ब्रह्मविद्या का फल है। सो भ्रांति की निवृत्ति केवल ब्रह्मविद्या से ब्रह्म वेत्ता ज्ञानियो को प्रत्यक्ष है। और रज्जुज्ञान से सर्प भ्रांति की निवृत्ति सर्व को प्रत्यक्ष है। इससे अधिष्ठान ज्ञान का दृष्ट फल भ्रांति की निवृत्ति प्रसिद्ध है। दृष्ट फल की उत्पत्ति जितनी सामग्री से प्रत्यक्ष प्रतीत होती है, सो सामग्री दृष्टफल की हेतु कही जाती है।

कैसे ? जैसे तुरी, ततु, वेम से पट की उत्पत्ति प्रत्यक्ष होती है।

इससे तुरी (जिस लकडी पर बुन-बुन कर वस्त्र लपेटा जाता है) ततु (सूत) वेम (जिसमे सूत भरा रहता है, वह नलिका इसी को कही नडा भी कहते है) पट (वस्त्र) के हेतु है। और केवल भोजन से तृप्तिरूप फल प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। इससे केवल भोजन तृप्ति का हेतु है। वैसे केवल अधिष्ठान ज्ञान से भ्राति की निवृत्ति प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। इससे केवल अधिष्ठान का ज्ञान ही भ्राति की निवृत्ति का हेतु है। जैसे रज्जु का ज्ञान भ्राति की निवृत्ति मे अन्य की अपेक्षा नही करता है, वैसे बध की भ्राति का अधिष्ठान जो नित्य मुक्त आत्मा, उसका ज्ञान भी बध भ्राति की निवृत्ति मे कर्म उपासना की अपेक्षा नही करता है। जो ज्ञान के फल मोक्ष को स्वर्ग के समान लोक विशेष अदृष्ट अगीकार करते है, सो वेदवाक्य से विरुद्ध है ? क्यो ? "ज्ञानवान् के प्राण किसी लोक को गमन नही करते है।" यह वेद मे कहा है। और लोक विशेष अगीकार करने से स्वर्ग के समान मोक्ष अनित्य होगा। इससे लोक विशेष रूप मोक्ष नही है। जो मोक्ष को लोक विशेष अगीकार करे, उसको भी केवल ज्ञान से ही मोक्ष लोक की प्राप्ति अगीकार करना योग्य है। क्यो ? शास्त्र ने जो अर्थ प्रतिपादन किया हो, वह शास्त्र के अनुसार ही अगीकार किया जाता है। सो शास्त्र केवल ज्ञान से मोक्ष कहता है। इससे केवल ज्ञान मोक्ष का हेतु है, कर्म, उपासना, ज्ञान तीनो नही है। और वृक्ष का दृष्टात भी नही बनता है। क्यो ? यद्यपि जल का सेचन वृक्ष की उत्पत्ति और रक्षा मे हेतु है, तथापि वृक्ष के फल की उत्पत्ति मे नही है। जो वृक्ष वृद्ध है, उसमे जल का सेचन वृक्ष की रक्षा के निमित्त है, फल के निमित्त नही है। जल से पुष्ट जो वृक्ष सोई फल का हेतु है, जल सेचन नही है। वैसे कर्म उपासाना का भी ज्ञान की उत्पत्ति मे उपयोग है, मोक्ष मे नही है। इससे ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ही अत करण की शुद्धि और निश्चलता के निमित्त कर्म उपासना करे, ज्ञान के अनन्तर मोक्ष के निमित्त नही। ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व भी जब तक अत करण मे मल और विक्षेप हो तब तक ही करे। शुद्ध और निश्चल अतःकरण

जिसका हो, सो जिज्ञासु श्रवण के विरोधी कर्म उपासना का त्याग करे। मल नाम पाप का है। वह अशुभ वासना का हेतु है। जब तक पाप हो, तब तक अशुभ वासना होती है। जब अशुभ वासना नही हो, तब मल का अभाव निश्चय करे। अत करण की चचलता और एकाग्रता अनुभवसिद्ध है। इससे उत्तम जिज्ञासु और विद्वान् को कर्म उपासना करना निष्फल है। और —

कर्म उपासना से ज्ञान की रक्षा नही होती

पूर्व जो कहा "ज्ञान को रक्षा के निमित्त कर्म उपासना करै। जैसे जल से उत्पन्न हुआ जो वृक्ष है, उसकी जल से रक्षा होती है। जल का सवध नही हो तो वृद्ध वृक्ष भी सूख जाता है। वैसे कर्म उपासना से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है, उसकी कर्म उपासना से रक्षा होती है। यदि ज्ञानी कर्म उपासना नही करे तो अत.करण फिर मलिन और चचल हो जायगा। उस मलिन और चचल अत करण मे सूखी भूमि मे वृक्ष के समान उत्पन्न हुआ ज्ञान भी नष्ट हो जायगा। इससे ज्ञानवान् को भी कर्म उपासना करना चाहिये।" सो नही बनता है। क्यो ? आभास सहित अथवा चेतन सहित जो अत करण की "मैं असग ब्रह्म हूँ" यह वृत्ति है, सो वेदान्त का फलरूप ज्ञान है। उसका कर्म उपासना से बिना नाश होगा अथवा चेतन स्वरूप ज्ञान का नाश होगा। यदि ऐसे कहे —स्वरूप ज्ञान तो नित्य है। इससे उसके तो नाश और रक्षा नही बनते है। परन्तु वेदान्त का फल जो ब्रह्मविद्या रूप ज्ञान है, उसकी कर्म उपासना से उत्पत्ति होती है और कर्म उपासना के त्याग से उत्पन्न हुई विद्या भी नष्ट हो जायगी। इससे उसकी रक्षा के निमित्त कर्म उपासना करना चाहिये। सो नही बनता है। क्यो ? एक बार उत्पन्न हुई जो अत.करण की ब्रह्माकार वृत्ति है, उसमे अज्ञान और भ्राति का नाशरूप फल उसी समय सिद्ध होता है। अज्ञान और भ्राति के नाश से अनन्तर फिर वृत्ति की रक्षा का उपयोग नही है। और अत करण की वृत्ति की कर्म उपासना से रक्षा भी नही बनती है। क्यो ? जब कर्म उपासना का अनुष्ठान करेगा, तब कर्म उपासना की सामग्री का

ही वृत्तिरूप ज्ञान होगा, ब्रह्म का ज्ञान नही होगा। और वृत्ति होने से प्रथम वृत्ति नही रहती है। इससे कर्म उपासना ज्ञान की उत्पत्ति के तो परम्परा मे हेतु है और उत्पन्न हुई वृत्ति के विरोधी है। इससे कर्म उपासना से ज्ञान की रक्षा नहीं होती है। और —

ज्ञानी को पाप और चचलता के अभाव से कर्म, उपासना का उपयोग नही

पूर्व जो कहा "ज्ञानवान् को कर्म त्याग से पाप होता है।" सो वार्ता नही बनती है। क्यो ? जो शुभ कर्म का त्याग है, सो पाप का हेतु नही है, किन्तु निषिद्ध कर्म का अनुष्ठान ही पाप का हेतु है। यह वार्ता भाष्यकार ने बहुत प्रकार से प्रतिपादन करी है। इससे कर्म के त्याग से पाप नही होता है। और ज्ञानवान् को तो सर्व प्रकार से पाप का असभव है। क्यो ? पुण्य पाप और उनका आश्रय अतःकरण परमार्थ से नहीं है। अविद्या से मिथ्या प्रतीत होते है। सो अविद्या और मिथ्या प्रतीति ज्ञानवान् को नही है। इससे ज्ञानवान् को शुभ कर्म के त्याग से अथवा अशुभ कर्म के अनुष्ठान से पाप नही होता है। इस स्थान मे यह सिद्धान्त है —ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक मद और दूसरा दृढ। सशयादिक सहित ज्ञान को मंद ज्ञान कहते है। सशयादिक रहित ज्ञान को दृढ ज्ञान कहते है। जिसको दृढ ज्ञान होता है, उसको किंचित् मात्र भी कर्त्तव्य नहीं है। एक बार उत्पन्न हुआ जो सशयादिक रहित अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञान, सोई अविद्या का नाश कर देता है। और वह ज्ञान आप भी दूर हो जाय तो भी भले प्रकार से जाने हुये आत्मा मे फिर भ्रांति नही होती है। क्यो ? जो भ्रांति का कारण अविद्या है, सो अविद्या एक बार उत्पन्न हुये ज्ञान से नष्ट हो गई है। इससे भ्रांति और अविद्या के अभाव से वृत्ति ज्ञान की आवृत्ति का कुछ भी उपयोग नही है। और जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिये यदि वृत्ति की आवृत्ति अपेक्षित हो, तो बार-बार वेदान्त के अर्थ का चिन्तन ही करे। वेदान्त के अर्थ चितन से ही बारंबार ब्रह्माकार वृत्ति होती है। कर्म उपासना से नही होती है। क्यो ? कर्म, उपासना का अतःकरण की शुद्धि और निश्चलता द्वारा ही ज्ञान मे

उपयोग है और रीति से नही है। और विद्वान् के अत करण मे पाप और चंचलता नही है। राग द्वेष द्वारा पाप और चचलता का हेतु अविद्या है। उस अविद्या का ज्ञान से नाश होता है। इससे विद्वान् के पाप और चचलता के अभाव से कर्म उपासना का उपयोग नही है। और —

ज्ञानियो के प्रारब्ध की विलक्षणता और उनकी जीवन्मुक्ति के सुखार्थ भी उपासना मे अप्रवृत्ति

यदि कदाचित् ऐसे कहै —राग द्वेषादिक अन्त.करण के सहज धर्म है। जब तक अन्त करण है, तब तक रागद्वेष का सर्वथा नाश ज्ञानी के भी नही होते है। उन राग द्वेष से ज्ञानी का भी अन्त करण चचल होता है। इससे चचलता दूर करने के लिये ज्ञानी को भी उपासना करनी चाहिये। यद्यपि ज्ञानी को अन्त करण की चचलता से विदेह मुक्ति मे हानि नही है। तथापि चचल अन्त करण मे स्वरूप आनन्द का भान नही होता है। इससे चचलता जीवन्मुक्ति की विरोधी है। इससे जीवन्मुक्ति के निमित्त चचलता दूर करने के लिये उपासना करे। सो भी नही बनता है। क्यो ? यद्यपि दृढ बोध जिसके अन्त करण मे हुआ है, उसके समाधि और विक्षेप समान है। इससे अन्त करण की निश्चलता के निमित्त किसी यत्न का आरम्भ विद्वान् को नही बनता है। तथापि विद्वान् की प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रारब्ध के अधीन है। प्रारब्ध कर्म सर्व का विलक्षण है। किसी विद्वान् का जनकादिको के समान भोग का हेतु प्रारब्ध होता है। और किसी का शुकदेव वामदेवादिको के समान निवृत्ति का हेतु प्रारब्ध होता है। जिसका भोग का हेतु प्रारब्ध होता है, उसको तो प्रारब्ध से भोग की इच्छा और भोग के साधन का यत्न होता है। और जिसका निवृत्ति का हेतु प्रारब्ध होता है, उसको जीवन्मुक्ति के आनन्द की इच्छा होती है और भोगो मे ग्लानि होती है। जिसको जीवन्मुक्ति के आनन्द की इच्छा हो, सो ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति के निमित्त वेदात अर्थ का चिन्तन करे, उपासना नही। क्यो ? अन्त करण की निश्चलता मात्र से ब्रह्मानन्द का विशेषरूप से भान नही होता है, किन्तु ब्रह्माकार वृत्ति से ही होता है। सो

ब्रह्माकार वृत्ति वेदान्तचितन से ही होती है, उपासना से नही। और अन्त.करण की चचलता भी विद्वान् की वेदान्त के चितन से ही दूर हो जाती है। इससे अन्त करण की निश्चलता के निमित्त भी उपासना मे प्रवृत्ति नही होती है। इस रीति से दृढ बोध जिसको हुआ है, उसकी कर्म उपासना मे प्रवृत्ति नही होती है। और—

दृढ अदृढ ज्ञानी और उत्तम मद जिज्ञासु को कर्म उपासना मे अधिकार नही

जिसको मद बोध हो, वह भी मनन और निदिध्यासन ही करे, कर्म उपासना नही। क्यो? मद बोध जिसको हुआ है, सो उत्तम जिज्ञासु है। उस उत्तम जिज्ञासु को मनन निदिध्यासन से बिना अन्य कर्त्तव्य नही है। यह वार्ता शारीरक मे सूत्रकार और भाष्यकार ने प्रतिपादन करी है। और विद्वान् को मनन निदिध्यासन भी कर्त्तव्य नही है। यदि जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिये विद्वान् मनन निदिध्यासन मे प्रवृत्त होता है, सो भी अपनी इच्छा से प्रवृत्त होता है और "मै वेद की आज्ञानुसार नही करूगा तो मेरे को जन्म मरण ससार होगा" इस बुद्धि से जो क्रिया करे, उसको कर्त्तव्य कहते है। सो जन्मादिको की बुद्धि विद्वान् की नही होती है। इससे अपनी इच्छा से जो विद्वान् मनन निदिध्यासन करै, उसको कर्त्तव्य नही कहते है। इस रीति से मद बोध अथवा दृढ बोध जिसको हुआ है, उसको कर्म उपासना कर्त्तव्य नही है। और जिसको बोध नही हुआ है, कितु आत्म ज्ञान की तीव्र इच्छा है, भोग की नही, उसका अन्त करण शुद्ध है। इससे सो भी उत्तम जिज्ञासु ही है। उसको भी बोध के लिये श्रवणादिक ही कर्त्तव्य है, कर्म उपासना नही। क्यो? जो कर्म उपासना का फल है, सो उसको प्राप्त है। और ज्ञान की सामान्य इच्छा से जो श्रवण मे प्रवृत्त हुआ है और अन्त करण भोगो मे आसक्त है, सो मद जिज्ञासु है। उसे भी श्रवण को त्यागकर फिर कर्म उपासना मे प्रवृत्त नही होना चाहिये। जो कर्म उपासना का फल अन्त.करण की शुद्धि और निश्चलता है, सो उसको श्रवण से प्राप्त हो जायगी। श्रवण की आवृत्ति से अन्त करण का दोष दूर होकर

इस जन्म में अथवा अन्य जन्म में अथवा ब्रह्म लोक मे ज्ञान होता है। आवृत्ति नाम वारबार करने का है।

श्रवण को त्यागकर जो कर्म उपासना मे प्रवृत्त होता है, उसको आरूढ पतित कहते है। मोक्ष की सीढी पर चढकर फिर वहा से गिरे उसको 'कर लेढि न्याय (प्राप्त लड्डू को गमाकर हाथ चाटने का दृष्टान्त) प्राप्त होता है। इस रीति से ज्ञानवान् और उत्तम जिज्ञासु का कर्म उपासना मे अधिकार नही है। मद जिज्ञासु भी जो वेदान्त श्रवण मे प्रवृत्त हुआ है, उसका भी अधिकार नही है। और जिसको ज्ञान की इच्छा तो है, परन्तु भोगो मे बुद्धि आसक्त है, इससे श्रवण मे प्रवृत्त नही हुआ ऐसा जो मद जिज्ञासु है, उसका निष्काम कर्म और उपासना मे अधिकार है। और जिसकी भोगो मे ही आसक्ति है, ज्ञान की इच्छा नहीं है, ऐसा जो बहिर्मुख है, उसका सकाम कर्म मे ही अधिकार है। इससे ज्ञानवान् को कर्म उपासना का अधिकार नही है। कर्म उपासना का ज्ञान विरोधी है। और—

दृढ बोध के कर्म उपासना विरोधी नही, मद बोध के विरोधी है

कर्म उपासना भी अन्त करण की शुद्धि और निश्चलता द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति के तो हेतु है। परन्तु ज्ञान की उत्पत्ति मे अनन्तर यदि कर्म उपासना करे तो उत्पन्न हुआ ज्ञान नष्ट हो जायगा। इससे ज्ञान के विरोधी है, रक्षा के हेतु नही। क्यों ? "मैं कर्ता हूँ और यज्ञादिक मेरे को कर्त्तव्य है। यज्ञादिको के स्वर्गादि फल है।" इस भेद बुद्धि से कर्म होते है। और "मैं उपासक हूँ, देव उपास्य है।" इस भेद बुद्धि से उपासना होती है। सो दोनों प्रकार की बुद्धि "सर्व ब्रह्म है" इस बुद्धि को दूर करके होती है। इससे कर्म उपासना ज्ञान के विरोधी है। यद्यपि ज्ञानवान् आत्मा को असग जानता है, तो भी देह का भोजनादिक व्यवहार अथवा जनकादिको के समान अधिक राज्य पालनादिक व्यवहार करता है। उस व्यवहार का ज्ञान विरोधी नही और व्यवहार ज्ञान का भी विरोधी नही है। क्यो ? जो आत्मस्वरूप ज्ञान से असग जाना है, उस आत्मा मे यदि व्यवहार प्रतीत हो, तो व्यवहार का

विरोधी ज्ञान, तथा ज्ञान का विरोधी व्यवहार हो। सो विद्वान् को आत्मा मे व्यवहार प्रतीत नही होता है। किन्तु सपूर्ण व्यवहार देहादिको के आश्रित है और आत्मा मे व्यवहार सहित देहादिको का सबन्ध नही है। इस बुद्धि से सपूर्ण व्यवहार करता है। इसी कारण से विद्वान् की प्रवृत्ति को भी निवृत्ति ही कहते है।

जैसे अन्य व्यवहार ज्ञान का विरोधी नही है, वैसे कर्म उपासना भी अन्य बहिर्मुख पुरुषो के कराने के लिये आत्मा को असग जानकर और देह, वाक् अत करण के आश्रित क्रिया जानकर जो कर्म उपासना करे, तो ज्ञान के विरोधी नही है। क्यो ? विद्वान् ने आत्मा असग जाना है, उसको कर्ता जानकर जो कर्म उपासना करे, तो ज्ञान के विरोधी हों। सो आत्मा का असगरूप दृढ निश्चय कर्म उपासना से विद्वान् का दूर नही होता है। इससे आभासरूप कर्म और उपासना दृढज्ञान के विरोधी नही है। आत्मा को असग जानकर और देह, वाणी मन के आश्रित क्रिया जानकर कर्म उपासना करे उसको आभासरूप कहते है। इसी कारण से जनकादिको ने आभासरूप कर्म करे है। आत्मा को असग जानकर व्यवहार के समान देहादिको के धर्म जानकर ही विद्वान् शुभ क्रिया करते है। उसका ज्ञान से विरोध नही है और भाष्यकार ने कर्म उपासना का जो ज्ञान से विरोध कहा है, सो आत्मा मे कर्ता बुद्धि से जो कर्म उपासना करते है, उसका विरोध कहा है, आभासरूप से करने का नही। तथापि मदबोध के आभासरूप कर्म और आभासरूप उपासना भी विरोधी है। क्यो ? जो सशयादिक सहित बोध होता है, उसको मंदबोध कहते है। जिस अत करण मे "आत्मा असग है अथवा नही ?" ऐसा कदाचित् सशय हो, सो पुरुष यदि बारम्बार "आत्मा असग है, मेरे को किंचित् मात्र भी कर्त्तव्य नही है।" इस अर्थ का चिंतन करे, तब तो सशय दूर होकर दृढ बोध हो जायगा। और कर्म उपासना करेगा, तो मदबोध जो उत्पन्न हुआ है, सो दूर होकर "मै कर्त्ता भोक्ता हूँ।" यह विपरीत निश्चय हो जायगा। इससे मदबोध की उत्पत्ति से पूर्व ही कर्म उपासना करे, अनन्तर नही। यदि

मद बोध वाला कर्म उपासना करेगा तो, उत्पन्न हुआ बोध नष्ट हो जायगा।

दृष्टान्त —जैसे पक्षी अपने अडे को पक्ष की उत्पत्ति से पूर्व सेवन करता है और पक्ष की उत्पत्ति से अनन्तर नही। यदि पक्ष की उत्पत्ति से अनन्तर भी अडे को सेवन करे तो बालक पक्षी के पक्ष उस अडे के जल से गल जाते है। वैसे ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ही कर्म उपासना का सेवन करे, ज्ञान की उत्पत्ति से अनन्तर नही। यदि ज्ञान की उत्पत्ति से अनन्तर भी कर्म उपासना का सेवन करे तो, बालक पक्षी के पक्ष के समान मद ज्ञान का नाश हो जाता है। और जैसे वृद्ध पक्षी को अडे के सबन्ध से हानि नही होती है। वैसे दृढबोध की तो हानि नही होती है। और वृद्ध पक्षी के समान दृढबोध को कर्म उपासना से कोई उपयोग (फल) भी नही है। इस रीति से ज्ञानवान् को मोक्ष के निमित्त किंचित् मात्र भी कर्त्तव्य नही है। यह मुक्ति का हेतु कौन है, इस प्रश्न का उत्तर है। ये जो उत्तर कहे है, सो सर्ववेद के साररूप है। इनमे विश्वास करने से जन्मादिक ससार दु ख का बिना परिश्रम ही नाश हो जाना है। तू दीनता को त्यागकर अपने स्वरूप को देख, तू तो अजन्मा, इस दृश्य का प्रकाशक शुद्ध ब्रह्म है। अपने अज्ञान से ही यह सर्व जगत् तू ही रचता है और अपने स्वरूप का ज्ञान होते ही, सर्व का सहार करके अपने को अविनाशी रूप जानेगा। इस मिथ्या प्रपच को देख कर अपने हृदय मे दु ख क्यो मानता है ? तू तो देवो का भी देव है और सुख की राशि है। जैसे रज्जु के अज्ञान से रज्जु मे सर्प और शुक्ति के अज्ञान से शुक्ति मे चाँदी भासती है, वैसे माया से तू ही जीव, जगत् और ईश्वररूप से प्रतीत होता है। तुम्हारे ब्रह्मात्म स्वरूप अधिष्ठान से भिन्न सत्य कुछ भी नही है, ऐसा निश्चय करो। प्रश्न .—इस ज्ञानरूप निश्चय के लिये क्या साधन है, वे भी कृपया बताइये ? उत्तर —

- सासारिक पदार्थों मे राग (दृढासक्ति), लोभ, द्वेष, कामादि सर्व राजसी, तामसी वृत्तियो का नाश करो। इनका नाश कैसे होता है ?

विषयो मे दोष दर्शन से राग का नाश होता है। अर्थ मे अनर्थ देखने से लोभ का नाश होता है। काम के अभाव से क्रोधरूप द्वेष की उत्पत्ति नही होती है। और पदार्थों के चितनरूप सकल्प के अभाव से इच्छारूप काम की उत्पत्ति नही होती है। इसी रीति से अन्य राजसी तामसी वृत्तियो का नाश उनके विरोधी सात्विकी वृत्तियो से होता है। राजसी, तामसी वृत्तिया ज्ञान की विरोधी है। उनके नाश बिना ज्ञान नही होता है। इससे उनकी निवृत्ति जिज्ञासु को अपेक्षित है।

और विवेक, वैराग्य, शमादिषट् सपत्ति, मुमुक्षता ये चार ज्ञान के साधन है। इनमे विवेक प्रधान है। क्यो ? विवेक से ही वैराग्यादिक उत्पन्न होते है। यह ससार मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है और आत्मा सत्य है। कैसे ? मृगतृष्णा को मैं नही जानता, जैसे बाजीगर का खेल मिथ्या होता है और बाजीगर सत्य होता है। इस रीति से जगत् मिथ्या है और आत्मा सत्य है। यह विवेक है। इस विवेक से अन्य साधन आप ही हृदय मे उत्पन्न हो जाते है। फिर वेदान्त श्रवण आदि से अज्ञानरूप अधेरे को दूर कर। ज्ञान से अज्ञानरूप अधेरा बिना परिश्रम ही दूर हो जाता है। ज्ञान का स्वरूप साख्य न्यायादिक शास्त्रो मे नाना प्रकार का माना है। किन्तु महावाक्य के अनुसार ज्ञान का स्वरूप यह है —जीव और ईश्वर मे अविद्या और माया भाग को त्याग कर उनके भेद को दूर कर और जीव, ईश्वर मे जो चेतन भाग है, उसको भेद रहित जान अर्थात् महावाक्यो मे भागत्याग लक्षणा से जीव ईश्वर की एकता जान। यह विनाशी देहादिक सघात तू नही है। तू तो अविनाशी ब्रह्मरूप है। और यह ससार आत्मा मे मिथ्या है। कैसे ? जैसे आकाश मे नीलता और कटाहरूपता नही है किन्तु मिथ्या प्रतीत होती है, वैसे ससार भी आत्मा मे मिथ्या प्रतीत होता है।

शास्त्र का विचार कब तक करना चाहिये ? उत्तर —विवेकादिक साधनो से युक्त अधिकारी गुरु मुख से शास्त्र का श्रवण, मनन तब तक करे जब तक परब्रह्म को सशयादि रहित अपरोक्ष रूप से आत्म स्वरूप

नही जाने। ब्रह्मात्मा का अद्वैतरूप से अपरोक्ष ज्ञान होने पर शास्त्र विचार त्याग दे। कैसे ? जैसे रसोई बनाने वाला पुरुष रसोई बनाने के पश्चात् बची जली हुई लकडियो को त्याग देता है, वैसे ही उक्त ज्ञान होने से शास्त्र विचार त्याग दे। किन्तु जैसे रसोइया रसोई बनने के पूर्व लकडी नही त्यागता, वैसे उक्त ज्ञान होने से पहले वेदान्त शास्त्र का विचार कभी भी नही त्यागे।

विचार की अवधि क्या है ? उत्तर —विचार से उत्पन्न होने वाली विद्या 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' दो प्रकार की है। जगत, जीव और परमात्मा का यह विचार अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति पर समाप्त हो जाता है। अत अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति ही विचार की अवधि है।

अनुभव विरुद्ध तर्क कैसा होता है ? कुतर्क होता है और वह त्याज्य है। उससे कोई भी निर्णय नही होता है।

ब्रह्म का बोध विधि से होता है वा निषेध से ? उत्तर —विधि, निषेध दोनो ही ब्रह्मबोध के उपाय है। एक अतद् व्यावृत्ति रूप से, दूसरे साक्षात् विधि मुख से, इस प्रकार दो प्रकार से वेदान्त की प्रवृत्ति ब्रह्म प्रतिपादन की शैली है। यह आचार्य का कथन है। 'तत्' शब्द से ब्रह्म और "अतत्' से ब्रह्म भिन्न अज्ञान आदि प्रपच का ग्रहण है। "नेति नेति" कहकर प्रपच का निषेध करना ब्रह्म ज्ञान का अतद्व्या-वृत्ति रूप से एक उपाय है और "सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म" कहकर साक्षात् वाचक शब्दो से ब्रह्म का प्रतिपादन करना दूसरा उपाय है।

विवेकी के निश्चय का स्वरूप क्या है ? विवेकी का निश्चय है माया रूप मेघ जगत् रूप जल को, चाहे जैसे बरसाता रहे, इसके बरसने से चैतन्यरूप आकाश को न कोई हानि है और न कोई लाभ है। यही विवेकी के निश्चय का स्वरूप है और यही सच्ची स्थिति है।

अखंड ब्रह्म में उससे विपरीत जगत् की प्रतीति कैसे होती है ? दर्पण में कोई छिद्र (खाली स्थान) नहीं होता, फिर भी उसके भीतर नाना वस्तुओ से भरा विशाल आकाश घुसा हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार सच्चिद्घन अखड ब्रह्म मे पृथ्वी, सूर्य आदि विविध जगत्

से भरा यह आकाश समाया हुआ प्रतीत हो रहा है। अदृश्य ब्रह्म मे जगत् की प्रतीति कैसे होती है ? जैसे दर्पण को देखे बिना उसके भीतर वस्तु नही दीखती है, इसी प्रकार पहले सच्चिदानन्द तत्त्व का दर्शन हुये बिना नाम रूपात्मक जगत का ज्ञान कैसे सभव है ? नाम रूप (जगत्) का परिज्ञान होने से पहले सच्चिदानन्द तत्त्व की प्रतीति होना अनिवार्य है।

नाम रूप की प्रतीति होते हुये भी, निर्विषय ब्रह्म की प्रतीति कैसे सभव है ? नामरूपात्मक बुद्धि से पहले सच्चिदानन्द तत्त्व का अर्थात् अपने स्वरूप का भास प्रत्येक को हुआ करता है, उसके पश्चात् इस स्वरूप प्रतीति मे ही बुद्धि को रोक कर अर्थात् सच्चिदानन्द तत्त्व के ग्रहण मे लगा रहकर फिर नाम और रूप (तदात्मक जगत्) मे बुद्धि को न लगने दे। कैसे ? जैसे दीवार मे लगे दर्पण मे गृह द्वार के सामने बने हुये सभा मण्डप के प्रतिबिम्ब को देखकर पुरुष उसे सत्य समझता है। परन्तु 'यह दर्पण है' इस भांति उपक्रम का ज्ञान हो जाने पर, दर्पणनिष्ठ अविद्या की आवरण हेतु शक्ति के नाश से प्रतिबिम्ब की सत्यता की बुद्धि नष्ट हो जाती है। फिर भी दर्पण और बिम्ब की सन्निधानरूप प्रतिबन्ध से बाधित हुई विक्षेप हेतु शक्ति के होने से प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है। यहा मनुष्य प्रतीयमान प्रतिबिम्ब का अनादर करके, दर्पण को समझता है, ऐसे ही प्रतीयमान नामरूप का अनादर करके सच्चिदानन्द मात्र मे ही बुद्धि को स्थिर करके अभेद मे स्थिर करना चाहिये, भेद मे नही। क्यो ? भेदवाद अप्रमाण है।

भेदवाद की अप्रमाणता

भेदवाद को आप अप्रमाण कैसे कहते है ? व्यास जी ने वायु पुराण और कूर्म पुराण मे कहा है —कलि मे वेद का अर्थ नाना भांति करेगे तब कृपालु शिव शकराचार्य के रूप मे अवतार लेकर तथा वेद का यथार्थ अर्थ करके जिज्ञासुओ के सशय और विपरीत भावना को नष्ट करेगे। उक्त व्यास वचन ही शकराचार्य के अभेद (अद्वैत) वाद

मे प्रमाणरूप है इससे द्वैतवाद प्रमाणरूप नही है। उपनिषद गीता और ब्रह्मसूत्र, ये तीन वेदात के प्रस्थान है। इनके अर्थ भेद (द्वैत) वादियो ने भी खीचकर अपने २ मत के अनुसार व्याख्यानो द्वारा किये है। तथापि उक्त व्यास वचन से शकराचार्यकृत व्याख्यान ही यथार्थ है। और ऋषियो मे मुख्य आदिकवि सर्वज्ञ वाल्मीकि ऋषि ने उत्तर रामायण योगवष्ठि ग्र थ लिखा है। उसमे भी अद्वैत मत मे प्रधान जो दृष्टिसृष्टिवाद है, उसका अनेक इतिहासो से प्रतिपादन किया है। इससे वाल्मीकि वचन के अनुसार अद्वैतमत प्रमाण है और वाल्मीकि वचन से विरुद्ध भेद मत अप्रमाण है। इस रीति से सर्वज्ञ ऋषि मुनि वचनो से विरुद्ध भेदवाद अप्रमाण कहा है। और युक्ति से भी भेदवाद विरुद्ध है। यह खडन आदिक ग्र थो मे प्रसिद्ध है। श्री हर्षाचार्य ने "खडन खड खाद्य" नामक ग्र थ लिखा है। उसमे भेद का खडन और अभेद का मडन बहुत विस्तार से लिखा है। हर्षाचार्य की युक्तियों के आगे भेदवाद नही ठहर सकता है। और नृसिहाश्रम ने "भेदधिक्कार" नामक ग्र थ लिखा है। उसमे भी भेद का खडन किया है। उक्त ग्रथो की तर्के अति कठिन और दुरूह (अति परिश्रम से समझ मे आती) हैं। वे सर्वसाधारण की बुद्धि मे प्रवेश नही करती है। इसीलिये वे युक्तिया यहा नही लिखी गई है। और उन युक्ति, तर्को की यहा आवश्यकता भी नही है। क्यो ? जब भेद मत को अप्रमाण जान लिया जाय, तब उसके खडन करने के लिये युक्तियो की आस्तिक अधिकारी को क्या आवश्यकता है ?

वेद वचन से भी भेद मत विरुद्ध

यमराज ने कठ वल्ली उपनिषद मे पुकार कर कहा है —"भेद ज्ञान महान् दु.ख देने वाला है। इससे भेदवाद को त्यागकर अद्वैतवाद मे ही अनुराग करो।" "जो पुरुष इस परमात्मा मे नाना के समान देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।' "जो द्वैत को बुद्धि मे धारण करता है, उसको जन्मादिक ससार का भय होता है"। यह वेद पुकार कर कहता है। "जो ज्ञेय और ध्येय को अपने

आत्म स्वरूप ब्रह्म से भिन्न समझता है, वह पशु है, यह वेद का ढ ढोरा है। इत्यादिक अनेक श्रुतिया अभेद का प्रतिपादन करती है। इससे भेदवाद को त्यागकर अद्वैतवाद मे ही बुद्धि की वृत्ति को स्थिर करो। अद्वैत रूप अधिष्ठान ब्रह्म मे यह विवर्त्त रूप द्वैत प्रतीतिमात्र ही है, यथार्थ नही है। यथार्थ तो अद्वैत ब्रह्मरूप अधिष्ठान हो है।

इति श्री विविध प्रश्नोत्तर निरूपण अश १७ समाप्त ।

अथ शास्त्र, शास्त्रकार परिचय निरूपण अश १८

सर्वशास्त्र ब्रह्म ज्ञान के हेतु

प्रश्न—विद्या के अष्टादश प्रस्थान सुनने मे आते है। अब आप उन प्रस्थानो का और उनके कर्ताओ का सक्षिप्त परिचय देते हुये उन प्रस्थानो का परम प्रयोजन क्या है, यह बताने की कृपा करें ? सकल शास्त्रो का परम प्रयोजन मोक्ष है। मोक्ष का साधन ज्ञान है। वह ज्ञान अद्वय निश्चयरूप है। भेद निश्चय यथार्थ ज्ञान नही है। सर्व शास्त्र साक्षात् अथवा परम्परा से ब्रह्म ज्ञान के हेतु है। यद्यपि सस्कृत वैखरीवाणी के अष्टादश प्रस्थान (विद्या के अग) है। उनमे कोई कर्म का प्रतिपादन करता है। कोई विषय सुख के उपायो का प्रतिपादन करता है। कोई ब्रह्म भिन्न देवो की उपासना को बोधन करता है। वैसे ज्ञान निमित्त जो न्याय, साख्य आदिक शास्त्र है, सो भी भेद ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान कहते है। इससे सर्व को अद्वैत ब्रह्म की बोधकता नही बनती है। तथापि सकल शास्त्रो के कर्ता सर्वज्ञ हुये है और कृपालु हुये है। इससे उनके रचित मूल सूत्रो का तो वेद के अनुसार ही अर्थ है। परन्तु उनके व्याख्यान कर्ता भ्रात हुये है। मूल सूत्रकारो के अभिप्राय से विलक्षण अर्थ किया है। वह वेद से विरुद्ध उन सूत्रो का अर्थ नही है। किन्तु सर्वशास्त्रो का अर्थ वेदानुसार ही है। सारग्राहक दृष्टि से यही निश्चय होता है।

विद्या के अष्टादश प्रस्थान

विद्या के अष्टादश प्रस्थान ये है —चार वेद, चार उपवेद, षट्वेद

के अग, पुराण, न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र । इस रीति से वैखरीवाणी रूप विद्या के अठारह भेद है । उनको ही प्रस्थान कहते है । ये विद्या के अष्टादश प्रस्थान अग्निपुराण के आरम्भ मे तथा मधुसूदन स्वामी कृत प्रस्थान भेद मे और विचार सागर मे लिखे है ।

चार वेदो का ब्रह्म ज्ञान मे तात्पर्य

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ये चार वेद है । इनमे कितने ही वचन ज्ञेय ब्रह्म को बोधन करते है । और कितने ही ध्येय ब्रह्म को बोधन करते है । जो कर्म के बोधक वेदवचन है, उनका भी अत करण शुद्धि द्वारा ज्ञान ही प्रयोजन है । और प्रवृत्ति मे किसी भी वेदवचन का अभिप्राय नही है, किन्तु निषिद्ध स्वाभाविक प्रवृत्ति से रोकने मे अभिप्राय है । इससे अभिचारादिक कर्म का प्रतिपादक जो अथर्ववेद है, उसका भी निवृत्ति मे ही तात्पर्य है । यदि द्वेष से शत्रुमारण मे प्रवृत्त हो, तो गर (विष) दान से अथवा अग्निदाह से शत्रु को नही मारे, इसलिये अभिचार कर्म श्येनयागादिक कहे गये है। शत्रुमारण के निमित्त जो कर्म हो, उसको अभिचार कर्म कहते है । ऐसा श्येन नामक यज्ञ है । श्येनयाग का बोधक जो वेदवचन है, उसका यह अर्थ नही है '—शत्रुमारण ,कामना वाला श्येनयाग मे प्रवृत्त हो । किन्तु शत्रु-मारण की जिसको कामना हो, सो श्येनयाग से भिन्न जो गरदानादिक (विष देना आदिक) शत्रुमारण के उपाय है, उनमे प्रवृत्त नही हो, इस रीति से द्वेष से प्राप्त जो गरदानादिक, उनसे निवृत्ति मे श्येनयाग बोधक वचन का अभिप्राय है, प्रवृत्ति मे नही है। क्यो ? प्रवृत्ति द्वेष से प्राप्त होती है। जो अन्य से प्राप्त हो, उसमे वाक्य का अभिप्राय नहीं होता है । कैसे ? जैसे "पर्णीतभार्या का सग करना" और "ऋतु मतीभार्या का सग करना" और 'हुतशेष (होमकर के अवशेष) मास का भक्षण करना" और "सूत्रामणियाग मे सुरापान करना" इत्यादिक वेद के विधि वचनो का जैसे अन्य (राग) से प्राप्त सर्व स्त्री का सग किवा सर्वदा पर्णीत स्त्री का सग किवा माँस मद्य का सेवन । उनमे प्रवृत्ति कराने मे अभिप्राय नही है । किंतु उनमे स्वाभाविक जो प्रवृत्ति

है, उसके सकोच द्वारा निवृत्ति मे अभिप्राय है। इससे वे वेदवाक्य परिसख्याविधिरूप है। नियम विधिरूप किवा अपूर्व विधिरूप नही है। वैसे श्येनयाग बोधक अथर्ववेद के वचन का भी अन्य से (द्वेष से) प्राप्त शत्रुमारण प्रवृत्ति मे अभिप्राय नही है। किन्तु उस स्वाभाविक प्रवृत्ति के रोकने के द्वारा उन गरदानादिको से निवृत्ति मे अभिप्राय है। इससे यह श्येनयाग बोधक वचन भी परिसख्या विधिरूप है। अन्य से प्राप्त अर्थ का उसके सकोच के निमित्त बोधक जो वेद वचन, उसको परिसख्या रूप कहते है। इस रीति से सर्व अथर्ववेद का निवृत्ति मे तात्पर्य है। और तीन वेदो में कर्म बोधक वाक्योसे अत करण शुद्धि द्वारा ज्ञान मे उपयोग स्पष्ट ही है। चारो वेद ईश्वर रचित है। यह आस्तिको का निर्णय प्रसिद्ध ही है।

चार उपवेद का ब्रह्म ज्ञान मे तात्पर्य

चार उपवेद है —आयुर्वेद, धनुर्वेद, गाधर्ववेद, अर्थवेद। १ उनमे आयुर्वेद के कर्ता ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विनीकुमार, धन्वन्तरि आदिक है। चरक, वाग्भट्टादिक चिकित्सा शास्त्र आयुर्वेद है। और वात्स्यायन कृत कामशास्त्र भी आयुर्वेदके अतर्भूत है। क्यो ? कामशास्त्र का विषय बाजीकरण स्तभनादिक भी चरकादिको ने कथन किये है। उस आयुर्वेद का वैराग्य मे ही अभिप्राय है। क्यो ? आयुर्वेद की रीति से रोगादिको की निवृत्ति होने पर भी फिर रोगादिक उत्पन्न होते है। इससे लौकिक उपाय तुच्छ है। इस अर्थ में आयुर्वेद का अभिप्राय है। और औषध दानादिको से पुण्य होकर अत करण की शुद्धि द्वारा ज्ञान मे उपयोग है। वैसे .—

२ विश्वामित्रकृत धनुर्वेद मे आयुध निरूपण किये है। आयुध चार प्रकार के है —मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त, यत्रमुक्त। जो हाथ से फैके जाते है, उन चक्रादिको को मुक्त कहते है। खड्गादिको को अमुक्त कहते है। बरछी आदिको को मुक्तामुक्त कहते है। शर, गोली आदिको को यत्रमुक्त कहते है। इस रीति से चार प्रकार के आयुध है। उनमें मुक्त आयुध को अस्त्र कहते है। अमुक्त को शस्त्र कहते है। इन

चार प्रकार के आयुधो के ब्रह्मा, विष्णु, पशुपति, प्रजापति, अग्नि, वरुण, आदिक देवता और मत्र कहे है। क्षत्रिय कुमार अधिकारी कहे है। और उनके अनुसारी ब्राह्मणादिक भी अधिकारी कहे है। उनके चार भेद है —पदाति, रथारूढ, गजारूढ, अश्वारूढ। और युद्ध मे शकुन को मगल कहते है। इतना अर्थ धनुर्वेद के प्रथम पाद मे कहा है। आचार्य का लक्षण तथा आचार्य से शस्त्रो के ग्रहण की रीति, धनुर्वेद के द्वितीयपाद मे कही है। और गुरु सप्रदाय से प्राप्त हुये शस्त्रो का अभ्यास तथा मत्र सिद्धि देवता और सिद्धि का प्रकार तृतीयपाद मे कहा है। सिद्ध हुये मत्रो का प्रयोग चतुर्थपाद मे कहा है। इतना अर्थ धनुर्वेद मे है। सो ब्रह्मा प्रजापति आदिको से विश्वामित्र को प्राप्त हुआ है और विश्वामित्र ने प्रकट किया है। विश्वामित्र से धनुर्वेद उत्पन्न नही हुआ है। दुष्ट चौरादिको से प्रजापालन क्षत्रिय का धर्म बोधक धनुर्वेद है। इससे धनुर्वेद का भी अत करण शुद्धि करके ज्ञान द्वारा मोक्ष मे ही अभिप्राय है। वैसे —

३. गाधर्ववेद भरत ने प्रकट किया है, उसमे स्वर, ताल, मूर्छना सहित गीत, नृत्य, वाद्य का निरूपण विस्तार से किया है। देवता का आराधन, निर्विकल्प समाधि की सिद्धि गाधर्ववेद का प्रयोजन कहा है। इससे उसका भी अत करण की एकाग्रता करके ज्ञान द्वारा मोक्ष ही प्रयोजन है। वैसे —

४. अर्थवेद भी नाना प्रकार का है :—नीति शास्त्र, अश्वशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सूपकारशास्त्र से आदि धन प्राप्ति के उपाय बोधक शास्त्र को अर्थवेद कहते है। इसी को स्थापत्य वेद भी कहते है। धन प्राप्ति के सकल उपायो मे निपुण पुरुष को भी भाग्य बिना धन की प्राप्ति नही होती है। इससे अर्थवेद का भी वैराग्य मे ही तात्पर्य है। वैसे —

चार वेदो के षट् अगो का अर्थ सहित प्रयोजन

चार वेदो के षट् अग हैं :— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, पिगल ये छः वेद के लिये उपयोगी होने से वेद के अग कहे

जाते है। उनमे शिक्षा का कर्ता पाणिनि है। वेद के शब्दो मे अक्षरो के स्थान का ज्ञान और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित का ज्ञान शिक्षा से होता है। उच्च स्वर को उदात्त कहते है। नीचे स्वर को अनुदात्त कहते है। समान स्वर को स्वरित कहते है। वेद के व्याख्यान रूप जो अनेक प्रतिशाखा नाम ग्र थ है, सो भी शिक्षा के अन्तर्भू त है। वैसे २-वेद बोधित कर्म के अनुष्ठान की रीति कल्पसूत्रो से जानी जाती है। यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणो को ऋत्विक् कहते है। उनके भिन्न भिन्न करने योग्य जो कर्म है, उनके प्रकार के बोधक कल्पसूत्र है। उन कल्पसूत्रो के कर्ता कात्यायन, आश्वलायनादिक मुनि है। इससे कल्पसूत्र भी वेद के लिये उपयोगी होने से वेद के अग है। वैसे-३-व्याकरण से वेद के शब्दो की शुद्धता का ज्ञान होता है। सो व्याकरण सूत्ररूप अष्ट अध्याय पाणिनि नामक मुनि ने रचा है। कात्यायन और पतजलि ने उन सूत्रो के व्याख्यान रूप वार्तिक और भाष्य रचे है। अन्य भी व्याकरण है किन्तु उनमे वेद के शब्दो का विचार नही है। इससे पुराणादिको मे उपयोगी तो है। परन्तु वेद के उपयोगी नही है।

४-यास्क नामक मुनि ने त्रयोदश अध्यायरूप निरुक्त रचा है। उसमे वेद के मत्रो मे अप्रसिद्ध पदो के अर्थ बोध के निमित्त, नाम निरूपण किये है। इससे वैदिक अप्रसिद्ध पदो के अर्थज्ञान मे उपयोगी होने से निरुक्त भी वेद का अग है। सज्ञा का बोधक जो पचाध्यायरूप निघटु नामक ग्र थ यास्क ने रचा है, सो भी निरुक्त के अन्तर्भू त है। और अमरसिह, हेमादिको के रचे हुये सज्ञा के बोधक कोश ग्र थ है, सो सर्व निरुक्त के अन्तर्भू त है। वैसे—

५-आदित्य, गर्गादिकृत ज्योतिष भी वेद का अग है। क्यो ? वैदिक कर्म के आरम्भ मे काल का ज्ञान होना चाहिये। सो काल का ज्ञान ज्योतिष से होता है। इससे ज्योतिष वेद का अग है।

६-पिगल मुनि ने सूत्र रूप मे अष्ट अध्याय द्वारा छदो का निरूपण किया है। उनमे वैदिक गायत्री आदिक छदो का ज्ञान होता है। इससे

पिगलकृत सूत्र भी वेद के अग है। ये षट् वेद के अग है। इनमे वेद मे जो उपयोगी अर्थ नही है, उसका प्रसग से निरूपण किया है, प्रधानता से नही। इससे वेद का जो प्रयोजन है, सोई षट् अगो का प्रयोजन है, पृथक नही है।

अष्टादश पुराण तथा उपपुराण का अर्थ

पुराण अष्टादश है। व्यास नामक मुनि ने रचे है। उनके नाम और श्लोक संख्या इस प्रकार है :—१ ब्रह्म पुराण श्लोक सख्या १००० २ पद्म पु श्लोक ५५०० । ३ विष्णु पु श्लोक २३००० । ४ शिव पु श्लोक २४००० । ५ भागवत पु श्लोक १८००० । ६ नारद पु. श्लोक २५००० । ७ मार्कण्डेय पु श्लोक ९००० । ८ अग्नि पु. श्लोक १५-४०० । ९ भविष्य पु श्लोक १४५०० । १० ब्रह्म वैवर्त पु श्लोक १८०० । ११ लिंग पु श्लोक ११००० । १२ वाराह पु श्लोक २४००० । १३ स्कद पु. श्लोक ८११०१ । १४ वामन पु श्लोक १०००० । १५ कूर्म पु, श्लोक १७००० । १६ मत्स्य पु. श्लोक १४००० । १७ गरुड पु. श्लोक १९००० । १८ ब्रह्माण्ड पु श्लोक १२००० । ये अष्टादश पुराण हैं। वैसे—

काली पुराणादिक और भी बहुत पुराण है। वे उपपुराण है। कोई उपपुराण भी अष्टादश बताते है। किंतु सो नियम नही है। उपपुराण बहुत हैं। भागवत दो है :—एक वैष्णव भागवत है और दूसरा भगवती भागवत है। दोनो की सख्या समान अष्टादश सहस्र है। और दोनों के द्वादश स्कध है। परतु उनमे वैष्णव भागवत पुराण है। और भगवती भागवत उपपुराण है। दोनो व्यासकृत है। इससे दोनो प्रमाण है। जैसे व्यास ने पुराण रचे है, वैसे उपपुराण भी किसी व्यास ने रचे है। कोई उपपुराण पराशर आदिक अन्य सर्वज्ञ मुनियो ने रचे है। इससे उपपुराण भी प्रमाण है। जो उपनिषदो का अर्थ है, सोई उपपुराण सहित पुराण का अर्थ है। यह वार्ता पूर्व उपासना निरूपण अंश १५ मे कथन कर आये है। वहा पढ़िये। धर्मशास्त्र मे कर्मकाण्ड का अर्थ है और पुराणो मे उपनिषद् रूप ज्ञान काड का अर्थ

है। यह सूत सहिता की व्याख्या मे श्री विद्यारण्य स्वामी ने लिखा है :—

प्रश्न :—पुराणो मे तो ३३ कोटि देवता, ५६ कोटि यादव, प्रत्येक नन्द के नौ-नौ लक्ष गाये, पर्वतो की ऊँचाई अनेक योजन की, किसी का शरीर एक योजन का, किसी का नाक ही एक योजन का, ऐसी-ऐसी विचित्र बातें लिखी है, जो उचित नही ज्ञात होती है। आप इनको भी समझाने की कृपा करे ? उत्तर :—कोटि शब्द प्रकारार्थ मे भी होता है। जैसे—वह उच्चकोटि का व्यक्ति है और वह साधारण कोटि का है। यह प्रसिद्ध है। इससे ३३ कोटि देवता शब्द सख्या का वाचक नही है, प्रकार का बोधक है। ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, २ अश्विनी-कुमार ३३ प्रकार के देवता प्रसिद्ध ही है।

यादवो के भी ५६ प्रकार के गोत्र थे। इससे वहा भी ५६ कोटि शब्द सख्या का बोधक नही होकर प्रकार का ही बोधक है। लक्ष शब्द का अर्थ चिह्न (रग) भी होता है। नन्दो के नौ-नौ रग की अर्थात्-श्वेत, पीत, भूरी, काली, काबरी आदि गायें थी। पर्वत की ऊँचाई के माप का योजन चार धनुष का होता है। शरीर की ऊँचाई के माप का योजन चार हाथ का होता है। नाक की लम्बाई के माप का योजन चार अगुल का होता है। इन सकेतो को नही जानने के कारण उक्त बाते सुनकर आश्चर्य होता है। ऐसे ही पुराणो मे अनेक प्रकार के सकेत है। यदि वे समझ मे आ जाते है तब तो किसी भी प्रकार के सशय को अवकाश नही मिलता है। किन्तु दोष दृष्टि से पढने वालो को तो संकेतो के समझने का अवकाश मिलता ही नही है। वे तो अपनी सपूर्ण शक्ति दोष खोजने मे ही लगा देते है। संकेतो के समझने का यत्न करते ही नही है।

प्रश्न :—उपनिषद् मे कहा है :—"मै एक से बहुत हो जाऊँ" पुराण की किस कथा मे यह अर्थ घटता है ? उत्तर :—घटता है। घटता है तो बताइये ? उत्तर :—भगवान् श्रीकृष्ण जब गोप बालकों के साथ बन में वत्स चराने जाते थे, तब एक दिन मोहवश ब्रह्मा ने उनके साथी ग्वाल बालकों को और वत्सों को हर लिया था। यह कथा

तो भागवत पुराण मे परमप्रसिद्ध है। उक्त श्रुति का अर्थ इस कथा मे कितना अच्छा घटता है। भगवान् ने अपनी दिव्य दृष्टि से जान लिया कि बालक व वत्सो को ब्रह्मा ने हरा है। बस, उसी क्षण श्रीकृष्ण स्वय ही ग्वालबाल, वत्स और बालको की कम्बली, लकडी, छीके, श्रृ ग आदि सर्वरूप बन गये थे। देखो, एक ही कृष्ण बहुत हो गये थे। यह प्रसिद्ध है।

और भी सुनो ? उपनिषद् कहते है —"भगवत् साक्षात्कार से प्राणी मुक्त हो जाता है।" यह अर्थ भी भागवत की कथा मे ज्यो का त्यो घटता है। जब वसुदेव-देवकी को भगवत् साक्षात्कार हुआ था तब उनके जेल के ताले आदि सभी बन्धन कट गये थे, यह प्रसिद्ध है। इसी प्रकार पुराणो की कथाओ मे किसी न किसी उपनिषद् वाक्य का अर्थ निहित रहता है। पुराण उपनिषदो के अर्थ को ही कथाओ द्वारा समझाते है। किन्तु कथाओ मे वह रहस्य अधिकारी को ही ज्ञात होता है, सबको नही। यह प्रसिद्ध है —अवधूत दत्तात्रेय ने जो २४ गुरुओ से शिक्षा ग्रहण की थी, उन २४ मे एक ने भी उन्हे उपदेश नही दिया था। किन्तु अवधूत ने स्वय ही अपने अधिकार के समान उनसे शिक्षा ग्रहण की थी। वैसे ही अधिकारी पुराणो की कथाओ से तथा अन्य से उपनिषदो का ही अर्थ ग्रहण करते है। सतजन कहते है — "यह सपूर्ण पृथ्वी ही पुस्तक है और इसके सर्व प्राणी तथा सर्व पदार्थ ही इस पुस्तक के पृष्ठ हैं। उन सब पृष्ठो मे शिक्षा अकित है। जो अधिकारी होता है, वह उसे अपने अधिकार के समान ग्रहण करता है। और जो अधिकारी नही होते, वे तो गुरुजनो के मुख से उत्तम उपदेश सुनकर तथा अद्वैतवाद के ग्रथो को पढकर भी नही ग्रहण करते अर्थात् उपदेश के अनुसार अपना जीवन नही बना सकते।"

और तत्त्व वेत्ताओ को तो उपनिषदो का निर्णय किया हुआ सर्व विश्व ही अद्वैत ब्रह्म रूप भासता है, अन्य कुछ भी नही भासता। सत रज्जब ने एक साक्षी मे कहा है —"दुनिया दिल दर्पणमयी, सर्वरूप समभाय। मो मन भया मुदादशिल, मित्र मोर दर्शाय॥" अर्थ :—

मासारिक प्राणियो के मन तो दर्पण के समान है, उन सब मे तो जैसा व्यक्ति या पदार्थ सामने आता है, वैसा हो दीखता है। किन्तु मेरा मन तो मुदादशिला के समान हो गया है। इसमे अत्र अपने मित्र पर-ब्रह्म को छोडकर अन्य किसी का भी प्रतिबिम्ब नही पडता है अर्थात् मर्व परब्रह्मरूप ही भासते है। सुनते है—मुदादशिला मे दर्पण के समान प्रतिबिम्ब पडता है। किन्तु कोई भी व्यक्ति या वस्तु सामने आये मुदादशिला मे तो प्रतिबिम्ब मोर पक्षी का हो पडता है, उसमे अन्य कुछ भो नही दीखता है।

और यदि उसके सामने मोर पक्षी आ जाय तो वह पत्थर का खण्ड पानी होकर बहने लगता है। उसी क्षण मोर पक्षी उसको पान कर जाता है, वैसे ही तत्त्व वेत्ताओ को सर्व विश्व ब्रह्म रूप ही भासता है और ब्रह्म साक्षात्कार होने पर उनका जीवत्व भाव गल कर बह जाता है। तब वे विदेह मुक्ति मे ब्रह्म मे लीन होकर एक अद्वैतरूप से ही स्थिर रहते है। अत तत्त्ववेत्ताओ को पुराणो मे उपनिषदो का अर्थ भासना कोई विलक्षण बात नही है। उनको तो सपूर्ण विश्व ही ब्रह्मरूप भासता है। क्यो ? उनकी दृष्टि मे तो सपूर्ण विश्व ब्रह्म का विवर्त्त है। अत. विवर्त्त अधिष्ठान से भिन्न कदापि नही होता है। यह सब तो इस ग्रन्थ मे स्थान-स्थान पर प्रदर्शित हुआ ही है। अत. सूत सहिता की व्याख्या मे विद्यारण्य स्वामी ने जो लिखा है—"पुराणो मे उपनिषद्रूप ज्ञान काड का ही अर्थ है।" वह सर्वथा उचित ही है।

न्याय सूत्रो का फल

पच अध्यायरूप न्याय सूत्र गौतम ने रचे है। उनमे युक्ति प्रधान है। गौतम ने १६ पदार्थ माने है —प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टात, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान। इन १६ पदार्थो के तत्त्वज्ञान से अनात्मभूत देह आदि मे आत्मा की जो मिथ्या ज्ञानरूप भ्राति है, उसकी निवृत्ति होती है और उससे रागादि दोषो की निवृत्ति होती है। दोषो की निवृत्ति से शुभाशुभ कर्म की निवृत्ति होती है। इससे निमित्त के अभाव से

नैमित्तिक अनेक योनियों में जन्म की निवृत्ति, और इससे गर्भवास से मरण तक के सपूर्ण दु खो की निवृत्तिरूप मुक्ति होती है। इसमे जगत् को परमाणु आरंभित सयोग वियोग जन्य आकृति विशेष माना है। जगत् के कारण परमाणु ईश्वरादि नव माने है। नित्यइच्छा ज्ञानादि गुणवान विभु कर्ता विशेष को ईश्वर माना है। ज्ञानादि चतुर्दश गुणवान् कर्ताभोक्ता जड विभु नाना जीव माना है। बध का हेतु अज्ञान कहा है। एक विशति दु खो को बंध कहा है। एक विशति दु खो के ध्वस को मोक्ष माना है। इतरभिन्नात्म ज्ञान को मोक्ष का साधन कहा है। दुःख जिहासुकुतर्की को अधिकारी माना है। ज्ञान-कांड ही प्रधान काड है। आरभवाद है। आत्म परिमाण सख्या, विभु और नाना बताई है। प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ये चार माने है। ख्याति-अन्यथा मानी है। सत्ता-जीव जगत् परमार्थ सत्ता मानी है। उपयोग-मनन माना है। युक्ति चितन से पुरुष की बुद्धि तीव्र होती है। तब मनन करने मे समर्थ होता है। इससे युक्ति प्रधान न्याय सूत्रो का भी मनन द्वारा वेदानजन्य ज्ञान ही फल है। यह अर्थ न्यायपारगत शिरोमणि भट्टाचार्य ने भी अपने ग्रथ मे लिखा है।

वैशेषिक सूत्रो का फल

कणाद् मुनि ने दश अध्यायरूप वैशेषिक सूत्र रचे है। उनके मत मे छः पदार्थ हैं —द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण है। उक्त छ. प्रकार के पदार्थो के ईश्वरानुग्रहवश यथार्थ ज्ञान से आत्यन्तिक दु ख की निवृत्ति रूप मोक्ष की उत्पत्ति होती है। यद्यपि उक्त प्रकार से न्याय और वैशेषिक का परस्पर भेद है, तथापि प्रतिज्ञादि न्याय प्रयुक्त विचार की प्रवृत्ति होने से दोनों शास्त्रों मे न्याय शास्त्रत्व का व्यवहार होता है। इससे वैशेषिक सूत्रों का भी न्याय शास्त्र मे ही अतर्भाव है। इसमे जगत् को परमाणु आरंभित संयोग वियोग जन्य आकृति विशेष माना है। जगत् कारण परमाणु ईश्वरादि नव माने हैं। ईश्वर-नित्य इच्छा ज्ञानादि गुणवान् विभु कर्ता विशेष माना है। जीव-ज्ञानादि चतुर्दश गुणवान

कर्ता भोक्ता जड विभु नाना माना है। बध हेतु अज्ञान को माना है। एक विशति दुखो को बध माना है। एक विशति दु.खो के ध्वस को मोक्ष माना है। इतरभिन्नात्म ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया है। दु ख-जिज्ञासु-कुतर्की को अधिकारी माना है। ज्ञान काड को प्रधान काड माना है। आरभवाद माना है। आत्म परिमाण सख्या-विभु नाना बताई है। ख्याति अन्यथा मानी है। जीव जगत् परमार्थ सत्ता मानी है। उपयोग मनन कहा है। इस प्रकार न्याय सूत्रो के समान इनकी भी मान्यताये है।

धर्म मीमासा और सकर्पण काड का फल

जिसमे धर्म की मीमासा (विचार) हो उसको धर्म मीमासा कहते है। जैमिनी ने द्वादश अध्याय रूप धर्म मोमासा की रचना की है। 'अथातो धर्म जिज्ञासा' आदि सूत्रो से बारह अध्यायो मे केवल धर्म का ही विचार करते हुये कर्म अनुष्ठान की रीनि का प्रतिपादन किया है। इसकी सूत्र सख्या भी अन्य दर्शनो से अधिक है। विधि से कर्म मे प्रवृत्ति धर्म मीमासा का फल है। इसमे जगत् को स्वरूप से अनादि अनन्त प्रवाहरूप सयोग वियोगवान् म।ना है। जीव अदृष्ट और परमाणु को जगत् के कारण माने है। इसमे ईश्वर का अगीकार नही है। जड चेतनात्मक विभु नाना कर्ता भोक्ता जीव माना है। निषिद्ध कर्म बध के हेतु कहे है। नरकादि दु ख सबन्ध को बध कहा है। स्वर्ग प्राप्ति को मोक्ष माना है। वेद विहित कर्म को मोक्ष का साधन बताया है। कर्म फलासक्त को अधिकारी कहा है। इसका प्रधान कांड-कर्म काड है। आरभवाद मानते है। आत्म परिमाण सख्या-विभु नाना बताते है। प्रमाण-षट् माने है। ख्याति-अख्याति मानते है। सत्ता-जीव जगत् परमार्थ सत्ता मानी है। उपयोग-चित्त शुद्धि माना है। कर्म मे प्रवृत्ति से अन्त करण शुद्धि होती है। उससे ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष। इस रीति से धर्म मीमासा का फल मोक्ष है। और धर्म मीमासा के द्वादश अध्यायो मे आपस मे अर्थ का भेद है, वह कठिन है। इससे यहा नही लिखा गया है। और जैमिनि ने पच

अध्यायरूप 'सकर्षण काड' भी रचा है। उसमे उपासना का वर्णन किया है। उसका भी धर्म मीमासा मे ही अतर्भाव है। इस प्रकार विचार करने पर धर्म मीमासा और सकर्षण काड का फल मोक्ष ही है। इसी को पूर्व मीमासा भी कहते है।

ब्रह्म मीमासा का फल

ब्रह्ममीमासा के कर्त्ता व्यास है। कृपालु व्यासजी ने वेद वादरूप वृक्षो के वन का विभाग कर दिया है। कैसे? जैसे वायु वन मे प्रवेश करके तथा वृक्षो को हिलाकर उनके कटक फैला देता है। फिर सुन्दर कमलो के पुष्पो को स्वस्थान से तोडकर कटको मे भ्रमण कराता है। उन पुष्पो को भ्रमण करते देखकर पथिक के चित्त मे ऐसा भाव उत्पन्न हो —ये सुन्दर कमल इस स्थान के योग्य नही है किन्तु उत्तम स्थान के योग्य हैं। यह विचार करके उन पुष्पो को उठाले और विचार करे, भविष्य में भी वायु पुष्पो को तोडकर कटकों मे भ्रमण करायेगा। इससे ऐसा उपाय मै करू, जिससे पुन वायु पुष्पो को कटको मे भ्रमण नही करा सके। यह विचार करके सूत्र के जाल से कटक युक्त वृक्षो का विभाग कर दे। जिससे पुन उस जाल से रुक जाने से पुष्पों का कटको मे प्रवेश नही होता।

वैसे भेदवादी पडितरूप जो वायु है, सो वेदरूप वन मे वाद अर्थात् अर्थवादरूप कटक सहित वृक्ष है, उनसे सकाम कर्मरूप कटक प्रवृत्त करके सरल अर्थात् कपटरहित, और सुशुद्ध अर्थात् अतिशुद्ध रागादि दोषरहित, जो शिष्यरूप कमल पुष्प है, उनको शमादिरूप जो स्थान है, उससे तोड़कर सकाम कर्मरूप कटको मे भ्रमण कराते देखकर, पथिक समान व्यापक विष्णु ने विचार किया — ये सुन्दर कमलरूप शुद्ध पुरुष इस स्थान के योग्य नही हैं, किन्तु मेरे स्वरूप को प्राप्त होने योग्य हैं। यह विचार कर तथा व्यासरूप धारण करके, उन शिष्यो को उपदेशरूप अक मे स्थापन किया। जैसे पुरुष के अक (गोद) स्थित पुष्प को वायु उडाने मे समर्थ नही होता, वैसे ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के उपदेश मे स्थित पुरुष को भेदवादी बहकाने मे अर्थात् सशय युक्त

करके निष्ठा से डिगाने मे समर्थ नही होता। इससे उपदेश ही अक है। फिर व्यास भगवान् ने विचार किया, भेदवादी भविष्य मे भी शुद्ध पुरुषो को सकाम कर्मरूप कटको मे भ्रमण करायगे। इससे ऐसा उपाय हो, जिससे भविष्य मे सुशिष्य उनके द्वारा भ्रम मे नही पड सके। यह विचार करके सूत्ररूप जाल से वेद के वाक्यरूप वृक्षो का विभाग कर दिया। जैसे वन मे दो प्रकार के वृक्ष हो —एक सकटक और दूसरे कटकरहित, उनका जाल से विभाग कर दिया जाय तो पुष्पो का कटक सहित वृक्षो मे प्रवेश नही होता। वैसे वेद मे दो प्रकार के वाक्य है। एक तो कर्म की स्तुति करके कर्म मे बहिर्मुख पुरुषो की प्रवृत्ति कराते है। और दूसरे कर्म के फल को अनित्य बोधन करके पुरुष की निवृत्ति कराते है। उन वाक्यो का वेदव्यास ने विभाग करके सूत्रो से यह बोधन किया है —सर्व वाक्यो का तात्पर्य निवृत्ति मे है। प्रवृत्ति मे किसी भी वाक्य का तात्पर्य नही है। जो प्रवृत्ति बोधक वाक्य है, उनकी भी स्वाभाविक और निषिद्ध जो प्रवृत्ति है, उससे निवृत्त करके विहित प्रवृत्ति से अत करण शुद्ध होने पर, उससे भी निवृत्त होकर पुरुष ज्ञाननिष्ठ होगा। इस रीति से निवृत्ति मे ही तात्पर्य है। और अर्थवाद वाक्यो ने जो कर्म का फल बोधन किया है, सो तो गुड जिह्वा न्याय से किया है।

किसी बालक को उसकी माता उसकी जिह्वा पर गुड की अगुली लगाकर कटु औषध मे मधुर रस की बुद्धि उत्पन्न करके कटु ओपध पिला देती है। उसको शास्त्र मे "गुड जिह्वा न्याय" कहते है। उसके समान श्रुति रूप माता भी पामर जीव रूप बालक को अपने जो कर्मफल के स्तावक वचन रूप अर्थवाद वाक्य है, उन वचनो रूप गुड की अगुली चटाकर कर्म के स्वर्गादिक की प्राप्तरूप फल का बोधन करके, उस कर्म मे प्रवृत्ति कराती है। परन्तु जैसे उस माता का बालक की रोग निवृत्ति मे तात्पर्य है, गुड की अगुली के स्वाद मे नही है, वैसे श्रुतिरूप माता का पाप की निवृत्ति द्वारा चित्त की शुद्धि मे तात्पर्य है, स्वर्गादिक फल मे तात्पर्य नही है। यह अर्थ

सूत्रो से व्यास जी ने बोधन किया है। इस अर्थ को सूत्रो से जानकर पुरुष की सकाम कर्म मे प्रवृत्ति नही होती है। जैसे सूत का जाल पुष्पो को कटको से रोकता है। वैसे व्यास भगवान् के सूत्र सकाम कर्मों से पुरुषो को रोकते हैं। इससे जाल रूप है।

ब्रह्म मीमासा को ब्रह्मसूत्र और उत्तर मीमासा भी कहते है। व्यास जी ने यह चार अध्यायो मे रचा है। उन अध्यायो को क्रमश समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्याय भी कहते है। उत्तर मीमासा मे वेद के ज्ञानकाड का विचार है। १-प्रथम अध्याय में सर्व उपनिषद् वाक्य ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते है, अन्य का नही। यह कहा है। २-उपनिषद् वाक्यो का मदबुद्धि पुरुष को आपस मे विरोध प्रतीत होता है। उसका परिहार द्वितीय अध्याय मे करा है। ३-ज्ञान तथा उपासना के साधन का विचार तृतीय अध्याय मे करा है। ४-ज्ञान, उपासना का फल चतुर्थ अध्याय मे कहा है। इसमे जगत् को नामरूप क्रियात्मक माया परिणाम और चेतन का विवर्त्त माना है। जगत् का कारण अभिन्न निमित्तोपादान ईश्वर को मानते है। माया विशिष्ट चेतन को ईश्वर माना है। अविद्या विशिष्ट चेतन को जीव माना है। बध का हेतु अविद्या को बताया है। अविद्यातत्कार्य को बध कहा है। अविद्या तत्कार्य निवृत्ति पूर्वक परमानन्द ब्रह्म प्राप्ति को मोक्ष माना है। ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया है। मल विक्षेप दोषरहित चतुष्टय साधन सपन्न को अधिकारी बताया है। प्रधान काड-ज्ञानकाड है। विवर्त्तवाद माना है। आत्म परिमाण सख्या-विभु एक है। प्रमाण षट् है। ख्याति-अनिर्वचनीय मानते है। सत्ता-परमार्थरूपात्म सत्ता, और व्यावहारिक और प्रातिभासिक जगत् सत्ता मानी है। उपयोग-तत्त्वज्ञान पूर्वक मोक्ष कहा है।

यह ब्रह्म मीमासा रूप शारीरक शास्त्र ही सर्व शास्त्रो मे प्रधान है। मुमुक्षु को यही उपादेय है, इसके व्याख्यानरूप ग्र थ यद्यपि नाना है। वे कौन है ? शकराचार्य कृत भाष्य, रामानुज भाष्य, मध्व भाष्य,

भास्कराचार्यकृत भाष्य, विष्णुस्वामीकृत भाष्य, विज्ञानेंद्रभिक्षुकृत भाष्य, नीलकठ भाष्य इत्यादिक भाष्यरूप व्याख्यान नाना है। तथापि श्री शकरकृत भाष्यरूप व्याख्यान ही मुमुक्षु को श्रोतव्य है। उसका ज्ञान द्वारा मोक्ष फल स्पष्ट ही है।

स्मृति आदिक ग्रथो के कर्त्ता और प्रयोजन

मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, यम, अगिरा, वसिष्ठ, दक्ष, सवर्त्त, शातातप, पराशर, गौतम, शख, लिखित, हारीत, आपस्तब, शुक्र, बृहस्पति, व्यास, कात्यायन, देवल, नारद, इत्यादिक सर्वज्ञ हुये है। उन्होने वेद के अनुसार स्मृति ग्र थ लिखे है। उनको धर्म शास्त्र कहते है। उनमे वर्ण आश्रम के कायिक, वाचिक, मानसिक, धर्म कथन करे है। उनका भी अन्त करण शुद्धि द्वारा ज्ञान होकर मोक्ष ही प्रयोजन है। वैसे व्यास ने महाभारत और वाल्मीकि ने रामायण रचा है। उनका भी धर्म शास्त्र मे ही अतर्भाव है। और देवता आराधन के निमित्त जो म त्र शास्त्र है, उनका भी धर्म शास्त्र मे अनर्भाव है। देवता आराधन का भी अन्त करण शुद्धि ही प्रयोजन है। वैसे साख्य शास्त्र, योगशास्त्र, वैष्णवतत्र, शैवतत्रादिक भी धर्म शास्त्र के अतर्भू त है। क्यो ? इनमे भी मानस धर्म (उपासना रूप धर्म) का निरूपण है।

साख्यशास्त्र का फल

कपिल ने षट् अध्यायरूप साख्य शास्त्र रचा है। इनने पहले चार प्रकार के पदार्थो का विभाग किया है —प्रकृति, विकृति, प्रकृति विकृति, और प्रकृति विकृति से रहित। इन सामान्यरूप से परिगणित पदार्थो के विशेषरूप से पच्चीस विभाग है —प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। सत्व, रज, और तम इन तीन गुणो की साम्यावस्था को प्रकृति कहते है। षट् अध्यायरूप साख्यशास्त्र के प्रथम अध्याय मे विषय निरूपण किये है। द्वितीय अध्याय मे महत्तत्त्व अहकारादिक

प्रधान के कार्य कथन करे है। तृतीय अध्याय मे विषयो से वैराग्य कहा है। चौथे अध्याय मे विरक्तो की अख्यायिकाये कथन की है। पचम अध्याय मे पर पक्ष का खडन करा है। छठे अध्याय मे सर्व अर्थ का सक्षेप से सग्रह करा है। इसमे जगत् को प्रकृति परिणाम त्रयोविंशति तत्त्वात्मक माना है। त्रिगुणात्मक प्रकृति को जगत् का कारण बताया है। इसमे ईश्वर नही माना है। जीव को असग चेतन विभु नाना और भोक्ता माना है। अविवेक को बध का हेतु माना है। अध्यात्मादि त्रिविध दु ख को बध कहते है। त्रिविधदु खध्वस को मोक्ष माना है। प्रकृति पुरुष विवेक को मोक्ष का साधन कहा है। सदिग्धविरक्त को अधिकारी कहा है। प्रधान काड—ज्ञानकाड को माना है। परिणाम-वाद माना है। आत्मपरिमाण सख्या—विभु नाना बताई है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, तीन प्रमाण माने है। ख्याति-अख्याति मानी है। जीव जगत् परमार्थ सत्ता मानी है। 'त्व' पदार्थ का शोधन उपयोग कहा है। प्रकृति पुरुष के विवेक से पुरुष का असग ज्ञान साख्यशास्त्र का प्रयोजन है। उसका भी त्वपद के लक्ष्य अर्थ शोधन द्वारा महावाक्यजन्यज्ञान मे उपयोग होने से मोक्ष ही फल है।

योग शास्त्र का फल और शारीरक उक्ति से अविरोध

योगशास्त्र चारपादरूप है। पतजलि मुनि उसके कर्ता है। सो पतजलि शेष के अवतार है। एक ऋषि सध्यासमय उपासना कर रहे थे। उनकी अजलि मे प्रकट होकर पृथ्वी पर पडने से पतजलि नाम से कहे जाते है। उन्होंने शरीर का रोगरूप मल दूर करने के लिये चिकित्सा का चरक नामक ग्र थ रचा है। और अशुद्ध शब्द का उच्चारणरूप जो वाणी का मल है, उसके नाश के लिये पाणिनी व्याकरण का भाष्य किया है। वैसे विक्षेपरूप अत.करण का मल है। उसके नाश के लिये योगसूत्र रचे है। पदार्थ विवेक मे पूर्वोक्त साख्यशास्त्र की अपेक्षा एक अधिक परमेश्वर पदार्थ माना है। इसी से इसको सेश्वर साख्य भी कहते हैं। इनके मत मे २६ पदार्थ है। प्रकृति मे अधिष्ठित परमात्मा के महत्तत्त्व, काल और पुरुष—कार्योपाधि जीव—इस प्रकार तीन

पदार्थ भी ये लोग मानते है। जब परमात्मा की असीम कृपा से अष्टागयोग द्वारा जीव का अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब अपने को बुद्धि आदि पदार्थो से भिन्न समझता हुआ वह कैवल्यरूप अमृत सागर मे अवगाहन करके सपूर्ण दु खो से विमुक्त हो जाता है। योगसूत्र के प्रथम पाद मे चित वृत्ति का निरोधरूप समाधि और उसके साधन अभ्यास वैराग्यादिक कथन करे है। विक्षिप्त चित्त के लिये समाधि के साधन—यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सविकल्प समाधि, ये आठनिर्विकल्प समाधि के अग द्वितीयपाद मे कहे है। तृतीय पाद मे योग की विभूति कही है। चतुर्थ पाद मे योग का फल मोक्ष कहा है। ये जगत् को प्रकृति परिणाम त्रयोविशति तत्त्वात्मक मानते है। त्रिगुणात्मक प्रकृति को जगत् का कारण कहते है। क्लेश कर्म विपाक आशय असबद्ध पुरुष विशेष को ईश्वर कहते है। असग चेतन विभु नाना कर्ताभोक्ता जीव का स्वरूप बताते है। अविवेक को बध का हेतु कहते है। प्रकृति-पुरुष सयोगजन्य अविद्यादि पच क्लेश को बध कहते है। प्रकृति पुरुष सयोगाभाव पूर्वकअविद्यादि पचक्लेश निवृत्ति को मोक्ष कहते है। निर्विकल्प समाधि पूर्वक विवेक को मोक्ष का साधन मानते है। उपासनाकाड को प्रधानकाड बताते है। परिणामवाद मानते है। आत्म परिमाण सख्या—विभु नाना कहते है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, ये तीन प्रमाण मानते है। ख्याति—अख्याति मानते है। जीव जगत् परमार्थ सत्ता मानते है। उपयोग—चित्तैकाग्रता कहते है। इस रीति से योगशास्त्र भी ज्ञान के साधन निदिध्यासन के सपादन द्वारा मोक्ष का हेतु है।

और शारीरक सूत्र मे जो साख्य, योग का खडन किया है सो उनके व्याख्यान जो उपनिषदो से विरुद्ध किये है उनका खडन किया है, मूल सूत्रो का नही। न्याय वैशेषिक का खडन भी विरुद्ध व्याख्यान का ही किया है, सूत्रो का नही।

पचरात्र और पाशुपत तत्र आदि का फल

नारद ने पचरात्र नामक तत्र रचा है। उसमे वासुदेव मे अत.करण

स्थापन करना कहा है। उसका भी अंत करण की स्थिरता मे ज्ञान द्वारा मोक्ष ही फल है। ओर सर्व वैष्णव ग्र थ पचरात्र के अतर्भूत है। सो पचरात्र धर्मशास्त्र के अतर्भूत है। और पाशुपत तन्त्र मे पशुपति का आराधन कहा है। उसका कर्ता पशुपति है। उसका भी अत करण की निश्चलता द्वारा मोक्ष का साधन ज्ञान ही फल है।

उक्त आशय के कुछ दोहे 'सतप्रसाद' ग्र थ के विविध विषय निरूपण अश ११ मे यहा दिये जाते है —

परानन्दप्रद स्वात्महित, यजन किया जो नाहि।
तो ऋग ऋचा समूह का, कौन लाभ भव माहि ॥१॥
असित रक्त सित प्रजा की, हेतु अजा यदि हौन।
ब्रह्म सत्र मे की न तब, यजु मख का फल कौन ॥२॥
ब्रह्मात्मैक सु सामके, गीत जु गाये नाहि।
तो फिर सामोद्‌गात्र से, कौन लाभ भव माहि ॥३॥
ब्रह्म विद्या अथर्वणी, हिय मे प्रकटी नाहि।
कौन अथर्वण लाभ फिर, सोचिये निज मन माहि ॥४॥
अमृतत्व पाया नही, ज्ञानामृत कर पान।
फेरि मरा तो विफल है, आयुर्वेद सुजान ॥५॥
प्रणव धनुष पर बोधशर, चढा रु लक्ष्य ललाम।
ब्रह्म न बेधा तो कहो, धनुर्वेद किस काम ॥६॥
ब्रह्मात्मा एकत्व का, स्वर भरकर गान्धार।
गीत न गाया गान्धर्व, वेद तो सु बेकार ॥७॥
सब ही अर्थ अनर्थ है, सत्य अर्थ परमार्थ।
अर्थशास्त्र उसके बिना, सफल न वचन यथार्थ ॥८॥
जिस शिक्षा से प्राप्त हो, निश्चय विदेह भाव।
सो शिक्षा नहि प्राप्त की, हार गया तो दाँव ॥९॥
जो निर्विकल्प नहि हुआ, त्याग कल्पना ग्राम।
तो विकल्प सकल्पमय, कल्पसूत्र किस काम ॥१०॥
जो कल्पक तज कल्पना, ब्रह्म रूप सुख धाम।

हुआ नही तो सोचिये, कल्पसूत्र किस काम ॥११॥
जो मन मे समझा नही, महावाक्यार्थ विचार।
अध्ययन व्याकरण का, तो समझे बेकार ॥१२॥
जिसने इस ससार को, रचा सु विविध प्रकार।
उसे समझने से सफल, हो व्याकरण विचार ॥१३॥
सिद्ध भये व्याकरण मे, आत्मादिक दुख हरण।
शब्द समझ थिर नहि भया, तो सफल न व्याकरण ॥१४॥
उक्ति रहित सत ब्रह्म का, हुआ नही विज्ञान।
तो निरुक्त की उक्ति का, पाठ व्यर्थ हो जान ॥१५॥
मुक्तो की शुचि छन्दता, लखी न बहुते छन्द।
पढे लिखे तो क्या हुआ, जो न कटा भव फन्द ॥१६॥
जासु ज्योति से भासती, सूर्यादिक सब ज्योति।
ज्योतिष पढकर क्या किया, जो न लखी वह ज्योति ॥१७॥
जो श्रीपुराण पुरुष मे, गाढ प्रीति हुई नाहिं।
तो पुराण के श्रवण का, क्या फल है भव माहि ॥१८॥
सुनत पुराणो के सदा, काया भई पुराण।
पुरुष पुराण न लख सका, तो क्या किया अजाण ॥१९॥
विमल निजात्मा तत्त्व मे, जो निश्चल विश्राति।
न्याय अन्य अन्याय है, जो देते नहि शाति ॥२०॥
तर्क विषय नहि ब्रह्म है, तर्कों का आधार।
निज स्वरूप मे तर्क की, तीक्ष्णता बेकार ॥२१॥
तर्क न थिरता पात है, तर्क न थिरता देत।
इससे तर्कातीत मे, मन लय करे सचेत ॥२२॥
सर्व सविशेष त्याग कर, निर्विशेष के माहि।
निज मन को लय कीजिये, बाह्य भटकिये नाहि ॥२३॥
सर्व भूलकर ब्रह्म मे, जो सतत स्थिति मोक्ष।
तिहिं तज भव चिन्तन किये, बधन है अपरोक्ष ॥२४॥
तत्त्व गिने से लाभ क्या, तत्त्वो से पर जोय।

आत्मा उसे पिछानिये, "नारायण" थिर होय ॥२५॥
योग सिद्धि आसक्ति का, क्यो भोगत है क्लेश ।
कला कुशलता मात्र वह, आतमा स्थिति नहि लेश ॥२६॥
दुर्लभ नही बहु तन धरण, नही सिद्धि का हेतु ।
मुक्ति विदेहहि सिद्धि है, समझिये होय सचेत ॥२७॥
कारण बल वीर्यादि की, योग सिद्धि नही सिद्धि ।
इससे योगाभ्यास से, प्राप्त करे सत सिद्धि ॥२८॥
सिद्धि आत्म विज्ञान सत, अन्तराय उस माहि ।
अन्य सिद्धिया जान यह, चित्त लगावें नाहि ॥२९॥
कर्मो से ही जन्म हो, और जन्म से कर्म ।
इनसे छुटने के लिये, जान निजात्मा मर्म ॥३०॥
बिना कामना त्याग के, शुद्ध होत मन नाहि ।
अत कामना त्याग के, चित्त लगा निज माहि ॥३१॥
सब धर्मो मे महाफल, मोक्ष धर्म ही देत ।
"नारायण" ससार मे, जो सब को अभिप्रेत ॥३२॥

शैव ग्र थादिको का फल और वाम मार्ग

जो शैव ग्र थ है, सो सब पाशुपत तत्र के अतर्भूत है । वैसे गणेश, सूर्य, देवी की उपासना बोधक ग्र थो का भी चित्त की निश्चलता द्वारा ज्ञान फल है । और सर्व का धर्म शास्त्र मे अनतर्भाव है । परन्तु देवी की उपासना के बोधक ग्र थो मे दो सप्रदाय है —एक दक्षिण सप्रदाय है । दूसरा उत्तर सप्रदाय है । उत्तर सप्रदाय को ही वाममार्ग कहते है । उनमे दक्षिण सप्रदाय की रीति से जिन ग्र थो मे देवी की उपासना है, सो तो धर्म शास्त्र के अतर्भूत है । और वाममार्ग जिन ग्र थो मे है, सो धर्म शास्त्र से विरुद्ध है । इससे अप्रमाण है । यद्यपि वामतत्र शिव ने रचा है, ऐसा कहते है । तथापि सकल शास्त्र और वेद से विरुद्ध है । इससे प्रमाणरूप नही है । जैसे विष्णु के बुद्ध अवतार ने नास्तिक ग्र थ रचे है, सो वेद विरुद्ध है । इससे प्रमाण रूप नही है ।

वैसे शिवकृत वामतंत्र भी अत्यन्त विरुद्ध है। मदिरादिक अत्यन्त अशुद्ध पदार्थों का उसमे ग्रहण लिखा है। और उत्तम पदार्थों के जो नाम है, सोई मलिन पदार्थों के नाम लोक वचन के निमित्त कहते है। मदिरा का नाम तीर्थ, मास का नाम शुद्ध, मदिरापात्र का नाम पद्मा, प्याज का नाम व्यास, लशुन का नाम शुकदेव, मदिराकारी कलाल का नाम दीक्षित कहते है। वेश्यासेवी, चर्मकारी आदिक चाडाली सेवी को प्रागसेवी काशीसेवी कहते है। भैरवी चक्र मे स्थित चाडालादिक को ब्राह्मण कहते है। अत्यत व्यभिचारिणी को योगिनी और व्यभिचारी को योगी कहते है। ऐसे अनेक प्रकार से उनका निषिद्ध व्यवहार है। पूजन के समय अनेक दोषवती स्त्री को उत्तम-शक्ति कहते है। जाति की चाडाली अतिव्यभिचारिणी रजस्वला स्त्री का देवी बुद्धि से पूजन करते है। उसके उच्छिष्ट मदिरा का पान करते है। और अधिक मदिरा पान से जो वमन कर दे तो उसे पृथ्वी पर नही गिरने देते है, किन्तु आचार्य सहित दूसरे सब सावधान होकर भक्षण करते है। वमन को ही भैरवी कहते है। और योनि मे जिह्वा लगाकर मत्रो का जप करते है। १ मदिरा २ मास ३ मत्स्य ४ मुद्रा ५ मत्र, इन पचमकारो का भोग मोक्ष के निमित्त सेवन करते है। प्रथमा द्वितीयादिक उन मकारो के अप्रसिद्ध नामो से व्यवहार करते है। इससे आदि वामतत्र का सकल व्यवहार, इस लोक से और परलोक से भ्रष्ट करता है। इसी से इसका सेवन करने वाले इसको लोक वेद निदित जानकर गुप्त रखते है। अधिक क्या कहै। वामतत्र की रीति सुनकर म्लेच्छ के भी रोमाच हो जाता है। ऐसा निदित वामतत्र है। सर्व गी जो भक्षण करते है, सो सर्व निदित मार्ग वाम-तत्र मे कहे है। अतिनीच व्यवहार लिखने योग्य नही है। इससे इसका विशेष प्रकार नही लिखा है। वामतत्र सर्वथा त्यागने योग्य है।

नास्तिक मत

नास्तिक मत भी त्यागने योग्य है। नास्तिको के षट् भेद है —१

१ माध्यमिक, २ योगाचार, ३ सौत्रातिक, ४ वैभापिक, ५ चार्वाक, ६ दिगम्बर । ये षट् वेद को प्रमाणरूप नही मानते है, इससे इनको नास्तिक कहते है । इनका आपस मे विलक्षण सिद्धान्त है ।

आदि के चार बौद्ध है । इन चारो के मत मे ,—सब क्षणिक है, दु खात्मक है, स्वलक्षण है और शून्य है। इस प्रकार इन चार प्रकार की भावना से ही परम पुरुपार्थ (मोक्ष) होता है ऐसा माना गया है ।

माध्यमिक मत

माध्यमिक का मत है —शिष्यो को गुरु के पास जाकर योग और आचार दो क्रियाएँ करनी चाहिये । योग-अप्राप्त वस्तु की यथार्थ रूप से प्राप्ति के लिये शका । आचार—गुरु ने जो उत्तर रूप से कहा हो, उसका अगीकार । गुरु जी ने उपदेश दिया हो उसका अगीकार करके पर्यनुयोग (शका) नही करने पर माध्यमिक सज्ञा होती है । ये माध्यमिक सर्व शून्यवादो है और अनुमान प्रमाण मानते है ।

योगाचार मत

योगाचार के मत मे सर्व पदार्थ विज्ञान से भिन्न नही है । विज्ञान ही तत्त्व है । वह विज्ञान क्षणिक है । ये बाह्यार्थ शून्यवादी है अर्थात् आन्तर ज्ञान रूप अर्थ की क्षणिक रूप से स्थिति मानते है । इसमे युक्ति देते है .—यदि ज्ञान रूप अर्थ न माना जाय तो जगदान्ध्य प्रसक्ति होगी । इसलिये बुद्धितत्त्व मानने की आवश्यकता है । इनकी 'योगाचार' सज्ञा इसलिये हुई है .—ये गुरु द्वारा कहे हुये भावना चतुष्टय और बाह्यार्थशून्यत्व का अगीकार करने के अनन्तर आन्तर ज्ञान रूप अर्थ की शून्यता कैसे हो सकती है ? इस प्रकार पर्यनुयोग (शका) किया है । ये लोक क्षणिकत्व रूप से बुद्धि तत्त्व का अगीकार करके बाह्यार्थवाद का खण्डन करते है अर्थात् बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप ही है । उनकी ज्ञान से अतिरिक्त सत्ता नही मानते है । केवल वासना विशेष से ज्ञान मे अनेक आकार भासते है । पूर्वोक्त भावना चतुष्टय से सपूर्ण वासनाओ का उच्छेद हो जाने से केवल विशुद्ध विज्ञान का उदय होना ही इनके मत मे मोक्ष पदार्थ है ।

सौत्रान्तिक मत

सौत्रान्तिक मत मे ज्ञान के सिवा बाह्यार्थ वस्तु की सत्ता अनुमान मे मानी गई है। उनका कथन है —यदि बाह्यार्थ का सर्वथा अभाव माना जाय, तो बाहर के समान आन्तर वस्तु का अवभास होता है [यह योगाचार का कथन नही बन सकेगा। क्यो ? बाह्य पदार्थ के सर्वथा अभाव मे तन्निरूपित दृष्टान्त का नही होना निश्चित ही है। इन्होने—रूप स्कन्ध, विज्ञान स्कन्ध, वेदना स्कन्ध, सज्ञा स्कन्ध और सस्कार स्कन्ध। भेद से पाच स्कन्ध माने है। शब्दादि विषय और इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध है। आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान का प्रवाह विज्ञान स्कन्ध है। सुख दु खादि प्रत्यय का प्रवाह वेदना स्कन्ध है। और सस्कार स्कन्ध शब्द से धर्माधर्मादि कहे जाते है। यह सपूर्ण जगत् दुःखरूप और दु ख का साधन है। इस प्रकार की भावना करके उसके निरोध के लिये तत्त्वज्ञान को सपादन करना चाहिये। और वह तभी हो सकता है, जब दु ख, आयतन, समुदाय, और मार्गरूप चार तत्त्वो का अर्थात् रूपादिक पच स्कन्ध दु ख है। पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच विषय, मन और बुद्धि दु ख का आयतन है। मनुष्यो के हृदय मे जो राग, द्वेष का उदय होता है, वही समुदाय पदार्थ है और सब पदार्थ क्षणिक है। इस प्रकार की स्थिर वासना-मार्ग पदार्थ है। इन चार के यथार्थ परिज्ञान से मोक्ष होता है। इन्होने सूत्र के परम रहस्य को पूछा है। इसीलिये इन की सौत्रान्तिक सज्ञा हुई है। सौत्रान्तिक मत मे विज्ञान का आकार बाह्य पदार्थ विषय बिना नही होता है। इससे विज्ञान से बाह्य पदार्थो का अनुमान होता है। इस रीति से सौत्रान्तिक मत मे अनुमान प्रमाण के विषय बाह्य पदार्थ है। प्रत्यक्ष नही है और स्थिर भी नही है, किन्तु सर्व पदार्थ क्षणिक है।

वैभाषिक मत

वैभाषिक मत मे बाह्य पदार्थ क्षणिक तो है, परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय है। वे बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष से ही सिद्ध करते है, अनुमान से नही। क्यो ? व्याप्ति ज्ञान के बिना अनुमान नही हो सकता। अनुमान

मे प्रत्यक्षात्मक व्याप्तिग्रह अपेक्षित होता है। यह सर्वानुभव सिद्ध है। इसलिये ग्राह्य और अध्यवसेव भेद से दो प्रकार का अर्थ वैभाषिक लोगो ने माना है। पूर्व मत मे बाह्य अर्थ की सत्ता अनुमान से ही मानी गई है और इस मत मे प्रत्यक्ष से मानी गई है, यह विशेष है। प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य अर्थ ग्राह्य है और अनुमान से गम्य अर्थ अध्यवसेवरूप है, यह समझना चाहिये। यद्यपि आदि बुद्ध एक ही है, तथापि उन्होने बाह्य और आन्तर पदार्थों मे सर्वथा अनास्था रखने वाले शिष्यो के प्रति उपदेश के लिये पहले शून्यवाद का उपदेश दिया। विज्ञानमात्र मैं आस्था रखने वालो के प्रति केवल विज्ञान ही सत् है। ऐसा उपदेश दिया और विज्ञान एव बाह्य पदार्थो मे श्रद्धा रखने वालो को दोनो सत्य है, ऐसा उपदेश दिया। इसलिये विनेय (उपदेश) भेद से बुद्ध की भाषा भिन्न भिन्न है—इस बात को यह चतुर्थ बुद्ध कहता है। इसीलिये इसकी वैभाषिक सज्ञा हुई है। यही कारण है, उक्त चार प्रकार के बौद्धो को उपदेश देने वाले मूलभूत बुद्ध के एक होने पर भी तत्-तत् स्वोपदेष्टत्य शिष्यो की मति के वैचित्र्य से चार प्रकार के बौद्ध कहलाते है। ये चार मत सुगत के है।

चार्वाक मत

चार्वाकमत मे पदार्थ क्षणिक नही है। परन्तु इसके मत मे देह ही आत्मा है। चार्वाक शब्द का अर्थ है —आपातत. रमणीय वाणी को कहने वाला मत विशेष का प्रवर्तक आचार्य। चार्वाकमत के आलोचन से रागत. प्रवृत्तिशील पुरुषो को उनका मन्तव्य अच्छा ही लगता है। इनके मत मे चार तत्त्व है —पृथ्वी, जल, तेज और वायु। ये ही चार तत्त्व देहाकार मे परिणत होकर मद शक्ति से युक्त मद्य के समान चैतन्य युक्त हो जाते है। कैसे ? जैसे सुरा जिन पदार्थो से बनती है, उन पदार्थों मे मादकता पहले नही रहती है, किंतु उनकी विशेष क्रिया द्वारा उनमे अकस्मात् मादकता आ जाती है, वैसे ही पृथ्वी आदि पदार्थों में प्रत्येक रूप से चैतन्य शक्ति के न होने पर भी उनके परस्पर विलक्षण आकृति मे परिणत हो जाने के पश्चात् चैतन्य शक्ति आ

जाती है। यह चार्वाको का तात्पर्य है। और चैतन्य युक्त देहेन्द्रियादि ही इनके मत मे आत्मा है। इनसे अतिरिक्त "आत्मा" कोई पदार्थ नही है। इस मत मे केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि नही है। इस मत के मूल प्रवर्तक आचार्य नास्तिक बृहस्पति है। ये लोग अतीन्द्रिय पदार्थ नही मानते है। क्यो ? अतीन्द्रिय पदार्थो की सिद्धि अनुमान से की जा सकती है और अनुमान को ये लोग नही मानते है।

दिगबर मत

दिगबर मत मे देह आत्मा नही है, देह से भिन्न आत्मा है। परन्तु जितना देह का परिमाण होता है, उतना ही आत्मा का परिमाण है। ऐसा मानते है। इस मत को आर्हत मत भी कहते है। क्यो ? इसके प्रवर्तक 'अर्हत्' नाम के आदि पुरुष थे। ये आत्मा को स्थायी मानते है। इस मत मे पहले जीव और अजीव भेद से दो तत्त्व माने गये है। फिर इसका विस्तार जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुदगलास्तिकाय से भी किया गया है। अस्तिकाय शब्द पदार्थवाची है। ये ससारी और मुक्त भेद मे दो प्रकार के जीव मानते है। अजीव पदार्थ का ही आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल विस्तार है। और प्रकारान्तर से इन्होने—जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष। इस प्रकार सात पदार्थ माने है। परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार के इनके मत मे प्रमाण है। इनके मत मे श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि अनेक अवान्तर भेद है। स्याद्वाद सभी जैनो को सम्मत होने पर भी क्रियाश मे इन मतो की भिन्नता है। सपूर्ण कर्म बन्धनो से छूट जाने के बाद असगरूप से जीव की अवस्थिति ही इनका मोक्ष पदार्थ है। सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र मोक्ष प्राप्ति के मार्ग माने गये है।

इस रीति से इनके आपस मे मतो के भेद है। और भी इनकी आपस मे मतो की विलक्षणता बहुत है। परन्तु ये सर्व वेद के विरोधी है। इससे नास्तिक है। इसी कारण से इनके मत का उपपादन और खडन विशेष कर के नही लिखा हैं ।

साहित्य आदिक के तात्पर्य

वाममार्ग और नास्तिक मतो के ग्र थ यद्यपि सस्कृत वाणीरूप है, तथापि वेद बाह्य है । इससे वेद के अनुसारी विद्या के प्रस्थान अष्टादश ही है ।

और मम्मट आदिक ने जो साहित्य (अलकार) ग्र थ रचे है, उनका भी कामशास्त्र मे अतर्भाव है । वैसे सकल काव्यो का भी किसी का (नायकाभेद और रसभेद आदिक अर्थ के प्रतिपादक काव्य ग्र थो का) कामशास्त्र मे और किसी का (भगवत् चरित्र के प्रतिपादक काव्य ग्र थो का) धर्मशास्त्र मे अन्तर्भाव है । इस रीति से अष्टादश विद्या के प्रस्थान, सर्व ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष के हेतु है । कोई साक्षात् ज्ञान का हेतु है । कोई परम्परा से ज्ञान का हेतु है । यह सारग्राहक दृष्टि से सकल शास्त्रो का अभिप्राय निश्चय होता है । यद्यपि उत्तर मीमासा बिना सर्व शास्त्र जिज्ञासु को हेय है ।यह शारीरक मे सूत्रकार भाष्यकार ने प्रतिपादन किया है । इससे अन्य शास्त्र भी मोक्ष के उपयोगी है । यह कहना सभव नही है । तथापि यह निश्चय तो सारग्राहक दृष्टि से किया गया है, तर्क दृष्टि से नही ।

दर्शन शास्त्रो की रचना मे आचार्यो की प्रवृत्ति का कारण

प्रत्येक दर्शनकारो की दर्शन रचना मे प्रवृत्ति इसलिये हुई है — अनेक प्रकार के दु खो से परिपीडित सासारिक जीवो की दु खो से मुक्ति हो और उन्हे सुख प्राप्त हो । सुख प्राप्त नही होता तब तक चिरस्थायिनी शाति प्राप्त नही होती है । परम शाति अध्यात्म ज्ञान से ही प्राप्त होती है । यद्यपि व्यावहारिक साधन विशेषो की सम्पत्ति कुछ व्याहारिक अडचनो को हटा सकती है, तथापि उनसे पारमार्थिक चिरस्थायिनी शाति नही मिलती है । अत जगत् के साधारणजनो के उपकार को मन मे रखकर तत्–तत् दर्शनकारो ने सूत्ररूप से अधिकारी विशेषो के लिये तत्—तत् प्रकारो का अनेक युक्ति—प्रयुक्तियो से दिग्दर्शन इसलिये कराया है कि उस उस स्थिति के अधिकारी पुरुषो को कुछ-न-कुछ शाति अवश्य मिल जाय । दर्शनकारो के मूल

सूत्रो के सिद्धान्तो के आधार पर उनके व्याख्याकारो ने भी विशद व्याख्यायें की है।

उनमे जो भिन्नतायें है, सो तो जैसे एक नगर के अनेक मार्ग होते है। किन्तु वे किसी भी दिशा से आये, सर्व मार्ग नगर की चौपड मे आ जाते है। वैसे ही सपूर्ण दर्शन एक आत्मतत्त्व प्राप्ति के ही साधन रूप मार्ग है अर्थात् मोक्ष के ही साधन है। यद्यपि मोक्ष का स्वरूप सबने एकसा नही बताया है, प्रत्युत अपने-अपने वैयक्तिक भाव से प्रेरित होकर मोक्ष के भिन्न-भिन्न स्वरूप निर्धारण किये है। जो आस्तिक दर्शन विभाग मे मत उपन्यस्त किये गये है, उनमे श्रुति वाक्यो की खीचातानी ही की गई है। और नास्तिक-दर्शनो का तो कोई मूलभूत आधार ही नही है। इसलिये उनमे तो दर्शनत्व भी सदिग्ध है। वे सिद्धान्त न होकर पूर्वपक्षरूप है। क्यो ? उन नास्तिक दर्शनकार महानुभावो ने तो अपने दर्शन इसलिये लिखे है कि हमारे विचारो को देखकर आस्तिक विद्वानो का दृष्टिकोण आस्तिकवाद को सिद्ध करने की ओर जायगा। वे प्रयत्नशील होकर हमारे इन पूर्वपक्ष विचारो का खडनात्मक उत्तर देकर अर्थात् खंडन करके आस्तिकवाद को मडन द्वारा दृढ करेगे। नास्तिक दर्शनकारो का यही भाव ज्ञात होता है। नास्तिकता मे उनका तात्पर्य नही है। क्यो ? वे स्वय विलक्षण विद्वान् हुये है। कुछ विचार करो, जब साधारण मानव भी निराधार बात को नही मानता तब वे विद्वान् निराधार बातो को सिद्धान्त कैसे मान सकते थे ? यह तो प्रत्यक्ष ही है कि जैसे आस्तिक दर्शनकारो का आधार वेद है, वैसे नास्तिक दर्शनकारो का कोई भी आधार नही है। यदि कहो कि-उनका आधार तर्क है, उन्होने अपने-अपने सिद्धान्त तर्क के आधार पर स्थिर किये है। यह कथन भी ठीक नही है। क्यो ? तर्क तो अप्रतिष्ठित है। तर्क से कोई भी सिद्धान्त स्थिर नही रह सकता है। यही तो कारण है, आस्तिक विद्वानो ने नास्तिक दर्शनो के अक्षर-अक्षर का खडन करके वेद प्रमाण के आधार पर आस्तिकवाद का जयघोष किया है। अत नास्तिकवाद पूर्वपक्ष ही है, सिद्धान्त

नही है। नास्तिकवाद के आधार से कभी परमसुख की प्राप्ति नही हो सकती।

परमानन्द को प्राप्ति कराने मे एक वेदान्त दर्शन ही समर्थ है। न्याय आदि आस्तिक—दर्शन शास्त्र आत्म तत्त्व विज्ञानाख्य मोक्ष के प्रतिपादन के लिये मुख्यरूप से प्रवृत्त नही हुये है परन्तु अन्यान्य द्रव्यादि पदार्थो का निरूपण करने के लिये प्रवृत्त हुये है। जैसे न्याय मे द्रव्यादि पदार्थो का निरूपण, साख्य मे प्रकृति, पुरुष और योग का निरूपण, योगशास्त्र का भी सेश्वर साख्य ही कहते है। पूर्वमीमासा मे धर्माधर्म का निरूपण किया गया है। उनमे आत्मा निरूपण मुख्यरूप से नही किया गया है। अत उनसे साक्षात् आध्यात्मिक उन्नति की मनुष्य को आशा नही करनी चाहिये। हा, इतना उनका अवश्य उपकार है, उनके अध्ययन से व्युत्पत्ति हो जाने से बुद्धि दोष की निवृत्ति होकर वेदान्त के अध्ययन मे सरलता होती है। इसीलिये उनमे परम्परया—मोक्ष शास्त्र व्युत्पादन द्वारा-मोक्षोपयुक्त ज्ञान साधनता है। अत. वे मोक्षमार्ग मे उपयोगी है।

वेदात दर्शन के भी अनेक आचार्य है। किन्तु जो व्यास ने सूत्रो मे और शकराचार्य ने भाष्य मे बताया है, वही मुमुक्षु के लिये परम निर्दोष है। उक्त दोनो ही भगवान् के अवतार माने गये है। अत उन्ही मे भ्रम आदि दोषो का सर्वथा अभाव था। साधारण मानव रचित ग्र थ मे वे उक्त भ्रम आदि दोष भी हो सकते है। उक्त दोनो का श्रुति समत सिद्धात है। श्रुति ने बारम्बार अद्वैत वस्तु का ही प्रतिपादन किया है। जैसे —"द्वितीयाद्वै भय भवति।" "एक मेवा द्वितीय ब्रह्म।" "नेह नानास्ति किंचन।" "मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।" 'ऐतदात्म्यमिद सर्वम्।" "सर्वं खलु इद ब्रह्म।" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।" "योऽन्या देवतामुपास्ते न स वेद।" "अह ब्रह्मास्मि।" "तत्त्वमसि।" "इद सर्वं यदयमात्मा।" इत्यादि अनेक श्रुतिया अद्वैत का प्रतिपादन करती है। उसी अद्वैत का प्रतिपादन उक्त दोनो भगवान् के अवतारो ने किया है।

वेदान्त के प्राचीन आचार्य

प्रश्न —आपने कहा था-"वेदांत दर्शन के अनेक आचार्य है।" तो क्या व्यास जी से पूर्व भी वेदान्त के आचार्य हुये है ? उत्तर-हुये है। कौन-कौन हुये है ? १-आचार्य बादरी हुये है। इनके मत का उल्लेख ब्रह्मसूत्र (१।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०) मे पाया जाता है। व्यास जी ने अपने मत के समर्थन मे इनके मत का उल्लेख किया है।

२-आचार्य कार्ष्णाजिनि के नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।१।९) मे हुआ है। इनके मत का भी व्यास जी ने अपने मत के समर्थन मे ही उल्लेख किया है।

३-आचार्य औडुलोमि का नाम केवल वेदान्तसूत्र (१।४।२१-, ३।४।४५-, ४।४।६) मे ही मिलता है। ये भी व्यास जी से पूर्व ही वेदान्त के आचार्य हुये है। ये भेदाभेदवादी थे।

४-आचार्य काशकृत्स्न के मत का समर्थन बादरायण (व्यास) ने किया है। ये भी अद्वैतवादी थे। इनके अतिरिक्त-असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर और भृगु आदि ऋषियो के नाम भी प्राचीन वेदान्ताचार्यो मे पाये जाते है। प्रश्न —शकराचार्य से पूर्व वेदान्त के कौन २ आचार्य हुये है, उनके नाम भी तो बताईये ?

शकराचार्य से पूर्व के वेदाताचार्य

प्राचीन दर्शन शास्त्र के अध्ययन करने वाले विद्वान्-भर्तृ प्रपच, ब्रह्मनन्दी, टक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दर पाण्डच, द्रविडाचार्य, ब्रह्मदत्त आदि वेदान्ताचार्यो के नाम सुनाते है। इनमे किसी ने उपनिषदो पर, किसी ने सूत्र पर, किसी ने गीता पर भाष्य आदि लिखे होगे। तब ही वेदात के आचार्य कहे जाते है। इनके रचित ग्र थो का पूरा परिचय देना सभव नही। इतना ही जानना है कि ये शकराचार्य से पूर्व वेदात के आचार्य हुये है।

भर्तृप्रपच

भर्तृ प्रपच ने कठोपनिषद् और बृहदारण्यक पर भाष्य रचना की थी। भर्तृप्रपच का सिद्धान्त ज्ञान कर्म समुच्चयवाद था। दार्शनिक दृष्टि से इनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि अनेक नामो से प्रसिद्ध था। उनका मत है —परमार्थ एक भी है और नाना भी है। इसीलिये उन्होने एकान्तत कर्म अथवा ज्ञान का स्वीकार न करके दोनो की ही सार्थकता मानी है। ज्ञान और कर्म का समुच्चय मानने का यही मुख्य उद्देश्य है। इनकी दृष्टि से जीव ब्रह्म का परिणाम स्वरूप है। ये प्रमाण समुच्चयवादी थे। उनके मत मे लौकिक प्रमाण और वेद दोनो ही सत्य है। इसीलिये उन्होने लौकिक-प्रमाणगम्य भेद को और वेदगम्य अभेद को सत्यरूप माना है। इसी कारण इनके मत मे जैसे केवल कर्म मोक्ष का साधन नही हो सकता, वैसे ही केवल ज्ञान भी मोक्ष का साधन नही हो सकता। मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान कर्म समुच्चय ही प्रकृष्ट साधन है।

ब्रह्मनन्दी

ब्रह्मनन्दी का मत मधुसूदन सरस्वती ने सक्षेप शारीरक की टीका (३-२१७) मे उद्धृत किया है। इससे अनुमान होता है-ये भी अद्वैत वेदात के आचार्य रहे होगे। प्राचीन वेदान्त साहित्य मे 'ब्रह्म-नन्दी' छान्दोग्य वाक्यकार के अथवा केवल वाक्यकार के नाम से प्रसिद्ध थे।

टक

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के साहित्य मे भी एक वाक्यकार का परिचय मिलता है। उनका नाम है 'टक'। विशिष्टाद्वैती लोग ब्रह्मनन्दी और टक को अभिन्न समझते है, परन्तु यह कहा तक सत्य है, यह कहना कठिन है।

भारुचि

भारुचि के विषय मे विशेष परिज्ञान नही है। विज्ञानेश्वर की

मिताक्षरा (१ । १८ और २ । १२४) माधवाचार्यकृत पराशर सहिता की टीका (२ । ३, पृ ५१०) प्रभृति ग्र थो मे धर्म-शास्त्रकार भारुचि नाम उपलब्ध होता है। प्रतीत होता है, इन्होने विष्णुकृत धर्मसूत्र के ऊपर एक टीका लिखी थी।

उपवर्ष

उपवर्ष नामक एक प्राचीन वृत्तिकार के मत का उल्लेख शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे कही कही किया है। इन वृत्तिकार ने दोनो ही मीमासा शास्त्रो पर वृत्ति ग्र थ लिखे थे, ऐसा प्रतीत होता है। पडितो का अनुमान है-ये 'उपवर्ष' वे ही है जिनका उल्लेख शाबर-भाष्य (मी सूत्र, १ । १ । ५) मे स्पष्टत किया गया है। शकर कहते है (ब्र सू. ३ । ३ । ५३) उपवर्ष ने अपनी मीमासा वृत्ति मे कही कही पर शारीरक सूत्र पर लिखी गयी वृत्ति की बातो का उल्लेख किया है।

बोधायन

बोधायन की ब्रह्म सूत्र पर एक वृत्ति थी। यह प्रसिद्ध है। उस वृत्ति के वचनो का आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य मे उद्धार किया है। प्रतीत होता है-बोधायन निर्मित वेदान्त वृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था।

भर्तृहरि

भर्तृहरि का नाम भी यामुनाचार्य के ग्र थ मे उल्लिखित हुआ है। ये वाक्यपदीयकार के नाम से प्रसिद्ध है। वाक्यपदीय व्याकरण विषयक ग्र थ होने पर भी प्रसिद्ध दार्शनिक ग्र थ है। अद्वैत सिद्धान्त ही इसका उपजीव्य है। इसमे कोई सन्देह नही है। किसी किसी आचार्य का मत है-भर्तृहरि के शब्द ब्रह्मवाद का ही प्रधानतया अवलम्बन करके आचार्य मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्र थ का निर्माण किया था। इस पर वाचस्पति मिश्र की ब्रह्मतत्त्व समीक्षा नामक एक टीका थी। सोमानन्दपाद के 'शिवदृष्टि', शातरक्षित

कृत 'तत्त्व सग्रह', अविमुक्तात्मकृत 'इष्टसिद्धि,' जयन्तकृत 'न्यायमञ्जरी' ग्र थो मे भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। सोमानन्द के वचनो से ज्ञात होता है-भर्तृहरि तथा तदनुसारी शब्द ब्रह्मवादी दार्शनिक गण 'पश्यन्ती' वाक् को ही शब्द ब्रह्मरूप मानते थे। यह भी प्रतीत होता है-इस मत मे पश्यन्ती ही परावाक् रूप मे व्यवहृत होती थी। यह वाक् विश्व जगत् का नियामक तथा अन्तर्यामी चित् तत्त्व से अभिन्न है।

सुन्दर पाण्ड्य

आचार्य सुन्दर पाण्ड्य ने एक कारिकाबद्ध वार्त्तिक की रचना की थी। यह वार्तिक ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य या वृत्ति का अवलम्बन करके रचा गया था। परन्तु उस भाष्य वा वृत्ति के निर्माता बोधायन, उपवर्ष, वा कोई अन्य आचार्य थे इसका पता नही है। समन्वयाधिकरण के भाष्य के अत मे (१।१।४) इस वार्तिक ग्र थ से शकराचार्य ने स्वय 'अपि चाहु.' कहकर तीन श्लोक उद्‌धृत किये है। उनका तात्पर्य यह है —जब तक 'अह ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्म ज्ञान का उदय नही होता, तब तक सब प्रकार की विधिया और प्रमाण सार्थक है। आत्मवस्तु हेय भी नही है और उपादेय भी नही है। यह अद्वैत है, इस प्रकार आत्मा के बोध मे प्रमाण की अपेक्षा ही नही है। क्यो ? उस समय प्रमाता भी नही रहता और विषय भी नही रहता। और 'भामती' पचपादिका की टीका 'प्रबोध परिशोधनी', सूत सहिता की टीका 'तात्पर्य दीपिका,' 'कल्पतरु,' आदि ग्र थो मे इनका परिचय मिलता है। इनने पूर्व मीमासा पर भी एक वार्त्तिक की रचना की थी।

द्रविडाचार्य

द्रविडाचार्य ने छान्दोग्य-उपनिषद् पर अतिबृहत् भाष्य लिखा था। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी इनका भाष्य था, ऐसा प्रमाण मिलता है। माण्डूक्योपनिषद् (२।३२, २।२०) के भाष्य मे शकर ने

उनका 'आगमवित्' कहकर उल्लेख किया है। जहा जहा द्रविडाचार्य का उल्लेख करना आवश्यक था वहा सम्मान के साथ किया है। खडन कही भी नही किया है। छान्दोग्य उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य के प्रसग की व्याख्या मे द्रविडाचार्य ने व्याध-सवर्धित राजपुत्र की आख्यायिका का वर्णन किया है।

ब्रह्मदत्त

ब्रह्मदत्त भी शकराचार्य से पूर्व के वेदाती थे। सभव है, ये भी वेदान्त सूत्र के भाष्यकार हो। परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। ब्रह्मदत्त के मत मे जीव अनित्य है, एक मात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है। ये कहते है —जीव तथा जगत् दोनो ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म मे ही लीन हो जाते है। भिन्नवत प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुत' ब्रह्म से भिन्न नही है। ब्रह्मदत्त के मत से, साधक की किसी भी अवस्था मे कर्मो का त्याग नही हो सकता। प्राचीन आचार्यो मे आश्मरथ्य का सिद्धात था —जीव ब्रह्म से उत्पन्न होते है और मुक्ति मे ब्रह्म मे ही लीन हो जाते है। इसी प्रकार ब्रह्मदत्त भी जीव की उत्पत्ति और विनाश मानते थे। परन्तु आश्मरथ्य भेदाभेद पक्ष के अनुकूल थे। ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी थे। शकराचार्य ने बृहदारण्यक (१। ४। ७) के भाष्य मे ब्रह्मदत्त के मत का उल्लेख किया है। इस मत मे अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से ही होती है, औपनिषद् ज्ञान मुक्ति के लिये पर्याप्त नही है। इस प्रकार ज्ञान का लाभ करने पर भी जीवन पर्यन्त भावना आवश्यक है। ब्रह्मदत्त की दृष्टि से साधन क्रम इस प्रकार है —पहले उपनिषद् से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान लाभ, फिर 'अह ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना अभ्यास करना। इस अवस्था मे कर्म आवश्यक है, जीवन पर्यन्त कर्म का त्याग नही होता। इससे इनका मत भी ज्ञान कर्म समुच्चयवाद ही है। इस प्रकार इनका परिचय विद्वानो ने दिया है।

अद्वैत सम्प्रदाय के प्रधान-प्रधान आचार्य

अद्वैत सम्प्रदाय के प्रधान-प्रधान आचार्यो का भी परिचय दीजिये ?

उत्तर —भारतीय मानव समाज की सब प्रकार की विचारधाराओ के आदि स्रोत वेद है । विषय की दृष्टि से वेदो के तीन विभाग माने गये है —कर्मकाड, उपासना काड, और ज्ञान काड। कर्म काड मे ऐहिक और आमुष्मिक भोगो के प्राप्ति के साधनो का विचार है। उपासना काड जीव को सब प्रकार के विक्षेप से छुडाकर लोकोत्तर एव दिव्य आनन्द की प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित करता है। और ज्ञान काड जगत् के वास्तविक स्वरूप और इसके मूल तत्त्व का निर्णय करता है। वैदिक ज्ञानकाड को ही उपनिषद् या वेदान्त कहते है। यह वेदो का वेदान्त भाग ही समस्त सम्प्रदायो का सिद्धान्त है। यद्यपि शास्त्र एक ही है, तथापि महानुभावो ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार उसमे भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो की झाकी की है। वे विभिन्न सिद्धान्त ही लोक मे भिन्न-भिन्न वादो के नाम से प्रसिद्ध है। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शिवाद्वैतवाद, स्पन्दवाद, आदि सभी वादो की आधारशिला वेद है। तथापि तुम्हारा प्रश्न अद्वैत के प्रधान २ आचार्यो के विषय का ही है। अत यहा अन्य सबको छोडकर अद्वैतवाद के प्रधान-प्रधान आचार्यो का ही सक्षिप्त परिचय दिया जाता है। अद्वैत सप्रदाय के अर्वाचीन प्रधान आचार्य शकराचार्य है, किन्तु उसे साम्प्रदायिक मतवाद का रूप उनके परमगुरू गौडपादाचार्य ने ही दे दिया था। शकराचार्य ने उसी का विस्तार किया है। गौडपादाचार्य तक अद्वैत सम्प्रदाय के आचार्यो की परम्परा का क्रम इस प्रकार है :—नारायण, ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, और शुकदेव। शुकदेव के शिष्य गौडपादाचार्य माने जाते है। गौडपादाचार्य से पूर्व जो अद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने गये है, वे सब वैदिक एव पौराणिक ऋषि है। उनका परिचय देने की आवश्यकता यहा नही है। कारण वे तो परम प्रसिद्ध है। यहा गौडपादाचार्य से आरम्भ करके उनके आगे होने वाले प्रमुख आचार्यो का ही परिचय दिया जायगा।

१—गौडपादाचार्य

ये गौड (बगाल) देश के थे। इनका प्रधान ग्र थ माण्डूक्योपनिषत्-कारिका है। इस पर शकराचार्य ने भाष्य लिखा है। उक्त कारिका

की मिताक्षरा नाम की एक टीका भी मिलती है। गौडपादाचार्य प्रणीत साख्यकारिकाभाष्य भी मिलता है, किन्तु इसमे सदेह है कि यह भाष्य उनका है या दूसरे का है। तीसरा ग्र थ उत्तर गीताभाष्य भी मिलता है। उत्तर गीता महाभारत का एक अश है। इन्होने जो कारिकाओ मे मत प्रतिपादन किया है, उसे अजातवाद कहते है। सृष्टि के विपय मे भिन्न-भिन्न मतावलम्बियो के भिन्न-भिन्न मत है, कोई काल से सृष्टि मानते है, कोई प्रकृति को प्रपच का कारण मानते है, कोई परमाणुओ से ही जगत् की उत्पत्ति मानते है और कोई भगवान् के सकल्प से इसकी रचना मानते है। इस प्रकार कोई परिणामवादी है और कोई आरभवादी है। किन्तु गौडपादाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार जगत् की उत्पत्ति ही नही हुई है, केवल एक अखड चिद् घन सत्ता ही मोहवश प्रपचवत् भास रही है। गौडपादाचार्य कहते है —"यह जितना द्वैत है, सब मन का ही दृश्य है। परमार्थत तो अद्वैत ही है, क्योकि मन के मननशून्य हो जाने पर द्वैत की उपलब्धि नही होती है।" आचार्य ने अपनी कारिकाओ मे अनेक प्रकार की युक्तियो से यही सिद्ध किया है कि सत्, असत् वा सदसत् किसी भी प्रकार से प्रपच की उत्पत्ति सिद्ध नही हो सकती। अत. परमार्थत न उत्पत्ति है, न प्रलय है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है, और न मुक्त है।

जो समस्त विरुद्ध कल्पनाओ का अधिष्ठान, सर्वगत, असग, अप्रमेय और अविकारी आत्मतत्त्व है एकमात्र वही सद्वस्तु है। माया की महिमा से रज्जु मे सर्प, शुक्ति मे रजत और सुवर्ण मे आभूषणादि के समान उस सर्व सगशून्य निर्विशेष चित्तत्त्व मे ही समस्त पदार्थो की प्रतीति हो रही है।

२—आचार्य गोविन्द भगवत्पाद

आचार्य गोविन्द भगवत्पाद गौडपादाचार्य के शिष्य तथा शकराचार्य के गुरु थे। इनके विषय मे विशेष विवरण नही मिलता। शकराचार्य की जीवनी से ज्ञात होता है, ये नर्मदा तट पर कही रहा करते थे। शकराचार्य का शिष्य होना ही यह बतलाता है, वे अपने समय के

एक उद्भट विद्वान्, अद्वैत-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य और सिद्ध योगी होगे। उनका कोई ग्रथ नही मिलता। किसी २ का कहना है, ये गोविन्दपादाचार्य ही पतजलि थे। यदि यह बात सत्य हो तो कहा जा सकता है, महाभाष्य उन्ही का रचा हुआ है। उनका कोई अद्वैत सिद्धात सबन्धी ग्रथ नही मिलता।

३—शकराचार्य

शकराचार्य का जन्म केरल प्रदेश के पूर्णा नदी के तटवर्ती कलादी नामक गाव मे वैशाख शुक्ल ५ को हुआ था। उनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम सुभद्रा था। कही २ शिवगुरु की पत्नी का नाम 'विशिष्टा' भी मिलता है। शकराचार्य ७ वर्ष की अवस्था मे ही वेद, वेदात और वेदागो के पूर्ण विद्वान् हो गये थे। ८ वर्ष की अवस्था मे घर त्यागकर नर्मदा तट पर आये और वहा स्वामी गोविन्द भगवत्पाद के शिष्य हो गये। फिर गुरु की आज्ञा से काशी जाकर वेदात सूत्र का भाष्य लिखा। काशी मे उनको भगवान् शकर तथा व्यास का दर्शन हुआ। व्यास ने वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे एक सूत्र पर ८ दिन तक उनके साथ शास्त्रार्थ किया। अन्त मे शकराचार्य ने व्यास को पहचान कर प्रणाम किया तब व्यास ने उनकी १६ वर्ष की आयु को ३२ वर्ष की होने का वर देकर अद्वैतवाद का प्रचार करने की आज्ञा दी। १२ वर्ष से १६ वर्ष तक की आयु मे उन्होने अपने सब ग्रथ लिखे थे। प्राय: ग्रथ रचना काशी तथा बदरिकाश्रम मे ही की थी। फिर आपने दिग्विजय के समय विरुद्ध मतवालो को परास्त किया। शकराचार्य के ग्रथ वेसे तो लगभग २७२ बताये जाते है, परन्तु यह कहना कठिन है कि वे सब उन्ही के लिखे हुये है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनमे से बहुत से पीछे के आचार्यो के रचे हुये होंगे, जो शकराचार्य की उपाधि धारण करने वाले थे और जिन्होने अपने पूरे नाम नही दिये है। जो हो, प्रधान-प्रधान ग्रथ ये हैं :—ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, नृसिंह पूर्व तापनीय, श्वेताश्वतर, इत्यादि) भाष्य, गीताभाष्य, विष्णु

सहस्त्र नामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, हस्तामलकभाष्य, ललिता त्रिश-तीभाष्य, विवेक चूडामणि, प्रबोध सुधाकर, उपदेश साहस्त्री, अपरो-क्षानुभूति, शत श्लोकी, दश श्लोकी, सर्व वेदान्त सिद्धान्त सार सग्रह, वाक्य सुधा, पचकरण, प्रपच सारतत्र, आत्मबोध, मनीषा पचक, आनन्द लहरी स्त्रोत इत्यादिक। शकराचार्य का अद्वैत सिद्धान्त और उसका प्रचार तथा उनका कार्य अतिप्रसिद्ध है। वे अद्वैत सिद्धान्त के प्रधान आचार्य ही नही थे, किन्तु एक महान् युग प्रवर्तक भी थे। उनके विषय मे यहा विशेष लिखने की आवश्यकता नही है। वे सूर्य के समान सर्व विदित है।

४—आचार्य पद्मपाद

आचार्य पद्मपाद शकराचार्य के सर्व प्रथम शिष्य है। उनका नाम पहले सनन्दन था। इनका जन्म दक्षिण के चोल प्रदेश मे हुआ था। ये गुरु के अनन्य भक्त और आज्ञानुवर्ती थे। शकराचार्य इन्हे सदा पास रखकर परमात्म तत्त्व का उपदेश दिया करते थे और अपने भाष्य इन्हे तीन बार पढा चुके थे। एक बार गुरु ने इन्हे नदी के उस पार से आवाज दी। आवाज सुनते ही ये गुरु की ओर चल पडे, नदी कैसे पार करेंगे यह विचार इनके मन मे नही आया। कहते है, नदी के ऊपर जहाँ-जहाँ इनका पैर पडता था वहाँ-वहाँ कमल का फूल निकल आता था। फूलो पर चल कर वे नदी पार आ गये। गुरु ने इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और उनका नाम पद्मपाद रख दिया। शकराचार्य ने पद्मपाद को पुरी के गोवर्द्धन मठ का अध्यक्ष बनाया था। इनकी एक पुस्तक अद्वैतवाद पर रची हुई इनके मामा ने जला दी थी। कारण वह प्रभाकर मतावलम्बी था। पद्मपाद ने गुरु के पास आकर कहा—यात्रा मे मेरे साथ वह ग्रथ था। मामा के घर रख कर गया था। उसने ईर्ष्यावश घर मे आग लगाकर उसे जला दिया और पुन. न लिख सके इसके लिये घर आने पर मुझे भी विष देकर बुद्धि को विकृत कर दिया। गुरु ने कहा—तुमने मुझे सुनाया था उतना

तो मुझे याद है। मै बोलता हूँ तुम लिख लो। शकराचार्य ने वह लिखा दिया। आचार्य पद्मपाद का वह ग्र थ अब पूरा नही मिलता है। उसका नाम 'पचपादिका' है। आचार्य पद्मपाद ने गुरु की आज्ञा से शारीरक भाष्य की व्याख्या लिखना आरभ किया था। पचपादिका मे केवल चार सूत्रो की व्याख्या है। पचपादिका पर प्रकाशात्म मुनि की विवरण नामक टीका मिलती है। विवरण की भी टीका अखडानन्द मुनि ने लिखी है, उसका नाम तत्त्वदीपन है। पचपादिका के अतिरिक्त-आत्मानात्म विवेक, प्रपचसार, तथा सुरेश्वराचार्यकृत लघुवार्त्तिक की टीका-ये तीन ग्र थ और भी पद्मपादाचार्य के लिखे मिलते है। आचार्य पद्मपाद के शिष्यो से ही दश नामी सन्यासियो की 'आश्रम' और 'अरण्य' नाम की शाखायें निकली है।

५—सुरेश्वराचार्य (मण्डनमिश्र)

मण्डनमिश्र रेवानदी के तटवर्ती प्राचीन माहिष्मती नगरी के रहने वाले थे। मण्डनमिश्र महान् विद्वान् और पूर्वमीमासक थे। ये कुमारिलभट्ट के शिष्य थे। शकराचार्य बदरिकाश्रम से प्रयाग आये तब कुमारिलभट्ट से मिले थे और कुमारिलभट्ट के कथनानुसार ही मण्डन के यहा जाकर मण्डन से शास्त्रार्थ किया था। मण्डनमिश्र शास्त्रार्थ मे हारकर शर्त के अनुसार शकराचार्य के शिष्य हो गये और सन्यासी होकर विश्वरूप तथा सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुये। शकराचार्य ने इनको शृ गेरी मठ का आचार्य बनाया था। इन्होने कितने ही ग्र थ रचे है। उनसे इनके विचार की प्रौढता तथा सुशृ खला पायी जाती है। यही कारण है, उनके वाक्यो को चित्सुख, विद्यारण्य, सदानन्द, गोविन्दानन्द, अप्पय्यदीक्षित आदि प्राय सभी परवर्ती आचार्यो ने प्रमाण के रूप मे उद्धृत किया है। सन्यास ग्रहण करने के पूर्व मण्डन मिश्र ने आपस्तम्बीय मण्डनकारिका, भावना विवेक और काशी मोक्ष निर्णय नामक ग्र थो की रचना की थी। सन्यास लेने के पश्चात् इन्होने—तैत्तिरीय श्रुति वार्त्तिक, नैष्कर्मसिद्धि, इष्टसिद्धि या स्वराज्यसिद्धि, पञ्चीकरण वार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक, ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्रभाष्य

वार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास या दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र वार्तिक, लघु वार्तिक, वार्तिकसार और वार्तिक सार सग्रह, आदि ग्र थ लिखे थे। इन्होने सन्यास लेने के पश्चात् शाकरमत का ही समर्थन अपने ग्र थो मे किया और शाकर मत का ही प्रचार किया था।

६—सर्वज्ञात्ममुनि

सर्वज्ञात्ममुनि शृ गेरी मठ की गद्दी पर विराजमान थे। इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। इन्होने लगभग आठवी शताब्दी के अत मे शाकर मत को और भी परिस्फुट करने के उद्देश्य से 'सक्षेप शारीरक' नामक ग्र थ को रचना की। इन्होने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है। ये दक्षिण के ही रहने वाले होगे। इनका रचा हुआ सक्षेपशारीरक' ग्र थ ब्रह्मसूत्र-शाकरभाष्य के आधार पर लिखा गया है। इसमे श्लोक और वार्तिक दोनो है। जेसे शारीरकभाष्य चार अध्यायो मे है, वैसे इसमे भी चार ही अध्याय है और उनके विषयो का क्रम भी उसी के समान है। सर्वज्ञात्म मुनि ने अपने ग्र थ को 'प्रकरण वार्तिक' बतलाया है। इसके पहले अध्याय मे ५६२, दूसरे मे २४८, तीसरे मे ३६५ और चौथे मे ५३ श्लोक है। परवर्ती आचार्यो ने इस ग्र थ को प्रमाणरूप से स्वीकार किया है। मधुसूदन सरस्वती और रामतीर्थ स्वामी ने इस पर टीकायें लिखी है।

७—आचार्य वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र 'भामती' कार नवी शताब्दी मे हुये है। इनका जन्मस्थान मिथिला माना जाता है। इनके ग्र थो से ज्ञात होता है, ये बडे धुरन्धर विद्वान् थे और अपने समय के अद्वैतमत के सर्व-प्रधान आचार्य थे। इनके बाद प्राय' सभी आचार्यो ने इनके वाक्य प्रमाणरूप मे ग्रहण किये है। शाकरभाष्य पर इनकी 'भामती' टीका है। शाकरमत समझने के लिये अति उपयोगी मानी जाती है। इनकी धर्म पत्नी का नाम 'भामती' था। उसके उत्तम व्यवहार से प्रसन्न होकर उसका नाम सदा बना रहे इसोलिये उस टीका नाम इन्होने 'भामती'

रक्खा था। वाचस्पति मिश्र ने वेदान्त पर 'भामती,' सुरेश्वरकृत ब्रह्मसिद्धि पर 'ब्रह्मत्तत्व समीक्षा', साख्यकारिका पर 'तत्त्व कौमुदी,' पातञ्जलदर्शन पर 'तत्त्ववैशारदी', न्यायदर्शन पर 'न्याय वार्त्तिक-तात्पर्य', पूर्व मीमासा दर्शन पर 'न्यायसूची निबन्ध', भाट्ट मत पर 'तत्त्वविन्दु' तथा मण्डनमिश्र के विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका की है। इनके अतिरिक्त 'खण्डन कुठार' ओर' स्मृति सग्रह' नामक पुस्तको के रचियता का नाम भी वाचस्पति मिश्र ही मिलता है। परन्तु यह कहना कठिन है, इन दोनो के लेखक भी यही थे या अन्य कोई वाचस्पति मिश्र। वाचस्पति मिश्र ने यो तो छहो दर्शनो की टीकायें लिखी है और उनमे उनके सिद्धानो का निष्पक्षभाव से समर्थन किया है। तो भी उनका प्रधान लक्ष्य शाकर सिद्धान्त ही है। इनके ग्र थो मे काफी मौलिकता पायी जाती है। शाकर सिद्धात के प्रचार मे इनका बहुत बडा हाथ रहा है। इनकी 'भामती' टीका अद्वैतवाद का एक प्रामाणिक ग्र थ है। ये केवल विद्वान् ही नहीं थे, उच्चकोटि के साधक भी थे। इन्होंने अपना प्रत्येक ग्र थ श्री भगवान् को ही समर्पण किया है। इससे इनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का ज्ञान होता है।

८-कृष्णमिश्र यति

कृष्णमिश्र यति ग्याहरवी शताब्दी के शेष भाग मे हुये है। नाटक और काव्य सर्वसाधारण पर गद्यादि की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालते है और सुबोध भी होते है। अपने समय मे अद्वैतमत का विशेष प्रचार करने के उद्देश्य से कृष्णमिश्र ने 'प्रबोध चन्दोदय' नामक नाटक की रचना की। यह एक सन्यासी थे। इनके ग्र थ से इनकी कवित्व शक्ति तथा दार्शनिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। इससे अधिक इनके जीवन के विषय मे कुछ भी ज्ञात नहो है।

६-प्रकाशात्म यति

प्रकाशात्म यति प्राय ग्याहरवी शताब्दी मे हुए है, तभी आचार्य रामानुज का अविर्भाव हुआ था और रामानुज ने शाकर मत का बडे जोरदार

शब्दो मे खडन किया था। तब शाकर मत को पुष्ट करने की चेष्टा प्रकाशात्म यति ने की। इन्होने पद्मपादाचार्यकृत पचपादिका पर 'पञ्चपादिका-विवरण' नामक टीका की रचना की। अद्वैत जगत् मे यह टीका भी बहुत मान्य है। बाद के आचार्यो ने प्रकाशात्म यति के वाक्य प्रमाण के रूप मे उद्धृत किये है। उन्होने अपना परिचय कही नही दिया है। ये दशवी शताब्दी के बाद तेरहवी शताब्दी के पहले हुये है। ये सन्यासी थे और इनके गुरु का नाम श्रीमत अनन्यानुभव था। इनके ग्र थ से ज्ञात होता है, ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका दूसरा नाम प्रकाशानुभव था। इनके पञ्चपादिका विवरण नामक ग्र थ क द्वारा अद्वैत मत का विशेषकर पद्मपादाचार्य के मत का अच्छा प्रचार हुआ।

१०-आचार्य अद्वैतानन्द बोधेन्द्र

आचाय अद्वैतानन्द का जन्म लगभग ११४९ ई० मे दक्षिण भारत की कावेरी नदी के तट पर पञ्चनद नामक स्थान मे हुआ था। इनके पिता का नाम प्रेमनाथ और माता का नाम पार्वती देवी था। ये कौण्डिन्य गौत्र के थे। इनका नाम पहले सीतानाथ था। इन्होने प्राय १७ वर्ष की आयु मे सन्यास ले लिया था। इनके गुरु का नाम भूमानद सरस्वती या चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती था। इनके गुरु काञ्ची के शारदामठ (कामकोटिपीठ) के अध्यक्ष थे। गुरु अद्वैतानन्द को अपने स्थान का प्राय ११६६ ई० मे महन्त नियुक्त करके काशी चले गये। अद्वैतानन्द ने रामानन्द सरस्वती से शारीरक सूत्र भाष्यादि अद्वैत विद्या पढी थी। ३३ वर्ष अध्यक्षपद पर रहकर ५० वर्ष की आयु मे समाधि ग्रहण की थी। इनके दो नाम और थे-चिद्विलास और आनन्दबोधाचार्य। अद्वैतानन्द ने तीन ग्रथो की रचना की थी-ब्रह्म-विद्याभरण, शातिविवरण और गुरु प्रदीप। इनमे 'ब्रह्मविद्याभरण' ही मुख्य है। इसमे ब्रह्मसूत्र के चारो अध्यायो की व्याख्या है। इसे शाकरभाष्य को वृत्ति कहते है। अद्वैतानन्द ने अधिकतर वाचस्पति मिश्र के मत का अनुसरण किया है।

११-श्रीहर्षमिश्र

शकराचार्य और सुरेश्वराचार्य के बाद प्राय बारहवी शताब्दी तक अद्वैतमत के जितने आचार्य हुये उन्होने प्राय व्याख्या या वृत्ति ही लिखी, किसी ने कोई प्रमेय बहुल प्रकरण ग्र थ नही लिखा। बारहवी शताब्दी मे श्री हर्षमिश्र हुये, इन्होने अन्य मतो का खण्डन करने के लिये एक प्रकरण ग्र थ लिखा और अद्वैत जगत् मे नवयुग उपस्थित कर दिया। इनकी देखादेखी इनके समसामायिक आनन्दबोध भट्टारकाचार्य तथा बाद के चित्सुखाचार्य आदि ने भी प्रकरण ग्र थो की रचना की। श्रीहर्ष दार्शनिक और कवि दोनो थे। इनके पिता का नाम श्री हीर पण्डित था और माता का नाम मामल्लदेवी था। इनके पिता भी कवि थे किन्तु उनका कोई ग्र थ या वर्णन नही मिलता। कहते है इनके पिता को राजसभा मे किसी पडित ने शास्त्रार्थ मे हराया था। इसका उन्हे बडा दुख था। वे भगवती की उपासना करने लगे। भगवती ने प्रसन्न होकर वर दिया तुम्हे एक दिग्विजयी पुत्र प्राप्त होगा। उसके वाद श्रीहर्ष का जन्म हुआ। जब पिता का अत समय आया तब उन्होने पुत्र श्रीहर्ष को अपनी हार का परिचय देकर कहा-तुम पडित को हरा दोगे तो परलोक मे मुझे शाति मिलेगी। श्रीहर्ष ने पिता का वाक्य पूरा करने की प्रतिज्ञा की। पिता की मृत्यु के बाद उनके श्राद्धादिक करके उन्होने विभिन्न स्थानो पर घूम-घूमकर विद्याध्ययन किया। फिर एक सुयोग्य साधक से चिन्तामणि मन्त्र लेकर एक नदी के तट पर एक पुराने मदिर मे भगवती का आराधन किया। भगवती ने प्रसन्न होकर यह वर दिया, तुम सब विद्याओ मे पारङ्गत हो जाओगे तथा तुम्हे असाधारण वाक्चातुरी प्राप्त होगी। वर प्राप्त करके ये कान्यकुब्ज के राजा की सभा मे आये और वहा अपने पिता को हराने वाले पडित को शास्त्रार्थ मे हराया। राजा ने उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रसन्न होकर उनका बहुत सम्मान किया तब से वे राजा के ही आश्रित रहे। राजा का नाम जयचन्द्र या जयन्तचन्द्र था।

मतवाद

श्रीहर्ष जिस समय हुये थे उस समय देश मे न्याय दर्शन का कुछ विशेष प्रचार हो रहा था। दूसरी ओर वैष्णव लोगो का मत बढ रहा था। दक्षिण और उत्तर भारत मे रामानुज और निम्बार्क के मत का प्रचार हो रहा था। ऐसे समय मे श्रीहर्ष ने अपनी अपूर्व प्रतिभा से अद्वैतमत का समर्थन और अन्य मतो का खूब जोरदार खण्डन करके अद्वैतमत की रक्षा की। न्यायमत पर उनका इतना कठोर प्रहार हुआ जितना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो। उनका 'खण्डन खण्ड खाद्य' अपने ढग का एक ही ग्रथ है। उनका दूसरा काव्य ग्रन्थ 'नेषधचरित' है। इसमे उनकी अपूर्व कवित्व छटा और पाण्डित्य परिस्फुटित हुआ है। इनके सिवा अर्णववर्णन, शिवशक्ति-सिद्धि, साहसाङ्क-चम्पू, छन्द-प्रशस्ति, विजय-प्रशस्ति, गौडोर्वी-शकुल प्रशस्ति, ईश्वराभिसन्धि और स्थैर्य विचारण-प्रकरण, ये सब उनके अन्यान्य ग्रथ है। श्रीहर्ष ने अपने ग्रथो मे अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है। और विशेषत उदयनाचार्य के न्यायमत का खण्डन किया है। आचार्य श्रीहर्ष के 'खण्डन खण्ड खाद्य' का दूसरा नाम 'अनिर्वचनीय सर्वस्व' है। वास्तव मे यह नाम सार्थक है। शकर का मायावाद अनिर्वचनीय ख्याति के ऊपर ही अवलम्बित है। उनके सिद्धान्तानुसार कार्य और कारण भिन्न, अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न भी नही है, अपितु अनिर्वचनीय ही है। इस अनिर्वचनीयता के कारण ही कारण सत् और कार्य केवल मायामात्र है। श्रीहर्ष ने खण्डनखण्ड खाद्य मे सब प्रकार के विपक्षो का बडे रोब के साथ खण्डन किया है। तथा उनके सिद्धान्त का ही नही, बल्कि जिनके द्वारा वे सिद्ध होते है उन प्रत्यक्षादि प्रमाणो का भी खण्डन करके एक अप्रमेय, अद्वितीय एव अखण्ड वस्तु की ही स्थापना की है।

१२—आनन्द-बोध भट्टारकाचार्य

आनन्द बोध भट्टारकाचार्य बारहवी शताब्दी मे वर्तमान थे। उन्होने 'न्यायमकरन्द' नामक अपने ग्रथ मे वाचस्पतिमिश्र का नामोल्लेख

किया है। और विवरणाचार्य प्रकाशात्म यति के मत का अनुवाद किया है। चित्सुखाचार्य ने जो तेरहवी शताब्दी मे वर्तमान थे, इनके 'न्याय मकरन्द' की व्याख्या की है। इससे ज्ञात होता है, आनन्द बोध बारहवी शताब्दी मे ही हुये है। उनके ग्र थ से ही ज्ञात होता है, उन्होने विभिन्न ग्र थो से सग्रह करके 'न्यायमकरन्द' की रचना की थी। वे सन्यासी थे। इससे अधिक उनके जीवन की कोई बात नही ज्ञात होती है। उनके तीन ग्र थ है न्यायमकरन्द, प्रमाणमाला और न्यायदीपावली। इन तीनो मे उन्होने अद्वैत मत का विवेचन किया है। 'न्यायमकरद' भी अद्वैतमत का एक प्रामाणिक ग्रथ माना जाता है।

१३—आचार्य अमलानन्द

आचार्य अमलानन्द दक्षिण भारत मे हुये है। वे यादव वशीय राजा महादेव और राजा रामचन्द्र के सम सामयिक थे। देवगिरि के राजा महादेव ने सन् १२६० ई० से १२७१ ई० तक शासन किया था। अमलानन्द तेरहवी शताब्दी मे हुये है। वे देवगिरि राज्य के अन्तर्गत ही किसी स्थान मे रहते थे, ऐसा अनुमान होता है। जन्मस्थान आदि का पूरा पत्ता नही है। उनके गुरु का नाम अनुभवानन्द था। ये अद्वैत मत के समर्थक थे। उनके तीन ग्र थ मिलते है। १—'वेदान्त कल्पतरु' है। इसमे वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका की व्याख्या की गई है। यह ग्र थ भी अद्वैतमत का प्रामाणिक ग्र थ माना जाता है। बाद के आचार्यों ने इससे भी प्रमाण ग्रहण किये है। २—'शास्त्र दर्पण' है। इसमे ब्रह्म सूत्र के अधिकरणो की व्याख्या की गई है। ३—'पञ्चपादिका दर्पण' है। यह पद्मपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' की व्याख्या है। इन तीन ग्र थो की भाषा प्राञ्जल और भाव गम्भीर है। इनसे अमलानन्द की महान् विद्वता का परिचय मिलता है।

१४—चित्सुखाचार्य

चित्सुखाचार्य का आविर्भाव प्राय तेरहवी शताब्दी मे हुआ था। उन्होने अपने 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक ग्र थ मे न्याय लीलावतीकार वल्लभाचार्य के मत का खण्डन किया है, जो बारहवी शताब्दी

मे हुये थे। उस खण्डन मे उन्होने श्रीहर्ष के मत का उद्धरण दिया है। जो उस शताब्दी के अन्त मे हुये थे। उधर तेरहवी शताब्दी के अन्त से लेकर चौदहवी शताब्दी तक जीवित रहने वाले विद्यारण्य स्वामी ने उनका अपने ग्रंथ मे उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है, वे तेरहवी शताब्दी मे ही ये हुए थे। उनके जन्म स्थान आदि का पूरा पता नही है। उन्होने 'तत्त्वप्रदीपिका' के मङ्गलाचरण मे अपने गुरु का नाम ज्ञानोत्तम लिखा है। इनके समय मे पुन न्यायमत का जोर बढ रहा था। द्वादश शताब्दी मे श्रीहर्ष ने न्यायमत का खण्डन किया था। अब तेरहवी शताब्दी के आरम्भ मे गङ्गेश ने हर्ष के मत का खण्डन करके न्यायमत का प्रचार किया। दूसरी ओर द्वैतवादी वैष्णव आचार्य भी अद्वैतमत का खण्डन कर रहे थे। ऐसे समय मे चित्सुखाचार्य ने अद्वैत मत का समर्थन और न्याय आदि मतो का खंडन करके शाकर मत की रक्षा की। उन्होने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'तत्त्वप्रदीपिका', 'न्यायमकरन्द' की टीका, और 'खण्डन खण्ड खाद्य' की टीका लिखी। तत्त्वप्रदीपिका का दूसरा नाम 'चित्सुखी' भी है। अपनी प्रतिभा के कारण इन्होने अल्प समय मे ही अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। चित्सुख भी अद्वैतवाद के स्तम्भ माने जाते है। परवर्ती आचार्यो ने उनके वाक्यो को भी प्रमाण के रूप मे उदधृत किया है।

१५—आचार्य भारती तीर्थ

आचार्य भारती तीर्थ विद्यारण्य स्वामी के गुरु बताये जाते है। कुछ लोगो का कहना है, विद्यारण्य स्वामी का ही नाम भारती तीर्थ था। परन्तु कई कारणो से यह मत उचित ज्ञात नही होता है। विद्यारण्य स्वामी और भारतीतीर्थ दो व्यक्ति थे, यही ठीक ज्ञात होता है। स्वय माधवाचार्य अर्थात् विद्यारण्य ने अपने ग्रंथ 'जैमिनीय न्यायमाला' की टीका 'विस्तर' मे भारती तीर्थ को अपना गुरु लिखा है। विद्यारण्य ने कही भारती तीर्थ, कही विद्यातीर्थ, और कही शकरानन्द को गुरु रूप मे स्मरण किया है। विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ के गुरु थे, ऐसा

भारतीतीर्थ ने अपने ग्र थ 'वैयासिक न्यायमाला' मे लिखा है। इससे ज्ञात होता है, विद्यारण्य स्वामी ने पहले विद्यातीर्थ से और उनके अत-र्धान होने पर भारतीतीर्थ और शकरानन्द से उपदेश ग्रहण किया था। विद्यारण्य के शिष्य रामकृष्ण ने भी पचदशी की स्वलिखित टीका के प्रत्येक परिच्छेद के मङ्गलाचरण मे भारतीतीर्थ और विद्यारण्य दोनो का उल्लेख किया है। अतएव दोनो एक व्यक्ति नही थे। आचार्य भारतीतीर्थ शाकर मत के अनुयायी थे और उन्होने उस मत की व्याख्या करने के लिये ही 'वैयासिक न्यायमाला' की रचना की थी। शाकर मतानुसार ब्रह्मसूत्र का तात्पर्य समझने के लिये यह ग्र थ अति उपयोगी माना जाता है। यह ग्र थ सरल और सुबोध भाषा मे पद्य मे लिखा गया है। इसमे ब्रह्मसूत्र के चारो अध्यायो का साराश भी चार श्लोको मे दिया है।

१६--आचार्य शकरानन्द

आचार्य शकरानन्द भी विद्यारण्य स्वामी के शिक्षा गुरु थे। विद्यारण्य ने पचदशी के मगलाचरण मे तथा विवरण प्रमेय सग्रह के मगलाचरण मे उन्हें गुरु रूप से प्रणाम किया है। वे चौदहवी शताब्दी मे हुये है। वे भी अद्वैतवादी थे। उन्होने शाकरमत का समर्थन किया है। शाकरमत का प्रचार करने के लिये शंकरानन्द ने—'ब्रह्मसूत्रदीपिका,' गीता की टीका, और १०८ उपनिषदो की टीका लिखी है। ब्रह्मसूत्रदीपिका मे अति सरल भाषा मे शाकरमतानुसार ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की है। गीता और उपनिषदो की टीका मे भी शंकराचार्य का ही अनुसरण किया है। उनके ग्र थो से ज्ञात होता है, वे अगाध पडित थे। उनके नाम से एक आत्मपुराण नामक ग्र थ भी मिलता है। इसमे अद्वैतवाद के प्राय सभी सिद्धान्त, श्रुतिरहस्य, योगसाधनरहस्य आदि सभी बातें बड़ी सरल और मर्मस्पर्शी भाषा मे लिखी गई है। अद्वैतसाहित्य जगत् का यह आत्मपुराण भी एक अमूल्यरत्न है।

१७--माधवाचार्य या विद्यारण्य मुनि

माधवाचार्य प्राय १३-१४ वी शताब्दी मे हुये थे। उनके जीवन चरित्र के विषय मे भी बडा मतभेद है। कुछ लोगो का कहना है, उनका जन्म सन् १२६७ ई० मे तुगभद्रा नदी के तटवर्ती हाम्पी नगर के पास एक गाँव मे हुआ था। उन्होने 'पराशरमाधव' नामक अपने ग्रथ मे जो अपना परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है, उनके पिता का नाम मायण, माता का श्रीमती तथा दो भाइयो का सायण और भोगनाथ था। सूत्र बोधायन, गोत्र भरद्वाज और यजुर्वेदी ब्राह्मण-कुल मे उनका जन्म हुआ था। उन्ही के ग्रथो से ज्ञात होता है, उनके कुल का नाम भी सायण ही था और उनके भाई वेदभाष्यकार सायण अपने कुल नाम से ही प्रसिद्ध हुये थे। माधव के गुरु के विषय मे पहले वर्णन हो चुका है। उन्होने गुरुरूप मे विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और शकरानन्द को नमस्कार किया है। सायणाचार्य ने भी विद्यातीर्थ की ही वेदभाष्य के आरम्भ मे वन्दना की है। भारतीतीर्थ ने भी विद्यातीर्थ को ही अपना गुरु लिखा है। इससे ज्ञात होता है—माधवाचार्य, सायण और भारतीतीर्थ तीनो ने विद्यातीर्थ से ही शिक्षा प्राप्त की थी। माधवाचार्य ही विजयनगरराज्य के सस्थापक थे। सन् १३३५ मे या १३३६ ई० के लगभग विजयनगर के राजसिहासन पर महाराज वीर बुक्क को अभिषिक्त कर वे उनके प्रधान मन्त्री बने थे। वे उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ और प्रबध पटु थे। साथ ही दार्शनिक, कवि, वैयाकरण, स्मृति सग्रहकार थे। उनके समान विभिन्न गुण सम्पन्न व्यक्ति बहुत दुर्लभ है। उन्होने जिस काम को हाथ मे लिया उसी मे अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। अब उनकी रचनाओ का भी सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :—१ माधवीय धातु वृत्ति—यह व्याकरण का ग्रथ है। २-जैमिनीय न्यायमाला और उसकी टीका 'विवरण',—यह पूर्वमीमासा सम्बन्धी ग्रथ है। ३-पराशरमाधव यह पराशर सहिता के ऊपर एक निबन्ध है। स्मृतिशास्त्र का ऐसा उपयोगी

ग्र थ सम्भवत. दूसरा नही है। पराशर सहिता मे जिन विषयो पर प्रकाश नही डाला गया, वह सब अश दूसरो स्मृतियो से लेकर उसे श्लोकबद्ध कर 'पराशर माधव' मे जोड दिया गया है।

४—सर्व दर्शन सग्रह—इसमे समस्त दर्शनो का सार सगृहीत किया गया है। ५—विवरण प्रमेय-सग्रह-पद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिका विवरण के ऊपर एक प्रमेयप्रधान निबन्ध है। ६—सूत सहिता की टीका-सूत सहिता स्कन्द पुराण के अन्तर्गत है, उसमे अद्वैत वेदान्त का निरूपण है। उसके ऊपर माधवाचार्य ने विशद टीका लिखी है। ७—पञ्चदशी-यह अद्वैत वेदान्त का एक प्रधान प्रकरण ग्र थ है। इसमे १५ प्रकरण और प्राय पन्द्रह सौ श्लोक है। ८—अनुभूति प्रकाश-इसमे उपनिषदो की आख्यायिकाएँ श्लोकबद्ध करके सग्रह की गयी है। ९—अपरोक्षानुभूति की टीका—'अपरोक्षानुभूति' शकराचार्य की रचना है, उस पर विद्यारण्य स्वामी ने बहुत सुन्दर टीका की है। १०—जीवन्मुक्ति विवेक—इस ग्र थ मे सन्यासियो के समस्त धर्मो का निरूपण किया गया है। ११—ऐतरेयोपनिषद्दीपिका—यह ऐतरेयोपनिषद् की शाकर भाष्यानुसारी टीका है। १२—तैत्तिरोयोपनिषद्दोपिका—यह तैत्तिरीयोपनिषद् की शाकर भाष्यानुसारी टीका है। १३—छान्दोग्योपनिषद्दीपिका—यह छान्दोग्योपनिषद् की शाकरभाष्यानुसारी टीका है। १४—बृहदारण्यक वार्त्तिकसार—आचार्य शकर के बृहदारण्यक भाष्य पर जो सुरेश्वराचार्य कृत वार्तिक है, इसमे उसका श्लोक बद्ध सक्षिप्त सार है। १५-शकर दिग्विजय-यह शकराचार्य का जीवन चरित्र है और एक उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। १६—काल माधव—यह एक स्मृतिशास्त्र सम्बन्धी ग्र थ है। उनके उक्त ग्रथों से ज्ञात होता है, विद्यारण्य स्वामी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, तत्त्वनिष्ठ महान् सग्रही और पूर्ण त्यागी थे। वे जैसे सफल राज्य सस्थापक थे वैसे ही सन्यासियों मे भी अग्रगण्य थे। सन्यास-ग्रहण के पश्चात् वे शृ गेरी मठ के शंकराचार्य की गद्दी पर सुशोभित हुये थे। इस प्रकार सौ वर्ष से भी अधिक आयु लाभ कर उन्होने अपनी जीवन यात्रा समाप्त की थी।

१८—आचार्य आनन्दगिरि

आचार्य आनन्दगिरि शकराचार्य के भाष्यो के टीकाकार है। उन्होने वेदान्त सूत्र के शाकरभाष्य पर न्याय निर्णय' नाम की टीका लिखी है। शकराचार्य के जितने भाष्य है, उन सब पर ही इनको टीका है। भाष्य के भाव को हृदयगम कराने मे इनकी टीका अच्छी सहायक है। इनके गुरु शुद्धानन्द स्वामी थे। वे सम्भवत श्रृ गेरी आदि मे से किसी मठ के अधीश्वर थे। किन्ही-किन्ही के मत मे वे स्वय शकराचार्य के शिष्य थे। परन्तु यह सम्भव नही है। उन टीकाओ मे भामती, विवरण, कल्पतरु आदि टीकाओ की छाया देख पडती है। तथा उन्होने स्वय भी अन्य टीकाओ का आश्रय लेने की बात लिखी है। अत उनका उन टीकाकारो से पूर्ववर्ती होना कदापि सभव नही है। टीकाओ के अतिरिक्त उन्होने 'शकरदिग्विजय' नामक एक स्वतन्त्र ग्र थ भी लिखा है। वह भी विद्यारण्य स्वामी के शकरदिग्विजय के पीछे लिखा गया है। इससे सिद्ध होता है, वे विद्यारण्य स्वामी के परवर्ती और अप्पय्य दीक्षित के पूर्ववर्ती है। कारण—अप्पय्यदीक्षित ने 'सिद्धात लेश' में न्याय निर्णय टीका का उल्लेख किया है। विद्यारण्य स्वामी का काल चौदहवी शताब्दी है और अप्पय्यदीक्षित का सोलहवी एव सतरहवी शताब्दी का पूर्व भाग है। अत आनन्दगिरि का काल पन्द्रहवी शताब्दी है।

आनन्दगिरि का दूसरा नाम आनन्दज्ञान है। उनके पूर्वाश्रम और जीवन चरित्र का परिचय नही मिलता है। उनका जीवन एक सन्यासी जीवन था, वे एक सफल टीकाकार और उन्नत दार्शनिक थे। उन्होने शकराचार्यकृत उपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य, शारीरक भाष्य, और शत श्लोकी पर तथा सुरेश्वराचार्यकृत तैत्तिरीयोपनिषद्वार्तिक एव बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक पर टीका लिखी है। और 'शकरदिग्विजय' नामक एक स्वतन्त्र ग्र थ का निर्माण किया है।

१९—आचार्य प्रकाशानन्द

आचार्य प्रकाशानन्द 'वदान्त सिद्धात मुक्तावली' के रचयिता है।

इनके गुरु आचार्य ज्ञानानन्द थे। ये भी अप्पय्य दीक्षित के पूर्ववर्ती थे। अप्पय्य दीक्षित ने सिद्धान्त लेश मे इनके मत का उल्लेख किया है। विद्यारण्य के परवर्ती है। वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली मे कही-कही इन्होने पचदशी के उदाहरणो को उद्धृत किया है। अत इनका जीवन काल पन्द्रहवी शताब्दी ही होना चाहिये। इनका जीवन सबन्धी परिचय इतना ही है। इनकी 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' वेदान्त का सुप्रसिद्ध प्रमाणरूप ग्र थ है। इनकी विवेचन शैली बहुत युक्ति युक्त, पाण्डित्यपूर्ण और प्राञ्जल है। इससे उनकी साहित्यिक प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। इसमे गद्य मे विचार करके पद्य मे सिद्धान्त निरूपण किया है। इसके ऊपर अप्पय्य दीक्षित की 'सिद्धान्त दीपिका' नाम की एक वृत्ति है। इसका अग्रेजी अनुवाद भी है।

२०—आचार्य अखण्डानन्द

आचार्य अखण्डानन्द का स्थिति काल भी पन्द्रहवी शताब्दी ही है। इनके गुरु आचार्य अखण्डानुभूति थे। इन्होने पचपादिका विवरण के ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक निबन्ध लिखा है। यह एक प्रामाणिक ग्र थ माना जाता है। अप्पय्य दीक्षित ने भी अपने सिद्धान्त लेश मे इसका मत उद्धृत किया है। विवरण के ऊपर भाव प्रकाशिका नामक एक और टीका है। 'तत्त्वदीपन' उससे पूर्ववर्ती है। भावप्रकाशिका मे उसका उल्लेख है। भावप्रकाशिकाकार नृसिंहाश्रम १५४१ ई० मे वर्तमान थे। अत. अखण्डानन्द स्वामी का जीवन काल पन्द्रहवी शताब्दी ही होना चाहिये।

२१—मल्लनाराध्य

मल्लनाराध्य दक्षिण भारत के निवासी थे। उनका जन्म कोटीश वंश में हुआ था। उन्होने 'अद्वैत रत्न' और 'अभेद रत्न' नामक दो प्रकरण ग्र थ लिखे हैं। उनका जन्म सोलहवी शताब्दी के आरम्भ मे हुआ था। उन्होने अद्वैत रत्न के ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक टीका भी लिखी है। मल्लनाराध्य ने द्वैतवादियो के मत का खण्डन करने के लिये इस ग्रंथ की रचना की है। यह ग्र थ अप्रकाशित है।

२२—आचार्य नृसिहाश्रम

नृसिहाश्रम अद्वैत सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यो मे गिने जाते है। इनके गुरु जगन्नाथाश्रम थे। नृसिहाश्रम का 'तत्त्व विवेक' नामक ग्रथ है, उसका समाप्तिकाल स० १६०४ वि० अर्थात् १५४७ ई० है। अत उनका जीवनकाल सोलहवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही होना चाहिये। नृसिहाश्रम उद्भट दार्शनिक और बडे प्रौढ पण्डित थे। उनकी रचना उच्चकोटि की और युक्ति प्रधान है। कहते है, उन्ही की प्रेरणा से अप्पय्य दीक्षित ने परिमल, न्याय रक्षामणि एव सिद्धान्त लेश आदि वेदान्त ग्रन्थो की रचना की थी। नृसिहाश्रम के रचित ग्र थो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —१—भाव प्रकाशिका—यह प्रकाशात्म यतिकृत पचपादिका विवरण की टीका है। २—तत्त्व विवेक-यह ग्र थ अप्रकाशित है। इसमे केवल दो परिच्छेद है। इसके ऊपर उन्होने स्वय ही 'तत्त्वविवेक दीपन' नाम की एक टीका लिखी है। ३—भेद धिक्कार इसमे भेदवाद का खण्डन है। ४—अद्वैत दीपिका—यह अद्वैत वेदान्त का एक युक्तिप्रधान ग्र थ है। ५—वैदिक सिद्धान्त सग्रह-इसमे ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकता की गई है, और यह बतलाया गया है, ये तीनो एक ही परब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र है। ६—तत्त्व बोधिनी-यह सर्वज्ञात्म मुनिकृत सक्षेप शारीरक की व्याख्या है।

२३—नारायणाश्रम

नारायणाश्रम नृसिहाश्रम के शिष्य थे। वे उन्ही के समकालीन है। नारायणाश्रम ने अपने गुरु के 'भेद धिक्कार' तथा 'अद्वैत दीपिका' नामक ग्र थो पर टीका लिखी है। भेद धिक्कार की टीका का नाम 'भेदधिक्कार सत्क्रिया' है, उसके ऊपर 'भेदधिक्कारसत्क्रियोज्जवला' नाम की एक टीका है। नारायणाश्रम की ग्र थ रचना का प्रधान प्रयोजन द्वैतवाद का खण्डन ही है।

२४—रगराजाध्वरी

रगराजाध्वरी सुप्रसिद्ध विद्वान अप्पय्य दीक्षित के पिता थे। इनके

पिता का नाम आचार्य दीक्षित था। आचार्य दीक्षित भी अद्वैत सम्प्रदाय के आचार्यो मे गिने जाते है। उन्होने बहुत-से यज्ञ किये थे, इसी से वे 'दीक्षित' इस उपनाम से विभूषित हुये थे। इनका निवासस्थान काची था। इनका दूसरा नाम वक्ष स्थलाचार्य था। ये विजयनगर के राजा कृष्णदेवराज के सभापण्डित थे। उन्होने इन्हे यह नाम प्रदान किया था। ये बडे ही धर्मनिष्ठ और कर्तव्यपरायण थे, इन्होने बहुत से यज्ञ देवालयप्रतिष्ठा, ब्राह्मण भोजन एव जलाशय निर्माणादि धार्मिककृत्य किये थे। इनके दो विवाह हुये थे। इनकी पहली पत्नी एक शैव मतावलम्बी ब्राह्मण की कन्या थी और दूसरी श्री वैकुण्ठाचार्य वशीय श्री रगमाचार्य की पुत्री तोतारम्बा देवी थी। तोतारम्बा के गर्भ से आचार्य दीक्षित के चार पुत्र हुये। उनमे सबसे बडे रगराजाध्वरी अथवा रगराजमखी थे। 'रगराज' उनका नाम था, 'अध्वरी' या 'मखी' याज्ञिक होने से जोड दिया गया है। अप्पय्यदीक्षित ने अपने ग्र थो मे अपने पिता, पितामह एव मातामहादि का परिचय दिया है। रगराजाध्वरी सम्पूर्ण विद्याओ मे कुशल थे। अप्पय्यदीक्षित को उन्ही से विद्या प्राप्त हुई थी। रगराजाध्वरी का पाण्डित्य असाधारण था। उन्होने 'अद्वैत विद्यामुकुर' एव 'विवरणदर्पण' प्रभृति ग्र थ रचे है। उन्होने अपने ग्रन्थों में न्याय, वैशेषिक एव साख्यादि मतो का खण्डन करके अद्वैत मत की स्थापना की है।

२५-अप्पय्य दीक्षित

शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित अद्वैत सम्प्रदाय परम्परा मे जो सर्वश्रेष्ठ आचार्य हुये हैं, उन्ही मे से एक अप्पय्य दीक्षित भी है। विद्वत्ता की दृष्टि से इन्हे वाचस्पतिमिश्र, श्री हर्ष एव मधु सूदन सरस्वती के समकक्ष कहा जा सकता है। ये आलङ्कारिक, वैयाकरण और दार्शनिक थे। इन्हे सर्व तत्र स्वतत्र कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। अप्पय्यदीक्षित अकबर और जहागीर के शासनकाल मे हुये है। इनका जन्म सन् १५५० ई० मे हुआ था और मृत्यु ७२ वर्ष की आयु मे सन् १६२२ मे हुई थी। ये दो भाई थे। इनके छोटे भाई का नाम

अच्चान दीक्षित था। पिता और पितामह के सस्कारानुसार अप्पय्य दीक्षित को भी अद्वैत मत की ही शिक्षा मिली थी तथापि वे परम शिवभक्त थे। अत शैव सिद्धात की स्थापना के लिये वे ग्र थ रचना करने लगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होने शिव तत्त्व विवेक आदि पाण्डित्यपूर्ण ग्र थो की रचना की। इसी समय उनके समीप नर्मदा तीर निवासी नृसिहाश्रम स्वामी उपस्थित हुये। उन्होने इन्हे सचेत करते हुये अपने पिता के सिद्धात का अनुसरण करने के लिये प्रोत्साहित किया। तब उन्ही की प्रेरणा से इन्होने परिमल, न्याय रक्षामणि एव सिद्धात लेश नामक ग्र थो की रचना की। मतवाद — दार्शनिक दृष्टि से अप्पय्य दीक्षित अद्वैतवादी या निर्गुण ब्रह्मवादी थे। सगुणोपासना को वे निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि के साधन रूप से स्वीकार करते है। वे यद्यपि शिव भक्त थे तथापि उनकी रचनाओ मे उनकी विष्णुभक्ति का भी प्रमाण मिलता है। कई स्थानो पर उन्होने भक्तिभाव से विष्णु की वन्दना की है। उनके ग्र थो मे उनकी सर्वतो-मुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। मीमासा के तो वे धुरन्धर पडित थे। उनकी 'शिवार्क मणिदीपिका' नाम की पुस्तक मे उनका मीमासा, न्याय, व्याकरण और अलकारशास्त्र सम्बन्धी प्रगाढ पाण्डित्य पाया जाता है। शाकर सिद्धात मे वाचस्पति मिश्र ने, रामा-नुज मत मे सुदर्शन ने और मध्वमत मे जयतीर्थ ने जो काम किया है, वही काम अप्पय्यदीक्षित ने 'शिवार्क मणि दीपिका' रचकर श्रीकण्ठ के सम्प्रदाय मे किया है। कही-कही तो दीपिका मे उनकी अपेक्षा भी अधिक मौलिकता है। इस निबन्ध को टीका न कहकर यदि मौलिक ग्र थ कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उन्होने अद्वैतवादी होकर भी द्वैतवाद की स्थापना मे जैसी उदारता का परिचय दिया है, वह वस्तुत बहुत ही श्लाघनीय है। जिस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने छहो दर्शनो की टीका करके प्रत्येक दर्शन के सिद्धात की पूर्णतया रक्षा करके अपनी सर्व तत्र स्वतत्रता का परिचय दिया है, वैसी ही स्थिति अप्पय्यदीक्षित की है। उन्होने जैसे शिवार्कमणि दीपिकादि मे विशिष्टा-

द्वैत के पक्ष का पूर्णतया समर्थन किया है, वैसे ही परिमल एव सिद्धात लेशादि मे अद्वैत सिद्धात की पूर्णतया रक्षा की है। उन्होंने सिद्धात लेश मे अद्वैतवादी आचार्यो के ४३ मत भेदो का दिग्दर्शन कराया है। सिद्धात लेश मे ब्रह्मसूत्र के समान चार अध्याय है। १-समन्वय, २ अविरोध, ३ साधन, और ४ फल। इसे शाकर सम्प्रदाय का कोश कहा जा सकता है। सिद्धान्त लेश मे सब आचार्यों के मतो का केवल उल्लेखमात्र है। उनकी समालोचना करके अपना कोई मत निश्चित नही किया गया है। अत. यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता, स्वय अप्पय्यदीक्षित को कौन मत इष्ट था। तथापि अधिकाश उन्हे एक जीववादी एव बिम्ब-प्रतिबिम्बवादी कह सकते है।

ग्रथ-विवरण

अप्पय्य दीक्षित के विषय मे यह प्रसिद्ध है, उन्होने भिन्न-भिन्न विपयो पर १०४ ग्रथ लिखे थे। वे सब इस समय प्राप्य नही है। उनमे से जो प्राप्य हैं उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—अलकार —१-कुवलयानन्द- यह 'चन्द्रालोक' नामक अलकार ग्रथ की विस्तृत व्याख्या है। २-चित्र मीमासा-इस ग्रथ मे अर्थ चित्र का विचार किया गया है। इसका खण्डन करने के लिये ही पडितराज जगन्नाथ ने 'चित्र मीमासा खण्डन' नामक ग्रथ को रचना की थी। ३-वृत्ति वार्तिक इस ग्रथ मे केवल अभिधा और लक्षणा दो ही वृत्तियो का विचार किया गया है। ४-नाम सग्रह माला-यह ग्रथ कोश के सदृश है। इसमे अनुराग- स्नेह आदि परस्पर पर्यायवाची प्रतीत होने वाले शब्दो के तात्पर्य का भेद प्रदर्शित किया गया है।

व्याकरण .—५-नक्षत्रवादावली अथवा पाणिनि तत्रवाद नक्षत्रवाद माला-यह ग्रथ क्रोड पत्र के समान है। इसमे सत्ताईस सन्दिग्ध विषयो पर विचार किया गया है। ६-प्राकृत चन्द्रिका-इस ग्रथ मे प्राकृत शब्दानुशासन की आलोचना की गयी है। मीमासा .—७-चित्रपुट-यह अप्रकाशित है। ८-विधि रसायन-इसमे विधित्रय का विचार

है। ९-सुखोपयोजनी-यह विधि रसायन की व्याख्या है। १०-उपक्रम पराक्रम-उपक्रम एव उपसहारादि षड् विध लिग से शास्त्र का निर्णय किया जाता है, यह इस ग्र थ मे दिखलाया गया है, उनमे उपक्रम ही सबसे अधिक प्रबल है। ११-वाद नक्षत्रमाला-इसमे पूर्व मीमासा और उत्तर मीमासा के सत्ताईस विषयो की आलोचना है।

वेदान्त —१२ परिमल-ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य की व्याख्या 'भामती' है, भामती की टीका 'कल्पतरु' है और कल्पतरु की व्याख्या 'परिमल' है। १३-न्यायरक्षामणि-ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय की शाकर सिद्धान्तानुसारिणी व्याख्या है। १४-सिद्धान्त लेश-इसमे अद्वैत सम्प्रदाय के आचार्यों के भिन्न भिन्न ४३ मतो का निरूपण किया है। १५-मतसारार्थ सग्रह-इसमे श्रीकण्ठ, शकर, रामानुज, मध्व प्रभृति आचार्यों के मतो का सक्षिप्त परिचय है। शाकर सिद्धान्त —१६-यह ग्र थ अप्राप्य है। मध्वमत —१७-न्यायमुक्तावली-इस पर अप्पय्य दीक्षित ने स्वय ही टीका भी लिखी है। रामानुजमत —१८-नियम यूथ मालिका-इसमे रामानुज मत का दिग्दर्शन है। श्रीकण्ठमत —१९-शिवार्कमणि दीपिका-यह ब्रह्मसूत्र के श्रीकण्ठ कृत भाष्य की व्याख्या है। २०-रत्नत्रय परीक्षा-इसमे हरि, हर और शक्ति की उपासना का विषय दिखलाया गया है। शैवमत —मणिमालिका-यह शिव विशिष्टाद्वैत पर हरदत्त प्रभृति आचार्यों के सिद्धान्त का अनुसरण करने वाला निबन्ध है। २२-शिखरिणी माला-इसमे ६४ शिखरिणी छन्दो मे भगवान् शकर के सगुण स्वरूप का गुणगान है। २३-शिवतत्त्व विवेक-यह उपर्युक्त शिखरिणीमाला का व्याख्या-ग्र थ है। इसमे भगवान् शिव की प्रधानता का प्रतिपादन है। २४-ब्रह्मतर्कस्तव-इसमे भी श्रुति, स्मृति एव पुराणादि के द्वारा शिव का प्राधान्य निश्चय किया है। २५-शिवार्चनचन्द्रिका-इस निबन्ध मे शिव पूजन की विधि का विचार है। इसके ऊपर दीक्षित ने स्वय ही बाल चन्द्रिका नाम की टीका लिखी है। २६-शिवध्यान पद्धति-इसमे पुराणादि से वाक्य उद्धृत करके शिवध्यान की विधि का विचार किया है। २७-आदित्य स्तवरत्न-यह सूर्य के मिष से अन्तर्यामी शिव का ही स्तव है।

२८-मध्वतत्रमुखमर्दन-इस ग्रथ मे मध्व सिद्धान्त का खडन है। २९-यादवाभ्युदय का भाष्य-वेदात देशिकाचार्य ने 'यादवाभ्युदय' नामक काव्य की रचना की थी। यह उसी का भाष्य है। इनके सिवा-शिवकर्णामृत, रामायण तात्पर्य सग्रह, भारत तात्पर्य सग्रह, शिवाद्वैतविनिर्णय, पचरत्नस्तव, और उसकी व्याख्या, शिवानन्द लहरी, दुर्गाचन्द्रकला स्तुति और उसकी व्याख्या, कृष्णध्यानपद्धति और उसकी व्याख्या तथा आत्मार्पण आदि निबन्ध उनकी उत्कृष्ट कृतियाँ है।

२६-भट्टोजी दीक्षित

आचार्य भट्टो जी दीक्षित सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे। उनकी रची हुई सिद्धान्त कौमुदी और प्रौढमनोरमा प्रसिद्ध है। वेदात शास्त्र मे ये अप्पय्य दीक्षित के शिष्य थे। इनके व्याकरण के गुरु प्रक्रिया प्रकाशकार श्री कृष्ण दीक्षित थे। इनकी सिद्धात कौमुदी पाणिनीय व्याकरण सूत्रो की वृत्ति है और प्रौढमनोरमा सिद्धात कौमुदी की व्याख्या है। उनका तीसरा ग्रथ 'शब्दकौस्तुभ' है। इसमे पातञ्जल महाभाष्य के विषय का युक्ति पूर्वक समर्थन किया है। चौथा ग्रथ 'वैयाकरण भूषण' है। इसका प्रतिपाद्य विषय भी व्याकरण ही है। इन्होने दो वेदान ग्रथ रचे है —।'तत्त्व कौस्तुभ' और दूसरा 'वेदात तत्त्व विवेक टीका विवरण'। इनमे से केवल तत्त्व कौस्तुभ प्रकाशित हुआ है। इसमे द्वैतवाद का खण्डन है।

२७-सदाशिव ब्रह्मेन्द्र

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र स्वामी दीक्षित के समकालीन थे। ये सन्यासी थे और सम्भवत काची-कामकोटि पीठ के अधीश्वर थे, कारण, इनके रचे हुये गुरुरत्नमालिका नामक ग्रथ मे ब्रह्म विद्याभरणकार स्वामी अद्वैतानन्द का उल्लेख है। वे काञ्ची पीठ के अधीश्वर थे। सदाशिव स्वामी ने अद्वैत विद्या विलास, बोधार्यात्मनिर्वेद, गुरु रत्नमालिका और ब्रह्म कीर्तन तरगिणी आदि ग्रथो की रचना की थी।

२८-नीलकण्ठ सूरि

आचार्य नीलकण्ठ सूरि महाभारत के टीकाकार है। इनका जन्म

महाराष्ट्र देश मे हुआ था। ये गोदावरी के पश्चिमी तट पर कूर्पर नामक स्थान मे रहते थे। इनका स्थितिकाल सोलहवी शताब्दी है। ये [illegible] वश मे उत्पन्न हुये थे। इनके पिता का नाम गोविन्द सूरि था। इन की महाभारत की टीका का नाम 'भारत भाव दीप' विख्यात है। गीता की व्याख्या के आरम्भ मे अपनी व्याख्या को सम्प्रदायानुसारी बताते हुये इन्होने शकराचार्य एव श्रीधरादि की वन्दना की है। इससे सिद्ध होता है, वे अद्वैतवादी थे। यद्यपि गीता की व्याख्या मे इन्होने कही कही शाकरभाष्य का अतिक्रमण भी किया है, तथापि इनका मुख्य अभिप्राय अद्वैतसप्रदाय के अनुकूल ही है। 'भारत भाव दीप' के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई कृति नही मिलती है।

२९-सदानन्द योगीन्द्र

स्वामी सदानन्द योगीन्द्र 'वेदातसार' के रचयिता है। इनका स्थिति काल सोलहवी शताब्दी का प्रथम भाग है। वेदातसार के ऊपर नृसिह सरस्वती की 'सुबोधिनी' टीका है। उसके अत के श्लोक से ज्ञात होता है, सुबोधिनी की रचना शक सवत् १५१८ मे हुई थी। वेदातसार उससे कुछ पूर्व प्रसिद्ध हो गया होगा। इससे सदानन्द स्वामी का काल सोलहवी शताब्दी का पूर्वार्ध ही सिद्ध होता है। इनका वेदातसार अद्वैत वेदान्त का अति सरल ग्रथ है। इस पर कई टीकाएँ लिखी गई है। सदानन्द स्वामी ने 'शकर दिग्विजय' भी लिखा है।

३०—नृसिह सरस्वती

नृसिह सरस्वती ने वेदात सार की 'सुबोधिनी' टीका लिखी है। यह टीका उन्होने शक स० १५१८ अर्थात् ई० सन् १५९६ मे लिखी थी। उनका स्थितिकाल सोलहवी शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिये। सुबोधिनी की भाषा बहुत सुन्दर है। उनके गुरु का नाम कृष्णानन्द स्वामी था।

३१—मधुसूदन सरस्वती

मधुसूदन सरस्वती अद्वैतमत के प्रधान आचार्यों मे से है। उनके गुरु का नाम विश्वेश्वर सरस्वती था। उनका जन्मस्थान बग देश था। वे फरीदपुर जिले के अन्तर्गत कोटालिपाडा ग्राम के निवासी थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे थे। विद्याध्ययन के अनन्तर वे काशी आये। वहा के प्रमुख पण्डितो मे इनकी ख्याति हो गई। फिर इन्होने विश्वेश्वर सरस्वती से दड ग्रहण कर लिया। ये मुगल सम्राट शाहजहा के समकालीन थे। इन्होने रामराज्य स्वामी के ग्र थ न्यायामृत का खडन किया था। इससे चिढकर उन्होने अपने शिष्य व्यास रामाचार्य को मधुसूदन सरस्वती के पास वेदात शास्त्र का अध्ययन करने के लिये भेजा था। व्यासरामाचार्य ने विद्या प्राप्त कर, फिर मधुसूदन स्वामी के ही मत का खण्डन करने के उद्देश्य से 'तरङ्गिणी' नामक ग्र थ की रचना की। इससे ब्रह्मानन्द सरस्वती आदि ने असन्तुष्ट होकर तरङ्गिणी का खण्डन करने के लिये 'लघुचन्द्रिका' नामक ग्र थ की रचना की। ये महान् योगी थे। इनके विद्या गुरु माधव सरस्वती थे। इन्होने ही अद्वैतसिद्धि की समाप्ति पर यह बताया है। इससे सिद्ध होता है, इनके विद्या गुरु माधव सरस्वती थे और दीक्षा गुरु विश्वेश्वर सरस्वती थे। मतवाद-मधुसूदन अद्वैत सम्प्रदाय के महारथी हैं। उन्होने अद्वैत सिद्धान्त का जैसा युक्तियुक्त समर्थन किया है, उससे विपक्षियो का मानमर्दन करने के लिये उसे बहुत बडी शक्ति प्राप्त हुई है। उन्हे अद्वैत साहित्य का एक युग निर्माता कह सकते है। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की युक्ति मे शास्त्र प्रमाण की प्रधानता रहती थी, किन्तु इन्होंने प्रधानतया अनुमान प्रमाण के बल पर ही स्वसिद्धान्त की स्थापना की है। वस्तुत उनका युक्ति कौशल अभूतपूर्व है। अद्वैत सिद्धान्त के प्रधान स्तम्भ होने पर भी उनकी सगुण भक्ति सर्वत्र प्रकट है। इनकी लिखी हुई श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या गूढार्थ दीपिका मे स्थान स्थान पर उनकी भक्ति का परिचय मिलता है। यद्यपि उन्होने शकराचार्य के भाष्यार्थ को स्फुट करने के लिये ही गीता की व्याख्या की है, तथापि गीता के सिद्धान्त भूत 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज' इस श्लोक को

तो उन्होने आचार्य के मत का लिहाज न करके शरणागति परक ही बतलाया है। इन्हे श्रीकृष्ण का साक्षात्कार हुआ था। इनका 'भक्ति रसायन' ग्रथ इनकी भक्ति का अद्भुत परिचायक है। वस्तुत ये जैसे विद्वान् थे वैसे ही तत्त्वनिष्ठ और वैसे ही भगवत्प्राण भी थे। ऐसे महापुरुषो की वाणी ही वस्तुत ठीक-ठीक पथप्रदर्शन कर सकती है। उनके रचित ग्र थो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —१—सिद्धान्त विन्दु—यह शकराचार्यकृत 'दशश्लोकी' की व्याख्या है। इस पर ब्रह्मानन्द सरस्वती ने रत्नावली नामक निबन्ध लिखा है। शकराचार्य ने दशश्लोकी मे वेदान्त के स्वारसिक सिद्धान्त का निरूपण किया है। मधुसूदन सरस्वती ने उसी का युक्ति-प्रयुक्तियो से विस्तार किया है। २—सक्षेप शारीरक की व्याख्या– यह सर्वज्ञात्म मुनिकृत सक्षेप शारीरक की व्याख्या है। ३—अद्वैतसिद्धि—यह अद्वैत सिद्धान्त का अत्यन्त उच्चकोटि का ग्र थ है। इसमे चार परिच्छेद है। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने इसके ऊपर लघुचन्द्रिका नाम की व्याख्या लिखी है। यह ग्र थ अद्वैत सम्प्रदाय का अमूल्य रत्न है। ४—अद्वैत रत्न रक्षण—इसमे द्वैतवाद का खण्डन करते हुये अद्वैतवावाद की स्थापना की है। ५—वेदान्त कल्पलतिका—यह भी वेदान्त-ग्र थ ही है। इसकी रचना अद्वैत सिद्धि से पहले हुई थी। अद्वैत सिद्धि मे इसका उल्लेख है। ६—गूढार्थदीपिका—यह श्री मद्भगवद्गीता की टीका है। इसे गीता की सर्वोत्तम व्याख्या कह सकते है। इसमे प्राय प्रत्येक शब्द की व्याख्या की गई है। ७—प्रस्थान भेद—इसमे सब शास्त्रो का सामञ्जस्य कर के उनका अद्वैत मे तात्पर्य दिखलाया गया है। यह निबन्ध सक्षिप्त होने पर भी मधुसूदन स्वामी की अद्भुत प्रतिभा का द्योतक है। ८—महिम्न स्तोत्र की टीका—इसमे सुप्रसिद्ध महिम्नस्तोत्र के प्रत्येक श्लोक की शिव और विष्णु परक व्याख्या की गई है। इससे उनके असाधारण कौशल का परिचय मिलता है। ९—भक्ति रसायन—यह भक्ति सबंधी लक्षण ग्र थ है।

३२—धर्मराज अध्वरीन्द्र

धर्मराज अध्वरीन्द्र 'वेदान्त परिभाषा' नाम ग्र थ के प्रणेता है।

भेद धिक्कारादि ग्र थो के रचयिता नृसिहाश्रम स्वामी उनके परम गुरु थे। वेदान्त परिभाषा के आरम्भ मे उन्होने इस प्रकार नृसिहाश्रम का परिचय दिया है —जिनके शिष्यरूप सिहो द्वारा भेदवादीरूप [illegible] समूह परास्त हो गये, उन परमगुरु योगिराज नृसिहाश्रम को मै [illegible] करता हूँ। नृसिहाश्रम के शिष्य वेङ्कटनाथ थे और वेङ्कटनाथ के शिष्य धर्मराज थे। नृसिहाश्रम सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे विद्यमान थे। इससे धर्मराज का स्थितिकाल सतरहवी शताब्दी का आरम्भ होना सभव है। धर्मराज अध्वरी के ग्र थो मे वेदात परिभाषा प्रधान है। यह अद्वैत सिद्धान्त का अत्यन्त उपयोगी प्रकरण ग्र थ है। इसके ऊपर बहुत सी टीकाएँ हुई है। अद्वैत वेदान्त का रहस्य समझने मे इसका अध्ययन बहुत उपयोगी है। इसके सिवा उन्होने गगेशोपाध्यायकृत 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक नव्य न्याय के ग्र थ पर 'तर्क चूड़ामणि' नाम की एक टीका भी लिखी है। उसमे अपने से पूर्व वर्त्तिनी दश टीकाओ के मत का खण्डन किया गया है। यह टीका भी बहुत ही युक्ति युक्त है।

३३—रामतीर्थ

रामतीर्थ स्वामी वेदान्तसार के टीकाकार हैं। वेदातसार के प्रणेता स्वामी सदानन्द सोलहवी शताब्दी मे वर्तमान थे। नृसिह सरस्वती ने सवत् १५६८ मे वेदान्त सार की पहली टीका लिखी थी। रामतीर्थ उनके परवर्ती है। अत. उनका स्थितिकाल सतरहवी शताब्दी है। उनके गुरु स्वामी कृष्णतीर्थ थे। स्वामी रामतीर्थ ने सक्षेप शारीरक के ऊपर 'अन्वयार्थ प्रकाशिका' शकराचार्य कृत उपदेश साहस्री पर 'पदयोजनिका' और वेदान्तसार पर 'विद्वन्मनोरन्जिनी' नाम की टीकाएँ लिखी है। एक टीका मैत्रायणी उपनिषद् पर भी इन्होने लिखी है।

३४—आपदेव

आपदेव सुप्रसिद्ध मीमासक थे। उनका 'मीमासा न्याय प्रकाश' पूर्व मीमासा का एक प्रामाणिक प्रकरण ग्र थ है। किन्तु मीमासक होते हुये भी उन्होने सदानन्दकृत वेदात सार पर 'बालबोधिनी' नाम

की टीका लिखी है। जो नृसिह सरस्वतीकृत 'सुबोधिनी' और रामतीर्थ कृत 'विद्वन्मनोरन्जिनी' की अपेक्षा भी अधिक उत्कृष्ट समझी जाती है। इससे ज्ञात होता है, पूर्व मीमासा के प्रौढ विद्वान् होने पर भी उन का मत अद्वैतवाद ही रहा हो।

३५—गोविन्दानन्द

आचार्य गोविन्दानन्द शारीरक भाष्य के टीकाकार है। उनकी लिखी हुई 'रत्नप्रभा' टीका सम्भवत शाकरभाष्य की टीकाओ मे सबसे सरल है। इसमे भाष्य के प्राय प्रत्येक पद की व्याख्या है। सर्वसाधारण के लिये भाष्य को हृदयगम कराने मे यह टीका बहुत ही उपयोगी है। जो लोग विस्तृत और गम्भीर टीकाओ को समझने मे असमर्थ है उन्ही के लिये यह व्याख्या लिखी गई है। ऐसा ग्र थकार ने स्वय लिखा है। गोविन्दानन्द और 'लघुचन्द्रिका' कार ब्रह्मानन्द सरस्वती इन दोनो के विद्यागुरु शिवराम थे। इससे उन दोनो का समकालीन होना भी सिद्ध होता है। ब्रह्मानन्द मधुसूदन स्वामी के समकालीन थे। अत गोविन्दानन्द का स्थिति काल भी सतरहवी शताब्दी ही है।

३६—रामानन्द सरस्वती

रामानन्द सरस्वती रत्न प्रभाकार गोविन्दानन्द स्वामी के शिष्य थे। अपने गुरु की भाति ये भी राम भक्त थे। इनका स्थितिकाल सतरहवी शताब्दी है। इन्होने ब्रह्मसूत्र की 'ब्रह्मामृत वर्षिणी' नामक टीका लिखी है। जो सिद्धान्त शाकरभाष्य का अनुसरण करती है। ब्रह्मामृत वर्षिणी की भाषा बहुत सरल है। ब्रह्म सूत्रो का शाकर भाष्यानुसारी तात्पर्य जानने के लिये आरम्भ मे इसका अध्ययन बहुत उपयोगी है। इनका दूसरा ग्र थ 'विवरणोपन्यास' है। यह पचपादाचार्य की पचपादिका पर प्रकाशात्मयति के लिखे हुये 'विवरण' नामक ग्र थ पर एक निबन्ध है। इसमे गद्य मे विचार करके पद्य मे उसका फल स्वरूप सिद्धान्त दिया गया है। जैसा विद्यारण्य स्वामी का 'विवरणप्रमेह सग्रह' नामक ग्र थ है, वैसा ही रामानन्द स्वामी का 'विवरणोपन्यास' है।

३७—काश्मीरक सदानन्द यति

काश्मीरक सदानन्द यति 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' नामक प्रकरण ग्रंथ के प्रणेता है। उनका जीवन काल सतरहवी शताब्दी है। उनके नाम के साथ 'काश्मीरक' शब्द व्यवहार होने से ज्ञात होता है, वे काश्मीर देशीय थे। उनकी 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' अद्वैतमत का एक प्रामाणिक ग्रंथ है। इसमे प्रतिबिम्बवाद एव अवच्छिन्नवाद-सम्बन्धी मतभेदो की विशेष विवेचना मे न पडकर एक जीववाद को ही वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त बतलाया है। वास्तव मे यह बात ठीक भी है। जब तक प्रबल साधनो के द्वारा जिज्ञासु ऐकात्म्य का अनुभव नही कर लेता तभी तक वह इस वाग्जाल मे फँसा रहता है, अन्यथा—'ज्ञाते द्वैत न विद्यते।'

३८—रगनाथ

रगनाथ ब्रह्म सूत्रो की शाकर भाष्यानुसारिणी वृत्ति के रचयिता है। इनका स्थितिकाल सतरहवी शताब्दी है। आचार्य रगनाथ की वृत्ति बहुत सरल है। इन्होने ब्रह्मसूत्र प्रथमाध्याय—द्वितीय पाद के अन्तर्गत तेईसवे सूत्र के पश्चात् 'प्रकरणत्वात्' यह एक नवीन सूत्र माना है। भामतीकारादि ने इसे भाष्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है, किन्तु वैयासिक न्यायमालाकार भारतीतीर्थ ने इसे पृथक् सूत्र माना है। रंगनाथ ने भी उन्ही के मत का अनुसरण किया है। इनके मत मे कोई नवीनता नही है। इन्हे आचार्य शकर का ही सिद्धात अभिमत है।

३९—ब्रह्मानन्द सरस्वती

ब्रह्मानन्द सरस्वती अद्वैत सिद्धि के टीकाकार हैं। वे मधुसूदन स्वामी के समकालीन थे। द्वैतमतावलम्बी व्यासराज के शिष्य रामाचार्य ने मधुसूदन स्वामी से अद्वैत सिद्धान्त की शिक्षा ग्रहण करके फिर उन्ही के मत का खण्डन करने के लिये 'तरङ्गिणी' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इससे असन्तुष्ट होकर ब्रह्मानन्द सरस्वती ने 'अद्वैत सिद्धि' पर

'लघुचन्द्रिका' नाम की टीका लिखकर तरङ्गिणीकार के मत का खण्डन किया। इस कार्य मे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होने रामाचार्य की सभी आपत्तियो का बहुत सतोषजनक समाधान किया है। ससार का मिथ्यात्व, एक जीववाद, निर्गुण ब्रह्मवाद, नित्य निरतिशय आनन्दरूप मुक्तिवाद—इन सभी विषयो का उन्होने बहुत अच्छा विवेचन किया है। इस ग्र थ से उनकी दार्शनिक प्रतिभा का बडा सुन्दर परिचय मिलता है। वस्तुत वे एक सफल समालोचक है। इन्होने मधुसूदन स्वामी के सिद्धान्त विन्दु पर 'रत्नावली' और 'सूत्र मुक्तावली' नामक दो निबन्ध और भी लिखे है। वे अद्वैतवाद के एक प्रधान आचार्य गिने जाते है। उनकी रचनाओ से उनकी सर्वतत्र स्वतत्रता एव मौलिकता का सुन्दर परिचय मिलता है। उनका स्थिति काल सतरहवी शताब्दी है। उनके दीक्षा गुरु परमानन्द सरस्वती थे और विद्या गुरु नारायण तीर्थ थे।

४०—अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ

अच्युत कृष्णानन्दतीर्थ अप्पय्य दीक्षितकृत सिद्धान्त लेश के टीकाकार है। इन्होने छायाबल-निवासी स्वयप्रकाशानन्द सरस्वती से विद्या प्राप्त की थी। ये कावेरी तीरवर्ती नीलकण्ठेश्वरम् नामक स्थान मे रहते थे। ये भगवान् कृष्ण के भक्त थे। इनके ग्र थो मे इनकी कृष्ण भक्ति का यथेष्ट आभास मिलता है। इन्होने सिद्धान्तलेश पर जो टीका लिखी है, उसका नाम 'कृष्णालङ्कार' है। इस टीका मे उन्हे अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। इससे उनके पाण्डित्य का अच्छा परिचय मिलता है। विद्वान् होने के साथ ही वे अत्यन्त विनयशील भी थे। दूसरा ग्र थ उन्होने तैत्तिरीयोपनिषद्—शाकर भाष्य के ऊपर 'वनमाला' नाम की टीका लिखी है। इस टीका के नाम से भी उनकी कृष्ण भक्ति का परिचय मिलता है।

४१—महादेव सरस्वती

महादेव सरस्वती स्वयप्रकाशानन्द सरस्वती के शिष्य थे। उन्होने 'तत्त्वानुसधान' नामक एक प्रकरण ग्र थ लिखा था। इसके ऊपर

उन्होने 'अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ' नाम की टीका भी लिखी है। 'तत्त्वानुसधान' बहुत सरल भाषा मे लिखा गया है। इससे सहज ही मे अद्वैत सिद्धान्त का ज्ञान हो सकता है। भाषा की कठिनता न होने पर भी इसमे प्रतिपाद्य विषय का अच्छा विवेचन है। यह ग्रथ जिज्ञासुओ के लिये अति उपयोगी है। इनका स्थिति काल अठारहवी शताब्दी है।

४२—सदा शिवेन्द्र सरस्वती

परमहस सदाशिवेन्द्र सरस्वती का दूसरा नाम सदाशिवेन्द्र ब्राह्मण था। साधारणतया वे इसी नाम से विख्यात थे। ये अच्छे योगी थे। अठारवी शताब्दी के आरम्भ मे दक्षिण भारत के करूर नामक स्थान मे उन्होने जन्म ग्रहण किया था और तान्जौर जिले के अन्तर्गत तिरुविसानाल्लूर नामक स्थान मे अध्ययन किया था। वे बडे तार्किक थे। वैराग्य होने पर घर से निकल कर भ्रमण करते २ वे परमशिवेन्द्र सरस्वती के पास पहुँच गये। फिर उनसे दीक्षा लेकर योगाभ्यास करने लगे और और अच्छे योगी हो गये। इन्होने कई ग्रथ लिखे है। उनमे से बहुत से अप्राप्य है। उनके ग्रथो मे 'ब्रह्मसूत्रवृत्ति' प्रधान है। यह ब्रह्म सूत्रो की शाकर भाष्यानुसारिणी वृत्ति है। इसका अध्ययन कर लेने पर शाकरभाष्य को समझना सरल हो जाता है। इस वृत्ति का नाम 'ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिका' है। द्वादश उपनिषदो पर भी उनकी टीका है। योगसूत्रो पर उन्होने 'योगसुधाकर' नाम की वृत्ति लिखी है। वह भी अतिउपयोगी है। 'आत्मविद्या विलास' 'कविताकल्पवल्ली' और 'अद्वैत रसमञ्जरी' नामक तीन ग्रथ इनके और भी प्रकाशित हो चुके है। वे महान् योगी परम अद्वैत निष्ठ थे। उनका जीवन एक सिद्धपुरुष का जीवन था। उनकी रचना सरल और भाव पूर्ण है।

४३—आयन्न दीक्षित

आयन्न दीक्षित श्री वेङ्कटेश के शिष्य थे। उन्होने 'व्यासतात्पर्य निर्णय' नामक एक अद्भुत ग्रंथ की रचना की थी। ये श्री वेङ्कटेश सदाशिवेन्द्र सरस्वती के समकालीन थे। उन्होने 'अक्षयषष्टी' और

'दायशतक' नामक दो ग्र थ रचे है। उनके शिष्य होने से इनका जीवन काल भी अठारहवी शताब्दी ही सिद्ध होता है। आयन्न दीक्षित का 'व्यासतात्पर्य निर्णय' नामक केवल एक ही ग्रथ मिलता है। व्यास के सूत्रो को अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, द्वैताद्वैती एव शिवाद्वैतवादी, सभी प्रमाण मानते है। और उन सभी के सिद्धान्तो मे बहुत अन्तर होते हुये भी सभी ने बहुत-सी युक्ति-प्रयुक्तियो से उसे स्वाभिमत-सिद्धान्तानुकूल बतलाया है। ऐसी स्थिति मे यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है, वास्तव मे व्यास का क्या अभिप्राय है। इसके लिये आयन्न दीक्षित ने एक नवीन युक्ति दी है। वे कहते है—साख्य, मीमासा, पातजल, न्याय, वैशेषिक, पाशुपत एव वैष्णव दर्शनो मे भी ब्रह्म सूत्रो के ऊपर विचार हुआ है। इन सभी ने अपने-अपने सिद्धान्तो की स्थापना करने के लिये जिस प्रकार शेष सब मतो का खण्डन किया है, उसी प्रकार ब्रह्म सूत्रो का भी खण्डन किया है। वहा उन्होने अद्वैत परक मानकर ही उनका निरास किया है। इससे उनका मुख्य तात्पर्य अद्वैत मे ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार उन्होने ओर भी बहुत-सी मौलिक युक्तिया लिखी है। इससे उनकी विचित्र प्रतिभा का ज्ञान होता है। अद्वैत सिद्धान्त के प्रेमियो के लिये वास्तव मे 'व्यासतात्पर्य निर्णय' सग्रहणीय है।

अद्वैतवाद के हिन्दी भाषा ग्र थ

प्रश्न —आपने अद्वैतवाद के सस्कृत ग्र थो का तथा ग्रथकारो का परिचय तो अच्छा ही दिया है, किन्तु वर्तमान समय मे तो सस्कृत ग्र थो से सर्वसाधारण जनो को लाभ होना कठिन है। क्यो ? सस्कृत का ज्ञान सबको नही होता है और मोक्ष की इच्छा प्राय बडी अवस्था मे होती है। उस समय व्याकरण का पढना सभव नही होता। अत. अद्वैतवाद के हिन्दी भाषा के ग्र थो का तथा ग्र थकारो का भी परिचय दीजिये ? उत्तर—हिन्दी भाषा मे अद्वैतवाद का प्रचार वि० स० १७ सौ से दादू पथ के सतो ने अच्छा किया है। क्यो ? सत प्रवर दादू का

सिद्धात अद्वैत ही था। तो सत दादू और उनकी रचना का भी आप परिचय दीजिये ?

४४—सतप्रवर दादू

सत प्रवर दादू वि० स० १६०१ फाल्गुन शुक्ला अष्टमी गुरुवार को प्रात काल अहमदाबाद (गुजरात) की साबरमती नदी मे बहते हुये स्नानार्थ गये हुये लोधीराम नागर को बालकरूप मे मिले थे। लोधीराम के सतान नही थी। वह उस बालक को ले आया और उसका पालन पोषण किया। इससे वे लोधीराम के पौष्य पुत्र माने जाते है। ११ वर्ष की अवस्था मे अहमदाबाद के काकरिया तालाब पर बालको मे खेलते समय भगवान् वृद्ध रूप मे प्रकट हुये, उन्हें देखकर अन्य सब बालक तो भय से भाग गये, किन्तु दादू बालक ने पास आकर अपने जेब मे हाथ डाला तो एक पैसा मिला। वह पैसा उनके भेट करते हुये श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। वृद्ध भगवान् ने बालक को कहा — 'इसकी प्रथम वस्तु मिले वही ले आओ। बालक को प्रथम पान की दुकान मिली, पान ले आया। भगवान् वृद्ध ने पान पाया और बालक को भी प्रसाद दिया। उसी समय दादू बालक के मुख से यह साखी निकली—"गैब माहि गुरु देव मिला, पाया हम परसाद। मस्तक मेरे कर धरा, दीक्षा अगम अगाध ॥" इस साखी मे "गैब ' पद का अर्थ—अकस्मात् है। फिर वृद्ध भगवान् राजस्थान मे जाकर भगवत् प्राप्ति के साधनो का प्रचार करने की आज्ञा देकर अन्तर्धान हो गये। फिर १९ वर्ष की अवस्था में सत दादू राजस्थान मे आये और उनका साधना क्षेत्र तथा प्रचार क्षेत्र मुख्यत राजस्थान ही रहा। ये लगभग ६० वर्ष की अवस्था मे नारायणा ग्राम मे वि० स० १६६० ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी शनिवार को ब्रह्म लीन हुये। इनके १५२ शिष्यो मे ५२ विशेष रूप से प्रचारक हुये। दादू-पथ का अध्यात्म विषयक साहित्य राजस्थान मे भूरिमात्रा मे है। किन्तु प्राय. अप्रकाशित ही है।

सतप्रवरदादू की वाणी

दादूवाणी मे दो भाग है.—१—साखी भाग इसमे ३७ अगो मे

२५२७ साखी है। २—दूसरा पद भाग है, इसमे गाने योग्य ४४४ पद २७ रागो मे है। इस वाणी मे अनुभवपूर्ण अध्यात्म विषय पूर्णरूप से प्रदर्शित हुआ है। इसमे—योग, भक्ति, वैराग्यादि सभी साधनों का वर्णन अनुभव के आधार पर ही ज्ञात होता है। इसमे पराभक्ति का विशेषरूप से वर्णन मिलता है। वैसे तो यह सपूर्ण वाणी ही गभीर तत्त्व का प्रतिपादन करती है, किन्तु इसका चौथा परिचय का अग तो अत्यन्त रहस्यमय ज्ञात होता है। यह वाणी उपनिषदो से बहुत अधिक मिलती है। अनेक श्रुतियो का अर्थ इसमे ज्यो का त्यो मिलता। दादू का सिद्धात भी श्रुति सिद्ध अद्वैत सिद्धात ही है। अद्वैत सिद्धात को इन्होने अनेक स्थानो मे प्रकट रूप से कहा है। जैसे — "काचा उछले ऊफने, काया हाँडी माहि। दादू पाका मिल रहे, जीव-ब्रह्म दो नाहि।" वे जीवब्रह्म को दो नही मानते, इस एकता को ही तो अद्वैत कहते है। सतदादू ने वाणी अपनी लेखनी से नही लिखी है, किन्तु वे जब किसी को उपदेश करते थे तब उनके मुख से पद्य निकलते थे उन्ही को शिष्य लिख लेते थे। इस कार्य को प्राय रज्जब, सतदास, जगन्नाथ और मोहनदास इन चार सतो ने ही किया था। सग्रह करने के पश्चात् इन्होने ही इसे प्रसगबद्ध(अगबद्ध) किया था। अब इस वाणी पर "दादूगिरार्थ प्रकाशिका" टीका भी प्रकाशित होकर समादर प्राप्त कर चुकी है। उसका द्वितीय सस्करण भी निकल चुका है। उस टीका से दादूवाणी के समझने मे बहुत सहायता मिलती है। वह दादूवाणी के प्रत्येक पद का अर्थ बताती है। टीका बिना यह वाणी सर्वसाधारण के समझ नही आती थी। क्यो ? एक तो इसका विषय अध्यात्म होने से प्रथम ही गभीर है। दूसरे इसमे अनेक भाषाओ का मिश्रण है। जैसे —सस्कृत, प्राकृत, फारसी, तुर्की अरबी, महाराष्ट्री, गुजराती, पजाबी, सिधी, सरायी (पजाब सिध के मध्य की) और राजस्थानी, राजस्थानी मे भी मेवाडी, मारवाडी, जैपुरी आदि। इससे कठिन पडती थी। किन्तु अब 'दादूगिरार्थ

प्रकाशिका' से 'दादूवाणी' सर्वोपयोगी हो गई है। दादू महाविद्यालय, मोती डोगरी रोड जयपुर (राजस्थान) से मिलती है।

४५—सत रज्जब

सतरज्जब सतप्रवर दादू के शिष्य थे। रज्जब का जन्म साँगानेर मे हुआ था। अब साँगानेर जयपुर के पास है। उस समय जयपुर नही बसा था। आमेर राजधानी थी। रज्जब एक प्रतिष्ठित सैनिक पठान के पुत्र थे। इनके पिता आमेर नरेश भगवन्तदास (मानसिह के पिता) की सेना मे एक छोटे नायक थे। रज्जब की सगाई आमेर मे हुई थी। जिस दिन बरात आमेर पहुँची तब रज्जब को ज्ञात हुआ, सतदादू यहा ही विराजते है। सतदादू का यश वे प्रथम सुन चुके थे और वे सत्सगी भी थे। इससे वर के भेष मे ही मावटे बन्धे की पाल के समीप दादू आश्रम मे अपने साथियो के साथ दादू दर्शन के लिये पहुँच गये और ध्यानस्थ दादू के दर्शन करके सामने बैठ गये। साथियो ने कहा-"दर्शन हो गये चलो।" रज्जब बोले-"हमने तो दर्शन कर लिये, किन्तु सतो ने हमे नही देखा है। अत सतों का ध्यान खुले तब तक ठहरो।" जब सतदादू के नेत्र खुले तब रज्जब श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके सामने बैठ गये। रज्जब की स्थिति समझकर सतदादू ने कहा-"किया था शुभ काम को, सेवा कारण साज। दादू भूला बन्दगी, सरे न एकहु काज॥" इसको सुनते ही रज्जब ने अपना मौड उतार कर अपने छोटे भाई के आगे रखकर कहा-"अब मै विवाह नही करूगा, तुम करलो।" फिर रज्जब के पिता आदि ने बहुत समझाया किन्तु रज्जब नही गये। सतदादू के शिष्य होकर एक अच्छे सत और महान् कवि हो गये है। ये ब्रह्म-चिन्तन, सत्सग और लोक कल्याण के साधनरूप साहित्य की रचना करते हुये १२२ वर्ष इस धरातल पर रहे थे। वि० स० १७४६ मे अपने शिष्य रामदास को साथ लेकर टोक की ओर एक वन मे जाकर रामदास को पीछा भेज दिया और नाशवान् शरीर को त्यागकर ब्रह्म में लीन हो गये थे।

रज्जबवाणी

रज्जबवाणी राजस्थानी सत साहित्य का अद्भुत ग्र थ है। यह पाच भागो मे माना गया है —१-साखी भाग के १९३ अगो मे ५३४२ साखी है। २-पद भाग की २० रागो मे २०९ भजन है। ३-सवैया भाग के २५ अगो मे ११६ सवैयादि कवित्त है। इसी भाग मे सत रज्जब की भेंट के ३४ पद्य भी है। ४-लघु ग्र थ भाग चार मे १५ ग्र थ है। ५-छप्पय ग्र थ भाग पाच के ४० अगो मे ८९ छप्पय है। रज्जब वाणी मे रूपक और दृष्टात, युक्ति आदि की अत्यधिकता है। भाषा भी डिगल प्रयोग से युक्त है। इसके रूपक भी सर्व साधारण को समझ मे नही आते है। किन्तु इस अभाव की पूर्ति अब हो गई है। इस पर 'रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका' टीका प्रकाशित हो चुकी है। यह रज्जबवाणी के प्रत्येक पद का अर्थ समझाती है। अब यह सर्वोपयोगी हो गई है। सत रज्जब ने यद्यपि साधन रूप से तथा साधन के विघ्नो के निराकरण रूप से अनेक विषयो पर विचार किया है किन्तु उनका सिद्धात अद्वैत ही है। वे कहते है —"जीव ब्रह्म अतर इता, जिता जिता अज्ञान।" इससे सूचित होता है कि अज्ञान दशा मे माना हुआ भेद है, वास्तव मे तो जीव ब्रह्म एक ही है। इनकी वाणी पढते समय पद-पद पर अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। इनकी रचना से इनकी रचना-चातुर्यता और अद्भुत बुद्धि का परिचय मिलता है। यह वाणी उक्त टीका सहित केशव आर्ट प्रेस हाथी भाटा, अजमेर से मिलती है। यह १४६४ पृष्ठ का डिमाई सायज का सजिल्द पुस्तक है। अध्यात्म जिज्ञासुओ को अवश्य ऐसे अद्भुत ग्र थ से लाभ उठाना चाहिये।

४६—सत सुन्दरदास

सत प्रवर दादू के शिष्यो मे दो सुन्दरदास है। एक बडे ये बीकानेर नरेश के पुत्र थे। दूसरे छोटे सुन्दरदास है। वाणी छोटे सुन्दरदास की है, बडे की नही है। छोटे सुन्दरदास का जन्म दौसानगर (जयपुर

राज्य) मे वि स १६५३ कार्तिक शुक्ला अष्टमी सतगुण सागर' मे लिखा है किन्तु सुन्दर ग्र थावली के सपादक हरनारायण पुरोहित ने चैत्र शुक्ला नवमी को लिखा है। ये खडेलवाल वैश्य जाति के बूसर गोती परमानन्द चौखा के पुत्र थे। पूर्व जन्म मे ये सत दादू के ही जग्गा नामक शिष्य थे। जग्गा को आड बन्ध के लिये सूत की आवश्यकता थी। वे भिक्षा को गये तब एक सौकिया गोत के खडेलवाल वैश्य के घर पर बोले-" दे माई सूत, ले माई पूत।" घर की एक सती नामक बाई ने सूत देते हुये कहा-"लो बाबाजी सूत, दो बाबाजी पूत।" ये पुत्र होने का वर देकर सूत ले आये। सत दादू इस घटना को अपनी योग शक्ति से जान गये। जग्गा जब भिक्षा लेकर आये तब सत दादू ने कहा-"कहैगा सो वहैगा, हम पहले कहै पुकार।" अर्थात् तुम जिसके पुत्र नही होने वाला था, उसे पुत्र होने का वर दे आये हो, इससे अब तुम ही देह त्यागकर उसके पुत्र बनो। जग्गा ने कहा-"ठीक है, किन्तु पुन आपके ही चरणो मे आना चाहता हूँ।" सत दादू ने तथास्तु कह दिया। उक्त सती बाई का विवाह दौसा के परमानन्द चौखा से ही हुआ था। अत जग्गा उस बाई के गर्भ से सुन्दरदास के रूप मे जन्मकर लगभग ७ वर्ष की आयु मे सत दादू की शरण मे आ गये थे। एक वर्ष इनको सत दादू का सत्सग प्राप्त हुआ था। वि स १६६० ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी शनिवार को सत दादू ने देहत्याग के समय रज्जब और जगजीवन अपने दो शिष्यो को सकेत किया था "यह सुन्दरदास होनहार महापुरुष है, तुम इसका ध्यान रखना।" पश्चात् उक्त दोनो सतो ने काशी ले जाकर सुन्दरदास को पढाया। ये श्रेष्ठ विद्वान् और उच्च कोटि के सत हो गये है। ये अधिकतर जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रात के फतेहपुर नगर मे रहे है और देहत्याग साँगानेर के पास किया था। शरीर त्यागते समय इनने कहा था-"सात वर्ष सौ मे घटे, इतने दिन की देह। सुन्दर आत्म अमर है, देह खेह की खेह॥"

सुन्दरवाणी

सुन्दरदास की वाणी अति श्रेष्ठ अध्यात्म विषयो से परिपूर्ण है।

इन्होने अपनी वाणी मे—भक्ति, योग, साख्य, वेदान्त और हठ योग आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है। इनका मुख्य सिद्धान्त अद्वैतवाद ही था। अन्य सबको ये ज्ञान के साधन रूप मे मानते है। अपने गुरु के समान ये भी निर्गुण ब्रह्मवादी थे। इन्होने अधिकतर वेदान्त सम्बन्धी ही रचना की है और उन विषयो को भिन्न-भिन्न अगो मे बद्ध किया है। जैसे —स्वरूप विस्मरण, विचार, अक्षर विचार, आत्मानुभव, अद्वैत, ज्ञानी आदि। इनकी वाणी साहित्यिक सस्कारयुक्त ब्रज भाषा प्रधान है। और पूर्ण प्रसाद गुण सपन्न है। इनके ग्रथो को देखने से इनकी विद्वत्ता के परिचय के साथ २ इनके उच्चकोटि के कवि, योगी और महान् सतत्व का भी परिचय मिलता है। कही-कही तो इनकी वाणी मे सत दादू के पद्यो का अर्थ-सा प्रतीत होता है। जैसे दादू की साखी —"एक कहूँ तो दोय है, दोय कहू तो एक। यो दादू हैरान है, ज्यो है त्यो ही देख।" सवैया ग्रथ मे के आत्मानुभव अग २८, पद्य ६ मे सुन्दरदास मानो उक्त साखी का ही स्पष्टीकरण करते है। सवैया :—एक कहूँ तो अनेक सो दीसत, एक अनेक नही कुछ ऐसो। आदि कहू तिहि अत हु आवत, आदि न अत न मध्य सु कैसो। गौपि कहूँ तो अगौपि कहा वह, गौपि अगौपि न ऊभो न वैसो। जोइ कहूँ सोइ है नहि 'सुन्दर', है तो सही परि जैसे को तैसो॥ इनको वाणी आठ हजार मानी जाती है और ४२ ग्रथो मे है अर्थात् इन्होने ४२ ग्रथ रचे है। जयपुर के पुरोहित हरनारायण ने इनकी सपूर्ण वाणी का अच्छा सपादन किया था और राजस्थान रिसर्च सोसायटी ने जनवाणी प्रेस कलकत्ता से उसे प्रकाशित किया था किन्तु वह अब अप्राप्य है। इनके सवैया ग्रथ (सुन्दर विलास) का तो अच्छा प्रचार है। वह अनेक प्रेसो से प्रकाशित है। इनकी सरल, सुन्दर और विषय की दृष्टि से गभीर रचना देखकर सहसा आनन्द होता है।

४७—जगजीवन आदि

जगजीवन, काशी के महान् विद्वान् थे। दिग्विजय करते हूये आमेर आये और आमेर के पडितो को शास्त्रार्थ करने को कहा।

आमेर के पडित उनकी विद्वत्ता को देख कर बोले—"हमारे यहाँ सत दादू है, वहाँ पधारिये। वहाँ ही हार जीत का निर्णय हो जायगा। पडितो के साथ जगजीवन सत दादू के पास गये और बहुत से प्रश्न कर डाले। सत दादू ने प्रश्नो के उत्तर न देकर कहा—"पडित राम मिले सो कीजे, पढ पढ वेद पुराण बखाने, सोइ तत्त्व कह दीजे ०।" यह भजन सुनकर जगजीवन सत दादू के ही शिष्य हो गये और आगे चलकर महान् सत तथा वाणीकार हुये। इनका आश्रम जयपुर राज्य के दौसा नगर की टहलडी पहाडी पर है। इनकी परम सुन्दर ११ हजार वाणी है किन्तु अप्रकाशित है। और गरीबदास, जगन्नाथ, बखना, माधवदास, सतदास, टीला, प्रयागदास आदि सत दादू के बावन शिष्यो मे बहुत-से वाणीकार हुये है और अन्य सौ शिष्यो मे भी बाजीद जैसे उच्च कोटि के कवि ग्र थकार हुये है तथा पौत्र शिष्यो मे—भीखजन, बालकराम, चतुरदास आदि अनेक ग्र थकार हुये। आगे परम्परा मे भी हरिदास, मगलदास, स्वरूपदास आदि बहुत-से ग्र थकार हुये है। उन सबका यहाँ परिचय देना सभव नही है। वे सब अद्वैतवादी थे। यही यहाँ बताना है। यह प्रसिद्ध ही है-जिस समाज के आचार्य का सिद्धान्त होता है, वही समाज मे आगे होने वाले ग्र थकारो का होता है। अत दादू पथ के ग्र थकार अनेक विषयो का प्रतिपादन करते हुये भी सिद्धान्त से अद्वैतवादी ही रहे है। दादू पथ मे खोज करने पर लगभग सौ ग्र थकार निकल सकते है। यह अवकाश मिलने पर अन्य ग्र थ के द्वारा दिखाया जाने का विचार है। तो भी एक महानुभाव महान् दार्शनिक का परिचय दिये बिना नही रहा जाता है, वे थे — पडित प्रवर निश्चलदास।

४८—पडित प्रवर निश्चलदास

पण्डित प्रवर निश्चलदासजी का जन्म पजाब प्रान्त के धणाना नामक ग्राम वि० स० १८४९ श्रावण कृष्णा ८ (श्री कृष्ण जन्माष्टमी) को जाट जाति मे हुआ था। इनके पिता का नाम मुक्तजी था। ये अत्यधिक अर्थ सकट मे थे। जब मुक्तजी की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया, तब

बालक निश्चलदास को लेकर उदरपूर्ति के लिये घूमते घूमते देहली में एक दादूपथियो के स्थान मे पहुँच गये। उस स्थान के अधिष्ठाता उस समय महात्मा अमरदास थे। मुक्तजी ने अपने पुत्र निश्चलदास को अमरदास के चरणो मे रख कर दीक्षा देने की प्रार्थना की। महात्मा अमरदास ने दीक्षा दे दी। फिर निश्चलदास विद्याभ्यास करने लगे। चौदह वर्ष की आयु तक गुरु स्थान मे विद्याभ्यास और गुरु की सेवा करते रहे। इसी समय निश्चलदास के ग्राम धणाना के निवासी स्वरूपानन्द नामक परमहस के साथ इनका सयोग हुआ और दोनो मे प्रेम भी हो गया। देहली मे अधिक विद्या अभ्यास की योग्यता न देखकर दोनो काशी चले गये। वहा निखिल शास्त्र निष्णात विशुद्धानन्द के आश्रम मे शास्त्र श्रवण करने जाने लगे। वहा इनका कुछ विद्वानो से परिचय हो गया। फिर इन्होने आत्म पुराण के टीकाकार पण्डितवर्य काकाराम से अध्ययन आरम्भ कर दिया। काकाराम के पास अनेक शिष्य पढते थे। उनके यहा षट् शास्त्रो का पाठ चलता था। निश्चलदास सब शास्त्रो का पाठ सुनते थे। इस प्रकार निश्चलदास सर्वशास्त्र पारगत हो गये थे।

एक दिन एक विद्वानो की सभा मे एक ऐसा कठिन प्रसग आ गया था। उसका समाधान करने मे कोई भी पडित समर्थ नही हुआ। तब पडित प्रवर निश्चलदास ने पडितो से आज्ञा लेकर उसका शास्त्र समत समाधान कर दिया था। उसे सुनकर सब आश्चर्यचकित होकर काकाराम के शिष्य निश्चलदास की विद्वत्ता पर काकाराम की बहुत प्रशसा की। आपने षट् शास्त्रो का अध्ययन किया था, परतु परम पुरुषार्थ प्रदाता वेदात पर ही आपकी गाढ प्रीति थी। काशी से आप फिर गुरुद्वारे आकर उपदेश करने लगे, इनकी ख्याति हो चुकी थी। अत: बू दी नरेश रामसिह आपको अति श्रद्धापूर्वक बू दी ले आये। कुछ समय मे रामसिह भी आपके सत्सग से विद्वानो मे गिने जाने लगे। बू दी नरेश आदि के प्रार्थना पर ही आपने 'युक्तिप्रकाश' 'विचारसागर' 'वृत्तिप्रभाकर' ये तीन ग्र थ हिन्दी भाषा मे लिखे थे। १—'युक्तिप्रकाश'-

इस ग्र थ मे ३६ युक्तियो (दृष्टान्तो) से वेदान्त के ३६ विषयो को श्रुति, स्मृति और अन्य प्रामाणिक वेदान्त ग्रथो के वचनो द्वारा अति सुगम रीति से समझाने का यत्न किया है। यह ग्र थ सर्वसाधारण की वेदात मे प्रवृत्ति कराने के लिये अति उपयोगी है।

आपका दूसरा ग्र थ 'विचार-सागर' तो अतिप्रतिष्ठा प्राप्त ग्र थ है। हिन्दी भाषा मे यही एक ऐसा ग्र थ है, जिसमे अद्वैत वेदात की प्रक्रिया अति उत्तम पद्धति से मिलती है। इस ग्र थ मे सात तरग है। प्रथम और द्वितीय मे अति सुन्दर पद्धति से अनुबन्ध का निरूपण है। तृतीय मे गुरु शिष्य निरूपण है। चौथे मे उत्तम अधिकारी उपदेश निरूपण है। पचम मे मध्यम अधिकारी साधन निरूपण है। छठे मे गुरु वेदादि साधन मिथ्या वर्णन (कनिष्ठ अधिकारी को उपदेश) है। सप्तम मे जीवन्मुक्ति, विदेह मुक्ति वर्णन है। इस ग्र थ मे मुमुक्षु को उपयोगी सभी विषय सतोपप्रद प्राप्त होते है। इस ग्र थ की महिमा अतिप्रख्यात है। वर्तमान समय मे हिन्दी भाषा मे अद्वैत वेदान्त का मुख्य ग्र थ यही है। हिन्दी भाषा भाषी अध्यात्म जिज्ञासुओ की जिज्ञासापूर्ति का साधन यह ग्र थ ही देखने मे आता है। इसके श्रवण मनन से मुमुक्षु को परमशाति अवश्य प्राप्त होती है। विचार सागर किहडौली ग्राम मे पूर्ण हुआ था, यह ग्राम देहली से पश्चिम की ओर १८ कोस पर स्थित है। वहा भी आपका स्थान है। आप महान विरक्त थे। इस ग्राम मे एक कच्ची खपरेल की कुटिया मे आप रहते थे। वि० स० १९८४ हरिद्वार का कु भ मेला करके मै किहडौली गया था। तब स्थान के साधुओ ने उक्त कुटिया का दर्शन मुझे कराया था। महान् विरक्त त्रिलोकराम उदासीन जैसे महात्मा आप से अद्वैत वेदान्त का अध्ययन करते थे। आपके ग्र थो का विशेषरूप से प्रचार भी त्रिलोकराम आदि उदासीन सतो ने किया था।

तीसरा ग्र थ आपका 'वृत्तिप्रभाकर' है—वृत्तिप्रभाकर मे अष्ट प्रकाश हैं। प्रथम से छठे प्रकाश तक अनुक्रम से षट् प्रमाणो का अच्छी प्रकार वर्णन किया है। सप्तम प्रकाश मे वृत्ति भेद, अनिर्वचनीय ख्याति-

मडन, अन्य ख्याति खडन और स्वत प्रमात्व प्रमाण निरूपण किया है। इस प्रकाश मे उक्त विषयो पर ८४ अको मे विशदरूप से विचार किया है। अष्टमप्रकाश मे—जीवेश्वर स्वरूप वृत्तिप्रयोजन सहित कल्पित निवृत्ति स्वरूप निरूपण किया है। इस प्रकाश मे १७२ अको द्वारा उक्त विषयो का वेदान्त के उच्चकोटि के ग्र थो के मतो को दिखाते हुये बडे मार्मिक ढग से विचार किया है। इस ग्र थ मे अनेक ग्र थकारो की कमियो का प्रदर्शन करते हुये उनकी समालोचना द्वारा शाकर वेदान्त (अद्वैतवाद) को सिद्ध किया है। यह खडन मडनात्मक ग्र थ विद्वानो के देखने योग्य है। इसके विचार से विद्वानो को भी लाभ मिलता है। सर्वसाधारण तो इसको गुरु बिना समझ सकता ही नही। विद्वानो के द्वारा इस ग्र थ मे प्रवेश हो सकता है। यह ग्र थ आपकी विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। इस ग्र थ के विषय मे कुछ लिखकर इसका परिचय देना तो दीपक द्वारा सूर्य को दिखाने के समान ही है। हिन्दी भाषा मे तो ऐसा ग्र थ यह एक ही है। कहा भी है —कवित- "वृत्ति-प्रभाकर ग्र थ रच्यो है ललित पथ, अतिशय बुध स्वामी निश्चल अनूप ही। अष्ट है प्रकाश भ्रम तम को करत नाश, आवरि सुभाव होत आनन्द स्वरूप ही॥ सूरदास तुलसीदास केशवदास आदि भले, छदन के रचबे मे भये कवि भूप ही। याहि के समान भाषा ग्र थन मे अर्थ नाहि, जासु के मनन करे मिटे भवकूप ही॥" आप महान् दार्शनिक होते हुये उच्चकोटि के कवि और साहित्यज्ञ भी थे। यह आपके 'विचारसागर' ग्र थ की कविता से ज्ञात होता है। आपकी कविता भी प्रसाद गुण सम्पन्न और अति गभीर है। अन्य ग्र थ भी आपके सुनने मे आते है —
१—कठवल्ली उपनिषद् पर सस्कृत भाषा मे व्याख्या। २—केन उपनिषद् पर सस्कृत् भाषा मे व्याख्या ३—एक आयुर्वेद सबन्धी ग्र थ तथा एक नीलकठ सूरि कृत 'भारत भावदीप' (नील-कठी) महाभारत की सस्कृत टीका पर जहा २ वेदात के प्रसग थे वहा २ आपने टिप्पणी की थी। किंतु आपके ब्रह्मलीन होने के पश्चात् इनके स्थान के साधु से उसे देखने के लिये एक पण्डित ले गये थे। उसे देख कर ईर्ष्यावश टिप्पणी स्थानो पर गोद लगाकर पत्र चिपका दिये और

पुस्तक साधु को दे गये । चिरकाल पश्चात किसी अन्य विद्वान् ने देखा तब ज्ञात हुआ। इस प्रकार वह टिप्पणी नष्ट हो गई। ऐसा वृद्ध सतो से सुना गया है। इस प्रकार आपने दर्शन शास्त्र सबन्धी महान् सेवा की है। आपके विषय मे यह प्रसिद्ध है, आपने २७ लक्ष श्लोको का सग्रह करके उक्त ग्रन्थ रचे थे। ऐसे विद्वान् होकर आपने भाषा ग्रन्थ क्यो रचे ? सस्कृत मे रचना था। इस प्रश्न का उत्तर आपने 'विचार-सागर' ग्रन्थ के अत मे इस प्रकार दिया है —"साख्य न्याय मे श्रम कियो, पढ व्याकरण अशेष । पढे ग्रन्थ अद्वैत के, रह्यो न एक हु शेष ॥१॥ कठिन जु और निबन्ध है, जिनमे मत के भेद। श्रमतै अवगाहन किये, निश्चलदास सवेद ॥२॥ तिन ये भाषा ग्रन्थ किये, रच न उपजी लाज। ता मे यह इक हेतु है, दया धर्म शिरताज ॥३॥ बिन व्याकरण न पढ सके, ग्रन्थ सस्कृत मन्द । पढै याहि अनयास ही, लहै सु परमानन्द ॥४॥ इस प्रकार आप लोक कल्याण का महान् कार्य करके अपने स्थान देहली मे वि० स० १६२० श्रावण कृष्णा ३० मध्यान्होत्तर ७० वर्ष की आयु मे जीर्ण वस्त्रवत् नश्वर देह को त्यागकर ब्रह्मलीन हुये थे।

४६—कृष्णराम दादूपथी

कृष्णराम (कनिराम) जी ये सिद्ध सत स्वामी रामस्वरूपजी सीहा (गुडगॉव) के शिष्य थे और भिवाणी मे रहा करते थे। इनका रचनाकाल २० वी शताब्दी का मध्य है। ये अच्छे विद्वान् सत थे। इनकी रचनाये—१—'वेदानुबन्धविवेक' वेदान्त का अच्छा ग्रथ है। यह मूल भाषा पद्यो मे है और इसकी टीका भी स्वय ने ही लिखी है। टीका श्रुतियो से परिपूर्ण है। इस ग्रथ मे चार अनुबन्ध है। अत मे इन्होने इस ग्रथ को "सर्व वेदान्त सार सग्रह" लिखा है। लिखने का समय वि० स० १९५६ फाल्गुन सुदि अष्टमी गुरुवार दिया है। २—श्रीमद्भगवतगीता की "ज्ञान प्रभाकर" हिन्दी टीका। यह दूसरे अध्याय के २८ वें श्लोक तक की श्रीदादू महाविद्यालय मोती डूगरी जयपुर मे मेरे देखने मे आई है, शेष का पता नही है। यह अति सुन्दर विद्वत्ता-पूर्ण और विस्तार से लिखी गई है। इसमे श्रुति श्लोकादि अति मात्रा

मे है। इसके देखने से रामकृष्णजी की विद्वत्ता का अनुमान हो जाता है। ३—श्रीमद्‌भगवतगीता की-"गीतार्थ प्रबोधिनी" हिन्दी टीका यह भी अतिसुन्दर है। ४—वेदान्त मुक्तावली की—"सिद्धान्त प्रदीपिका भाषा टीका"। ५—वेद मत्रो की हिन्दी व्याख्या। ६—दादूवाणी के गुरुमत्र (अविचल मत्र) की टीका। ७—श्रीदादूवाणी के 'काया वेली' ग्रथ की टीका। ८-'छदो रत्नाकर' यह छद विषय का अच्छा ग्र थ है। इस प्रकार कृष्णरामजी के उक्त ८ ग्र थ मेरे देखने मे आये है। और भी कोई हो तो ज्ञात नही है।

५० स्वामी मुक्तराम दादूपथी

स्वामी मुक्तराम (मोतीराम) जी स्वामी गोविन्दानन्दजी के शिष्य थे। ये बेगमपुरा खागढशेरी, सूरत गुजरात मे रहा करते थे। ये अच्छे विद्वान् सन थे। इन्होने "मुमुक्षुसार" नामक वेदान्त का ग्र थ लिखा है। वह ग्र थ पाच अध्यायो मे है। प्रथम अध्याय मे अन्त करण की शुद्धि का कारण तथा ज्ञान प्राप्ति के कारण का वर्णन है। द्वितीय अध्याय मे विवेकादि साधनो का निरूपण है। तृतीय अध्याय मे सन्यास रूप साधन का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय मे मुक्ति सहित ज्ञान का निरूपण है अर्थात् ज्ञान और मुक्ति का वर्णन है। पचम अध्याय मे वेदान्त सिद्धान्त का निरूपण है। इसमे मुमुक्षु के उपयोगी सार तत्त्व का निरूपण होने से इस ग्र थ का नाम 'मुमुक्षुसार' रखा गया है। मुमुक्षु के उपयोगी विषयो का इसमे अच्छा निरूपण है। यह गुजराती प्रिटिग प्रेस मु बई मे छपा था। छपने का समय वि० स० १९६४ दिया है। मुक्तरामजी की दूसरी रचना—वेदान्त परिभाषा की भाषा टीका है। वेदान्तपरिभाषा धर्मराज की रचित है। इस टीका का नाम—'वेदान्तपरिभाषा गूढार्थ 'प्रकाशिका' है। वेदान्त परिभाषा वेदान्त का अच्छा ग्र थ है। उसकी टीका भी अच्छा विद्वान् ही कर सकता है, इससे ही ज्ञात होता है, मुक्तरामजी अच्छे विद्वान् थे। मैंने इनके दो ही ग्र थ देखे है। अन्य ग्र थ है या नही है, यह ज्ञात नही है। यह ग्र थ भी सत्य

विजय प्रिटिंग प्रेस मु बई मे छपा हुआ है। इनका लेखन समय विक्रम की २० वी शताब्दी का मध्य ही है।

५१—निर्मलसत गुलाबसिह

निर्मलसत गुलाबसिह सत मानसिह जी के शिष्य थे। ये कुरुक्षेत्र मे प्राची सरस्वती के तट पर कुबेर कूप के पास रहा करते थे। सत गुलाबसिह अद्व ैतवादी थे। इनके चार ग्र थ है —१-मोक्ष पथप्रकाश-यह अद्व ैतवाद का हिन्दी भाषा मे अच्छा ग्र थ है। इसमे पाच निवास है। प्रथम निवास मे कारणवाद अर्थात् तत्पद का निरूपण है। द्वितीय मे आत्मवाद अर्थात् त्वपद का निरूपण है। तृतीय मे महा-वाक्य अर्थ निर्णय है। चौथे मे जीवन्मुक्ति निर्णय है और पचम निवास मे विदेह मुक्ति निर्णय है। दूसरा ग्र थ-अध्यात्म रामायण का पद्यानुवाद है। यह गुरुमुखी मे छपा था। तीसरा ग्र थ कृष्ण मिश्र-यतिकृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का पद्यानुवाद है और चौथा-भाव-रसामृत है इसमे अपने भाव पद्यो मे प्रदर्शित किये है। किन्तु इनके ग्र थो का भी आजकल प्रचार कम हो गया है।

५२—चिद्घनानन्द सरस्वती

स्वामी चिद्घनानन्द सरस्वती के चार ग्र थ है —१-न्यायप्रकाश, २-श्री मद्भगवतगीता की गूढार्थदीपिका टीका। यह शकरानन्दी और मधुसूदनी दोनो टीकाओ को मिलाकर की है। ३-आचार्य शकरानन्द कृत आत्म पुराण की पडित काकाराम कृत सस्कृत टीका है। उन दोनो को मिलाकर आपने हिन्दी भाषा मे आत्म पुराण लिखा है। यह भी अद्व ैतवाद का अच्छा ग्र थ है। ४-महादेव सरस्वती कृत 'तत्त्वानुसधान' और स्वय महादेव सरस्वती कृत 'अद्व ैत चिन्ता कौस्तुभ' नाम की टीका भी है। उन को मिलाकर चिद्घनानन्द सरस्वती ने हिन्दी भाषा मे कर दिया है। इस ग्र थ के चार परिच्छेद है। यह भी अद्व ैतवाद का अच्छा ग्र थ है। इसी प्रकार आपका न्यायप्रकाश भी किसी सस्कृत ग्र थ की भाषा ही होगा। कारण ? आपने पूर्व आचार्यो कृत सस्कृत ग्र थो की ही हिन्दी भाषाभाषियो के उपकारार्थ हिन्दी

की है। इस कार्य से आपने हिन्दी भाषा भाषी मुमुक्षुओ का अच्छा हित किया है। सत सर्व हितैषी होते ही है।

५३-पडित पीताम्बर

पडित पीताम्बर कच्छ देश के मज्जल गाम के पडित पुरुषोत्तम जी के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म सवत् १९०३ ज्येष्ठ शुक्ल १० रूप गगा जयती के दिन हुआ था। ये बापू महाराज के शिष्य थे। इन्होने पचदशी की हिन्दी भाषा मे टीका, विचारसागर पर टिप्पणी, सुन्दर विलास के विपर्यय अग की टीका, विचारचन्द्रोदय, वृत्तिरत्नावली (वृत्तिप्रभाकर का सार), अष्ट उपनिषदो की शाकर भाष्यानुसारी हिन्दी टीका, आदि अनेक ग्र थ लिखे है। हिन्दी भाषा भाषी मुमुक्षुओ का आपने भी अच्छा उपकार किया है।

प्रश्न —यद्यपि आपने अद्वैतवाद सबन्धी अनेक ग्र थ और अनेक ग्र थकारो का परिचय दिया है, तथापि १—द्वैतवाद=स्वतत्रास्वतत्र-वाद के आचार्य मध्व, २—विशिष्टाद्वैतवाद (वैष्णव) के आचार्य रामानुज। ३—विशिष्टाद्वैतवाद (शैव) के आचार्य श्रीकठ। ४—द्वैताद्वैतवाद के आचार्य निम्बार्क। ५—शुद्धाद्वैतवाद के आचार्य वल्लभ। ६—अचिन्त्य भेदाभेदवाद के आचार्य चैतन्य महाप्रभु आदि ने तो अद्वैत न मानकर खडन किया है। यदि अद्वैतवाद ध्रुव सत्य सिद्धात होता तो उक्त आचार्य अद्वैतवाद का खडन करके अपने २ मत को सिद्ध करने का यत्न क्यो करते ? उत्तर :—उक्त महानुभावो ने अद्वैतवाद का खडन नही किया है, किन्तु अधिकारियो के समान उपदेश किया है। जिस आचार्य के समय मे जैसे अधिकारी अधिक थे, उनका ध्यान रखते हुये उनको अद्वैत की ओर बढाने के लिये, उनकी वर्तमान स्थिति से आगे बढाने का काम किया है। जैसे पृथ्वी मे पडे हुये बीज को प्रकृति जल द्वारा आकाश की ओर प्रवृत्त करती है अर्थात् जैसे जल के द्वारा बीज से अकुर निकलकर वह आकाश की ओर जाता है, वैसे उक्त आचार्यों के उपदेशो

से प्रेरित होकर अनेक नास्तिक और पामर प्राणी भगवत् के सन्मुख होते है। भक्ति द्वारा शुद्ध और स्थिर अन्त करण हो जाने से सगुण ब्रह्म को ममझने की सामर्थ्य होती है। तब ही तो अद्वैत ब्रह्म (निर्गुणब्रह्म) को जानने का अर्थात् अद्वैत सिद्धान्त को समझकर धारण करने का अधिकारी होना है। अत उक्त आचार्यो ने अद्वैत सिद्धान्त को समझने योग्य अधिकारी तैयार करने का काम किया है। श्रुति सिद्ध सिद्धान्त का खडन तो हो ही कैसे सकता है। दूसरे यह भी बात है, खडन द्वारा भी सिद्धान्त का प्रचार होता है। अत उक्त आचार्यो ने इस दृष्टि से कि अद्वैत का मडनात्मक प्रचार तो अत्यधिक हो चुका है। अब हम खडन करेंगे तो भविष्य मे होने वाले विद्वान् हमारे सिद्धान्त का खडन करके अद्वैत को सिद्ध करेंगे, उससे अद्वैतवाद की और पुष्टि होगी। हुआ भी ऐसा ही। उनके सिद्धान्तो को खडन करके अनेक आचार्यों ने अद्वैतवाद का प्रबल समर्थन किया है। अत उक्त आचायो के गभीर भावो को न जानकर हम उनको अद्वैत के द्वेषी मान बैठते है। यह हमारे ही विचारो को कमी कही जा सकती है।

यदि उक्त आचार्यो की दृष्टि खडन की हो तो, उक्त मतो के सभी आचार्यो ने उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता, अद्वैत वेदान्त के तीनो प्रस्थानो को प्रमाणरूप मानकर ही अद्वैतवाद का खडन किया है और अपने-अपने मत-श्रुति, ब्रह्मसूत्र और गीता से सिद्ध किये है। यदि खडन को दृष्टि हो तो, उक्त आचार्यो के मत भी परस्पर एक दूसरे आचार्य के मत से खडित हो जाते है। कोई भी मत सत्यसिद्ध नहीं होगा। अत उक्त आचार्यो ने अधिकार भेद से उपदेश किया है, ऐसा मानने से ही सबके सिद्धान्त सगतसिद्ध हो सकते है। प्रस्थानत्रय मे भी अधिकार भेद से उपदेश है। उसी का अनुकरण उक्त आचार्यो ने किया है। और प्रत्येक अधिकारी उन्नति की दृष्टि से अद्वैत की ओर ही जाता है। यह उक्त आचार्यों के मत भी सिद्ध करते है। कैसे ? जैसे द्वैत से आगे द्वैताद्वैत बढा है। उससे आगे विशिष्टाद्वैत बढा है और उससे आगे शुद्धाद्वैत बढा है। ऐसे ही उक्त आचार्यों ने अधिकारियो को आगे

बढाया है। शुद्धाद्वैत के पश्चात् अद्वैत आप ही सिद्ध होता है। अद्वैत-वाद भी तो उपाधि भेद मानता है। उपाधिरूप अशुद्धि हटते ही अद्वैत स्वत सिद्ध है।

इससे यह सिद्ध होता है —प्रत्येक प्राचीन आचार्य और उनके शास्त्र तथा अर्वाचीन आचार्य और उनके ग्र थो का सारग्राहक दृष्टि से विचार करने पर परपरारूप से वा साक्षात्रूप से सर्व का अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान कराने मे ही तात्पर्य है। प्रकृति का भी यही नियम ज्ञात होता है। वह भी साकार पृथ्वी से बीज को निराकार आकाश की ओर प्रेरित करती है, वैसे ही प्रकृति के कार्य ससार की प्रत्येक वस्तु भी हमे अद्वैत ब्रह्म को प्राप्त करने की शिक्षा देती है। इस बात की साक्षी दत्तात्रेय आदि साधको का जीवन वृत्तात देता है किन्तु हम प्रमादवश उनसे शिक्षा ग्रहण करने मे समर्थ नही होते है। इसी से अपने मूल अद्वैत ब्रह्म से भिन्न जैसे प्रतीत होते है। अद्वैतब्रह्म ही सर्व विश्व का मूल है। अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान द्वारा ही भ्रम का नाश करके प्राणी मुक्ति को प्राप्त होता है। इसमे सशय को कुछ भी अवकाश नही है।

प्रश्न —आप अद्वैतवाद से भिन्न सिद्धान्तवादियो को भी अद्वैत-वाद के पोषक ही बना रहे है तथा उन्होने भी वेदान्त के प्रस्थानत्रय पर भाष्य रचे है और हृदय मे अद्वैत का समादर भी करते है। तभी तो अपने सिद्धान्तो के नामकरण मे अद्वैत शब्द को स्थान दिया है। जैसे–विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि मे अद्वैत शब्द का प्रवेश है। अत उनके भाष्यादि का भी सक्षिप्त परिचय देने की कृपा करे ?

द्वैतवाद

अच्छा सुनो —द्वैतवाद के मुख्य आचार्य मध्वाचार्य है। इन्होने ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीताभाष्य, ऋगभाष्य, दषोपनिषद् भाष्य आदि अनेक ग्र थ रचे है। इनने ब्रह्मसूत्र आदि पर भाष्य लिखकर द्वैतवाद को सिद्ध करने की चेष्टा की है। स्वतत्र और अस्वतत्र ये दो तत्त्व इनके मत

मे है। सम्पूर्ण शुभगुण सम्पन्न विष्णु स्वतत्र तत्त्व है और इनर सब अस्वतत्र है। स्वतत्र ईश्वर और जीव का परस्पर भेद ज्ञात हो जाने पर मुमुक्षु सासारिक कष्ट से मुक्त हो जाता है और दु खरहित आनन्द का उपभोग करता हुआ वैकु ठ मे विष्णु के पास प्रमोद प्राप्त करता है। यही इनके मत की मुक्ति है । जीवन्मुक्ति, निर्वाण मुक्ति को ये केवल बातमात्र ही मानते है। ये जीवाणुवादी है। इनके मत को पूर्ण प्रज्ञदर्शन वा मध्वमत भी कहते है।

प्रश्न —द्वैत तो बिना सिद्ध किये भी प्रथम ही सिद्ध है। सभी अज्ञानी प्राणी द्वैतप्रपच मे बुद्धि लगाये हुये हैं। उसको सिद्ध करने का इतना परिश्रम मध्वाचार्य ने क्यो किया था ? उत्तर .—मध्वाचार्य ने स्वय प्रथम वेदान्त का अध्ययन किया था। उसी समय उन्होंने अपने हृदय मे निश्चय किया होगा—इस रहस्यमय सूक्ष्म अद्वैत सिद्धान्त मे नास्तिक और पामर प्राणी प्रवृत्त नही हो सकेंगे और उनके उद्धार का कार्य अवश्य करना चाहिये। यह विचार करके ही उन्होंने अद्वैत-वाद का खडन किया था। इससे उनका द्वैतसिद्धि मे तात्पर्य नही है, किन्तु जो बहिर्मुख होने से अद्वैत को नही समझ सकते है, उन नास्तिक और पामरो को नास्तिकता और पामरता से हटाकर विष्णु की भक्ति मे लगाना उनका तात्पर्य है। इसमे वे सफल भी हुये है। विष्णु भक्ति से अन्त.करण के मल और विक्षेपदोष की निवृत्ति होती है, तब अन्त करण शुद्ध और स्थिर होता है। उस शुद्ध और स्थिर अन्तःकरण मे ही ज्ञान होकर अज्ञान की निवृत्ति होती है। अत मध्वाचार्य ने अधिकार के अनुसार उपदेश देकर अद्वैतज्ञान के योग्य अधिकारी बनाने का ही प्रयत्न किया है। द्वेषपूर्वक अद्वैत खडन मे उनका तात्पर्य हो ही नही सकता। क्यो ? महात्मा पुरुषो का द्वेष किसी से भी नही हो सकता है। यह नियम ही है। यदि उनमे भी द्वेष हुआ तो फिर सर्वसाधारण से उनमे विशेषता ही क्या है ? इससे महापुरुषो का तात्पर्य समझने का यत्न अवश्य करना चाहिये। उनके बाहर के व्यवहार से ही कोई निर्णय नहीं करना चाहिये।

द्वैताद्वैतवाद

द्वैताद्वैतवाद एक प्रकार से भेदाभेदवाद ही है। इसके प्रधान आचार्य निम्बार्क है। निम्बार्काचार्य का एक ग्रथ 'वेदान्तपारिजात सौरभ' मिलता है। यह वेदान्तसूत्र की व्याख्या है। यह ग्रथ अत्यन्त सक्षिप्त है। इसके अतिरिक्त इन्होने कृष्णस्तवराज, गुरु परम्परा, वेदान्त तत्त्व बोध, वेदान्त सिद्धान्तप्रदीप, आदि कई ग्रथो की रचना की थी। मत —आचार्य निम्बार्क के मतानुसार ब्रह्म, जीव और जड अर्थात् चेतन और अचेतन अत्यन्त पृथक् और अपृथक् है। इस पृथक्त्व और अपृथक्त्व के ऊपर ही उनका दर्शन निर्भर करता है। जीव और जगत् दोनो ब्रह्म के परिणाम है। जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न और अभिन्न है। जगत भी उसी प्रकार भिन्न और अभिन्न है। द्वैताद्वैतवाद का यही सार है। इस सप्रदाय की एक विशेषता यह है- इसके आचार्यो ने अन्य मतो के आचार्यो के समान दूसरे मतो का खडन नही किया है। केवल देवाचार्य के ग्रथ मे शाकरमत पर आक्षेप देखा जाता है। निम्बार्काचार्य ने भी अधिकारानुसार ही उपदेश दिया है। अचिन्त्यभेदाभेद —इस मत के आचार्य चैतन्य महाप्रभु है। उन्होने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य तो नही लिखा है। वे श्रीमद्‌भागवत को ही ब्रह्म-सूत्र का भाष्य मानते थे। महाप्रभु का इस मत सबन्धी कोई ग्रथ भी नही है। रूप, सनातन और जीव गोस्वामी ने इस मत सबन्धी कुछ ग्रथ लिखे थे। आगे चलकर १८ वी शताब्दी मे आचार्य बलदेव भूषण ने ब्रह्मसूत्र पर 'गोविन्दभाष्य' की रचना की और उसमे अचिन्त्यभेदाभेदवाद की व्याख्या की है। यह मत भी निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत के समान ही है।

विशिष्टाद्वैतवाद

विशिष्टाद्वैतवाद भी प्राचीन है। ब्रह्मसूत्र मे आचार्य आश्मरथ्य का नाम मिलता है। वे विशिष्टाद्वैतवादी थे। ईसवी सन् की पाचवी शताब्दी मे आचार्य श्रीकण्ठ ने ब्रह्मसूत्र की शिवपरक व्याख्या करके विशिष्टाद्वैतवाद का विशेष रूप से प्रचार किया था। आचार्य भास्कर

ने भी अपने भेदाभेदवाद के द्वारा एक प्रकार से विशिष्टाद्वैतवाद को ही पुष्ट किया था। पाचरात्र मत भी एक प्रकार से विशिष्टाद्वैत ही है। पाचरात्र का उल्लेख महाभारत मे भी है। परतु ब्रह्मसूत्र की विष्णु-परक व्याख्या नये ढग से ईसवी सन् की दशवी शताब्दी से ही आरभ हुई। यामुनाचार्य ने विशिष्टाद्वैत को नया आलोक प्रदान किया। ११वी शताब्दी मे रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का प्रचड प्रचार किया। उससे विशिष्टाद्वैत मत का नाम ही रामानुज मत पड गया। "विशिष्टाद्वैत" मे विशिष्ट ओर अद्वैत दो शब्द है। विशिष्ट अर्थात् चेतन और अचेतन विशिष्ट ब्रह्म, अद्वैत अर्थात् अभेद वा एकत्व। अतएव चेतनाचेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म के अभेद वा एकत्व का निरूपण करने वाले सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत है। आचार्य रामानुज ने अपने मत की पुष्टि और प्रचार के लिये ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य की तथा गीताभाष्य की रचना की। और भी इनके अनेक ग्रथ है। विशिष्टाद्वैत ने मुक्ति के अधिकारी को द्वैतवाद और द्वैताद्वैत से आगे बढाकर अद्वैत के समीप पहुँचाया है। प्रश्न :—रामानुजाचार्य ने तो अद्वैतवाद शांकर सिद्धान्त का विशेषरूप से खण्डन किया है और आप कहते है अधिकारी को अद्वैत के समीप पहुँचाया है, यह कैसे? उत्तर :—उनका खण्डन मे तात्पर्य नही है, अधिकार भेद से उपदेश देने मे तात्पर्य है। महापुरुष जैसा जैसा अधिकारी देखते है, वैसा ही उपदेश देते है। जो अद्वैत के योग्य अधिकारी नही थे, द्वैत वा द्वैताद्वैत मे ही आग्रह करके स्थित थे, उनको रामानुजाचार्य ने अद्वैत की ओर आगे बढाया है। नास्तिक और पामरो को मध्वाचार्य ने आस्तिकता रूप सोपान पर स्थित किया है। निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत बताकर दूसरे सोपान पर स्थित किया है। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत बताकर तीसरे सोपान पर अधिकारी को स्थित किया है। इस प्रकार अद्वैतवाद के समीप पहुँचाया है।

शुद्धाद्वैत

शुद्धाद्वैत रुद्र सम्प्रदाय कहलाता है। इसका उपदेश रुद्र ने बाल-

खिल्य ऋषियो को दिया था। वही परम्परा से विष्णुस्वामी को प्राप्त हुआ था। विष्णु स्वामी ने ही वेदान्त पर भाष्य रचकर शुद्धाद्वैत का प्रचार किया था। उनकी परम्परा मे आगे वल्लभाचार्य हुये। वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर अणु भाष्य की रचना की, उसमे अपना मत प्रकट किया। भागवत की सुबोधिनी नामक व्याख्या भी उन्होने लिखी और भी कई ग्रन्थ लिखे। इन्होने ब्रह्म को निर्गुण और निर्विशेष माना है। जीवात्मा और परमात्मा दोनो शुद्ध है। इसी से इस मत का नाम शुद्धाद्वैत है। प्रीतिमार्ग को ही उत्कृष्ट मानते है। ये मानते है — अविद्या के कारण ही जीव को दुख होता है, इसलिये ब्रह्म प्राप्ति ही पुरुषार्थ है। इससे इन्होने विशिष्टाद्वैत से भी आगे अद्वैतवाद के समीप अधिकारी को पहुँचाया है। कैसे ? अद्वैतवाद भी जीव और परमात्मा को शुद्ध मानता है और अविद्या द्वारा भ्राति से दुख प्रतीत होता है। भ्राति दूर होने पर अविद्यारूप मल हटते ही शुद्धात्मा का शुद्ध ब्रह्म से अभेद सिद्ध होता है। अत उक्त चारो आचार्यो ने अधिकार भेद से भिन्न भिन्न उपदेशो द्वारा अधिकारी को परब्रह्म की ओर बढाकर अद्वैतवाद के सिद्धान्त के समीप पहुँचाने का कार्य किया है। इससे सिद्ध होता है, उनके साधन मार्ग चाहे भिन्न भासते हो किन्तु वे जाते अद्वैत ब्रह्मरूप धाम को ही है। इस प्रकार मानने से ही सब के सिद्धात उचित ठहरते है। अन्यथा खण्डन मे तात्पर्य माना जाय तो परस्पर सभी सिद्धान्त एक दूसरे से खण्डित है। जसा भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है—'ज्ञान मे सब समाप्त हो जाते है।' उसका तात्पर्य भी यही है—सब सिद्धान्त आगे जाकर अद्वैत स्वरूप ब्रह्म ज्ञान मे एक रूप से समाप्त हो जाते है। वहा किसी प्रकार का विरोध नही भासता है। इस प्रकार सारग्राहक दृष्टि से सभी शास्त्र वा अर्वाचीन सभी ग्रन्थ परम्परा वा साक्षात्‌रूप से ब्रह्मज्ञान के ही हेतु है। यह सिद्ध होता है। अत अपने साधन द्वारा भ्रम निवृत्त करके अद्वैत स्थिति प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये। अद्वैत स्थिति (ब्रह्म प्राप्ति) ही

परमपुरुपार्थ है ।

इतिश्री शास्त्र, शास्त्रकार, परिचय निरूपण अश १८ समाप्त

अथ लक्षण, पारिभाषिक कठिन शब्दार्थ निरूपण अश १९

अब कृपया मेरे मनन के लिये मुझे वेदान्त समझने मे उपयोगी लक्षण, पारिभाषिक और कठिन शब्दो का अर्थ पुन सुनाने की कृपा कीजिये ? अच्छा सुनो सुनाता हूँ ।

(अ)

अत करण = अतर ज्ञान का करण (साधन)। इसकी चार वृत्ति है। १-मन = सकल्प विकल्प रूप वृत्ति । २-बुद्धि = निश्चय रूप वृत्ति । ३-चित्त = चिन्तन (स्मरण) रूप वृत्ति । ४-अहकार = अहता रूप वृत्ति । अन्त करण के ३ दोष - मलदोष = जन्म जन्मातरो के पाप । विक्षेप दोष = चित्त की चचलता । आवरण दोष — स्वरूप का अज्ञान ।

अतर्मुख वृत्ति = एकाग्रता युक्त सात्विकी वृत्ति । इसको ही प्रिय मोद और प्रमोद वृत्ति भी कहते है ।

अश—दो होते है .—१-विशेष अंश = अध्यासकाल मे अप्रतीति अश को विशेष अश कहते है। उसी को अधिष्ठान भी कहते है। २-सामान्य अश = अध्यास काल मे जिसकी प्रतीति हो उस अश को सामान्य अश कहते है । आधार भी उसी को कहते है। अजिह्वत्वादि ६ यति (सन्यासी) के धर्म विशेष—

१ अजिह्वत्व = रस विषय की आसक्ति रहितता । २-नपुसकत्व = कुमारी, किशोरी (१६ वर्ष की) और वृद्धा स्त्री मे समता (निर्विकारिता) रूप । ३-पगुत्व = एक दिन मे एक योजन से अधिक गमन नही करना। ४-अधत्व = एक धनुष से अधिक दृष्टि का अप्रसरण। ५-बधिरत्व = व्यर्थालाप का अश्रवण। ६-मुग्धत्व = व्यवहार मे शून्यता (मूढता)।

अज्ञान = आवरण, विक्षेप शक्ति को अज्ञान कहते है। व्यष्टि अज्ञान = अज्ञान का अश। समष्टि अज्ञान = सपूर्ण अज्ञान। अज्ञान की

दो शक्ति है —एक अभानापादक = वस्तु भान नही होती है। ऐसी प्रतीति कराने वाली। दूसरी असत्वापादक = वस्तु नही है। ऐसी प्रतीति कराने वाली।

अज्ञान मे प्रतिबिम्ब = अज्ञान से चेतन मे जीव भाव की प्रतीति होती है, वही अज्ञान मे प्रतिबिम्ब है।

अज्ञान की विषयता = अज्ञान कृत आवरण ही अज्ञान की विषयता है। मूलाज्ञान = शुद्ध चेतन का आच्छादक अज्ञान। तूलाज्ञान = घटादिअवच्छिन्न चेतन का आच्छादक अज्ञान। विक्षेप शक्ति = प्रपच और उसके ज्ञान रूप विक्षेप की जनक अज्ञान की सामर्थ्य। अवस्थाज्ञान = उपाधि अवच्छिन्न चेतन के आच्छादक अज्ञान को अवस्थाज्ञान कहते है। उसी को तूलाज्ञान कहते है। ब्रह्मात्म स्वरूप के आच्छादक अज्ञान को मूलाज्ञान कहते है।

अतत् = ब्रह्म से भिन्न अज्ञानादि प्रपच को अतत् कहते है।

अतिव्याप्ति = अलक्ष्य मे लक्षण जाने को अतिव्याप्ति दोष कहते है।

अदृष्ट = पाप पुण्य को अदृष्ट कहते है। अदृष्ट फल = जो फल शास्त्र से जाना जाय और प्रत्यक्ष प्रतीति नही हो, उसे अदृष्ट फल कहते है।

अधर्म = धर्म विरोधी को अधर्म कहते है। अधर्म का फल = दु ख ही होता है।

अधिकरण = मुख्य समानाधिकरण = जिस वस्तु का जिस वस्तु के सग सदा अभेद हो उस वस्तु का उसके सग मुख्य समानाधिकरण होता है। बाध समानाधिकरण = जिस वस्तु का बाध होकर जिसके सग अभेद हो, उस वस्तु का उसके सग बाध समानाधिकरण होता है।

अधिष्ठान = जिस पदार्थ मे आधारता प्रतीत हो उसको अधिष्ठान कहते है ।

अधिष्ठान, आधार = सर्व भ्रान्ति मे सामान्यरूप को आधार कहते है और विशेषरूप को अधिष्ठान कहते है । वा सविलास ज्ञान के विषय को अधिष्ठान कहते है । कार्य को विलास कहते है । अध्यस्त मे अभिन्न होकर जिसका स्फुरण हो उसको आधार कहते है । वा अध्यस्त मे अभिन्न होकर प्रतीत हो उसे आधार कहते है ।

अध्यारोप, अपवाद = जिस अधिष्ठान मे जिस वस्तु का वास्तव रूप से अभाव होने पर उसका आरोप (कथन) किया जाता है उसको अध्यारोप कहते है । आरोपित वस्तु के निषेध को अपवाद कहते है । बाध होने से भ्रम हो उसको आरोप कहते है । तत् भाव से रहित वस्तु मे तत् बुद्धि को अध्यारोप कहते है । अभाव निश्चय को अपवाद कहते है । अन्यत्र अनुभूत की अन्यत्र प्रतीति को अनुभूयमानारोप कहते है । जल मे नीलता का अध्यास होता है वह स्मर्यमाण आरोप है ।

आरोपित = अपने तादात्म्य सबन्ध से अधिष्ठान से अभिन्न होकर जो प्रतीत हो उसको आरोपित कहते है ।

आरोप्य = अधिष्ठान से अभिन्न होकर अधिष्ठान को आच्छादन करे उसको आरोप्य कहते है ।

अध्यास = अपने अभाव के अधिकरण मे आभास को अध्यास कहते है । भ्रान्ति ज्ञान का विषय मिथ्या वस्तु और भ्रान्ति ज्ञान को अध्यास कहते है । अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति को ज्ञानाध्यास कहते है । अनिर्वचनीय सर्प रजतादि गोचर अविद्या के परिणाम को ज्ञानाध्यास कहते है । ज्ञान के अनिर्वचनीय विषय को अर्थाध्यास कहते है । जिस पदार्थ का स्वरूप तो प्रथम सिद्ध हो, व्यवहारिक हो वा पारमार्थिक हो और अनिर्वचनीय सबन्ध उत्पन्न हो वह ससर्गाध्यास है । सिद्धान्त मे शुक्ति वृत्ति तादात्म्य का अनिर्वचनीय सबन्ध रजत मे उत्पन्न होता है उसे ससर्गाध्यास कहते है । केवल सबन्धाध्यास ही ससर्गाध्यास है । जिस पदार्थ का स्वरूप अनिर्वचनीय उत्पन्न हो उसको स्वरूपाध्यास

कहते है। सबन्ध सहित सबन्धी का अध्यास ही ससर्ग सहित स्वरूपा-ध्यास है। सोई अन्योन्याध्यास है। परस्पर अध्यास को अन्योन्याध्यास कहते है। सर्वत्र ससर्ग और स्वरूप दोनो का मिश्र भाव हो और दोनो मे से एक का अध्यास हो उसे अन्यतराध्यास कहते है। मिथ्या वस्तु का स्वरूपाध्यास रूप कहा जाता है। सत्य वस्तु का सबन्धाध्यास रूप कहा जाता है। अनर्थ = प्रपच का कारण अज्ञान और प्रपच को अनर्थ कहते है।

अनात्मा के धर्म = अनित्य, विनाशी, अशुद्ध, नाना, क्षेत्र, आश्रित, विकार, परप्रकाश्य, हेतुमान्, व्याप्य—परिच्छिन्न (देश काल वस्तु कृत परिच्छेदवाला), सगी, आवृत।

अनादि षट् पदार्थ = उत्पत्ति रहित पदार्थ—ईश, शुद्धचेतन, जीव, अविद्या, चेतन अविद्या का सबन्ध, और उन पाच का भेद, ये ६ पदार्थ अनादि है। अनित्य, नित्य द्रव्य = पृथ्वी, जल, तेज, वायु द्वचणुकादि रूप अनित्य द्रव्य है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और परमाणु रूप पृथ्वी, जल, तेज, वायु, ये नित्य द्रव्य है। अनित्य = जिसका काल से अन्त हो उसको अनित्य कहते हैं।

अनुपलभ = उपालभाभाव को अनुपलभ कहते है। प्रतीति, ज्ञान, उपलभ, ये पर्याय शब्द है। प्रतियोगी की प्रतीति का अभाव अनुपलभ शब्द का अर्थ है। प्रत्यक्ष योग्य की अप्रतीति को योग्यानुपलभ कहते है। प्रत्यक्ष योग्य प्रतियोगी के अनुपलभ को योग्यानुपलभ कहते है। प्रत्यक्ष योग्य अधिकरण मे प्रतियोगी के अनुपलभ को योग्यानुपलभ कहते है। जिस अनुपलभ का उपलभरूप प्रतियोगी योग्य हो उस अनु-पलभ को योग्य कहते है। जिस अनुपलभ का प्रतियोगी उपलभ अयोग्य हो उस अनुपलभ को अयोग्य कहते है। योग्य उपलभ के अभाव को योग्यानुपलभ कहते है।

अनुपलब्धि प्रमाण = अभाव की प्रमा के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं।

निषेधमुख प्रतीति का विषय हो अथवा प्रतियोगी सापेक्ष प्रतीति का विषय हो उसे अभाव कहते है।

जिसका निषेध किया जाय उसको अभाव कहते है, सोई अभाव का प्रतियोगी कहलाता है।

सबन्ध और सादृश्य की प्रतियोगिता से विलक्षण प्रतियोगिता वाला जिसका प्रतियोगी हो उसको अभाव कहते है। स्थूलरीति यह है—सबन्ध सादृश्य से भिन्न हो और प्रतियोगी सापेक्ष प्रतीति का विषय हो उसको अभाव कहते है। सबन्ध और सादृश्य से भिन्न जो अन्य सापेक्ष प्रतीति का विषय हो उसको अभाव कहते है। किसी समय मे हो उसको सामायिकाभाव कहते है।

समय विशेष मे उत्पन्न हो और समय विशेष मे नष्ट हो उसको सामायिकाभाव कहते है।

उत्पत्ति नाश वाले अभाव को सामायिकाभाव कहते है। जहाँ कदाचित् सयोग सबन्ध से प्रतियोगी हो कदाचित् नही हो वहाँ सयोग सबन्धावच्छिन्न सामायिकाभाव होता है।

अन्योन्याभाव = परस्पर मे जो परस्पर का अभाव उसको अन्योन्याभाव कहते है।

अभेद के निषेधक अभाव को अन्योन्याभाव कहते है। असाधारण धर्म को अभेद कहते है। अपने आत्मा से बिना अन्य मे न रहे केवल अपने मे ही रहे उसे अपना असाधारण धर्म कहते है। तादात्म्य संबन्धावच्छिन्नाभाव को ही अन्योन्याभाव कहते है। एक पदार्थ मे अभेद सबन्ध से अपर पदार्थ के निषेधक अभाव को अन्योन्याभाव कहते है। प्रतियोगितावच्छेदक विरोधी अभाव को अन्योन्याभाव कहते है। अभेद सबन्धावच्छिन्नभाव को अन्योन्याभाव कहते है।

प्रागभाव = कार्य की उत्पत्ति से पूर्व जो कार्य का अभाव उसको प्रागभाव कहते है। अनादि सात जो अभाव उसको प्रागभाव कहते है।

प्रध्वसाभाव = नाश के अनन्तर जो अभाव उसको प्रध्वसाभाव कहते है। सादि अनन्त जो अभाव उसको प्रध्वसाभाव कहते है।

अत्यताभाव = तीन काल मे जो अभाव हो उसको अत्यताभाव कहते है। जहा किसी भी काल मे जो पदार्थ नही हो वहा उस पदार्थ का अत्यताभाव कहा जाता है। जहा घटरूप प्रतियोगी कभी नही रहे वहा घट का तत्सबन्धावच्छिन्न अत्यताभाव कहा जाता है। जिस सबन्ध से जो पदार्थ जहा नही हो, वहा उस पदार्थ का तत्सबधावच्छिन्नाभाव कहा जाता है। जिसका अभाव कही भी नही हो किन्तु सकल पदार्थो मे सदा रहे उसको केवलान्वयि कहते है। प्रतियोगि विरोधी अभाव को ससर्गाभाव कहते है। अन्यसबन्धावच्छिन्नाभाव को ससर्गाभाव कहते है। भाव के अभाव को भाव प्रतियोगिक अभाव कहते है। अभाव के भाव को अभाव प्रतियोगिक अभाव कहते है। जहा अधे को विप्र-लभक वचन से घट वाले भूतल मे घटाभाव का ज्ञान हो उसे अभाव का परोक्ष भ्रम कहते है।

अनिर्वचनीय = सत असत से विलक्षण को अनिर्वचनीय कहते है। असत वा तुच्छ को अनिर्वचनीय कहते है।

अनुबन्ध = अधिकारी, सबन्ध, विषय, प्रयोजन को अनुबन्ध कहते है। अपने ज्ञान के अनन्तर पुरुष को ग्र थ मे जो लगावे उसे अनुबन्ध कहते है। अत.करण के मल, विक्षेप दोष रहित, अज्ञान सहित, विवेकादि चार ज्ञान के साधनो से युक्त हो उसको अद्वैत वेदान्त का अधिकारी कहते है।

सबन्ध = ग्र थ और विषय का प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सबन्ध है। अधिकारी और फल का प्राप्यप्रापकभाव सबन्ध है। अधिकारी और विचार का कर्तृकर्त्तव्यभाव सबन्ध है। ग्र थ का और ज्ञान का जन्यजनक भाव सबन्ध है। जीवब्रह्म की एकता वेदान्त शास्त्र का विषय (प्रतिपाद्य) है। सर्व दुखो की निवृत्ति और परमानन्द स्वरूप की प्राप्तिरूप मोक्ष ही वेदान्त का प्रयोजन है।

अनुमान प्रमाण=अनुमिति प्रमा के करण को अनुमान प्रमाण कहते है। व्यापार वाले असाधारण कारण को करण कहते है। कारण से उत्पन्न होकर कार्य को उत्पन्न करे उसको व्यापार कहते है। जो कार्य को किसी के द्वारा उत्पन्न नही करे किन्तु आप ही उत्पन्न करे, उसको व्यापार हीन कारण कहते है।

लिगज्ञान जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते है। जिसके ज्ञान से साध्य का ज्ञान हो उसको लिग कहते है। मन सहित अनुमान प्रमाण से हो उसको अनुमिति ज्ञान कहते है। अनुमिति ज्ञान के विपय को माध्य कहते है। व्याप्य को लिग कहते है। व्यापक को साध्य कहते है। व्याप्ति वाले को व्याप्य कहते है। व्याप्ति निरूपक को व्यापक कहते है। अविनाभावरूप सबन्ध को व्याप्ति कहते है। जिसके बिना जो नही हो, उसका अविनाभावरूप सबन्ध उसमे होता है। जो जिससे व्यभिचारी हो वह उसका व्याप्य नही होता। अधिक देश मे जो रहे उसे व्यभिचारी कहते है। व्याप्ति को व्याप्यत्व कहते है। जो पदार्थ के एक देश मे हो और एक देश मे न हो उसको देश कृत अव्याप्य वृत्ति कहते है। किसी काल मे हो किसी काल मे नही हो उसको कालिक अव्याप्य वृत्ति कहते है। सहचार साथ रहने को कहते है। व्यभिचार भिन्न रहने को कहते है। कारण सामग्री से बाह्य हो उसे अन्यथा सिद्ध कहते है। "वह्नि व्याप्य जो धूम उस वाला पर्वत है" ऐसे ज्ञान को परामर्श कहते है। वाक्य प्रयोग बिना व्याप्ति ज्ञानादिको से जो अनुमिति हो उसको स्वार्थानुमिति कहते है। जहा दो का विवाद हो एक पुरुष कहै पर्वत मे वह्नि अनुमान प्रमाण से निर्णीत है एक कहै नही है, वहा वह्नि निश्चय वाला पुरुष अपने प्रतिवादी की निवृत्ति के लिये वाक्य प्रयोग करता है उसको परार्थानुमान कहते है। साध्य विशिष्ट पक्ष के बोधक वाक्य को प्रतिज्ञा वाक्य कहते है। अनुमिति का जो विषय उसको साध्य कहते हैं। जिस अधिकरण मे साध्य की जिज्ञासा होकर साध्य का अनुमितिरूप निश्चय हो उसको पक्ष कहते हैं। प्रतिज्ञा वाक्य से उत्तर जो लिग का बोधक वचन उसको हेतु वाक्य कहते है। व्याप्ति ज्ञान का हेतु सहचार ज्ञान जहा हो उसको

उदाहरण कहते है। हेतु साध्य का सहचार बोधक जो दृष्टात प्रतिपादक वचन उसको उदाहरण वाक्य कहते है। वादी प्रतिवादी का जहा विवाद नही हो किन्तु दोनो का निर्णीत अर्थ जहा हो उसको दृष्टात कहते हे। अनिष्ट आपादन को तर्क कहते है। तीन अवयव का समुदायरूप जो महावाक्य उसको परार्थानुमान कहते है। उससे उत्तर जो अनुमिति हो उसको परार्थानुमिति कहते है। जहा हेतु साध्य के सहचार ज्ञान से हेतु मे साध्य की व्याप्ति का ज्ञान हो उसको अन्वयि-अनुमान कहते है। जहा साध्याभाव मे हेत्वभाव के सहचार दर्शन से हेतु मे साध्य की व्याप्ति का ज्ञान हो उसको व्यतिरेकी अनुमान कहते है। जहा अन्वय व्याप्ति का उदाहरण नही मिले और साध्याभाव मे हेतु के अभाव की व्याप्ति का उदाहरण मिले उसे केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते है।

जहा साध्याभाव हेत्वभाव के सहचार का उदाहरण नही मिले उसको केवलान्वयि अनुमान कहते है। जहा दोनो के उदाहरण मिले उसे अन्वय व्यतिरेकी अनुमान कहते है। अन्वय=सत्ता। व्यतिरेक=अभाव। एक के होने से अपर के होने को अन्वय कहते है। एक के नही होने से अपर के नही होने को व्यतिरेक कहते है। 'पर्वतो-वह्निमान्' इसको प्रसिद्धानुमान कहते है। अपूर्व=धर्माधर्म को अपूर्व कहते है। अबाधित=ब्रह्मज्ञान बिना जिसका बाध नही हो उसको अबाधित कहते है।

अभिधान=अन्वय बोध फल वाले शब्द प्रयोग को अभिधान कहते है। अभिभूत=तिरस्कृत को अभिभूत कहते है। अभिव्यजक=जिसमे प्रतिबिम्ब हो उसको अभिव्यजक कहते है। अभिव्यग=जिसका प्रतिबिम्ब हो उसको अभिव्यग कहते है। अभिमान = भ्रमज्ञान को अभिमान कहते है। अरिवर्ग=काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। अयथार्थ=भ्रमरूप अनुभव के सस्कार से उत्पन्न हो उसको अयथार्थ कहते है। अर्थापत्ति प्रमाण=उपपादक कल्पना के हेतु उपपाद्य ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। उपपादक ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमा

कहते है। जिस बिना जो सभव नही उसका वह उपपाद्य कहलाता है। जिसके अभाव से जिसका अभाव हो वह उसका उपपादक कहलाता है। उपपाद्य अनुपपत्ति ज्ञान से उपपादक कल्पना को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। उपपादक कल्पना के हेतु उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। अर्थ अर्थात् उपपादक वस्तु उसकी आपत्ति अर्थात् कल्पना। यह अर्थापत्ति का अर्थ है।

जहा दृष्ट उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना हो वहा दृष्टार्थापत्ति कहते है।

जहा श्रुत उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना हो वहा श्रुतार्थापत्ति कहते है।

श्रुत अर्थ को अनुपपत्ति से उपपादक की कल्पना को श्रुतार्थापत्ति प्रमा कहते है। उसके हेतु श्रुत अर्थ की अनुपपत्ति के ज्ञान को श्रुतार्थापत्ति प्रमाण कहते है।

जहा सारे वाक्य का अर्थ अन्य अर्थ की कल्पना बिना अनुपपन्न हो, वहा अभिहितानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति है, जहा वाक्य मे पद का वा अर्थ का अध्याहार नही हो और अन्य अर्थ की कल्पना बिना वाक्यार्थ की अनुपपत्ति हो वहा अभिहितानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति होता है।

अवच्छेदक = जो न्यून देशवृत्ति और अधिक देशवृत्ति न हो किंतु जिसके समान देशवृत्ति जो हो उसका अवच्छेदक वह होता है।

अवभास = ज्ञान और ज्ञान के विषय को अवभास कहते है। अधिष्ठान से विषमसत्ता वाला अवभास होता है।

अवयव = न्यायमत मे तो द्रव्य आरभक उपादान को अवयव कहते हैं। साख्यादिक मत मे द्रव्यरूप परिणाम वाले उपादान को अवयव कहते है। द्रव्य के उपादान कारण को अवयव कहते है। अवयव जन्य को सावयव कहते है।

अविद्या = विद्या है विरोधनी जिसकी उसको अविद्या कहते है। आवरण शक्ति विशिष्ट मूल प्रकृति के अशो को अविद्या कहते है।

शुद्ध सत्व प्रधान माया है और मलिन सत्वप्रधान अविद्या है। अविद्या के सस्कार को अविद्यालेश कहते है। अथवा अग्निदग्ध पट के समान स्वकार्य मे असमर्थ ज्ञान बाधित अविद्या को अविद्यालेश कहते है। आवरण विक्षेप शक्ति रूप अश द्वयवती अविद्या है।

अवृत्ति = सयोग सबन्ध से वा समवाय सबन्ध से जो पदार्थ किसी मे भी नही रहे उसे अवृत्ति कहते है। नित्य द्रव्यो को अवृत्ति कहते है। असभावना = सशय को असभावना कहते है। यह सशय प्रमाणगत और प्रमेयगत दो प्रकार का होता है। वेदात वाक्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक है अथवा अन्य अर्थ के प्रतिपादक है ऐसा प्रमाण मे (वेदात वाक्यो मे) सशय होता है उसको प्रमाणगत सशय कहते है। यह वेदान्त वाक्यो के श्रवण से दूर होता है। जीव ब्रह्म का अभेद सत्य है अथवा भेद सत्य है ऐसे प्रमेय मे सशय होता है, उसको प्रमेयगत सशय कहते है। यह मनन से दूर होता है।

असत् शब्द का अर्थ = अनिर्वचनीय अथवा तुच्छ असत् शब्द का अर्थ है।

अहकार = दो प्रकार का होता है। एक शुद्ध अहकार और दूसरा अशुद्ध अहकार। स्वस्वरूप के अहकार को शुद्ध अहकार कहते है। देहादि अनात्मा के अहकार को अशुद्ध अहकार कहते है।

(आ)

आतर = आत्मा और सुखादि को आतर कहते है।

आकृति = अवयव के सयोग को आकृति कहते है। आकाक्षा = एक पदार्थ के पदार्थातर से अन्वय बोध के अभाव को आकाक्षा कहते है।

आकाश—घटाकाश = जल से भरे घट को जितना आकाश अवकाश देता है, उतने आकाश को घटाकाश कहते है। जलाकाश = जल से भरे घट मे नक्षत्रादि सहित आकाश का प्रतिबिब और घटाकाश दोनो को जलाकाश कहते है।

मेघाकाश = बादल को आकाश अवकाश देता है और मेघ के जल मे आकाश का प्रतिबिब है। उन दोनो को मेघाकाश कहते है। महाकाश = ब्रह्माण्ड के बाहर और भीतर एक रस व्यापक आकाश को महाकाश कहते है।

आत्मा = अविद्या और व्यष्टि देहादिको के अधिष्ठान, त्वपद के लक्ष्य को आत्मा कहते है। ज्ञानात्मा = बुद्धि। महानात्मा = महत्तत्त्व। शातात्मा = शुद्ध ब्रह्म। आत्मा के भेद १-मिथ्यात्मा = स्थूल सूक्ष्म सघात। २-गौणात्मा = पुत्र। ३-मुख्यात्मा = साक्षी (कूटस्थ)। आत्मा के धर्म = नित्य उत्पत्ति और नाश रहित। अव्यय = घटने बढने से रहित। शुद्ध = माया अविद्यारूप मलरहित। एक = सजातीय भेद रहित। क्षेत्रज्ञ = शरीररूप क्षेत्र का ज्ञाता। आश्रय = अधिष्ठान। अविक्रिय = अविकारी। स्वप्रकाश = अपने प्रकाश मे अन्य प्रकाश की अपेक्षा से रहित होकर सर्व का प्रकाशक। हेतु = जाले के कारण ऊर्णनाभि के समान जगत् का अभिन्न निमित्त (विवर्त) उपादान कारण। व्यापक = अपरिच्छिन्न (परिपूर्ण)। असगी = सजातीय, विजातीय और स्वगत सबन्ध से रहित। अनावृत = सर्वथा आवरण से रहित। आत्माश्रय आदि ६ दोष = आप ही क्रिया का कर्ता और आप ही क्रिया का कर्म क्रिया विषयरूप कार्य हो वहा आत्माश्रय दोष होता है। परस्पर की उत्पत्ति मे परस्पर की अपेक्षा हो वहा अन्योन्याश्रय दोप होता है। जहा द्वितीय के तृतीय और तृतीय के प्रथम को कारण माने वहा चक्र के समान भ्रमणरूप चक्रिका दोष होता है। तृतीय के चतुर्थ को और चतुर्थ के कारण पचम को माने तो धारारूप अनवस्था दोप होता है। युक्ति के अभाव को विनिगमना विरह कहते है। पिछले के अभाव का नाम प्राग्लोप है। आधिताप = मानस ताप। आनन्दमय कोश = कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहते है।

आनन्दभोग = निर्विषय सुख के भोग को आनन्द भोग कहते है। ब्रह्म ही निर्विषय आनन्द है।

आभासरूपकर्म = आत्मा को असग जानकर और देह वाणी मन

के आश्रित क्रिया जानकर कर्म उपासना करे उसको आभासरूप कर्म कहते है। आरोप=बाध होने पर भ्रम हो उसको आरोप कहते है। आलय विज्ञानधारा='अह अह' ऐसी विज्ञान धारा को आलय विज्ञान धारा कहते है। आलोक=दीप सूर्यादिको की प्रभा को आलोक कहते है। आवरणाभिभव=अज्ञान के एक देश का नाश आवरणाभिभव शब्द का अर्थ होता है। आसत्ति=न्याय ग्रन्थो मे पदो की समीपता को आसत्ति कहते है। इष्ट=इच्छा के विषय को इष्ट कहते है।

उद्भूत=प्रत्यक्ष योग्य जो रूप और स्पर्श उसको उद्भूत कहते है। उत्पत्ति=आद्यक्षण से सबन्ध को उत्पत्ति कहते है। उत्तेजक=प्रतिबन्धक के रहते भी कार्य के साधक को उत्तेजक कहते है।

उपाधि=व्यावर्त्तक हो उसको उपाधि कहते है। उपाधि वाले को उपहित कहते है। कार्य मे असबन्धी वर्तमान व्यावर्तक को उपाधि कहते है। जिस देशकाल मे व्यावर्तक हो, उस देश कालस्थ व्यावर्तनीय की व्यावृत्ति करे और आप बहिर्भूत रहे उसको उपाधि कहते है। जिस की व्यावृत्ति उपाधि से हो उसको उपहित कहते है।

इदमाकार वृत्ति उपहित=इदमाकार वृत्ति जिसकी उपाधि हो उसको इदमाकार वृत्ति उपहित कहते है।

उपमान प्रमाण=उपमिति प्रमा के करण को उपमान प्रमाण कहते है। सज्ञी मे सज्ञा की वाच्यता के ज्ञान को उपमिति कहते है। विरुद्ध धर्म वाले को विधर्म कहते है। विरुद्ध धर्म को वैधर्म्य कहते है। न्याय के प्राचीन मत मे वाक्यार्थानुभव को उपमान प्रमाण कहते है। नवीन मत मे सादृश्य विशिष्ट पिडदर्शन वा वैधर्म्य विशिष्ट पिडदर्शन को उपमान प्रमाण कहते है। वेदात मत मे गो सदृश गवय के ज्ञान को उपमान प्रमाण कहते है। गो मे गवय के सादृश्य ज्ञान को उपमिति कहते है। न्यायमत मे सज्ञा का सज्ञी मे वाच्यता ज्ञान को उपमिति कहते है। वेदान्त मत मे सादृश्य ज्ञान से जन्य ज्ञान को उपमिति कहते है, वा वैधर्म्य ज्ञानजन्य ज्ञान को उपमिति कहते है। जहा उपमान उपमेय की समान शोभा हो वहा उपमालकार होता है। भेद सहित समान

धर्म को सादृश्य कहते है। जहा दो पदार्थो मे अल्प समान धर्म हो वहा अपकृष्ट सादृश्य होता है। समान धर्म अधिक हो वहा उत्कृष्ट सादृश्य होता है। व्याकरण की रीति से जो पद अवयव अर्थ को नही त्यागता उसको यौगिक पद कहते है। व्यापार भिन्न असाधारण कारण को करण कहते है। सिद्धान्त मत मे इन्द्रिय सबन्धी गवय मे गो का प्रत्यक्ष रूप सादृश्य ज्ञान उपमान प्रमाण है। व्यवहित गो मे गवय का सादृश्य ज्ञान उपमिति प्रमा है।

उपलक्षण=कार्य मे असबन्धी व्यावर्त्तक हो उसको उपलक्षण कहते है। व्यावर्त्तक मात्र को उपलक्षण कहते है। व्यावर्तनीय के एक देश मे कदाचित् होकर व्यावृत्ति करे और उपाधि के समान आप बहिर्भूत रहे उसको उपलक्षण कहते है।

उपलक्षित=जिसकी व्यावृत्ति उपलक्षण से हो उसे उपलक्षित कहते है। उपलक्षण वाले को उपलक्षित कहते है।

उपवायु-नाग=उद्गार का हेतु वायु। कूर्म=निमेष उन्मेष का हेतु वायु। कृकल=छीक का हेतु वायु। देवदत्त=जमुहाई का हेतु वायु। धनजय=देह पुष्टि का हेतु वायु। ऊर्मि=ससार रूप सागर की ६ लहरियॉ—जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, हर्ष, और शोक। एकभविक-वाद=एक जन्म वा एक कर्म को ही मोक्ष का साधन मानने वाला वाद। एषणा=तीन इच्छा—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लौकैषणा=सर्व लोक मेरी स्तुति करें, कोई भी मेरी निन्दा न करे। ऐसी इच्छा वा परलोक की इच्छा।

(क)

करलेढि न्याय=प्राप्त लड्डू को गमाकर हाथ चाटने का दृष्टात। कर्तव्य=करने योग्य ज्ञान के साधन। कृतोपासन, अकृतोपासन-कृतोपासन=जिसने सगुण ब्रह्म की उपासना की हो। अकृतोपासन=जिसने उपासना न की हो।

कर्ता=प्रत्यक्षज्ञान का आश्रय आत्मा है सो कर्ता है। मै

वेद की आज्ञानुसार नही करू गा तो मेरे को जन्म मरणरूप ससार ही प्राप्त होगा, इस बुद्धि से जो क्रिया करे उसको कर्ता कहते है वा प्रकृतिरूप प्रयत्न के आश्रय को कर्ता कहते है। कर्म=पुरुष की प्रवृत्ति के निमित्त जिसका स्वरूप वेद ने बोधन किया हो उसको विहित कर्म कहते है। पुरुष की निवृत्ति जिससे बोधन करी हो उसे निषिद्ध कर्म कहते है। पाप नाश के निमित्त जिसका विधान किया हो उसको प्राय-श्चित कर्म कहते है। फल के निमित्त जिसका विधान किया हो उसको काम्य कर्म कहते है। जिसके नही किये से पाप हो और किये से पुण्य पाप रूप फल नही हो और सदा जिसका विधान नही हो किंतु किसी निमित्त को लेकर विधान किया हो उसको नैमित्तिक कर्म कहते है। जिसके नही किये से पाप हो और किये से फल नही हो और सदा जिसका विधान हो उसको नित्य कर्म कहते है। जिसका किसी पाप विशेष को दूर करने के लिये शास्त्र ने विधान किया हो उसको असा-धारण प्रायश्चित कर्म कहते है। सर्व पाप को दूर करने के लिये शास्त्र ने जिसका विधान किया हो उसको साधारण प्रायश्चित कर्म कहते है। जिन भूत शरीरो के कर्मो से वर्तमान शरीर बनता है उनको प्रारब्ध कर्म कहते है। भूत शरीरो मे किये हुये वर्तमान शरीर के हेतु कर्मो को प्रारब्ध कहते है। अनेक जन्मो मे सग्रहित कर्मो को सचित कर्म कहते है। भूत शरीरो मे किये हुये फलारम्भ से रहित कर्मो को सचित कर्म कहते है। वर्तमान शरीर मे किये हुये कर्मो को आगामी कर्म कहते है। इन्ही को क्रियमाण कर्म भी कहते है। शत्रु मारण के निमित्त किया जाय उसको अभिचार कर्म कहते है। कर्म=वेद विहित कर्म। विकर्म=वेद से विरुद्ध कर्म। अकर्म=वेद विहित और वेद विरुद्ध उभयविध कर्म का अकरण। न्यायमत मे=उत्क्षेपण (ऊ चे फेकना) अपक्षेपण (नीचे फेंकना), आकु चन, प्रसारण और गमन, ये पचविध कर्म मानते है।

कारण=जिसके होने से कार्य की उत्पत्ति हो और जिसके नही होने से कार्य की उत्पत्ति नही हो, ऐसा जो कार्य के अव्यवहित पूर्वकाल

वृत्ति हो उसको कारण वा करण कहते है। जिसका कार्य के स्वरूप मे प्रवेश हो और जिसके बिना कार्य की स्थिति न हो उसको उपादान कारण कहते है।

कार्य की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण हो उसे उपादान कारण कहते है। उपादान कारण को ही समवायि कारण कहते है। कार्य की उत्पत्ति मात्र के कारण को निमित्त कारण कहते है।

जिसका कार्य के स्वरूप मे प्रवेश नही हो किन्तु कार्य को कार्य से भिन्न स्थित होकर करे और जिसके नाश से कार्य बिगडे नही उसको निमित्त कारण कहते है। कार्य मे तटस्थ होकर कार्य का जनक हो उसे निमित्त कारण कहते है। उपादान कारण से भिन्न जो कारण उसको निमित्त कारण कहते है।

न्याय वैशेषिकमत मे तीन कारण—समवायी, असमवायी, निमित्त माने है। कार्य के समवायी कारण से सबन्धी जो कार्य का जनक उसको असमवायी कारण कहते है।

जिसमे समवाय सबन्ध से कार्य उत्पन्न हो उसको समवायि कारण कहते है। समवायि कारण मे सबन्धी जो कार्य का जनक उसको असमवायि कारण कहते है।

जो सर्व कार्यो का कारण हो उसको साधारण कारण कहते है। किसी एक कार्य का कारण हो उसको असाधारण कारण कहते है। कर्म के साधन को कारण कहते है। कारणवाद —आरम्भवाद = परमाणु से सृष्टि की उत्पत्ति का आरम्भ, यह न्यायमत मानता है। परिणामवाद = प्रकृति का परिणाम जगत् है। यह साख्य मानता है। ब्रह्म का परिणाम जगत् और जीव है, यह उपासक मानते है। इसमे कार्य और कारण का अभेद है। विवर्तवाद = निर्विकार ब्रह्म मे अधिष्ठान ब्रह्म से विषम सत्तावाला अन्यथा स्वरूप जगत् होता है। वह ब्रह्म का विवर्त (कल्पित कार्य) है। यह वेदान्त सिद्धान्त मे माना है। इसमे भी कार्य और कारण का बाधकृत अभेद है।

कारीरीयाग = राजा प्रजा से कर लेकर वृष्टि की कामना से यज्ञ करे उसे कारीरीयाग कहते है। कलृप्त = निर्णीत को कलृप्त कहते है। कृतनाश = किये हुये का नाश। अकृताभ्यागम = बिना किये की

प्राप्ति । क्लेश = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को क्लेश कहते है । अविद्या = दु ख मे सुख बुद्धि, अनात्मा मे आत्मबुद्धि, अनित्य मे नित्यबुद्धि, अशुचि मे शुचिबुद्धि । यह चार प्रकार की कार्य अविद्या है । अस्मिता = साक्षी (आत्मा) और बुद्धि की एकता का ज्ञान (सामान्य अहकार) । राग = दृढ आसक्ति (आरूढ प्रीति) । द्वेष = क्रोध । अभिनिवेश = मरण का भय । क्षोभ = कार्य के अभिमुख अविद्या की अवस्था को क्षोभ कहते है ।

(ख)

ख्याति = भान और कथन। सत्ख्याति = शुक्ति के अवयवो के साथ रजत के अवयव सदा रहते है। जैसे शुक्ति के अवयव सत्य है वैसे रजत के अवयव भी सत्य है, मिथ्या नही है । उन सत् अवयवो का भान और कथन ही सतख्याति है । नवीन वैष्णव सतख्याति मानते है । असत्ख्याति = जेवरीदेश मे सर्प अत्यत असत् है, वैसे अन्य देश मे भी अत्यत असत् है । ऐसे अत्यत असत् सर्प की जेवरी देश मे प्रतीति होती है, उसको ही शून्यवादी असत्ख्याति कहते है । आत्मख्याति = विज्ञानवादी कहते है —जेवरीदेश मे तथा अन्य देश मे बुद्धि के बाहिर कही भी सर्प नही है । कोई भी पदार्थ बुद्धि से भिन्न नही है । सर्व पदार्थो के आकार को बुद्धि ही धारण करती है । वह बुद्धि क्षणिक विज्ञानरूप है । क्षण क्षण मे नाश और उत्पत्ति को प्राप्त होने वाला विज्ञान, वही सर्परूप से प्रतीत होता है । इसको ही आत्म-ख्याति कहते है । अन्यथाख्याति = नैयायिक और वैशेषिक कहते है — बबी आदिक स्थान मे सच्चा सर्प है, नेत्रदोष के बल से वह सन्मुख जेवरी देश मे प्रतीत होता है । अन्य देशस्थ की अन्य देश मे प्रतीति अन्यथाख्याति है । चिन्तामणि ग्रथ का कर्ता नवीन नैयायिक का यह मत है :—अन्य की अन्यरूप से प्रतीति को अन्यथाख्याति कहते है । जेवरी का ही अन्यथा और प्रकार से (सर्परूप से) भान और कथन ही अन्यथाख्याति है । अख्याति = साख्य प्रभाकर मतवाले कहते है —जहा

रज्जु मे सर्पभ्रम होता है, वहा रज्जु का इदरूप से समान्य ज्ञान और सर्प की स्मृति यह दो ज्ञान होते है। इन दो ज्ञानो के अविवेक को ही साख्य प्रभाकर मत मे भ्रम कहते है और अख्याति कहते है। अनिर्वचनीय ख्याति=सत् असत् से विलक्षरण को अनिर्वचनीय कहते है। रज्जु मे सर्प सत् असत् से विलक्षरण ही उत्पन्न होता है। वेदान्त सिद्धान्त मे अनिर्वचनीय ख्याति ही मानते है।

(ग)

गधत्व=गध की अधिकरणता को गधत्व कहते है।

गुण १४—१—रूप २—रस ३—गध ४—स्पर्श ५—सख्या ६—परिमाण ७—पृथक्त्व ८—सयोग ९—विभाग १०—परत्व ११—अपरत्व १२—गुरुत्व १३—द्रव्यत्व १४—सस्कार। ये चतुर्दश गुण है। गुण प्रत्यक्ष=जिस इन्द्रिय की योग्यता जिस गुण मे है, उस इन्द्रिय से उस गुण का प्रत्यक्ष होता है। जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ज्ञान होता है उसकी जाति का और उसके अभाव का भी उसी इन्द्रिय से ज्ञान होता है।

(च)

चरम=अत्य को चरम कहते है। चारवाक=आकाश न मान कर चार भूतो को ही माने ऐसे देहात्मावादियो को चारवाक कहते है। चित्=अलुप्त प्रकाश। चित्निरोध युक्ति—अध्यात्म विद्या, साधुसग, वासनात्याग, प्राणायाम। चिदाभास की सात अवस्था—अज्ञान, आवरण, भ्राति, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकनाश, हर्ष। अज्ञान=मै ब्रह्म को नही जानता हूँ। आवरण=ब्रह्म नही है और भान नही होता है। आवरण की दो शक्ति—असत्वापादक='वस्तु नही है' ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्ति। अभानापादक='वस्तु का भान नही होता है' ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्ति। भ्रॉति=जन्म मरण, गमनागमन, पुण्य-पाप, सुख दुख, की निज स्वरूप कूटस्थ मे प्रतीति को भ्राति कहते है। इसी को शोक भी कहते है। परोक्षज्ञान=सत्य ज्ञान अनन्त रूप ब्रह्म है इसको परोक्ष ज्ञान कहते है। यह 'ब्रह्म नही है' इस प्रतीति का विरोधी है।

अपरोक्षज्ञान='मै ब्रह्म हूँ' इमको अपरोक्षज्ञान कहते है। यह अज्ञान, आवरण, भ्राति, इस अविद्याजाल को नष्ट करता है। भ्रातिनाश= मेरे मे जन्म मरण नही है, सुख दु ख का लेश भी मुझमे नही है। किन्तु मै अजन्य (जन्मरहित) कूटस्थ हूँ। इसको भ्रातिनाश कहते है और शोकनाश भी कहते है। हर्ष=जब सशयरहित अपने स्वरूप का 'मै अद्वैत ब्रह्मरूप हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर जो मोद होता है, उसको हर्ष कहते है और 'निरकुशा तृप्ति' भी कहते है। चेतन—ब्रह्म=निर-वच्छिन्न चेतन को ब्रह्म कहते है। ब्रह्माड के भीतर बाहर महाकाश के समान भरपूर चेतन को ब्रह्म कहते है। तत्पद के लक्ष को ब्रह्म कहते है। ईश्वर साक्षी तत्पद का लक्ष्य है। तत्पद वाच्य=अधिष्ठान चेतन सहित माया मे आभासरूप ईश्वर है वह तत्पद का वाच्य है। केवल अधिष्ठानचेतन तत्पद का लक्ष्य है। समष्टि सघात उपहित चेतन ईश्वर साक्षी है। सामान्य चेतन=व्यापक चेतन। विशेष चेतन=वृत्ति मे स्थित चेतन। अधिककाल मे अधिक देश मे हो उसको सामान्यरूप कहते है। न्यून देश मे न्यूनकाल मे हो उसको विशेषरूप कहते है। शुद्ध-चेतन=निरुपाधिक चेतन। कार्यब्रह्म=मायाकृत कार्य विशिष्ट चेतन को कार्यब्रह्म कहते है। ईश्वर चेतन=मायाविशिष्ट चेतन। माया मे चेतन का आभास और माया का अधिष्ठान चेतन दोनो को ईश्वर कहते है। मूल प्रकृति मे चेतन के प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहते है। माया मे प्रतिबिम्ब ईश्वर है। मायारूप अधकारस्थ जो जल कण समान बुद्धिवासना उसमे प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहते है। सुषुप्ति अवस्था मे जो बुद्धि की सूक्ष्म अवस्था उसको वासना कहते है। केवल बुद्धि वासना मे प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहै तो ठीक नही, इससे बुद्धि वासना विशिष्ट अज्ञान मे प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहते है। सुषुप्ति अवस्था मे बुद्धि वासना सहित अज्ञानरूप आनन्दमय कोश को ईश्वर कहते है। समष्टि सघात उपहित चेतन को ईश्वर साक्षी कहते है। माया उपहित चेतन को ईश्वर साक्षी कहते है। सूक्ष्म प्रपच के प्रेरक अतर्यामी को हिरण्यगर्भ कहते है। सूत्रात्मा=समष्टि लिंग शरीर उपहित चेतन वा प्राण इन्द्रिय क्रिया वालो से प्राण और पट मे सूत्र के समान

ब्रह्माड मे व्याप्त होने से सूत्रात्मा कहते है, हिरण्यगर्भ भी कहते है। विराट्=विविध प्रकार से प्रकाशमान। वैश्वानर=नरो का अभिमानी। विश्व=सूक्ष्म शरीर को न त्यागकर स्थूल शरीर मे प्रवेश करने वाला। प्रमाता चेतन=प्रमाज्ञान का आश्रय अत करण सहित चेतन। स्थूल प्रपच के प्रेरक अतर्यामी को विराट् कहते है। समष्टि स्थूल प्रपच सहित चेतन को विराट् कहते है। शुद्ध सत्वगुण सहित माया ईश्वर का कारण शरीर है। ईश्वर के भग (ऐश्वर्य), समग्रऐश्वर्य, समग्रधर्म, समग्रयश, समग्रश्री, समग्रज्ञान, समग्रवैराग्य, है।

जीव चेतन=अविद्या विशिष्ट चेतन वा अत करण विशिष्ट चेतन जीव है। बुद्धि अथवा व्यष्टि अज्ञान के अधिष्ठान चेतन को कूटस्थ कहते हैं। स्थूल सूक्ष्म शरीर के अधिष्ठान चेतन को कूटस्थ कहते है। कूट (मिथ्या बुद्धि व चिदाभास) मे असगरूप से स्थित को कूटस्थ कहते है। कूट जो लुहार का अहरन उसके समान निर्विकार रूप से स्थित को कूटस्थ कहते है। नाना काम और कर्म सहित बुद्धि मे चेतन के प्रतिबिम्ब को जीव कहते है। चिदाभास और बुद्धि वा व्यष्टि अज्ञान का अधिष्ठान चेतन दोनो को जीव कहते है। अज्ञान मे प्रतिबिम्ब जीव है। बिम्ब ईश्वर है। जीव चेतन की उपाधि मूलाज्ञान है। उसमे आरोपित प्रतिबिम्बत्व विशिष्ट चेतन को जीव कहते है। अविद्यारूप अनन्त अशो मे चेतन के अनन्त प्रतिबिम्ब जीव कहे जाते हैं। अत करण उपहित को जीव साक्षी कहते है। व्यष्टि सघात उपहित चेतन जीव साक्षी है। जीव साक्षी को ही त्वपद का लक्ष कहते है। त्वपद का लक्ष आत्मा है। सर्व प्रपंच और माया का अधिष्ठान है इससे चेनन को ब्रह्म कहते है। अविद्या और व्यष्टि देहादिको का अधिष्ठान है, इससे चेतन को आत्मा कहते है। आत्मा सच्चिदानन्द= निवृत्ति रहित होने से सत्, जड से विलक्षण होने से चित्, दु ख से विलक्षण मुख्य प्रीति का विषय होने से आनन्दरूप है। व्यष्टि स्थूल और जाग्रत् के अभिमानी चेतन को विश्व कहते है। व्यष्टिसूक्ष्म और स्वप्न के अभिमानी चेतन को तैजस कहते हैं। सुषुप्ति में कारण देह के अभिमानी चेनन को प्राज्ञ कहते है। मलिन सत्व गुण सहित अविद्या

अश जीव का कारण शरीर है। कारण शरीर को ही आनन्दमयकोश कहते है। प्रमाता (अत करण) अवच्छिन्न चेतन को प्रमाता चेतन कहते है। वृत्ति ज्ञान रूप अत करण के परिणाम को प्रमाण कहते है। प्रमाण अवच्छिन्न चेतन को प्रमाण चेतन कहते है। साभास वृत्ति विशिष्ट चेतन को प्रमाण चेतन कहते है। घटादिक विषय अवच्छिन्न (अन्यो से भिन्न किये) चेतन को प्रमेय चेतन कहते है। इसी को विषय चेतन भी कहते है। घटादि विषयाकार वृत्ति को प्रमा कहते है। प्रमा वृत्ति अवच्छिन्न चेतन को प्रमा चेतन कहते है। इसी को प्रमिति चेतन और फल चेतन भी कहते हैं। वृत्ति सबन्ध से घटादिको मे चेतन का प्रतिबिम्ब हो उसको फल चेतन कहते है। कोई कहते है —घटावच्छिन्न चेतन ही अज्ञात हो तब विषय चेतन और ज्ञात हो तब घटावच्छिन्न चेतन को ही फलचेतन कहते है। उसी को प्रमेय चेतन कहते है। स्थूल सूक्ष्म देह द्वयावच्छिन्न कूटस्थ चेतन को पारमार्थिक जीव कहते है। इसका ब्रह्म से मुख्य अभेद है। माया से आवृत्त कूटस्थ मे कल्पित अत करण मे चिदाभास है वह देह द्वय मे अभिमानकर्ता व्यावहारिक जीव है। निद्रारूप माया से आवृत व्यावहारिक जीवरूप अधिष्ठान मे कल्पित प्रातिभासिक जीव है। स्वप्नावस्था मे प्रातिभासिक प्रपच का अह ममाभिमानी प्रातिभासिक जीव है।

(ज)

जन्म=आद्यक्षण सबन्ध को जन्म कहते है।

जाग्रत् ३—जाग्रत् जाग्रत्=वर्त्तमान जाग्रत् मे स्वरूप का साक्षातकार। जाग्रत् स्वप्न=जाग्रत् मे भूत वा भविष्य अर्थ का चिन्तन रूप मनोराज्य। जाग्रत् सुषुप्ति=जाग्रत् मे श्रम से जडीभूतवृत्ति। इन्द्रिय जन्य ज्ञान की अवस्था को जाग्रत् अवस्था कहते है। अवस्था शब्द काल का वाचक है। सुखादिको के ज्ञान काल और उदासीन काल को भी जाग्रत् अवस्था कहते हैं। जाति=न्यायमत मे "नित्य एक और अनेक धर्मियो (व्यक्तियो) में अनुगत धर्म को जाति कहते है। परजाति= 'घट है' ऐसे सर्वत्र अनुगत सत्ता को न्यायमत मे पर (श्रेष्ठ) जाति

कहते है। अपरजाति=सत्ता से भिन्न घटत्व आदिक जाति को न्यायमत मे अपर (अश्रेष्ठ) जाति कहते है। व्याप्य जाति=व्यापक जाति के अतर्गत (न्यूनदेशवर्ती) जाति को व्याप्य जाति कहते है। जैसे मनुष्य जाति के अतर्गत ब्रह्मणत्व आदि जातियाँ व्याप्य जातिया है। व्यापक जाति=व्याप्य जाति से अधिक देश मे स्थित जाति, व्यापक जाति है। जैसे मनुष्यत्व है। जिज्ञासा=जानने की इच्छा। जिज्ञासु=जानने की इच्छावाला।

उत्तम जिज्ञासु=जिसको बोध नही हुआ है किन्तु आत्मा के जानने की तीव्र इच्छा है भोग की नही, उसका अन्त करण शुद्ध है, इससे वह उत्तम जिज्ञासु है। मद जिज्ञासु=ज्ञान की सामान्य इच्छा से जो श्रवण मे प्रवृत्त हुआ है और अन्त.करण भोगो मे आसक्त है वह मद जिज्ञासु है। ज्योति=प्रकाश अष्ट प्रकार है-सूर्य, चन्द्र, बिजली, तारा, अग्नि, दीपक, मणि, शब्द ।

ज्ञात अज्ञात=ज्ञान के विषय को ज्ञात और अज्ञान के विषय को अज्ञात कहते है। ज्ञातता=ज्ञानजन्य प्रकटता को ज्ञातता कहते है। ज्ञातत्वविशिष्ट=ज्ञातत्व विशेषण वाले को ज्ञातत्व विशिष्ट कहते है। ज्ञातत्व उपहित=ज्ञातत्व उपाधि वाले को ज्ञातत्व उपहित कहते है। ज्ञाता=ज्ञान का कर्ता ज्ञाता कहा जाता है। ज्ञातव्य=जानने योग्य ज्ञान का विषय (ब्रह्म और आत्मा का एकत्व)।

ज्ञान—नैयायिक=इन्द्रियजन्य ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते है, उससे भिन्न को परोक्ष ज्ञान कहते है। वेदात सिद्धात मे वृत्ति अवच्छिन्न चेतन को ज्ञान कहते है। अद्वैत मत मे अन्त करण के परिणाम वृत्ति को भी ज्ञान कहते है। अबाधित वृत्तिअवच्छिन्न चेतन को प्रमा ज्ञान कहते है। बहुत स्थान मे वृत्ति को भी ज्ञान कहते है। प्रमाण चेतन से विषय चेतन का अभेद हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। जहा विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद ही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है। नेत्रजन्य ज्ञान को चाक्षुष ज्ञान कहते है। मन सहित अनुमान प्रमाण से हो उसको

अनुमिति ज्ञान कहते है। मन सहित शब्द प्रमाण से हो उसको शाब्द ज्ञान कहते है।

अन्य प्रमाण बिना केवल मन से हो उसको मानस ज्ञान कहते है। प्रमाता से वर्त्तमान सबन्धी योग्य विषय के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। प्रमाता से वर्त्तमान सबन्धवाले योग्य विषय उसके योग्य प्रमाणजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। प्रमाता से वर्तमान सबन्धी योग विषय को प्रत्यक्ष कहते है। विषय का प्रमाता से वृत्ति द्वारा अथवा साक्षात्सबन्ध होता है, तब विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, और विषय भी प्रत्यक्ष होता है। अबाधित बाह्य पदार्थ गोचर वृत्ति को बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा कहते है। यथार्थ को प्रमा कहते है। अयथार्थ को अप्रमा कहते है। प्रमाता से वर्त्तमान सबन्ध वाले योग्य विषय का अयोग्य प्रमाण से अजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। "अह ब्रह्मास्मि" इस रीति से ब्रह्म से अभिन्न आत्मा को विषय करे उसको ब्रह्मगोचर शुद्वात्मगोचर प्रत्यक्ष प्रमा कहते है। ससार दशा मे अबाधित अर्थ को विषय करे उसको प्रमा कहते है। जिस विषय का प्रमातृ चेतन से अभेद हो, उस विषय को प्रत्यक्ष कहते है। प्रत्यक्ष विषय के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। जहा विषय चेतन का वृत्ति चेतन से अभेद नही हो उस ज्ञान को परोक्ष कहते है। अपरोक्ष, अर्थ गोचर ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते है। अपरोक्ष अर्थ है गोचर (विषय) जिसका उस ज्ञान को अपरोक्ष कहते है। अनावृत विषय से स्वव्यवहारानुकूल चेतन का अभेद अपरोक्ष ज्ञान का लक्षण है। आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान को तत्त्व ज्ञान कहते है। जीव ब्रह्म के अभेदगोचर अन्तकरण की वृत्ति को तत्त्व ज्ञान कहते है। जिस पदार्थ के पूर्व अनुभव के सस्कार हो ओर इन्द्रिय का सयोग हो, वहा "सोऽयम्" ऐसा ज्ञान होता है, उसको प्रत्यभिजा ज्ञान कहते है। प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री सहित सस्कारजन्य ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। केवल इन्द्रिय जन्य वृत्ति हो वहा "अयम्" ऐसा प्रत्यक्ष होता है, उसको अभिज्ञा प्रत्यक्ष कहते है। स्मृति=

सस्कारजन्य ज्ञान । केवल सस्कारजन्य वृत्ति हो उसका 'स' ऐसा आकार होता है उसको स्मृति कहते है। तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य अनुभव से आत्म तत्त्व की स्मृति को यथार्थ आत्म स्मृति कहते है।

व्यावहारिक प्रपच का मिथ्यात्व अनुभव होने पर उसके सस्कार से मिथ्यात्व रूप से प्रपच की स्मृति उसको यथार्थ अनात्मस्मृति कहते है। अहकारादिको मे आत्मत्व भ्रमरूप अनुभव के सस्कार से अहकारादिको मे आत्मत्व की स्मृति आत्मगोचर अयथार्थ स्मृति है। वैसे आत्मा मे कर्तृत्व अनुभव के सस्कार से आत्मा कर्ता है, यह स्मृति भी आत्मगोचर अयथार्थ स्मृति है । प्रपच मे सत्यत्वभ्रम के सस्कार से प्रपच सत्य है, यह स्मृति अनात्मगोचर अयथार्थ स्मृति है। जिस स्मृति से उत्तर स्मृति न हो उसको चरम स्मृति कहते है। स्मृति के विषय को स्मर्यमाण कहते है। 'ब्रह्म है' इस ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते है। 'ब्रह्म मै हूँ' इस ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते है। सशयादिक सहित ज्ञान को मद ज्ञान कहते है। सशयादि रहित ज्ञान को दृढ ज्ञान कहते है। धर्म धर्मी के सबन्ध को विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्प ज्ञान कहते है। उससे भिन्न को निर्विकल्प ज्ञान कहते है। अध्यास के हेतु सामान्य ज्ञान को धर्मिज्ञान कहते है। सामान्य ज्ञान को धर्मिज्ञान कहते है। "यह रज्जु है वा सर्प है" इस उभय कोटि ज्ञान को सशय ज्ञान कहते है। 'यह सर्प है' इस अविद्या की वृत्ति को भ्राति ज्ञान कहते है। इसी को विपरीत ज्ञान कहते है। ज्ञान से जिसका प्रकाश हो उसे ज्ञान का विषय कहते है। अज्ञान से आवृत्त होना अज्ञान का विषय है। जो-जो ज्ञान ग्राहक सामग्री उन सर्व से प्रमात्व ग्रह हो उसको स्वत. प्रामाण्य ग्रह कहते है। ज्ञान के ज्ञान की जिससे उत्पत्ति हो उसको ज्ञान ग्राहक सामग्री कहते है। न्याय शास्त्र के मत मे ज्ञान की उत्पादक सामग्री से प्रमात्व की उत्पत्ति नही होती है और ज्ञान की ज्ञापक सामग्री से प्रमात्व का ज्ञान नही होता है, इसको परत प्रामाण्यवाद कहते हैं।

ज्ञान के साधन=जिनका श्रवण मे वा ज्ञान मे प्रत्यक्ष फल हो

उनको अतरग साधन कहते है। जिनका ज्ञान मे अथवा श्रवरण मे प्रत्यक्ष फल नही हो किन्तु अत करण की शुद्धि ही फल हो उनको बहिरग साधन कहते है। युक्ति से वेदान्त वाक्यो के तात्पर्य निश्चय को श्रवरण कहते है। श्रवरण दो प्रकार का होता है–एक श्रोत्र से वेदान्त वाक्यो का सयोगरूप, दूसरा वेदान्त वाक्यो का विचाररूप।

व्यतिरेकी अनुमान से आत्मा मे इतर भेद का अनुमिति ज्ञान होता है उसको मनन कहते है। श्रुत अर्थ के निश्चय के अनुकूल प्रमेय सदेह निवर्तक युक्ति चितन को मनन कहते है।

जीव ब्रह्म के अभेद की साधक और भेद की बाधक युक्तियो से अद्वितीय ब्रह्म के चितन को मनन कहते है। मनन पद का अर्थ चितन मात्र है। अनात्माकार वृत्ति का व्यवधान रहित ब्रह्माकार वृत्ति की स्थिति को निदिध्यासन कहते है। निदिध्यासन की परिपाकावस्था को ही समाधि कहते है। 'तत्पद' 'त्वपद' के अर्थ का शोधन। इनका ज्ञान मे प्रत्यक्ष फल है। इनके बिना ज्ञान नही होता। विवेक=आत्मा अविनाशी और अचल है, जगत् नाशवान् और चचल है, इसको विवेक कहते है अर्थात् सत्यासत्य का निर्णय। वैराग्य=मृत्युलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के भोगो को त्यागने की इच्छा। शमादिषट् सपत्ति=शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपराम, तितिक्षा। शम=मन को विषयो से रोकना। दम=इन्द्रिय समुदाय को विषयो से रोकना। श्रद्धा=गुरु और बेद के वाक्य सत्य है, ऐसा विश्वास। समाधान=मन के विक्षेप (चचलता) का नाश। उपराम= त्याग करने के पश्चात् प्राप्त हुये विषय की इच्छा का अभाव। इसको ही उपरति कहते है। तितिक्षा=आतप, शीत, क्षुधा, तृषा आदि के सहन करने का स्वभाव। इनका श्रवरणादिको मे प्रत्यक्ष फल है। इनके बिना श्रवरणादिक नही होते। ये ज्ञान के आठ अतरग साधन है। यज्ञादिक बहिरग साधन है। जिनका ज्ञान मे अथवा श्रवरण मे प्रत्यक्ष फल नही हो किन्तु अत करण की शुद्धि जिनका फल हो वे ज्ञान के बहिरग

साधन होते है । मनोनाश=मन से रज तम से सत्त्व गुण का तिरस्कार रूप मन का स्थूल भाव कहा जाता है । उसका नाश=ब्रह्माभ्यास की प्रबलता से रज तम का तिरस्कार करके जो सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है वह है । वासनाक्षय । ये दोनो भी ज्ञान के साधन है । ज्ञान के प्रतिबन्धक=भूतकाल के विषयो का चितन भूत प्रतिबन्धक है । विषयासक्ति, बुद्धिमाद्य, कुतर्क, विषयासक्ति दुराग्रह, ये वर्तमान प्रतिबन्धक है। भविष्य विषयो का चिनन भविष्य प्रतिबन्धक है । सशय और विपरीत भावना भी ज्ञान के प्रतिबन्धक है । ज्ञान प्रतिबन्धक निवृत्ति के हेतु — शमादि—यह विषयासक्ति का निवृतक है । श्रवण—यह बुद्धि की मदता का निवृतक है । मनन—यह कुतर्क का निवृतक है ।

निदिध्यासन—यह विपरीत भावना मे जो दुराग्रह होता है उसका निवृत्तक है । ज्ञान भूमिका सात है—१-शुभेच्छा=विवेकादिक चार साधन सपन्न को आत्मा के जानने की तीव्र इच्छा । २-सुविचारणा= ब्रह्मनिष्ठ गुरु से श्रवण किये हुये जीव ब्रह्म की एकता के बोधक वेदान्त वचनो का अनेक युक्तियो से अच्छी प्रकार विचार करना ३-तनुमानसा=ब्रह्मात्मा की एकतारूप अर्थ के निरन्तर चिननरूप निदिध्यासन से स्थूल मन की (बहिर्मुख मन की) अतर्मुखतारूप सूक्ष्मता को तनुमानसा कहते है । ४-सत्त्वापत्ति=स्वरूप साक्षात्काररूप निर्विकल्प स्थिति होने पर, तत्त्वज्ञान युक्त मन रूप सत्त्व (शुद्ध अन्त - करण) की प्राप्ति को सत्त्वापत्ति कहते है । ५-असंसक्ति=निर्विकल्प समाधि के अभ्यास की परिपक्वता से देह मे सर्वथा अहतामसता गलित होकर, देहादिको मे सर्वथा आसक्ति के अभाव को असंसक्ति कहते है । ६-पदार्थाभाविनो=अतिशय निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से देहादिक सर्व पदार्थो का अधिष्ठान रूप से प्रतीत होना रूप अभाव को पदार्थाभाविनी कहते है । ७-तुरीयगा=ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटी की चतुर्थ, पचम भूमिका के समान भावरूप से और षष्ठ भूमिका के समान अभावरूप से भी प्रतीति नही हो, ऐसी स्वपर से उत्थान रहित तुरीय पद मे मन की स्थिति को तुरीयगा कहते है । भूमि का नाम

अवस्था का है । ज्ञानी=जीवन्मुक्त विद्वान् । ज्ञेय=जानने योग्य । ज्ञेयता =न्यायमत मे ज्ञेयता और पदशक्ति सर्व मे है ।

(त, द, ध)

तत्त्व=सार, आकाशादि पाच साख्य के २४ तत्त्व, तत्त्वज्ञान=ब्रह्म ज्ञान । तत्त्वज्ञानी=ब्रह्मज्ञानी, दार्शनिक, जीव, ब्रह्म, प्रकृति का यथार्थ ज्ञाता । तर्क=अनिष्ट प्रभजक वा अनिष्ट आपादन तर्क है । व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप । तादात्म्य=अभेद सबन्ध, तद्व्यक्तित्व । त्रिताप=स्थूल सूक्ष्म शरीर मे होने वाले आधि, व्याधि रूप दु ख को अध्यात्म ताप कहते है । देवताओ से होने वाले-शीत, उष्ण, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विद्युत्पात, भूकप आदिक दु'ख को अधिदेवताप कहते है । स्वशरीर से भिन्न चक्षुगोचर प्राणियो (चोर, व्याघ्र, शत्रु आदि) से होने वाले दु ख को अधिभूतताप कहते है । त्रिपुटी १४=ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का समुदाय त्रिपुटी है । इन्द्रिय, देवता और विषय तीनो को त्रिपुटी कहते है । इन्द्रिय अध्यात्म, देवता अधिदेव, विषय अधिभूत कहे जाते है । दश इन्द्रिय और अन्त करण की १४ त्रिपुटी होती है । दश दोष=चोरी, जारी, हिसा ये तीन दोष शरीर के है । निदा, झूठ, कठोरता, वाक्चालता, ये चार वाणी के दोष है । तृष्णा, चिता, बुद्धिमदता, ये तीन मन के दोष है । प्रमातादोष=अन करण देशगत अज्ञान की विक्षेप हेतु शक्ति मे स्थित शुभाशुभ कर्म के सस्कार रूप अदृष्ट । प्रमाणदोष=चेतन मे अन्य प्रमाण के अभाव से अपना स्वरूप ही प्रमाण है, उसमे स्थित अविद्या प्रमाण दोष है । प्रमेय-दोष=चेतन मे निरपेक्ष आतरता है, प्रपच मे सापेक्ष आनरता है । चेतन मे पारमार्थिक वस्तुता है, प्रपच मे अनिर्वचनीय वस्तुता है । इससे आंतरता से और वस्तुता से चेतन मे प्रपच का सादृश्य है सो प्रमेय दोष है । द्रव्य शक्ति जाग्रतादि व्यवहार के अनुकूल पदार्थो के उत्पन्न होने के कारण रूप शक्ति को द्रव्य शक्ति कहते है ।

दृष्टात=वादी प्रतिवादी दोनो के सम्मत अर्थ को दृष्टान्त कहते है । इसी को उदाहरण भी कहते है । दृष्टात से सिद्ध अर्थ को दार्ष्टात

कहते है। उसी को सिद्धान्त भी कहते है। जगत् के मिथ्यापन मे पाच दृष्टात है —शुक्ति मे रजत का, रज्जु मे सर्प का, स्थाणु मे पुरुष का, आकाश मे नीलता का, मरुचिका मे जल का। मध्याह्न मे ऊषर भूमि मे प्रतिबिम्बित सूर्य की किरण को मरीचिका कहते है। उसमे जो जल भासता है, उसको मृगजल (मृगतृष्णा) कहते है। दृष्टिसृष्टि-वाद दृष्टि अर्थात् अविद्या की वृत्तिरूप ज्ञान, उसके सम समय मे ही सृष्टि अर्थात् प्रपच की उत्पत्ति, उसके कथन को दृष्टिसृष्टिवाद कहते है। इसी को अजानवाद भी कहते है। दृष्टि अर्थात् ज्ञानरूप ही सृष्टि है, ज्ञान से पृथक सृष्टि नही है। दृष्टिकाल मे अनात्म पदार्थ की सृष्टि है, ज्ञान से पूर्व अनात्म पदार्थ नही होते। दुर्जनतोष न्याय= प्रबल शत्रु अपने निर्बल शत्रु को प्रथम प्रहार करने की आज्ञा देकर सतोष को प्राप्त करे, पीछे उसको मारे, उसका नाम दुर्जनतोष न्याय है। धर्म=अन्याश्रित हो स्वतत्र न हो उसको धर्म कहते है। केवल-धर्म=घटत्वादिको को केवल धर्म कहते है।

धातु सात है —१-रस=सूक्ष्म (पुण्यपाप), मध्यम (अन्न का सार) और स्थूल (मल) भेद से तीन प्रकार भुक्त अन्न के विभाग होते है। उनमे से मध्यम विभाग को रस कहते है। २-रुधिर, ३-मास, ४-मेद= श्वेत मास (चर्बी) ५-मज्जा=अस्थिगत सचिक्कण पदार्थ। ६-अस्थि। ७-रेत। ध्येय=ध्यान करने योग्य। ध्याता=ध्यान करने वाला। ध्यान=तैल धारावत ध्येयाकार वृत्ति।

(न)

नाडि और नाडि देवता १०—१—इडा=(चद्र) वामनासिका गत चद्रनाडी। हरि देवता। २—पिगला=(सूर्य) दक्षिण नासिकागत सूर्यनाडी। ब्रह्मा देवता। ३—सुषुम्णा (मध्यमा)=नासिका के मध्यगत नाडी। देवतारुद्र। ४—गाधारी=(दक्षिण नेत्र) देवता इन्द्र। ५-हस्ति जिह्वा (वामनेत्र) देवता वरुण। ६—पूषा=(दक्षिणकर्ण) ईश्वर। ७—यशस्विनी (वामकर्ण) ब्रह्मा। ८—कुहू (गुदा) पृथ्वी। ९—अलबुषा =(मेढ्र) सूर्य। १०—शखिनी (नाभि) चद्र। हिता नाडी=जिसमे स्वप्न

सृष्टि होती है, यह बाल के अग्रभाग से भी शताश सूक्ष्म है और कठ देश मे स्थित है। पुरीतत् नाडी=जिसमे सुषुप्ति अवस्था मे मन प्रवेश करता है। यह नाभि प्रदेश मे स्थित है। नादादि= नाद ॐकार वा शब्दगुण वा परा आदिक चारवाणी। विन्दु=ॐकार का अलक्ष्य अर्थरूप तुरीयपद। कला=ॐकार की अकरादिमात्रा परावाणीरूप अक (शब्द का अवयव)। निग्रह दो प्रकार का होता है-१—क्रमनिग्रह=यम-नियमादिक अष्टयोग के अगो द्वारा क्रम से चित्त का निरोध। २—हठ-निग्रह=प्राणनिरोधरूप हठ से वा साभवी आदिक मुद्राओ मे से किसी एक मुद्रा के अभ्यास से चित्त का निरोध। नित्य निवृत्ति की निवृत्ति, नित्य प्राप्ति की प्राप्ति=व्यावहारिक किवा प्रातिभाषिक प्रपच के रहते हुये भी पारमार्थिक सत्ता से आत्मा मे प्रपच का अत्यताभाव श्रुति तथा विद्वानो के अनुभव से सिद्ध है सोई नित्य निवृत्ति है। इसी को विषयरूप निवृत्ति भी कहते है। उसका श्रुति युक्ति और तत्त्वज्ञान से त्रयकालिक अभाव निश्चय ही निन्य निवृत्ति की निवृत्ति है। परमानन्द स्वरूप ब्रह्म सर्व का अपना आप होने स नित्य प्राप्त है तो भी अज्ञान से अप्राप्त के समान है। उसका तत्त्वज्ञान से "मै ही परमानन्दरूप ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चयरूप ज्ञान ही नित्य प्राप्ति की प्राप्ति है। निश्चय=सशय विरोधीज्ञान। यथार्थ निश्चय=यथार्थ अनुभव वा यथार्थ स्मृति को यथार्थ निश्चय कहते है।

नियम ५ है —शौच=बाहर भीतर की पवित्रता। सतोष, तप स्वाध्याय=स्वशाखा के वेदभाग का वा गीता आदिक का नित्यपाठ। ईश्वर प्रणिधान=ॐकारादि ईश्वर उपासना। निवृत्ति दो प्रकार की है —१—कार्य की कारण मे लयरूप निवृत्ति। २—अत्यंत निवृत्ति= जिसकी निवृत्ति होने पर फिर उत्पत्ति नही हो अर्थात् कारण सहित कार्य का नाश, उसको अत्यन निवृत्ति कहते है। निवृत्ति ३ (तादात्म्य की निवृत्ति) भ्रमज की निवृत्ति=ज्ञान द्वारा भ्राति (अविवेक) के नाश से भ्रमज तादात्म्य की निवृत्ति। सहज की निवृत्ति=सहज तादात्म्य का ज्ञान से वाध और ज्ञानी के देहपात के अनतर नाश। कर्मज की

निवृत्ति=कर्मज तादात्म्य प्रारब्ध भोग के अत होने पर ज्ञानी के देह की निवृत्ति। नि स्वरूप=सत्ता स्फूर्ति रहित को नि स्वरूप कहते है। नि श्रेयस=मोक्ष-अनर्थ निवृत्ति, परमानन्द प्राप्ति।

(प, फ)

पचकोश=समष्टि अज्ञानरूप माया ईश्वर का कारण शरीर है, वही ईश्वर का आनन्दमय कोश है। जीवो के सूक्ष्म शरीर की समष्टि रूप हिरण्यगर्भ ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है। उसमे विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमयरूप ईश्वर के तीन कोश है। दिक्पाल, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, ये पाँच ईश्वर की ज्ञानइन्द्रिय, और समष्टि बुद्धिमय महत्तत्त्वरूप वा सर्व बुद्धियो का अभिमानी ब्रह्मारूप ईश्वर को बुद्धि, यह ईश्वर का विज्ञानमय कोश है। उक्त श्रोतादिक के अधिष्ठाता पाच ईश्वर के ज्ञानइन्द्रिय और समष्टि मनरूप अहकारमय वा सर्व के मन का अभिमानी चद्रमामय ईश्वर का मन यह ईश्वर का मनोमय कोश है। अग्नि, इन्द्र, उपेद्र, प्रजापति, यम, ये पाच ईश्वर के कर्म इन्द्रिय और समष्टिप्राण वा वायु का अभिमानी देवतारूप ईश्वर का प्राण, यह ईश्वर का प्राणमय कोश है। समष्टि स्थूल सृष्टिरूप विराट् ईश्वर का स्थूल शरीर है। सो ईश्वर का अन्नमय कोश है। मलिन सत्त्वगुण सहित अविद्या अश जीव का कारण शरीर है। वही जीव का आनन्दमय कोश है। जीव के सूक्ष्म शरीर मे विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय ये तीन कोश रहते है। पचज्ञान इन्द्रिय और निश्चयरूप अत करण की वृत्ति बुद्धि जीव का विज्ञानमय कोश है। पचज्ञान इन्द्रिय और सकल्प विकल्प रूप अत.करण की वृत्ति मन, जीव का मनोमय कोश है। पचप्राण और पच कर्मेद्रिय जीव का प्राणमय कोश है। व्यष्टि स्थूल शरीर जीव का अन्नमय कोश है।

पचभेद=जीव ईश का भेद, जीवो का परस्पर भेद, जीव जड का भेद, ईश जड का भेद, जड जड का भेद। पदार्थ शोधन=चेतन का और जड का क्रम से कार्य कारणपना और अधिष्ठान अध्यस्तपना,

द्रष्टादृश्यपना, साक्षी साक्ष्यपना, है उसका शास्त्रोक्त अनेक प्रक्रियाओ से विचार करना अर्थात् हसपक्षी द्वारा क्षीरनीर के विभाग के समान। किवा घृत और तक्र (छाछ) के विभाग के समान। किवा (अथवा) मृत्तिका कूपाकाश के विभाग के समान विभाग करने को पदार्थ शोधन कहते है। परपरा सबन्ध=जिस अर्थ के साथ जिसका साक्षात् सबन्ध नही हो किन्तु किसी द्वारा सबन्ध हो, उस अर्थ के साथ उसका परपरा सम्बन्ध कहा जाता है। पर=भिन्न को पर कहते है। पराक=बाह्य। प्रत्यक=अतर। परिणाम=उपादान कारण के समान स्वभाव वाले और अन्यथा स्वरूप को परिणाम कहते है। परिशेष=बहुत अर्थो के प्राप्त होने पर अन्यो का निषेध होकर अवशेष रहे एक अर्थ मे निश्चय होता है, उसको परिशेष कहते है। परिभाषा =शास्त्र के असाधारण सकेत को परिभाषा कहते है। परीक्षा=पद-कृति (अतिव्याप्ति आदिक दोषो का विचार)। पालन=कर्म के अनुसार सुख दु ख के सबन्ध को पालन कहते है। पुरी आठ है —१—ज्ञाने-न्द्रिय पचक २—कर्मेन्द्रिय पचक ३—अत करण चतुष्टय ४—प्राणादि पचक ५—भूतपचक ६—काम ७—त्रिविध कर्म ८—वासना। पुरुष चार प्रकार के होते है —पामर, विषयी, जिज्ञासु, मुक्त, १—पामर =इस लोक के निषिद्ध और विहित भोगो मे आसक्त शास्त्र सस्कार से रहित पुरुष को पामर कहते है। २—विषयी=शास्त्र के अनुसार विषयो को भोगते हुये परलोक के वा इस लोक के भोगो के निमित्त कर्म करे उस पुरुष को विषयी कहते है। ३—जिज्ञासु=जन्मादिक दु खो की निवृत्ति और परमानन्द स्वरूप की प्राप्ति का हेतु स्वरूपज्ञान है, उसके जानने की इच्छा जिसको हो उस पुरुष को जिज्ञासु कहते है। ४—मुक्त=स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर से भिन्न अपना स्वरूप, उसका ब्रह्मरूप से अपरोक्षज्ञान जिसको हो उस पुरुष को मुक्त कहते है। पुरुषार्थ=पुरुष की अभिलाषा के विषय को पुरुषार्थ कहते है। दु खाभाव को पुरुषार्थ कहते है। केवल सुख ही को पुरुषार्थ कहते है। मुख्य पुरुषार्थ सुख ही है।

पूजापात्र—ब्रह्मनिष्ठ, मुमुक्षु, हरिभक्त, स्वधर्मनिष्ठ पुरुष पूजा के पात्र होते है। प्रकरण ग्र थ=सिद्धान्त के एक देश का आश्रय करके स्वतत्र अधिक अर्थ का निरूपण जिनमे किया हो, ऐसे पचदशी आदिक वेदान्त के ग्र थो को वेदात के प्रकरण ग्र थ कहते है। प्रकृति=जिससे प्रकर्ष से सर्व जगत् किया जाता है, ऐसी सृष्टि की उपादान कारण शक्ति को प्रकृति कहते है। अथवा-'प्र' सत्त्वगुण, 'कृ' रजोगुण, दोनो से युक्त 'ति' तमोगुण प्रधान स्वरूप शक्ति को प्रकृति कहते है। प्रकृति अष्ट प्रकार=१-पृथ्वी-२ जल ३-अग्नि ४-वायु ५-आकाश ६-मन-यहा मन शब्द से समष्टि मन रूप अहकार का ग्रहण है। ७-बुद्धि-यहा-बुद्धि शब्द से समष्टि बुद्धि रूप महत्तत्व का ग्रहण है। ८ अहकार-यहा अहकार शब्द से महत्तत्व से पूर्व शुद्ध अहकार के कारण अज्ञानरूप मूल प्रकृति का ग्रहण है। प्रतिक्षेप=तिरस्कार। प्रतिबन्धक=कार्य का विरोधी। प्रत्यक्ष प्रमाण=प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। इन्द्रिय जन्य यथार्थ ज्ञान को न्यायमत मे प्रत्यक्ष प्रमा कहते है। अबाधित अर्थ को विषय करने-वाला ज्ञान प्रमा कहा जाता है। सफल प्रवृति का जनक ससर्ग विशिष्ट ज्ञान प्रमा कहा जाता है। प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते है। उससे भिन्न को अप्रमा कहते है। प्रमा के करण को प्रमाण कहते है। अप्रमात्व को अप्रवाण्य कहते है। प्रतियोगी=अभाव के अभाव को प्रतियोगी कहते है। जिसका अभाव हो उसको उसका प्रतियोगी कहते है। प्रतियोगी मे जो धर्म रहता है उसको प्रतियोगितावच्छेदक कहते है। अभावबोधक पद के साथ प्रतियोगिताबोधक पद के उच्चारण करे जिस धर्म की प्रतीति हो, उसको प्रतियोगितावच्छेदक कहते है। प्रतियोगिता-वच्छेदक सबन्ध=जिस सबन्ध से पदार्थ का अभाव कहा जाय उसको प्रतियोगितावच्छेदक सबन्ध कहते है। प्रतीति=ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान=प्रत्यक्ष विषय के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। प्रपच=ससार ये तीन प्रकार का है'—स्थूल प्रपच, सूक्ष्म प्रपच, कारण प्रपच। प्रमा=स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थगोचर ज्ञान। सफल प्रवृत्ति

जनक ससर्ग विशिष्ट ज्ञान प्रमा है। प्रमाता=प्रमा ज्ञान का कर्ता प्रमाता है। अन्त करण विशिष्ट प्रमाता है। प्रमाद=अवश्य करने योग्य कार्य का विस्मरण। प्रमुष्टतत्ता=प्रमुष्ट अर्थात् लुप्त हुई है तत्ता जिसकी सो प्रमुष्टतत्ता के शब्द का अर्थ है। प्रमेय=प्रमा ज्ञान का विषय। प्रयोजन दो प्रकार है। अवातर=जिस वस्तु द्वारा परम प्रयोजन की प्राप्ति हो उसको अवातर प्रयोजन कहते है। परम प्रयोजन=जिस मे पुरुष की अभिलाषा हो उसको परमप्रयोजन कहते है। प्रलय पच प्रकार का है=१-नित्य प्रलय=क्षण क्षण मे सर्व कार्यो का दीप ज्योति के समान नाश, वा सुषुप्ति। २-नैमित्तिक प्रलय=ब्रह्मा की रात्रि रूप निमित्त से भूर आदि नीचे के तीन लोको का नाश। ३-दिन प्रलय=ब्रह्मा के दिन मे चतुर्दश मन्वतर होते है। उनमे से प्रत्येक का नाश। इसी को अवानर प्रलय और मन्वतर प्रलय भी कहते है। इसी को कोई नैमितिक प्रलय भी कहते है। ४-महाप्रलय=ब्रह्मा के शतवर्ष के अनन्तर ब्रह्मदेव सहित आकाशादि सर्वभूतो का नाश। ५-अत्यतिक प्रलय=ज्ञान से कारण सहित सकल जगत् का बाध (अत्यन्त निवृत्ति)। प्रवृति विज्ञान धारा=यह घट है, यह शरीर है ऐसी विज्ञान की धारा। प्रसख्यान=वृत्ति का प्रवाह। प्राक् सिद्ध=शुक्ति मे कालत्रय मे रजत नही है, ऐसा निश्चय। प्रस्थान=विद्या के अग। प्रौढिवाद=प्रतिवादी की उक्ति मानकर भी स्वमत मे दोष का परिहार करने को प्रौढिवाद कहते है। प्रौढि अर्थात् अपनी उत्कर्षता के लिये वाद अर्थात् कथन को प्रौढिवाद कहते है। फल=वृत्ति मे चिदाभास। फल=मोक्ष। फलव्याप्ति, वृत्ति व्याप्ति-फल व्याप्ति=चिदाभास की पदार्थ मे व्याप्ति को फल व्याप्ति कहते है। वृत्ति व्याप्ति=अन्त करण की वृत्ति घटादिक पदार्थो से व्याप्त होकर उसी पदार्थ के आकार मे स्फुरण होती है, उसको वृत्ति व्याप्ति कहते है।

(ब, भ)

बध=अभिमान की अवस्था का ही नाम बध है। भ्रम ज्ञान को

अभिमान कहते है। बधक = अहकार से आदि अनात्म वस्तु। बाध = अपरोक्ष मिथ्या निश्चय वा अभाव निश्चय। शुक्ति मे कालत्रय मे रजत नही है, इस निश्चय को बाध कहते है। अध्यस्त पदार्थ मे मिथ्यात्व निश्चय वा उसका अभाव निश्चय ही बाध का स्वरूप है। बाध = ब्रह्मज्ञान बिना प्रतिबिम्बाध्यास का बाध नही माने उसके मत मे केवल अधिष्ठान शेष को बाध कहते है। बाधित = ब्रह्मज्ञान बिना ही शुक्ति आदिको के ज्ञान से जिसका बाध हो उसको बाधित कहते है। अथवा प्रमाता के बाध बिना जिसका बाध नही हो उसको अबाधित और प्रमाता के होते हुये भी जिसका बाध हो उसको बाधित कहते है। जिसका सर्वदा बाध नही हो ऐसा चेतन है। व्यवहार दशा मे बाध नही हो ऐसा अज्ञान और महाभूत तथा भौतिक प्रपच है। बाध्य = अबाध्य विलक्षण। बाध के योग्य को बाध्य कहते है। ब्रह्मवित् = चतुर्थभूमिका मे आरूढ ज्ञानी। ब्रह्मविद्वर = पचम भूमिका मे आरूढ ज्ञानी। ब्रह्मविद्वरीयान् = षष्ठ भूमिका मे आरूढ ज्ञानी। ब्रह्म विद्वरिष्ठ = सप्तम भूमिका मे आरूढ ज्ञानी। ब्राह्मणव्रत = १-ज्ञान २-सत्य ३-शम ४-दम ५-श्रुत = शास्त्राभ्यास। ६-अमात्सर्य = पर के उत्कर्ष का असहन रूप मत्सरता से रहित। ७-अनुसूया = गुणो मे दोषारोपण रूप असूया रहित। ८-लज्जा। ९-तितिक्षा १०-यज्ञ ११-दान १२-धैर्य=कामक्रोध का वेग रोकना। भद्रामुद्रा=हस्तगत अगुष्ठ तर्जनी के सयोग को भद्रामुद्रा कहते हैं। इसी को लोपामुद्रा, तर्कमुद्रा, ज्ञानमुद्रा भी कहते हैं। भागवत धर्म=भक्तो के धर्म १३ है — १-सकाम कर्म के फल का विपरीत दर्शन। २ धन गृह पुत्रादि मे दु खबुद्धि और चलबुद्धि। ३-शब्द ब्रह्म और परब्रह्म मे कुशल गुरु प्रतिगमन। ४-परलोक मे नश्वरबुद्धि। ५-गुरु मे ईश्वर बुद्धि और निष्कपट सेवा। ६-परमेश्वर मे सर्वकर्म समर्पण। ७-भक्ति वैराग्य सहित स्वरूपानुभव, साधु सग। ८-शौच, तप, तितिक्षा, मौन। ९-स्वाध्याय, आर्जव (सरल स्वभाव), ब्रह्मचर्य, अहिसा, द्व द्वसमत्व (शीत उष्ण आदिक द्व द धर्म के सहन का स्वभाव) १०-सर्वत्र आत्मारूप ईश्वर का दर्शन ११-कैवल्य (एकाकी रहना), अनिकेत (गृह नही बनाना), एकात (विविक्त), चीर

वस्त्र, सतोष । १२-सर्व भूतो मे आत्मा के भगवद्भाव का दर्शन । १३-जन्म कर्म वर्णाश्रमादि का देह मे निरभिमान और परस्पर बुद्धि का अभाव । भाष्य=सूत्रादिरूप मूल ग्रन्थ के पद को लेकर उसके पर्याय रूप स्वपदो को कथन करके फिर मूलगत पदो के अनुसार पदो से स्वपदो का विवरण अर्थात् विशेष करके वर्णन को भाष्य कहते है । भूतग्राम चार है—१-जरायुज=मनुष्य पशु आदिक । २-अडज=पक्षी सर्पादिक । ३-उद्भिज्ज=वृक्षादिक । ४-स्वेदज=यूकामत्कुण आदिक । भूमा=अनन्तरूप ब्रह्म । भूरादिक लोक ७—१-भूरलोक २-भुवरलोक ३-स्वरलोक ४-महरलोक ५-जनलोक ६-तपलोक ७-सत्यलोक । भ्रम=दोषजन्य । भ्रम निश्चय=अनिर्वचनीय के निश्चय को भ्रम निश्चय कहते है । न्यायमत मे विशेपरण के अभाव वाले मे विशेपरण प्रतीति को भ्रम कहते है । उसको ही अयथार्थ ज्ञान और अन्यथाख्याति भी कहते है । अयथार्थ को तथा सशय ज्ञान को भी भ्रम कहते है । स्वाभावाधिकरण मे अवभास को भ्रम कहते है । भ्रम का उपादान कारण=भ्रम का अधिष्ठान ही भ्रम का उपादान कारण है । ज्ञान द्वय से निष्फल प्रवृत्ति हो, वहा ज्ञान द्वय को ही भ्रम कहते है । यह प्रभाकर का अख्यातिवाद है ।

(म)

मगल ६ प्रकार का है —निर्गुण वस्तु निदेश (बताना) जिस विभु सत्य प्रकाश से सूर्य चन्द्रादिक प्रकाशित होते है, सो बुद्धि का साक्षी शुद्ध और आनन्द स्वरूप मै । सगुण वस्तु निर्देश=श्री गणपति के नाम से विघ्न समूल नष्ट हो जाते है, गणपति के चिन्तन बिना देवताओ का भी कार्य सिद्ध नही होता है । नमस्कार=जो भजन करने वालो को सदा भजते है अर्थात् उनकी इच्छा पूर्ण करते है, उन असुरो के सहारक लक्ष्मीपति और पार्वतीपति को हमारा प्रणाम है । स्ववाछित प्रार्थनारूप आशीर्वाद=जिस शक्ति की शक्ति को प्राप्त करके ईश्वर यह ससाररूप कार्य रचना है, वह मेरे कार्य की सिद्धि के लिये मेरे हृदय मे निवास करे । शिष्यवाछित प्रार्थनारूप आशीर्वाद=जन्मादि दु खरूप बन्ध को हरने वाले और परम सुख

को प्रदान करने वाले मेरे इष्टदेव शिष्यो का जन्मादि दु ख नष्ट करे। आचार्य को नमस्कार=वेदान्तशास्त्र रचयिता व्यास आदि आचार्यो को नमस्कार। मद प्रारब्ध=जिसका प्रारब्ध अधिक प्रवृत्ति का हेतु हो, उसके प्रारब्ध को मद कहते है। मन=न्याय मत मे मन को परम अणु कहते है। अन्त करण की अवस्था को मन कहते है। सकल्प विकल्प रूप अन्त करण की वृत्ति को मन कहते है। मनन=जीव ब्रह्म के अभेद की साधक और भेद की बाधक युक्तियो से अद्वितीय ब्रह्म के चिनन को मनन कहते है। मद अष्ट प्रकार है.—कुल मद, शीलमद, धनमद, रूपमद, यौवनमद, विद्यामद, तपमद, राज्यमद। मल=पाप। महावाक्य=जीव परमात्मा की एकता के बोधक वाक्य को महावाक्य कहते है। परमात्मा के वा जीव के स्वरूप के बोधक वाक्य को अवातर वाक्य कहते है। महत्ता हेतु धर्म १२ है —१—धनाढ्यता २—अभिजन=कुटुम्ब ३—रूप ४—तप ५—श्रुत=शास्त्राभ्यास ६—ओज=इन्द्रियो का तेज। ७—तेज ८—प्रभाव ९—बल १०—पौरुष ११—बुद्धि १२—योग। महाकारण शरीर=ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा वेदान्तशास्त्र के श्रवण से 'मै द्रष्टा साक्षी रूप हूँ' ऐसा विशेष ज्ञान मन की वृत्ति मे उत्पन्न होता है, उसको चौथा महा कारण शरीर कहते है। महायज्ञ पाच है —१-देवयज्ञ=होम। २-ऋषियज्ञ=धर्म ग्रथो का पाठ। ३-पितृयज्ञ=तर्पण ४-मनुष्ययज्ञ=अतिथि का सत्कार ५-भूतयज्ञ=गाय, कुत्ते आदि को रोटी देना। मानसविपर्यय=स्वप्न ज्ञान को नैयायिक मानसविपर्यय कहते है। अन्यथाख्याति को विपर्यय कहते है। माया=शुद्ध सत्व गुण की प्रधानता से माया, मलिन सत्व गुण की प्रधानता से अज्ञान, विक्षेप शक्ति को प्रधानता से माया, आवरण शक्ति की प्रधानता से अविद्या कहते है। मार्गतीन—पिपीलिका, दार्दुर, विहगम। पिपीलिका=चीटी के समान क्रम से (ब्रह्मचर्य से गृहस्थ फिर वानप्रस्थ फिर सन्यास फिर ज्ञान से) मुक्ति प्राप्त करना। दार्दुर=मेढक के समान स्थान छोडना अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी होके ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त करना। विहगम=पक्षी जैसे भूमि से उडकर सीधा वृक्ष की शाखा पर जा बैठता है, वैसे ब्रह्मचर्य

अवस्था मे ही ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त करना। अन्य तीन मार्ग १—देवयान=सूर्य मडल को भेदन करके ब्रह्मलोक मे जाने का मार्ग इसी को अर्चि मार्ग भी कहते है। २—पितृयान=चन्द्र मडल को भेदन करके इन्द्रलोक रूप ब्रह्मलोक मे जाने का मार्ग। इसी को धूम मार्ग भी कहते है। ३—जायस्व म्रियस्व मार्ग=बारम्बार जन्म मृत्यु के कारण मृत्युलोक मे आने का मार्ग। मुमुक्षु=मोक्ष की इच्छा वाला। मुक्ति—सालोक्य=इष्टदेव के लोक मे निवास। सामीप्य=इष्टदेव के समीप निवास। सारूप्य=इष्टदेव के समानरूप होना। सायुज्य=इष्ट देव मे मिलकर एक होना। जीवन्मुक्ति=शरीर सहित को बन्ध भ्रम का अभाव। विदेह मुक्ति=ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होकर प्रारब्ध भोग से अनन्तर स्थूल सूक्ष्म शरीराकार अज्ञान का चेतन मे लय होना विदेह मुक्ति है। मैत्र्यादि १—मैत्री=धनवान् वा गुण से समान वा ईश्वरभक्त वा विषयी (कर्मी, उपासक) पुरुषो मे 'ये मेरे है' ऐसी बुद्धि। २—करुणा=दु खी वा गुण से निकृष्ट वा अज्ञजन वा जिज्ञासु, इनमे दया। ३—मुदिता=पुण्यवान् वा गुण से अधिक वा ईश्वर वा मुक्त, इनमे प्रीति। ४—उपेक्षा=पापिष्ठ वा अवगुण युक्त वा द्वेषी वा पामर, इनमे रागद्वेष से रहिततारूप उदासीनता। मोक्ष द्वारपाल चार है —१-शम २-सतोष ३-विचार (विवेक) ४-सत्सग।

(य)

यथार्थ=दोषजन्य न हो किन्तु इन्द्रिय अनुमानादि प्रमाण से वा और किसी कारण से हो उसको यथार्थ ज्ञान कहते है। जिस ज्ञान के विषय का ससारदशा मे बाध न हो उसको यथार्थ कहते है। सवादी ज्ञान को यथार्थ कहते है। याग=अन्त्य आहुति को याग कहते है। योग=चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहते है। योग के आठ अग—यम=अहिसा, सत्य, अस्तेय=चोरी का अभाव। ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह=निर्वाह से अधिक धन का असग्रह है। नियम-शौच सतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान=ईश्वर उपासना। आसन-सिद्ध, पद्म आदिक। प्राणायाम=नासिका के छिद्र से इड़ा नाम नाडी से वायु को

पूर्ण करने का नाम पूरक है। दक्षिण से त्यागने को रेचक कहते है। सुषुम्ना से रोकने को कुभक कहते है। यह पूरक, रेचक, कुभक प्राणायाम है। अगर्भ प्राणायाम = प्रणव उच्चारण रहित प्राणायाम को अगर्भ प्राणायाम कहते है। प्रणव उच्चारण सहित को सगर्भ प्राणायाम कहते है। प्रत्याहार = विषयो से सकल इन्द्रियो के निरोध को प्रत्याहार कहते है। धारणा = अन्तराय रहित अन्त करण की स्थिति को धारणा कहते है। ध्यान = अन्तराय रहित अद्वितीय वस्तु मे अन्त करण के प्रवाह को ध्यान कहते है। समाधि = व्युत्थान सस्कारो का तिरस्कार और निरोध सस्कारो के प्रकट होने पर अन्त - करण के एकाग्रतारूप परिणाम को समाधि कहते है। सविकल्प समाधि = ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटी भान सहित अद्वितीय ब्रह्म मे अन्त करण की वृत्ति स्थिति को सविकल्प समाधि कहते है। शब्दा-नुविद्ध सविकल्प समाधि = 'अह ब्रह्मास्मि' इस शब्द से अनुविद्ध अर्थात् सहित हो उसको शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते है। शब्द रहित को शब्दाननुविद्ध सविकल्प समाधि कहते है। निर्विकल्प समाधि = त्रिपुटी भान रहित अखड ब्रह्माकार अन्त करण वृत्ति की स्थिति को निर्विकल्प समाधि कहते है। अद्वैत भावनारूप निर्विकल्प समाधि = अद्वैत ब्रह्माकार अन्त करण की अज्ञान वृत्ति सहित हो उसको अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि कहते है। वृत्ति रहित को अद्वैताव-स्थानरूप निर्विकल्प समाधि कहते है। लय = आलस्य से वा निद्रा से वृत्ति के अभाव को लय कहते है। चित्तसबोधन = लयरूप विघ्न का विरोधी जो निद्रा आलस्य निरोध सहित वृत्ति का प्रवाहरूप जागरण उसको गौड पादाचार्य चित्तसबोधन कहते है। विक्षेप = बहिर्मुख वृत्ति को विक्षेप कहते है। शम = विक्षेपरूप विघ्न का विरोधी जो योगी का प्रयत्न उसको गौडपादाचार्य ने शम कहा है। कषाय = रागादिक दोषो को कषाय कहते है। चित्त की पॉच भूमिका—१—क्षेप = लोक-वासना, देहवासना, शास्त्रवासना, इनसे आदि गुणो के परिणाम दृढ अनात्मवासनाओ को क्षेप कहते है। २—मूढ़ता = निद्रा आलस्यादिक

तमोगुण के परिणाम को मूढता कहते है। ३—विक्षेप=ध्यान मे प्रवृत्त चित्त की कदाचित् बाह्यवृत्ति हो जाय उसको विक्षेप कहते है। ४-एकाग्रता=अत करण का अतीत परिणाम और वर्तमान परिणाम समानाकार हो उसको एकाग्रता कहते है। ५-एकाग्रता की वृद्धि को निरोध कहते है। ये चित्त की पाच भूमिका है। भूमिका नाम अवस्था का है। पाच भूमिका सहित अत करण के पाच नाम —क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। रागादिक दोष रहित अत करण को क्षिप्त कहते है। रागद्वेपादिको के सस्कार को कपाय कहते है। बाह्य विपयाकार वृत्ति को विक्षेप कहते है। रसास्वाद=योगी को समाधि मे विक्षेपजन्य दु ख की निवृत्ति से जो आनन्द होता है, उसके अनुभव को रसास्वाद कहते है। विक्षेप निवृत्तिजन्य आनन्द के अनुभव को, वा सविकल्प समाधि के आनन्द के अनुभव को रसास्वाद कहते है। जीवन्मुक्त=सावधानता से चारो विघ्नो को रोककर समाधि मे परमानन्द अनुभव करता है, उसी विद्वान् को जीवन्मुक्त कहते है। यु जान–योगी=चितन करने से जिसको पदार्थ का ज्ञान हो, उसको यु जानयोगी कहते है। युक्तयोगी=जिसको सर्वदा एक रस सर्व पदार्थ अपरोक्ष प्रतीत हो उसको युक्त योगी कहते है। यहा योग के उन्ही शब्दो को लिखा है, जो वेदान्त ग्र थो मे प्राप्त होते है। जिनको योग सबन्ध मे अधिक जानना हो, वे सज्जन 'साधक सुधा' ग्रथ का २४ वा बिन्दु अवश्य पढ । उसमे चारो प्रकार के योग का (१ अष्टागयोग, २ हठयोग, ३ लययोग और ४ मत्रयोग) अच्छा परिचय दिया गया है। योग साधना के प्रेमियो को वह ग्र थ अवश्य देखना चाहिये।

(र, ल)

रजतत्व प्रतियोगी=रजतत्व जिसका प्रतियोगी हो उसको रजतत्व प्रतियोगी कहते है। रूप ७ प्रकार का है —शुक्ल, कृष्ण, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र। ऋत्विक=यज्ञ करने वाले ब्राह्मणो को ऋत्विक् कहते है। लक्षण=असाधारण धर्म (एक मे वर्तने वाला धर्म)। स्वरूप लक्षण=सदा विद्यमान रहते हुये व्यावर्तक हो उसे

स्वरूप लक्षण कहते है। तटस्थ लक्षण=कदाचित् हो और व्यावर्तक हो उसको तटस्थ लक्षण कहते है। लक्षण दोष तीन है-१-अव्याप्ति दोष=लक्ष्य के एक देश मे लक्षण के वर्तने को अव्याप्ति दोष कहते है। २-अतिव्याप्ति दोष=लक्ष्य मे वर्त करके अलक्ष्य मे भी लक्षण के वर्तने को अतिव्याप्ति दोष कहते है। ३-असंभव दोष=लक्ष्य मे लक्षण न वर्तने को असभव दोप कहते है। लयचितन=कार्य को कारण रूप जानकर चितन करने को लयचिंतन कहते है। लोकायत=पचभूतो को मानने वाले देहात्मवादी।

(व)

वाक्य दो-१-अवातरवाक्य २-महावाक्य। वाणी चार प्रकार है — १-परा वाणी=परावाणी का स्वरूप कुछ भी नही जान पडता है। जिस मूल स्थान से उठती है वहा भी छिपी हुई ही रहती है। शब्द उच्चारण की प्रथमावस्था को परावाणी कहते है। यह ब्रह्मवाणी है। २ पश्यति वाणी=नाभि मे सात स्वरो से मिलकर पुरुष से सयोग होता है इससे पश्यति वाणी कहते है। सूक्ष्म विचार के सस्कार को पश्यन्ति वाणी कहते है। ३-मध्यमावाणी नाद से सयोग होकर हृदय और कठ तक मध्यमावाणी का स्थान है। अनाहत् नादरूप मध्यमावाणी है। ४-वैखरीवाणी=अक्षरो का भेद लिये हुये मुख द्वारा ऊचा और स्पष्ट स्वर होता है। उसी को वैखरीवाणी कहते है। वार्तिक=मूल ग्रथकार के उक्त, अनुक्त, विरुद्ध उक्त अर्थ का चितन जिसमे हो ऐसे श्लोक बद्ध व्याख्या को वार्तिक कहते है। वाद=अवच्छेदवाद, आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद। वादादि-वाद= गुरु शिष्य का सवाद। जल्प=युक्ति प्रमाण कुशल पडितो का परमत खडक स्वमत मडकवाद। वितडा=मूर्खो का प्रमाण युक्ति रहितवाद, अथवा स्वपक्ष का स्थापन करके परपक्ष का ही खडन। जैसे श्री हर्ष ने खडन ग्रन्थ मे किया है। बाह्यान्तर=आत्मा और उसके सुखादिक धर्मो से भिन्न को बाह्य कहते है। आत्मा और उसके सुखादिक धर्मो को आन्तर कहते हैं। विकार ६ है —१-जन्म २-अस्तिता=पूर्व अविद्यमान

का होना। ३-वृद्धि ४-विपरिणाम ५-अपक्षय ६-विनाश। विज्ञान= जाग्रत स्वप्न अवस्था मे स्थूल अन्त करण को विज्ञान कहते है। विज्ञानवादी=क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि को ही आत्मा मानने वाले बौध। विज्ञानमय=जाग्रत स्वप्न मे भोग देने वाले कर्म समुदाय का नाश होने पर निद्रारूप से विलीन अन्त करण के भोग देने वाले कर्म के वश से घनीभाव होता है उसको विज्ञानमय कहते है। वही विज्ञान-मय सुषुप्ति मे विलीन अवस्था वाले अन्त करण रूप उपाधि के सबध से आनन्दमय कहा जाता है। विजिगीषु=अन्यो को जीतने की इच्छा वाले। विधि=जिससे विधान किया जाता है अर्थात् अपूर्व अर्थ बताया जाता है, उसे विधि कहते है। विधिवाक्य तीन है —अपूर्व विधिवाक्य =अलौकिक क्रिया का विधायक वाक्य वा प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ का कर्त्तव्यतारूप से बोधन करने वाला वाक्य। नियम विधिवाक्य= पक्ष मे प्राप्त अर्थ के अप्राप्त अश का पूरक वाक्य, वा प्राप्त दो पक्षो मे से एक का विधायक वाक्य। परिसख्या विधिवाक्य=उभय पक्ष मे एक के निषेध का विधायक वाक्य वा एक काल मे दो पदार्थो के प्राप्त होने पर एक पदार्थ की व्यावृत्ति का बोधक। विपरीत भावना=देहा-दिक सत्य है और जीव ब्रह्म का भेद सत्य है ऐसे ज्ञान को विपरीत भावना कहते है। विप्रतिपत्ति=परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वादियो के अनेक वचनो को प्रतिपत्ति कहते है। विभु=परम महत्परिणाम वाले को नैयायिक विभु कहते है। विरोध=माया का ज्ञान से वध्य घातक भाव विरोध है। एक अधिकरण मे एक काल मे नही रहै उनका सहानवस्थानरूप विरोध होता है। एक काल मे एक अधिकरण मे जिनकी प्रतीति नही हो उनका सहाप्रतीतिरूप विरोध कहा जाता है। विवर्त्त=अधिष्ठान से विपरीत स्वभाव वाले अन्यथा स्वरूप को विवर्त्त कहते है। विविदिषा= वेदन की इच्छा को विविदिषा कहते है। विसवादी=निष्फल प्रवृत्ति के जनक ज्ञानादिक को विसवादी कहते है। उससे भिन्न को सवादी कहते है। विसवादी ज्ञान को भ्रम कहते है। सवादी को यथार्थ कहते है। विशेष=न्यून देश मे न्यून काल मे हो उसको विशेष कहते

है। न्यायमत मे जो परमाणु के मध्यगत अनन्त अवकाशरूप पदार्थ माने है, उनको विशेष कहते है। विशेष्य=सबध के अनुयोगी को विशेष्य कहते है। विशेष्यभाग=जिसके आश्रित होकर विशेषण रहे वह विशेष्य भाग होता है। विशेषण=स्वरूप मे जिसका प्रवेश हो ऐसी व्यावर्त्त वस्तु को विशेषण कहते है। अपने सहित वस्तु को जो बतावे उसको विशेषण कहते है। सबध के प्रतियोगी को विशेषण कहते है। विशिष्ट=जिसकी व्यावृत्ति विशेषण से हो उसको विशिष्ट कहते है। विशेषण सहित को विशिष्ट कहते है। विश्व के १९ मुख=चतुर्दश त्रिपुटी और पाच प्राण ये उन्नीस विश्व के भोग के साधन होने से विश्व के मुख है। विषय=जिस पर कुछ विचार किया जाय, निबन्ध, धनादि। योग्य विषय=जिस विषय का प्रमाता से अभेद होते हुये प्रत्यक्ष व्यवहार हो वह विषय योग्य कहा जाता है। अयोग्य विषय=जिस विषय का प्रमाता से अभेद होते हुये भी प्रत्यक्ष व्यवहार नही हो उस विषय को अयोग्य कहते है। अपरोक्ष विषय=स्व व्यवहारानुकूल चेतन से अनावृत्त विषय का अभेद अपरोक्ष विषय का लक्षण है। वेद=ईश्वर का ज्ञान। वेद चार है—ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वणवेद। वेद के काड तीन है—कर्मकाड, उपासना काड, ज्ञान-काड। वेदाग=शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छद, निरुक्त, ज्योतिष ये छ है। वेदान=वेद का अन्त भागरूप उपनिषद्। वा वेद का अन्त अर्थात् निर्णय जिसमे है, ऐसा सूत्र भाष्यरूप उत्तर मीमासा शास्त्र। वेदान्त मत का अज्ञान=सिद्धान्त मत मे आवरण विक्षेप शक्ति वाला अनादि भावरूप अज्ञान पदार्थ है। विद्या से नाश होता है। इससे अज्ञान को अविद्या कहते है। प्रपच का उपादान होने से प्रकृति कहते है। दुर्घट को सपादन करने से माया कहते है। स्वतन्त्रता के अभाव से शक्ति कहते है। नैयायिकादिक ज्ञानाभाव को ही अज्ञान कहते है। व्यवधान =देशकृत वा कालकृत अतराय। व्यवहार=शब्द प्रयोग को व्यवहार कहते है। व्यवहार शास्त्र=धर्मशास्त्र, कानून, राजनीति, विवाद निर्णय और अपराधादि के दड विधान का शास्त्र। लौकिक व्यव-हार=शास्त्र से बाह्य जो लोक शब्द प्रयोग करे उसको लौकिक व्यव-

हार कहते है । शास्त्रीय व्यवहार = शास्त्र की परिभाषा से शब्द प्रयोग करे उसे शास्त्रीय व्यवहार कहते है । व्यवहित = अतराय सहित को व्यवहित कहते है । अव्यवहित = अतराय रहित को अव्यवहित कहते है । व्यवहित अव्यवहित = व्यवधान वाले को व्यवहित और व्यवहित से भिन्न अतराय से रहित को अव्यवहित कहते है । दूर देश मे हो उसे देश से व्यवहित और भूत वा भविष्यत् काल हो उसे काल से व्यवहित कहते है । व्यसन सात है —तन, मन, क्रोध, विषय, धन, राज्य, सेवक व्यसन । व्यापक = देशकाल वस्तु कृत अन्त से रहित को व्यापक कहते है । न्यून देश मे रहे उसको व्याप्य कहते है। जिसमे जिसकी व्याप्ति हो वह उसका व्याप्य होता है। जिसकी व्याप्ति हो उसको व्यापक कहते है । व्यावहारिक सत = ब्रह्म ज्ञान से प्रथम जिसका बाध नही हो और ब्रह्म ज्ञान से उत्तर जिसकी सत्ता स्फूर्ति नही हो उसको व्यावहारिक सत् कहते है । व्यावृत्ति = इतर पदार्थ से भेद ज्ञान को व्यावृत्ति कहते है । व्यावर्त्तक = अन्य पदार्थ से भिन्नता करके वस्तु के स्वरूप को बतावे उसे व्यावर्त्तक कहते है । जिस वस्तु का स्वरूप मे प्रवेश नही हो और व्यावर्त्तक हो उसको उपाधि कहते है । जिसको भिन्नता करके बतावे उसको व्यावर्त्य कहते है । व्युत्पन्न = पद पदार्थ, शक्ति, लक्षणारूप सगति ज्ञान से युक्त को व्युत्पन्न कहते है । वृत्ति = अन्त करण और अज्ञान के परिणाम को वृत्ति कहते है तथा विषय के प्रकाशक अन्त करण और अज्ञान के परिणाम को वृत्ति कहते है । विषय प्रकाश का हेतु अन्त करण और अविद्या के परिणाम को वृत्ति कहते है । कितने ही ग्र थो मे अज्ञान नाशक परिणाम को वृत्ति कहते है । अस्ति व्यवहार के हेतु अविद्या और अन्त-करण के परिणाम को वृत्ति कहते है । वृत्ति का प्रयोजन = कोई तो आवरण के अभिभव को वृत्ति का प्रयोजन कहते है । अज्ञान के एक देश का नाश आवरणाभिभव शब्द का अर्थ है । जीव चेतन से विषय का सबन्ध वृत्ति का प्रयोजन है । परोक्षापरोक्ष वृत्ति का प्रयोजन = असत्वापादक अज्ञानाश का नाश परोक्षापरोक्ष वृत्ति का प्रयोजन है । वृत्ति का मुख्य प्रयोजन = अज्ञान की निवृत्ति वृत्ति का मुख्य प्रयोजन है।

है। वृद्ध ६ प्रकार के होते है —१-अवस्था वृद्ध २-जाति वृद्ध ३-आश्रम वृद्ध ४-विद्या वृद्ध ५-धर्म वृद्ध ६-ज्ञान वृद्ध। यहा विद्या शब्द से शास्त्र ज्ञान का ग्रहण और ज्ञान शब्द से ब्रह्म ज्ञान का ग्रहण है।

(श)

शब्द दो प्रकार क है —वर्णरूप शब्द और ध्वनिरूप शब्द। शब्दादि-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध,। शब्द प्रमाण=शाब्दी प्रमा के करण को शब्द प्रमाण कहते है। पदो के समुदाय को वाक्य कहते है। अर्थ वाले वर्ण अथवा वर्ण के समुदाय को पद कहते है। पद अर्थ का जो आपस मे सबन्ध उसको वृत्ति कहते है। शब्द की दो वृत्ति होती है। एक शक्ति दूसरी लक्षणा। शब्द की शक्ति वृत्ति-न्यायमत मे ईश्वर की इच्छा रूप शक्ति है। जिस पद के सुनते ही जिस अर्थ को प्रतीति होती है, ऐसी ईश्वर की इच्छा न्यायमत की शक्ति है। मीमासा के मत मे शक्ति नामक कोई भिन्न पदार्थ है। भट्ट मत मे पद का अर्थ से भेदाभेद रूप तादात्म्य सबन्ध ही पद की शक्ति है। व्याकरण मत मे-पद मे जो अर्थ को बताने की योग्यता है वही शक्ति है, यह वैयाकरण भूषण ग्र थ मे हरि की कारिका का प्रमाण लिखकर शक्ति कही है और मजूषा ग्र थ मे योग भाष्य की रीति से व्याकरण के मत मे और पातजल के मत मे वाच्य वाचक भाव का मूल जो पदार्थ का तादात्म्य सबन्ध सोई शक्ति है। वेदात मत मे अर्थ को बताने का जो पद मे सामर्थ्य है वही शक्ति है। वा सर्वत्र अपना कार्य करने की सामर्थ्य शक्ति है। पद की सामर्थ्य वा पद के ज्ञान की सामर्थ्य शक्ति है। जिस पद का ज्ञान जिस अर्थ की स्मृति मे समर्थ हो उस पद की उस अर्थ मे शक्ति है। जितने पदार्थो की स्मृति हो उतने पदार्थो के सबन्ध का ज्ञान अथवा सबन्ध सहित सकल पदार्थो के ज्ञान को वाक्यार्थ ज्ञान कहते है। शब्द शक्ति ग्रहण हेतु=व्याकरण, उप-मान, कोश, आप्त (सत्यवक्ता का) वाक्य, वृद्ध व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण, सिद्ध पद की सन्निधि। शब्द प्रवृत्ति निमित्त=जाति, गुण, क्रिया, सबन्ध। जाति=अनेक पदार्थो मे रहने वाले नित्य एक धर्म को जाति कहते है। व्यक्ति=जाति के आश्रय को व्यक्ति

कहते है। वाच्य=जिस पद की जिस अर्थ में शक्ति हो उस पद के उस अर्थ को वाच्य कहते है। और शक्य भी कहते है। वाच्यतावच्छेदक=वाच्यता से न्यून वृत्ति और अधिक वृत्ति नही हो, किन्तु जितने देश मे वाच्यता हो, उतने देश मे रहे उसको वाच्यतावच्छेदक कहते है। सपादक ज्ञान के हेतु सपाद्य ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। ब्रह्म से भिन्न सर्व व्यावहारिक अर्थ है। परमार्थ तत्त्व ब्रह्म है। लक्षणा=शक्य सबन्ध को लक्षणा कहते है। पद का जो अर्थ से परम्परा सबन्ध होता है, उसको लक्षणा कहते है। साक्षात्सबन्ध वाले से जो सबन्ध उसको परम्परा सबन्ध कहते है। शक्य= जिस अर्थ से जिस पद का शक्तिरूप साक्षात्सबन्ध हो, वह अर्थ उस पद का शक्य कहा जाता है। शक्य, वाच्य, अभिधेय, मुख्य अर्थ पर्याय शब्द है। लक्ष्य=जिस अर्थ मे जिस पद के शक्य का सबन्ध हो उस अर्थ को उस पद का लक्ष्य कहते है। पद के शक्य का साक्षात्सबन्ध हो उसको केवल लक्षणा कहते है। लक्षित लक्षणा=पद के शक्य का परम्परा सबन्ध हो उसको लक्षित लक्षणा कहते है। बोध्य सबन्ध को लक्षणा कहते है। यौगिक शब्द=अवयव की शक्ति से जो शब्द अपने अर्थ को बतावे उसको यौगिक शब्द कहते है। अवयव शक्ति को योग कहते है। परिभाषा=शास्त्र के असाधारण सकेत को परिभाषा कहते है। परिभाषा से अर्थ के बोधक शब्द को पारिभाषिक शब्द कहते है। लक्षण= असाधारण धर्म को लक्षण कहते है। शक्य सबन्ध को लक्षणा कहते है। गौणी वृत्ति=पद के शक्य अर्थ मे जो गुण हो उस वाले अशक्य अर्थ मे पद की गौणी वृत्ति कही जाती है। व्यग्य अर्थ=व्यजना वृत्ति मे जो अर्थ प्रतीत हो उसको व्यग्य अर्थ कहते है। व्यजना वृत्ति का उदाहरण=शत्रुगृह मे भोजन निमित्त प्रवृत्त पुरुष को दूसरा प्रिय पुरुष कहै-'विष भुक्ष्व" वहा विष का भोजन कर। यह शक्ति वृत्ति से वाक्य का अर्थ है और भोजन के अभाव मे वक्ता का तात्पर्य है। सो भोजन मे शक्ति वाले पद की भोजन के अभाव मे शक्य सबन्ध के अभाव से लक्षणा नही बनती। इसस शत्रुगृह मे भोजन निवृत्ति वाक्य

का व्यग्य अर्थ है। जहल्लक्षणा=जहा शक्य की प्रतीति नही हो केवल शक्य सबन्धी की प्रतीति हो, वहा जहल्लक्षणा होती है। अजहल्लक्षणा= जहा शक्य अर्थ का विशेषणता से बोध हो और अशक्य का विशेषता से बोध हो वहा अजहल्लक्षणा होती है। सपूर्ण वाच्य अर्थ को त्यागकर वाच्य का सबन्धी अन्य ज्ञेय होता है, वहा जहती लक्षणा होती है। जहा सपूर्ण वाच्य अर्थ रहता है और वाच्य से अधिक का ग्रहण होता है, वहा अजहति लक्षणा ही है। अन्वय अर्थात शक्य अर्थ का सबन्ध उसकी अनुपपत्ति अर्थात् असभव जहा हो वहा लक्षणा होती है। तात्पर्य अर्थात् वाक्य कर्ता की इच्छा। उसकी अनुपपत्ति अर्थात् शक्य अर्थ मे असभव लक्षण मानने का बीज अर्थात् हेतु है। भागत्याग लक्षणा=शक्य अर्थ के एक देश को त्याग करके एक देश के बोध मे वक्ता का तात्पर्य हो वहा भागत्याग लक्षणा होती है। प्रयोजनवती लक्षणा=जहा शक्ति वाले पद को त्यागकर लाक्षणिक शब्द प्रयोग मे प्रयोजन अर्थात् फल हो उसको प्रयोजनवतीलक्षणा कहते है। निरूढ लक्षणा=पद की जिस अर्थ मे शक्ति वृत्ति नही हो और शक्य के समान जिस अर्थ की प्रतीति जिस पद से सर्व को प्रसिद्ध हो, उस अर्थ मे उस पद की प्रयोजन शून्य लक्षणा निरूढ लक्षणा कही जाती है। ऐच्छिक लक्षणा=जहा प्रयोजन और अनादि तात्पर्य दोनो नही हो किन्तु ग्र थकार अपनी इच्छा से लाक्षणिक शब्द का प्रयोग बिना प्रयोजन करता है, वहा तीसरी ऐच्छिक लक्षणा होती है। शक्य और अशक्य मे वृत्ति (वर्तने वाली) को भागत्यागलक्षणा कहते है। वाचक=जिस पद की जिस अर्थ मे शक्ति है वह पद उस अर्थ का वाचक कहा जाता है। पुरुष की अभिलाषा के विषय को पुरुषार्थ कहते है। तात्पर्य के षडलिग-१-उपक्रम अर्थात् आरभ, उपसहार अर्थात् समाप्ति। २-अभ्यास=पुन पुन कथन। ३-अपूर्वता=प्रमाणातर से अज्ञातता। ४-फल=अद्वय ब्रह्म के ज्ञान से मूल सहित शोक मोह की निवृत्ति। ५-अर्थवाद=स्तुति वा निदा का बोधक वचन। ६-उपपत्ति=कथन करे अर्थ के अनुकूल युक्ति। आकाक्षा=एक पदार्थ के पदार्थातर से अन्वय बोध के अभाव को आकाक्षा कहते है। आकाक्षा

नाम इच्छा का है। योग्यता=एक पदार्थ के पदार्थातर मे सबन्ध को योग्यता कहते है। तात्पर्य=वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते है। बुबोधयिषा=बोध की इच्छा को बुबोधयिषा कहते है। वक्ता=उच्चारण कर्ता। आसत्ति=न्याय के ग्रथो मे पदो की समीपता को आसत्ति कहते है। शक्ति वा लक्षणारूप पद के सबन्ध से जो पदार्थो की व्यवधान रहित स्मृति वह आसत्ति शाब्द बोध की हेतु है। योग्य पद के वृत्तिरूप सबन्ध से व्यवधान रहित पदार्थों की स्मृति को आसत्ति कहते है। जिज्ञासा=ज्ञान की इच्छा। क्षणिक=तीसरे क्षण मे जिसका नाश हो उसको क्षणिक कहते है। समानाधिकरण=एक अधिकरण में वृत्ति (वर्तने वाले) को समानाधिकरण कहते है। शब्द सगति=१ शक्ति वृत्ति, लक्षणा वृत्ति। शुक्ति अनुयोगी=शुक्ति जिसका अनुयोगी अर्थात् धर्मी हो उसको शुक्ति अनुयोगी कहते है। शुद्ध सत्व-गुण=रजोगुण और तमोगुण को दबाने वाला हो, उसको शुद्धसत्त्व-गुण कहते हैं। रजोगुण और तमोगुण से दबने वाले सत्त्वगुण को मलिन सत्त्वगुण कहते है। शुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता से माया और मलिन सत्त्वगुण की प्रधानता से अज्ञान और अविद्या कहते है। श्रुति=प्रत्यक्ष द्रष्टा के वचन को श्रुति कहते है। वेद के उपनिषद् भाग को भी श्रुति कहते है। जन श्रुति=किवदन्ती, अफवाह। श्रोत्र=कर्ण गोलक मे स्थित आकाश को श्रोत्र कहते है। शस्त्र चार प्रकार के है -१-मुक्त= चक्रादिक हाथ से फेके जाते है उनको मुक्त शस्त्र कहते है। २-खड्गा-दिक को अमुक्त कहते है। ३-बरछी आदिक को मुक्तामुक्त कहते है। ४-शरगोली आदिक को यत्र मुक्त कहते है। मुक्त आयुध को अस्त्र कहते है। अमुक्त को शस्त्र कहते है। इस प्रकार आयुध चार प्रकार के है।

(स, ह)

सबन्ध=अनुयोगी की प्रतीति बिना जिसकी प्रतीति नही हो, ऐसे धर्म को सबन्ध कहते है। समवाय सबन्ध से रहे उसको समवेत कहते है। जिस अधिकरण मे पदार्थ का अभाव हो उस अधिकरण मे पदार्थ के अभाव का विशेषणता सबन्ध कहा जाता है। समवाय सबन्ध=न्याय-

मत मे जातिरूप धर्म का, गुण का, क्रिया का अपने आश्रय मे समवाय सबन्ध कहते है । जातिगुण क्रिया से भिन्न धर्म को उपाधि कहते है । स्वरूप सबन्ध = उपाधि का और अभाव का जो अपने आश्रय मे सबन्ध होता है, उसको स्वरूप सबन्ध कहते है । स्वरूप को ही विशेषणता कहते है । प्रत्यक्षयोगरूप और स्पर्श को उद्भूत कहते है । प्रतियोगितावच्छेदक सबन्ध = जिस सबन्ध से पदार्थ का अभाव कहते है, उसको प्रतियोगितावच्छेदक सबन्ध कहते है । तादात्म्य सबन्ध = अभेद को ही नैयायिक तादात्म्य सबन्ध कहते है । अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान मे तादात्म्य सबन्ध होता है । लौकिक सबन्ध = सयोगादि षट् सबन्धो को लौकिक सबन्ध कहते है । अलौकिक सबन्ध = स्मृति और संस्कार लौकिक सबन्ध से भिन्न होने से अलौकिक कहे जाते है । अलौकिक सबन्ध को ज्ञान लक्षण सबन्ध कहते है । वत्स का और गौ का परस्पर जन्य जनकभाव सबन्ध होता है । शब्द का अपने वाच्यरूप और लक्ष्यरूप अर्थ के साथ वाच्यवाचक भावरूप और लक्ष्य लक्षक भावरूप सबन्ध होता है । इस द्विविध सबन्ध को स्मार्यस्मारकभाव सबन्ध कहते है । सन्यास = कुटीचक सन्यास, बहूदक सन्यास, हसन्यास, परमहस सन्यास । विविदिषा सन्यास = जिज्ञासा से ज्ञान प्राप्ति अर्थ किये हुये सन्यास को विविदिषा सन्यास कहते है । विद्वत् सन्यास = ज्ञान के अनन्तर वासना क्षय मनोनाश और तत्त्वज्ञानाभ्यास द्वारा जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के लिये किये हुये सन्यास को विद्वत् सन्यास कहते है । सपत्ति-दैवी सपत्ति, आसुरी सपत्ति । समाधि-सविकल्प, निर्विकल्प, बाह्यदृश्यानुविद्ध समाधि । आतर दृश्यानुविद्ध समाधि । बाह्य-शब्दानुविद्ध समाधि । आतर शब्दानुविद्ध समाधि । बाह्य निर्विकल्प समाधि । आतरनिर्विकल्प समाधि । सयोग = एक क्रियाजन्य सयोग होता है । जिसे कर्मज सयोग कहते है । द्वितीय सयोगज सयोग होता है । जिसकी उत्पत्ति मे क्रिया समवायि कारण हो, उसको कर्मज सयोग कहते है । सयोगरूप असमवायि कारण से हो, उसको सयोगज सयोग कहते है । अन्यतर कर्मज सयोग = एक की क्रिया से सयोग होता है, उसको अन्यतर कर्मज सयोग कहते है । उभय

कर्मज सयोग = मेषद्वय की क्रिया से जो मेषद्वय का सयोग होता है उसको उभय कर्मज सयोग कहते है। कार्याकार्य सयोग = कारणा-कारण सयोगजन्य कार्याकार्य सयोग कहा जाना है। हेतु सयोग = हस्त तरु के सयोग को हेतु सयोग कहते है। काय तरु के सयोग को फल सयोग कहते है। संशय = एक विशेष्य मे दो विशेपण के ज्ञान को सशय कहते है। एक धर्मी मे विरुद्ध धर्म वाले ज्ञान को सशय कहते है। अयथार्थ को भ्रम कहते है, सशय ज्ञान भी कहते है। भावाभाव गोचर ही सशय ज्ञान होता है। स्वाभावाधिकरण मे अवभास को भ्रम कहते है। द्विकोटि सशय = "स्थाणुर्न वा" यह द्विकोटिक संशय है। चतुष्कोटि सशय = स्थाणुर्वापुरुषो वा" यह चतुष्कोटिक सशय है। एक धर्मी मे प्रतीत धर्म को कोटि कहते है। सशय मे जो विशेष्य होता है वह सशय मे धर्मी कहा जाता है। विशेषण को धर्म कहते है। प्रमाण गोचर सदेह को प्रमाण सशय कहते है। उसी को प्रमाणगत असभावना कहते है। वेदात वाक्य अद्वितीय ब्रह्म मे प्रमाण है वा नही है, यह प्रमाणगत सशय है। सशय से भिन्न ज्ञान को निश्चय कहते है। बाधित अर्थ विषयक जो सशय से भिन्न उसको निश्चय कहते हैं। जिसमे विधि कोटि प्रमात्व है वह प्रमात्व सशय कहा जाता है। जिसमे विधि कोटि भ्रमत्व है, वह भ्रमत्व सशय कहा जाता है। ससार = ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय। भोक्ता, भोग्य, भोग। कर्ता, करण, क्रिया। ससारी = अन्त करण मे वृत्ति चेतन और अन्त करण को संसारी कहते है। सस्कार = सूक्ष्म अवस्था का नाम सस्कार है। सस्कार तीन प्रकार का होता है — १ वेग २ भावना ३ स्थिति स्थापक। १ वेग सस्कार विद्याजन्य वा क्रियाजन्य होता है। वाणा-दिक मे रहता है। २-भावना सस्कार अनुभव ज्ञान जन्य और स्मृति जनक होता है। वेदात मत मे अन्त.करण मे और नैयायिक मत मे आत्मा मे रहता है। ३-स्थिति स्थापक सस्कार = अन्य आकार की गई वस्तु की पूर्व के समान स्थिति करने वाला सस्कार। यह धनुप,

शाखा आदि मे रहता है। सस्कार का आधार=जो ज्ञान का आधार होता है वही सस्कार का आधार होता है।

सत्=विधि मुख प्रतीति का जो विषय होता है, उसको सत् कहते है और भात्र भी कहते है। कालत्रय मे जिसका बाध नही हो उसको परमार्थ मत् कहते है। समसमुच्चय=ज्ञान और कर्म दोनो को परस्पर तथा मोक्ष के साधन जानकर एक काल मे दोनो के अनुष्ठान करने को समसमुच्चय कहते है। क्रमसमुच्चय=एक ही अधिकारी को पूर्व कर्मानुष्ठान और उत्तर काल मे सकल कर्म त्याग कर ज्ञान के हेतु श्रवणादिको के अनुष्ठान को क्रमसमुच्चय कहते है। समुच्चयवादी=कर्म उपासना सहित ज्ञान को मोक्ष का साधन अगीकार करने वाले प्राचीन वृत्तिकार (ब्रह्मसूत्र की टीका के कर्ता) भर्तृ प्रपच नामक विद्वान्। व्यावहारिक सत्ता=जिस पदार्थ का ब्रह्म ज्ञान बिना बाध नही हो किन्तु ब्रह्मज्ञान से ही बाध हो उस पदार्थ की व्यावहारिक सत्ता होती है। अपरोक्ष मिथ्या निश्चय को बाध कहते है। ब्रह्मज्ञान से निवर्तनीय अज्ञान का कार्य व्यावहारिक है। अज्ञान से अतिरिक्त दोष जन्य नही हो किन्तु केवल अज्ञानजन्य हो उसको व्यावहारिक कहते है। ब्रह्म से भिन्न प्रपच की व्यावहारिक सत्ता है। प्रतिभास सत्ता=प्रतिभास अर्थात् प्रतीतिमात्र, सत्ता अर्थात् होना। सो प्रतिभास सत्ता कही जाती है। अज्ञान से अतिरिक्त दोषजन्य हो उसको प्रातिभासिक कहते है। ब्रह्मज्ञान बिना ही निवर्तनीय अज्ञान का कार्य प्रातिभासिक है। प्रतीतिकाल मे जिसकी सत्ता हो, प्रतीति शून्यकाल मे नही हो उसकी प्रातिभासिक सत्ता कही जाती है। परमार्थसत्ता=जिसका तीन काल मे बाध नही हो उसकी परमार्थसत्ता कही जाती है। ब्रह्म की परमार्थसत्ता है। सत्व=अन्त करण। मलिन सत्व=रजोगुण तमोगुण से अभिभूत सत्व को मलिन सत्व कहते है। शुद्ध सत्व=जिससे रजोगुण तमोगुण अभिभूत हो उसको शुद्ध सत्व-गुण कहते है। तिरस्कृत को अभिभूत कहते है। साक्षी=अन्त करण मे वृत्ति (आये हुये) चेतन मात्र को साक्षी कहते है। अन्त.करण और

उसकी वृत्ति मे स्थित जो उनका प्रकाशक चेतनमात्र उसको साक्षी कहते है। जीव साक्षी=अन्त करणोपहित जीव साक्षी है। साक्षी भाष्य=जहा प्रमाण के व्यापार बिना वृत्ति की उत्पत्ति होती है, उस वृत्ति मे आरूढ साक्षी जिसको प्रकाशे उसको साक्षीभाष्य कहते है। अविद्या की वृत्ति द्वारा जिसको साक्षी भासे अर्थात् प्रकाशे उसको साक्षीभाष्य कहते है। सामग्री=कारण समुदाय को सामग्री कहते है। समानाधिकरण=एक अधिकरण मे वर्तने को समानाधिकरण कहते है। जिनकी एक अधिकरण मे वृत्ति हो उनको समानाधिकरण कहते है। एक साक्षात् सबन्ध से रहे और दूसरा परम्परा सबन्ध से रहे उनको भी समानाधिकरण कहते है और उनके सबन्ध को समा-नाधिकरण्य सबन्ध कहते है। समवाय=नित्य सबन्ध को न्यायमत मे समवाय कहते है। वेदात मत मे तादात्म्य कहते है। साष्टाग प्रणाम=दो पाद, दो जानु दो हस्त, हृदय और शिर, इन अष्ट अगो को भूमि मे लगाकर दड के समान दीर्घ नमस्कार करने को साष्टाग प्रणाम कहते है। सुषुप्ति अवस्था=सुखगोचर अविद्यागोचर अज्ञान के साक्षात्परिणाम रूप वृत्ति की अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते है। सुखगोचर और अविद्यागोचर अविद्या वृत्ति की अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते है। मरण का और मूर्छा का भी कोई सुषुप्ति मे अन्तरभाव कहते है, कोई पृथक कहते है। सूत्र=स्वल्प अक्षरो वाले, असदिग्ध अर्थात् नि देह सारवाले, सर्व ओर प्रवृत्त होनेवाले, किसी से भी रोकने को अशक्य और निर्दोष जो वाक्य, उसको सूत्र कहते है। सूक्ष्मावस्था=उपादन रूप से कार्य की स्थिति को ही सूक्ष्मावस्था कहते है। कार्य की सूक्ष्मावस्था=उपादान मे विलय को ही कार्य की सूक्ष्मावस्था कहते है। स्नेहत्व=स्नेह की अधिकरणता को स्नेहत्व कहते है। स्वप्नावस्था=इन्द्रिय से अजन्य विषयगोचर अत करण की अपरोक्ष वृत्ति उसको अवस्था को स्वप्ना-वस्था कहते है। स्वप्नाधिष्ठान=अविद्या मे प्रतिबिम्ब जीव चेतन स्वप्न का अधिष्ठान है। और उसके स्वरूप प्रकाश से स्वप्न का प्रकाश होता है। स्वय प्रकाश=अपने प्रकाश मे अन्य प्रकाश की अपेक्षा रहित

और सकल का प्रकाशक उसको स्वय प्रकाश कहते है। स्वप्रकाश = स्व अर्थात् अपना स्वरूप है प्रकाश अर्थात् विपयी जिसका उसको स्व-प्रकाश कहते है। स्व अर्थात् अपनी सत्ता से प्रकाश अर्थात् सशयादि रहित हो स्वप्रकाश पद का अर्थ अद्वैत ग्रथो मे कहा है। स्वर तीन है—उदात्त = ऊचा। अनुदात्त = नीचा। स्वरित = समान। सृष्टि दृष्टि पद का अर्थ = प्रथम सृष्टि होती है उत्तरकाल मे प्रमाण के सबन्ध से दृष्टि होती है, सृष्टि से उत्तर दृष्टि होती है यह सृष्टि दृष्टि पद का अर्थ है। स्मार्त्त = विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश, इन पाचो देवो की समबुद्धि से उपासना करे उनको स्मार्त्त कहते है और उनकी उस उपासना को स्मार्त्त उपासना कहते है। स्मृति = उद्भूत सस्कार मात्र जन्य ज्ञान को स्मृति कहते है। स्वर्ग = सुख विशेष को स्वर्ग कहते है। हेतु = अव्यवहित पूर्वकाल मे हो वह हेतु होता है। हेत्वाभास = हेतु के लक्षण (साध्य की साधकता) से रहित हुआ हेतु के समान भासे, ऐसे दुष्ट हेतु को वा हेतु के आभास (दोष) को हेत्वाभास कहते है। हेय = त्याज्य।

इति श्री लक्षण, पारिभाषिक, कठिन शब्दार्थ निरूपण अश १९ समाप्त।

अथ ज्ञानी निरूपण अश २०

कृपया अब ज्ञानी के लक्षण बताने की कृपा अवश्य करें ?

ज्ञानी का लक्षण—मान, मोह, सगदोष, कामना, और द्वन्द्वो से रहित। सुजन, दुष्ट, साधारण, विद्वान्, मूर्ख, मित्र, शत्रु, निजशरीर, प्रत्यक्ष, गुप्त, कनक, काच, कचरा, मणि आदि सबको सम (ब्रह्म) रूप देखता है, वही ज्ञानी कहा जाता है।

ज्ञानी के व्यवहार मे नियम नही होता

ज्ञानी के व्यवहार मे क्या-क्या नियम होते है, यह भी बताने की कृपा करे ? उत्तर-ज्ञानी के व्यवहार मे नियम नही होता है। क्यो ? उसका व्यवहार उसके प्रारब्ध के अनुसार ही होता है। कैसे ? जैसे

सूखा पीपल का पत्ता वायु के वेग के अनुसार भ्रमण करता है, वैसे ही वह शेष रहे प्रारब्ध के अनुसार ही क्रिया करता हुआ दिखाई देता है। वह कभी तो भक्तो के रथ आदि वाहनो पर बैठकर सुन्दर बाग देखने जाता है और फिर वहा से नगे पैरो अकेला ही आता देखा जाता है। कभी भक्तो द्वारा धारण कराये गये नाना सुन्दर वेष धारण करता है। सुन्दर शय्या पर शयन करता है। उत्तम भोजन करता है। और कभी अनशन करते हुये गिरि की गुफा मे शिला पर रात्रि व्यतीत करता है। कही अनेक भक्त प्रणाम करके उसकी पूजा करते है और कही कर्म काडी लोग उसे दोनो लोको से भ्रष्ट समझकर धिक्कार शब्द कहते है। जो उसकी पूजा करता है, वह उसके सचित पुण्यो का फल प्राप्त करता है और जो उसको दोष दृष्टि से देखता है, वह उसके चलते फिरते चरणाघात से मरने वाले प्राणियो आदि के पाप को प्राप्त करता है। इस प्रकार ज्ञानी के शरीर का व्यवहार बिना नियम ही होता है। उसको भ्रम वा सशय तो किसी भी विषय मे नही होता है। क्यो ? उसको तो अपने हृदय मे तत्त्व का दृढ निश्चय होता है। इससे उसको कुछ भी कर्तव्य नही रहता है। क्यो ? उसके हृदय के भेद भ्रम का नाश हो जाता है और वेद के प्रामाणिक श्रुति वचनो से अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान रूप प्रकाश प्रकट हो जाता है।

ज्ञानी को समाधि और शरीर निर्वाह से अधिक अप्रवृत्ति के नियम का आक्षेप

कोई ज्ञानी के व्यवहार मे नियम कहते है –ज्ञानी त्रिपुटी को दु ख का कारण जानकर त्याग देता है और सप्रेम समाधि का सुख प्राप्त करता है। उसका भिक्षा भोजन और जलपानादि किंचित् ही व्यवहार होता है। किंतु उस व्यवहार के समय भी वह समाधि के सुख को नही भूलता है। क्यो ? त्रिपुटी से उसको ग्लानि रहती है। इसीलिये ज्ञानी पुन समाधि का ही प्रयत्न करता है। और जो समाधि सुख को त्याग कर भ्रमण करते है, वे नर तो श्वान, खर और प्रेत के समान ही होते है। समाधि का प्रकार गौडपाद मुनि ने माण्डूक्य कारिका ग्र थ मे लिखा है। इस प्रकार ज्ञानी विक्षेप को त्यागकर समाधि मे सकल सुखो का सार ब्रह्मानन्द प्राप्त करता है।

प्रश्न-आपने पूर्व कहा था ज्ञानी के व्यवहार मे नियम नही है, किन्तु कोई तो नियम कहते ही है ? उत्तर-सिद्धान्त पक्ष तो यही है - 'ज्ञानी के व्यवहार मे नियम नही है।' क्यो ? ज्ञानी के व्यवहार मे अज्ञान और उसका कार्य भेद भ्रान्ति तथा भेद भ्रम के कार्य राग द्वेष तो नही है। किंतु ज्ञानी के भी प्रारब्ध कर्म शेष रहते है, वे ही उसके व्यवहार मे निमित्त होते है। सो प्रारब्ध कर्म पुरुष भेद से नाना प्रकार का होता है। इससे ज्ञानी के प्रारब्ध कर्मजन्य व्यवहार का नियम बन नही सकता है।

कोई (केवल सन्यासी को ही ज्ञान का मुख्य अधिकारी मानने वाले शकरानन्द स्वामी आदिक) ऐसे कहते है -ज्ञानी के व्यवहार मे अन्य किसी कर्म का तो नियम नही है, परन्तु निवृत्ति का नियम है। प्रवृत्ति होती है तो देह स्थिति के हेतु भिक्षा भोजन, कौपीन, आच्छादन मात्र ग्रहण मे ही प्रवृत्ति होती है। अन्य प्रवृत्ति नही होती है। क्यो ? ज्ञान की उत्पत्ति से प्रथम जिज्ञासा काल मे विषयो मे दोष दृष्टि से वैराग्य होता है। वह वैराग्य ज्ञान की उत्पत्ति से अनन्तर भी दोष दृष्टि से तथा विषयो मे मिथ्या बुद्धि से होता है। अपरोक्षरूप से मिथ्या जाने हुये पदार्थों मे सत्य बुद्धि नही होती है। दोष दृष्टि से राग नही होता है और प्रवृत्ति राग से होती है। ज्ञानी के मन मे राग सभव नही है। इससे ज्ञानी की प्रवृत्ति नही होती है। शरीर निर्वाहक भोजनादिको मे प्रवृत्ति तो राग से बिना भी प्रारब्ध कर्म से सभव है। कर्म तीन प्रकार के है :-१-सचित, २-आगामी और ३-प्रारब्ध। भूत शरीरो मे किये हुये फलारभ से रहित कर्मो को सचित कर्म कहते है। भविष्यत् कर्म अर्थात् वर्तमान शरीर मे किये हुये को आगामी कर्म कहते है। भूत शरीरो मे किये हुये वर्त्तमान शरीर के हेतु कर्म को प्रारब्ध कर्म कहते है।

सचित कर्म का ज्ञान से नाश होता है। ज्ञानी को आत्मा मे कर्त्तृत्व भ्रान्ति नही होती है। इससे उससे आगामी कर्म सभव नही है। और जिस प्रारब्ध कर्म ने ज्ञानी के शरीर का आरभ किया है, सोई प्रारब्ध

कर्म शरीर स्थिति के हेतु भिक्षादिको मे प्रवृत्ति कराता है। प्रारब्ध कर्म का भोग बिना नाश नही होता है। और कही (अपरोक्षानुभूति, विवेक चूडामणि आदि ग्र थो मे) ऐसा लिखा है —सचित आगामी कर्म के समान ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म भी नही रहते है। इससे भोजनादिक प्रवृत्ति भी ज्ञानी की सभव नही है। उसका यह अभिप्राय है — ज्ञानी की दृष्टि से आत्मा मे कर्म और उसके फल का सबन्ध नही है। इससे आत्मा मे सर्व कर्म का निषेध करने के अभिप्राय से प्रारब्ध का निषेध किया है और ज्ञान से पूर्व किये हुये प्रारब्ध का ज्ञानी के शरीर को भोग नही होता है, इस अभिप्राय से प्रारब्ध का निषेध नही किया है। क्यो ? सूत्रकार ने यह लिखा है —ज्ञानी के सचित कर्म का नाश ज्ञान से होता है। आगामी कर्म का सबन्ध नही होता है। प्रारब्ध कर्म का भोग से नाश होता है। इससे प्रारब्ध के बल से शरीर निर्वाहक क्रिया ज्ञानी की होती है, अधिक नही होती है।

परन्तु कर्म नाना प्रकार के है। जहा एक कर्म नाना शरीरो का आरम्भक होता है, ऐसे कर्म से रचित प्रथम शरीर मे जिसको ज्ञान होता है, वहा ज्ञानी को अन्य शरीर की प्राप्ति होनी चाहिये। क्यो ? फल का जिसने आरम्भ किया है, उस कर्म को प्रारब्ध कहते है। उसका भोग बिना नाश नही होता है। अनेक शरीरो का हेतु एक कर्म है, उसने प्रथम शरीर जो उत्पन्न किया है उसमे ज्ञान हुआ है। उस कर्म के फल ज्ञान से अनन्तर और शरीर शेष रहते है। इससे ज्ञानी को भी अन्य शरीर की प्राप्ति होनी चाहिये। और यदि ऐसे कहै — प्रारब्ध कर्म के जितने शरीर हो, उतने शरीर ज्ञानी को भी प्राप्त होते है। प्रारब्ध के भोग से अधिक नही होते। इससे ज्ञान भी सफल होता है। सो नही बनता है। क्यो ? यह वेद का ढढोरा है —"ज्ञानी के प्राण अन्य लोक मे वा इस लोक के अन्य शरीर मे गमन नही करते है।" किन्तु उसी स्थान मे अत करण इन्द्रियो सहित लीन हो जाते है। और प्राण गमन बिना अन्य शरीर की प्राप्ति सभव नही है। इससे ज्ञानी को प्रारब्ध शेष से अन्य शरीर होते है, यह कथन तो सभव नही

है। किन्तु यह समाधान है :—जहा अनेक शरीर का आरम्भक एक कर्म हो, वहा अत शरीर मे ही ज्ञान होता है। पूर्व शरीर मे ज्ञान नही होता है। क्यो ? अनेक शरीर का आरम्भक प्रारब्ध ही ज्ञान का प्रतिबधक है। जैसे विषयो मे आसक्ति, बुद्धिमदता, भेदवादी वचन मे विश्वास ज्ञान के प्रतिबधक है, वैसे विलक्षण प्रारब्ध भी ज्ञान का प्रतिबधक है। ज्ञान के प्रतिबधक होने पर जहा ज्ञान के साधन श्रवणादिक हो, वहा प्रतिबधक दूर होने पर प्रथम जन्म मे किये हुये श्रवणादिक है। उनसे ही अन्य शरीर मे ज्ञान हो जाता है। जैसे वामदेव ने पूर्व जन्म मे श्रवणादिक किये थे, तब प्रारब्ध का फल एक शरीर शेष होने से ज्ञान नही हुआ था। किन्तु श्रवणादिक करते हुये वर्त्तमान शरीर का पात होकर, अन्य शरीर की प्राप्ति होने पर पूर्व जन्म मे किये हुये श्रवणादिको से गर्भ मे ही ज्ञान हो गया था। इससे ज्ञान से अनन्तर अन्य शरीर का सबन्ध नही होता है और वर्तमान शरीर की चेष्टा प्रारब्ध से होती है। वहा जितनी चेष्टा शरीर की निर्वाहक होती है, वही होती है। रागजन्य अधिक चेष्टा नही होती है। इससे सर्व प्रवृत्ति रहित ज्ञानी होता है।

इस रीति से निवृत्ति प्रधान ज्ञानी का व्यवहार होता है। इसमे ऐसी शका होती है —मन का स्वभाव अति चचल है। निरालब मन की स्थिति नही होती है, किसी आलब से ही मन की स्थिति होती है। इससे मन के किसी आलब की प्राप्ति के निमित्त भी ज्ञानी की प्रवृत्ति होती है। उसका यह समाधान है —यद्यपि समाधिहीन पुरुष का मन चचल होता है तथापि समाधि से मन का विजय होता है और ज्ञानी समाधि मे स्थित होता है। इससे ज्ञानी की प्रवृत्ति नही होती है। वह समाधि इन अष्ट अगो से होती है —१-यम २-नियम ३-आसन ४-प्राणायाम ५-प्रत्याहार ६-धारणा ७-ध्यान ८-सविकल्प समाधि। इन अष्ट से निर्विकल्प समाधि होती है। यम—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ये पाच यम कहे जाते है।

नियम—शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान इन

पाच को नियम कहते है। आसन के अनन्त भेद है। उनमे स्वस्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, पद्म, कुक्कुट, उत्तान, कूर्मक, धनुप, मत्स्य, पश्चिम तान, मयूर, शव, सिह, भद्र, सिद्ध इत्यादिक चौरासी आसन योग ग्रन्थो मे लिखे है। उनके लक्षण भी वहा लिखे है। वे सब वेदान्त मे अत्यन्त उपयोगी नही है इससे लक्षण यहा नही लिखे गये है। एक सिद्धासन ही अत्यन्त प्रधान और उपयोगी है। इससे उसका ही लक्षण लिखते है —वाम पाद की एडी गुदा और मेढ़ के मध्य सीवन मे दाबकर धरे। दक्षिणपाद की एडी मेढ़ के ऊपर दाबकर धरे। भृकुटी के अन्तर दृष्टि रक्खे। स्थाणु के समान सरल निश्चल शरीर से स्थिति हो इसको ही सिद्धासन कहते है।

और कोई सिद्धासन का लक्षण इस प्रकार कहते है —वामपाद की एडी सीवन में न लगाकर मेढ़ के ऊपर लगावे और उसके ऊपर दक्षिण एडी धरे। अन्य सब पूर्ववत ही करे। यह सिद्धासन ही अति-प्रधान है। क्यो ? कितने ही आसन तो रोगनाश के कारण है, और कुछ आसन ऐसे है जो प्राणायामादिक समाधि के अग के समय तक ही किये जाते है, किन्तु सिद्धासन समाधिकाल मे भी होता है, इससे अतिप्रधान है। इसी को वज्रासन, मुक्तासन और गुप्तासन भी कहते है। आसन सिद्धि से अनन्तर प्राणायाम किया जाता है। वह प्राणायाम बहुत प्रकार का है। तथापि सक्षेप से प्राणायाम का यह लक्षण है — १—नासिका के वाम छिद्र द्वारा इडा नामक नाडी से वायु को पूरण करे, उसको पूरक कहते है। २—दक्षिण से त्यागे, उसको रेचक कहते है। ३-सुषुम्ना से रोके, उसको कुंभक कहते है। इस रीति से पूरक, रेचक, कुंभक को प्राणायाम कहते है। वह दो प्रकार का है —एक अगर्भ और दूसरा सगर्भ है। प्रणव के उच्चारण रहित प्राणायाम को अगर्भ कहते है। प्रणव के उच्चारण सहित प्राणायाम को सगर्भ कहते है। और भी प्राणायाम के अष्ट भेद है, वे तथा अन्य प्राणायाम सबन्धी जानने योग्य सभी बातो के लिये 'साधक-सुधा' ग्रंथ के २४ वें बिन्दु को अवश्य पढना चाहिये।

प्रत्याहार=विषयो से सकल इन्द्रियो के निरोध को प्रत्याहार कहते है। धारणा=अनराय रहित अत करण की स्थिति को धारणा कहते है। ध्यान=अनराय रहित अद्वितीय वस्तु मे अत करण के प्रवाह को ध्यान कहते है। समाधि=व्युत्थान सस्कारो का तिरस्कार और निरोध सस्कारो की प्रकटता होने पर अत करण के एकाग्रतारूप परिणाम को समाधि कहते है। वह समाधि दो प्रकार की है —एक सविकल्प समाधि और दूसरी निर्विकल्प समाधि है। ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप त्रिपुटी भान सहित अद्वितीय ब्रह्म मे अत करण की वृत्ति की स्थिति को सविकल्प कहते है। वह सविकल्प समाधि भी दो प्रकार की है —एक तो शब्दानुविद्ध है और दूसरी शब्दाननुविद्ध है। "अह ब्रह्मास्मि" इस शब्द से अनुविद्ध अर्थात् सहित हो, उसको शब्दानुविद्ध कहते है। शब्द रहित को शब्दाननुविद्ध कहते है। त्रिपुटी भान रहित अखड ब्रह्माकार अत करण वृत्ति की स्थिति को निर्विकल्प समाधि कहते है। इस रीति से सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के दो भेद है। उसमे सविकल्प समाधि साधन है और निर्विकल्प समाधि फल है। साधनरूप जो सविकल्प समाधि है, उसमे यद्यपि त्रिपुटीरूप द्वैत प्रतीत होता है, तथापि वह द्वैत इस रीति से ब्रह्मरूप से प्रतीत होता है :— जैसे मृत्तिका के विकारो को मृत्तिकारूप जानने से विवेकी को मृत्तिका के विकार घटादिक प्रतीत भी होते है, परन्तु मृत्तिका रूप ही प्रतीत होते है, वैसे सविकल्प समाधि मे त्रिपुटीरूप द्वैत ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है। निर्विकल्प समाधि मे भी सविकल्प समाधि के समान त्रिपुटी रूप द्वैत विद्यमान भी होता है, तो भी त्रिपुटी द्वैत की प्रतीति नही होती है। जैसे जल मे लवण डालने पर, वहा लवण विद्यमान होता है, परन्तु नेत्र से लवण की प्रतीति नही होती है। इस रीति से सविकल्प निर्विकल्प का यह भेद सिद्ध होता है। सविकल्प समाधि मे ब्रह्मरूप से द्वैत की प्रतीति और निर्विकल्प समाधि मे त्रिपुटीरूपद्वैत की अप्रतीति।

सुषुप्ति से निर्विकल्प समाधि का भेद

वैसे सुषुप्ति से निर्विकल्प का यह भेद है —सुषुप्ति मे अत करण

की ब्रह्माकार वृत्ति का अभाव होता है। और निर्विकल्प समाधि मे ब्रह्माकार वृत्ति तो अत करण की होती है, उसका अभाव नही होता है। इस रीति से सुषुप्ति मे तो वृत्ति सहित अत करण का अभाव होता है और निर्विकल्प समाधि मे वृत्ति सहित अत करण तो होता है, उसकी प्रतीति नही होती है। यदि समाधि मे अत करण का अभाव हो तो योगी का देह निद्रालु के समान गिरना चाहिये और गिरता नही है। इससे समाधि मे अत करण होता है। निर्विकल्प समाधि मे अत -करण की वृत्ति ब्रह्माकार होती है, उसका हेतु सविकल्प समाधि का अभ्यास है। इससे साधनरूप अष्ट अगो मे सविकल्प समाधि गिनते है। निर्विकल्प समाधि फल है। वह निर्विकल्प समाधि भी दो प्रकार की होती है —एक अद्वैतभावनारूप और दूसरी अद्वैतावस्थानरूप होती है। अद्वैत ब्रह्माकार अत करण की अज्ञात वृत्ति सहित हो उसको अद्वैतभावना रूप निर्विकल्प समाधि कहते है। इस समाधि मे अभ्यास अधिक होने से ब्रह्माकार वृत्ति भी शात हो जाती है। इस वृत्ति रहित को अद्वैतावस्थानरूप निर्विकल्प समाधि कहते है। जैसे तप्तलोह के ऊपर जल की बिन्दु डालने पर तप्तलोह मे प्रवेश करती है, वैसे अद्वैत भावनारूप समाधि के दृढ अभ्यास से अत्यत प्रकाशमान ब्रह्म मे वृत्ति का लय होता है। इससे वह अद्वैत भावनारूप समाधि अद्वैतावस्थान रूप निर्विकल्प समाधि का साधन है।

अद्वैतावस्थानरूप समाधि से सुषुप्ति का भेद

अद्वैतावस्थान रूप समाधि और सुषुप्ति का इतना भेद है — सुषुप्ति मे वृत्ति का लय अज्ञान मे होता है। अद्वैतावस्थान रूप समाधि मे वृत्ति का लय ब्रह्म प्रकाश मे होता है। सुषुप्ति का आनन्द अज्ञान से आवृत है और समाधि मे निरावरण ब्रह्मानन्द का भान होता है। परन्तु निर्विकल्प समाधि मे चार विघ्न होते है। सो उनका निषेध करना चाहिये। इससे उनको कहते है :—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद, ये चार है। आलस्य से वा निद्रा से वृत्ति के अभाव को लय कहते है। उस लय से सुषुप्ति के समान

अवस्था होती है, ब्रह्मानन्द का भान नही होता है। इससे निन्द्रा आलस्यादिको के निमित्त से जब वृत्ति का अपने उपादान अन्त करण मे लय होना दिखाई दे, तब योगी सावधान होकर निद्रादिको को रोककर वृत्ति को जगावे। इस रीति से लयरूप विघ्न का विरोधी निद्रा आलस्य निरोध सहित वृत्ति का प्रवाहरूप जागरण, उसको गौडपादाचार्य चित्त सबोधन कहते है।

विक्षेप का यह अर्थ है —जैसे बाज वा बिल्ली से डरकर चटिका (चिडिया) गृह मे प्रवेश करे, तब भय से व्याकुल होने के कारण गृह के भीतर तत्काल स्थान नही दिखाई दे। इससे पुन. बाहर आकर भय अथवा मरण रूप खेद को प्राप्त होती है। वैसे ही अनात्म पदार्थो को दु ख हेतु जानकर, अद्वैतानन्द को विषय करने के लिये अन्तर्मुख हुई वृत्ति, वहा वृत्ति का विषय चेतन अतिसूक्ष्म है। इससे किचित् काल वृत्ति की स्थिति बिना, तत्काल ही चेतन स्वरूप आनन्द का लाभ नही होता है। इससे वृत्ति बहिर्मुख होती है। इस रीति से बहिर्मुख को विक्षेप कहते है। सो वृत्ति की स्थिरता बिना स्वरूप आनन्द का अलाभ होता है। इससे अतर्मुख वृत्ति होने पर भी जब तक वृत्ति ब्रह्माकार नही होती तब तक बाह्य पदार्थो मे दोष भावना से वृत्ति को योगी बहिर्मुख नही होने दे, किन्तु वृत्ति की अतर्मुखता ही स्थापन करे, विक्षेपरूप विघ्न के विरोधी योगी के प्रयत्न को गौडपादाचार्य ने सम कहा है।

रागादिक दोषो को कषाय कहते है। यद्यपि रागादिक दो प्रकार के है —एक बाह्य है, और दूसरे आतर है। पुत्र स्त्री धन आदिक जिनके विषय वर्त्तमान हो उनको बाह्य कहते है। भूत वा भावी के चिंतनरूप मनोराज्य को आँतर कहते है। दोनो प्रकार के रागादिक ही समाधि मे प्रवृत्त योगी मे सभव नही है। क्यो ? चित्त की पाच भूमिका है —क्षेप, मूढता, विक्षेप, एकाग्रता, निरोध। लोक वासना (सब मेरी स्तुति करे, निन्दा कोई न करे इस आग्रह के दृढ सस्कार)। देह वासना (स्थूल सूक्ष्म देह को रोगादिक व पापादिक से रहित करके

श्रेष्ठ बनूंगा इस आग्रह के दृढ संस्कार) शास्त्र वासना (सर्व शास्त्रों के पाठ अर्थ आदि को धारण करूंगा, इस आग्रह के दृढ संस्कार)। इससे आदि रजोगुण का परिणाम दृढ अनात्म वासना को क्षेप कहते है। निद्रा आलस्यादिक तमोगुण के परिणाम को मूढता कहते है। ध्यान मे प्रवृत्त चित्त की कदाचित् बाह्य प्रवृत्ति को विक्षेप कहते है। अंत करण का अतीत परिणाम और वर्त्तमान परिणाम समानाकार हो, उसको एकाग्रता कहते है। यह एकाग्रता का लक्षण योग सूत्र मे पतंजलि ने कहा है। उसका भाव यह है :—समाधिकाल मे योगी के अन्त.करण मे एकाग्रता होती है। सो एकाग्रता वृत्ति का अभावरूप नही है। किन्तु जब तक अन्त करण के परिणाम समाधिकाल मे होते हैं, सो सर्व ब्रह्म को ही विषय करते हैं। इससे अन्त करण के अतीत परिणाम और वर्तमान परिणाम केवल ब्रह्माकार होने से समानाकार ही होते है। उस एकाग्रता की वृद्धि को निरोध कहते है। ये पाच भूमिका अन्त करण की है। भूमिका नाम अवस्था का है। इन पाच भूमिका सहित अन्त करण के ये क्रम से नाम है —क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध। इनमे क्षिप्त और मूढ अन्त करण का तो समाधि मे अधिकार नही है। विक्षिप्त अन्त करण का अधिकार है। एकाग्र और निरुद्ध अन्त करण समाधि काल मे होते है। यह योग ग्रंथो मे कहा है। रागादिक दोष सहित अन्त करण क्षिप्त ही है। उस क्षिप्त अन्त करण का योग मे अधिकार नही है। इससे रागादि दोष रूप कषाय समाधि के विघ्न है, यह कहना संभव नही है।

तथापि यह समाधान है —बाह्य वा आंतर रागादिक है, सो तो क्षिप्त अन्त करण मे ही होते है। उसका अधिकार भी नही है। तो भी अनेक जन्मो मे पूर्व अनुभव किये हुये बाह्यांतर रागद्वेष, उनके सूक्ष्म संस्कार विक्षिप्तादिक अन्त करण मे भी संभव है। इससे रागद्वेष का नाम कषाय नही है। किंतु रागद्वेषादिको के संस्कारो को कषाय कहते है। वे संस्कार अन्त करण रहे तब तक दूर नही होते है। इससे समाधिकाल मे भी अन्त करण मे रहते है। परन्तु रागद्वेषादिको के

उद्भूत सस्कार समाधि के विरोधी है। अनुद्भूत विरोधी नही है। प्रकट को उद्भूत कहते है। अप्रकट को अनुद्भूत कहते है। समाधि मे प्रवृत्त योगी के मन मे रागद्वेष के सस्कार प्रकट हो तो विषयो मे दोष दर्शन से दबा देना चाहिये। विक्षेप और कषाय का यह भेद है — बाह्य विषयाकार वृत्ति को विक्षेप कहते है। और योगी के प्रयत्न से जहा वृत्ति अतर्मुख तो हो परन्तु रागादिको के उदभूत सस्कारो से अन्तर्मुख होने पर वृत्ति रुक तो जाती है, किंतु ब्रह्म को विषय नही करती है। उस अवस्था को कषाय कहते है। विषयो मे दोष दर्शन सहित योगी के प्रयत्न से कषाय विघ्न की निवृत्ति होती है।

रसास्वाद का यह अर्थ है :—योगी को ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है और विक्षेप रूप दुःख की निवृत्ति का भी अनुभव होता है। कही दुःख की निवृत्ति से भी आनन्द होता है। कैसे ? जैसे भारवाही पुरुष का भार उतरे से उसको आनन्द होता है। वहा आनन्द मे और तो कोई विषय हेतु नही है। किन्तु भारजन्य दुःख की निवृत्ति से ही वह यह कहता है :—"मेरे को आनन्द हुआ है" इससे दुःख की निवृत्ति भी आनन्द का हेतु है। वैसे योगी को समाधि मे विक्षेपजन्य दुःख की निवृत्ति से जो आनन्द होता है, उसके अनुभव को रसास्वाद कहते है। यदि दुःख निवृत्ति जन्य आनन्द के अनुभव से ही योगी अलबुद्धि कर ले तो सकल उपाधिरहित ब्रह्मानन्दाकार वृत्ति के अभाव से उसका अनुभव समाधि मे नही होता है। इसमे दुःख निवृत्तिजन्य आनन्द का अनुभवरूप रसास्वाद भी समाधि मे विघ्न है।

वाछित की प्राप्ति बिना भी विरोधी की निवृत्ति से आनन्द की उत्पत्ति मे अन्य दृष्टान्त —जैसे पृथ्वी मे निधि हो, वह निधि अत्यन्त विषधर सर्प से रक्षित हो। वहा निधि प्राप्ति से प्रथम भी निधि प्राप्ति के विरोधी सर्प की निवृत्ति से आनन्द होता है। वहा सर्प निवृत्ति के आनन्द मे अलबुद्धि करे तो उद्यम त्यागने से निधि प्राप्ति का परमानन्द प्राप्त नही होता। वैसे अद्वैत ब्रह्मरूप निधि है। देहादिक अनात्म पदार्थो की प्रतीतिरूप विक्षेप सर्प है। विक्षेपरूप सर्प की निवृत्ति जन्य

जो अवान्तर आनन्दरूप रस का अनुभवरूप आस्वादन है, सो निधि रूप अद्वैत ब्रह्म की प्राप्तिजन्य महाआनन्द की प्राप्ति मे प्रतिबन्धक होने से विघ्न कहा जाता है अथवा रसास्वादका यह और अर्थ है — सविकल्प समाधि से उत्तर निर्विकल्प समाधि होती है और सविकल्प समाधि मे त्रिपुटी प्रतीत होती है। इससे सविकल्प समाधि का आनन्द त्रिपुटीरूप उपाधि सहित होने से सोपाधिक कहा जाता है। और निर्विकल्प समाधि मे त्रिपुटी प्रतीत नही होती है। इससे निर्विकल्प समाधि मे निरूपाधिक आनन्द होता है। इस रीति से सविकल्प समाधि से उत्तर निर्विकल्प समाधि के आरम्भ मे भी सविकल्प समाधि के सोपाधिक आनन्द को त्याग नही सके, किन्तु उसी को अनुभव करे, उसको रसास्वाद कहते है। इससे विक्षेप निवृत्तिजन्य आनन्द का अनुभव वा सविकल्प समाधि के आनन्द का अनुभव होना है, उसको रसास्वाद कहते है। सो दोनो प्रकार का रसास्वाद निर्विकल्प समाधि के परमानन्द के अनुभव का विरोधी होने से विघ्न है। इससे उसको भी त्यागना चाहिये। ऐसे निर्विकल्प समाधि मे चार विघ्न होते है, वे चारो समाधि के आरम्भ मे ही होते है। इसमे सावधानता से चारो विघ्नो को रोक करके समाधि मे परमानन्द को अनुभव करे, उसी विद्वान् को जीवन्मुक्त कहते है। इस रीति से ज्ञानी का चित निरालब नही होता है।

जब प्रारब्ध बल से समाधि से उत्थान हो तब भी समाधि मे जिस परमानन्द का अनुभव किया है, उसकी स्मृति होती है। इससे उत्थान काल मे भी ज्ञानी का चित्त निरालब नही होता है। और ज्ञानी की जो भोजनादिको मे प्रवृत्ति होती है, सो केवल प्रारब्ध से ही होती है। परन्तु भोजनादिक व्यवहार मे ज्ञानी खेद मानकर ही प्रवृत्त होता है। क्यो ? भोजनादिको मे प्रवृत्ति भी समाधि सुख की विरोधी है। जिसको भोजनादिक शरीर निर्वाह की प्रवृत्ति ही खेद रूप प्रतीत हो, उसकी अधिक प्रवृत्ति सभव नही है। इस रीति से बहुत आचार्यो ने यही पक्ष लिखा है। और जीवन्मुक्ति का आनन्द भी बाह्य प्रवृत्ति मे नही होता

है किंतु निवृत्ति मे ही होता है। इससे जीवन्मुक्ति के सुखार्थी ज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति सभत्र नही है। गत आक्षेप का समाधान —

ज्ञानी निरकुश है। प्रारब्ध से व्यवहार मिद्धि

तथापि ज्ञानी के लिये निवृत्ति का नियम कहना भी सभव नही है। क्यो ? निवृत्ति मे वा प्रवृत्ति मे वेद की आज्ञारूप विधि तो ज्ञानी के लिये है नही, जिससे ज्ञानी के व्यवहार मे नियम हो। इससे ज्ञानी निरकुश है। उसका व्यवहार प्रारब्ध से होना है। जिस ज्ञानी का प्रारब्ध भिक्षा भोजनमात्र फल का हेतु है, उसकी भिक्षा भोजनमात्र मे प्रवृत्ति होती है। और जिसका प्रारब्ध अधिक भोग का हेतु होता है उसकी अधिक मे भी प्रवृत्ति होती है। और यदि ऐसे कहै — जिसका प्रारब्ध भिक्षा भोजनमात्र का हेतु होता है, उसी को ज्ञान होता है और अधिक व्यवहार का हेतु जिसका प्रारब्ध होता है उसको ज्ञान नहीं होता है। इससे भिक्षा भोजनादिक व्यवहार से अधिक व्यवहार ज्ञानी का नही होता है। जिसको अधिक प्रवृत्ति हो वह ज्ञानी नही है। सो शका भी नही बनती है।

क्यो ? याज्ञवल्क्य जनकादिक ज्ञानी कहे गये है। सभा विजय से धन सग्रह व्यवहार याज्ञवल्क्य का तथा राज्यपालन व्यवहार जनक का कहा गया है। और योगवासिष्ठ ग्रन्थ मे अनेक ज्ञानी पुरुषो के व्यवहार नाना प्रकार के कहे गये है। इससे ज्ञानी के लिये प्रवृत्ति वा निवृत्ति का नियम नही है। यद्यपि याज्ञवल्क्य ने सभा विजय से उत्तर विद्वत्सन्यास रूप निवृत्ति ही धारण की है और प्रवृत्ति मे ग्लानि के हेतु नाना दोष कथन किये है, तथापि याज्ञवल्क्य को विद्वत्सन्यास से पूर्व ज्ञान नही था, यह कहना तो सभव नही है किन्तु ज्ञान तो प्रथम भी था परन्तु विद्वत्सन्यास से पूर्व जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त नही हुआ था। इसी से जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिये सर्व सग्रह का त्याग किया था। याज्ञवल्क्य का प्रारब्ध कुछ काल अधिक भोग का हेतु था और उत्तरकाल न्यून भोग का हेतु था। इससे प्रथम तो याज्ञवल्क्य को ग्लानि बिना अधिक भोग और आगे ग्लानि से सर्व भोगो का त्याग

हुआ है। और जनक का प्रारब्ध मरण पर्यन्त राज्य पालानादिक समृद्धि भोग का हेतु हुआ है। इससे सदा त्याग का अभाव ही हुआ है। भोगों मे ग्लानि भी नही हुई। और वामदेवादिको का प्रारब्ध न्यून भोग का हेतु हुआ है। उनकी सदा भोगो मे ग्लानि रहने से प्रवृत्ति का अभाव ही कहा है। और योगवासिष्ठ मे ऐसे भी प्रसग है —शिखर-ध्वज की ज्ञान से अनन्तर अधिक प्रवृत्ति हुई है। इस रीति से नाना प्रकार के विलक्षण व्यवहार ज्ञानी पुरुषो के कहे गये है। उन सर्व का ज्ञान समान है और उसका फल मोक्ष भी समान ही हुआ है। प्रारब्ध भेद से व्यवहार का भेद है। व्यवहार की न्यूनता से जीवन्मुक्ति के सुख की अधिकता और व्यवहार की अधिकता से जीवन्मुक्ति के सुख की न्यूनता होती है। इसमे कोई यह शका करते है —

यदि जीवन्मुक्ति के सुख को त्याग कर तुच्छ भोगो मे प्रवृत्त होता है, वह विदेह मोक्ष को भी त्याग कर बैकुठादिक लोक की इच्छा कर के उन लोको मे जायगा। सो शका नही बनती है। क्यो ? जीवन्मुक्ति के सुख का त्याग और भोगो मे प्रवृत्ति तो ज्ञानी की प्रारब्धबल से सभव है और विदेह मोक्ष का त्याग तथा परलोक गमन सभव नही है। क्यो ? ज्ञानी के प्राण बाहर गमन नही करते है। इससे परलोक गमन सभव नही है। विदेह मोक्ष का त्याग भी सभव नही है। क्यो ? ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होकर प्रारब्ध भोग से अनतर स्थूल सूक्ष्म शरीराकार अज्ञान के चेतन मे लय को विदेह मोक्ष कहते है। सो अवश्य होती है। यदि मूल अज्ञान बाकी रहे वा नष्ट अज्ञान की पुन उत्पत्ति हो, तो विदेह मोक्ष का अभाव हो। सो मूल अज्ञान का विरोधी ज्ञान होने पर अज्ञान बाकी (शेष) नही रहता है। और प्रमाण से नष्ट हुये अज्ञान की पुन उत्पत्ति नही होती है। इससे विदेह मोक्ष का अभाव नही होता है।

और विदेह मोक्ष के त्याग मे तथा परलोक के गमन मे ज्ञानी की इच्छा भी सभव नही है। क्यो ? ज्ञानी को इच्छा केवल प्रारब्ध से होती

है। जितनी सामग्री बिना प्रारब्ध का भोग सभव नही हो, उतनी सामग्री को प्रारब्ध रचता है। इच्छा बिना भोग सभव नही है। इससे ज्ञानी की इच्छा भी प्रारब्ध का ही फल है। और अन्य लोक मे वा इस लोक मे अन्य शरीर का सबध ज्ञानी को प्रारब्ध से भी नही होता है। यह पूर्व कह आये है। इससे ज्ञानी को प्रारब्ध से विदेह मोक्ष के त्याग की वा पर-लोक के गमन की इच्छा नही होती है।

ज्ञानी की मद प्रारब्ध मे जीवन्मुक्ति सुख की विरोधी प्रवृत्ति

जीवन्मुक्ति के सुख के विरोधी वर्त्तमान शरीर मे अधिक भोगो की इच्छा तो भिक्षा भोजनादिको के समान जनकादिको को सभव है। इस स्थान मे यह रहस्य है —ज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति जीवन्मुक्ति की विरोधी नही है। किन्तु जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख की विरोधी है। क्यो ? आत्मा नित्यमुक्त है, अविद्या मे बध प्रतीत होता है। जिस काल मे ज्ञान होता है, उस काल मे अविद्याकृत बध भ्रम नष्ट हो जाता है। ज्ञान होने के पीछे बध भ्राति नही होती है। शरीर सहित को बध भ्रम का अभाव होता है। उसी को जीवन्मुक्ति कहते है। देहादिको की प्रवृत्ति मे तथा निवृत्ति मे ज्ञानी को बध भ्राति आत्मा मे नही होती है। इससे बाह्य प्रवृत्ति से भी जीवन्मुक्ति दूर नही होती है। तो भी बाह्य प्रवृत्ति मे जीवन्मुक्त को विलक्षण सुख नही होता है। एकाग्रतारूप अत करण के परिणाम से सुख होता है। सो एकाग्रता रूप परिणाम बाह्य प्रवृति मे नही होता है। इस रीति से प्रारब्ध भेद से ज्ञानी पुरुषो के व्यवहार नाना प्रकार के होते है। परन्तु जिसका प्रारब्ध अधिक प्रवृत्ति का हेतु होता है, उसका मद प्रारब्ध कहा जाता है। क्यो ? अधिक प्रवृत्ति एकाग्रता की विरोधी है और एकाग्रता बिना निरुपाधिक आनन्द प्रतीत नही होता है। यह समाधि निरूपण प्रसग मे कहा है। और—

ज्ञानी के व्यवहार का अनियम

पूर्व कहा था—"ज्ञानी को सर्व अनात्म पदार्थों मे मिथ्या बुद्धि होती है, राग नही होता। इससे प्रवृत्ति सभव नही है। सो शका भी

नही बनती है । क्यो ? जैसे देह मे मिथ्या बुद्धि भी ज्ञानी को होती है, तो भी देह के अनुकूल भिक्षादिको मे केवल प्रारब्ध से प्रवृत्ति होती है, वैसे जिसका अधिक भोग का प्रारब्ध होता है, उस ज्ञानी की अधिक प्रवृत्ति भी होती है । जैसे बाजीगर के तमासे को मिथ्या जानकर भी सर्व लोको की प्रवृत्ति होती है, वैसे सर्व पदार्थो मे ज्ञानी को मिथ्या बुद्धि होने पर भी प्रवृत्ति सभव है। और यदि ऐसे कहै —जिसको जिस पदार्थ मे दोष दृष्टि होती है, उसमे उसकी प्रवृत्ति नही होती है। ज्ञानी को अनात्म पदार्थो मे दोष दृष्टि होती है, राग नही होता है। इससे प्रवृत्ति सभव नही है, सो शका भी नही बनती है। क्यो ? जिस अपथ्य सेवन मे रोगी ने अन्वयव्यतिरेक से दोष निश्चय किया है, उस अपथ्य सेवन मे प्रारब्ध से जैसे रोगी की प्रवृत्ति होती है, वैसे ज्ञानी की सर्वव्यवहार मे दोष दृष्टि होने पर भी प्रारब्ध से प्रवृत्ति सभव है। इस रीति से ज्ञानी के व्यवहार का नियम नही है। क्यो ? नियम स्वाधीन कार्य मे होता है। पराधीन कार्य मे नियम सभव नही है। ज्ञानी के शरीर का व्यवहार नाना प्रारब्ध के अधीन है। इससे हाथ से छूटे हुये बाण के वेग के आधीन गो के वेध के समान प्रारब्ध के अधीन ज्ञानी के देह के व्यवहार का नियम सभव नही है।

यद्यपि रागादि वासना को रोककर स्वाधीन चित्त वाले कुछ ज्ञानी, मद किवा तीव्र प्रारब्ध के फलरूप शरीर के व्यवहार को नियम मे ही रखते है, तथापि तीव्रतर प्रारब्ध के फलरूप शरीर के व्यवहार का नियम ज्ञानी से भी नही बनता है। ज्ञानी को प्रीति से बिना भी प्रारब्ध भोग होता है। वह प्रारब्ध इच्छा, अनिच्छा और परेच्छा भेद से तीन प्रकार का होता है। यह प्रसग विद्यारण्य स्वामी ने तृप्तिदीप मे १४३ से १६२ श्लोक तक विस्तार से लिखा है।

ज्ञानी के कर्म की निवृत्ति

प्रश्न —ज्ञानी के कर्म निवृत्त कैसे होते है ? उत्तर —ज्ञान से अज्ञान के आवरण अश की निवृत्ति होती है। आवरण की निवृत्ति होने पर आवरण को आश्रय करके स्थित सचित (पूर्व के अनेक जन्मो

मे किये) कर्म की निवृत्ति (नाश) होती है। और ज्ञान के आगे पीछे इस जन्म में किये हुये क्रियमाण कर्म "मैं अकर्ता अभोक्ता असग ब्रह्म हू" इस निश्चय के बल से अपने आश्रय भ्रमज तादात्म्य के नाश से और रागद्वेष के अभाव से जल मे स्थित कमल पत्र के समान ज्ञानी को स्पर्श नही करते है। कितु ज्ञानी के क्रियमाण जो इस जन्म मे किये हुये शुभ और अशुभ कर्मों के फल को क्रम से सुहृद ,अर्थात् सकामी भक्त और द्वेषी अर्थात् निंदक जन ग्रहण करते है।

और अज्ञान की विक्षेप शक्ति के आश्रित ज्ञानी के प्रारब्ध (इस वर्तमान जन्म के आरम्भक) कर्म की निवृत्ति भोग से होती है। इससे ज्ञानी सर्व कर्म से मुक्त है। इसी से कर्म रचित जन्मादिक ससार से भी मुक्त होता है। इस प्रकार ज्ञानी के कर्म की निवृत्ति होती है।

सप्त ज्ञान भूमिका

प्रश्न —सर्व ज्ञानियो का एक निश्चय होने पर भी उनकी स्थिति का भेद क्यो होता है ? उत्तर —सर्व ज्ञानियों की स्थिति का भेद ज्ञान भूमिकाओ के भेद से होता है। वे ज्ञान भूमिका कितनी है ? उत्तर — १-शुभेच्छा २-सुविचारणा ३-तनुमानसा ४-सत्त्वापत्ति ५-असंसक्ति ६-पदार्थाभाविनी ७-तुरीयगा। ये सात ज्ञान भूमिका है। आप इनके लक्षण भी कहने की कृपा करे तभी मेरे हृदय मे इनका स्वरूप स्थित हो सकेगा ? अच्छा सुनो। १-शुभेच्छा=पूर्व जन्म मे वा इस जन्म मे किये हुये निष्काम कर्म और उपासना से शुद्ध और एकाग्र चित्त वाले पुरुष को विवेक वैराग्य षट् सपत्ति और मोक्ष इच्छा, इन चार साधनो से युक्त होने पर जो आत्मा को जानने की तीव्र इच्छा होती है, उसको शुभेच्छा नाम की ज्ञान की प्रथम भूमिका कहते है।

२—सुविचारणा=आत्मा के जानने की तीव्र इच्छा से विधि पूर्वक ब्रह्मनिष्ठगुरु के शरण जाकर गुरु के मुख से जीवब्रह्म की एकता के बोधक वेदान्त वाक्यो को श्रवण करके उस श्रवण किये हुये अर्थ को निज मन मे घटाने के लिये अनेक युक्तियो से उसका मनन

(विचार) करना उसको सुविचारणा नाम की दूसरी ज्ञान भूमिका कहते है।

३—तनुमानसा=स्वरूप के साक्षत्कार अर्थात् अपरोक्ष अनुभव के लिये श्रवण मनन द्वारा निर्णय किये हुये ब्रह्मात्मा की एकतारूप अर्थ के निरन्तर चिंतनरूप निदिध्यासन से जो स्थूल मन की अर्थात् बहिर्मुख मन की सूक्ष्मता अर्थात् अतर्मुखना होती है, उसको ज्ञान की तनुमानसा नाम की तीसरी भूमिका कहते है।

४—सत्त्वापत्ति=श्रवण मनन निदिध्यासन से सशय, विपर्यय रहित स्वरूप साक्षात्काररूप निर्विकल्प स्थिति के होने से, तत्त्वज्ञान युक्त मनरूप सत्त्व (शुद्ध अत करण) की प्राप्ति होती है, उसको ज्ञान की सत्त्वापत्ति नाम की चतुर्थ भूमिका कहते है।

५—अससक्ति=निर्विकल्प समाधि के अभ्यास की परिपक्वता से देह मे सर्वथा अहता ममता गलित होकर देहादिक मे सर्वथा आसक्ति का अभाव होता है, उसको ज्ञान की अससक्ति नाम की पचम भूमिका कहते है।

६—पदार्थाभाविनी=अतिशय निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से देहादिक सर्व पदार्थो का अधिष्ठान ब्रह्मरूप से प्रतीतरूप जो अभाव अर्थात् अप्रतीति होती है, उसको ज्ञान की पदार्थाभाविनी नाम की षष्ठ भूमिका कहते है।

७—तुरीयगा=ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी की चतुर्थ पचम भूमिका के समान भावरूप से और षष्ठ भूमिका के समान अभावरूप से प्रतीति भी जहा नही होती, ऐसी जो स्वपर मे उत्थान रहित तुरीय पद मे मन की स्थिति उसको ज्ञान की तुरीयगा नाम की सप्तम भूमिका कहते है। ये सप्त भूमिका किसके साधन है? प्रथम, द्वितीय, तृतीय, भूमिका तत्त्वज्ञान के साधन है। चतुर्थ भूमिका तत्त्वज्ञानरूप होने से जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का साधन है। पचम षष्ठ और सप्तमभूमिका जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के साधन है। चतुर्थ

भूमिका रूपज्ञान का अधिकारी दो प्रकार का होता है। एक कृतोपासन (ज्ञान से पूर्व जिसने निर्गुण ब्रह्म की उपासना पूर्णरूप से करी हो)। दूसरा अकृतोपासन (ज्ञान से पूर्व जिसने उपासना नही की हो)। कृतोपासन तो सम्यक् वैराग्यादि साधन से सपन्न होता है। और ज्ञान के अनन्तर अल्पाभ्यास से शीघ्र पचम आदिक भूमिका मे आरूढ होता है।

और अकृतोपासन मे सर्व साधन स्पष्ट प्रतीत नही होते है, किन्तु एक दो साधन प्रकट होते है और अन्य साधन गोप्य रहते है। इससे वह बुद्धिमान् हो तो चतुर्थ भूमिका रूप तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है। परन्तु बहुत काल के अभ्यास से कदाचित् कोईक पचम आदिक भूमिका मे आरूढ होता है, शीघ्र नही होता है। ज्ञान से तृप्तज्ञानी के उद्गार भी सुनाइये ?

अपरोक्ष ज्ञानजन्य तृप्ति से तृप्त ज्ञानी के उद्गार

दु खी अज्ञानी लोग, पुत्रादिक की अपेक्षा से सासारिक व्यवहार मे चाहे फँसे रहे, परन्तु परमानन्द से परिपूर्ण मै भला किस इच्छा मे सासारिक व्यवहार मे उलझा रहूँगा ? अर्थात मै नही फँसूगा। परलोक जाने की इच्छा वाले पुरुष भले ही यज्ञादिक शुभकर्म करे, परन्तु सर्व लोकरूप मैं उन कर्मो को क्यो करू ? कैसे करू ? जो आचार्य परार्थ के अधिकारी है, वे शास्त्रो की व्याख्या करें वा वेद पढावे, मै तो अब 'अक्रिय' हूँ, इससे मेरा इन कार्यों मे अधिकार ही नही है। निद्रा, भिक्षा, स्नान और शौचादि कर्मो को मै चिदाभास न तो चाहता हूँ, न करता हूँ, यदि देखने वाले कल्पना से इनको मेरे काम मानते है तो मानें, उनके मानने से मेरा क्या बनेगा और क्या बिगडेगा ? अर्थात् कुछ भी नही। जैसे लाल होने से अग्नि सदृश रत्ती आदि, वानरादि अन्यो से अग्नि समझी जाने पर भी, दाह उत्पन्न नही करती है, वैसे ही दूसरो से आरोपित सासारिक धर्मो को मै नही अपनाता हूँ।

तत्त्व के अज्ञानी मुमुक्षु भले ही श्रवण करे, मै ज्ञानी श्रवणादि

क्यो करू ? तत्त्व के स्वरूप के प्रति सशयालु भले ही मनन करे, मै तो सशय रहित हूँ, इसलिये मनन नही करता हूँ। जिसको विपरीत भावना हो, वह निदिध्यासन करे-"मुझे तो अब कभी देह को आत्मा मानने का विपर्यास नही होता है" जब विपर्यय ही नही है तो ध्यान की क्या आवश्यकता है ?

प्रश्न :—जब विपर्यय नही है तो 'मै मनुष्य हू' यह व्यवहार कैसे होता है ? उत्तर .—'मै मनुष्य हूँ' इत्यादि व्यवहार इस विपर्यय के बिना भी अनादिकालाभ्यस्त वासना वश चलता ही रहता है। प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर ही व्यवहार निवृत्त होता है, कर्म क्षय हुये बिना तो, हजारो बार ध्यान करने पर भी व्यवहार निवृत्त नही होता है। व्यवहार की विरलता (कमी) के लिये यदि ध्यान करना है तो करो, मै तो व्यवहार को, अबाधक देखता हूँ अत ध्यान क्यो करू ? मुझे विक्षेप नही होता है, इसलिये मुझे समाधि की भी आवश्यकता नही होती है। विक्षेप और समाधि दोनो विकारी मन के ही धर्म है। उत्पत्ति विनाश रहित मुझ नित्यानुभव स्वरूप से भिन्न पृथक् अनुभव कौनसा है ? इसलिये समाधि का फल रूप अनुभव भी मुझे सम्पादन नही करना है। मुझे तो अब यह निश्चय हो गया है-जो कुछ करना था कर लिया, जो कुछ पाना था सो पा लिया। भिक्षा आदि लौकिक, जप, समाधि आदि शास्त्रीय तथा हिसा आदि प्रतिषिद्ध अन्य व्यवहार भी कर्ता भोक्ता आदि रूप से अलेप मेरा प्रारब्ध के अनुकूल चलता रहे, क्यो ? तीव्र प्रारब्ध भोग के बिना निवृत्त नही होता है। अथवा कृतकृत्य भी मै प्राणियो पर कृपा करने की इच्छा से शास्त्रीय मार्ग से ही चलता हूँ, मेरी इससे कोई हानि नही होती है। प्रश्न —शास्त्रीय मार्ग से चलना स्वीकार करने पर उससे विकार नही होगा ?

उत्तर .—शरीर देव-पूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि कुछ भी करे, वाणी प्रणव का जप करे वा वेदान्त शास्त्र को पढे, मेरी बुद्धि विष्णु का ध्यान करे वा ब्रह्मानन्द मे विलीन हो जाय, मै साक्षी तो यहा न कुछ करता हूँ न कुछ करवाता हूँ। अतएव शास्त्रीय मार्ग पर चलने

का अभिमान और उससे विकार मुझे नही हो सकता है। इसका फल यह है —इस अवस्था मे पृथक्-पृथक् स्थानो मे स्थित पूर्वी और पश्चिमी समुद्रो के समान ज्ञानी और कर्मी भिन्न विषय वाले होने से, मुझ ज्ञानी और कर्मी का परस्पर विवाद कैसे सभव है ? कर्मी का तो शरीर, वाणी और बुद्धि मे निर्बन्ध (रुकावट) है, साग्रह निश्चय है। साक्षी मे उसका कोई निर्बन्ध नही है। तथा साक्षी का निर्बन्ध साक्षी के अलेप होने मे है—शरीरादिको मे उसका कोई निर्बन्ध नही है। इस प्रकार दोनो का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। ज्ञानी का क्षेत्र आत्मा है। और कर्मी का क्षेत्र अनात्म-पदार्थ है।

इस प्रकार एक दूसरे की बात को न जानने वाले ज्ञानी और कर्मी यदि विवाद करते है तो बहरो के समान झगडते है, बुद्धिमान् उनको देखकर हँसते ही है। कर्मी जिस साक्षीतत्त्व को नही पहचानता, उसकी ब्रह्मता को तत्त्वज्ञानी जान ले तो इसमे कर्मी की क्या हानि है ? उसके कर्मानुष्ठान मे इससे कोई रुकावट नही होती है। ज्ञानी के लिये प्रवृत्ति का कोई उपयोग नही है। ऐसा कहने वाले वादी से यह तो पूछो —ज्ञानी के लिये निवृत्ति का भी क्या प्रयोजन है ? यदि कहो-निवृत्ति तो बोध की हेतु है, तो शुभ कर्मो मे प्रवृत्ति भी चित्तशुद्धि और वैराग्य के द्वार। स्वरूप की जिज्ञासा का हेतु है, अतएव ज्ञानी के लिये उपयोगी है। यदि कहो-ज्ञानी को ज्ञानेच्छा नही होती। तब ज्ञानी को पुन बोध भी तो नही होता अर्थात् ज्ञानेच्छा न होने से यदि ज्ञानी के लिये प्रवृत्ति अनुपयोगिनी है तो उसके लिये पुन. बोध न होने से निवृत्ति का भी कोई उपयोग नही है। महावाक्य के प्रमाण से उत्पन्न बोध किसी भी बलवान् प्रमाण से बाधित नही होता है। इसीलिये वह अनुवृत्त रहता है, वह किसी अन्य साधन से अनुवृत्त नही होता। अत एक बार उत्पन्न बोध को स्थिर रखने के लिये ससार निवृत्ति आदि किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा नही रहती है। बोध की स्थिरता अबोध पर निर्भर है, निवृत्ति पर नही। अविद्या वा उसका कार्य भी बोध को बाधित

नही कर सकते है। क्यो ? उन दोनो को तो पहले ही तत्त्व-बोध ने नष्ट कर दिया था।

बाधित अविद्या का कार्य चाहे इन्द्रियो मे प्रतीन होता रहे, किंतु उससे बोध का बाध नही होता है। जैसे जीवित चूहा भी बिल्ली को नही मार सकता, तब मरा हुआ तो क्या मारेगा ? जो शक्तिशाली पुरुष पाशुपतास्त्र जैसे अस्त्र से बिधकर भी नही मरा, वह लोहबाण से रहित धनुष से सताने पर ही मर जायगा, इसमे क्या प्रमाण है ? विद्याभ्यास के समय से त्रिविध प्रमातृत्व आदि कार्यो से बढी हुई अविद्या से युद्ध करके भी जिस बोध ने उस अविद्या को जीत लिया है, वह अध्यास कुशलता से सुदृढ होकर अब अविद्या के हट जाने पर अविद्या के कार्य अध्यास से, जिसकी जड कट चुकी है, उससे कैसे रुकेगा ?

बोध के मारे हुये अज्ञान और अज्ञान के कार्यो के मुर्दे भले ही पडे रहे, उनसे बोधरूप सम्राट् को क्या डर है ? इससे उसका तो यश ही बढता है कि देखो ये बोध के मारे हुये है। जो पुरुष ऐसे शूरवीर अविद्या और उसके कार्य के घातक, ब्रह्मात्मा के एकत्व ज्ञानरूप बोध से कभी भी वियुक्त नही होता उसको देहादि की प्रवृत्ति वा निवृत्ति से क्या हानि वा लाभ है ? अर्थात् कुछ भी नही है। किंतु बोधहीन का यज्ञ, श्रवण आदि प्रवृत्तियो मे आग्रह करना सर्वथा उचित ही है। क्यो ? मनुष्यो को स्वर्ग वा मुक्ति के लिये यत्न करना ही चाहिये। विद्वान् भी यदि वैसे कर्मियो के बीच रहे तो उनके अनुसार शरीर, मन और वाणी आदि से सब क्रियायें करे ही, उन कर्मियो को उनके करने से निषेध कभी नही करे। और यदि ज्ञानी जब जिज्ञासुओ के बीच मे रहे तब उनके बोधार्थ सब क्रियाओ के गुप्त दूषण बताये और स्वय भी उनको छोड दे। क्यो ? अज्ञानी के अनुसार ज्ञानी का व्यवहार होना चाहिये। क्यो ? ज्ञानी कृपालु है और अज्ञानी दया के पात्र है। देखा जाता है-दूध पीते बच्चे के अनुसार ही उसके पिता का व्यवहार होता है। दूध पीता बच्चा जब अपने पिता, को बुरा-भला कहता है वा मार

देता है तो उसका पिता न तो दु ख मानता है और न क्रोध ही करता है, अपितु बालक से प्यार करता है।

वैसे ही ज्ञानी अज्ञानी पुरुपो के निन्दा वा स्तुति करने पर स्वय न तो निन्दा करता है न ही स्तुति करता है। अपितु उनको जिस कार्य के करने से बोध हो वही कार्य करता है। अज्ञानी को इस लोक मे जिस आचरण से तत्त्व बोध हो, वही आचरण ज्ञानी करता है। क्यो ? ज्ञानी का अज्ञानी को बोध देने के अतिरिक्त और कुछ भी कर्त्तव्य नही है। ज्ञानी पूर्वोक्त प्रकार से अपनी कृतकृत्यता से सतुष्ट होकर और वक्ष्यमाण प्रकार से प्राप्त प्राप्तव्यता से भी तृप्त हुआ यही मानता है—मै अपने देशाद्यनवच्छिन्न प्रत्यगात्मारूप को साक्षात् जानता हूँ इसलिये मै कृतार्थ हूँ। और आत्मज्ञान का लाभ ब्रह्म नाम का आनन्द मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इसलिये आत्मज्ञान के फल स्वरूप सम्पूर्ण इष्ट के मिल जाने के कारण मै धन्य हूँ। अब मुझे सासारिक दु ख वा दु खरूप ससार नही दीख पडता है, इसलिये मै धन्य हूँ। मेरा अज्ञान अर्थात् कर्मवासनाओ का समूह न जाने कहा भाग गया है-नष्ट हो गया है। इसलिये मे धन्य हूँ। आज मुझे कुछ भी कर्त्तव्य नही रहा है, 'मै धन्य हूँ'। मुझे जो कुछ प्राप्तव्य था वह मुझे प्राप्त हो गया है, मै धन्य हूँ। मैं धन्य हूँ, आज मेरी तृप्ति के समान लोक मे तृप्ति कहा है ? और क्या कहूँ ? बस, मै धन्य हूँ, धन्य हूँ, बार बार धन्य हूँ। धन्य है मेरा पुण्य। जिसका ऐसा दृढ फल हुआ है और इस पुण्य के सम्पादक हम भा महान् है। यह शास्त्र अद्भुत है। शास्त्र अद्भुत है, शास्त्र और गुरु से प्राप्त ज्ञान भी अद्भुत है, और ज्ञान प्राप्ति का सुख भी अद्भुत है। इस प्रकार परम तृप्त होकर ज्ञानी गर्जन करता है। ज्ञानी को इच्छा होती है या नही यह भी बताइये ?

ज्ञानी को इच्छा सभव है और इच्छा के अभाव का अभिप्राय

"ज्ञानी का सकल व्यवहार अज्ञानी के समान प्रारब्ध से होता है।" यह पूर्व कहा है। इससे इच्छा सभव है। और कही शास्त्र मे ऐसा

लिखा है —ज्ञानी को इच्छा नही होती है। उसका यह अभिप्राय नही है कि ज्ञानी का अत करण पदार्थ की इच्छारूप परिणाम को प्राप्त नही होना है। क्यो ? अन करण के इच्छादिक सहज धर्म है। अत-करण यद्यपि भूतो के सत्त्वगुण का कार्य कहा है, तथापि रजोगुण तमोगुण सहित सत्त्वगुण का कार्य है। केवल सत्त्वगुण का ही कार्य नही है। केवल सत्त्वगुण का ही कार्य हो तो अन करण का चल स्वभाव नही होना चाहिये। वैसे राजसी वृत्ति काम क्रोधादिक और मूढतादिक तामसी वृत्ति किसी भी अन करण की नही होनी चाहिये। इससे केवल सत्त्वगुण का कार्य अत करण नही है। किन्तु-अप्रधान रजोगुण तमोगुण सहित प्रधान सत्त्वगुण वाले भूतो से अत करण उत्पन्न होता है। इससे अत करण मे तीनो गुण रहते है। सो तीनो गुण भी पुरुषो के जितने अत करण है, उनमे सम नही है, किन्तु न्यून अधिक है। इससे गुणो की न्यूनता अधिकता से सर्व के विलक्षण स्वभाव है। इस रीति से तीनो गुणो का कार्य अत करण है। जब तक अत-करण रहता है, तब तक रजोगुण का परिणामरूप इच्छा का अभाव नही बनता है। इससे ज्ञानी को इच्छा नही होती है। उसका यह अभिप्राय है —अज्ञानी और ज्ञानी दोनो को इच्छा तो समान ही होती है। परन्तु अज्ञानी तो इच्छादिको को आत्मा के धर्म जानता है।

और ज्ञानी को जिस काल मे इच्छादिक होते है, उस काल मे भी ज्ञानी इच्छादिको को आत्मा के धर्म नही जानता है। किन्तु—काम, सकल्प, सदेह, राग, द्वेष, श्रद्धा, भय, लज्जा, इच्छादिक अत करण के परिणाम है। इससे अत करण के धर्म जानता है। इस रीति से इच्छादिक होते भी है, किन्तु आत्मा के धर्म इच्छादिक ज्ञानी को प्रतीत नही होते है। इससे ज्ञानी मे इच्छा का अभाव कहा है। मन, वाणी, तन से जो व्यवहार ज्ञानी करता है, सो सर्व ज्ञानी को आत्मा मे प्रतीत नही होता है। किन्तु सर्व क्रिया मन, वाणी, तन मे है और "आत्मा असग है।" यह ज्ञानी का (अत करण सहित चिदाभास का) निश्चय है। इससे सर्व व्यवहार कर्ता भी ज्ञानी अकर्ता है। इसी कारण

से श्रुति मे यह कहा है —"ज्ञान से उत्तर किये जो वर्त्तमान शरीर मे शुभ अशुभ कर्म उनके फल पुण्य पाप का सबध नही होता है।" प्रारब्ध बल से अज्ञानी के समान ही सर्व व्यवहार और उसकी इच्छा ज्ञानी को सभव है। ज्ञानी के देह त्याग मे कालादिक की अपेक्षा होती है या नही यह बताने की कृपा करिये ?

ज्ञानी के शरीर त्याग मे कालादिक की अपेक्षा नही

ज्ञानी के शरीर त्याग मे काल विशेष की अपेक्षा नही है। उत्तरायण मे वा दक्षिणायन मे कभी भी देहपात हो, वह सर्वथा मुक्त होता है। देश विशेष की भी अपेक्षा नही है। काशी आदिक पुनीत देश मे वा अत्यन्त मलीन देश मे ज्ञानी का देहपात हो, वह सर्वथामुक्त होता है। आसन विशेष की भी अपेक्षा नही है। पृथ्वी मे शव आसन से वा सिद्धासन से देहपात हो, वह सर्वथामुक्त होता है। वैसे सावधान ब्रह्म चिन्तन करने का वा रोग व्याकुल हा हा शब्द पुकारते का देहपात हो, वह सर्वथामुक्त होता है। क्यो ? जिस काल मे ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है, उसी काल मे ज्ञानी मुक्त हो जाता है। यह विद्यारण्य स्वामी ने महाभूत विवेक के अत मे लिखा है। इससे ज्ञानी को विदेह मोक्ष मे देशकाल आसनादिको की अपेक्षा नही है। जैसे ज्ञानी को देहपात मे देशकालादिको की अपेक्षा नही है, वैसे ज्ञान के निमित्त श्रवण मे भी देशकाल आसानादिको की अपेक्षा नही है। उपासक को है या नही ?

उपासक को देश कालादिको की अपेक्षा

यद्यपि भीष्मादिक ज्ञानी कहे गये है और भीष्म ने उत्तरायण बिना प्राण त्याग नही किये थे, तथापि भीष्मादिक अधिकारी पुरुष है। इससे उपासको के उपदेश के लिये उन्होने काल विशेष की प्रतीक्षा करी थी। वसिष्ठ भीष्मादिक अधिकारी है। इससे ही उनके अनेक जन्म हुये है। क्यो ? अधिकारी पुरुषो का एक कल्पपर्यन्त प्रारब्ध होता है। कल्प के अत बिना उनकी विदेहमोक्ष नही होती है। और कल्प के भीतर उनको इच्छा के बल से नाना शरीर प्राप्त होते है। तथापि

आत्मस्वरूप मे उनको जन्म मरण भ्राति नही होती है। इससे वे जीवन्मुक्त होते है। उन अधिकारी पुरुषो का सपूर्ण व्यवहार अन्य के उपदेश निमित्त ही होता है। और अन्य ज्ञानियो के व्यवहार मे कोई नियम नही है। उपासक को देशकाल की अपेक्षा है। क्यो ? उत्तम देश मे उत्तम उत्तरायणादिक काल मे उपासक शरीर त्यागे, तब ही उपासना का फल होता है। और ज्ञानी को मरण समय मे सावधानता से ज्ञेय की स्मृति की अपेक्षा नही रहती है। उपासक को मरण समय मे ध्येय के स्वरूप की स्मृति की अपेक्षा रहती है। जिस ध्येय का पूर्व ध्यान किया है, उस ध्येय की स्मृति मरण समय मे हो, तब ही उपासना का फल होता है। जैसे ध्येय की स्मृति चाहिये, वैसे ध्येय ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग जो उपासना निरूपण अश १५ मे लिखा है। उसकी भी स्मृति चाहिये। क्यो ? मार्ग चिन्तन भी उपासना का अग है। और ज्ञान निमित्त श्रवण मे देशकाल आसन की अपेक्षा नही है। किन्तु ध्यान मे उत्तमदेश, निरन्तर काल, सिद्धादिक आसन की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार योग सहित उपासक के लिये देशकालादिक की अपेक्षा अवश्य होती है।

केवल ईश्वरशरण उपासक को देशकालादिक की अपेक्षा नही

प्रश्न —केवल ईश्वरशरण उपासक को देशकालादिक की अपेक्षा होती है या नही ? उत्तर—नही होती है। केवल ईश्वर शरण उपासक चाहे दिन मे मरे वा रात्रि मे। दक्षिणायन मे मरे वा उत्तरायण मे। पवित्रभूमि मे मरे वा अपवित्र मे। वह सर्वथा उपासना के बल से देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक को ही प्राप्त होता है। यह सूत्रकार भाष्यकार ने प्रतिपादन किया है।

इति श्री ज्ञानी निरूपण अश २० समाप्त ।

अथ जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति निरूपण अश २१

अब आप जीवन्मुक्ति विदेह मुक्ति का भी भली भाति वर्णन करने की कृपा करे ? अच्छा सुनो, प्रथम जीवन्मुक्ति सबन्धी विचार कहता हूँ। देहा-

दिक प्रपच की प्रतीति के होते हुये भी ब्रह्मस्वरूप से स्थिति को जीवन्मुक्ति कहते है। जीवन्मुक्ति मे प्रपच की प्रतीति क्यो होती है ? आवरण और विक्षेप ये दो अविद्या की शक्तिया है। उनमे आवरणशक्ति का तो ज्ञान से नाश हो जाता है। इससे ज्ञानी का अन्य जन्म नही होता है। परन्तु प्रारब्ध के बल से दग्धधान्यकरण के समान विक्षेप शक्ति (अविद्यालेश) रहती है उससे होती है। जीवन्मुक्ति मे प्रपच की प्रतीति कैसे होती है ? १—जैसे रज्जु के ज्ञान से सर्पभ्रांति के निवृत्त होने पर भी कपादिक भासते है। जैसे दर्पण के ज्ञानी को प्रतिबिम्ब भासता है। और जैसे मरुस्थल के ज्ञानी को मृगजल भासता है, वैसे तत्त्वज्ञानी को जीवन्मुक्तिदशा मे बाधित हुये प्रपच की प्रतीति होती है। और जैसे अश्वत्थामा आदि के ब्रह्मास्त्र आदि से भस्म हुआ रथ भी श्रीकृष्ण के सकल्प के बल से वैसा का वैसा भासता था और युद्ध समाप्ति पर भस्म हो गया था, वैसे ही ज्ञान से देहादिक प्रपच का बाध होने पर भी प्रारब्ध के बल से देहादिक का नाश नही होता है, किन्तु फिर भी देहादिक की प्रतीति होती है। इसको बाधितानुवृत्ति कहते है। ये ही बाधित हुये प्रपच की प्रतीति मे दृष्टान्त है।

कोई ग्र थकार को जीवन्मुक्ति अमान्य

किन्तु कोई ग्र थकार उक्त जीवन्मुक्ति को नही मानते है, एक विदेह मुक्ति ही मानते है। वे कहते है ब्रह्म साक्षात्कार से एक विदेह मुक्ति ही होती है, जीवन्मुक्ति नही होती है। क्यो ? उस जीवन्मुक्ति मे कोई भी प्रमाण नही है तथा उसका कोई लक्षण, साधन, अधिकारी और प्रयोजन भी सभव नही है। लक्षण प्रमाणादिको से ही वस्तु की सिद्धि होती है। उनका अभाव होने से जीवन्मुक्ति को मानना योग्य नही है। जीवन्मुक्ति मे श्रुति, स्मृति वचन प्रमाण नही है। शका—"विमुक्तश्च विमुच्यते। स जीवन्मुक्त उच्यते। स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते।" इत्यादिक श्रुति स्मृति वचन जीवन्मुक्ति मे प्रमाणरूप है। इससे जीवन्मुक्ति मे प्रमाण का अभाव कहना असगत है।

उक्त शका का समाधान :—उक्त श्रुति स्मृति वचनो का ब्रह्म

विद्या की स्तुति द्वारा ब्रह्म मे ही तात्पर्य है। जीवन्मुक्ति मे तात्पर्य नही है। इससे उक्त वचनो से जीवन्मुक्ति की सिद्धि नही हो सकती है।

लक्षण के अभाव से जीवन्मुक्ति का अभाव

अब लक्षण के अभाव से जीवन्मुक्ति का अभाव सिद्ध करते है –अज्ञान की निवृत्ति का नाम जीवन्मुक्ति है वा ब्रह्मभाव का नाम जीवन्मुक्ति है वा जीवत अवस्था मे कर्तृत्व भोक्तत्वादिरूप बन्ध की निवृत्ति का नाम जीवन्मुक्ति है। इनमे प्रथम वा द्वितीय लक्षण तो सभव नही है। क्यो ? विदेह मुक्ति मे भी अज्ञान की निवृत्ति तथा ब्रह्मभाव विद्यमान है। इससे विदेह मुक्ति मे उक्त दोनो लक्षणो की अतिव्याप्ति होगी। और अतिव्याप्ति दोष वाला लक्षण अपने लक्ष्य अर्थ की सिद्धि नही कर सकता है। इससे प्रथम और द्वितीय लक्षण से तो जीवन्मुक्ति की सिद्धि नही हो सकती है। और यदि तृतीय लक्षण मानो तो वह भी सभव नही है। क्यो ? जीवित अवस्था मे भोग देने वाले प्रारब्ध कर्म के विद्यमान रहते कर्तृत्वादिक बध की निवृत्ति सभव नही है। इससे वह तृतीय लक्षण भी असभव दोष वाला होने से जीवन्मुक्ति की सिद्धि नही कर सकता है। किवा जीवित अवस्था मे कर्तृत्वादिक बध साक्षी चैतन्य से निवृत्त करते हो वा अहकार से निवृत्त करते हो ?

यदि प्रथम पक्ष अगीकार करो तो वह सभव नही है। क्यो ? साक्षी चैतन्य मे तो वास्तव मे बध नही है, किंतु अत करण के तादात्म्य अध्यास से बध प्रतीत होता है। जब आत्मसाक्षात्कार से तादात्म्य अध्यास की निवृत्ति होती है। तब आरोपित बध भी निवृत्त हो जाता है। इससे साक्षी से बध की निवृत्ति करने के लिये जीवन्मुक्ति का सपादन करना व्यर्थ ही है। और यदि द्वितीय पक्ष अगीकार करो तो वह भी सभव नही है। क्यो ? भोग के देने वाले प्रारब्ध कर्म के विद्यमान रहते हुये अहकारगत स्वाभाविक बध की निवृत्ति सभव नही है। तात्पर्य यह है –जिस धर्मी का जो स्वाभाविक धर्म होता है, वह धर्म धर्मी के विद्यमान रहते निवृत्त नही होता है। कैसे ? जैसे अग्नि का उष्णत्व धर्म और जल का द्रवत्व धर्म, अग्नि और जलरूप धर्मी के विद्यमान

रहते हुये निवृत्त नही होता है। वैसे अहकार का स्वाभाविक धर्म कर्तृत्वादिक बध भी अहकाररूप धर्मी के विद्यमान रहते हुये निवृत्त नही होगा। शका-अहकारगत कर्तृत्वादिक बध का यद्यपि स्वरूप से नाश नही होता है, तथापि योगाभ्यास से उस बध का अभिभव होता है। उक्त शका का समाधान —जैसे आत्मज्ञान से प्रारब्ध कर्म प्रबल होता है, वैसे योगाभ्यास से भी प्रारब्ध कर्म प्रबल होता है। और प्रारब्ध कर्म का भोग कर्तृत्वादिक अभिमान से बिना होता नही है। इससे प्रबल प्रारब्ध कर्म के विद्यमान रहते योगाभ्यासकर्तृत्वादिक बध का अभिभव नही कर सकेगा। इससे जीवित अवस्था मे कर्तृत्वादिक बन्ध की निवृत्ति जीवन्मुक्ति है। यह जीवन्मुक्ति का लक्षण सभव नही है।

साधन के अभाव से जीवन्मुक्ति का अभाव

अब साधन के अभाव से जीवन्मुक्ति के अभाव को सिद्ध करते है.—जीवन्मुक्ति को मानने वाले वादी से यह पूछना चाहिये—जीवन्मुक्ति का साधन आत्मज्ञान है अथवा योग है? प्रथम पक्ष अगीकार करे तो वह सभव नही है। क्यो? आत्मज्ञान विदेह मुक्ति का ही साधन है, जीवन्मुक्ति का साधन नही है। और "ज्ञानादेवतु कैवल्यम्" इत्यादिक श्रुतियो ने आत्मज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति कथन की है, जीवन्मुक्ति की नही। इससे आत्मज्ञान विदेह मुक्ति का ही साधन है। वैसे द्वितीय पक्ष भी सभव नही है। क्यो? जैसे श्रवणादिक आत्म ज्ञान के साधन है, वैसे योग भी आत्म ज्ञान का ही साधन है। इससे योग को जीवन्मुक्ति की साधनता सभव नही है।

अधिकारी के अभाव से जीवन्मुक्ति का अभाव

अब अधिकारी के अभाव से जीवन्मुक्ति के अभाव को सिद्ध करते है '—जीवन्मुक्ति मे मुमुक्षु को तो अधिकारी कहना सभव नही है। किन्तु ज्ञानी को ही जीवन्मुक्ति का अधिकारी कहना होगा, सो भी सभव नही है। क्यो? "ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत कृत्यस्य योगिन.।

नैवास्ति किंचित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् । तस्य कार्यं न विद्यते ।" इत्यादिक वचनो ने ज्ञानी के लिये कर्त्तव्यता का निषेध किया है । यदि ज्ञानी को जीवन्मुक्ति का अधिकारी मानोगे तो जीवन्मुक्ति के साधनो की कर्त्तव्यता ज्ञानी को अवश्य होगी। उससे उक्त वचनो का विरोध होगा। किवा देहाभिमान वाला पुरुष ही कर्त्ता होता है । और ज्ञानी पुरुष देहाभिमान से रहित होता है। इससे कर्ता पने से भी रहित होता है । कर्तापने का अभाव होने से ज्ञानी पुरुष की जीवन्मुक्ति के साधनो मे प्रवृत्ति सभव नही है । इससे ज्ञानी को जीवन्मुक्ति मे अधिकार सभव नही है और अधिकार से बिना जीवन्मुक्ति के साधनो का अभ्यास भी सभव नही है ।

प्रयोजन के अभाव मे जीवन्मुक्ति का अभाव

अब फल रूप प्रयोजन के अभाव से जीवन्मुक्ति के अभाव को सिद्ध करते है —जीवन्मुक्ति को मानने वाले वादी से यह पूछना चाहिये, जीवन्मुक्ति का प्रयोजन क्या है ? क्यो ? प्रयोजन से बिना मद पुरुष की भी प्रवृत्ति नही होती है। फिर बुद्धिमान् पुरुष की प्रवृत्ति कैसे होगी ? इससे जीवन्मुक्ति के सपादन मे पुरुष की प्रवृत्ति के लिये जीवन्मुक्ति का कोई प्रयोजन अवश्य कहना चाहिये । उत्पन्न हुये आत्मज्ञान का रक्षण जीवन्मुक्ति का प्रयोजन है वा दु ख का नाश प्रयोजन है वा स्वरूप सुख का आविर्भाव प्रयोजन है। इनमे यदि प्रथम पक्ष अगीकार करो तो सो सभव नही है । क्यो ? "तत्वमसि" आदिक प्रमाण से जन्य तथा अज्ञान के निवृत्त करने मे समर्थ आत्म ज्ञान का बाधक कोई भी नही है । और रक्षण बाधक से ही होना है । इससे ज्ञान का रक्षण ही निरूपण नही हो सकता है । इस प्रकार दु ख का नाश तथा सुख का आविर्भाव ये दोनो भी जीवन्मुक्ति के प्रयोजन नही है । क्यो ? ये दोनो आत्मज्ञान से ही प्राप्त होते है । और जो वस्तु जिस साधन से प्राप्त होती है, वह वस्तु उस साधन का ही फल होती है । अन्य साधन का फल नही होती है । इससे दु ख का

नाश तथा सुख का आविर्भाव ये दोनो आत्मज्ञान के ही फल है। जीवन्मुक्ति के फल नही है। इस प्रकार-प्रमाण, स्वरूप लक्षण, साधन, अधिकारी और प्रयोजन, इन पाचो का अभाव होने मे जीवन्मुक्ति का अगीकार निरर्थक ही है। इससे आत्म ज्ञान से एक विदेह मुक्ति ही होती है, जीवन्मुक्ति नही होती। इस प्रकार कोई ग्र थकार जीवन्मुक्ति का खडन करके एक विदेह मुक्ति ही अगीकार करते है। उनके मत को खडन करके अब जीवन्मुक्ति की सिद्धि के लिये प्रथम जीवन्मुक्ति का लक्षण करके जीवन्मुक्ति को मानने वाले ग्र थकारो के विचारो द्वारा जीवन्मुक्ति की सिद्धि करने का यत्न करते है।

विवाद पूर्वक जीवन्मुक्ति की सिद्धि

जीवन्मुक्ति का लक्षण .—श्रवणादिको से उत्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कार से जीवित अवस्था मे कर्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप सर्व बंध प्रतीति की निवृत्ति को जीवन्मुक्ति कहते है। शका —जीवन्मुक्ति का यह लक्षण सभव नही है। क्यो ? भोग देने वाले प्रारब्ध कर्म के विद्यमान रहते हुये ज्ञानी को भी कर्तृत्वादि बध प्रतीति अवश्य होगी। क्यो ? कर्तृत्व भोक्तृत्व बुद्धि से बिना प्रारब्ध कर्म के फल का भोग सभव नही है। यद्यपि कर्तृत्वादिक बध साक्षी आत्मा से तो ज्ञान द्वारा निवृत्त हो गया है, तथापि जलगत द्रवत्व धर्म के समान और अग्निगत उष्णत्व धर्म के समान अत.करण का स्वाभाविक धर्म रूप कर्तृत्वादिक बध अत करण से निवृत्त होना अशक्य है। इससे कर्तृत्वादिक सर्व बध प्रतीति की निवृत्ति का नाम जीवन्मुक्ति है, यह लक्षण: सभव नही है। समाधान —जैसे तत्त्वज्ञान से प्रारब्ध कर्म प्रबल है, वैसे प्रारब्ध कर्म से भी योगाभ्यास प्रबल होता है। इससे योगाभ्यास से यद्यपि प्रारब्ध भोग के अनुकूल कर्तृत्वादिक बन्ध प्रतीति की आत्यतिक निवृत्ति तो नही होती है। तथापि योगाभ्यास से कर्तृत्वादिक बन्ध प्रतीति का अभिभव अवश्य होता है। इससे पूर्व उक्त जीवन्मुक्ति का लक्षण सभव है।

यदि प्रारब्ध कर्म से योगाभ्यास को प्रबल नही मानें तो पुरुष प्रयत्न व्यर्थ होगा। और पुरुष प्रयत्न के व्यर्थ होने से चिकित्सा शास्त्र से आदि लेकर मोक्ष शास्त्र पर्यन्त सर्व शास्त्रो का आरम्भ निष्फल होगा। शका —योगाभ्यास से प्रारब्ध कर्म का प्रतिबन्ध मानोगे तो "ना भुक्त क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि" इस वचन का विरोध होगा। समाधान '—प्रारब्ध कर्म के विरोधी योगाभ्यासादिक नही विद्यमान होने पर भी उक्त वचन सार्थक होता है। अर्थात् जिस प्रारब्ध कर्म का कोई योगाभ्यासादिक प्रनिबन्धक नही है, वह प्रारब्ध कर्म भोग से बिना निवृत्त नही होता। यदि कदाचित् किसी उपाय से उस प्रारब्ध कर्म का प्रतिबन्ध नही होता हो तो प्रारब्ध कर्म मे अत्यन्त भक्ति वाले वादी को भी शास्त्र के वचन का विरोध प्राप्त होगा। वह वचन यह है .—"जन्मातर कृत पाप व्याधिरूपेण बाधते। तच्छाति-रौषधैर्दानैर्जप होमार्चनादि भि ।" अर्थ—इस पुरुष को पूर्व जन्म मे किये हुये पाप कर्म इस जन्म मे ज्वरादिक व्याधिरूप से दु ख देते है। उस दु ख की शान्ति औषधियो से तथा दान, जप, होम, अर्चन आदिको से होती है। इत्यादिक वचनो ने प्रारब्धरूप पाप कर्म की शान्ति के लिये औषधादिक उपाय कथन किये है। उन सर्व वचनो का विरोध होगा। इससे योगाभ्यास से प्रारब्ध कर्म का अभिभव सभव है।

किवा प्रारब्ध कर्म की अपेक्षा से योगाभ्यासादिक शास्त्रीय प्रयत्न की प्रबलता वसिष्ठ ने भी कही है —"आबाल्यादलमभ्यस्त शास्त्र सत्सगमादिभि । गुणै पुरुष यत्नेन सोऽर्थं सप्राप्यते हित ।" अर्थ—पुरुष प्रयत्न दो प्रकार का होता है। एक अशास्त्रीय, दूसरा शास्त्रीय। श्रुति स्मृति रूप शास्त्र से निषिद्ध अशास्त्रीय प्रयत्न है, जैसे चोरी हिसादिक प्रयत्न है। श्रुति स्मृतिरूप शास्त्र ने जिसका विधान किया हो वह शास्त्रीय प्रयत्न है। जैसे—यज्ञ दानादिक प्रयत्न है। अशास्त्रीय प्रयत्न से तो नरक प्राप्त होता है। और बाल्यावस्था से लेकर अभ्यास किये हुये अध्यात्म शास्त्र, सत्समागम, शातिदाति आदि गुणो से युक्त दूसरे शास्त्रीय प्रयत्न से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है। यह उक्त अर्थ ही इस श्लोक से भी कथन किया है —"उच्छास्त्रशास्त्रित

चैति पौरुष द्विविध स्मृतम् । तत्रोच्छ्वास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्" इसमे योगाभ्यासरूप शास्त्रीय प्रयत्न से प्रारब्ध कर्म का अभिभव सभव है। इससे पूर्व उक्त कर्तृत्वादिक बध प्रतीति की निवृत्तिरूप जीवन्मुक्ति का लक्षण निर्दोप सिद्ध होता है।

जीवन्मुक्ति का अधिकारी

अब जीवन्मुक्ति के अधिकारी का निरूपण करते है —श्रवणादिको से ज्ञान द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार होने पर जिसको चित्तविश्रान्ति की कामना है, वही जीवन्मुक्ति का अधिकारी है। अर्थात् जीवन्मुक्ति की प्राप्ति के लिये उमके साधनरूप मनोनाश वासनाक्षय को करने वाला। शका —ब्रह्म साक्षात्कार से जिसका अज्ञान और देहाभिमान निवृत्त हो गया हो, वह किसी कार्य का कर्ता अपने को नही मान सकता है। और कर्तापने बिना जीवन्मुक्ति का अधिकारी कैसे हो सकता है ? समाधान —आत्मज्ञान से आवरण शक्ति वाले अज्ञान के नाश होने पर भी प्रारब्ध कर्म के वश से विक्षेप शक्ति वाले अज्ञान के लेश की स्थिति सर्व ग्रथकारो ने अगीकार करी है। इससे ज्ञानी को भी बाधितानुवृत्ति से देहाभिमान तथा कर्तापना बन सकता है। उससे ज्ञानी जीवन्मुक्ति का अधिकारी सभव है। शका—"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत कृत्यस्य योगिन । नैवास्तिकिंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्व वित् । तस्य कार्य न विद्यते।" इत्यादिक पूर्व उक्त स्मृति वचनो ने कृतकृत्यरूप ज्ञानी को सर्व कर्तव्यता का निषेध किया है। यदि ज्ञानी को जीवन्मुक्ति के लिये मनोनाश वासनाक्षयरूप साधनो की कर्तव्यता मानोगे तो उन वचनो का विरोध प्राप्त होगा।

समाधान —ज्ञानी दो प्रकार के होते है। एक कृतोपास्ति और दूसरा अकृतोपास्ति। जिसने आत्म साक्षात्कार से पूर्व सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार पर्यन्त उपासना की हो उमको कृतोपास्ति कहते है। और जिसने उपासना नही की हो उसको अकृतोपास्ति कहते है। कृतोपास्ति ज्ञानी को तो ज्ञान से उत्तर जीवन्मुक्ति के लिये किंचितमात्र भी कर्त-

व्यता नही होती है। क्यो ? कृतोपास्ति ज्ञानी का मनोनाश वासनाक्षय पूर्व ही सिद्ध है। इससे आत्मज्ञान की प्राप्ति काल मे ही कृतोपास्ति जीवन्मुक्ति को प्राप्त होता है। पूर्व उक्त श्रुति स्मृति वचन कृतोपास्ति ज्ञानी को कर्तव्यता का निषेध करते है। और लौकिक वैदिक व्यापार द्वारा चित्त की विश्रान्ति से रहित, अकृतोपास्ति ज्ञानी को तो ज्ञान से उत्तर जीवन्मुक्ति के लिये मनोनाश वासनाक्षय की कर्तव्यता होने से निरकुश कृतकृत्यतापना नही होता है। इससे अकृतोपास्ति ज्ञानी का जीवन्मुक्ति के लिये मनोनाश तथा वासनाक्षय अवश्य कर्तव्य है। शका —ऐसे चित्त विश्रान्ति से रहित अकृतोपास्ति को आत्मज्ञान ही नही होगा। समाधान —ज्ञान तो प्रमाण और वस्तु दोनो के अधीन होता है। इससे सर्व को साधारण रूप से होता ही है। कैसे ? जैसे घटादिक वस्तु के साथ चक्षु आदिक प्रमाण के सबध होने पर सर्व लोगो को 'अय घट' यह ज्ञान समान ही होता है। वैसे 'तत्त्वमसि' आदिक महावाक्य के श्रवण से 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का ज्ञान कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति सर्व अधिकारियो को तुल्य ही होता है। यदि ऐसा नही माने तो याज्ञवल्क्य, कहोल, जनक, अजातशत्रु इत्यादिक गृहस्थो को आत्मज्ञान नही होना चाहिये। यदि इस अर्थ मे इष्टापत्ति करोगे तो उन याज्ञवल्क्यादिको के दृष्टान्त से अस्मदादिक पुरुषो मे कोई भी पुरुष की ज्ञान के श्रवणादिक साधनो मे प्रवृत्ति नही होगी। अर्थात् जब याज्ञवल्क्यादिक महान् पुरुषो को भी श्रवणादिको से आत्म ज्ञान नही हुआ तब अस्मदादिको को ज्ञान कैसे होगा ? इस प्रकार की असभावना से किसी भी पुरुष की श्रवणादिको मे प्रवृत्ति नही होगी। इसमे यह सिद्ध हुआ :—श्रवणादिको से उत्पन्न ब्रह्म साक्षात्कार होने पर चित्त के विश्रान्ति की इच्छा जिसको है, वह जीवन्मुक्ति का अधिकारी है। इससे अधिकारी के अभाव से जीवन्मुक्ति का अभाव कहना मिथ्या है।

जीवन्मुक्ति मे प्रमाण

अब जीवन्मुक्ति मे प्रमाण का निरूपण करते है :—

जीवन्मुक्ति मे श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण इन चारो के वचन प्रमाण है। वे वचन यथाक्रम से दिखाते है। श्रुति "विमुक्तश्च विमुच्यते" अर्थ—यद्यपि यह पुरुष आत्मज्ञान से पूर्व भी मुमुक्षु दशा मे राग द्वेषादिको से मुक्त है। 'इससे शॉतदात' इत्यादिक श्रुति ने शम दमादिक साधनयुक्त पुरुष को ही श्रवणादिको का अधिकारी कहा है। तथापि आत्मज्ञान से पूर्व उन राग द्वेषादिको से मुक्ति यत्नसाध्य होती है और आत्मज्ञान से अनन्तर तो योगाभ्यास से वासनाक्षय तथा मनोनाश दोनो अतिदृष्ट होते है। इससे ज्ञानी मे आभासरूप राग द्वेषादिक भी सभव नही है। इससे ज्ञानकाल मे रागद्वेषादिको से मुक्ति स्वत सिद्ध होती है। इसी अभिप्राय से जीवन्मुक्त को श्रुति ने विमुक्त कहा है। ऐसा विमुक्त जीवन्मुक्त पुरुष भोग से प्रारब्ध कर्म के नाश होने पर इस शरीर के नाश के अनन्तर भावी बन्ध से विशेष करके मुक्त होता है। यह श्रुति तत्त्व ज्ञान से अनन्तर विदेह मुक्ति से विलक्षण जीवन्मुक्ति का कथन करती है। इससे जीवन्मुक्ति श्रुति प्रमाण से सिद्ध है।

किवा वसिष्ठ ने भी जीवन्मुक्ति कथन की है -"यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते। यस्य निर्वासनो बोध स जीवन्मुक्त उच्यते।" अर्थ-जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष इन्द्रियो के लय नही होने पर भी जागता है अर्थात् जाग्रत अवस्था को अनुभव करता है। और जाग्रत् अवस्था मे भी चक्षु आदिक इन्द्रियो से रूपादिक विषयो को ग्रहण नही करता है। इससे वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष जाग्रत् अवस्था मे स्थित हुआ भी सुषुप्ति मे स्थित कहा जाता है। इससे इन्द्रियो से अर्थ का ज्ञानरूप जाग्रत् जिस ब्रह्मवेत्ता को विद्यमान नही है और अपने अखण्ड एकरस आनन्द का अनुभव शुभ अशुभ सर्व वासनाओ से रहित है, उसको जीवन्मुक्त कहते है।

किवा गीता के द्वितीय अध्याय मे भगवान् ने भी जीवन्मुक्त का स्थितप्रज्ञ नाम से कथन किया है :—"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मनातुष्ट. स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते।" अर्थ—हे

अर्जुन ! जिस अवस्था मे यह विद्वान् मन मे स्थित सर्व कामो का परित्याग करता है तथा अखण्ड एकरस आनन्दरूप प्रत्यक्ष आत्मा मे योगाभ्यास से वश करे हुये मन से अपने स्वरूपानन्द का अनुभव करता हुआ सतुष्ट होता है, उस काल मे वह विद्वान् स्थितप्रज्ञ कहा जाता है, वहा 'अहब्रह्मास्मि' इस प्रकार को जिसकी प्रज्ञा चलायमान नही होती है, उसको ही स्थित प्रज्ञ कहते है। यहा यह तात्पर्य है —प्रज्ञा दो प्रकार की होती है। एक स्थिर प्रज्ञा और दूसरी अस्थिर प्रज्ञा। जन्मान्तरो के पुण्य समूह के परिपाक से आकाश से गिरे हुये फल के समान, 'तत्त्वमसि' आदिक महावाक्य के श्रवण मात्र से जीव ब्रह्म के एकत्व को विषय करने वाला, 'अहब्रह्मास्मि' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। वह तो व्यवहार की बाहुल्यता से तथा विषयो की आसक्ति से विस्मरण हो जाता है। इससे वह ज्ञान अस्थिर प्रज्ञ कहा जाता है। और योगाभ्यास से वश करा है चित्त जिसने, ऐसी पुरुष की बुद्धि पर पुरुष मे आसक्त स्त्री की बुद्धि के समान निरन्तर ब्रह्मात्मतत्त्व का ही चिंतन करती है, अन्य वस्तु का नही। तब उस बुद्धि को स्थिर प्रज्ञा कहते है। इसी अभिप्राय से वसिष्ठ ने भी कहा है —"परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृह कर्मणि। तदेवास्वादयत्यत परसङ्गरसायनम्॥ एव तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागत। तदेवास्वादयत्यत बहिर्व्यवहरन्नपि॥" अर्थ-पर पुरुष मे आसक्त नारी बाहर से गृह के सर्व कार्यो को करती हुई भी अन्तर चित्त मे पर पुरुष के सगजन्य सुख का चितन करती है। इसी प्रकार ज्ञानी बाहर से लौकिक वैदिक व्यवहारो को करता हुआ भी अन्तर चित्त मे निरन्तर परमात्मतत्त्व का ही चितन करता है।

किंवा उक्त जीवन्मुक्त का ही गीता के द्वादश अध्याय मे भगवान् ने भगवद्भक्त नाम से कथन किया है —"अद्वेष्टा सर्व भूताना मैत्र करुण एव च। निर्ममो निरहकार समदु ख सुख क्षमी॥१॥ सतुष्ट सतत योगी यतात्मा दृढ निश्चय मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त स मे प्रिय॥२॥ अर्थ—जो सर्व भूतो मे द्वेष से रहित, मैत्री, करुणा वाला, अह मम अभिमान से रहित, सुख दु ख मे समान, क्षमा

युक्त, सर्वदा सतुष्ट योगी, विजित मन, दृढ निश्चयी, मेरे मे ही मन और बुद्धि को अर्पण करने वाला जो मेरा भक्त होता है वह मुझ परमेश्वर को अत्यत प्रिय होता है। शका–इस गीता वचन मे भगवान् ने जो अद्वेष्टादिक गुण कहे है, वे तो साधक मुमुक्षु मे भी 'शातोदात' इत्यादिक श्रुति प्रमाण से सिद्ध है। इससे साधक मुमुक्षु से जीवन्मुक्त मे कोई विशेषता सिद्ध नही होती है। समाधान-साधक मुमुक्षु मे अद्वेष्टादिक गुण प्रयत्न साध्य होते है। और जीवन्मुक्त मे अद्वेष्टादिक गुण स्वभाव सिद्ध होते है। इससे साधक मुमुक्षु से जीवन्मुक्त मे विशेषता सभव है। यह अन्य ग्रथ मे भी कहा है —"उत्पन्नात्मैक्य बोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणा. । अयत्न्तो भवत्यस्य नतु साधन रूपिण ।" अर्थ–'अहब्रह्मास्मि' इस प्रकार का बोध जिसमे उत्पन्न हो जाता है उसमे अद्वेष्टृत्वादिक गुण बिना ही प्रयत्न से होते है। मुमुक्षु के समान साधन रूप से नही होते है।

किवा उक्त जीवन्मुक्त का व्यास ने महाभारत मे ब्राह्मण नाम से कथन किया है —"निराशिषमनारभ निर्नमस्कारमस्तुतिम् । अक्षीण क्षीणकर्माण त देवा ब्राह्मणविदु ।" अर्थ-जो इष्ट वस्तु की प्रार्थना से रहित, सर्व आरभ से रहित, नमस्कार से रहित, अपनी पराई स्तुति निन्दा से रहित, बिना प्रयत्न प्राप्त वस्तु मे भी दीनता से रहित और लौकिक वैदिक सर्व कर्मो से निवृत्त है, उसको देवता ब्राह्मण कहते है।

किवा स्कद पुराण मे उक्त जीवन्मुक्त का अनिवर्णाश्रमी नाम से कथन किया है —"यथा स्वप्न प्रपचोऽय मयि माया विजृभित. । एव जाग्रत्प्रपचोऽपि मयि माया विजृभित । इति यो वेद वेदातै. सोऽति वर्णाश्रमी भवेत् ।" अर्थ–जैसे मुझ प्रत्यक् आत्मा मे यह स्वप्न प्रपच माया से कल्पित है, वैसे यह जाग्रत् प्रपच भी मेरे मे माया से कल्पित है। इस प्रकार जो वेदात वचनो से सर्व प्रपच कल्पना के अधिष्ठानरूप आत्मा का साक्षात्कार करता है उस तत्त्ववेत्ता को

अतिवर्णाश्रमी कहते है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति मे श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण, इन चारो के अनेक वचन प्रमाण है। इससे विदेहमुक्ति के समान जीवन्मुक्ति भी अवश्य अगीकार करनी चाहिये।

जीवन्मुक्ति के साधन

अब जीवन्मुक्ति के साधनो का निरूपण करते है —१-तत्त्वज्ञान २-वासनाक्षय ३-मनोनाश इन तीनो के अभ्यास से जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है। इससे ये तीनो जीवन्मुक्ति के साधन है। तत्त्वज्ञानादिक तीनो की अति प्रयत्न से पुन पुन आवृत्ति ही उनका अभ्यास है। इन तीनो का अभ्यास भी एक काल मे करने से ही जीन्वमुक्ति का हेतु होता है। क्यो ? अन्वय व्यतिरेक से इन तीनो का परस्पर कार्य कारणभाव सिद्ध है। उनमे प्रथम तत्त्वज्ञान और वासनाक्षय इन दोनो का परस्पर कार्य कारणभाव दिखाते है। यह दृश्यमान सर्वप्रपच मिथ्या है और अद्वितीय आत्मा पारमार्थिक है। इससे यह आत्मा ही सर्वरूप है। आत्मा से भिन्न कोई भी वस्तु नही है। इस प्रकार के तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर विषय के अभाव से राग द्वेषादि रूप वासनाक्षय हो जाती है। और तत्त्वज्ञान का अभाव होने पर विषयो मे सत्यपना निवृत्त नही होता। इससे उत्तरोत्तर राग द्वेषादिरूप वासना का प्रवाह बना रहता है।

इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक से तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय का कारण भाव सिद्ध होता है। और वासनाक्षय भी तत्त्वज्ञान का कारण है। क्यो ? विवेक से, दोष दर्शन से और मैत्री, करुणादिक विरोधी वासना से जब रागद्वेषादिरूप वासनाक्षय होती है, तब ही श्रुति और आचार्य के प्रसाद से निर्मल मन मे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। और वासनाक्षय के अभाव होने पर मन राग द्वेषादिको से दूषित होता है। दूषित मन मे शमदमादिक साधन सपत्ति का अभाव होने से श्रवणादिक सभव नही है। और श्रवणादिक बिना तत्त्वज्ञान होता नही है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से वासनाक्षय तत्त्वज्ञान का कारण सिद्ध होता है। अब तत्त्वज्ञान और मनोनाश इन

दोनो का परस्पर कार्य कारण भाव दिखाते है । तत्त्वज्ञान के होने पर ही प्रपच के मिथ्यात्व का निश्चय होता है। मिथ्यात्व निश्चय से शुक्ति रजत के समान उस प्रपच का बाध होता है । बाधित प्रपच मे मन प्रवृत्त नही होता है और सत्यरूप से निश्चय किया हुआ आत्मा उस मन का विषय नही होता है । इससे आत्मा मे भी वह मन प्रवृत्त नही हो सकता है । इस प्रकार अतर बाह्य प्रवृत्ति से रहित हुआ वह मन काष्ठ से रहित अग्नि के समान आप ही लय हो जाता है । यही श्रुति भी कहती है —"यथा निरधनो बह्नि· स्वयोनावुपशाम्यति । तद्वद्वृत्तिक्षयाच्चित्त स्वयोनावुपशाम्यति ।" अर्थ-जैसे काष्ठरूप ईंधन से रहित अग्नि अपने सामान्य तेजरूप कारण मे लय होता है, वसे अतर बाह्य सर्व वृत्तियो के नाश से चित्त भी अपने अधिष्ठानरूप कारण मे लय होता है । यही उस मन का नाश है ।

और तत्त्वज्ञान का अभाव होने पर प्रपच मे सत्यपना निवृत्त नही होता है। उससे पदार्थाकार वृत्तियो द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ मन अत्यन्त स्थूल होता है । ऐसे स्थूल मन का नाश नही होता है । इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से तत्त्वज्ञान मनोनाश का कारण सिद्ध होता है । और मनोनाश भी तत्त्वज्ञान का कारण है । मन के नाश होने पर सर्व द्वैत वृत्तियो की निवृत्ति होने से सर्व उपाधियो से रहित, श्रुति और आचार्य के प्रसाद से ब्रह्मसाक्षात्कार होता है । मनोनाश के अभाव मे विक्षिप्त चित्तवाले को ब्रह्मसाक्षात्कार नही होता है। इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक से मनोनाश तत्त्वज्ञान का कारण सिद्ध होता है ।

वासनाक्षय मनोनाश का परस्पर कार्य कारण भाव

अब वासनाक्षय और मनोनाश इन दोनो का परस्पर कार्य कारण भाव दिखाते है :—वासनाक्षय के अभाव होने पर राग द्वेषादिको से स्थूलभाव को प्राप्त हुआ चित्त विषयो के सम्मुख होकर उस उस विषय के आकाररूप परिणाम को प्राप्त होता है । विषयाकार हुये मन का कदाचित् भी नाश नही होता है। और वासना के क्षय होने पर वृत्तियो की उत्पत्ति नही होती है। इससे वासना ही वृत्तियो की

उत्पत्ति का बीज है। बीज के नाश होने पर अ कुर की उत्पत्ति नही होती है। इससे मन का नाश होता है। इस प्रकार के अन्वयव्यतिरेक से वासनाक्षय मनोनाश का कारण सिद्ध होता है। मनोनाश भी वासनाक्षय का कारण है :-मन के नाश होने पर कोई भी प्रकार की वृत्ति उत्पन्न नही होती है। इससे सर्व वासनाक्षय होता है और मनोनाश का अभाव होने पर प्रारब्ध कर्म के वश से विषय भोग मे प्रवृत्त चित्त मे रागादिक अनेक वासना उत्पन्न होती है, अर्थात् जैसे घृतादिक हविष से अग्नि वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे विषय भोग से रागादिक वासना भी वृद्धि को प्राप्त होती है। इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक से मनोनाश वासनाक्षय का कारण सिद्ध होता है। उक्त प्रकार तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय, मनोनाश, इन तीनो का परस्पर कार्य कारण भाव होने से तीनो का अभ्यास एक काल मे ही करना उचित है। उस अभ्यास से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है।

यही वसिष्ठ ने भी कहा है —"वासनाक्षय विज्ञान मनोनाशा-महामते। समकाल चिराभ्यस्ता भवती फल दायिन।" अर्थ—हे महामति राम ! वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान, मनोनाश, ये तीनो बहुत काल तक साथ अभ्यास करने पर ही जीवन्मुक्ति रूप फल के प्रदाता होते है।

शका—विवेकादिक साधन चतुष्टय की प्राप्त से अनतर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये विविदिषा सन्यास करके श्रवण मनन निदिध्यासन करने से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। और तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति से अनतर जीवन्मुक्ति की प्राप्ति के लिये विद्वत्सन्यास करके तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय, मनोनाश, इन तीनो का अभ्यास करने वाले को जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार का अर्थ पूर्व कथन से सिद्ध होता है। वहा श्रवण मननादिको से अनतर 'तत्त्वमसि' आदिक प्रमाण जन्य तत्त्वज्ञान का अभ्यास किस प्रकार का होता है। वहा प्रथम ज्ञानी को तत्त्वज्ञान की कर्त्तव्यता ही सभव नही है। क्यों ? तत्त्वज्ञान महावाक्यरूप प्रमाण का फल होने से पूर्व ही सिद्ध

है। असिद्ध वस्तु के लिये ही कर्त्तव्य होता है, सिद्ध वस्तु के लिये नही। ज्ञान विषयरूप वस्तु के अधीन होता है। इससे ज्ञान करने वा नही करने वा अन्यथा करने को शक्य नही होता है। इससे ज्ञान के लिये कर्त्तव्य सभव नही है। इस प्रकार ज्ञानो को ज्ञान के साधनरूप श्रवणादिको की भी कर्त्तव्यतायुक्त नही है। क्यो ? श्रवणादिक के फलरूप ज्ञान के उत्पन्न होने पर उनका अनुष्ठान व्यर्थ है। इससे उत्पन्न हुये तत्त्वज्ञान का अभ्यास निरूपण नही हो सकता। समाधान .—श्रवणादिको से उत्पन्न 'अह ब्रह्मास्मि' इस तत्त्वज्ञान का अभ्यास यही है —कोई भी प्रकार से ब्रह्मात्मतत्त्व का पुन पुन चितन करना अर्थात् वेदात शास्त्र के श्रवण से वा कथन से वा पुस्तक अवलोकन से वा पठन पाठन से ब्रह्मात्मतत्त्व का पुन. पुन अनुसधान है, यही तत्त्व-ज्ञान का अभ्यास जानना चाहिये। यही तत्त्वज्ञान के अभ्यास का स्वरूप अन्य ग्र थ मे भी कहा है —"तच्चितन तत्कथनमन्योन्य तत्प्र-बोधनम्। एतदेक परत्वच ब्रह्माभ्यास विदुर्बुधा।" अर्थ-जीवब्रह्म-रूप एकत्व तत्त्व का पुन पुन चितन, अधिकारी के प्रति कथन, अपने समान विद्वान् से मिलकर उस तत्त्व का परस्पर बोधन, इत्यादिक किसी भी प्रकार से ब्रह्मात्मतत्त्व के चितनपरायण होने को विद्वान् ब्रह्माभ्यास कहते है।

शका —कोई भी प्रकार से ब्रह्मात्मतत्त्व के चिंतन को ब्रह्माभ्यास कहोगे तो, अनधिकारी के प्रति ब्रह्मात्मतत्त्व का उपदेश भी ब्रह्माभ्यास होना चाहिये। ऐसी शका की निवृत्ति के लिये अब प्रसग से ब्रह्मविद्या के अधिकारी का तथा अनधिकारी का निरूपण करते है।

ब्रह्मविद्या का अधिकारी, अनधिकारी

विवेकादिक चतुष्टय साधनो से सपन्न, नम्रतायुक्त, शिष्यभाव युक्त, गुरु और ईश्वर का भक्त, गुरु तथा वेदात वाक्यो मे विश्वास रखने वाला, ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है। ऐसे अधिकारी को ही ब्रह्म-वेत्ताओ को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये। ऐसा अधिकारी ही ब्रह्मविद्या के श्रवणादिको से आत्मज्ञान और मोक्ष को प्राप्त होता

है। इसी अर्थ को —"तस्मै स विद्वानुपसन्नय प्राहेति सम्यक् प्रशात चित्ताय शमान्विताय येनाक्षर पुरुषवेद सत्य प्रोवाच तातत्तो ब्रह्म-विद्या तस्मैमृदित कषायाय तमस पारदर्शयति भगवान् सनत्कुमार ।" इत्यादिक श्रुतिया कथन करती है। तथा इसी अर्थ को-"य इद परम गुह्य मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्ति मयि पराकृत्वा मामेवैष्यत्य सशय ॥१॥ न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम । भविता न च मे तस्मादन्य प्रियतरोभुवि ॥२॥ इत्यादिक गीता वचन भी कथन करते है। और जो उक्त अधिकारी के लक्षणो से रहित है वह अनधि-कारी है। अनधिकारी को ब्रह्मविद्या का उपदेश नही करना चाहिये। क्यो ? अनधिकारी ब्रह्मविद्या को श्रवण करते हुये भी आत्मज्ञान तथा मोक्ष को नही प्राप्त होता है। यह अर्थ भी —"वेदाते परम गुह्य पुरा कल्पे प्रचोदितम् । नाप्रशाताय दातव्य नापुत्रायाशिष्याय वै पुन ॥" इत्यादिक श्रुति वचनो से सिद्ध है। तथा-इदते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूष वे वाच्य न च मा योऽभ्यसूयति ॥" इत्यादिक गीता वचन से भी सिद्ध है। तथा अन्य स्मृति मे कहा है —अशिष्या-याविरक्ताय यत्किंचिदुपदिश्यते । तत्प्रयात्यपवित्रत्व गोक्षीरश्वदृतौ यथा ।" अर्थ—जो शिष्यभाव से रहित, वैराग्य से रहित अनधिकारी को उपदेश करता है, उसका वह उपदेश अपवित्र हो जाता है। कैसे ? जैसे श्वान की त्वचा मे डालने पर गौ का दूध अपवित्र हो जाता है।

किवा यह उक्त अर्थ अन्य स्मृति मे भी कहा है —नापृष्ट. कस्य-चिद्ब्रूयान्नचान्यायेन पृच्छत । जानन्नपिच मेधावी जड वल्लोक माचरेत् ॥" प्रश्न करे बिना कोई को भी उपदेश न करे, अन्याय से पूछने वाले को भी उपदेश न करे, किन्तु सर्व कुछ जानता हुआ भी विद्वान् लोक मे जड के समान विचरे। इससे अधिकारी को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करने का नाम ही ब्रह्माभ्यास है, अनधिकारी को उपदेश करने का नही, यह सिद्ध हुआ। शका —तत्त्वज्ञान से पूर्व भी मुमुक्षु को वासनाक्षय तथा मनोनाश का अभ्यास अपेक्षित ही है। क्यो ? जिसका चित्त विषयो मे आसक्त है, शमदमादिको मे रहित है, एकाग्रता से रहित है, उसको तत्त्वज्ञान नही

होता है। इससे तत्त्वज्ञान से पूर्व भी वासनाक्षय और मनोनाश का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। जब आत्मज्ञान से पूर्व ही वासनाक्षय और मनोनाश सिद्ध होता है, तब आत्मज्ञान से पश्चात् जीवन्मुक्ति के लिये वासनाक्षय तथा मनोनाश के अभ्यास करने का कुछ भी प्रयोजन नही रहता है। पूर्व सिद्ध वासनाक्षय, मनोनाश के अभ्यास से ही तत्त्व-वेत्ता को जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो जायगी। समाधान —यद्यपि तत्त्वज्ञान से पूर्व भी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास अपेक्षित है, तथापि तत्त्वज्ञान से पूर्व विविदिषा सन्यासी के लिये वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास गौण होता है और श्रवण मननादिको का अभ्यास प्रधान होता है। क्यो ? श्रवण मनन निदि-ध्यासन ये तीनो तो 'तत्त्वमसि' आदिक वेदान्त वाक्यो के विचाररूप होने से आत्मज्ञान के अतरग साधन है और वासनाक्षय, मनोनाश अन्त करण के शोधक होने से श्रवणादिको के सहकारी है।

इससे तत्त्वज्ञान से पूर्व कथचित् वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास करके निरन्तर श्रवण मननादिको को करने वाले विविदिषा सन्यासी को आत्मज्ञान प्राप्त होता है। और विद्वत्सन्यासी को तो तत्त्वज्ञान का अभ्यास गौण होता है तथा वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास प्रधान होता है। क्यो ? तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति स पूर्व ही वेदात श्रवणा-दिको के अभ्यास का प्रयोजन होता है। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति से अनतर श्रवणादिको के अभ्यास का कोई प्रयोजन नही होता है। कितु प्रारब्ध कर्म से प्राप्त विषय भोग काल मे ही वासना का अभिभव करने के लिये किचित्मात्र श्रवणादिको का अभ्यास अपेक्षित होता है। इससे विद्वत्सन्यासी को तत्त्वज्ञान का अभ्यास गौण होता है। विद्वत्सन्यासी ने तत्त्वज्ञान से पूर्व वासनाक्षय, मनोनाश का दृढ अभ्यास किया नही है। इससे उसके चित्त को विश्राति नही होती है। और चित्त की विश्राति से बिना दृढ़ दु ख की निवृत्ति नही होती है। इससे चित्त की विश्राति के लिये विद्वत्सन्यासी को आत्मज्ञान से अनतर वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास अवश्य अपेक्षित है। इससे विद्वत्स-न्यासी के लिये वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास प्रधान है। उस

अभ्यास से विद्वत्सन्यासी को जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। शका .— चतुष्टय साधन सपन्न अधिकारी को श्रवण मननादिको से असभावना विपरीत भावना रूप प्रतिबन्ध के निवृत्त होने पर 'तत्त्वमसि' आदिक महावाक्यो से 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। उस अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञानकृत आवरण की निवृत्ति होकर ब्रह्मानद रूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है और परम पुरुषार्थ की प्राप्ति से परे दूसरा कोई कर्तव्य शेष नही रहता है। और 'तस्य कार्य न विद्यते'' इत्यादिक श्रुति स्मृति वचन भी ज्ञानी को कर्तव्य का निषेध करते है।

और यदि ऐसा कहो चित्त की विश्राति के लिये तत्त्ववेत्ता को भी वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यासरूप कर्तव्य शेष है, तो यह कथन भी सभव नही है। क्यो ? महावाक्यजन्य अपरोक्ष ज्ञान का विषय नित्य निरतिशय ब्रह्मानद है। उस ब्रह्मानद मे सलग्न हुये मन की अन्य तुच्छ विषयो मे प्रवृत्ति सभव नही है। इमसे ज्ञानी को चित्त की विश्राति स्वभावसिद्ध हो है। तात्पर्य यह है —जैसे सार्वभौम राज्य के आनद को अनुभव करने वाला चक्रवर्त्ती राजा एक ग्राम के अधिपति के तुच्छ सुख की इच्छा नही करता है, वैसे अखण्ड एकरस ब्रह्मानद को अनुभव करने वाले ज्ञानी का चित्त तुच्छ विषय सुख की इच्छा नही करता है। इसमे ज्ञानी के चित्त की विश्रान्ति स्वभाव सिद्ध ही है। चित्त विश्रान्ति के लिये ज्ञानी को किञ्चित् भी कर्तव्य नही है। इससे तत्त्वज्ञान से अनन्तर वासनाक्षय, मनोनाश के अभ्यास के कर्तव्य का नियम करना व्यर्थ है। समाधान —वेदान्त शास्त्र के दो प्रकार के अधिकारी होते है। एक तो मुख्य अधिकारी और दूसरा अमुख्य अधिकारी। जो सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार पर्यन्त उपासना करके परमेश्वर के प्रसाद से विषयो मे दोष दृष्टि करके विवेक वैराग्यादिक साधन से सपन्न होकर श्रवणादिको मे प्रवृत्त होता है, उसको मुख्य अधिकारी कहते है। ऐसे मुख्य अधिकारी को तो एक बार श्रवणादिको से जीवन्मुक्ति मे पर्यवसान वाला तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् मुख्य अधिकारी को तत्त्वज्ञान के समकाल ही जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। इससे मुख्य अधिकारी को तत्त्व-

ज्ञान से पूर्व ही उपासना से चित्त की एकाग्रतारूप चित्त विश्रान्ति सिद्ध है। ऐसे कृतोपास्ति मुख्य अधिकारी को तत्त्वज्ञान से अनन्तर वासना क्षय, मनोनाश का अभ्यास अपेक्षित नही है। और पूर्व उक्त श्रुति स्मृति वचन भी ऐसे मुख्य अधिकारी को ही तत्त्वज्ञान से अनन्तर कर्त्तव्य का निषेध करते है।

और उस सगुण ब्रह्म की उपासना से रहित जो इदानी काल के पुरुष विवेकादिक साधन सपन्न होकर ब्रह्म जिज्ञासा से श्रवणादिको मे प्रवृत्त होते है, वे अकृतोपास्ति अमुख्य अधिकारी कहे जाते है। अमुख्य अधिकारियो को श्रवणादिको से तत्त्व साक्षात्कार तो अवश्य होता है। परन्तु ज्ञान से पूर्व वे वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास भली प्रकार नही करते है। इससे उनके चित्त को विश्रान्ति नही होती है। अमुख्य अधिकारी को श्रवणादिको से उत्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कार महावाक्य रूप प्रमाण से जन्य होने से तथा ब्रह्मात्मरूप विषय के अबाध से प्रमारूप भी है तथा अज्ञान की निवृत्ति करने मे योग्य भी है परन्तु वायु वाले देश मे स्थित दीपक के समान प्रारब्ध कर्म सपादित भोगवासना से कपायमान होने से वह साक्षात्कार कदाचित् असभावना, विपरीत भावनारूप प्रतिबन्ध के सभव से अज्ञान की निवृत्ति करने मे समर्थ नही होता है। इससे अकृतोपास्ति अमुख्य अधिकारी को सभावित प्रतिबन्ध की निवृत्ति करने के लिये तत्त्वज्ञान से अनन्तर वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास अवश्य करने योग्य है। इसी अभिप्राय से व्यासजी ने ब्रह्मसूत्रो मे "आवृतिरसकृदुपदेशात्। आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्।" इस सूत्र से अमुख्य अधिकारियो को अभ्यास की आवृत्ति कथन की है। इससे यह सिद्ध हुआ। पूर्व उक्त मुख्य अधिकारियो को तत्त्वज्ञान से अनन्तर वासनाक्षय मनोनाश के अभ्यास की अपेक्षा नही होने पर भी अमुख्य अधिकारियो को तत्त्वज्ञान से अनन्तर चित्त को विश्रान्ति के लिये वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास अवश्य अपेक्षित है। शका — वासना के क्षय करने मे प्रवृत्ति तब ही सभव है, जब वासना के स्वरूप का ज्ञान हो। वासना के ज्ञान से बिना उसकी निवृत्ति करने मे प्रवृत्ति सभव नही है।

वासना के लक्षणादि

समाधान —वासना का साधारण लक्षण, वासना का विभाग, वासना का फल और वासना के विशेप लक्षण वसिष्ठ मुनि ने कथन किये है वे सर्व यहा देते है। वासना का साधारण लक्षण —"दृढ भावनया त्यक्त पूर्वापर विचारणम्। यदा दान पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्त्तिता।" अर्थ—जिस दृढ भावना से पूर्व अपर के विचार से बिना ही पदार्थों का ग्रहण होता है अर्थात् हमारी भाषा सर्व भापाओ से श्रेष्ठ है, हमारा देश सर्व देशो से अच्छा है। हमारा कुल सर्व कुलो से उत्तम है। हमारे पुत्रादिक सर्व से अच्छे है। इत्यादिक अभिनिवेश जिस भावना मे हो उस भावना को विद्वान् वासना कहते है। वासना का विभाग तथा फल :—"वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा। मलिना जन्मनो हेतु' शुद्धा जन्म विनाशिनी।" अर्थ—वासना दो प्रकार की होती है। एक शुद्ध वासना आर दूसरी मलिनवामना। मलिन वामना जन्म का कारण होती है। और शुद्धवामना जन्म की निवृत्ति का कारण होती है। मलिन वासना का स्वरूप लक्षण — "अज्ञान सुघनाकार घनाहकार शालिनी॥ पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधै।" अर्थ—ब्रह्म के स्वरूप के आवरक अज्ञान से घनीभूत हुआ आकार जिस अहकार का उस अहकार सहित वासना को विद्वानो ने मलिन वासना कहा है। मलिन वासना से ही पुनर्जन्म होता है। भ्रान्ति ज्ञान की परपरा ही अहकार का घनाकार है। वह अहकार का घनाकारपना भगवान् ने गीता के षोडश अध्याय मे आसुर सपत् के निरूपण प्रसग मे —"इदमद्य मयालब्धमिम प्राप्स्ये मनोरथम्। इद मस्तीदमपि ये भविष्यति पुनर्धनम्॥१॥ असौमया हत. शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोहमह भोगी सिद्धोह बलवान्सुखी॥२॥ आढ्योऽभि-जनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिता॥३॥ इन तीन श्लोको से कथन किया है।

शुद्ध वासना का स्वरूप लक्षण :—"पुनर्जन्माकुर त्यक्त्वा स्थित

सभृष्ट बीजवत् । देहार्थम् ध्रियते ज्ञान ज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ।" अर्थ—जो वासना जन्म के मूल को नाश करके दग्ध बीज के समान देह की स्थिति के लिये स्थिति होती है और जिस वासना से अखड एक रस आनन्द रूप वस्तु जानी जाती है, उस वासना को शुद्ध वासना कहते है। पूर्व उक्त मलिन वासना का विभाग वर्णन करते हैं —जन्म को देने वाली मलिन वासना यद्यपि अनन्त होती है तथापि स्मृति मे मलिन वासना सक्षेप से तीन प्रकार कथन की है —"लोक वासनया जतोर्देह-वानयापिच । शास्त्र वासनया ज्ञान यथावन्नैव जायते ।।" अर्थ—पूर्व उक्त मलिन वासना-लोक वासना, शास्त्र वासना और देहवासना भेद से तीन प्रकार की होती है। तीनो मे से कोई भी जिसमे हो उसको वासनारूप प्रतिबन्ध के वश से आत्मा का यथार्थ ज्ञान नही होता है।

लोकवासना

जिस आचरण से सर्व लोक मेरी स्तुति करे, कोई भी निन्दा न करे ऐसा मै करू, ऐसे अभिनिवेश को लोक वासना कहते है। लोक वासना शतकोटि जन्मो तक प्रयत्न करने से भी पूर्ण नही होती है। क्यो ? सर्व दूषणो से रहित, सर्व शुभगुण से सपन्न, नमस्कार स्मरणादिको से सर्व पुरुषार्थो को देने वाले रामकृष्णादिक जो ईश्वर है, उनकी भी सर्व लोक स्तुति नही करते है। कितु कुछ श्रेष्ठ पुरुष स्तुति करते है और कुछ नीच पुरुष निंदा भी करते है। जब रामकृष्णादिक ईश्वर अवतारो की भी सर्व लोक स्तुति नही करते, तब अस्मदादिक जीवो की सर्व लोक स्तुति कैसे करेगे ? अर्थात् नही करेगे। इससे वासनापूर्ण होना अशक्य है। इससे अधिकारी को लोक वासना त्यागकर के अपना हित ही सपादन करना चाहिये। यह अन्य ग्रन्थ मे भी कहा है —"विद्यते न खलु कश्चिदुपाय. सर्व लोक परितोष करोय । सर्वथा स्वहितमाचरणीय कि करिष्यति जनो बहुजल्प ।।" अर्थ—जिस उपाय से सर्वलोक स्तुति करे ऐसा कोई उपाय लोक वा शास्त्र मे नही है। इससे अधिकारी को लोक वासना त्याग करके सर्व

प्रकार से अपना हित ही सपादन करना चाहिये। लोको की निदा स्तुति की ओर नही देखना चाहिये। क्यो ? लोक निन्दा स्तुति से परमार्थ मे कोई हानि लाभ नही कर सकते है।

यह भर्तृहरि ने भी कहा—"निदन्तु नीति निपुणा यदि वास्तुवन्तु लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव वा मरणमस्तु युगातरे वा न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा॥" अर्थ—नीति मे कुशल पुरुष निदा करें वा स्तुति करे, लक्ष्मी प्राप्त हो वा चली जाय, आज ही मरण हो वा युगातर मे हो। परतु धैर्यवान् विवेकी पुरुष शास्त्र विहित मार्ग से एक पदमात्र भी चलायमान नही होते है। अर्थात् लोककृत निन्दा स्तुति आदि की उपेक्षा करके अपने हित का सपादन करते हैं। लोक वासना मे अभिनिवेश वाले को आत्मज्ञान नही होता है। यह अन्य शास्त्र मे भी कहा है।—"न लोक चित्त ग्रहणे रतस्य न भोजनाच्छादन तत्परस्य। न शब्द शास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चातिरम्यावसथ प्रियस्य॥" अर्थ—जो सर्व प्रकार से लोको के चितरजन करने मे प्रीतिवाला है और जो भोजन आच्छादन मे ही तत्पर है तथा व्याकरणादिक अनात्म शास्त्र मे अभिनिवेश वाला है और जो अत्यन्त रमणीक गृहो मे प्रीतिवाला है, ऐसे को मोक्ष प्राप्त नही होता है। इससे मोक्ष की इच्छा वाले को लोकवासना सर्व प्रकार से त्याग देना चाहिये।

शास्त्रवासना

अब शास्त्र वासना का निरूपण करते है —शास्त्र के तात्पर्य को न ग्रहण करके शास्त्र के अध्ययनादिको की वासना को शास्त्र वासना कहते है। वह शास्त्र वासना भी-पाठवासना, अर्थवासना, अनुष्ठान वासना भेद से तीन प्रकार की होती है। समग्र आयुष पर्यन्त वेद शास्त्रो के पाठ का ही अध्ययन करते रहना, शास्त्र के तात्पर्य को नही जानना, इसको पाठ वासना कहते है। पाठवासना भरद्वाज को थी। भरद्वाज ऋषि आयुष के तीन भाग पर्यन्त अर्थात् ७५ वर्ष पर्यन्त वेदो का

पाठ याद करते रहे और अतिजीर्ण वृद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये। ऐसे भरद्वाज को देखकर देवराज इन्द्र उनके समीप आकर बोले-हे भरद्वाज ! यदि कदाचित् मै तुम्हारे को आयुष का चतुर्थ भाग दू तो उस आयुष्य से आप क्या सपादन करेगे ? इन्द्र के उक्त वचन को श्रवण करके भरद्वाज ने कहा "-उस आयुष्य मे भी मै वेदो के पाठ का ही अध्ययन करूगा।" उससे अनन्तर इन्द्र भरद्वाज की पाठवासना निवृत्त करने के लिये भरद्वाज को वेदो को पर्वत रूप से दिखाया और वेदरूप पर्वतो से एक मुष्टि लेकर भरद्वाज को कहा-"हे भरद्वाज ! अब पर्यन्त तुमने यह एक मुष्टि मात्र वेद अध्ययन करे है और ये पर्वतरूप वेद अध्ययन करने को शेष रहते है।" इस इन्द्र के वचन को श्रवण करके भरद्वाज पाठवासना से निवृत्त हुये थे। उसके अनन्तर इन्द्र ने भरद्वाज को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया था। यह गाथा तैत्तिरीयक श्रुति मे भरद्वाजोपाख्यान मे प्रसिद्ध है और वेद शास्त्रो के तात्पर्य को न जानकर समग्र आयुष पर्यन्त वेद शास्त्रो के अर्थ का अध्ययन करते रहने का नाम अर्थवासना है। अर्थवासना भी पाठवासना के समान दु सपाद्य होने से मलिनवासना ही है। इसी से विद्वानो ने कहा है-"अनत शास्त्र बहुवेदितव्यमल्पश्चकालो ब्रहवश्चविघ्ना । यत्सार भूत तदुपासितव्य हसो यथा क्षीर मिवाबुमिश्रम् ॥१॥ अधीत्य चतुरो वेदान् धर्म शास्त्राण्यनेकश । यस्तु ब्रह्म न जानाति दर्वी पाकरस यथा ॥२॥" अर्थ-शास्त्र अनत है। शास्त्र प्रतिपादित पदार्थ भी अनन्त है। वे शास्त्र अल्पकाल मे जाने नही जाते है। आयुष अत्यन्त अल्प है, अल्प आयुष मे भी रोगादिक अनेक विघ्न आते है। ऐसे विघ्नयुक्त अल्प आयुष से सर्व शास्त्रो का अर्थ जानना अशक्य है। इससे जैसे हस पक्षी जल मिश्रित क्षीर से क्षीर मात्र को ही ग्रहण करता है, वैसे अधिकारी को सर्व शास्त्रो का सार ब्रह्मात्मरूप अर्थ ही ग्रहण करना योग्य है ॥१॥ जो चार वेदो के अर्थ का अध्ययन करता है तथा अनेक धर्म शास्त्रो के अर्थ का अध्ययन करता है, परन्तु 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्म को नही जानता

वह दर्वी (चमचा) के समान है अर्थात् जैसे दर्वी अनेक प्रकार के व्यजनो मे फिरती है परन्तु उन व्यजनो के रस को नही जानती है।

और श्रुति स्मृति शास्त्र ने विधान करे जो कर्म है, उन कर्मो के अनुष्ठान मे ही समग्र आयुष व्यतीत करने को अनुष्ठान वासना कहते है। अनुष्ठान वासना निदाघ मे थी। ऋभु ऋषि ने पुन. पुन उपदेश किया, तो भी निदाघ अनुष्ठान वासना के प्रतिबन्धक होने से ब्रह्मात्म तत्त्व को नही जान सका था। तीसरी बार ऋभु के उपदेश से अति क्लेश से सर्व अनुष्ठान का परित्याग करके ब्रह्मात्म तत्त्व का साक्षात्कार कर सका था। यह विष्णु पुराण मे विस्तार से है। इससे उक्त तीनो ही प्रकार की शास्त्र वासना आत्मज्ञान मे प्रति-बन्धक है।

देहवासना

अब देहवासना का निरूपण करते है — इस भौतिक स्थूल शरीर मे जो अभिनिवेश है, उसको ही देहवासना कहते है। देहवासना भी दो प्रकार की होती है। एक देह विषयक और दूसरी देह सबधी गुण विषयक। मनुष्योऽह ब्राह्मणोऽहम्' इस प्रकार की वासना को देह विषयक वासना कहते है। दूसरी देह सबन्धी वासना भी शास्त्रीय और लौकिक भेद से दो प्रकार की होती है। शास्त्रीय वासना भी दो प्रकार की होती है। एक गुणाधान प्रयुक्त होती है और दूसरी दोष निवृत्त प्रयुक्त होती है। शास्त्र विहित गगा स्नानादिको से देह मे सद्गुणो के धारण करने को वासना को गुणाधान प्रयुक्त वासना कहते है। और शौचआचमनादिको से देहसे दोषो के निवृत्त करने की वासना को दोष निवृत्ति प्रयुक्त कहते है। इस प्रकार लौकिक वासना भी दो प्रकार की होती है। तैल, पान मरिच भक्षणादिको से देह मे सौंदर्यादिक गुणो को धारण करने की वासना प्रथम है। और मल निवर्त्तक औषधि जलादिको से देह के मल को निवृत्त करने की वासना दूसरी है। ये सर्व देहवासना ज्ञान के प्रतिबधक होने से तथा जन्मातर का हेतु होने से मलिन वासना ही है।

किवा लोकवासना, शास्त्रवासना, देहवासना, इन तीन वासनाओ से अन्य भी ज्ञान की प्रतिबधक मलिन वासना गीता के षोडश अध्याय मे भगवान् ने —"दभोदर्पोऽभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेवच।" इत्यादिक वचन से, दभदर्पादिक आसुर सपत्तिरूप से कथन की है। इसी प्रकार स्त्री पुत्रादिक विषयों की अभिलाषा भी मलिन वासना ही है। सभी मलिन वासना ज्ञान की प्रतिबधक होने से मुमुक्षु को निवृत्त करना चाहिये। शका —मलिन वासनाओ की निवृत्ति किस उपाय से होती है? समाधान —मलिन वासना पूर्व उक्त रीति से अनेक प्रकार की है। इससे वसिष्ठादिक मुनियो ने उन वासनाओ के निवृत्ति के उपाय भी अनेक प्रकार के कहे है। वे कौन है? नित्य अनित्य वस्तु का विवेक, विषयो मे दोष दर्शन, महात्माओ का सत्सग, विषयीजनो के सग का परित्याग, मैत्री करूणादिक विरोधी वासना की उत्पत्ति, इत्यादिक उपायो से मलिन वासनाओ की निवृत्ति होती है। इससे विवेकादिक उपायो से अपने अत करण मे उन मलिन वासनाओ की उत्पत्ति नही होने देना यही वासनाक्षय का अभ्यास है। कहा भी है —"दृश्यासभव बोधेन राग द्वेषादितान वे। रतिर्नवोदिता या तु बोधाभ्यास विदु परम्।" अर्थ-यह दृश्यमान सर्वप्रपच वास्तव मे अधिष्ठान आत्मा से भिन्न नही है। इस प्रकार दृश्यप्रपच के असभव के बोध से, प्रपचरूप विषय के अभाव से, राग द्वेषादिरूप वासना के निवृत्त होने पर पुरुष की अपने स्वरूपानन्द के अनुभव मे दृढ प्रीति उत्पन्न होती है। उसको विद्वान् वासनाक्षय का अभ्यास कहते है।

अन्य प्रकार मलिन वासनाक्षय उपाय

अब अन्य प्रकार से मलिन वासना निवृत्ति के उपाय को प्रतिपादन करने वाले वाक्य कहते है :—"असगव्यवहारित्वाद्भवभावन वर्ज्जनात्। शरीर नाश दर्शित्वाद्वासना न प्रवर्त्तते।।" अर्थ—'मै असग हूँ' इस प्रकार की वृत्तियो के प्रवाहरूप व्यवहार के निरन्तर करने से दूसरी वासना प्रवृत्त नही होती है। तथा प्रपच के स्मरण के परित्याग से भी दूसरी वासना प्रवृत्त नही होती है। और निरन्तर अपने शरीर

के मरण के दर्शन से भी दूसरी रागादिरूप वासना प्रवृत्त नही होती है। अपने शरीर मरण दर्शन से रागादिरूप वासना नही होती है। यह अन्य ग्रथ मे भी कहा है —"मस्तक स्थायिन मृत्यु यदि पश्यदय जन । आहरोऽपि न रोचेत किमुतान्य विभूतय ॥" अर्थ–अपने मस्तक के ऊपर मृत्यु स्थित है उसको कदाचित् यह पुरुष देखे तो इसको भोजन भी प्रिय नही लगेगा। तब अन्य विभूतिया कैसे प्रिय लगेंगी ? अर्थात् नही लगेगी। ससार मे दोप का प्रतिपादक वचन —"दु.ख जन्म जरा दु ख, दु ख मृत्यु पुन पुन· । ससार मडल दु ख, पच्यते यत्र जतव ॥" अर्थ—जन्म भी दु.खरूप है, जरा भी दु खरूप है, पुन पुनः मरण भी दु खरूप है, यह सर्व ससार मडल दु खरूप ही है। इस ससार मडल मे ये सर्व अज्ञानीजीव पुन पुन जन्म मरणादिको को प्राप्त होते है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न सर्वजगत् को दु खरूप जानकर चितन करने वाले की राग द्वेषादिरूप सर्व मलिनवासना निवृत्त हो जाती है। किंवा विषय लपट पुरुषो के सँग का परित्याग भी मलिन वासना की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का साधन होता है। यह विष्णु पुराण मे भी कहा है .—"नि सगता मुक्ति पदयतीना सगादशेषा प्रभवति दोषा । आरूढ योगोऽपि निपात्यतेऽध सगेन योगी किमुताल्प सिद्धि ॥" अर्थ—विषयासक्त पुरुषो के सग का परित्यागरूप नि.सगता सन्यासियो के लिये मुक्ति प्राप्ति का मार्ग है। क्यो ? विषयासक्त पुरुषो के सग से राग, द्वेष, मोहादिक सर्वदोष प्राप्त होते है। मलिन वासनारूप दोपो से योगारूढ पुरुप का भी अध·पतन होता है। फिर योगारूढ होने की इच्छावाले का अध पतन क्यो नही होगा ? अर्थात् होगा ही। तत्त्ववेत्ता को विषय लपट पुरुपो से दूर रहना चाहिये। यह अन्य ग्र थ मे भी कहा है —"तस्माच्चरेत वै योगी सता धर्मम-गर्हयन् । जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव सगतिम् ॥" अर्थ—तत्ववेत्ता श्रेष्ठ पुरुषो के धर्म को दूषित नही करते हुये लोक मे इस प्रकार विचरे जैसे विषयासक्त लोग अपमान करते हुये तत्त्ववेत्ता की सगति मे न आये दूर ही रहै। भारत मे भी कहा है—"अहेरिव गणाद्भीत सन्मानान्नर

कादिव । कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्त देवा ब्राह्मण विदु ॥" अर्थ—जैसे देहाभिमानी पुरुष सर्प से भयभीत होता है, वैसे विद्वान् लोको के समूह से भयभीत हो । जैसे लोक नरक से डरते है, वैसे विद्वान् सन्मान से डरे । जैसे लोक मृतक शरीर से डरते है, वैसे जो स्त्रियो से डरता है उस विद्वान् को देवता ब्राह्मण अर्थात् जीवन्मुक्त कहते है । इससे मुमुक्ष जन उक्त सर्व का त्याग करके एकात देश मे 'अहब्रह्मास्मि' इस प्रकार से ध्यान करे । इस ध्यान का फल स्मृति मे कहा है- "अहमस्मि परब्रह्म वासुदेवाख्यमव्यय । इति यस्य स्थिरा बुद्धि समुक्तो नात्र सशय: ॥" अर्थ—उत्पत्ति नाश से रहित वासुदेव नामक परब्रह्म मै हूँ । इस प्रकार जिसकी बुद्धि स्थिर है, वही मुक्त है । इसमे किंचत्मात्र भी सशय नही है । इससे यह सिद्ध होता है —जो विषयासक्त स्त्री पुरुषो का सग त्यागकर ब्रह्म का चिंतन करता है उसकी सर्वमलिन वासनाये निवृत्त हो जाती है ।

सत्सग से मलिन वासना निवृत्ति

सत्सग भी वासना की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का साधन है-"महत्सेवा द्वार माहुर्विमुक्तेस्तमो द्वारयोषिना सगिसगम् । महातस्ते समचित्ता. प्रशाता विमन्यव सुहृद साधवोय ॥" अर्थ-विद्वान् महात्मा पुरुषो की सेवा को मुक्ति का साधन कहते है । स्त्रियो के सगो पुरुषो के सग को नरक प्राप्ति का साधन कहते है । महत्पुरुष किसको कहते है ? जो समचित्त है अर्थात् समब्रह्म मे ही जिन का चित्त रहता हो वा शत्रु मित्र मे समान चित्त हो । अतिशय शात स्वभाव, क्रोध रहित, सर्व सुहृद अनुपकारी का भी उपकार करने वाले । साधु अर्थात् शमदम से सपन्न हो, उनको ही महत्पुरुष कहते है । ऐसे महत्पुरुष की श्रद्धाभक्ति पूर्वक सेवा और सगति मलिन वासना को निवृत्ति द्वारा मोक्ष का साधन होती है ।

मैत्री करुणादि से मलिन वासना की निवृत्ति

मैत्रि करुणादिक विरोधी वासना से मलिन वासनाओ की निवृत्ति

कहते है —मैत्रि आदिक विरोधी वासना पतजलि ऋषि ने योग सूत्र मे कही है —"मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणा सुख दु ख पुण्यापुण्य विषयाणा भावना तश्चित्त प्रसादनम् ॥" अर्थ-मैत्री, करुणा, मुदिता उपेक्षा, ये चार प्रकार की शुभवासना होती है। सुखी प्राणियो मे ये सर्व हमारे ही है इस प्रकार की भावना को मैत्री कहते है। दु खी प्राणियो मे जैसे हमारे को दुख नही हो वैसे इन सर्व प्राणियो को भी दु ख नही होना चाहिये। इस प्रकार की भावना को करुणा कहते है। पुण्यवान् पुरुषो को देखकर प्रसन्नता होने को मुदिता कहते है। पापी पुरुषो से उदासीनता को उपेक्षा कहते है। इस प्रकार की मैत्री आदिक चार भावना वाले की राग, द्वेष, असूया, मद, मात्सर्य आदिक सर्व मलिन वासना निवृत्त हो जाती है ओर चित्त शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार ही गीता के षोडश अध्याय में भगवान् ने-"अभयसत्त्व-सशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थिति । दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायतप आर्जवम् ॥१॥ अहिसा सत्यमक्रोधस्त्याग शातिरपैशुनम् । दयाभूते-ष्वलोलुप्त्व मार्दवह्रीरचापलम् ॥२॥ तेज क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवति सपद दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥ इन तीन श्लोको मे कथित दैवी सपत्रूप विरोधी वासना के अभ्यास से दभ दर्पादिक आसुरी सपत्रूप मलिन वासना निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार गीता के त्रयोदश अध्याय मे भगवान् ने-"अमानित्व मदभित्व-महिसाक्षाति रार्जवम् । आचार्योपासन शौच स्थैर्यमात्मविनिग्रह । इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहकार एवच। जन्म मृत्यु जरा व्याधि दु ख दोषानुदर्शनम् ॥२॥ असक्तिरनभिष्वग, पुत्रदार गृहादिषु । नित्य च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥३॥ मयिचानन्ययोगेन भक्तिरव्यभि चारणी। विविक्त देश सेवित्वमरतिर्जन ससदि ॥४॥ अध्यात्मज्ञान नित्यत्व तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञान यदतोऽन्यथा ॥५॥ इन पाच श्लोको से कथित अमानित्व अदभित्व आदिक ज्ञान के साधनो के अभ्यास से उनसे विपरीत भ्राति ज्ञान के साधन मान दभादिक निवृत्त हो जाते है।

सन्यासी के षट् धर्म

इस प्रकार विद्वत्सन्यासी जब सकल्प पूर्वक उन मैत्री आदिक शुभ वासनाओ को तथा अमानित्वादिक धर्मों को अभ्यास से सपादन करता है, तब सूर्य के उदय होने से तम निवृत्ति के समान उसकी पूर्व उक्त सर्वमलिन वासना निवृत्त हो जाती है। उससे अनन्तर वह विद्वत्सन्यासी अभ्यास द्वारा अजिह्वत्वादिक षट् धर्मो को सपादन करे। वे षट् स्मृति मे इस प्रकार कथन किये हैं –"अजिह्व षडक पगुरधो बधिर एव च। मुग्धश्च मुच्यते भिक्षु षड्भिरेतैन सशय ।।" अर्थ– अजिह्व, षडक, पगु, अध, बधिर, मुग्ध इन षट् धर्मों के सेवन करने से सन्यासी जीवन्मुक्ति को प्राप्त होता है। इससे सन्यासी को ये षट् धर्म अवश्य सपादन करने चाहिये।

शास्त्र कथित षट् धर्मो के लक्षण

अजिह्व लक्षण —"इदमिष्टमिद नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते। हित सत्य मित वक्ति तमजिह्व प्रचक्षते।।" अर्थ–जो सन्यासी अन्नादिक भक्षण करते समय यह अन्न स्वादु है यह अन्न अस्वादु है ऐसे नही कहता है तथा हितकर, सत्य प्रमित वचन बोलता है उस सन्यासी को अजिह्व कहते है। षडक लक्षण –"अद्यजाता यथा नारी तथा षोडश वार्षिकीम्। शतवर्षा च यो दृष्ट्वा निर्विकार स षडक ॥१॥ जैसे आज की जन्मी अतिबाला और शत वर्ष की अति वृद्धा स्त्री को देखकर काम रूप विकार उत्पन्न नही होता है, वैसे षोडश वर्ष की युवा स्त्री को देखकर भी काम विकार से रहित रहे उस सन्यासी को षडक कहते है। पंगु लक्षण –"भिक्षार्थमटन यस्य विण्मूत्र करणाय च। योजन न परयाति सर्वथा पगुरेव स ।।" अर्थ–जिस सन्यासी का भिक्षा के लिये ही गमन होता है तथा विष्ठा मूत्र परित्याग के लिये गमन होता है। अन्य किसी प्रयोजन से गमन नही होता और जो एक योजन से अधिक मार्ग नही चलता उस सन्यासी को पगु कहते है। अध लक्षण — तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्। चतुर्युगा भुव त्यक्त्वा परिव्राट् सोऽध उच्यते ।।" अर्थ–जिस सन्यासी के नेत्र इन्द्रिय स्थित

वा चलते समय चतुर्युग भूमि (१६ हाथ) को छोडकर दूर नही जाते उस सन्यासी को अध कहते है। बधिर लक्षण.—"हिताहित मनोराम वच शोकावह च यत्। य श्रृणोति न श्रुत्वापि बधिर स प्रकीर्तित ॥" अर्थ—जो सन्यासी हर्ष को प्राप्ति कराने वाले अनुकूल वचन तथा शोक की प्राप्ति कराने वाले प्रतिकूल वचन श्रवण करके भी नही श्रवण करता है अर्थात् हर्ष शोक को प्राप्त नही होता है उस सन्यासी को बधिर कहते है। मुग्ध लक्षण —"सान्निध्ये विषयाणा च समर्थोऽविकलेन्द्रिय.। सुप्त वद्वर्त्तते नित्य सभिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥" अर्थ—विषयो के समीप होने पर जो सन्यासी समर्थ होकर भी तथा सर्व इन्द्रियों से सपन्न होकर भी उन विषयों मे प्रवृत्त नही होता किंतु सुषुप्त के समान उन विषयों से उपराम रहता है उस सन्यासी को मुग्ध कहते है। इस प्रकार अजिह्वत्वादिक षट् धर्मों का अभ्यास करके पश्चात् चिन्मात्र वासना का अभ्यास करे।

चिन्मात्र वासना

यह नाम रूपात्मक सर्व जगत् चैतन्य मे कल्पित होने से स्वत सत्ता स्फुरण से रहित है। इससे उस अधिष्ठान चैतन्य के सत्ता स्फुरण पूर्वक ही जगत् का स्फुरण होता है। इस प्रकार जगत् मे नाम रूप दोनो अशो की मिथ्यात्व निश्चय से उपेक्षा करके सर्वत्र परिपूर्ण अस्ति भाति प्रियरूप अधिष्ठान चैतन्य मै हूँ, इस प्रकार की निरन्तर भावना को चिन्मात्र वासना कहते है। वह चिन्मात्र वासना भी दो प्रकार की होती है। एक तो कर्ता, कर्म, करण इस त्रिपुटी के स्मरण पूर्वक चिन्मात्र वासना होती है और दूसरी त्रिपुटी के स्मरण से रहित केवल चिन्मात्र वासना होती है। इस सर्व जगत् को मै अपने मन से चिन्मात्ररूप जानता हूँ। इस प्रकार की भावना तो प्रथम त्रिपुटी पूर्वक चिन्मात्र वासना है। इस चिन्मात्र वासना का सप्रज्ञात समाधि कोटि मे अतर्भाव है, अर्थात् इस प्रथम चिन्मात्र वासना को ही योग शास्त्र वाले सप्रज्ञात समाधि कहते हैं। और कर्ता, कर्म, करण इस त्रिपुटी के स्मरण से रहित मैं चिन्मात्र हूँ, इस भावना को केवल चिन्मात्र

वासना कहते है। इस केवल चिन्मात्र वासना का असप्रज्ञात समाधि कोटि मे अतर्भाव है, अर्थात् इस केवल चिन्मात्र वासना को ही योग शास्त्र वाले असप्रज्ञात समाधि कहते है। सर्वजगत् को चिन्मात्र रूपता शुक्र ने बलि को कही थी —"चिदिहास्तीह चिन्मात्र सर्वचिन्मय मेवतत्। चित्त्व चिदहमेते च लोकाश्चिदिति सग्रह ॥" अर्थ—हे राजन्! इस सर्व जगत् मे चैतन्य ही अधिष्ठानरूप से व्यापक है। इससे यह सर्व जगत् चैतन्यमात्र ही है, तू भी चैतन्यरूप ही है, मै भी चैतन्यरूप हूँ और ये सर्व लोक भी चैतन्यरूप ही है। इस प्रकार चिन्मात्र वासना का दृढ अभ्यास करने पर पूर्व उक्त सर्व मलिन वासना निवृत्त हो जाती है। यही वासनाक्षय का अभ्यास है।

मनोनाश

अब मनोनाश के कहने के लिये प्रथम मन का स्वरूप कहते है — लाक्षा सुवर्णादिको के समान सावयव तथा कामादिक वृत्तिरूप से परिणाम वाला अत करण ही मननरूप होने से मन कहा जाता है। वह मन सत्त्व, रज, तम, तीन गुणरूप होता है। क्यो ? सत्त्व, रज, तम, इन तीनो गुणो के यथाक्रम से विकाररूप सुख, दु.ख, मोह, ये तीन धर्म है। वे तीनो धर्म मन के आश्रित होकर ही प्रतीत होते है। इससे मन मे सत्त्वादि त्रिगुण रूपता सिद्ध होती है। मन राजस तामस वृत्तियो से वृद्धि को प्राप्त होकर अतिस्थूल हो जाता है। वह स्थूल मन आत्म साक्षात्कार के लिये योग्य नही होता है। क्यो ? आत्मा अतिसूक्ष्म होने से दुर्विज्ञेय है। ऐसे सूक्ष्म आत्मा का स्थूलमन से साक्षात्कार सभव नही है। कैसे ? जैसे स्थूल कुदाल से सूक्ष्म वस्त्र का सीना सभव नही है किंतु सूक्ष्म सूची से ही सूक्ष्म वस्त्र का सीना सभव है, वैसे सूक्ष्म मन से सूक्ष्म आत्मा का साक्षात्कार सभव है। और— "दृश्यनेत्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभि ॥" यह श्रुति भी अति सूक्ष्मबुद्धि से ही आत्मा का साक्षात्कार कहती है। इससे आत्मसाक्षात्कार के लिये मन की सूक्ष्मता अवश्य अपेक्षित है।

वह मन की सूक्ष्मता राजस तामस वृत्तियो के निरोध से सिद्ध

होती है। इससे उन वृत्तियो के निरोध से मन की सूक्ष्मता सपादन करना ही मन का नाश है। यहा यह तात्पर्य है —मन का नाश दो प्रकार का होता है। एक अरूपनाश और दूसरा सरूपनाश । मन के पुन उत्थान से रहित स्वरूप से नाश को अरूपनाश कहते है। और स्वरूप से मन के विद्यमान रहते हुये भी उपाय से मन की वृत्तियो के नाश को सरूपनाश कहते है। मन के अरूपनाश से तो तत्त्ववेत्ता को विदेह मुक्ति प्राप्त होती है। और मन के सरूपनाश से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। इससे यहा मनोनाश शब्द से सरूपनाश ही विवक्षित है। शका—राजस तामस वृत्तियो के निरोध से मन की सूक्ष्मता सम्पादन को आपने मनोनाश कहा है। सो वृत्तियो का निरोध किस उपाय से होता है ?

चित्त जय उपाय

समाधान .—वृत्ति निरोध के चार प्रकार के उपाय वसिष्ठ ने कहे है —"अध्यात्म विद्याधिगम साधु सगम एव च। वासना सपरित्याग प्राणस्पद निरोधनम्। एतास्तु युक्तय पुष्टा सति चित्तजये किल ॥" अर्थ—अध्यात्मविद्याधिगम, साधुसग, वासनासपरित्याग, प्राणस्पद निरोधन। ये चार प्रकार के उपाय चित्त के जय करने मे प्रबल कारण है। प्रत्यक् आत्मा को ब्रह्मरूप से कथन करने वाली विद्या को अध्यात्म विद्या कहते है। अध्यात्म विद्या की प्राप्ति को अध्यात्म विद्याऽधिगम कहते है। वह भी चित्त जय का साधन है। क्यो ? यह नाम रूपात्मक सर्व जगत् मिथ्या है। मै ही सर्वत्र परिपूर्ण परमानन्द एकरस हूँ। मेरे से भिन्न कोई भी कारण वा कार्य नही है। मैं ही सर्वरूप हूँ। इस प्रकार की अध्यात्म विद्या के प्राप्त होने पर तत्त्ववेत्ता सर्व दृश्य प्रपच को मिथ्यारूप से जानता है। इससे विद्वान् का मन तादृश प्रपच मे भी प्रवृत्त नही होता और आत्मा मन वाणी का अविषय है। इससे आत्मा मे भी वह मन प्रवृत्त नही होता। इस प्रकार अतर बाह्य प्रवृत्तियो से रहित होकर मन सर्व वृत्तियो के अनुदय से ईन्धन रहित अग्नि के समान अपने अधिष्ठान रूप कारण मे लय

होता है। इससे अध्यात्म विद्या की प्राप्ति मनोनाश मे मुख्य कारण है। और जो बुद्धि की मदता से अध्यात्म विद्या सपादन करने मे असमर्थ है, उसके लिये दूसरा साधु सगम उपाय है।

क्यों ? महात्मा पुरुष अधिकारी को पुन पुन प्रत्यक् आत्मा की ब्रह्मरूपता तथा जगत् का मिथ्यापना स्मरण कराते है तथा बोधन करते हैं। उससे अधिकारी को अध्यात्म विद्या की प्राप्ति होकर मनोनाश होता है। इससे साधु सगम भी अध्यात्म विद्या की प्राप्ति द्वारा मनोनाश का उपाय है। किवा जो पुरुष विद्यामद, धनमद, कुलमद, आचारमद, इत्यादिक मदों से युक्त होने से साधु सगम भी नही कर सकता उसके लिये मननिरोध का उपाय वासना सम्परित्याग है। विवेक से मदादिरूप मलिन वासना की निवृत्ति को वासना सपरित्याग कहते है। अब विद्या मदादि का स्वरूप और मद निवर्त्तक विवेक का स्वरूप वर्णन करते है :—

विद्या मदादि का स्वरूप तथा मद निवर्त्तक विवेक का स्वरूप

इस भूलोक मे एक मै ही पडित हूँ, मेरे से अन्य दूसरा कोई पडित नही है। जो पुरुष पडित कहलाते है, वे कुछ भी नही जानते है। इस प्रकार के मानस अभिमान को विद्यामद कहते है। विद्यामद की निवृत्ति इस प्रकार के विवेक से होती है :—पडितपने के अभिमान वाले जो बालाकि, शाकल्य आदिक हुये है, उनका भी अजातशत्रु, याज्ञवल्क्यादिक विद्वानो से पराभव हुआ है। और मनुष्य से लेकर श्री दक्षिणामूर्ति पर्यन्त तारतम्यता से विद्या का उत्कर्षपना देखने मे आता है। सर्व के आदि गुरु दक्षिणामूर्ति सदा शिव मे ही निरतिशय विद्या का उत्कर्षपना है। दूसरे सर्व पडितो मे सातिशय विद्या का उत्कर्षपना हैं। इससे हमसे अधिक पडित से हमारा भी पराभव हो सकता है। इस प्रकार निरन्तर चिंतन करने से विद्यामद निवृत्त हो जाता है। और मैं ही धनवान् हू मेरे समान कोई धनी नही है। इस प्रकार के मानस अभिमान को धनमद कहते है। धनमद की निवृत्ति इस प्रकार के विवेक से होती है :—लक्षपति जो व्यवहार करता है, वह व्यवहार

अलक्षपति नही कर सकता। इससे लक्षपति से अलक्षपति का पराभव होता है। कोटिपति से लक्षपति का पराभव होता है। तब मुझ रक की क्या गिनती है? मेरे से अधिक कुबेर के समान बहुत धनी है। इस प्रकार निरन्तर चितन करने से धनमद निवृत्त हो जाता है। हमारा कुल सर्व से श्रेष्ठ है, ऐसे अभिमान को कुलमद कहते है। हमारा आचार सर्व से श्रेष्ठ है, इस अभिमान को आचारमद कहते है। इन दोनो मदो की भी यथायोग्य विवेक से निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार विवेक से विद्यामदादिक मलिन वासनाओ की निवृत्ति करता है, उसका साधु सगमादिको की प्राप्ति से मनोनाश सिद्ध होता है। इससे वासना सपरित्याग भी मनोनाश का उपाय है।

किवा मलिन वासनाओ की अति प्रबलता से जो उक्त विवेक से वासनाओ के परित्याग मे समर्थ नही हो सकता, उसके लिये शास्त्र ने प्राणस्पद का निरोध रूप उपाय कहा है अर्थात् वह प्राण निरोध से मनोनाश सिद्ध करे। अब प्राण निरोध रूप उपाय कहते है —

प्राणनिरोध रूप उपाय

"प्राणायाम दृढाभ्यासाद्युक्त्या च गुरुदत्तया। आसनाशन योगेन प्राणास्पदे निरुध्यते॥" अर्थ—योगाभ्यास करने वाले गुरु से प्राप्त युक्ति द्वारा प्राणायाम का दृढ अभ्यास करे फिर उस अभ्यास से आसन योग तथा अशन योग करने से प्राणो की गति का निरोध होता है। प्राण निरोध से मनोनाश होता है। प्राण निरोध (प्राणायाम) का प्रकार अश २० मे लिख आये है, वहा देखे। प्राण निरोध, मनोनाश का उपाय श्रुति ने भी कहा है।—योगी दो प्रकार का होता है। एक तो दैवीसपत् रूप शुभवासना वाला और दूसरा आसुरी सपत्रूप मलिन वासना वाला। प्रथम योगी को तो श्रुति ने पूर्व मत्र से निरन्तर ब्रह्म चितन रूप राजयोग का उपदेश किया है, वह पूर्व मत्र यह है-"त्रिरुन्नतस्थाप्य सम शरीर हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान स्रोतासि सर्वाणि भयावहानि।" अर्थ—योगी एकात देश मे पवित्र आसन पर अपने शरीर के कटिग्रीवादिक को सम करके स्थापन करे तथा मन

सहित सर्व इन्द्रियो का निरोध करके हृदय मे 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार निरन्तर चितन करे। इस ब्रह्म चितन रूप नौका से योगी भय-प्रद माया रूप नदी के प्रवाहो को पार करता है। और दूसरे योगी के लिये श्रुति ने दूसरे मत्र से प्राणनिरोध के उपाय रूप हठयोग का उपदेश किया है। वह द्वितीय मत्र यह है —"प्राणान्प्रपीडचेह सुयुक्त चेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तमिववाहमेन विद्वान्मनोधार येद प्रमत्त. ॥" अर्थ-युक्त आहार विहारादिक चेष्टा युक्त, योगी प्राणायाम से प्राणो की गति का निरोध करे। उससे अन-तर जैसे प्रमाद से रहित सारथी दुष्ट अश्वयुक्त रथ को बलात्कार से श्रेष्ठ मार्ग मे स्थित करता है, वैसे प्रमाद से रहित योगी दुष्ट इन्द्रिय युक्त मन को विषयो से निवृत्त करके आनन्द एक रस ब्रह्म मे स्थित करे।

आसनयोग

अब आसन योग का निरूपण करते है। आसनयोग का स्वरूप, आसन योग के साधन और आसन योग का फल पतजलि ऋषि ने यथा क्रम से इन तीन सूत्रो से कहा है —"स्थिर सुखमासनम ॥१॥ प्रयत्न शैथिल्यानतसमापत्तिभ्याम् ॥२॥ ततो द्वद्वानभिघात ॥३॥ अर्थ-चचलता से रहित सुख प्रद स्थिति से बैठने को आसन कहते है ॥१॥ वह आसन प्रयत्न शैथिल्य और अनतसमापत्ति इन दोनो साधनों से सिद्ध होता है। लौकिक वैदिक कर्मो के त्याग को प्रयत्न शैथिल्य कहते है। लौकिक वैदिक कर्मों मे प्रवर्त्तमान स्थिर आसन नही हो सकता। इस लौकिक वैदिक कर्मो का त्याग भी आसन का साधन है। और अनत भगवान् अपने सहस्र फणो पर इस पृथ्वी को धारण करके वर्त्तमान है, सो अनत भगवान् मै हूँ। इस प्रकार के चितन को अनतसमापत्ति कहते है। इस अनतसमापत्ति से आसन के प्रतिबन्धक पाप नष्ट होते है ॥२॥ आसन जय से शीत उष्णादिक द्वद्वो की निवृति होती है, वही आसनयोग का फल है।

अशनयोग

अब अशन योग कहते है-"द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैक प्रपूरयेत् ।

मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥" अर्थ-योगाभ्यास करने वाला अपने उदर के दो भागो को अन्न से पूर्ण करे और एक भाग को जल से पूर्ण करे तथा प्राण वायु के सुख पूर्वक सचार के लिये एक भाग को खाली रक्खे। इस प्रकार प्राणायाम, आसनयोग, अशनयोग, इन तीनो से प्राण की गति का निरोध होता है। प्राण के निरोध होने पर चित्त की सर्व वृत्तिया निरुद्ध होती है। क्यो ? चित्त की वृत्तियो का उदय प्राण की गति के अधीन ही होता है। तात्पर्य यह है —जो पदार्थ जिस वस्तु के अधीन होता है, वह पदार्थ उस वस्तु के निरोध होने पर ही निरुद्ध होता है। कैसे ? जैसे पट तन्तुओ के अधीन है, वह तन्तुओ के निरोध होने पर निरुद्ध होता है। और जैसे बाह्य इन्द्रिय चित्त के अधीन है, वे चित्त के निरोध होने पर ही निरुद्ध होती है, वैसे ही चित्त वृत्तिया प्राण की गति के अधीन है, वे प्राण के निरोध होने पर ही निरुद्ध होती है। उससे अनतर स्वभाव से ही आत्मा अनात्माकार अन्त करण अनात्माकार वृत्तियो के निरोध होने पर एक आत्माकार ही होता है। इम प्रकार चित्त की वृत्तियो के निरोध को ही मनोनाश कहते है। ऐसा मनोनाश प्राप्त होने पर विद्वान् को आत्म मे एकाकार मन से आनन्द एकरस अपरिच्छिन्न रूप प्रत्यक् आत्मा का अनुभव होता है। इसी उक्त अर्थ को पूर्व वृद्ध आचार्यो ने "आत्मानात्माकार स्वभावतोऽवस्थित सदा चित्तम् आत्मेकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत ॥" इस श्लोक से कहा है। और इसी उक्त वृत्तियो के निरोध को पातजल शास्त्र योग कहते है। सूत्र-"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ।" अर्थ-चित्त की सर्व वृत्तियो के निरोध का नाम योग है।

पच प्रकार वृत्ति निरोध

वृत्तिया पच प्रकार की है :—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति। प्रमाणजन्य प्रमाज्ञान को प्रमाणवृत्ति कहते है। योग शास्त्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द ये तीन ही प्रमाण मानते है। इससे उनके मत

मे प्रमावृत्ति भी तीन प्रकार की ही होती है। वेदान्त मे—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि ६ प्रमाण मानते है। इससे वेदान्त सिद्धान्त मे प्रमावृत्ति भी षट् प्रकार की होती है। प्रमावृत्ति का वर्णन पूर्व प्रमाण निरूपण अशो मे हो गया है। मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते है। सशय को विकल्प कहते है। सस्कारजन्यज्ञान को स्मृति कहते है। इन तीनो का वर्णन भी यथा प्रसग पूर्व हो चुका है। तामसी वृत्ति को निद्रा कहते है। इन पच प्रकार की वृत्तियो के निरोध को ही योग कहते है। अथवा पूर्व कथित मैत्री करुणादिक दैवी वृत्तियो के और दभ दर्पादिक आसुर वृत्तियो के निरोध को योग कहते है। उन वृत्तियो के निरोध का साधन क्या है ?

वैराग्य वर्णन

समाधान —पतजलि ऋषि ने—"अभ्यास वैराग्याभ्या तन्निरोध ।" इस सूत्र से अभ्यास, वैराग्य को वृत्ति निरोध का साधन कहा है। और भगवान् ने भी गीता मे—"असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥" इस श्लोक मे अभ्यास वैराग्य को ही मन के निग्रह का साधन कहा है। जिस वस्तु मे दोष दृष्टि से वैराग्य होता है, उस वस्तु मे मन की प्रवृत्ति नही होती है। इससे वैराग्य मन निग्रह का साधन सभव है। वैराग्य की न्यूनता अधिकता का कथन करने के लिये वैराग्य के विभाग कहते है —वैराग्य दो प्रकार का होता है। एक अपर वैराग्य और दूसरा पर वैराग्य। अपर वैराग्य चार प्रकार का होता है। १-यतमान २-व्यतिरेक ३-एकेन्द्रिय ४-वशीकार। ससार मे यह वस्तु सार है और यह वस्तु असार है। इस प्रकार सार असार के विवेक को यतमान वैराग्य कहते है। चित्त के राग द्वेषादिक दोषो मे से इतने दोष तो हमारे निवृत्त हो गये है और इतने दोष शेष रहे है। इस प्रकार विचार करके उन विद्यमान दोषो को निवृत्त करने के प्रयत्न को व्यतिरेक वैराग्य कहते है। मन मे विषयो की इच्छा रहते हुये भी इन्द्रियो के निरोध के प्रयत्न को एकेंद्रिय वैराग्य कहते है। इस लोक तथा परलोक के विषयो को नाशवान् जान-

कर उनके त्याग की इच्छा को वशीकार वैराग्य कहते है। यही वशीकार वैराग्य का स्वरूप पतजलि ऋषि ने—"दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार सज्ञा वैराग्यम्।" इस सूत्र से कहा । वशीकार वैराग्य भी मद, तीव्र, तीव्रतर भेद से तीन प्रकार का होता है। पुत्र स्त्री धन इत्यादिक प्रिय पदार्थों का वियोग होने पर, इस ससार को धिक्कार है, इस प्रकार की बुद्धि से विषयो के त्याग की इच्छा को मद वैराग्य कहते है। इस जन्म मे मेरे को पुत्र, स्त्री, धनादिक पदार्थ नही प्राप्त होने चाहिये। इस प्रकार की स्थिर बुद्धि से विषयो के त्याग की इच्छा को तीव्र वैराग्य कहते है। पुनरावृत्ति से युक्त जो ब्रह्मलोक पर्यन्त सर्व लोक मेरे को प्राप्त नही होने चाहिये। इस प्रकार स्थिर बुद्धि से उन सर्व विषयो के त्याग की इच्छा को तीव्रतर वैराग्य कहते है।

अभ्यास योग

और अभ्यास तो योग का अतरग साधन है। अतरग साधन की सिद्धि बहिरग साधन से बिना सभव नही है। इससे उपाय सहित बहिरग साधनो का निरूपण करके अभ्यास निरूपण के लिये प्रथम फल रूप वृत्ति निरोध का विभाग वर्णन करते है। चित्त वृत्तियो का निरोध रूप योग दो प्रकार का होता है। एक सप्रज्ञात समाधिरूप और दूसरा असप्रज्ञात समाधिरूप। कर्ता, कर्म, करण इस त्रिपुटी के अनुसधान से रहित एक लक्ष्य वस्तु विषयक सजातीय वृत्तियो के प्रवाह को सप्रज्ञात समाधि कहते है। इस सप्रज्ञात समाधि का अगभूत जो समाधि है, उसमे त्रिपुटी के अनुसधान पूर्वक सजातीय वृत्तियो का प्रवाह होता है। उस अग समाधि मे इस संप्रज्ञात समाधि के लक्षण की अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिये यहा त्रिपुटी के अनुसधान से रहितपना कहा है। यह सप्रज्ञात समाधि का स्वरूप अन्य ग्रन्थो मे भी कहा है —"विलाप्य विकृति कृत्स्ना सभव व्यत्ययक्रमात्। परिशिष्टन्तु चिन्मात्रम् सदानन्द विचिन्तयेत् ॥१॥ ब्रह्माकार मनोवृत्ति प्रवाहोऽहक्रतिविना। सप्रज्ञात समाधिः स्याद्धचानाभ्यास प्रकर्षज ॥२॥ अर्थ—चेतन मे अध्यस्त अज्ञान और अज्ञान के कार्य सर्व प्रपच को उत्पत्ति क्रम से विपरीत क्रम द्वारा

स्थूल सूक्ष्मादि क्रम से चिदात्मा मे लय करके अर्थात् चिदात्मा से भिन्न यह प्रपच नही है। इस प्रकार का निश्चय करके शेष रहे सदानन्द रूप चिन्मात्र को गुरु उपदिष्ट महावाक्य से अभेद रूप करके चिन्तन करे अर्थात् मै सच्चिदानद ब्रह्मस्वरूप हूँ, इस प्रकार चिन्तन करे।

और त्रिपुटी का अनुसधान रूप अहकृति से बिना 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की मन की वृत्तियो के प्रवाह को सप्रज्ञात समाधि कहते है। सप्रज्ञात समाधिध्यानाभ्यास के प्रकर्ष से उत्पन्न होती है। योग शास्त्र की रीति से सप्रज्ञात समाधिरूप योग के अष्ट अग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, ये अष्ट अग है। इनमे यमादिक पाच तो सप्रज्ञात समाधि के बहिरग साधन है और धारणा-दिक तीन अतरग साधन है। समाधियोग के अष्ट अगो का वर्णन २०वे अश मे कर आये है, वहा देखें। सप्रज्ञात समाधि के अभ्यास से जब मन प्रत्यक् आत्मा मे एकाग्र होता है। तब उस मन मे एक ऋतभरा नाम की प्रज्ञा उत्पन्न होती है। अतीत अनागत दूर व्यवहित सूक्ष्म इत्यादिक सर्व पदार्थो को विषय करने वाले योगी के प्रत्यक्ष ज्ञान को ऋतभरा प्रज्ञा कहते है। ऐसी ऋतभरा मे स्थित योगी को निर्विकल्प समाधि प्राप्त नही होती है। इससे ऋत प्रज्ञा का भी निरोध करके सप्रज्ञात समाधि के अभ्यास करने वाले योगी को आत्मसाक्षात्कार होकर पर वैराग्य प्राप्त होता है। 'गुणेषु वैतृष्ण्य परवैराग्यम्' अर्थ-सत्त्व, रज, तम, इन गुणो के परिणामरूप इस लोक तथा परलोक के सर्व विषयो की तृष्णा से रहित होने को परवैराग्य कहते है। यह पर-वैराग्य का स्वरूप पतजलि ऋषि ने भी योग शास्त्र मे कहा है'—"तत. परपुरुष ख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।" अर्थ—प्रत्यक् आत्मा के ज्ञान से गुणो के परिणामरूप सर्व विषयो मे तृष्णा से रहित होने को पर-वैराग्य कहते है।

यह परवैराग्य निर्विकल्प नाम की असप्रज्ञात समाधि का अतरग साधन है। यह भी पतजलि ऋषि ने कहा है'—"तीव्र सवेगानामासन्न' समाधि लाभ।" अर्थ—परवैराग्य वाले को शीघ्र ही असप्रज्ञात समाधि

प्राप्त होती है। परवैराग्य से अनन्तर भी अभ्यास करना योग्य है। किसी भी उपाय करके मै सर्व वृत्तियो के निरोध रूप असप्रज्ञात समाधि मे स्थित हो जाऊँ। इस प्रकार के उत्साहरूप प्रयत्न को अभ्यास कहते है। यही अभ्यास का लक्षण पतजलि ऋषि ने योगसूत्र मे कहा है .— "तत्र स्थितौ प्रयत्नोऽभ्यास.।" उत्साहरूप प्रयत्न के भी निरोध होने पर ही सर्व वृत्तियो का निरोध होता है। उस सर्व वृत्तियो के निरोध को ही असप्रज्ञात समाधि कहते है। शका—उत्साहरूप प्रयत्न के निरोध मे दूसरा कोई साधन है अथवा नही है। यदि प्रथम पक्ष अगीकार करोगे तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। क्यो ? उत्साहरूप प्रयत्न के निरोध के लिये अगीकार करे दूसरे साधन के विद्यमान रहते असप्रज्ञात समाधि नही होगी। इससे उस साधन के निरोध के लिये कोई तीसरा साधन मानना होगा। तीसरे साधन के निरोध के लिये कोई चतुर्थ साधन मानना होगा। इस प्रकार आगे-आगे साधनो की धारा मानने मे अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। और यदि उस प्रयत्न के निरोध का कोई साधन नही है, यह द्वितीय पक्ष अगीकार करोगे तो साधन से बिना उस प्रयत्न का निरोध सभव नही है। और यदि कहो वह प्रयत्न आप ही आपका निरोधक होता है, सो भी सभव नही है। क्यो ? अपने से अपना निरोध अत्यन्त विरुद्ध है। और लोक मे ऐसा देखने मे भी नही आता है।

समाधान —वह उत्साहरूप प्रयत्न सर्व वृत्तियो का निरोध करके अपने निरोध को भी आप ही करता है। कैसे ? जैसे कतकरज जल की मृत्तिका को निवृत्त करके आप भी स्वय ही निवृत्त हो जाता है। कतकरज को निवृत करने के लिये किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नही होती है। वैसे ही उत्साहरूप प्रयत्न के निरोध के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नही होती है। इससे अनवस्था दोष तथा दृष्ट विरोध दोष प्राप्त नही होता है। किवा यह उक्त असप्रज्ञात समाधि का स्वरूप अन्य शास्त्र मे भी कहा है—"मनसो वृत्तिशून्यस्य

ब्रह्माकार तया स्थिति । असप्रज्ञात नामासौ समाधिरभिधीयते ।।१।। प्रशात वृत्तिक चित्त परमानन्द दीपकम् । असप्रज्ञात नामासौ समाधि-र्योगिना प्रिय' ।।२।।" अर्थ—सर्व वृत्तियों से शून्य मन की ब्रह्माकाररूप से स्थिति को ही योगशास्त्र के वेत्ता असप्रज्ञात समाधि कहते है । किवा उक्त अभ्यास से निवृत्त हो गई है सर्व वृत्तिया जिसकी ऐसा परमानन्द का प्रकाशक चित्त, उसकी वही स्थिति योगियो की असप्रज्ञात समाधि है ।

असप्रज्ञात समाधि का अन्य साधन ईश्वर प्रणिधान

अब असप्रज्ञात समाधि का अन्य साधन भी कहते है, असप्रज्ञात समाधि केवल परवैराग्य से ही प्राप्त होती है ऐसा नही है । वह ईश्वर के प्रणिधान से भी प्राप्त होती है । योगसूत्र मे कहा है —"ईश्वर-प्रणिधानाद्वा ।" अर्थ—वह असप्रज्ञात समाधि पूर्व उक्त क्रम से भी प्राप्त होती है और ईश्वर प्रणिधान से भी प्राप्त होती है । अब ईश्वर प्रणिधान के स्वरूप कथन के लिये प्रथम ईश्वर का स्वरूप वर्णन करते हैं । –"क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर ।।" अर्थ–क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इन चारो से असबद्ध पुरुष विशेष को ईश्वर कहते है । क्लेश पाच प्रकार का है –अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, । इन पच क्लेशो का वर्णन प्रथम अश के विषय खडन प्रसग मे किया है, वहा देखे । कर्म–शुक्ल, कृष्ण, मिश्र, भेद से तीन प्रकार का होता है ।

शास्त्र विहित पुण्य कर्म को शुक्ल कर्म कहते है । शास्त्र से निषिद्ध पाप कर्म को कृष्ण कर्म कहते है । पुण्य पाप दोनो का नाम मिश्र कर्म है । ये तीन प्रकार के कर्म अयोगी पुरुषो के होते है । योगी पुरुषो का अशुक्ल कृष्ण यह चतुर्थ कर्म होता है । यही पतजलि ऋषि ने कहा है–"कर्माशुक्ल कृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।" कर्म के फल को विपाक कहते है । वह विपाक–जाति, आयुष, भोग, भेद से तीन प्रकार का होता है । कर्म फल के भोग जन्य सस्काररूप वासना को आशय कहते है । ऐसे क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इन चारो से सबद्ध जीव

होता है। ईश्वर इन चारो से असबद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होता है। अब ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप कहते है :–

"तस्य वाचक प्रणव । तज्जपस्तदर्थभावनम् ।" अर्थ–उस उक्त ईश्वर का वाचक प्रणव शब्द है। ॐकाररूप प्रणव जप, माडूक्य उपनिषद्, पचीकरण, वार्तिक, उक्त प्रकार से प्रणव के अर्थ के चिंतन को ईश्वर प्रणिधान कहते है। प्रणव के अर्थ के चितन का प्रकार अश १५ मे देखे। अत्र अन्य प्रकार से दृष्टात सहित प्रणव शब्द का अर्थ कहते है .—"तद्योऽह सोऽसौ योऽसौ सोऽह।" इस श्रुति मे 'स' शब्द से परमात्मा का कथन किया है और 'अह' शब्द से प्रत्यक् आत्मा का कथन किया है। 'स' अहम्' इन दोनो शब्दो का परस्पर सामानाधिकरण्य है। इससे दोनो शब्द ब्रह्मात्मा का एकत्व ही कथन करते है। इससे 'सोऽहम्' इस वाक्य का जैसे परमात्मा मै हूँ। इस प्रकार जीव ब्रह्म का एकत्वरूप अर्थ है, वैसे ॐकार रूप प्रणव का भी जीव ब्रह्म का एकत्व ही अर्थ है, सो दिखाते है। 'सोऽहम्' इस वाक्य मे व्याकरण की रीति से सकार हकार इन दोनों वर्णो का लोप करने पर शेष ॐअ ऐसा वाक्य रहता है। उसमे भी व्याकरण की रीति से पूर्वरूप नामा सधि करके अकार का लोप करने पर ॐ ऐसा शब्द सिद्ध होता है। यह अन्य शास्त्र मे भी कहा है—"सकार च हकार च लोपयित्वा प्रयोजयेत्। सधि च पूर्वरूपाख्य ततोऽसौ प्रणवोभवेत् ॥" अर्थ—'सोऽहम्' मे सकार और हकार का लोप करके अनंतर पूर्वरूपनामा सधि करने पर 'सोऽह' शब्द से ॐ यह प्रणव सिद्ध होता है। इससे 'सोऽह' के समान ॐ का भी 'वह परमात्मा मै हूँ' यही अर्थ सिद्ध होता है।

इस प्रकार जीव ब्रह्म के एकत्वरूप प्रणव के अर्थ चितन को ईश्वर प्रणिधान कहते है। इस प्रकार का ईश्वर प्रणिधान करने से ईश्वर का अनुग्रह होता है। ईश्वर के अनुग्रह से असप्रज्ञात समाधि अवश्य प्राप्त होती है। इससे परवैराग्य के समान ईश्वर प्रणिधान भी असप्रज्ञात समाधि का साधन है।

भूमिका जय से असप्रज्ञात समाधि

अथवा भूमिका जय क्रम से समाधि का अभ्यास करना चाहिये।

उस भूमिकाओ के जय का क्रम श्रुति मे कथन किया है—"यच्छेद्वाङ्-मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेच्छात आत्मनि ॥" अर्थ—लौकिक वैदिक सर्व शब्दो के उच्चारण का हेतु वाक् इन्द्रिय है। उस वाक् इन्द्रिय को मन मे लय करे अर्थात् वागादिक इन्द्रियो के सर्व व्यापारो का त्याग करके केवल मन के व्यापार से स्थित रहे। तथापि समाधि की प्राप्ति तक प्रणव जप का त्याग नही करे। प्रणव जप से अन्य वाक् व्यापार से रहित रहे। इस प्रकार गो महिषादिको के समान वाणी के सम्यक् निरोध को प्रथम भूमिका कहते है। प्रथम भूमिका के जय होने के अनतर मन के निरोध रूप दूसरी भूमिका के लिये प्रयत्न करे अर्थात् सकल्प विकल्परूप मन को ज्ञानात्मा मे लय करे। 'मनुष्योऽह, ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादिक विशेष अहकार को ज्ञानात्मा कहते है। ज्ञानात्मा मात्र रूप से स्थित रहे। इस प्रकार सर्व सकल्प विकल्पो का परित्याग करके बाल मूकादिको के समान निर्मनस्ता होने को द्वितीय भूमिका कहते है। द्वितीय भूमिका के जय होने के अनतर विशेष अहकार के निरोधरूप तृतीय भूमिका के लिये प्रयत्न करे अर्थात् विशेष अहकार को महत् आत्मा मे लय करे अर्थात् 'मनुष्योऽह, ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादिक अहकार का परित्याग करके अस्मिता मात्र शेष रहे। अहकार की सूक्ष्म अवस्था को अस्मिता कहते है। इस अस्मिता को महत्तत्त्व और सूक्ष्म अहकार भी कहते है।

इस प्रकार आलसी उदासीन के समान विशेष अहकार से रहित होने को तृतीय भूमिका कहते है। तृतीय भूमिका के जय होने के अनतर अस्मिता निरोधरूप चतुर्थ भूमिका के लिये प्रयत्न करे अर्थात् अस्मितारूप महत् आत्मा को एकरस चैतन्य रूप शात आत्मा मे लय करे अर्थात् अस्मिता का भी परित्याग करके केवल चैतन्य मात्र शेष रहे। यद्यपि अन्य श्रुति मे महत्तत्त्व से अव्यक्त पर कहा है और अव्यक्त से चैतन्य पुरुष पर कहा है। इससे यहा भी महत्तत्त्व का लय अव्यक्त मे ही कहना उचित था। तथापि कारण मे निरुद्ध होने पर

कार्य लय को ही प्राप्त होता है। इससे अव्यक्त रूप कारण मे महत्तत्त्व रूप कार्य के लय करने से पुरुष को निद्रा ही प्राप्त होगी, निरोधरूप समाधि नही प्राप्त होगी। इस कारण से अव्यक्त का परित्याग करके महतत्त्व का चेतन्य आत्मा मे लय कहा है। इस प्रकार चैतन्य आत्मा मे चित्त के सर्व प्रकार से निरोध को ही असप्रज्ञात समाधि रूप चतुर्थ भूमिका कहते है। इस प्रकार उक्त चार भूमिकाओ मे पूर्व पूर्व भूमिका के जय होने के अनतर उत्तर उत्तर भूमिका जय क्रम द्वारा समाधि के अभ्यास से भी असप्रज्ञात समाधि प्राप्त होतो है। पूर्व कथन किये हुये समाधि अभ्यास के प्रकारो मे किसी प्रकार के समाधि अभ्यास से अन्त करण की अति सूक्ष्मता के आपादन को मनोनाश कहते है। सूक्ष्म मन से प्रथम त्वपद के लक्ष्य अर्थरूप प्रत्यक् आत्मा का साक्षात्कार होता है। उसके अनतर 'तत्त्वमसि' आदिक महावाक्यो से 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का प्रत्यक् आत्मा के ब्रह्मरूपत्व का साक्षात्कार होता है। इससे समाधि का अभ्यास भी ब्रह्म साक्षात्कार का साधन है।

शका .—व्यास जी ने तो ब्रह्मसूत्रो मे-"एतेन योग प्रयुक्त।" इस सूत्र से साख्य शास्त्र के समान योगशास्त्र का भी खडन किया है। इससे समाधि अभ्यास को ब्रह्म साक्षात्कार का साधन मानने से व्यास सूत्र का विरोध होगा। समाधान .—साख्य शास्त्र के समान योगशास्त्र वाले भी अचेतन प्रधान को ही महत्तत्त्वादिक क्रम से जगत् का कारण मानते है। वह प्रधान कारणवाद वेदात सिद्धात मे अगीकार नही किया है। इससे प्रधान कारणवाद खडन अभिप्राय से ही सूत्र-कार ने योग शास्त्र का खडन किया है। निरोध समाधि रूप योग के खडन अभिप्राय से योगशास्त्र का खडन नही किया है। क्यो ? सिद्धात मे भी चित्त निरोध से बिना विक्षिप्त पुरुष को ब्रह्म साक्षात्कार नही होता है। इससे ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये चित्त का निरोध अवश्य अपेक्षित है। किवा-"समाध्यभावच्च। अपि सराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्या

निदिध्यासितव्य । विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वन्ति । ध्यानेनात्मनि पश्यति । ध्यानयोगेन सपश्यन्नात्मन्यात्मानमात्मना ।" इत्यादिक सूत्र, श्रुति स्मृति वचनो से भी निरोध रूप योग ब्रह्म साक्षात्कार का साधन सिद्ध होता है । इससे महावाक्यजन्य ब्रह्म साक्षात्कार मे समाधि अभ्यास अवश्य अपेक्षित है। शका —यदि समाधि को ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन मानोगे तो समाधि से रहित को ब्रह्म साक्षात्कार नही होना चाहिये । और वसिष्ठादिक ग्र थो मे जनकादिकों को समाधि बिना ही केवल सिद्धगीता के श्रवण मात्र से ब्रह्म साक्षात्कार होना कहा है । वह सर्व असगत होगा । समाधान —केवल समाधि से ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता हो, यह नियम नही है । किन्तु विवेक से भी ब्रह्म साक्षात्कार होता है । अत करण के और अन्त करण की वृत्तियो के प्रकाशक त्वपद के लक्ष्य अर्थरूप प्रत्यक् साक्षी आत्मा को अन्नमयादिक पच कोशो से पृथक् निश्चय करने को विवेक कहते है । उक्त विवेक से 'तत्त्वमसि' आदिक महावाक्यो से 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का ब्रह्म साक्षात्कार अवश्य होता है । इससे समाधि के समान विचाररूप विवेक भी ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु है। यहा यह तात्पर्य है —ब्रह्मसाक्षात्कार के दो प्रकार के अधिकारी होते है ।

एक तो बहुव्याकुल चित्त वाले और दूसरे अव्याकुल चित्त वाले । प्रथम अधिकारियो को तो निरोध समाधि के अभ्यास से ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है। और दूसरे अधिकारियो को तो समाधि के अभ्यास से बिना-केवल विचार मात्र से ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है । यह अन्य ग्रथ मे भी कहा है-"अव्याकुलधिया मोह मात्रेणाच्छादितात्मनाम् । सांख्य नाम विचारोऽय मुख्यो झटिति सिद्धिद. ।।" अर्थ-जिनकी बुद्धि व्याकुलता से रहित है तथा अज्ञान मात्र से आवृत है आत्मा जिनका उनके लिये यह साख्यनामक विचार ही ब्रह्म साक्षात्कार का मुख्य साधन है। क्यो ? साख्यनामक विचार समाधि अभ्यास की अपेक्षा से शीघ्र ही उनको ब्रह्म साक्षात्कार करा देता है । इस प्रकार समाधि और विचार रूप विवेक को अधिकारी भेद से अर्थवत्ता होने

से विकल्प से ब्रह्म साक्षात्कार की साधनता है। इससे समाधि से बिना केवल विचारमात्र से ब्रह्म साक्षात्कार होना कथन करने वाले वचनो का तथा समाधि से ब्रह्म साक्षात्कार होना कथन करने वाले वचनो का परस्पर विरोध नही होता है। किन्तु उक्त अधिकारी के भेद से दोनो प्रकार के वचन सार्थक है। यह उक्त अर्थ वसिष्ठजी ने भी कहा है —"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञान च राघव। योगस्तद्वृत्ति रोधो हि ज्ञान सम्यगवेक्षणम् ॥१॥ असाध्य कस्यचिद्योग कस्यचिज्ज्ञान निश्चय प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वर. ॥२॥ अर्थ—हे राघव ! ब्रह्मसाक्षात्कार मे उपयोगी चित्त को सूक्ष्मता का आपादनरूपचित्त नाश के दो कारण है। एक योग और दूसरा विवेक। चित्त की सर्व वृत्तियो के निरोध का नाम योग है और अन्नमयादिक पच कोशो से प्रत्यक् आत्मा को पृथक् करके देखने का नाम विवेक है। दोनो उपायो मे किसी को योग कठिन पडता है और विवेक सुगम पडता है। किसी को विवेक कठिन पडता है और योग सुगम पडता है। इसी कारण से गीता मे भी भगवान् ने अधिकारी भेद से दोनो प्रकार कथन किये है। गीता के तृतीय अध्याय मे—"इन्द्रियाणि पराण्या हु" इस वचन से लेकर 'कामरूप दुरासदम्' इस वचन पर्यन्त भगवान् ने विवक रूप उपाय का कथन किया है।

और गीता के षष्ठ अध्याय मे योगरूप उपाय का कथन किया है। तथा गीता के पचम अध्याय मे—"यत्साख्यै प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते।" इत्यादिक वचन से विवेकरूप साख्य विचार को तथा योग को एक ही फल का साधन कहा है। शका —योगाभ्यास से साध्य मनोनाश को यदि ब्रह्म साक्षात्कार का हेतु मानोगे तो मनोनाश से ब्रह्म साक्षात्कार होने के अनन्तर सर्वबध की निवृत्ति होकर कृतकृत्यता ही होगी। ऐसे विद्वान् को पुन. वासनाक्षयादिको के अभ्यास करने का कोई प्रयोजन नही रहैगा। समाधान —जिस अधिकारी को योगाभ्यास पूर्वक महावाक्य से ब्रह्म साक्षात्कार हो गया हो, उस तत्त्ववेत्ता को तो ब्रह्म साक्षात्कार से अनन्तर तत्त्वज्ञान वासनाक्षय

मनोनाश के अभ्यास की अपेक्षा नही होती है। परन्तु जिस अधिकारी को विवेकपूर्वक महावाक्य से ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है उसको ब्रह्म साक्षात्कार से अनन्तर प्रारब्ध भोग से आपादित कर्तृत्वभोक्तृत्वादिक रूप बध प्रतीत होता है। बध प्रतीति की निवृत्ति के लिये तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास अवश्य अपेक्षित है। उन तीनो के अभ्यास से ही उसको जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। इससे तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय, मनोनाश, ये तीनो जीवन्मुक्ति के साधन है, यह सिद्ध हुआ। इतने कथन से साधनो के अभाव से जीवन्मुक्ति का अभाव है वादी के इस कथन का खडन हो गया है।

जीवन्मुक्ति का प्रथम प्रयोजन ज्ञानरक्षा

अब जीवन्मुक्ति के प्रयोजन का वर्णन करते है। ज्ञानरक्षा, तप, विसवादाभाव, दु ख निवृत्ति, सुखाविर्भाव, ये पच जीवन्मुक्ति के प्रयोजन होते है। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर तत्त्ववेत्ता को पुन सशय विपर्यय को अनुत्पत्ति का नाम ज्ञानरक्षा है। ज्ञानरक्षा जीवन्मुक्ति के अभ्यास से ही सिद्ध होती है। इससे ज्ञानरक्षा को जीवन्मुक्ति का प्रयोजनपना सभव है। शका –जिसको वेदातशास्त्ररूप प्रमाण से ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है, उसको साक्षात्कार से अनन्तर सशय विपर्यय होता ही नही है। और निषेध प्राप्त वस्तु का ही होता है, अप्राप्त वस्तु का निषेध नही होता है। इससे ज्ञानरक्षा, जीवन्मुक्ति का प्रयोजन सभव नही है।

समाधान '—यद्यपि शास्त्र मे कुशल मुख्य अधिकारियो को तो ब्रह्मसाक्षात्कार से अनन्तर सशय विपर्यय नही होता है, तथापि अन्य अधिकारियो को निमित्त के वश से सशय विपर्यय सभव है। भ्रात पुरुषो के वचन ही सशय विपर्यय मे निमित्त है, सो दिखाते है –कुछ भ्रात पुरुष यह कहते है, जो पुरुष अपने को ब्रह्मज्ञानी मानते है उन पुरुषो मे भी अज्ञानी पुरुषो के समान 'मनुष्योऽह, ब्राह्मणोऽहम्' इस प्रकार का व्यवहार देखने मे आता है तथा राग द्वेषादिक भी देखने में आते है। यदि कदाचित् इस पुरुष को वेदान्त श्रवणादिको से ब्रह्म

का अपरोक्ष साक्षात्कार होता तो रागद्वेषादिक नही होते। इससे श्रवणादिको से आपात ज्ञान ही होता है। इस प्रकार के भ्रात, वाचाल पुरुषो के वचनो को श्रवण करके अव्युत्पन्न अधिकारी को साक्षात्कार होने पर भी सशय विपर्यय हो जाता है। और कुछ भ्रात पुरुष ऐसा कहते है, मरण पर्यन्त वेदान्त के श्रवणादिको से भी ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान नही होता है किन्तु वेदान्त वाक्यो से परोक्षज्ञान ही होता है। क्यो ? वेदान्त वाक्यो को श्रवण करने वालो मे परोक्षज्ञान के ही चिन्ह देखने मे आते है। अपरोक्षज्ञान का कोई चिन्ह देखने मे नही आता है। किवा यदि कदाचित् इदानी काल मे भी ब्रह्म का साक्षात्कार होता हो तो साक्षात्कार से आवरण सहित अज्ञान के निवृत्त होने पर ज्ञानी को ईश्वर के समान सर्वज्ञतादिक होने चाहिये। क्यो ? शुक सनकादिक पूर्व ज्ञानियो मे ईश्वर के समान सर्वज्ञतादिक धर्मशास्त्र से प्रतीत होते है। और यदि कोई ऐसा कहे—सर्वज्ञतादिक तप का वा योग का फल है, ज्ञान का फल नही है। शुक सनकादिक ज्ञानी तप तथा योग युक्त हुये है। इससे उन्हो मे सर्वज्ञतादिक धर्म थे। और इदानी काल के ज्ञानी तप तथा योग से रहित है। इससे उन्हो मे सर्वज्ञतादिक धर्म नही होते है। सो यह कथन भी सभव नही है। क्यो ? तप, योगयुक्त पुरुषो को ही आत्मज्ञान होता है। तप, योग से रहित पुरुषो को आत्मज्ञान नही होता है। इससे इदानी काल मे श्रवणादिकों से उत्पन्न ज्ञान आपातरूप ही होता है। अज्ञान की निवृत्ति करने मे असमर्थ ज्ञान का नाम आपातज्ञान है।

इस प्रकार के भ्रात मूर्ख लोगो के वचनो को श्रवण करके अव्युत्पन्न अधिकारी को साक्षात्कार होने पर भी सशय विपर्यय हो जाता है। और जब वे अधिकारी ब्रह्मसाक्षात्कार से अनन्तर पूर्व उक्त रीति से जीवन्मुक्ति का अभ्यास करते है, तब उन अधिकारियो को भ्रात पुरुषो का सग ही नही होता। इससे सशय विपर्यय भी नही होते, यही ज्ञान की रक्षा है। इससे ज्ञानरक्षा जीवन्मुक्ति का प्रयोजन सभव है। किवा अस्मदादिक अकृतोपास्ति पुरुषो को ब्रह्म साक्षात्कार से अनन्तर

उक्त निमित्त से सशयादिक होते है। इस वार्ता मे कोई आश्चर्य नही है। किंतु पूर्व शुक, राघव, निदाघ, भगीरथ आदिको को भी अपरोक्ष ज्ञान से अनन्तर सशयादिक होते रहे है। शुकदेव को प्रथम आप ही विवेक ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ था। पश्चात् ज्ञान मे सशय होने से शुकदेव अपने पिता व्यास के समीप गये और पूछा। तब व्यास ने शुकदेव को तत्त्व का उपदेश किया, तो भी शुकदेव का सशय निवृत्त नही हुआ था। उससे अनन्तर व्यासजी ने शुकदेव को राजा जनक के पास भेजा था। फिर जनक के उपदेश से शुकदेव सशय रहित हुये थे। फिर निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त हुये थे। यह कथा वासिष्ठरामायण मे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार निदाघादिको की कथाये भी पुराणादिको मे प्रसिद्ध है।

शका :—ज्ञानी को सशय विपर्यय रहे उनसे उसकी क्या हानि है ? समाधान :–जैसे अज्ञान मोक्ष का प्रतिबधक होता है, वैसे सशय विपर्यय भी मोक्ष के प्रतिबधक ही होते है। यह गीता मे भी भगवान् ने कहा है–"अज्ञश्चा श्रद्‌धानश्च सशयात्मा विनश्यति।" इससे विद्वान् को जीवन्मुक्ति के अभ्यास से सशय विपर्यय की निवृत्ति अवश्य करनी चाहिये।

शका –जिसको आत्मा का सशय विपर्यय रहित दृढ अपरोक्षज्ञान हुआ है और व्यवहार की बाहुल्यता से पूर्व उक्त जीवन्मुक्ति का अभ्यास नही हो सका है, उसका मोक्ष होता है वा नही होता ? उसका मोक्ष होता है। यह प्रथम पक्ष अगीकार करो तो जीवन्मुक्ति के अभ्यास की व्यर्थता सिद्ध होगी। क्यो ? मोक्ष से अधिक कोई भी पदार्थ नही है, वह मोक्ष आत्मज्ञान से प्राप्त होता है। इससे जीवन्मुक्ति का अभ्यास व्यर्थ है। और दृढ अपरोक्ष ज्ञान वाले का मोक्ष नही होता है। यह द्वितीय पक्ष अगीकार करो तो आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति कथन करने वाले "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इत्यादिक श्रुति स्मृतिरूप शास्त्र का विरोध होगा। समाधान :–यद्यपि दृढ अपरोक्ष ज्ञानी को मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है, तथापि जीवन्मुक्ति के अभ्यास से बिना दृष्टसुख प्राप्त नही

होता है। इससे दृष्ट सुख की प्राप्ति के लिये ज्ञानी को भी जीवन्मुक्ति का अभ्यास सभव है अर्थात् वह दृष्टसुख ही जीवन्मुक्ति अभ्यास का प्रयोजन है। और जीवन्मुक्त पुरुषो को भूमिका की तारतम्यता से दृष्ट सुख की तारतम्यता होती है। श्रुति—"आत्मक्रीड आत्मरति. क्रियावानैव ब्रह्म विदावरिष्ठ ॥" अर्थ-आत्मा मे अपरोक्ष अनुभवरूप क्रीडा जिसकी हो उसका नाम आत्मक्रीड है अर्थात् 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान वाले विद्वान् का नाम आत्मक्रीड़ है। इसी आत्मक्रीड विद्वान् को शास्त्र मे ब्रह्मवित् नाम से कथन करते है। और विजातीय वृत्तियो के तिरस्कारपूर्वक आत्मा मे साक्षात्कार रूप रति जिसकी हो उसका नाम आत्मरत है अर्थात् आत्मा के आनन्द का निरन्तर अपरोक्ष अनुभव करने वाले का नाम आत्मरत है। इसी आत्मरति वाले विद्वान् का शास्त्र मे ब्रह्मविद्वर नाम से कथन करते है। ब्रह्म के ध्यान का नाम क्रिया है। वह ब्रह्म का ध्यान जिसको प्राप्त हुआ हो, उसका नाम क्रियावान् है अर्थात् ब्रह्मात्म एकत्व मे समाधि वाले का नाम क्रियावान् है। इस क्रियावान् को शास्त्र मे ब्रह्म विद्वरीयान् नाम से कथन करते है। यह ब्रह्म विद्वरीयान् स्वय उत्थान को प्राप्त नही होता है किन्तु पर से उत्थान को प्राप्त होता है। और जो आपसे वा पर से उत्थान को प्राप्त नही होता है, वह ब्रह्म विद्वरिष्ठ नाम से कहा जाता है।

ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ। ये श्रुति उक्त चारो विद्वान् है। इनका वसिष्ठ ने ज्ञान की सप्तभूमिकाओ मे चतुर्थ भूमिका से लेकर यथाक्रम से कथन किया है। शुभइच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी, तुरीया, ये सप्त ज्ञान भूमिका है। इनका वर्णन अश २० मे किया है, वहा देखे। इनमे प्रथम भूमिका श्रवणरूप है। दूसरी मननरूप है। तीसरी निदिध्यासनरूप है। ये तीनो भूमिका साधनरूप है। चौथी भूमिका मे ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। इसी से चतुर्थी मे स्थित को ब्रह्मवित् कहते है। पचम आदि भूमिकाओ मे स्थित ज्ञानीपुरुषो के चित्त विश्रान्ति की तारतम्यता से दृष्टसुख को भी तारतम्यता होती है। इससे पचम मे

स्थित को ब्रह्मविद्वर कहते है । षष्ठी भूमिका मे स्थित को ब्रह्मविद्व-रीयान् कहते है । सप्तमी भूमिका मे स्थित को ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते है । ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ ये तीनो जीवन्मुक्त कहे जाते है । "भूयश्चाते विश्वमाया निवृत्ति । ज्ञानेन तु तदज्ञान येषा नाशितमात्मन ।" इत्यादिक श्रुति स्मृति वचनो ने 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति कथन की है । और 'ब्रह्म-विद् ब्रह्मैव भवति । ब्रह्मविदाप्नोति परम् । ज्ञानीत्वात्मैवमे मतम् ।" इत्यादिक श्रुति स्मृति वचनो ने ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मभाव की प्राप्ति कथन की है । और अज्ञान की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मभाव की प्राप्ति का नाम मोक्ष है । वह मोक्ष ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, इन चारो का समान ही होता है । मोक्ष मे किचित् मात्र भी विलक्ष-णता नही है । परन्तु दृष्टसुख तारतम्यता से होता है । यह अन्य ग्रथ मे कहा है—

"तारतम्येन सर्वेषा चतुर्णा सुखमुत्तमम् । तुल्या चतुर्णा मुक्ति सादृष्ट सौख्य विशिष्यते ।।

अर्थ–ब्रह्मविदादिक चारो को सुख तो तारतम्यता से होता है किन्तु मुक्ति चारो को समान ही प्राप्त होती है । मुक्ति मे किचित्मात्र भी विशेषता नही होती है किन्तु दृष्टसुख मे विशेषता होती है ।

जीवन्मुक्ति का द्वितीय प्रयोजन तप

अब जीवन्मुक्ति के द्वितीय प्रयोजन तप का निरूपण करते है – चित्त की एकाग्रता को तप कहते है । यह तप का स्वरूप स्मृति मे भी कहा है .–"मनसश्चेन्द्रियाणा च ह्यैकाग्र्य परमतप । स ज्याय सर्वधर्मेभ्य· सधर्म· पर उच्यते।।" अर्थ– मन तथा चक्षु आदिक इन्द्रियो की एकाग्रता ही परम तप है। योगवेत्ताओ ने भी चित्त की एकाग्रता रूप धर्म को ही अग्नि होत्रादिक सर्व धर्मो से श्रेष्ठ कहा है । इसी एकाग्रता रूप योग को गीता मे भगवान् ने–"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक. । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवा-

र्जुन ।।" इस वचन से सर्व धर्मों से अधिक कहा है । शका —प्रारब्ध-कर्म के भोग से विक्षिप्त चित्त वाले ज्ञानी से चित्त की एकाग्रतारूप तप कैसे होगा ? समाधान —यद्यपि चतुर्थ भूमिका वाले ज्ञानी को भी प्रपच के मिथ्यात्व निश्चय से तथा चैतन्य आत्मा के सत्यत्व निश्चय से चित्त की एकाग्रता होती है, तथापि ज्ञानी को प्रारब्धकर्म के भोग काल मे बाधितानुवृत्ति से नामरूपात्मक प्रपच की प्रतीति होती है। इससे ज्ञानी को निरकुश चित्त की एकाग्रता सभव नही है। किन्तु जीवन्मुक्त ज्ञानी का मन योगाभ्यास से नष्ट हो जाता है। इससे जीवन्मुक्त की सर्व वृत्तियो के अनुदय से निरकुश चित्त की एकाग्रता सभव है। निरकुश चित्त की एकाग्रतारूप तप ही जीवन्मुक्ति का प्रयोजन है । शका '—जीवन्मुक्त पुरुषो का तप किसमे उपयोगी है ?

समाधान —जीवन्मुक्तो का तप लोक सग्रह के लिये होता है। आप सदाचार मे प्रवृत्त होकर लोको को भी सदाचार मे प्रवृत्त करे। इसको लोक सग्रह कहते है। लोक सग्रह के लिये ही ज्ञानी के तपादिक होते है। यह गीता मे भगवान् ने भी कहा है—"लोक सग्रह मेवापि सपश्यन्कर्त्तु मर्हसि।" उस सग्रह के अधिकारी लोक तीन प्रकार के होते है .—शिष्य, भक्त, तटस्थ। शास्त्र प्रतिपादित सतमार्ग मे वर्त्तने वाले को शिष्य कहते है। शिष्य ब्रह्मवेत्ता गुरु के उपदेश किये हुये मार्ग से वेदान्त शास्त्र के श्रवणादिको से प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म का साक्षात्कार करके मुक्ति को प्राप्त होता है। श्रुति—"आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरयावनविमोक्ष्येऽथ सपत्स्ये।" अर्थ—ब्रह्मवेता आचार्य की शरण को प्राप्त हुआ शिष्य ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है और उस ज्ञानी की विदेह मोक्ष मे तब तक ही विलब है जब तक प्रारब्ध कर्म भोग कर के उससे रहित नही होता। प्रारब्ध कर्म निवृत्त होने के अनन्तर ज्ञानी विदेह मोक्ष को प्राप्त होता है। और जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष का भक्त भी ज्ञानी के पूजन अर्चन से तथा अन्न पान वस्त्रादिक पदार्थो के देने से मनवाछित पदार्थों को प्राप्त होता है। श्रुति—"य य लोकं

मनसा सविभाति विशुद्ध सत्त्व' कामयते याश्च कामान् । त लोक जयते ताश्च कामान् तस्मादात्मज्ञ ह्यर्चयेद्भूतिकाम ॥" अर्थ—श्रद्धा भक्ति पूर्वक शुद्ध अन्त करण से ज्ञानी पुरुष का पूजनादि सेवा कार्य करके भक्त जन जिस जिस लोक के प्राप्ति की इच्छा करते है तथा जिन जिन पदार्थो के प्राप्ति की कामना करते है, उस उस लोक को तथा उन उन पदार्थो को प्राप्त करते है। इससे सपदा की इच्छा वाला पुरुष श्रद्धा भक्ति से ब्रह्मवेत्ता पुरुष के ही पूजनादिक करे। यह स्मृति मे भी कहा है —"यद्यैको ब्रह्मविद् भुक्ते जगत्तर्पयतेऽखिलम् । तस्माद्-ब्रह्मविदे देय यद्यस्ति वस्तु किचन ।।" अर्थ—जिसके ग्रह मे एक भी ब्रह्मवेत्ता पुरुष जब भोजन करता है, तब सर्व जगत् को तृप्त करता है अर्थात् सर्व जगत् को तृप्त करने से जो पुण्य होता है, वह पुण्य एक ब्रह्मवेत्ता के भोजन कराने से होता है। इससे पुरुष के पास जो कोई अन्न वस्त्रादिक प्रिय वस्तु हो वह वस्तु ब्रह्मवेत्ता को देना योग्य है। यह अन्य स्मृति मे भी कहा है —"यत्फल लभते मर्त्य कोटि ब्राह्मण भोजनै । तत्फल समवाप्नोति ज्ञानिन यस्तु भोजयेत् । ज्ञानिभ्यो दीयते यच्च तत्कोटि गुणित भवेत् ॥" अर्थ—यह जीव कोटि ब्राह्मणो को भोजन कराने से जिस फल को प्राप्त करता है, उस फल को एक ज्ञानी पुरुष को भोजन कराकर प्राप्त करता है। ज्ञानी को जो वस्तु दी जाती है वह कोटि गुणा अधिक होती है। इत्यादिक अनेक श्रुति स्मृति वचन ज्ञानी की सेवा से मन वाछित पदार्थो की प्राप्ति होना कहते है।

और तटस्थ पुरुष दो प्रकार के होते है। एक सन्मार्गवर्त्ती और दूसरा असन्मार्गवर्त्ती। सन्मार्गवर्त्ती तटस्थ तो जीवन्मुक्त की सदाचार मे प्रवृत्ति देखकर आप भी सदाचार मे प्रवृत्त होता है। यह गीता मे भगवान् ने भी कहा है—"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन.। स यत्प्र-माणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥" दूसरा असन्मार्गवर्त्ती तटस्थ जीव-न्मुक्त के दृष्टिपात से सब पापों से रहित होता है। स्मृति—"यस्यानु-भवपर्यन्ता बुद्धि स्तत्त्वे प्रवर्त्तते। तद्दृष्टि गोचारा सर्वे मुच्यते सर्व किल्विषै।" अर्थ—'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार के अपरोक्ष अनुभव

पर्यन्त जिसकी बुद्धि प्रत्यक् तत्त्व मे प्रवृत रहती है, उस ज्ञानी की दृष्टि जिन जिन पर पडती है वे सर्व पापो से रहित हो जाते है। और उस जीवन्मुक्त ज्ञानी से जो दुष्ट द्वेष करते है तथा उसकी निदा करते है, वे ज्ञानी के पापो को ग्रहण करते है। इसमे श्रुति—"तस्य पुत्रादायमुपयति सुहृद साधुकृत्य द्विषत पापकृत्य।" अर्थ—उस ज्ञानी के धनादिक पदार्थो को पुत्र ले जाते है और पुण्यकर्म को सेवा करने वाले सुहृज्जन ले जाते है तथा पाप कर्म को द्वेष करने वाले निदक ले जाते है। इस प्रकार जीवन्मुक्त का तप लोक सग्रह के लिये ही होता है। वह तप जीवन्मुक्ति का द्वितीय प्रयोजन है।

जीवन्मुक्ति का विसवादाभावरूप तृतीय प्रयोजन

अब जीवन्मुक्ति का विसवादाभावरूप तीसरे प्रयोजन का निरूपण करते है। जीवन्मुक्त व्युत्थान काल मे दुष्टो कृत निन्दादिको को श्रवण भी करता है और पाखण्डी क्रूर निष्ठुर आदिको को देखता है, तो भी जीवन्मुक्त मे रागद्वेषादिक वृत्तिया उत्पन्न नही होती है। इससे जीवन्मुक्त का निदक और दुष्टो के साथ कलहरूप विसवाद नही होता है। और जो जीवन्मुक्ति के अभ्यास से रहित है, उनको तो दुष्ट जनो के साथ सर्वदा कलहरूप विसवाद होता रहता है। इससे विसवादाभाव जीवन्मुक्ति का प्रयोजन सभव है। यह वृद्ध आचार्यों ने भी कहा है'— "ज्ञात्वा सदा तत्त्व निष्ठाननुमोदामहे वयम्। अनुशोचामहे चान्यान्न भ्रान्तैर्विवदामहे।।" अर्थ—सर्वदा तत्त्वनिष्ठा मे स्थित को देखकर हम आनन्द को प्राप्त होते है। और तत्त्वनिष्ठा से रहितो को देखकर हम शोक करते है। तथा भ्रातो के साथ हम विवाद नही करते है। यह विसवाद का अभाव जीवन्मुक्ति का तृतीय प्रयोजन है।

जीवन्मुक्ति का दु ख निवृत्तिरूप चतुर्थ प्रयोजन

अब जीवन्मुक्ति के दु.ख निवृत्ति रूप चतुर्थ प्रयोजन का वर्णन करते है। दु:ख निवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक तो ऐहिक दु ख निवृत्ति और दूसरी पारलौकिक दु ख निवृत्ति। आत्मज्ञान से उस दु ख की निवृत्ति होने से तथा योगाभ्यास से सर्व वृत्तियों का निरोध होने से

जीवन्मुक्त का मन केवल आत्माकार ही होता है, अन्याकार नही होता । इससे प्रारब्ध भोग के समय भी जीवन्मुक्त को दु ख प्रतीत नही होता है। किंतु सर्व दु खो की निवृत्ति होती है। इसी को ऐहिक दु ख निवृत्ति कहते है । यह ऐहिक दु ख निवृत्ति ही इस श्रुति मे कही है — "आत्मान चे द्विजानीयादयमस्मीति पुरुष । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसज्वरेत् ।।" और आत्मज्ञान से अज्ञान निवृत्त होने पर सचित सर्व कर्मो का नाश हो जाता है । तथा आत्मज्ञान के प्रभाव से ज्ञानी को आगामी कर्मो का स्पर्श नही होता है। अज्ञान सहित सचित कर्म ही पारलौकिक दु ख के हेतु होते है। उनके नाश होने पर जीवन्मुक्त के सर्व पारलौकिक दु खो की निवृत्ति होती है। इसमे श्रुति—"एत ह वाव न तपति किमह साधु ना करव पापमकरव ।।" अर्थ—मैने पुण्य कर्म किसलिये नही किये और पाप कर्म किसलिये नही किये, इस प्रकार का चिन्तारूप अग्नि जैसे अज्ञानी को तपायमान करता है, वैसे जीवन्मुक्त को वह चितारूप अग्नि तपायमान नही करता है ।

यद्यपि चतुर्थ भूमिका वाले ज्ञानी की भी दु ख की निवृत्ति होती है, तथापि उस ज्ञानी को प्रारब्ध भोग काल मे बाधितानुवृत्ति से 'अह सुखी, अह दु खी' इत्यादिक अनुभव होता है। इससे उस ज्ञानी की दु ख निवृत्ति सुरक्षित नही होती है। और जीवन्मुक्त की सर्व वृत्तियो का निरोध योगाभ्यास से हो जाना है। इससे जीवन्मुक्त की दु ख निवृत्ति सुरक्षित होती है अर्थात् जीवन्मुक्त को किसी भी काल मे दु ख प्रतीत नही होता है। इससे दु ख निवृत्ति जीवन्मुक्ति का प्रयोजन सभव है। यह दु ख निवृत्ति जीवन्मुक्ति का चतुर्थ प्रयोजन है।

जीवन्मुक्ति का सुखाविर्भावरूप पचम प्रयोजन

अब जीवन्मुक्ति के सुखाविर्भावरूप पचम प्रयोजन का निरूपण करते है। ब्रह्म साक्षात्कार से तथा योगाभ्यास से जीवन्मुक्त का अज्ञान और अज्ञानकृत आवरण तथा व्यवहाररूप विक्षेप निवृत्त हो जाता है और वह अज्ञानकृत आवरण तथा विक्षेप ही ब्रह्मानन्द के अनुभव मे प्रतिबन्धक होता है। उस प्रतिबधक की निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्त

को परिपूर्ण ब्रह्मानन्द का निरन्तर अनुभव होता है। उसी को मुखाविर्भाव कहते है। इसमे श्रुति :—"समाधि निर्धूतमलस्य चेतसो, निवेशितस्यात्मनियत्सुख भवेत् । न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा, स्वय तदत करणेन गृह्यते ।।" अर्थ-समाधि से जिसका राग द्वेषादिक रूप मल निवृत्त हो गया है और केवल आत्मा मे ही जिसकी स्थिति है, उस चित्त को समाधि काल मे जो स्वरूप सुख प्राप्त होता है, वह वाणी मे वर्णन नही किया जा सकता है, किन्तु उस समय उस सुख को अन्त करण स्वय ग्रहण करता है अर्थात अनुभव करता है। यह सुख का आविर्भाव जीवन्मुक्ति का पचम प्रयोजन है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति के पञ्च प्रयोजन सिद्ध होने पर प्रयोजन के अभाव से जीवन्मुक्ति का अभाव कहना मिथ्या ही है। इस प्रकार स्वरूप लक्षण, प्रमाण, साधन, अधिकारी और फल, इन पांचों के निरूपण से जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है।

विदेहमुक्ति

जीवन्मुक्ति तो मेरे समझ मे आ गई है। अब आप विदेहमुक्ति भी मुझे समझाने की कृपा करें ? उत्तर-प्रपच की प्रतीतिरहित ब्रह्म स्वरूप से स्थिति वा प्रारब्ध कर्म के भोग से नाश होने के पीछे स्थूल सूक्ष्म शरीर के आकार से परिणाम को प्राप्त हुये अज्ञान का चेतन मे विलय होने को विदेह मुक्ति कहते है। प्रश्न —प्रारब्ध के अन्त होने पर कार्य सहित अज्ञान लेश का विलय किस साधन से होता है ? उत्तर —प्रारब्ध के अन होने पर अधिक वा न्यून मूर्छा काल मे यद्यपि ब्रह्माकार वृत्ति का असभव है, और विद्वान् के लिये विधि भी नही है, तथापि सुषुप्ति के समान मूर्छाकाल मे भी ब्रह्मविद्या का सस्कार रहता है। उसमे आरूढ चेतन से कार्य सहित अज्ञान लेश का विलय (नाश) होता है। और काष्ठ मे आरूढ अग्नि से तृणादिको का दाह होकर आपके भी दाह के समान, उस सस्कार आरूढ चेतन से प्रपच का विनाश होता है। पीछे असग शुद्ध सच्चिदानन्द स्वप्रकाश अपना आप ब्रह्म अवशेष रहता है।

इससे 'अह ब्रह्मास्मि' इस प्रकार के तत्त्वज्ञान वाले पुरुष का भोग से प्रारब्ध कर्म के नाश होने पर वर्त्तमान शरीर के नाश को विदेह मुक्ति कहते है। यह व्यास जी ने भी ब्रह्मसूत्र मे कहा है-"भोगेन त्वितरेक्षपयित्वा सपद्यते।" अर्थ-ज्ञानी सुख दुःख के अनुभव रूप भोग से पुण्य पाप रूप प्रारब्ध कर्म का नाश करके शरीर नाश से अनन्तर अखड एकरस आनन्द ब्रह्मात्म रूप से स्थित होता है। पुन जन्म को प्राप्त नही होता है। क्यो ? उस ज्ञानी के आत्मज्ञान से अज्ञान और सचित कर्म नष्ट हो जाते है। और आत्मज्ञान के प्रभाव से आगामी पुण्य पाप कर्म ज्ञानी को स्पर्श नही करते है। और प्रति-बन्धकरूप प्रारब्ध कर्म का भोग से नाश होने के अनन्तर वासना सहित विक्षेप शक्ति वाला अज्ञान भी नष्ट हो जाता है। इससे जन्म की प्राप्ति कराने वाले सचित कर्मादिक कारण के अभाव से ज्ञानी का पुन जन्म नही होता है। किंतु वर्त्तमान शरीर के नाश से अनन्तर ज्ञानी निर्विशेष ब्रह्मरूप ही होता है। यह विदेहमुक्ति का स्वरूप श्रुति ने भी कहा है-"तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्ये।" इससे विदेहमुक्ति श्रुति, सूत्र प्रमाण से सिद्ध है। शका-जिस पुरुष का अनेक जन्मो की प्राप्ति कराने वाला प्रारब्ध कर्म विद्यमान होता है, उस पुरुष को प्रथम जन्म मे आत्मज्ञान होने पर दूसरा जन्म होता है अथवा नही होता है ? प्रथम पक्ष अगीकार करोगे तो ज्ञान को पाक्षिकपना होगा अर्थात् आत्मज्ञान को नियम से जन्म निवृत्ति का हेतुपना नही होगा। और दूसरा पक्ष अगीकार करोगे तो "नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि" इस वचन से विरोध होगा। ऐसी शका होने पर कुछ ग्रथकार तो ऐसा समाधान करते हैं-'यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिकाणाम्।" इस सूत्र मे व्यास ने और भाष्यकार ने यह अर्थ निरूपण किया है। सृष्टि के आदिकाल मे जगत् व्यवहार के चलाने के लिये परमेश्वर ने स्थापन किये जो देवता-दिक अधिकारी पुरुष है, उन अधिकारी पुरुषो का जितने काल पर्यन्त वह अधिकार होता है, उतने काल पर्यन्त उनकी स्थिति होती है। मध्य मे किसी वर, शाप के वश से उन अधिकारी पुरुषो को

जन्मातर की प्राप्ति होने पर भी आत्मज्ञान का बाध नही होता है और अधिकार की समाप्ति काल मे उनका मोक्ष अवश्य होता है।

इस प्रकार जिस पुरुष का प्रारब्ध कर्म अनेक जन्मो को देनेवाला है, उसको प्रथम जन्म मे 'तत्त्वमसि' आदिक महावाक्य प्रमाण के बल से आत्मसाक्षात्कार होने के अनन्तर भी प्रबल प्रारब्ध कर्म के वश से जन्मान्तर की प्राप्ति होने पर भी ज्ञान का बाध नही होता है। क्यो ? प्रारब्ध कर्म का फल आत्मज्ञान का विरोधी नही होता है। यदि कदाचित् प्रारब्ध कर्म का फल आत्मज्ञान का विरोधी होता हो तो, देवतादिक अधिकारी पुरुषो के आत्मज्ञान का भी प्रारब्ध कर्म के फल से बाध होना चाहिये। और उस पुरुष को आत्मसाक्षात्कार से ब्रह्मभावरूप मोक्ष भी अवश्य प्राप्त होता है। इससे आत्मज्ञान का सोपाधिकपना भी नही होता है। तथा 'नाभुक्त क्षीयते कर्म।' इस वचन का भी विरोध नही होता है। और कुछ ग्र थकार तो उक्त शका का यह समाधान करते है —"यस्तु विज्ञानवान् भवत्यमनस्क सदा शुचि। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते। य एववेत्ति पुरुष प्रकृति च गुणै सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभि जायते॥" इत्यादिक श्रुति स्मृतियो ने ज्ञानी के जन्म का निषेध किया है। इससे जिसका प्रारब्ध कर्म अनेक जन्म का हेतु होता है, उसको प्रथम जन्म मे श्रवणादिको से आत्मज्ञान नही होता है। किन्तु अत्य जन्म मे ही आत्मज्ञान होता है। यह वसिष्ठ जी ने भी कहा है-"यस्येदजन्म पाश्चात्य तमाश्वेवमहामते। विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणु-मिवोत्तमम्॥" अर्थ-हे महामतिवाले राम ! जिसका यह अत्य जन्म होता है, उसमे ही यह निर्मल ब्रह्मविद्या प्रवेश करती है। कैसे ? जैसे उत्तम जाति वाले वेणु मे ही मोती प्रवेश करता है। इससे पूर्व उक्त दोनो पक्षो मे भोग से प्रारब्ध कर्म के नाश होने पर तथा देह के पात होने पर ज्ञानी ब्रह्मात्मरूप से स्थित होता है। यह अर्थ सिद्ध हुआ।

और कुछ ग्र थकार तो विदेहमुक्ति का यह स्वरूप कहते है — भावी शरीर का अनारभपना ही विदेहमुक्ति है, यह विदेहमुक्ति ज्ञान की उत्पत्ति के समकाल ही होती है अर्थात् जिस काल मे आत्म-ज्ञान होता है, उसी काल मे विदेहमुक्ति होती है। क्यो ? आत्मज्ञान से निवृत्त होकर सचित कर्म नष्ट हो जाता है। सचित कर्म ही भावी शरीर का आरभक होता है। इससे आत्मज्ञान की उत्पत्ति काल मे ही भावी शरीर का अनारभकत्वरूप विदेहमुक्ति बन सकती है। यह अन्य ग्र थ मे भी कहा है-"तीर्थे श्वपच गृहे वा नष्ट स्मृतिरपित्य-जन्देहम्। ज्ञान-समकाल मुक्त कैवल्य याति हतशोक ॥" अर्थ—काशी आदिक तीर्थ मे वा चाडाल के गृह मे वा सन्निपातादिक दोष के वश से ब्रह्मात्म स्मृति से रहित होकर भी ज्ञानी पुरुष निज शरीर को परित्याग करके कैवल्य मोक्ष को ही प्राप्त होता है। क्यो ? तत्त्व-वेत्ता पुरुष आत्मज्ञान के समकाल ही मुक्त है तथा सर्व शोको से रहित है। इससे यह सिद्ध हुआ —ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त भोग से प्रारब्ध कर्म के नाश होने के अनन्तर इस वर्त्तमान शरीर के नाश होने पर अखड एकरस ब्रह्मानन्द रूप से स्थित होता है। ब्रह्मवेत्ता का पुन उत्थान नही होता है। इसमे श्रुति-"न तस्य प्राणा उत्क्रामत्यत्रैव समवलीयते । ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्यैति । ब्रह्म विद्ब्रह्मैव भवति ।" अर्थ-ज्ञानी का प्राण अर्थात् लिग शरीर मरण काल मे इस शरीर से उत्क्रमण नही करता है, किन्तु प्रत्यक् आत्मा मे ही लय हो जाता है। तात्पर्य यह है-जैसे अज्ञानी का लिंग शरीर स्थूल के नाश होने के अनन्तर कर्म के फल भोग के लिये परलोक मे जाता है, वैसे ज्ञानी का लिंग शरीर परलोक मे नही जाता है।

क्यो ? ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म तो भोग से नष्ट हो जाता है। सचित कर्म ज्ञान से नष्ट हो जाता है। और आगामी कर्म का ज्ञान के प्रभाव से स्पर्श नही होता है। अज्ञान भी आत्मज्ञान से नष्ट हो जाता है। और ये अज्ञान से सचित कर्मादिक ही पुन जन्म के कारण होते है। कारण के नष्ट होने पर ज्ञानी का लिंग शरीर पुनः जन्म की प्राप्ति के लिये इस शरीर से उत्क्रमण नही करता है। किन्तु इस प्रत्यक् आत्मा

मे ही लय हो जाता है। ज्ञानी जीवित अवस्था मे ही ब्रह्मसाक्षात्कार से अज्ञान निवृत्त होने पर ब्रह्मरूप होकर भी प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति से अनन्तर ब्रह्मरूप से स्थित होता है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप ही होता है। यह आत्मज्ञान का मोक्षरूप फल विष्णुपुराण मे भी कहा है—"विभेद जनकेऽज्ञाने नाशमात्यतिकगते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तक करिष्यति ॥१॥ तद्भावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मन। भवत्यभेदो भेदश्च तस्याज्ञान कृतो भवेत् ॥२॥ अर्थ—जीव ब्रह्म के भेद के जनक अज्ञान का ब्रह्मसाक्षात्कार से अत्यन्त नाश होने पर जीवात्मा के तथा ब्रह्म के असत् भेद को कौन करेगा ? अर्थात् कोई नही करेगा। ब्रह्म-साक्षात्कार से ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ यह जीवात्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न ही होता है। और इस जीवात्मा को ब्रह्म के साथ जो भेद प्रतीत होता था, सो भेद अज्ञानकृत था। अज्ञान के नष्ट होने पर भेद भी निवृत्त हो जाता है। इससे ज्ञानी अखड एकरस ब्रह्मरूप से ही स्थित होता है। यह उक्त फल व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र मे भी कहा है—"अस्मिन्न-स्य च तद्योग शास्ति" अर्थ—इस ब्रह्मवेत्ता का ब्रह्म मे अभेद ही होता है। इसको श्रुति भी कहती है—"यदा ह्येवैष एनस्मिन्नदृश्येऽना-त्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठा विदते ऽथ सोऽभय गतो भवति ॥" अर्थ—यह साधन चतुष्टय सपन्न अधिकारी जिस काल मे स्थूल, सूक्ष्म कारण, शरीर से विलक्षण नित्य अपरोक्षरूप प्रत्यक् आत्मा मे अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, उस काल मे अखड एकरस ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ। 'अह ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यजन्य अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मभावरूप मोक्ष प्राप्त होता है। और वह मुक्त पुनरावृत्ति को प्राप्त नही होता अर्थात् पुन जन्म को प्राप्त नही होता है। इसमे श्रुति—"न स पुनरावर्त्तते।" वह मुक्त पुन जन्म को प्राप्त नही होता है। यह गीता मे भी भगवान् ने कहा है—"तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठा-स्तत्परायणा.। गच्छत्य पुनरावृत्ति ज्ञान निर्धूत कल्मषा ॥" अर्थ—उस परमात्मा मे ही बुद्धि, मन, निष्ठा जिनकी है तथा परमात्मा ही

जिनका परमस्थान है। और आत्मज्ञान से निवृत्त हो गये है सर्व पाप जिनके, ऐसे ज्ञानी अपुनरावृत्ति को ही प्राप्त होते है अर्थात् उनका पुन जन्म नही होता है। यही व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र मे कहा है—"अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति शब्दात् ।" अर्थ—तत्त्ववेत्ता को पुन जन्ममरण की निवृत्ति रूप अनावृत्ति ही प्राप्त होती है। क्यो ? श्रुति, सूत्र, स्मृतिरूप शास्त्र यही कहते है।

विदेहमुक्ति मे मतभेद

विदेहमुक्ति मे देह का अत होता है और कूटस्थ आत्मा का परमात्मा मे अभेद होता है। यद्यपि कूटस्थ का परमात्मा से सदा अभेद है, तथापि उपाधिकृत भेद है। उपाधि के लय होने पर उपाधिकृत भेद का अभाव होता है। परमात्मा से अभेद कहा उसका यह अभिप्राय है —विदेहमुक्ति मे ईश्वर से अभेद होता है। शुद्ध चेतन ब्रह्म से नही। यह वार्ता शारीरक भाष्य के चतुर्थ अध्याय मे प्रतिपादन की है। वहा यह प्रसग है —जैमिनि के मत से विदेहमुक्ति मे सत्य सकल्पादिकरूप की प्राप्ति कही है। औडुलोमि के मत मे सत्यसकल्पादिको का अभाव कहा है। और सिद्धान्तमत मे सत्य सकल्पादिको का भाव अभाव दोनो कहते है। उसका यह अभिप्राय है —ईश्वर से अभेद होता है। ईश्वर के सत्य सकल्पादिक मुक्त मे अन्य जीवो की दृष्टि से व्यवहार करते है। वह ईश्वर परमार्थ दृष्टि से शुद्ध है। उसमे कोई भी गुण नही है, किन्तु निर्गुण है। इससे सत्य सकल्पादिको का अभाव है।

यद्यपि ससार दशा मे भी जीव परमार्थ से निर्गुण है, शुद्ध है, तथापि जीव को ससारदशा मे अविद्या से कर्तापना भोक्तापना प्रतीत होता है। किन्तु ईश्वर को कभी भी आत्मा मे अथवा अन्य मे ससार प्रतीत नही होता है। इससे सदा असग, निर्गुण, शुद्ध है। इससे ईश्वर से जो अभेद है वह शुद्ध से ही अभेद है। और ईश्वर से अभेद को शुद्धब्रह्म से अभेद नही माने तो ईश्वर को शुद्धब्रह्म की प्राप्ति कभी भी नही होगी। क्यो ? जीव के समान ईश्वर को उपदेशजन्य ज्ञान

और विदेह मोक्ष तो कभी नही होता। और सदाप्राप्त जो उसका रूप है, सो शुद्ध नही है। इससे जीव से भी न्यून ईश्वर सदा बद्ध सिद्ध होता है। इससे यह मानना योग्य है —ईश्वर को अपने स्वरूप का आवरण नही है। इससे उपदेशजन्य ज्ञान की अपेक्षा नही है। आवरण के अभाव से भ्राति नही है। इससे नित्य सर्वज्ञ, नित्यमुक्त है। माया और उसका कार्य ईश्वर को अपने आत्मा मे प्रतीत नही होता है। इससे सदा असग है, इसी से शुद्ध है। इस रीति से ईश्वर से अभेद ही शुद्धचेतन से अभेद है। और दृष्टात से भी ईश्वर से ही अभेद सिद्ध होता है। कैसे ? जैसे मठ मे घट का अभाव होता है, तब मठाकाश मे ही घटाकाश का लय होता है। महाकाश मे नही। वैसे विद्वान् का शरीर ईश्वरकृत ब्रह्माड मे नष्ट होता है और ब्रह्माड सर्व ईश्वर शरीर माया के अतर्भूत है। विद्वान् का आत्मा विदेह मोक्ष मे ब्रह्माड के बाहर गमन नही करता है। इससे ईश्वर से अभेद होता है, परन्तु जैसे मठाकाश से घटाकाश का अभेद हुआ है, सो मठाकाश महाकाशरूप ही हैं। वैसे ईश्वर से अभेद होता है, वह ईश्वर शुद्धब्रह्म ही है। इससे शुद्धब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। यहा यह रहस्य है —ज्ञानी की दृष्टि से विदेह मोक्ष से पूर्व ब्रह्माडादि जगत् कुछ है ही नही। किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही है। इससे उसकी दृष्टि से तो शुद्धब्रह्म से ही अभेद होता है। वही उसको शुद्ध की प्राप्ति है।

और अज्ञजनो की दृष्टि से ब्रह्माड आदिक ज्यू के त्यू प्रतीत होते है। इससे उनकी दृष्टि से ज्ञानी का ईश्वर से (ईश्वर के देहरूप ब्रह्माड से) अभेद होता है। वह ईश्वर वास्तव मे शुद्धब्रह्म ही है। इससे ज्ञानी को शुद्ध ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। उक्त विदेह मोक्ष मे ज्ञानी जीव का ब्रह्म से जो अभेद होता है, उसमे आभासवाद आदिक भिन्न भिन्न वेदान्त के पक्षो के जो विचार है, वे वृत्तिप्रभाकर के अष्टम प्रकाश मे विस्तार से लिखे है और वे ही इस ग्रथ मे भी पूर्व लिखे गये है।

तात्पर्य यह है :—जिसको मनुष्य शरीर मे श्रवणादिको से ब्रह्म

साक्षात्कार होता है, उसको इसी मनुष्य शरीर मे ब्रह्मभावरूप मोक्ष प्राप्त होता है। यही श्रुति भी कहती है—"यदासर्वे प्रमुच्यते कामा येऽस्य हृदि स्थिता। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।" और जो निष्काम पुरुष अहग्रह उपासना करके ब्रह्मलोक को जाते है, उनको ब्रह्मलोक मे ही ब्रह्मसाक्षात्कार होकर ब्रह्मा के साथ ब्रह्मलोक के लय समय उनका भी मोक्ष होता है। यह भी—"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सप्राप्ते प्रतिसचरे। परस्याते कृतात्मान प्रविशति पर पदम्।" इत्यादिक स्मृति वचन कथन करते है। और जो सकाम पुरुष पचाग्नि विद्यादिको से ब्रह्मलोक मे जाते है, उन सकाम पुरुषो को उस ब्रह्मलोक मे ब्रह्म साक्षात्कार नही होता है। इसी कारण से उन सकाम पुरुषो की ब्रह्म-लोक से पुनरावृत्ति होती है। यह भी—"इम मानवमावर्त्तमावर्त्तते। आ ब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ॥" इत्यादिक श्रुति स्मृति वचन कथन करते है। सर्व प्रकार से ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला पुरुष पुनरावृत्ति से रहित ब्रह्मभावरूप मोक्ष को ही प्राप्त होता है। ॐ सम।

श्रवण मनन कर करेगा, निदिध्यासन नित जोय।
निश्चय ही अज्ञानहत, मुक्त होयगा सोय ॥१॥
श्रीकृष्ण कृपा कुटीर मे, पुष्कर तीरथ माहि।
पूर्ण वेदान्त प्रश्नोत्तरी, मुक्तिद सशय नाहि ॥२॥
दो सहस अठाईस का, विक्रम सवत जान।
वसत पचमि को हुआ, पूर्ण ग्र थ सुख दान ॥३॥
पढे सुने इस ग्र थ को, उसे पूर्ण विश्राम।
मिले अनुग्रह यह करें, कृष्ण दादु धनराम ॥४॥
सर्वाधार अचिन्त्य अज, निराकार ब्रह्मात्म।
लख निजरूप लखे सदा, सर्व विश्व ब्रह्मात्म ॥५॥
वक्ता श्रोता को सदा, दें ईश्वर विश्राति।
ओ३म् शाति मन मे रहे, वचन शाति तन शाति ॥६॥

इति श्री जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति निरूपण अश २१ समाप्त ।

इति श्री पूज्य चरण स्वामी धनराम शिष्य स्वामी नारायणदास कृत
वेदान्त प्रश्नोत्तरी

समाप्त ।

संतकवि कविरत्न स्वामी नारायणदासजीकृत ग्रंथों की नामावली

१ श्री दादू वाणी–श्री दादू गिरार्थ प्रकाशिका टीका सहित द्वितीय सस्करण मू० साधारण जिल्द १४) कपडे की जिल्द १५)।

२. श्रीरज्जबवाणी–रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका टीका सहित सजिल्द मू० ३०) पता–केशव आर्ट प्रिन्टर्स, हाथीभाटा, अजमेर ।

३. श्रीदृष्टात सुधा सिन्धु ६ भागो मे। प्रथम भाग २) द्वि० २॥) तृ० २॥) च० २॥) प० २॥) छ० २।) ।

४ श्री राघवदासकृत—भक्तमाल, भक्तचरित्र प्रकाशिका टीका सहित सजिल्द मू० १५)

५. वेदान्त प्रश्नोत्तरी (वेदात का प्रक्रियात्मक उत्तम ग्र थ) सजिल्द मू० ९)

६ दृष्टान्त दोहावली ३५७ विषयो पर ७१६१ दोहे सजिल्द मू० ७)

७ श्रीमदध्यात्म रामायण हिन्दी पद्यानुवाद सजिल्द मू० ६)

८ (क) साधक सुधा प्रथम खड सटिप्पणी मू० १॥)
(ख) साधक सुधा सपूर्ण सजिल्द मू० २॥)

९ श्रीकृष्ण कृपाफल ११२ अगो मे ३१४८ दोहे मू० १ ॥)

१० श्री बाह्यातर वृत्ति वार्ता (बाह्य और आतर वृत्ति का १६ दिन का सत्सग) मू० १ ।)

११ श्रीनारायण भजनावली (२०८ रागो मे ५०५ भजन) मू० ॥।)

१२ श्रीनारायण प्रश्नोत्तरी १००० से अधिक उपयोगी प्रश्नो के उत्तर मू० ।)

१३ शिक्षा सप्तशती ।)

१४ शिक्षा शतक

१५ प्लवगम पुष्पमाला

१६ विनयभूत चेतावनी शतक

१७. श्रीसुन्दरदासजी और उनकी वाणी पर मेरे विचार

१८. अबोध बोध भूमिका

१९. अवस्था व्यवस्था

२० सुधारक सप्तसूत्री

२१ सद्वचन सुधावली

२२ श्री गणपति सहस्रनाम

२३ गणपति आरती

२४. गणपति अष्टक

२५. श्रीविष्णु नाममाला

२६ विष्णु आरती

२७ विष्णु अष्टक

२८ सत्यनारायणजी की आरती

२९ श्रीशकर सहस्रनाम

३० शकर आरती

३१ शकराष्टक

३२ शक्ति सहस्रनाम

३३ शक्ति आरती

३४. शक्ति अष्टक

३५ गगाजी की आरती

३६ लक्ष्मी जी की आरती

३७ सरस्वतीजी की आरती

३८ माता महिम्न

३९ श्री सूर्य सहस्रनाम

४० सूर्य की आरती

४१ सूर्य अष्टक

४२ श्रीनृसिह सहस्रनाम

४३ नृसिहजी की आरती

४४ नृसिह अष्टक

४५ श्रीराम सहस्रनाम

४६ रामजी की आरती

४७ रामाष्टक

४८ राम महिम्न

४९ श्रीकृष्ण सहस्रनाम

५० श्रीकृष्णजी की आरती

५१ कृष्णाष्टक

५२ श्रीकृष्ण प्रार्थना पचक

५३ श्रीकृष्ण कवच

५४. कृष्ण महिम्न

उक्त नारायण ग्र थावली के ग्रथो को खरीदकर पढिये और नास्तिक भावना तथा भ्रष्टाचार को रोकते हुये सदाचार और ईश्वर भक्ति प्रचार मे सहायक बनिये। पुस्तक मिलने का पता —श्रीदादू महाविद्यालय, मोती डू गरी रोड, जयपुर सिटी (राजस्थान)।

कर्म शास्त्र मे न ज्ञान, तर्क मे न निश्चय।
साख्य योग के माहि, भेद का उपचय ॥
जहा भेद तहँ खेद, सिद्ध निर्वाद है।
'नारायण' सुख हेतु, सु अद्वयवाद है ॥१॥
अखिल विश्व विश्वभर, का विस्तार है।
वसन तन्तु सम जान, जगत करतार है ॥
ऐक्य ज्ञान है सार, भेद बेकार है।
ज्ञानी जन अस जान, जात भव पार है ॥२॥
जग ईश्वर का रूप, व्याप के होन से।
'नारायण' नहि भिन्न, ताक है भौन से ॥
कर से रेखा भिन्न कहे नहि कोय है।
जल तरग सम एक, न जग हरि दोय है ॥३॥
मै आसन मैं कलश, फूल फल दीप मै।
मै चन्दन कर्पूर रु, अक्षत धूप मै ॥
मै पूजक मै पूज्य, अर्चना आपनी।
करता हूँ दिन रैन, भेद सतापनी ॥४॥
मैहि व्यक्त अव्यक्त, विरत अनुरक्त मै।
मै असक्त मै सक्त, सु स्वामी भक्त मै ॥
मै शासक मै शास्य, शासना भी मैहि।
मै अनेक मै एक, 'नरायण' सब मैहि ॥५॥ (साधकसुधा मे)
अन्तर अन्तक से न हो, जीव ब्रह्म के माहि।
कोई भी नभ वारि को, भिन्न कर सके नाहि ॥१॥
द्रष्टा द्वैत अभाव का, आत्मा भासत एक।
नहि सुषुप्ति की स्मृति से, होते ज्ञात अनेक ॥२॥
सत्य एक अद्वैत है, अन्य कल्पना जान।
स्तभ मूर्तिये स्तभ से, भिन्न कहा मतिमान ॥३॥
आदि मध्य अरु अत मे, सदा रहे अद्वैत।
जल से हिम हिम होत जल, नही उदक मे द्वैत ॥४॥
(श्री कृष्ण कृपा फल से)